श्रीसंपूर्णानंद-अभिनंदन-ग्रंथ

नागरी प्रचारिणी सभा

काशी

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

द्वारा

समर्पित

सौर १७ वैशाख, २००७

मूल्य पंद्रह रुपये

सौर १७ वैशाख, २००७

प्रकाशक

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'

प्रकाशन-मंत्री

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक

पं० पृथ्वीनाथ भार्गव

अध्यक्ष,

भार्गव भूषण प्रेस, बनारस

निवेदन

काशी नागरी प्रचारिणी सभा जन्मकाल से ही यज्ञों की आयोजना करती रही है। और प्रसन्नता की बात है कि इसके यज्ञ सफल हुए। हिंदी भारती को उसके समुचित आसन पर प्रतिष्ठित करना इसका ध्येय रहा है; आज वह पूर्णरूप से नहीं फिर भी निश्चित रूप से राष्ट्रभाषा के सिंहासनपर प्रतिष्ठित है। सरस्वती के जिन कर्मठ सपूतों ने इसकी सफलता में योगदान दिया है उनका समादर, समय-समयपर सभा करती रही है, उनका अलंकरण करती रही है, उनके पावन पद-पद्मोंपर श्रद्धा की सुमनांजलि अर्पित करती रही है।

श्री संपूर्णानंद भी सरस्वती के उन प्रतिभासंपन्न पुत्रों में हैं जिन्होंने हिंदी को गौरव प्रदान किया है। यह संयोग की बात है कि आज वह राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में लोगों की आंखों में समाए हुए हैं; प्रांत के मंत्री के रूप में स्मरण किए जाते हैं। किंतु वास्तविक बात यह है कि वह वीणापाणि सरस्वती के आराधकों तथा साधकों में हैं। आज से नहीं दशकों पहले से, जब विदेशी भाषा अंग्रेजी में ही लिखना-पढ़ना ज्ञान तथा विद्वत्ता का प्रतीक समझा जाता था और हिंदी असंस्कृत जन-समुदाय की भाषा समझी जाती थी, वह हिंदी में लिखते रहे हैं और उसका भांडार अपनी रचनाओं से परिपूर्ण करते रहे हैं।

इतिहास, विज्ञान और दर्शन उनके अध्ययन के तीन केंद्र–बिंदु रहे हैं। उन्होंने जो कुछ किया है उसमें अनुसंधान तथा परीक्षण का आलोक है। उनके निर्णयों से मतभेद हो सकता है और विवाद का विषय उनकी कृतियां हो सकती हैं, किंतु इस बात से सभी सहमत हैं कि विचारों के पथ में उनसे प्रगति हुई है, विद्वन्मंडली

उनसे प्रभावित हुई हैं। दर्शन और विज्ञान का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न उन्होंने किया है और एक दूसरे के सहारे जीवन के तत्वों के भाष्य का प्रयास किया है। पाश्चात्य भौतिक विज्ञान की सहायता लेकर प्राच्य दर्शन की सूक्ष्म गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनकी रचनाओं से विचारों को उत्तेजना मिलती है और हम विचार की निश्रयणी पर चढ़ते हैं।

जहाँ विचारों के संसार में दार्शनिकों को शांति से जीवन के तत्वों की खोज करने के लिये मानव-समाज की साधारण वृत्तियों से ऊपर उठ जाना होता है वहाँ राजनीतिक जगत में राग-द्वेष, आक्षेप-विक्षेप, प्रहार-संहार में ही अपनी शक्ति का विनाश करना पड़ता है। किंतु देश की जो अवस्था रही है उसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा मस्तिष्क राजनीति की ओर लगा। बौद्धिक पहलवानों को राजनीतिक अखाड़ों में उतरना पड़ा। पराधीन देश में दासता के बंधन से मुक्ति दिलाने की चेष्टा से बढ़कर और कौन सुकर्म हो सकता है। और ठीक ही, उसी ओर सभी सजीव प्राणी लगे। श्री संपूर्णानंद ने भी अपने को उसी ओर लगाया। समय-समयपर जब उन्हें अवकाश मिला भारती की आराधना में ही उन्होंने लगाया। और इसके परिणाम-स्वरूप जो कुछ हमें मिला है, वह विचारों के जगत को अनुपम देन है।

किंतु श्री संपूर्णानंद शुष्क राजनीतिक कार्यकर्ता ही नहीं हैं। साहित्यकार की सहृदयता से उनका हृदय ओत-प्रोत है। रसानुभूति के लिये सहृदय को जिन गुणों की आवश्यकता होती है वह सब उनमें वर्तमान है। यद्यपि वह कहा करते है कि मुझमें काव्य समझने की क्षमता नहीं है तथापि वह कविता के मर्मज्ञ हैं और उसकी तहों में पहुंचते हैं। हिंदी में कविता सुनते हैं, पढ़ते हैं और उनकी टीका कभी-कभी विचक्षणता से पूर्ण होती है।

साहित्य के निर्माण के क्षेत्र में सफलता मिलने का कारण साधना तो है ही, और भी बड़ा कारण उनका चरित्र है। इस निर्णय में लेशमात्र संदेह नहीं है कि महान् चरित्र ही महान साहित्य का सर्जन कर सकता है। विश्व का इतिहास इसका साक्षी है। हीन तथा चरित्र से स्खलित लोग शब्दाडंबरों से परिवेष्टित तथा भाषा का चमत्कार लिए हुए क्षणिक ज्योति दिखाकर विलीन हो जानेवाली रचनाओं का निर्माण कर सकते हैं। किंतु काल के प्रवाह में उनका लय हो जाता है। चरित्र की उर्वर भूमि में ही साहित्य के पौधे का विकास हो सकता है। श्री संपूर्णानंद के कृष्णवर्ण के अंदर उज्ज्वल चरित्र तथा व्यक्तित्व निहित है। साधारण परिस्थितियों में अपने

चरित्रबल से उन्होंने अपना विकास किया है। इनका जन्म साधारण परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज बख्शी सदानंद चेतसिंह के दीवान थे। कुल प्राचीन तथा गौरवपूर्ण था किंतु इनके पिता के समय आर्थिक परिस्थिति साधारण थी। यदि यह चाहते तो राजकीय विभाग में कोई कर्मचारी बन जाते। इनके पिता का प्रभाव इस कारण था कि इन्होंने सत्यशीलता का जीवनभर आचरण किया। किंतु उस युग की परिस्थिति में इन्होंने विदेशी शासन में कोई काम करना अपने सिद्धांतों के अनुकूल नहीं समझा। शिक्षा–विभाग में भी बड़ी सरलता से वह राजकीय कार्य पा जाते। उस समय के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष, जिनके यह विद्यार्थी भी थे, इन्हें बहुत मानते थे। और शिक्षा-विभाग में स्थान प्राप्त कर लेना सापेक्षिक सहज था। किंतु इन्होंने वहाँ जाना उचित नहीं समझा। सार्वजनिक क्षेत्र में, जहाँ अपने कार्यों के प्रसार की सुविधा हो, वहीं उन्होंने कार्यभार ग्रहण किया और जब-जब देश की पुकार सुनी, निजी कष्ट तथा परिवार की कठिनाइयों की चिंता न करते हुए आगे पाँव रखा।

हिंदी के नाते हम देशवासियों को इनपर मान है। इसी सभा में एकबार जब इन्होंने हिंदी के पक्ष में अपना भाषण दिया था, राजनीतिक मंडली को अप्रिय-सा लगा। वह समय था जब कांग्रेस ने पहली बार शासन का उत्तरदायित्व लिया था। इन्होंने महात्मा जी से निवेदन किया था कि हिंदी के पक्ष में मैं मंत्रिपद छोड़ना उचित समझता हूं। महात्मा जी विशाल तथा महती बुद्धिवाले व्यक्ति थे। उन्होंने हिंदी का पक्ष त्यागने का परामर्श नहीं दिया। हिंदी के ऐसे कर्मठ तथा विचारक सेवक के प्रति सभा ने अपनी ओर से अभ्यर्थना प्रदान करना अपना कर्तव्य समझा।

इस वर्ष वह साठ वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके हैं। यह अवसर हमलोगों ने उनके अभिनंदन के लिये उपयुक्त समझा। विद्वान तथा साहित्यिक इससे बढ़कर और किस रूप से अभ्यर्चना प्रकट करते। सभा ने यही निश्चय किया कि उनके अनुरूप यही होगा कि विद्वानों के सहयोग से ऐसी मंजूषा उन्हें अर्पित की जाय जिस में वाणी के अलंकार धरे हों। और आज इसी संकल्प को हमलोग पूरा कर रहे हैं।

योजनाके अनुसार ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है। आरंभ में अमर वाणीसंस्कृत को स्थान दिया गया है जिसके पावन स्रोत से हमारे देश के ज्ञान की जान्हवी प्रवाहित हुई है और जिसके प्रति श्री संपूर्णानंद के हृदय में अपार भक्ति है। दूसरा तथा अधिक अंश हिंदी को दिया गया जिस भाषा में हम बोल और लिखकर देश-

विदेश में भी अपना मस्तक ऊंचा करेंगे। तीसरे खंड में संपूर्णानंद के मित्रों तथा निकट संपर्क रखनेवालों के संस्मरण हैं।

लेख उच्चकोटि के ही समाविष्ट हैं। पुस्तक की सीमा के कारण हमारे ऊपर अनेक प्रतिबंध थे। इसलिये बहुत दुख के साथ संस्कृत तथा हिंदी के कुछ लेख प्रकाशित होने से वंचित रह गए। हमें इसके लिये खेद है।

हम उन लोगों के अनुगृहीत हैं जिन्होंने समय निकालकर अपने अमूल्य लेख हमें दिए हैं। हमें अनेक लोगों से लेख के संपादन तथा ग्रंथ के निर्माण में सहायता मिली है, जिसके लिये हम उनके आभारी हैं; विशेषतः मथुरा–कला–संग्रहालय के अध्यक्ष के, जिन्होंने अनेक चित्रों से हमारी सहायता की है। हम भार्गव भूषण प्रेस के अध्यक्ष तथा सभी कर्मचारियों के भी अनुगृहीत हैं जिन्होंने बड़े परिश्रम से समय पर इस ग्रंथ का प्रकाशन कर दिया।

दिनांक सौर १७ वैशाख, २००७ —संपादक-मंडल

वक्तव्य

काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से आज यह ग्रंथ अपने पुराने सभापति तथा हिंदी के अनन्य सेवक श्री संपूर्णानंद को अर्पित हो रहा है, यह सभा के लिये गौरव की बात है। हिंदी के एक विद्वान, कर्मशील, त्यागी की हिंदी सेवा का संमान करके सभा हिंदी माता के चरणों में श्रद्धा के कुछ पुष्प अर्पित कर रही है। इस अवसरपर सभा भगवान् से प्रार्थना करती है कि श्री संपूर्णानंद ऋषियों की आयु पाकर हिंदी की सेवा करते रहें और उसका भंडार रत्नों से भरते रहें तथा युग-युग तक उनके ऐसे कर्मठ, विवेकशील हिंदीसेवी उत्पन्न होते रहें जिनके अभिनंदन करने का पुण्य पर्व सदा आता रहे और सभा को इसी प्रकार अभिनंदन करने का अवसर प्राप्त होता रहे।

इस अवसर पर वह सबलोग सभा के धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने समय देकर, धन देकर, परामर्श देकर इस ग्रंथ के संयोजन में हमारी सहायता की है। विशेषत: तत्रभवान महाराज विभूति नारायण सिंह काशी नरेश, भार्गव भूषण प्रेस के अध्यक्ष श्री पृथ्वीनाथ भार्गव, रामेश्वर सहाय सिनहा, रमेश चंद्र दे, श्री गोपाल चंद सिनहा, लक्ष्मीचंद चौधरी, लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रो० ऐय्यर, राय कृष्णदास, महामहोपाध्याय पं० नारायण शास्त्री खिस्ते तथा उनके सहयोगी पं० अनंत शास्त्री फड़के, पं० रामाज्ञा पांडेय, पं० बालकृष्ण पंचोली, पं० रघुनाथ पांडेय, पं० जगन्नाथ उपाध्याय, डा० राजेन्द्रनारायण शर्मा, पं० करुणापति त्रिपाठी, श्री राजाराम शास्त्री, श्री भगवतीशरण सिंह, पं० काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर', श्री दिलीप नारायण सिंह, श्री रमाशंकर पाण्डेय, श्री सुधाकर पाण्डेय तथा श्री प्रद्युम्न पांडेय, पं० चंद्रशेखर पांडेय, पं० वाचस्पति उपाध्याय, हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। हम श्री विश्वनाथ शर्मा तथा श्री जयनाथ शर्मा को बहुत धन्यवाद देते हैं जिन्होंने अनवरत परिश्रम से इस ग्रंथ के प्रकाशन में सहायता दी है।

हम अपने कार्यालय को भी नहीं भूल सकते जिसके कर्मचारियों ने कठिनाइयाँ सहनकर, दौड़-धूप कर, परिश्रम करके इस कार्य की सफलता में योग दान दिया है। विशेषतः श्री शंभुनाथ वाजपेयी को और साथ ही उनके सहयोगियों श्री जगन्नाथ प्रसाद तथा श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव को।

कृष्णदेव प्रसाद गौड़,
प्रधान मंत्री
नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी

अनुक्रमणिका

हिंदी

संस्मरण

श्रीमान

९० बौद्धिक, मृदु भावुक, सतत सामाजिक सम्पृक्त
जिओ, जिज्ञासा तुम्हारे श्री सम्पूर्णानन्द!

[illegible]

उपोद्घातः

श्रीमतां महामहिम्नां डा० सम्पूर्णानन्दमहोदयानां षष्ठ्यब्दपूर्त्तिमधिकृत्य काशीस्थयाऽपि विश्व-विश्रुतया नागरीप्रचारिणीसभया एकोऽभिनन्दनग्रन्थस्तेभ्यः समर्पयितुमुपक्रान्तोऽस्ति। तत्र संस्कृतभागसम्पादन-भारश्च तदधिकारिभिर्मयि विन्यस्तः। अहं च तं भारं वोढुमसमर्थोऽपि बहुतरकार्यभारव्यस्तोऽपि काशी-नागरीप्रचारिणीसभाया गौरवाद् अभिनन्दनीयानां माननीयडा०श्रीसम्पूर्णानन्दमहोदयानामनेन व्याजेन कोऽपि मुसत्कारो भवेदिति भावनया, संस्कृतपण्डितानामभिनन्दनग्रन्थेषु प्राथम्येनावतारणप्रणयेन वा प्रावर्तिषि।

अभिनन्दनग्रन्थास्तु अद्य यावत् प्रायो महतां विदुषामेव नाम्ना प्रकटीभूताः सन्ति, वर्तन्ते च तत्र महान्तः श्लाघनीया निबन्धाः। परन्तु आङ्गलसाम्राज्यचाकचक्यचकिताक्षास्तात्कालिका विद्वांसः संस्कृत-भाषायां हिन्दीभाषायां वा किमपि लेखनमपमानास्पदमिव मन्यन्ते स्म। फलतः संस्कृतपण्डिता ईदृशा-भिनन्दनग्रन्थसाहित्यानभिज्ञास्तेष्वश्रद्दधाना इवासन्। परन्तु इदानीं भारतं स्वतन्त्रं जातम्, जनतन्त्रराज्यं च प्रारब्धम्, अपगता आङ्गलाः, आङ्गलभाषाया राजभाषात्वं च नष्टप्रायम्, हिन्दी किल अस्माकं राष्ट्र-भाषाऽस्ति सम्प्रति।

सर्वभाषाजनन्याः सुरभारत्याः कृते किं वक्तव्यम्, सा किलास्माकं कामधेनुः, यदा यदा हि शब्ददारि-द्र्यमवभासेत, तदा सैव शरणम्।

येषां महानुभावानां करकमलयोरभिनन्दनग्रन्थोऽयं समर्पणीयः ते माननीयडाक्टरसम्पूर्णानन्द-महाभागाः सर्वशास्त्रावगाहिधिषणा विशेषतो दर्शनशास्त्रपारावारपारङ्गमाः सन्ति। न केवलं प्राचीनो-द्भावितदर्शनग्रन्थाध्ययनं तन्मननमात्रं वा डाक्टरसम्पूर्णानन्दमहाभागानां रुचिविषयः। ते हि प्राचीना-चार्या इव मननतरितीर्णविद्यार्णवाः स्वप्रतिभाप्रभावप्रोद्भासितानि नव्यतत्त्वसंवलितान्यभिनवानि दर्शनान्यपि प्रोद्भावयितुं प्रभवन्तीति महदिदं विस्मयकरं नः।

यथा हिन्द्यां, तथैव संस्कृते, आङ्गलभाषायां च लोकोत्तरं प्रावीण्यं डा० सम्पूर्णानन्दमहाभागा-नाम्। संस्कृते च तेषां वाग्धारा श्रौतप्रवाहान्तःपातिनी नूनमावर्जयति विदुषां मनांसि।

अस्मिन् शुभेऽवसरेऽस्माकं संस्कृतपण्डितानामहमहमिकयाऽभिनन्दनग्रन्थेऽवतरणं नूनं कौतुकास्पदमेव। माननीया डा० सम्पूर्णानन्दमहाभागा अस्माकं संस्कृतविदुषां जीवातवः, ते हि संस्कृतपक्षपातिनः संस्कृतपण्डितपक्षपातिनश्च सन्ति। संस्कृतविदुषां सर्वाऽपि लेखशैली तान् प्रसादयिष्यतीति निश्चित्य मयाऽयं संचयस्तत्करयोरर्पयितुमुपक्रान्तः।

अत्र कार्ये काशिकराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालये पुराणेतिहासाध्यापकैः पण्डितप्रवरश्रीमदनन्तशास्त्रिफडकेमहोदयैः तथा व्याकरणाध्यापकैः पण्डितवरश्रीमद्बालकृष्णशास्त्रिपञ्चोलिमहोदयैः सरस्वतीभवनस्यव्याकरणाचार्यश्रीरघुनाथपाण्डेयैर्वेदान्ताचार्यश्रीजगन्नाथशर्मोपाध्यायैश्च सर्वाङ्गीणमनलसं साहाय्यं समर्पितमिति तेभ्यो भूयसो धन्यवादानर्पयामि। अस्माकं ज्येष्ठभ्रातृकल्पाः प्रतिक्षणसमुच्छलन्मेधाप्रकर्षाः पं० रामाज्ञापाण्डेयमहोदयास्तु मम कार्यशक्तिसन्धुक्षणमहौषधायमाना एव सन्तीति तेषां विषये मौनमेवात्मनिवेदनम्। परिशेषेऽस्माकं प्रधानसहायकाः पं० करुणापतिशास्त्रित्रिपाठिमहोदया अपि नितरां धन्यवादानर्हन्ति। तेषां वैदुष्यसदाचारविनयार्जवादिभिरलौकिकैर्गुणैर्नितरामावर्जितस्वान्तोऽहं भगवन्तं श्रीविश्वनाथमभ्यर्थये, यत्ते चिरायुषो भूत्वा चिरं सुरभारती-सेवां कुर्वन्त्विति शम्।

अन्यच्च पत्रसङ्ख्याया नियतत्वान्मया पत्रलेखनपूर्वकं सादरमामन्त्रिता बहूनां विदुषां लेखा अत्र स्थानं नोपालभन्तेति बाढं विषीदामि। येषां विदुषां लेखा न प्रकाशितास्ते विद्वांसो मर्षयन्त्विति प्रार्थये।

यथासम्भवं काशिकराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयीयमुखपत्रिकायां 'सारस्वत्यां सुषमायां' यथाक्रमं ते प्रकाशयिष्यन्ते।

सरस्वतीभवनम्, काशी
वसन्तपञ्चमी, २००६

नारायणशास्त्री खिस्ते
संस्कृतविभागसंपादकः।

मङ्गलम्

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

ऋग्वेद १-८९-८।

इमां म इन्द्र सुष्टुतिं जुषस्व प्र सु मामव ।
उत प्र वर्धया मतिम् ॥

ऋग्वेद ८-६-३२।

पवस्व जनयन्निषोऽभि विश्वानि वार्या ।
सखा सखिभ्य ऊतये ॥

ऋग्वेद ९-६६-४।

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

ऋग्वेद १०-९०-३।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

तैत्तिरीय १-१-१४।

पुनर्मनः पुनरायुर्म आऽगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आऽगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आऽगन् । वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥

शुक्ल यजुर्वेद,—४-१५।

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥

शुक्लयजु० ३२-१५।

कल्याणपरम्पराशंसनम्

नारायणशास्त्री खिस्ते

श्रीमतां महनीयचरितानां विद्या-विनय-राजनय-धैर्योदार्य-दया-दाक्षिण्यादि-सद्गुण-गण-माणिक्यमहाकराणां महानुभावानां श्रीसम्पूर्णानन्दमहोदयानां षष्ठ्यब्दपूर्त्तौ कल्याणपरम्पराशंसनम् ।

निखिलभुवनरक्षादक्षिणः श्रेणिबद्धा-
ऽमरनिकरकरस्थोदारमाल्यार्चिताङ्घ्रिः ।
विततविविधविद्यावाहिनीमेलनाब्धि-
र्दिशतु मुदमनल्पां वः सदा विश्वनाथः ॥ १ ॥

येनाग्राहि जनः स्वभूमिजननीदुःखान्धकारच्छिदे
येनावादि मनोरमं मृदुवचः सर्वस्य तापापहम् ।
येनात्याजि समस्तभोगघटना तीव्रं विधातुं तप-
स्तस्मात् को नु वरो नरो भुवि जनैरभ्यर्चनीयो भवेत् ॥ २ ॥

श्रीमद्वारणसेयप्रथितकुलसरोजातनव्यांशुमाली
मालीलानिस्पृहः सन्नविरतविकसद्वाङ्मयैकानुरागः ।
रागासङ्गं न भोगे वहति परमसौ तारकौघे नभोगे
भो ! गेयः कीर्तिशाली स्वयमयमवनौ नायकः शिक्षकाणाम् ॥ ३ ॥

सम्पूर्णानन्द ! विद्याविमलकुमुदिनीयामिनीकान्त ! शान्ता-
ऽशेषध्वान्तप्रसारं विरतखलजनोलूककोलाहलञ्च ।
विद्यास्थानं समस्तं विलसति भवतः सानुरागांशुपालै-
र्निस्यन्दन्ते च विद्वज्जनहृदयमहाचन्द्रकान्ताः प्रमोदात् ॥ ४ ॥

स्वभ्यस्तानेकभाषो गहनगणितवित् तारकाचक्रचारे
बुद्ध्या सञ्चारकारी श्रुतिशतमननाच्चिद्विलासप्रबन्धा ।
प्रत्नैतिह्यानुरागी सुरगणवचसामुन्नतेरेकहेतुः
सम्पूर्णानन्दनामा मतिमदनुपमो भारते भातु भव्यः ॥ ५ ॥

माननीय ! मारस्वतधौरेय ! अद्यावधि भवदीयनिरवधिकार्यजातजनितं कुन्देन्दुसुन्दरं यशः सुकृतिनां कर्णपूरायत एव । स्वदेशसमुद्धरणमहाध्वरं निर्वोढुं बद्धपरिकराणामन्यतमो भवान् अतिमानवैः स्वकीयैस्त्यागतपःस्वाध्यायसहिष्णुतादिभिर्गुणैर्महतोऽप्यतिशेते ।

किञ्च जराजीर्णायाः सुरभारत्या अपि महोत्साहपीयूषप्रदानात् अनितरसाधारणं हस्तावलम्बं ददानो भवान् नवेन्दुरिव विबुधजनस्य लोचनाऽऽसेचनकजनिः समजनि ।

किम्बहुना वाङ्मयैकानुरागिणो भवतः करसरोजसम्पुटे वाङ्मयसुमनोऽञ्जलिरयमुपनीयमानो दिगन्तरं सुरभीकरोतुतमाम् ।

स्रग्धरास्रगुपहारः

भूपनारायण झा

एतद्ग्रन्थाभिनन्द्यः स्फुरति शशिकलाकारसौजन्यजन्यो-
दञ्चत्कीर्तिप्रसारैरनिशमुपचिताखण्डदिङ्मण्डलश्रीः ॥
ऊहापोहातिरेकोन्मथितसमुदिताम्नायसिद्धान्तसिन्धु-
र्वन्द्यो बन्धुर्बुधानां वहति बहु धुरां बन्धुगमुद्धुरांसः ॥ १ ॥

चाकाशीत्यद्यकाशीं परमियममुना नात्मजेनोरुधाम्ना;
किन्तून्मीलद्विशेषा नरवरजननी भारतक्षोणिरेषा ॥
माहात्म्येनैव यस्योन्नमदमरगवीगौरवोद्गारिभेरी-
भाङ्कारा विश्वमेतद्बधिरयितुमतीवादिगन्तं प्रथन्ते ॥ २ ॥

विभ्राजद्भालचन्द्राकृतिकृततिलकेनेन्दुमौलिस्त्रिनेत्रः,
कृष्णश्चासौ स्वकान्त्या, कमलदलदृशा पुण्डरीकाक्षमूर्तिः ॥
गर्जन्नूर्जस्विनादैरतनुनरतनुः केसरी चोग्रमौलि-
श्लिष्यद्भिः केसरौघैरजनि जनिमदानन्दकान्तारमध्ये ॥ ३ ॥

दग्धं दारिद्र्यदावानलविषमतमज्वालया शुष्कमन्त-
स्तापैः पाश्चात्यवात्याव्यतिकरविगलन्मूलमुद्वेपमानम् ॥
एतद्ग्रन्थाभिनन्द्यः स्फुरदमृतमुचा सिक्तमद्यापि मूर्तं
जीर्णं शीर्णञ्च विद्वज्जनवनमभितः पल्लवौघानमोघान् ॥ ४ ॥

*उद्वेलन्नव्यनव्यात्मजविविधगवीरुध्यमानप्रसारा
सारांशस्यन्दिकापि स्वयमतिजरती हन्त ! हा ! मर्तुकामा ॥
एतद्ग्रन्थाभिनन्द्याभिनवजलधरोद्भासमानाङ्गपूर्णा-
नन्द-श्रीकृष्णकीर्णामृतममरगवी प्राणिति प्राश्य भूयः ॥ ५ ॥*

एतद्ग्रन्थाभिनन्द्यःस्मितलसितमुखाम्भोजभूयोऽवभासः
किंस्विद्विस्पष्टहासः स्वहृदयविलसत्सिद्धिसीमन्तिनीनाम् ॥
किं वा मैत्र्यादिकान्तः करणपरिणमद्वृत्तिविद्युद्विलास-
श्चित्तोल्लासः किमाहो ! विशकलितकियच्चिद्विलासप्रयासः ॥ ६ ॥

द्राघीयोवृत्तसूत्राञ्चितनवरचनासूचिकोद्जृम्भिताभिः,
सम्पृक्ता सूक्तिमुक्ताभिरियमनुपदं सद्गुणग्रन्थियुक्ता ॥
श्रद्धाश्रद्धासमृद्धा स्वविधसमुपहृता सुन्दरस्रग्धरास्रक्
ग्रन्थेनानेन नन्द्योन्नतपुरुषपुरुप्रीतये नित्यमास्ताम् ॥ ७ ॥

समादराञ्जलिः

आनन्दझा

वैदेशिकाऽसनृपदाहृतिजायमान-
दावाग्नि-दग्ध-हृदया ननु भारती भूः ।
स्वातन्त्र्य-सम्मदसुधावरवर्षणेन
सञ्जीविताऽभवतेति भवान्नमस्यः ॥१॥

कारागृहार्गलनिरुद्धविरुद्धचेष्टाः
स्वेष्टाऽऽप्तिपुष्टमतयः खलु ये विशिष्टाः ।
स्वातन्त्र्यघोर-रण-वीरतयाऽऽप्तकष्टाः
एको भवान् विजयते सकलेषु तेषु ॥२॥

सम्पूर्णानन्द ! शिक्षासचिव ! सुललिता-शेमुषी तेऽतिधन्या
यस्यां सच्चिद्विलासः प्रतिफलनमुपागच्छदन्याऽप्रकाशः ।
येन प्राकट्यमाप्ताः त्रिभुवनविषयाः त्वय्यमोघ-प्रभावे
विस्पष्टं स्थापयन्ति प्रतिपदमतुलं स्वप्रकाशत्वमच्छम् ॥३॥

दुर्गानिर्गलशक्तिभक्तिरचला ते यत्प्रभावादिदम्
तेजो देश-विदेश-गामि लभति प्रोद्यत्सुधांशुप्रभम् ।
चञ्चच्चन्दनबिन्दुमिन्दुशकलप्रस्पर्द्धि भालं वहन्
मूर्त्तिर्भारतसंस्कृतेर्विजयसे किं वा सुभाग्योदयः ॥४॥

श्रीमन्मोहनलोकमान्यतिलकाऽलङ्कारझङ्कारितम्
यद्गोविन्दकृपाजवाहरमहद्राजेन्द्रचन्द्रोज्ज्वलम् ।
विद्वद्वर्य्यपदारविन्दविलसच्छ्रीमत्कवीन्द्रान्वितं
तत्सम्पूर्णसुशिक्षणैकनिलयं सन्निस्तुलं भारतम् ॥५॥

संस्कृतनिखिलाऽऽगमसन्निलय-व्याजेन श्रीमतां कीर्त्तिः ।
आकल्पकालमचला प्रभवतु वैश्वेश्वरे नगरे ॥६॥

अजगमरभावमेतु ते वपुरेतत्सततं सुकर्म्मकृत् ।
भवदुद्यमजाद् भयाद् भवेद् विलयाऽऽबद्धमतिस्त्वशिक्षितिः ॥७॥

अथर्ववेदसंहितान्तर्गतं पृथ्वीसूक्तम्

(काण्डम् १२, सूक्तम् १, मन्त्राः १–६३)

सुश्लोकभाष्यसहितम् ।

भाष्यकारः—नारायणशास्त्री खिस्ते ।

मन्त्रः—सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

भाष्यम्—आश्रित्य सत्यं सुबृहज्जलं च दीक्षामथोग्रं सुतपश्च यज्ञम् ।
पृथ्वी स्थिता सर्वजनावनीयं ददातु नः स्थानमहो निकामम् ॥ १ ॥

मन्त्रः—असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

भाष्यम्—यद्वर्तिलोका ननु सन्त्यबाधाः समोच्चनीचाः किल भूमिभागाः ।
बिभर्ति या वीर्यवतीर्महौषधीः सा नः सदा रक्षतु भूमिदेवी ॥ २ ॥

मन्त्रः—यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

भाष्यम्—यस्यां समुद्राः सरितश्च सन्ति यत्कृष्टिभिर्जीवति जीवलोकः ।
सा नो धरित्री फलपूर्णभागे सुस्थान्सुपीतान्वितनोतु सद्यः ॥ ३ ॥

मन्त्रः—यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

भाष्यम्—दिशश्चतस्रः किल सन्ति यस्यां कृष्ट्या प्रभूतं भवतीह चान्नम् ।
या प्राणिनो धारयते धरित्री ददातु सा नो बहु गोधनानि ॥ ४ ॥

मन्त्रः—यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

भाष्यम्—कृतानि कर्माणि च यत्र पूर्वजैर्देवैश्च युद्धेष्वसुराः पराजिताः ।
स्वैरं गवाद्या विहरन्ति यत्र तेजो धनं सा वसुधा ददातु ॥ ५ ॥

मन्त्रः—विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥
भाष्यम्—विश्वंभरा विश्वजनप्रतिष्ठा निधानरूपेण हिरण्यधारिणी।
अग्नि वहन्ती वृषभात्मनेन्द्रं सा भूमिरस्मान् द्रविणैर्धिनोतु ॥ ६ ॥
मन्त्रः—यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥
भाष्यम्—रक्षन्ति यां भूमिमिमेऽमरोत्तमाः सदैव तद्रक्षणजागरूकाः।
मधुप्रियं नः सततं ददाना सा नः सुवर्चः सहितान्करोतु ॥ ७ ॥
मन्त्रः—यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥
भाष्यम्—समुद्रमग्नामपि यां पुरायुगे मायाभिरेवान्वचरन् मनीषिणः।
सुधामयं सत्यसमावृतं च चित्तं स्थितं व्योम्नि परे यदीयम।
सा भूमिरस्मान् निदधातु राष्ट्रे समुत्तमे दीप्तिबले ददाना ॥ ८ ॥
मन्त्रः—यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥
भाष्यम्—नक्तं दिवं यत्र समानभावं वहन्ति वारीणि च सावधानम्।
सा भूरिधारा नवदुग्धाधारोपमानि भूयच्छतु नः फलानि ॥ ९ ॥
मन्त्रः—यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥
भाष्यम्—यामश्विनौ चक्रतुरक्रमौ च विष्णुश्च यस्यां बहुधा विचक्रमे।
हतारिरिन्द्रेण कृता मही सा मातेव पुत्राय पयो ददातु ॥१०॥
मन्त्रः—गिरयस्ते पर्वताहिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ॥
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥
भाष्यम्—मातर्भूमि हिमाचलादिगिरयस्ते पर्वतारण्यभू-
भागाः, सन्तु सुखाय नस्त्वमसि नः शक्रैकगुप्ताऽऽश्रयः।
नानावर्णविराजमानवपुषं त्वामाश्रयन्नक्षतो,
भूयांसं ह्यजितोऽहतस्त्वयि सदा सम्यक् प्रतिष्ठास्पदम् ॥११॥
मन्त्रः—यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥१२॥
भाष्यम्—धरणि तव तु मध्यान्नाभिभागाच्छरीरात्प्रसरति परिपुष्टे प्रापके स्थापयेर्माम्।
त्वमसि मम हि माता पावयेर्मां स्वपुत्रं स च खलु जनको मां पातु पर्जन्यदेवः ॥१२॥

मन्त्रः—यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वः पृथिव्यामूर्ध्वा शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥१३॥

भाष्यम्—निर्माय वेदिं किल यत्र यज्ञं वितन्वते वेदविदः पृथिव्याम्।
यत्राहुतेः पूर्वमिमे हि यूपखण्डाः प्रदीप्ताः परितः स्फुरन्ति।
सा वर्धमाना धरणी किलास्मान् प्रबद्धयत्वेव सदा स्वपुत्रान् ॥१३॥

मन्त्रः—यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥१४॥

भाष्यम्—यो द्वेष्टि नः पृथिवि यश्च वधेच्छया नः सेनाबलं वितनुते बहुधा विशालम्।
हे श्रेष्ठकर्मकुशले धरणि त्वमद्धा तं दुर्मतिं सपदि पोथय मारयेथाः ॥१४॥

मन्त्रः—त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥१५।

भाष्यम्—त्वत्संभवास्त्वयि चरन्ति जना बिभर्षि त्वं तान्धरे द्विचरणांश्चतुष्पदांश्च।
उद्यन् रविः स्वकिरणैरमृतं यदर्थं वर्षन्त्यमी जननि पञ्चजनास्त्वदीयाः ॥ १५ ॥

मन्त्रः—ता नः प्रजाः संदुह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥१६॥

भाष्यम्—अस्मदर्थं प्रजाः सर्वा वाचोऽमी किरणा रवेः।
दुहन्तु हे धरादेवि मधु मे देहि सर्वतः ॥१६॥

मन्त्रः—विश्वस्वंमातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योना मनु चरेम विश्वहा ॥१७॥

भाष्यम्—सर्वस्य विश्वस्य धनात्मिकायां सर्वौषधीनामपि मातृकायाम्।
धर्माश्रितायां ध्रुवतान्वितायां वयं सुखेनैव चरेम भूमौ ॥१७॥

मन्त्रः—महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे।
महाँस्त्विन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥१८॥

भाष्यम्—आवासभूमिर्महती धरे त्वं वेगश्च कम्पश्च तवास्ति भूयान्।
इन्द्रो महानेष विना प्रमादं त्वां सर्वदा रक्षति जागरूकः।
सुवर्णवत्सर्वजनप्रियान्नः कुरुष्व न द्वेष्टु कुतोऽपि कश्चित् ॥१८॥

मन्त्रः—अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

भाष्यम्—वाष्पात्मनाग्निर्भुवि चाप्सु विद्युद्रूपेण वह्नावपि चोपलेषु।
जनेषु धेनुष्वथ घोटकेषु स जाठराग्निर्विलसत्यजस्रम् ॥१९॥

मन्त्रः—अग्निर्दिव आतपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥२०॥

भाष्यम्—सूर्यात्मनाग्निर्दिवि वर्ततेऽयं यदन्तरिक्षं तदिहाग्निदेवम्।
मर्त्यास्तु सर्वेऽपि घृतप्रियं तं वैश्वानरं जुह्वति सर्पिरोघैः ॥२०॥

मन्त्रः—अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा करोतु ॥२१॥

भाष्यम्—अग्निवासा धारादेवी नीलधूमविदां वरा।
दीप्तिमन्तं च तीक्ष्णं च मां करोतु निजं सुतम् ॥२१॥

मन्त्रः—भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरं कृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥२२॥

भाष्यम्—भूमौ जना जुह्वति देवताभ्यो हविस्तु मर्त्या अपि भूप्रतिष्ठाः।
अन्नेन जीवन्ति ददातु सा नो भूः प्राणमायुश्च करोतु वृद्धान् ॥२२॥

मन्त्रः—यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२३॥

भाष्यम्—यस्तेऽस्ति गन्धः पृथिविप्रभूतः तं धारयन्त्योषधयो जलानि ॥
गन्धर्वलोकोऽप्सरसां गणश्च तमेव ते जिघ्रति सुष्ठु गन्धम्।
मां तेन सद्यः सुरभी कुरुष्व न मां प्रति द्वेष्टु कुतोऽपि कश्चित् ॥२३॥

मन्त्रः—यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे।
अमर्त्या पृथिवि गन्धमग्ने तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२४॥

भाष्यम्—गन्धस्तु यस्ते कमलं प्रविष्टः सूर्याविवाहे विधृतोऽमरैर्यः।
मां तेन सद्यः सुरभी कुरुष्व न मां प्रति द्वेष्टु कुतोऽपि कश्चित् ॥२४॥

मन्त्रः—यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु।
कन्यायां वर्चो यद्भूमे तेनास्माँ अपि संसृज मा नो द्विक्षत कश्चन ॥२५॥

भाष्यम्—यस्ते धरादेवि विभाति गन्धो नरेषु नारीषु भगो रुचिश्च।
अश्वेषु वीरेषु मृगेषु हस्तिषु कन्यासु वर्चश्च यदस्ति भूमे।
मां तेन संयोजय देवि सद्यो न मां प्रति द्वेष्टु कुतोऽपि कश्चित् ॥२५॥

मन्त्रः—शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥२६॥

भाष्यम्—शिलाश्मपांसुप्रभृतीनि यस्या रूपाणि लोके विदितानि सन्ति।
अथापि धत्ते हृदि या सुवर्णं तां भूमिदेवीं प्रणमामि नित्यम् ॥२६॥

मन्त्रः—यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥२७॥

भाष्यम्—यस्यां ध्रुवास्तिष्ठति वृक्षवर्गो वनस्पतीनामपि सम्भवो यः।
धृतां तु धर्मेण समस्तपोषिणीं स्तुमो धरित्रीं वयमादरेण ॥२७॥

मन्त्रः—उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥२८॥

भाष्यम्—वयं चरन्तस्त्वयि देवि भूमे सव्यापसव्यं च पुरश्च पश्चात्।
स्थितोपविष्टाश्च तव प्रसादान्मा भूद्व्यथा नः किल कापि तत्र ॥२८॥

मन्त्रः—विमृग्वरीं पृथिवी मा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि निषीदेम भूमे॥२९॥

भाष्यम्—पवित्रमन्त्रप्रभवात्प्रभावाद् वृद्धिं गतां स्तौमि महीं क्षमाख्याम्।
पुष्टिप्रदैरन्नरसैस्तु बल्यैर्घृतैर्भवत्यां जुहुमः प्रसन्नाः॥२९॥

मन्त्रः—शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं निदध्मः।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि॥३०॥

भाष्यम्—शुद्धानि वारीणि पतन्तु देहे ततो निवृत्तानि रिपौ पतन्तु।
अहं क्षमे देवि पवित्रकेण मां पावयामि त्वयि बद्धभावः॥३०॥

मन्त्रः—यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद्याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा निपप्तं भुवने शिश्रियाणः॥३१॥

भाष्यम्—यास्ते दिशः सन्ति धरे प्रसिद्धाः पूर्वादिकास्ताश्चरते तु मह्यम्।
दिशन्तु सौख्यं न पतेयमद्धा मातर्भवत्या भुवनेषु गच्छन्॥३१॥

मन्त्रः—मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम्॥३२॥

भाष्यम्—भूमे मे सर्वतः स्याः सुविहितभवने मां निधेहि त्वमेव
कल्याणं देहि मह्यं स्फुरतु न परितो मां ममामित्रवर्गः।
नो मां जानन्तु वित्तापहृतिकृतधियो दस्यवः सन्तु वश्याः
भीतेर्भूमा वधोऽपि प्रगरतु सुतरां दूरतो मत्सकाशात्॥३२॥

मन्त्रः—यावत् तेभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम्॥३३॥

भाष्यम्—पश्यामि मेदिनि दिवाकरदीप्तिदृप्तां त्वां यावदम्ब कनकाम्बुकृताभिषेकाम्।
प्रत्यब्दमस्तु मम चाक्षुषशक्तिवृद्धिर्माभूत्कदापि मम चक्षुषि मन्ददोषः॥३३॥

मन्त्रः—यच्छयानः पर्यावर्त्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत्पृष्टीभिरधिशेमहे।
मां हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि॥३४॥

भाष्यम्—यत्कुक्षिभागपरिवर्तनमाचरामि, उत्तानतां च यदहं शयने वहामि।
सर्वावने त्वमवने मम तत्र सर्वभावेन रक्षणविधौ भव जागरूका॥३४॥

मन्त्रः—यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्॥३५॥

भाष्यम्—यत्खनामि तव देवि विग्रहं रोहतु त्वयि तदप्यनुक्षणम्।
मर्म वा हृदयमेव ते धरे नाशकं तु परिपूरयन्नहम्॥३५॥

मन्त्रः—ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्॥३६॥

भाष्यम्—भूमे त्वदर्थं विहिता षडेते वसन्त मुख्या ऋतवः क्रमेण।
यच्चाप्यहोरात्रमिदं विभाति सर्वं तदस्मान् सुहितान् करोतु॥३६॥

मन्त्रः—यापसर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वऽन्तः
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥३७॥

भाष्यम्—पवित्रशीला खलु या भुजंगकम्पेन कम्पं भजते कदाचित्।
जलप्रविष्टोऽपि च वैद्युतोऽग्निर्यस्यां सदा तिष्ठति गुह्यरूपः।
या दस्युवर्गाय फलं न दत्ते शक्रं स्वयं या वरयांबभूव।
न वृत्रवश्या किल या कदाचित् प्रवर्षकस्यैव वशे विभाति ॥३७॥

मन्त्रः—यस्यां सदो हविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥३८॥

भाष्यम्—यस्यां हविर्होतुमहो वितन्वते विप्रर्त्विजो यज्ञविधानमण्डपम्।
यूपाश्च यस्यां परितो विभान्ति ते सा यज्ञभूमिर्महती विराजते॥
ऋक्साममन्त्रैर्यजुषा च यत्र तत्तद्विदोऽर्चन्ति यथाविधानम्।
इन्द्राय सोमं बहुमानपूर्वं ऋत्विग्गणश्चार्पयते च यत्र ॥३८॥

मन्त्रः—यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्तसत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥३९॥

भाष्यम्—यस्याममी भूतकृतो महर्षयस्तपोऽन्विता वाचमुदीरयन्ति।
सब्रह्मयज्ञं सहसप्तसत्रस्तोत्रैः समर्चन्ति च यत्र देवान् ॥३९॥

मन्त्रः—सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥४०॥

भाष्यम्—सा भूमिरस्माकमभीष्टमुच्चैर्ददातु वित्तं त्वरितं दयार्द्रा।
भाग्यं तु नः प्रेरयतु प्रकाममस्मत्पुरोगो भवतात्किलेन्द्रः ॥४०॥

मन्त्रः—यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सानो भूमि प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥

भाष्यम्—नृत्यन्ति गायन्ति च यत्र मर्त्या युध्यन्ति चाक्रन्दयुताश्च केचित्।
यत्रैकतो गर्जति दुन्दुभिश्च करोतु नः सावनिरस्तशत्रून् ॥४१॥

मन्त्रः—यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमा पञ्च कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोस्तु वर्षमेदसे ॥४२॥

भाष्यम्—या सर्वदा व्रीहियवादिपूर्णा भवन्ति यस्यामपि पञ्च कृष्टयः।
मेदस्विनीवर्षजलैश्च याऽस्ते पर्जन्यपत्न्यै महि! ते नमोऽस्तु ॥४२॥

मन्त्रः—यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

भाष्यम्—यस्याः पुरो देवकृतास्तु हिंस्राः क्रीडन्ति केचित्, पशवः प्रभूतम्।
प्रजापतिस्तत्तु समस्तविश्वं गर्भे दधानां वरभूमिदेवीम्
अस्मत्सुखार्थं तु चतुर्दिशं तां करोतु नित्यं रमणीयरूपाम् ॥४३॥

मन्त्रः—निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥

भाष्यम्—अन्तर्निधीनिरवधीन् मणिरत्नपूर्णान् गुप्त्या स्वकीयहृदये सुचिराद्दधाना।
सा नो ददातु वसुधा वसुदा प्रसन्ना रत्नानि सन्मणिगणं कनकं तथैव ॥४४॥

मन्त्रः—जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

भाष्यम्—अनेकधर्मानपि भिन्नभाषान् जनान् वहन्ती तु यथावकाशम्।
स्थिरेव धेनुर्ह्यचला त्वियं मे सहस्रधारा द्रविणस्य दोग्धु ॥४५॥

मन्त्रः—यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहाशये।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोपसृपद्यच्छिवं तेन नो मृड ॥४६॥

भाष्यम्—ये देवि सर्पास्त्वयि सन्ति येषां दंशस्तृपं वर्धयते जनानाम्।
ये वृश्चिका ये भृमलास्तु शीते गुहाशयाः प्रावृषि ये प्रसन्नाः॥
मां मोपसर्पन्तु धरे त्वदीयास्ते कटिकाद्या गरलोपसिक्ताः।
ये प्राणिनः ते सुखदास्त एव मत्सन्निधौ सन्तु शिवं कुरुष्व ॥४६॥

मन्त्रः—ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करंयच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥

भाष्यम्—हे पृथिव ते सन्ति जनायनाश्च रथस्य मार्गा अनसां च मार्गाः।
यैर्यान्ति पापाः पथिभिश्च यैश्च व्रजन्ति ते पुण्यकृतो मनुष्याः॥
कल्याणदास्तस्करवैरिमुक्तास्ते सन्तु नो देवि शिवं कुरुष्व ॥४७॥

मन्त्रः—मल्वं बिभ्रती गुरुभृद्भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय ॥४८॥

भाष्यम्—शत्रूनपि स्वात्मनि धारयन्ती गुरून्पदार्थान्वपुषा दधाना।
भद्रस्य पापस्य हृतिं वहन्ती वराहजुष्टाऽनिशं द्वराहम् ॥४८॥

मन्त्रः—ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥४९॥

भाष्यम्—आरण्यकान् हिंस्रपशून्वनस्थान् उलं वृकं राक्षसऋक्षिकांश्च।
हे पृथ्वि दूरे कुरु मत्सकाशादेतांश्च नूनं परिबाधयस्व ॥४९॥

मन्त्रः—ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्सर्वा रक्षांसि तानस्मद्भूमे यावय ॥५०॥

भाष्यम्—यदस्ति गन्धर्वजनाप्सरःकुलं रक्षःकुलं यत्सुकृतस्य बाधकम्।
पिशाचवर्गोऽस्ति च यस्तदेतान् हे पृथ्वि मत्तः परिदूरयस्व ॥५०॥

मन्त्रः—यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णा शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥५१॥

भाष्यम्—वयांसि यस्यां द्विपदानि हंसाश्चरन्त्यथान्यान्यपि मातरिश्वा।
पांसून् किरन् वाति तरूंश्च मूलादुत्पाटयन् यत्र समृद्धवेगः।
आराज्ज्वलत्यत्र च वायुदेवे देवोऽनलश्चापि चलत्यथोर्ध्वम् ॥५१॥

मन्त्रः—यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।
वर्षेण भूमिः पृथिवीवृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिध. मनि।

भाष्यम्—कृष्णारुणे यत्र सदा क्रमेणाहोरात्रसंज्ञे भुवि संविभातम्।
वृतावृताया भवतीह वृष्ट्या सा मां शुभे स्थापयतात् स्वधाम्नि ॥५२॥

मन्त्रः—द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥५३॥

भाष्यम्—दिवा पृथिव्या जलसूर्यमेधान्तरिक्षमुख्यै रथदेवताभिः।
भूमौ विहर्तुं सुखमस्ति दत्ता शक्तिस्तु मह्यं विविधप्रकारैः ॥५३॥

मन्त्रः—अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥

भाष्यम्—अहं भवेयं रिपुसंघजेता सदाऽभिमुख्येन रिपुप्रणाशी।
चतुर्दिशं वैरिगणं विजित्य भूयासमुच्चैः प्रथितः प्रवीरः ॥५४॥

मन्त्रः—अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महि त्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

भाष्यम्—त्वं प्रार्थिता पृथ्वि पुराऽमरैरहो विशालरूपा भव हे महीति।
तदा त्वयि प्राविशदेष भूतसंघः शुभाश्चाथ दिशो बभूवुः ॥५५॥

मन्त्रः—ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥

भाष्यम्—हे मातर्महि सन्ति ये पुर-वर-ग्रामा-वनान्युच्चकैः।
संग्रामाश्च सभाश्च याः समितयो युद्धप्रसंगोद्भवाः।
सर्वत्रैव च तत्र तत्र धरणि त्वत्प्रीतये सादराः,
त्वां देवीं वचनैर्नवीनरचनैः श्लाघामहे सुन्दरम् ॥५६॥

मन्त्रः—अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन्पृथिवीं यदजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥५७॥

भाष्यम्—ये सन्ति भूमौ विचरन्ति ये च वाजीव ये पांसुभिराकिरन्ति।
मन्द्रेत्वरीयं धरणी तु सर्वांस्तानोषधीभिर्वचनैश्च पाति ॥५७॥

मन्त्रः—यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥५८॥

भाष्यम्—यद्यद् वदेयं महि ! ते प्रसादात्तदस्तु नित्यं मधुमत्पवित्रम्।
वीक्षेय यं सेवक एव सोऽस्तु भवेयमुच्चैरहमिद्धदीप्तिः।
वेगात्परेषामपि रक्षकोऽहं भवानि मत्कम्पकपोथकोऽहम् ॥५८॥

मन्त्रः—शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोघ्नी पयस्वती।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥५९॥

भाष्यम्—एषा शान्तिमयी सदा सुरभिता धान्यैर्धनैः पूरिता,
भूमिर्धेनुरिवासमा सुपयसा मोघं स्तनैर्बिभ्रतो।
मां नित्यं सुधिनोतु सारसहितैर्नव्यैः पदार्थैश्चिरम्।
वाचं काञ्चनपक्षपातसहितां मत्कर्णयोर्भाषताम् ॥५९॥

मन्त्रः—यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तिरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृवद्भ्यः ॥६०॥

भाष्यम्—यां विश्वकर्मा जलधौ निमग्नां रक्षःसमाक्रान्ततनुं हविर्भिः।
ऐच्छद्भुजिष्यं निहितं च पात्रं गुहासु तन्मातृमतां सुखाय ॥६०॥

मन्त्रः—त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥६१॥
वसुन्धरे कामदुघाऽसि नित्यमदीनभावा विस्तृता तथापि।
यशो जले त्वद्वपुषस्तमेष प्रजापतिर्ब्रह्मभवः पिपर्त्ति ॥६१॥

मन्त्रः—उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुद्ध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥६२॥

भाष्यम्—त्वत्क्रोडरूपद्विपपुंज एष सनोऽस्तु यक्ष्मादिगदैर्विहीनः।
दीर्घायुषः स्वान्प्रतिबुद्धय नूनं वयं भवत्यै बलिदा भवेम ॥६२॥

मन्त्रः—भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥६३॥

भाष्यम्—हे भूमि मातस्तव भद्रलक्ष्म्या प्रतिष्ठितं मां कुरु हे कवे ! च।
स्वर्गीयभागं सुलभं विधाय मां भूतिमन्तं कुरु धामवन्तम् ॥६३॥

इति पृथिवीसूक्तस्य सुश्लोकभाष्यम्।

अपि नाम भारतीयं राजनीतिविधानं सम्भवति ?

राजेश्वरशास्त्री

नमः शास्त्राय महते त्रिवर्गस्यैकयोनये ।
नमस्तस्य प्रणेत्रे च कौटिल्याय महर्षये ॥

लोकोत्तरचमत्कारपर्यवसायिन्या राजनीतेः द्वौ भेदौ पाश्चात्यराजनीतिः आचार्यकौटिल्यादिप्रणीता भारतीयराजनीतिश्च । अनयोर्नीत्योः किं स्वरूपं, किं च तारतम्यं, कथं वा अस्मिन् समये प्रयोगावसर-लाभः सम्भवति इति विमृश्यते ।

तत्रादौ नीतिलक्षणमुपाध्यायनिरपेक्षाकाररीत्या उच्यते:—"प्रत्यक्षपरोक्षानुमानलक्षणप्रमाणत्रयनिर्णी-तायां फलसिद्धौ देशकालानुकूल्ये सति यथासाध्यमुपायानुष्ठानलक्षणा क्रिया नीतिर्नय इति हि तत्प्रति-पादितं नीतेर्लक्षणम् ।" सामदानभेददण्डाद्युपायचतुष्टयस्य हि अनुष्ठानमुक्तविधं राजनीतिपदवाच्यं व्यव-ह्रियते राजनीतिज्ञैरिति लक्ष्ये लक्षणसमन्वयः ।

फलं चोक्तलक्षणघटकं मुख्यतः सुखदुःखाभावान्यतररूपमपि, जीवनसाधने लाङ्गले गौण्या 'लाङ्गलं जीवन'मिति व्यवहारवद् गौण्यैव फलपदव्यवहार्यं धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयमेव पर्यव-स्यति । आद्यन्तयोर्धर्ममोक्षयोर्नीतिघटकत्वे सत्येव परोक्षप्रमाणस्य निवेशोपपत्तिः ।

यद्यपि प्रत्यक्षप्रमाणमात्रवादिनश्चार्वाकस्य मते भारतीयरीत्यापि,—नीतिकामशास्त्रानुसारेण वर्तनं धर्मः, अङ्गनालिङ्गनादिजन्यसुखं स्वर्गः, लोकसिद्धो राजैव परमेश्वरः, मरणं च मोक्षः, इत्यभ्यु-पगमस्य दृश्यमानत्वेन पुरुषार्थचतुष्टयस्योक्तस्य नीतिपदार्थस्य च सम्प्रतिपत्तावपि प्रत्यक्षातिरिक्त-प्रमाणानङ्गीकारात् प्रमाणत्रयघटितमुक्तलक्षणं दुर्घटमिवावभाति; तथापि "संवरणमात्रं हि त्रयी लोकया-त्राविद इति लौकायतिकाः" इति कौटिल्यसूत्रदर्शनेन तथा "प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया हि राजवृत्ति"रिति तत्सूत्रदर्शनेन च शब्दानुमानप्रमाणयोः संवरणमात्रत्वेन स्वीकारस्तेषामपि मते वर्तत एव । अन्यथा नीति-कामशास्त्रानुसारेण वर्तनं धर्म इति स्ववचोव्याघातो दुष्परिहर एव ।

पाश्चात्यराजनीतावपि, Culture, civilization, प्रभृतिपदवाच्यायाः संस्कृतेः घटकत्वं दृश्यते । अतः प्रमाणत्रयानुप्रवेशः तत्रापि वर्तत एवेति सर्वेष्वेव लक्ष्येषु लक्षणसमन्वयः सिद्धः ।

इयांस्तु विशेषः—वैदिकराजनीतौ शब्दप्रमाणस्य परममन्तरङ्गत्वं, इतरयोस्तु दुर्बलत्वं, धर्मार्थकामादिषु तेषां समवाये पूर्वः पूर्वो बलीयानित्यभ्युपगमः। चार्वाकादिराजनीतौ तु विपरीतं बलाबलं; कामस्य सर्वापेक्षया प्राधान्यात् प्रबलतमत्वम्। अर्थस्य ततोऽधस्तनं स्थानम्। धर्मस्य तु ततोऽपि अधमं स्थानम्।

"कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः॥
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्॥
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥

इति भगवद्वचनैरपि लोकायतसंस्कृतौ संवरणार्थं धर्मस्य प्रवेशोऽस्त्येवेति निश्चीयते। प्रमाणत्रयपर्यालोचनया क्रियमाणेऽपि नीत्यनुष्ठाने तदीये, गीतोक्तस्य मोहजालसमावृतत्वस्य प्रवेशस्तु 'यागे रागादङ्गे वैधी'ति न्यायेन देहात्मवादिनां मते फलांशस्य देहगामित्वाभ्युपगमेन उपायांशानुष्ठानस्य प्रमाणत्रयप्रसूतत्वेऽपि देहात्मवादस्य मोहरूपत्वाभिप्रायेण गीतायामुपपन्नः। चार्वाकमते पाश्चात्यमते च देहात्मवादस्यैव यथार्थत्वं, तेन मोहात्मकत्वे, गीतोक्ते विप्रतिपत्तिरेव तेषाम्, तथा च सर्वास्तिकनास्तिकदर्शनसाधारण्येन उपाध्यायनिरपेक्षाकारोक्तं पूर्वोक्तं लक्षणं यथावदुपपन्नम्।

एवंविधे नीतिलक्षणे परिनिष्ठिते सति तस्या लोकोत्तरचमत्काराविष्कारकत्वं प्रमाणत्रयनिश्चितफलसिद्धिधत्वात् भवति। तथा हि—आनन्दांशे भग्नावरणचिदेव लोकोत्तरचमत्कारपदार्थः प्रतिपादितः साहित्यविद्भिः। स च वैदिकमते "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" इति श्रुतिवचनानुसारेण निरतिशयनित्यसुखात्मकं ब्रह्मैव चित्पदार्थः आनन्दांशे भग्नावरणताविशिष्टः। चार्वाकादिमते तु आनन्दांशे भग्नावरणताविशिष्टं जीवच्छरीरमेव लोकोत्तरचमत्कारपदार्थः। तन्निष्ठं लोकोत्तरत्वं च लोकोत्कृष्टत्वमेव। उत्कर्षश्च निर्दोषो गुणवत्त्वम्।

गुणः परोपकारित्वं हितकर्तृत्वमेव वा।

इति परिभाषानुसारेण च परापकारकत्व-पराहितकर्तृत्वान्यतररूपदोषरहितं परोपकारित्वपरहितकर्तृत्वरूपगुणवत्तयावभासमानं आनन्दांशे भग्नावरणं जीवच्छरीरं लोकोत्कृष्टम्। अत एव उपकार्यैः परैः समाद्रियते। नमस्क्रियते च।

ये प्रियाणि प्रभाषन्ते प्रयच्छन्ति च सत्कृतिम्।
श्रीमन्तो वन्द्यचरणा देवास्ते नरविग्रहाः ॥

इति हि उपकार्याणां तेषु शरीरेषु धारणा भवति। अनेनैव हि कारणेन बुद्धस्य तदनुयायिनां च शरीरावयवाः Secular शासनव्यवस्थापकैरपि ससम्मानमाद्रियन्ते प्रणम्यन्ते चेति पश्यामः॥ स्वावधिकोत्कर्षवत्ताज्ञापनं हि नमस्कारपदार्थः। उत्कर्षश्च तद्घटकः प्रोक्तरीत्या परोपकर्तृत्वपरहितकारित्वरूपमेवेति तादृशानां शरीराणां वन्द्यचरणत्वं को वापह्नुवीत! शरीरातिरिक्तात्मवादिनां वैदिकानामपि उक्तरीत्यैव वन्द्यचरणत्वं भवति। केवलं धर्मस्य प्राधान्यं तन्मते, लोकायतमते तु सर्वथा अप्राधान्यं तस्येत्येतावानेव विशषः।

एवं व्यवस्थिते प्राच्यपाश्चात्यराजनीत्योः निष्कृष्टे स्वरूपे केवलं तारतम्यं अधुना विमर्शमर्हति।

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।

इति वर्णनानुसारेण देहात्मवादप्रधानस्य पाश्चात्यराजनीत्यनुष्ठानस्य सामान्यात्मकत्वं, भारतीयवैदिकराजनीत्यनुष्ठानस्य तु देहात्मवादादित्यागपूर्वकं प्रवृत्तस्य उत्तमत्वं, उभयोरप्यनुष्ठानयोः:—

तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

इति वर्णितस्याधमस्याधमाधमस्य च जनस्य सकाशात् संरक्षकत्वेन स्पृहणीयतायां सिद्धायामपि मान्यतातिशयः देहात्मवादरहितवैदिकराजनीत्यनुष्ठानस्यैवोपपद्यते। तथा हि—

कृतिर्या रमयत्येव विश्वं सा कीर्तिरुच्यते।

इति परिभाषानुसारेण लोकरञ्जकं राजनीत्यनुष्ठानमेव कीर्तिरूपतां याति।

कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।

इति गीताव्याख्यानावसरे "नारीणां मध्ये भवद्विभूतिभूताः कीर्तिप्रभृतयः सप्तैव, यासां आभासमात्रसम्बन्धेनापि लोकः कृतार्थमात्मानं मन्यते" इति भाष्यकारप्रभृतिभिः सर्वैरपि टीकाकारैः ऐकमत्येन व्याख्यातेषु भगवत्प्रतीकेषु कीर्त्यादिषु सप्तसु कीर्तिः धार्मिकत्वनिमित्ता ख्यातिरिति टीकाकारा अभिप्रयन्ति। विश्वविख्यातवैदुष्यैः श्रीमधुसूदनसरस्वतीभिश्च, धार्मिकत्वनिमित्ता उत्कृष्टत्वेन ख्यातिरिति पूर्वोक्तकीर्तिपदार्थः, नानादिग्देशीयलोकज्ञानविषयता ख्यातिः पदार्थ इत्युपदर्श्य, धार्मिकत्वप्रयुक्तोत्कर्षवत्त्वप्रकारक-नानादिग्देशीयलोकसमवेतज्ञानविषयता कीर्तिपदार्थ इति परिष्कृतस्वरूपे पर्यवसायितः। तथा च एवंविधा नानादेशीयलोकसमवेतज्ञानविषयता धार्मिकत्वे सत्येव, सति च तत्प्रयुक्ते परोपकर्तृत्व-परहितकारित्वरहिते परोपकर्तृत्व-परहितकारित्वस्वरूपे पूर्वोपवर्णिते उत्कर्षे समुपपद्यते नान्यथेति अविप्रतिपन्नः सिद्धान्तः पर्यवसितः।

अत एव धार्मिकत्वे सति उत्कृष्टत्ववतां ख्रिस्तमोहम्मदप्रभृतीनां यादृशी कीर्तिः सम्मान्यता च न तादृशी तावद्देशकालव्यापिनी अन्यस्य कस्यापि राजनीतिज्ञस्यानुभूयते। तत्र निमित्तं तु साहित्य-शास्त्रप्रसिद्धं साधारणीकरणं रसास्वादजीवातुभूतसभ्याभिनेयाभेदाभिव्यक्तिक्षमं सर्वथा धर्मपरतन्त्रमेवास्ते। तथाहि–तैलधारावदविच्छिन्नसमानाकारकर्मप्रवाहरूपं ध्यानं चित्तगताया एकाग्रभूमिकायाः सम्पादकं भवति। अन्यथा क्षिप्तमूढादिभूमिकासु स्थितस्य चित्तस्य रसास्वादोद्गमः दुष्कर एव। तथा च राजनीतेरेका-ग्रभूमिकाया असम्पादकत्वे लोकरञ्जकत्वं शशविषाणायमानमेव भवति। अतः कवीनामिव राजनीति-ज्ञानामपि महता प्रयत्नेन सम्पादनीयोऽयं व्यापारो भवति। स तु धर्ममन्तरा दुःशकः। तथा हि— देहतादात्म्यभूमिकायां स्थितस्य जनस्य परिमितप्रमातृतादशायां अन्यस्य कस्यचित् राजनीत्यनुष्ठानं, राम एवमेवमाचरति, इत्युपदिष्टे, 'आचरतु नाम, मम किं तेन!' इति रीत्या विजातीयप्रत्ययजनकत्वमेव भवति। तत्कारणं तु राम एवमाचरतीति लट्प्रत्ययप्रयोगेण वर्तमानकालनिर्देश एव। एवमेवाचरदा-चरिष्यतीत्यादिभूतादिनिर्देशयोरपि एषैव गतिः। रामेणैवमाचरितव्यमिति त्रिकालातीतनिर्देशे तु विधि-वाचकतव्यप्रत्ययघटिते, मम किं तेनेति औदासीन्योद्गमो न दृश्यते। अतः एकाग्रताजीवातुभूतः विधि-प्रत्ययनिर्देशः फलति। स तु विधिप्रत्ययनिर्देशः यावद्देशकालव्यापिसमवेदनाविषयो भवति तावत्पर्यन्तमा-त्मानं साधरणीकुरुते। अतश्च शरीरात्मवादिनामेव ख्रिस्तप्रभृतीनाम् ईश्वरतत्वं पुरस्कृत्य कृतो विधि-निर्देशः विततकीर्तिजनकः सम्पन्नः। तत्तद्भूखण्डस्थितजनसुखोद्देशेन क्रियमाणो राजशासननिर्देशस्तु विधि-प्रत्ययघटितोऽपि तत्तद्भूखण्डस्थितानां समकालीनानामेव जनानां समवेदनाविषयो भवति। नान्यखण्ड-स्थितानामन्यकालीनानां वा। तथा च सिद्धमेतत्, कीर्तिविस्तारणं यथा धर्मायत्तं न तथा अर्थकामा-यत्तम्। तथा 'इदमप्यत्रावधेयं यत् न केवलेन पारलौकिकफलेनापि धर्मेण कीर्तिवल्ल्यां अङ्कुरोद्भेद-प्रत्याशापि, यावद्धर्मप्रयुक्तः निर्दोषः जनोपकारकत्व—जनहितकारकत्वम्पगुणः नानादेशीयजनज्ञानविषयतां न याति। अत एव क्रैस्तधर्मप्रधानानामपि लोकोपकारकाणां रशियाधिपति 'जार' सम्राट् प्रभृतीनां विनाशः सम्पन्नः। भारतेऽपि जमीदारप्रभृतीनामुन्मूलनमपि अत एव दृश्यते। एवं स्थिते धर्मप्रवृत्तानु-ष्ठानस्योत्कर्षजनकस्य यशस्करत्वे, यथायथा विधिशासनस्य यावद्यावद्देशकालव्यापित्वं तावद्देशकालव्यापित्वं यशस इति नियमः पर्यवस्यति। एतादृशनियमानुसारेणैव लोकोन्नतिकारकस्य धर्मस्य यशस्करत्वम् अधिकय-शस्करत्वं च सिध्यति; गम्भीरगम्भीरतरनादानामुत्तरोत्तरं सर्वातिशायित्ववत् तन्नादस्य सर्वातिशायित्वात्।

अत एव विधिपूर्वकं अपरिणीताया रागमात्रपरिगृहीताया एकस्मिन्नेव दयिते समासक्तचित्ताया अपि मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनायास्तत्तुल्याया वा अन्यस्या इतिहासपुराणप्रसिद्धाया गणिकादुहितुः न तादृशं स्मरणीयत्वं भवति यादृशं विधिपूर्वकपरिणयेन पातिव्रत्यसङ्कल्पमुपेताया जगन्मातुः सीतायाः। तत्र हि कारणं केवलमादर्शभेद एव। गणिकादुहितुर्हि आदर्शः परिमितप्रमातृतामाविर्भावयति, जगन्मा-तुस्तु, अपरिमितप्रमातृताम्। अत एव च कौरवसेनाया, एकादशाक्षौहिणीपरिमिताया बहुजनोपकारित्वे-ऽपि अपयशः, पाण्डवसेनायास्ततोऽल्पत्वेऽपि यशोभावत्वं भगवत्प्रीतिपात्रत्वं चावलोक्यते। तत्सिद्धमेतत् धर्मपक्षपातिन्या लोकोन्नतिव्यवस्थाया अधिकयशस्करत्वमिति। अत एवोच्यते—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥

इति शास्त्रकारैः । एवं च पञ्चवर्षपर्यन्तं वा सप्तवर्षपर्यन्तं वा कार्यार्थं निर्वाचितानां लोकमतानुवर्तिनां जनरञ्जनं यशः पञ्चसप्तवर्षपरिमितायुष्कमेव । भारतीयराजनीतेस्तु शाश्वतधर्मप्रधानाया विधानानि अनवच्छिन्नायुष्कयशस्कराणि भवन्तीति वस्तुस्थितिरावेद्यते । तथाविधाया अस्या भारतीयाया राजनीतेः स्वरूपं क्रमबद्धेषु ३६ प्रकरणेषु प्रदर्शितं विशुद्धसंस्कृतविश्वविद्यालयीयराजनीतिविभागे सञ्जातव्याख्यानादेवोद्धृत्य प्रदीयते—

कौटिलीयार्थशास्त्रसंक्षेपरूपे कामन्दकीयनीतिसारे—

राजास्य जगतो हेतुर्वृद्धेर्वृद्धाभिसम्मतः ।
नयनानन्दजननः शशाङ्क इव तोयधेः ॥

इत्यादिना राज्ञ आवश्यकता प्रतिपादिता । वार्तायाअभावे मरणं स्यात् । वार्ता च राजकृतं रक्षणमपेक्षते । तथा च सर्वेषां जीवनचिन्तास्वनिर्वर्तकत्वेन राजनीतिमपेक्षते । तत्र गणराज्यादीनां सम्भवेऽपि वर्णाश्रमधर्मानुयायिनां कृते अभिषिक्तस्य राज्ञ आश्यकत्वमितोऽप्यत्यादरणीयम्, यतः न्यायालयेषु ऋणादानादिव्यवहाराणां स्वसम्बन्धिभिरावेद्यमानानामेव राज्ञा विचारणीयत्वम्; अन्यथा तु न सामान्यनियमे सत्यपि अनिवेदितानादाने अपवादभूताः—

छलानि चापराधांश्च पदानि नृपतेस्तथा ।
स्वयमेतानि गृह्णीयात् नृपस्त्वावेदकैर्विना ॥

इति परिगणिताश्छलापराधपदनिमित्तभूता व्यतिक्रमाः श्रीमद्भागवते परीक्षिद्वृषभसंवादे प्रदर्शितं "यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवे"दिति न्यायमनुसृत्य शमसुखशीलैर्विद्वद्भिर्न्यायालये स्वयमनुपस्थाप्यमाना अपि स्वयं नृपतिनैव ग्राह्या भवन्ति । तत्र ५० विधानां छलानां, तथा ३० पदानां परिगणनं वर्तते । अपराधास्तु—

आज्ञालङ्घनकर्तारः स्त्रीवधो वर्णसङ्करः ।
परस्त्रीगमनं चौर्यं गर्भश्चैव पतिं विना ॥
वाक्पारुष्यमवाच्याय दण्डपारुष्यमेव च ।
गर्भस्य पातनं चैवेत्यपराधा दशैव तु ॥

इति नारदेन परिगणिताः । धर्मनिरपेक्षराज्यसंस्थया वर्णसङ्करातिरिक्तापराधानामादानेऽपि वर्णसङ्कररूपापराधस्यादानमसम्भवदुक्तिकमेव । तथा श्रीरामायणीयेऽराजकीयाध्याये प्रोक्ता अन्येऽपि धर्मविलोपा अपरिहार्या एव राजाभावे । अत एव सुश्रुतादिभिः वर्णसङ्करादिभीते राजा रक्ष्य इति सारस्ताऽमुच्यते । सङ्करस्य तु हेयता—सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः । इति गीतायाम्,

स्वर्गानन्त्याय धर्मोऽयं सर्वेषां वर्णलिङ्गिनाम् ।
अस्याभावे तु लोकोऽयं सङ्करान्नाशमाप्नुयात् ॥

अपि नाम भारतीयं राजनीतिविधानं सम्भवति ?

इति। नीतिसारे चोच्यते—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

इत्यादिगीतावाक्यैः प्राचीनकलाविद्यासंवर्धनोपयोगिबुद्धिसंयोगार्थं अपेक्षिताया आनुवंशिकसंस्कारप्रधानाया भारतीयसंस्कृतेः संरक्षणं साङ्कर्यपरिहारमन्तरा नैव सम्भवति। किञ्च—

विप्रो धर्मद्रुमस्यादिः स्कन्धशाखे महीपतिः।
सचिवाः पत्रपुष्पाणि फलं न्यायेन पालनम्।
यशो वित्तं फलरसः भोगोपग्रहपूजनम्।
विदित्वैतान् न्यायरसान् समो भूत्वा विवादने।
त्यक्तलोभादिकं राजा धर्म्यं कुर्याद्विनिर्णयम्।

इतिरीत्या वर्णितस्य 'मन्वाद्युपदिष्टः परिपालनोपायो न्याय' इति लक्षणलक्षितेन न्यायेन परिपालनरूपफलस्य विशेषतः क्षत्रियाधिकारिकत्वेन क्षात्रधर्मतया विख्यातस्यापि दयाऽहिंसादिरूपत्वेन साधारणधर्मत्वानपायेन स्थितस्य—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः
पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः।

इतिमहाभारतीयवचनेन पालनधर्मस्य सम्यक्स्थितावेवान्येषां वर्णधर्माणां परिपूर्णत्वमन्यथा तु अङ्गविकलत्वमेवेत्यवगतेः, फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति न्यायात् निष्फलत्वावगतेः न अभिषिक्त राजशून्यता वर्णाश्रमधर्मानुयायिनां साधिका। अत एव चरकेणापि जनपदोध्वंसनीयाध्याये ग्रामनगरजनपदप्रधानानाम् अधर्मप्रवर्तकत्वे अप्रधानानां धर्मनिष्ठत्वेऽपि जनपदो ध्वंसो वर्णितः सविस्तरम्। अत एव महाभारते—

अथ तात यदा सर्वाः शस्त्रमाददते प्रजाः।
राजा त्राता तु लोकस्य कथं च स्यात् परायणम्॥
एतन्मे संशयं ब्रूहि विस्तरेण नराधिप्।

भीष्म उवाच—

दानेन तपसा यज्ञैरद्रोहेण दमेन च।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः क्षेममिच्छेयुरात्मनः॥
तेषां ये वेदबलिनः तेऽभ्युत्थाय समन्ततः।
राज्ञो बलं वर्धयेयुर्महेन्द्रस्येव देवताः॥
राज्ञोऽपि क्षीयमाणस्य ब्रह्मैवाहुः परायणम्।
तस्माद् ब्रह्मबलेनैव समुत्थेयं विजानता॥॥ (अध्या० ७८)

राष्ट्रस्यैतत्कृत्यतमं राज्ञो यदभिषेचनम् ।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥

इत्युत्थाप्य मध्ये अराजकनिन्दां विधाय मनुना सह संवित्प्रसङ्गमुपक्षिप्य

पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ।
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम् ॥
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ।
मुख्येन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः ॥
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ।
यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ॥
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं हि भविष्यति ।

इत्यादिना प्रजाकृतां संविदमुपन्यस्य—

तस्य दृष्ट्वा महत्त्वं ते महेन्द्रस्येव देवताः ।
अपतत्रसिरे सर्वे स्वधर्मे च दधुर्मनः ॥

इत्यादिना परिणाममुपदर्श्य—

एवं ये भूतिमिच्छेयुः पृथिव्यां मानवाः क्वचित् ।
कुर्यू राजानमेवाग्रे प्रजानुग्रहकारणात् ॥ (अ. ६७)

इतिदयाऽहिंसादिरूपपालनधर्मेतिकर्तव्यतात्मकं कर्तव्यजातं सर्वेषां धार्मिकाणामुपदिश्यते । अतः कुलविशुद्धिः वर्णाश्रमधर्मशुद्धिश्च अभिषिक्तराजानमपेक्षत एवेति तद्विशिष्टराज्यव्यवस्थैव प्रशस्ता भारतीयराजनीत्याम् ।

सा च राजनीतिः कामन्दकेन ३६ प्रकरणेषु संक्षिप्ता । तानि च प्रकरणानि यथा—१. इन्द्रियजयः, २. विद्यावृद्धसंयोगः ३. विद्याविभागः, ४. वर्णाश्रमव्यवस्था, ५. दण्डमाहात्म्यम्, ६. आचारव्यवस्था, ७. प्रकृतिसम्पत्, ८. स्वानुजीविवृत्तम्, ९. कण्टकशोधनम्, १०. राजपुत्ररक्षणम्, ११. आत्मरक्षितकम्, १२. मण्डलयोनिः, १३. मण्डलचरितम्, १४. सन्धिविकल्पः, १५. विग्रहविकल्पः, १६. यानासनद्वैधीभावसमाश्रयविकल्पः, १७. मन्त्रविकल्पः, १८. दूतप्रचारः, १९. दूतचरविकल्पः, २०. उत्साहप्रशंसा, २१. प्रकृतिकर्म, २२. प्रकृतिव्यसनम्, २३. सप्तव्यसनवर्गः, २४. यात्राभियोक्तृप्रदर्शनम्, २५. स्कन्धावारनिवेशनम्, २६. निमित्तज्ञानम्, २७. उपायविकल्पः, २८. सैन्यबलाबलम्, २९. सेनापतिप्रचारः, ३०. प्रयाणव्यसनरक्षणम्, ३१. कूटयुद्धविकल्पः, ३२. गजाश्वरथपत्तिकर्म, ३३. पत्त्यश्वरथगजभूमिः, ३४. दानकल्पना, ३५. व्यूहविकल्पः, ३६. प्रकाशयुद्धमिति । तत्रान्तिमप्रकरणं प्रकाशयुद्धम् । तत आरभ्य क्रमविवेचनमारभ्यते । मात्स्यन्यायाभिभूतानां प्रजानां रक्षणाय प्रकाशयुद्धमेवान्तिम उपायः । यदि द्वापर एव प्रकाशयुद्धस्यावश्यकता आसीत् किमुत कथा कलियुगेऽस्मिन् ।

अभियुक्तं अपि स्वे स्वे कृत्ये यत्सन्निधौ प्रजाः।
प्रभुत्वं तदिति प्रोक्तं आज्ञा सैव भयात्मिका ॥

इत्यभियुक्तवचनात् भयनिर्माणरूपं प्रभुत्वं सामर्थ्यं विना न सम्भवति; इति तदर्थमेव प्रकाशयुद्धम्। सत्येव भये साधूनां संरक्षणं दुष्टेभ्यो भवेत्। अतः प्रकाशयुद्धसामग्री पूर्वेषु प्रकरणेषु चिन्त्यते। तथा हि सैन्यबलं, सुयोग्यसेनापतिः, प्रयाणकाले वाजिवारणादिरक्षणम्, सेनादीनां शिक्षादानं, योग्यभूमिविचार-पूर्वकमेव सेनानिवेशनम्, योधानां प्रोत्साहनार्थं दानसामर्थ्यं, व्यूहनिर्माणकौशलम्, राजाश्वरथपत्तिकर्माणि तदर्थं ज्ञातव्यानि। तथा कूटयुद्धविकल्पः ज्ञातव्यः, एवं प्रयाणकाले व्यसनरक्षणं च। तत्र यदि सामाद्युपायचतुष्टयेषु प्रथमैरेवोपायैः कार्यं भवेत् तर्हि दण्डप्रणयनं न युक्तम्, अतः सामाद्युपायानां ज्ञानमावश्यकम्। एवं यदि सप्तप्रकृतिषु षट्प्रकृतयो व्यसनग्रस्तास्तर्हि तासां व्यसननिराकरणं महीपतेः कार्यम्। किं च तस्मिन् समये कूटयुद्धविकल्पोऽपि। कूटयुद्धार्थं च दैवबलं अपेक्षितम्। तथा स्कन्धावारनिवेशनमावश्यकम्। यदा प्रजासु व्यसनासक्तिः तदा दूतचराभ्यां कार्यं भवति, इति रीत्या वर्णितोऽयं सर्वोऽप्युपायः परराज्यात्मसात्करणाय। परराज्यात्मसात्करणमपि प्रजापालनार्थं कर्तव्यम्। अत एवोक्तम्—

धार्मिकं पालनपरं सम्यक् परपुरञ्जयम्।
राजानमभिमन्यन्ते प्रजापतिमिव प्रजाः ॥ इति।

अतो यस्य स्वीयं स्वल्पमपि राज्यमस्ति, तेनैव परराज्यात्मसात्करणं तथा परराज्यबलाबलज्ञानं च कर्तव्यम्। अतस्तदर्थं मण्डलयोनिः, मण्डलचरितं, सन्धिविग्रहादिकं च कर्तव्यमित्येवं मन्त्रविकल्प-प्रकरणम्। तदङ्गतया दूतचरप्रणिधिः। अस्मद्राजनीतौ—

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥

इतिवर्णितरीत्या प्रियं सत्यं जगद्धितं च यत् तत्रैव नियोजनं सर्वेषामिति राजनीतेर्लक्ष्यम्। परकीयमतानां सम्यग्-ज्ञानाभावे निर्णयं मन्त्रद्वारा न कर्तुमर्हः। अतो दूता मतपरिज्ञानाय प्रेषणीयाः। षाड्गुण्येऽपि सन्धिरेव मुख्यो बुधानां राज्ञां वा। सन्धिश्च विश्वासोपगमः। अयं मदिष्टं साधयिष्यत्येव इत्याकारकनिश्चय-रूपः। भ्रमात्मकतादृशनिश्चयवान् अतिसंहित इत्युच्यते। सन्ध्यर्थमेव विग्रहोऽपि कर्तव्यो भवति। तदङ्ग-त्वेन यानासनादीनां प्रवेशः। अनया रीत्या त्रयोदशसु सर्गेषु परराष्ट्रनीतेश्चिन्तनं नीतिसारकृता कृतम्।

एतत् सर्वमपि स्वराज्यसंस्थापन एव सम्भाव्यते। अतस्तदर्थं आदिमाः सप्तसर्गाः। 'राजा प्रकृति-रञ्जनात्" इत्युक्तरीत्या रञ्जनं कथं भवेदित्येव चिन्ता। तदर्थं रञ्जनं सुखसाधनतासंस्कार इति स्थिते, आयुक्तकेभ्यः चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् राजभ्यश्च भयं प्रजानां भवति इति तन्निराकरणाय कण्टक-शोधनप्रकरणम्, तथा च बाह्यप्रजास्थितानां कण्टकानां शोधनं राजपुत्ररक्षणं, आत्मरक्षितकं, चेति रक्षणार्थमुक्तम्। कण्टकशोधने जाते रञ्जनं स्वभावसिद्धम्। एतत् सर्वमपि स्वाम्यनुजीविवृत्ते समीचीने सति सम्भवति। तदपि योग्यानामेवाधिकारेषु नियोजने सम्भवेत्। विनियोगश्च सामर्थ्यपर्यालोचनापूर्वकमेव। एतदर्थं प्रकृतिसम्पत्प्रकरणम्। तेन के कीदृशगुणयुक्ता इति ज्ञानं भवति। तथाविधानां गुणवतां समुत्पत्तिः

राष्ट्रादेव। गुणवन्तः पुरुषाश्च सदाचारस्थापने सत्येव समुत्पद्यन्त इति। एतावद्दूरपर्यन्तं पाश्चात्यराजनीते-र्भारतीयराजनीतेश्च सर्वेष्वंशेषु ऐकमत्यमेव सर्वैः दृश्यते। इत ऊर्ध्वमेव वैमत्यं तद्यथा—यत् राष्ट्रमनृतपूर्णं भवेत् तत्र साधुसंरक्षणं न कदाचिदपि भवितुमर्हति। तस्मादितः पूर्वं यानि पञ्च प्रकरणानि इति तेषां सङ्गतिः। सदाचारव्यवस्थापनाय वैदिकैकपारलौकिकशुद्धिजनकत्वरूपदण्डमाहात्म्यं, वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थाप्रकरणं च। वर्णधर्मा, आश्रमधर्माः, सामान्यधर्माश्च, तेषां मध्ये सामान्यधर्मप्रतिष्ठापनं सर्वैरेव काम्यते। परन्तु विशेषधर्माभावे न भवेत्। वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थापनं च विद्याविभागस्थापनाधीनम्। विद्याया वास्तविकार्थस्य स्फूर्तिः गुरुभक्तिविशिष्टस्यैव। गुरुभक्तिश्च पूर्वार्जितपुण्याधीना। यतो गुर्वाज्ञाव्यतिक्रमः कलियुगे सर्वेषां स्वभावः। भक्तिश्च इन्द्रियजये सत्येव सम्पद्यते। अनया रीत्या इन्द्रियजयप्रकरणमारभ्य प्रकाशयुद्धान्तानि ३६ प्रकरणानि भारतीयराजनीतौ दृष्टानि सर्वस्यामेव राजनीतौ आवश्यकानि।

परन्तु पाश्चात्यराजनीतिरन्तिमेषु ३१ प्रकरणेषु भारतीयराजनीत्या सहाविशिष्टरूपादि ततः पूर्वतनेषु पञ्चसु प्रकरणेष्वेव विषमतां गताऽवलोक्यते। तद्यथा—ईशवीय १९३५ वर्षे प्राप्तेन भारत-विधानेन, एका शासनसभा, एका कार्यकारिणी परिषद्, न्यायालयाभिधानं तथा 'पब्लिक्सर्विस कमीशन्' च नियोजनार्थं व्यवस्थापिता पाश्चात्यराजनीत्या, एतासां स्वरूपं सर्वजनविदितमेवेति इह न विव्रियते। तत्रापि सर्वजीवातुभूतशासननिर्माणपरिषद् जननिर्वाचितप्रतिनिधिसमूहस्य भवति। एतेषां प्रतिनिधीनां शासननिर्माणसामर्थ्यं निरङ्कुशमास्ते, यत्र कोटिकोटिजनानां भाग्यमायत्तम्। एतेषां प्रतिनिधीनां शिष्टत्वं तु पञ्चसप्तवर्षायुष्कमेव। ततोऽन्ये तत्र निर्वाच्यन्ते। तथा च न कस्यापि तत्वस्य अत्रास्ति स्वीकारः। तथा च केवलं प्रियमेव समालोच्यते न हितं पाश्चात्यराजनीत्येति निष्कर्षः पर्यवस्यति।

अनेन हीदं स्फुटमेव सिध्यति, यत् एवं पूर्वोक्तरूपाया भारतीयराजनीतेराचार्यचाणक्योन्नीतायाः स्थानमुच्चतममस्तीत्यत्र नास्ति सन्देहलेशोऽपि। परन्त्वस्या वर्तमानसमाजे प्रतिष्ठाएनावसरः सम्भवति न वेति केवलं तृतीयोंऽशो विमृश्यः।

पूर्वोक्तकीर्तिलक्षणे धार्मिकत्वप्रयुक्तोत्कर्षस्य यथा यथा नानादेशीयलोकज्ञानविषयता अभिवर्धते तथा तथा तत्प्रतिष्ठापनं अभिवर्धते इति सुविशदमेव सर्वेषामभिज्ञातम्। धार्मिकत्वप्रयुक्ते उत्कर्षे सम्पाद-नीये सति शरीरात्मवादप्रधाना धर्माः क्रैस्तवादयः महामोहमूलका यावत्पर्यन्तं निर्मूलिता न भवन्ति भारतवर्षात् तावत्पर्यन्तं नैवावसरः भारतीयराजनीतिसमुत्कर्षस्य। एवंविधाना महामोहानां निर्मूलनं च —

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

इतिभगवद्गीतोक्तज्ञानस्य प्रतिष्ठापनेनैव सम्भाव्यते। तच्च क्रियात्मकं ज्ञानं, नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रफलभोगविरागः, शमदमोपरतितितिक्षा, श्रद्धासमाधानमुमुक्षुत्वान्तानां साधनानां तीव्रतमानां प्रति-ष्ठापनेनैव सम्भवति। तत्प्रतिष्ठापनमपि वैषयिकाभ्यासिकमनोरथिकाभिमानिकभेदभिन्नानित्यसुखवैराग्यनिर्मा-णपूर्वकविद्याशमसन्तोषधर्मविशेषनिमित्तकलोकोत्तरसुखपरिचयाधीन यत्खलु "दृष्टादृष्टाविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्, तत्परं पुरुषस्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्" इति सूत्राभ्यां भगवान् पतञ्जलिः सूत्रया-ञ्चकार।
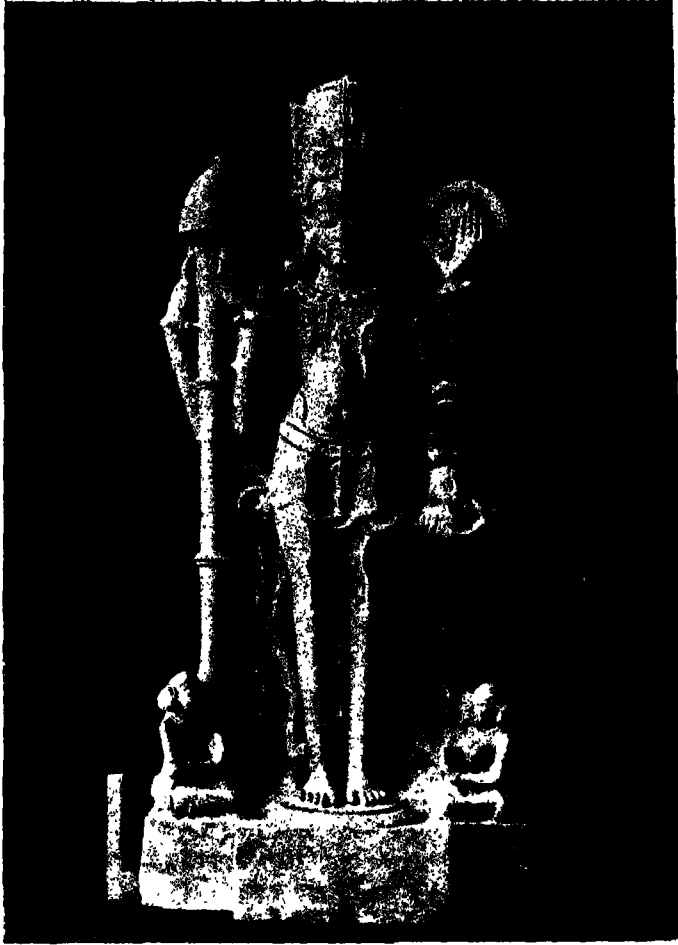
भगवान् विष्णु की चतुर्भुज मूर्ति
पूर्व मध्यकाल (ई० ८वीं शती)
सुलतानपुर (अवध) से प्राप्त

—लखनऊ संग्रहालय

तथा च नित्यानित्यवस्तुविवेकोत्कर्षाधीनमेवेदं सर्वं भारतीयराजनीतिप्रतिष्ठापनकार्यं दृश्यते। विवेकोत्कर्षश्च लोके प्रचरत्सु नानाविधेषु शास्त्रेषु यत्सुमहद्यशस्वि धीरपुरुषासेवितमर्थबहुलमाप्तजनस्य पूजितं त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्षं सुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहक्रमं स्वाधारम् अनवपतितशब्द-मकष्टशब्दं पुष्कलाभिधानं क्रमागतार्थमर्थतत्वनिश्चय प्रधानं सङ्गतार्थमसङ्कुलप्रकरणं आशुप्रबोधकं लक्षण-वच्च उदाहरणवच्च यच्छास्त्रं अमलमिवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वं, तस्य यथाविधि अध्ययना-ध्यापनतद्विद्यसम्भाषाप्रतिष्ठापनाधीनाया विरोधिप्रतिभान्यग्भावसहकृतशाश्वतसुखप्रतिभाया भारतीयेषु उन्मेषसम्पादनेनैव सम्पादनीयं वर्तते। तथा च परिमितप्रमातृभावपरित्यागपूर्वकापरिमितप्रमातृभावावेदनरूप-मतपरावर्तनेनैव राष्ट्रकृतेनेदं सम्भवति।

गावो घ्राणेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणैः।
चारैः पश्यन्ति राजानः चक्षुर्भ्यामितरे जनाः॥

इति महाभारतीयवचनस्यापि वेदशास्त्रस्योक्तरूपे इतरासाध्यसर्वार्थप्रकाशकत्व एव तात्पर्यम्। यथा हि गवां घ्राणेन्द्रिये रासायनिकप्रयोगशालासु विद्यमानेषु अद्य यावदुपलब्धेषु सर्वेष्वपियन्त्रेषु अनुपलभ्यमाना तदनुपलभ्यमानसूक्ष्मतमगन्धग्रहणशक्तिरुपलक्ष्यत एवेति कृत्वा प्रयोगशालास्थोपकरणैरनुपलभ्यमानं वस्तु जगतीतले नास्त्येवेति प्रतिजानानाः पाश्चात्यदुःक्षिता मृगयाव्यापारेषु तादृशसूक्ष्मतमगन्धाभिव्यक्तिकुशलसार-मेयघ्राणशक्त्या स्वयमपि लक्ष्यमन्वेषयन्तः स्वीयप्रतिज्ञाहानिनिग्रहस्थानपात्रतामचेतयन्तः अभिज्ञजनोपहास्यतां यान्ति, तथैवापौरुषेयवेदशास्त्रनिष्ठाया इतरप्रमाणानुपलभ्यमानसूक्ष्मार्थज्ञापनशक्तेरपरिचयेन वैदिकं पन्थानं विहाय परिक्लिश्यन्ते यद्यपि, तथापि वेदोपदर्शितस्य तत्वस्य, गोभिः घ्राणेन्द्रियशक्त्या आवेदि-तस्य तत्वस्येव चारैरन्वेषणे क्रियमाणे सति सर्वांशेषु सत्यत्वं राजनीतिविदामपरोक्षं भवितुमर्हत्येव, यथा प्रागुक्ते नीतिलक्षणे कीर्तिलक्षणे च परोक्षप्रमाणस्य धर्मस्य च प्रवेशः आधुनिकसाम्यवादिभिः सप्रतिक्षेपं तिरस्क्रियमाणोऽपि वेदमूलकशास्त्रैकवेद्यः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धः। अत एव हि उच्यते—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥ इति

मनुनापि—

पितृभूतमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्। इति।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः। इति च।

तथा पाश्चात्या अपि सुप्रसिद्धा "रोमाँ रोलाँ" प्रभृतयः—

"But of all the creeds of Europe and Asia that of Brahmanistic India seems to be the one which embraces the most of the Universe. I do not speak against the others..................I see in them moments of exceptional sublimity giddy height of spiritual fire. And what makes me love the Brahman concept above all those of Asia is that, it seems to me to contain them all. Better than the faiths of Europe, it could Brahmanize itself with vast hypothesis of modern sciences" इति।

अभारतीयानां कृते भारतीयशास्त्राणां पूर्वोक्तशास्त्रलक्षणघटकतदीयाप्तजनपूजितत्वगुणाभावेन कार्याक्षमत्वात् तदीयशासनकाले अवरुद्धकार्यकत्वेऽपि इदानीं तच्छासनापगमेन भारतीयानामस्माकं आप्तजनपूजितत्वेन तानि शास्त्राणि अधुना कार्यक्षमाणि अवसरलाभमर्हन्त्येव। भारतीयशास्त्राणामेवंविधापूर्वार्थप्रकाशनसामर्थ्यं स्वीकुर्वाणैः पाश्चात्यदेशस्थविश्वविद्यालयैः तत्रत्यमाङ्गलिकार्थप्रेप्सया स्वकीयविभागेषु भारतीयदर्शनानां ऋषिप्रणीतानां स्थानानि यद्यपि निर्मितानि सन्ति, तथापि, तदीयाप्तजनपूजितत्वाभावात् तानि स्थानानि न तथा कार्यक्षमाणि सम्पद्यन्ते इति हेतोरिदानीं पूर्णस्वातन्त्र्यप्रदानपुरस्सरं भारतीयजनानां स्वकीयशास्त्रपर्यालोचनायां प्रवृत्तिं, तद्द्वारा माङ्गलिकार्थप्राप्तिं च कार्यतः पूर्वोपदर्शितया स्वकीयप्रेप्सया मूकाभिनयेनाभिनयन्ति; इत्यतः को वा इतोऽधिकोऽवसरलाभः समाशंसनीयः केवलं भारतीयानां स्वकीयविद्यासु कृतघ्नतापरित्यागसङ्कल्पमात्रादृतेऽन्यः।

अपि नाम भारतीयं विधानं सम्भवतीति प्रश्नस्योपक्रान्तस्य निर्णय इत्थमिदानीं सम्पन्नः। लिङ्लोट्तव्यप्रत्ययादिप्रतिपाद्या इच्छाविशेषरूपा प्रवर्तनैव विधानपदार्थः। सा च "बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादिरूपसृष्टिकालिकेक्षणरूपा सर्वजगद्व्यापकपराशक्तिरूपापि, सर्वप्राणिनां मूलाधारेषु स्वयमेवाभिव्यज्यते, या 'वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणा' इति पूर्वमस्माभिः पाश्चायत्दर्शनैकवाक्यतया प्रदर्शिता। परा, पश्यन्ती, मध्यमा वैखरीरूपवाक्चतुष्टयमध्ये मनीषिमात्रगम्या परा वागिति निर्दिश्यते वेदे—

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति" इति।

तस्या वैखरीरूपं यत्स्वरूपं तदपि विधानमित्युच्यते। तस्या अप्रत्यभिज्ञातस्वरूपाया आविष्करणं वैखरीरूपेण सम्पन्नं विधानसम्मेलनद्वारा पाश्चात्यरीतिकृतमपरिज्ञानमूलकत्वादपूर्णं भारतीयराजनीतिप्रतिपादिताद्यप्रकरणपञ्चकरहितत्वात्। साहित्यशास्त्रोक्तसाधरणीकरणविचारप्रसङ्गेन पूर्वोपवर्णितपरिमितप्रमातृभावस्वरूपायास्तस्याः परिज्ञानपूर्वकं क्रियमाणं तु भारतीयराजनीतिकं विधानं भवति, परिपूर्णं च।

तथा च परिमितप्रमातृभावपरित्यागपूर्वकमपरिमितप्रमातृभावावेदनरूपमतपरावर्तनेनैव राष्ट्रकृतेनेदं सम्भवति। तच्च सति भगवदनुग्रहे सम्भाव्यत इति समाशास्यते शास्त्रैकशरणैर्विद्वद्भिरिति किमधिकं विज्ञेषु विज्ञापितेनेति विस्तरभयादुपरम्यते।

योगतत्त्वमीमांसा

सभापतिशर्मोपाध्यायः

यदीययोगेन विलीयते भवो भवोऽपि यो यात्यभवाय प्राणिनाम्।
प्रणम्य तं योगभवं समीक्षते सभापतिस्तत्त्वमिदं सतां मुदे॥ १॥

इदञ्जन्ममरणपरम्परात्मकसंसरणाधिकरणीभूतं संसारचक्रं धर्मार्थकाममोक्षाणां तत्साधनचतुर्दशविद्यानाञ्च निधानतया अनुकूलवेदनीयेष्टसम्पादकमुकृतकल्पद्रुमूलाधिष्ठानतया च रमणीयतां बिभ्रदपि नानावासनाभोगिनीविषसंवलिततया चतुरशीतिलक्षसंख्याकयोनिषु पौनःपुन्येन जनिमृतिशृङ्खलानिगडितस्वतन्त्रतया मूलप्रकृतिसाम्यापन्नतया दुःसहानन्तत्रिविधदुःखदुःखदयादोगणैरनारतं पीडाप्रयोजकतया सहजस्याप्यात्मनो नित्यनिरतिशयनिर्विषयानन्दस्वरूपत्वस्य विस्मारकतया च वस्तुयाथात्म्यमन्विष्यतां निखिलविहिताविहितकर्मकलापजन्यसुकृतदुष्कृताभ्यामनिर्वचनीयदुःखमेवानुभवतां विद्याविद्योतितप्रेक्षावतामतिकरालमकरादिजन्तुदुर्विनाशयाकूपारमिव भयप्रदमवगच्छतां संसारसागरमुत्तितीर्षतां प्राणिनां हेयमेवेति तदुत्तरणोपायजिज्ञासायां प्रत्यक्षानुमानोपमानादिप्रमाणगोचरत्वेन तादृशोपायमपश्यतामीश्वरानुग्रहेणैव दुरुत्तरसंसारसागरमुत्तरेमेति जानतामुद्धरणाय ईश्वरो नियतानुपूर्वीकां कालत्रयाबाधितार्थप्रतिपादिकां श्रुतिमुपादिदेश वेधसे। तदुपदेशपरम्परया चाद्यत्वेऽपि तनयं जननीव हितोपदेशं कुर्वती श्रुतिराह—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्चेति,' अत्र चतस्र इतिकर्तव्यता उपदिष्टाः।

१. तत्राद्या—उपनिषद्वाक्यानि जीवात्मपरमात्मनोस्समन्वेतुं तात्पर्यनिर्णायकश्रुत्यादिषड्विधलिङ्गैरज्ञानसंशयादिप्रतिबन्धनिवर्तिका तात्पर्यनिर्णयानुसारिन्यायविचारात्मिका अन्तःकरणवृत्तिविशेषरूपा, सा एव श्रवणमित्युच्यते।

२. द्वितीया—मतान्तरवादिप्रयुक्तविप्रतिपत्त्यादिनिरासफलिका आत्माविरोधितर्कणस्वरूपा अन्तःकरणवृत्त्यात्मिका, या मननपदेन व्यपदिश्यते।

३. तृतीया—चित्तचाञ्चल्यात्मकप्रतिबन्धनिवर्त्तिका विजातीयप्रतीत्यनन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपा श्रवणमननजन्यसंस्कारसचिवचेतोजन्यवृत्तिरूपा या निदिध्यासनशब्देन व्यवह्रियते।

४. तुरीया—समाहितचित्तस्य अनाद्यविद्यानिवृत्तिपूर्वकस्वरूपप्रतिष्ठचितिशक्तिरूपकैवल्यफलविशिष्टा चित्साक्षात्काररूपा ऋतम्भरा प्रज्ञा सा विज्ञानपदेनाभिधीयते।

ऋतम्-सत्यं बिभर्ति कदाचिदपि या न विपर्य्ययेणाच्छाद्यते सा ऋतम्भरा तया प्रज्ञया च सर्वं यथावत्पश्यन् योगी प्रकृष्टं योगं प्राप्नोति।

अस्यास्तुरीयायाः द्रष्टृदृश्ययोर्विवेकरूपायाः प्रतिपत्तेरन्तरङ्गं साधनं निदिध्यासनरूपा तृतीया प्रतिपत्तिः।

तदुक्तम्—'ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' इति निदिध्यासनं ध्यानविशेषरूपमेव। अत एव 'निदिध्यासितव्य' इति श्रौतपदं निश्चयेन ध्यातव्य इत्येवंपरतया व्याख्यातमुपनिषद्भाष्यकारैः—

'यदपि विश्वरूपाचार्यैः निदिध्यासनपदमत्र न ध्यानार्थकं किन्तु विज्ञानार्थकमित्युक्तम्, तदपि ध्यानमात्रमेव ब्रह्मसाक्षात्काराय नालमपि तु दीर्घकालादरनैरन्तर्य्यसेवनेन प्रसङ्ख्यानपरमकाष्ठाऽपरपर्य्यायज्ञानप्रसादावस्थापन्नं सद्विज्ञानमेव चितिशक्तेः प्रतिष्ठात्वकरमित्यभिप्रायपरम्। तदेतद्ध्यानमेव पौनःपुन्येनाभ्यस्यमानं परिपाकदशावस्थं समाधिरित्यभिधीयत, इति स्कन्दाचार्य्योक्तिः, 'ध्यानादस्पन्दनं बुद्धेः समाधिरभिधीयते' इति विश्वरूपाचार्य्योक्तिश्च संगच्छते। अत एव समाध्यभावाच्च (अ० २ पा० ३ सू० ३९) इति सूत्रभाष्ये योऽयमौपनिषदात्मप्रतिपत्तिप्रयोजनः समाधिरुपदिष्टो वेदान्तेषु "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (बृ० २–४–५) 'ओमित्येवं ध्यायतात्मानम्" (मुण्ड० २–२–६) इत्येवंलक्षण इति व्याख्याने समाध्युक्तिरप्युपपद्यते। किञ्च योगसूत्रकाराणामपि ध्यानस्य समाधित्वम् "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (पा० ३ सू० २) 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः,, इति सूत्राभ्यां सम्मतम्। परन्तु समाधित्वेनाभिमतं ध्यानञ्चात्र दिनद्वादशकालावच्छिन्नं ग्राह्यमन्यथा द्वित्रक्षणभवध्यानस्यापि समाधित्वापत्तिः, तदुक्तं स्कन्दपुराणे—

धारणा पञ्चनाडीका ध्यानं स्यात् षष्टिनाडिकम्।
दिनद्वादशकेनैव समाधिरिह भण्यते ॥ इति

असम्प्रज्ञातध्यानरूपो यः समाधिः स एव योग इत्युच्यते। यस्तु योगाङ्गतया 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' इति सूत्र समाधिरुक्तः स दिनद्वादशकालावच्छिन्नध्यानरूप एव। यद्यपि योगाङ्गभूतसमाधिलक्षणसूत्रे समाध्यङ्गतया कालो न निर्दिष्टस्तथापि स्कन्दपुराणाद्यनुरोधेन कालनिवेशे बाधकाभावः।

तथा च योगाङ्गभूतसमाधेः परं यद् ध्यानं तत्सर्वं योगपदेन व्यवह्रियते। वस्तुतस्तु 'उपविश्यासनं युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये' (गी० ६.१२) 'योगो भवति दुःखहा' 'युञ्जतो योगमात्मनः' 'ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः' 'असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः'।। 'कर्मिभ्यश्चाधिको योगी' 'तदा योगमवाप्स्यसि', 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्,' 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' इत्यादिवाक्येषु असम्प्रज्ञातसमाधावेव योगत्वं मुख्यम्। अन्यत्र तु तत्साधनतयाऽऽरोपितं गौणं योगत्वम्।

ननु प्रसङ्ख्यानसमाधेर्विज्ञानजननद्वारामोक्षसाधनत्वमुक्तम्। तच्च विज्ञानं प्रमात्मकं न स्यात्, प्रसङ्ख्यानस्य प्रमाकरणेषु अनुक्ततया प्रमाणाजन्यत्वादिति चेन्न प्रमात्वे प्रमाकरणजन्यत्वस्य प्रात्यक्षिक-शुक्तिरजतादौ शाब्दे शशशृङ्गादौ च व्यभिचारेणाप्रयोजकतयाऽबाधितत्वस्यैव तत्प्रयोजकत्वेन प्रसङ्ख्यान-जन्यविज्ञानेऽबाधितत्वस्याबाधितत्वेन प्रमात्वोपपत्तेः।

ननु धारणाध्यानसमाधीनां ध्यानरूपत्वे 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टा-वङ्गानि' इति सूत्रे द्वन्द्वो न स्यात्। सामान्यविशेषयोर्द्वन्द्वस्य त्यदादीनि सर्वैः (१-२-७२) सूत्रे भाष्ये सामान्यविशेषवाचिनोश्च द्वन्द्वो न भवतीति वाच्यम् इत्युक्तेः प्रकृतेध्यानस्य सामान्यवाचितया धारणा-समाध्योश्च तद्विशेषवाचित्वेन निषेधविषयत्वाक्षतेरिति चेन्न. धारणया सहितं ध्यानमिति कर्मधारयानन्तरं धारणाध्यानञ्च समाधिश्चेत्यर्थे द्वन्द्वे बाधकाभावात्। निदिध्यासितव्य इति श्रौतप्रमाणमङ्गीकृत्यैव गौतमेन निदिध्यासनं ज्ञानमित्यभिप्रेत्य प्रमाणादिनिग्रहस्थानान्तानां षोडशानां पदार्थानां तत्त्वं यद् वास्तविक-रूपं तस्य ज्ञानान्निश्रेयसाधिगम इत्युक्तम्।

एवमर्थमभिप्रेत्यैव कणादेनापि धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मविशेषसमवायानां पदार्थानां साध-र्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम् इत्यभिहितम्——

मीमांसकैः कुमारिलभट्टादिभिरपि आत्मज्ञानमेव मोक्षसाधनमुक्तम्। सुखदुःखादिसकलवैशेषिकात्म-गणोच्छेदो मोक्षः। सुखाद्युच्छेदश्च धर्माधर्मयोरुच्छेदात्। धर्माधर्मौ द्विविधा उत्पन्ना भाविनश्च, उत्पन्नानां नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेन भोगेन आत्मज्ञानेन चोच्छदः। तदुक्तम्—— 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कु-रुतेऽर्जुन' इति। भाविनामधर्मणामपि नित्यनैमित्तिककर्मपरित्यागेन निषिद्धानां करणेन चोत्पत्तिर्वाच्या। नित्यनैमित्तिकस्य करणेन निषिद्धस्याकरणेन च अधर्मानुत्पत्तिरेवाधर्मोच्छेदः। धर्मस्याधर्मस्य चोक्तरीत्या-ऽभावे तन्मूलकशरीरान्तरानारम्भे जातशरीरनिपाते च नित्यो विभुरात्मा अशरीरावस्थो मुक्तो भवति। इति मुक्तिक्रमोऽपि तैरुक्तः।

इदञ्च मतं भट्टादीनामेव यत उक्तमोक्षप्रतिपादकं तत्क्रमप्रतिपादकञ्च किमपि जैमिनिना सूत्रं न प्रणीतम्। प्रत्युत 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्'। (४।४।११) इति सूत्रेण भगवता व्यासेन मुक्तस्य दिव्यशरीरादिमत्त्वं प्रतिपादितम्।

तस्माद्वेदान्ताभिप्रेत एव मोक्षवादो जैमिनेरप्यभिप्रेत इति प्रतीयते। वेदान्तिनस्तु जीवब्रह्मणोरभेद-ज्ञानमेवं संसारनिवृत्तिरूपमोक्षसाधकमिति वदन्ति। साङ्ख्या योगिनश्च योग एव निदिध्यासनमिति निश्चि-त्य तत एव त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपं कैवल्यं मन्यन्ते।

तदुक्तम्

> अथ दर्शनाभ्युपायो योगः श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि।
> अध्यात्मयोगाभिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
> ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः।
> अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।
> अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तम।

योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।
योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता ।
आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते न हि ।।
योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषम्पापपञ्जरम् ।
प्रसन्नञ्जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ।।
दुःसहागमसंसारविषवेगविपूचिका ।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति ।। इति ।।

एतेन योगादात्मज्ञानं आत्मज्ञानाच्च मुक्तिरिति सिद्धम् ।

तत्र योगः क इत्याकाङ्क्षायाम्
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तमाहुः परमां गतिम् ।।

'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणम्' (कठ० ६–११) इति, ज्ञायन्ते एभिरिति ज्ञानानि इन्द्रियाणि संकल्पाद्युपरतेन मनसा समं स्वविषयेभ्यो व्यावृत्य स्वरूप एवावतिष्ठन्ते, अध्यवसायात्मिका-बुद्धिश्च न व्याप्रियेत, तां स्थिरामिन्द्रियधारणां परमां गतिं योगं मन्यन्ते योगतत्त्वविदः ।

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ।। (मै० ३प्र० ४)

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।।

ननु दुःखसंयोगवियोगो दुःखसम्बन्धप्रतियोगिको ध्वंसस्तस्य योगत्वम्, योक्तव्यत्वञ्चासंभवीति चेन्न, वियुज्यते ध्वस्यतेऽनेनेति वियोगो ध्वंसहेतुर्योगः । स ध्यानविशेषरूपो योगो निश्चयेन योक्तव्य इति तदर्थात् ।

यद्वा दुःखसंयोगस्य वियोगो यत्रेति व्यधिकरणबहुव्रीहेः स्वीकारेण योगत्वयोक्तव्यत्वयोः सम्भव-सम्भवाच्च, अथवा दुःखात्यन्तध्वंसरूपफलेऽपि तज्जन्यत्वेन तत्त्वोपचाराद् योगव्यपदेशः ।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।

इति वचनात् सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वं योग इति ।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेण योगिनाम् ।।

अस्मिन् लोके नियमतां शास्त्रार्थानुष्ठानाधिकृतानां कृते द्विविधा निष्ठा अनुष्ठेयतात्पर्यं पुरा सर्गादौ प्रजाः सृष्ट्वाः तासामभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्तिसाधनं वेदार्थसम्प्रदायमाविष्कुर्वता मया प्रोक्ता ।

तत्र ज्ञानमेव योगत्वेन साङ्ख्यानामात्मानात्मविषयकविवेकविज्ञानवतां ब्रह्मचर्याश्रमादेव कृतसन्यासाश्रमाणां वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां परमहंसपरिव्राजकानां ब्रह्मण्येवावस्थितानां निष्ठा प्रोक्ता। कर्मैव योगः कर्मयोगस्तेन योगिनां कर्मिणां निष्ठा प्रोक्ता। द्विविधा हि जना गृहस्थादिकर्मत्यागेन ज्ञाननिष्ठाः सनकादिवन्, कर्मस्था एव ज्ञाननिष्ठा जनकादिवत्। विषयव्याकुलबुद्धीनां कर्मयोगेऽधिकार,: अव्याकुलबुद्धीनान्तु ज्ञानयोगे।

अत्र योगपदमुपायपरम्, अत्र कर्माण्यपि शास्त्रविहितानि ग्राह्याणि न तु शास्त्रविरुद्धानि तदुक्तम्।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ इति।

अस्य तान् विद्धयासुरनिश्चयान् इत्यनेनान्वयः।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ इति च।

कर्मयोगोऽपि फलानभिसंधानपूर्वक एव ज्ञानद्वारा मोक्षसाधकः। अन्यथा शास्त्रविहितमपि कर्म संसृतिपरम्पराप्रयोजकमेव, न तु तादृशकर्मवतो मुक्तिः। तदुक्तम्,

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

अस्यार्थः, योऽयं प्रधानफलत्यागविषयः अवान्तरफलसिद्ध्यसिद्ध्योस्समत्वविषयश्च बुद्धियोगस्तदयुक्तात्कर्मण इतरत्कर्म जन्ममरणादिहेतुत्वात् दूरेण अवरमधमम्। महदिदं द्वयोरुत्कर्षापकर्षरूपं वैरूप्यम्। बुद्धियोगयुक्तं कर्म निखिलसांसारिकदुःखं विनिवर्त्य परमपुरुषार्थरूपं मोक्षं प्रापयति। बुद्धियोगरहितं कर्म तु अपरिमितदुःखरूपं संसारमिति। अतः कर्मणि क्रियमाणे समत्वबुद्धेः शरणमाश्रयमन्विच्छ प्रार्थयस्व। यतो बुद्धियोगरहितं कर्म कुर्वाणाः कृपणाः संसारिणो भवेयुः। दूरेण इत्यत्र 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इत्यभेदे तृतीया। उक्तः बुद्धियोगयुक्तः कर्म कुर्वाणः सुकृतदुष्कृते पुण्यपापे जहाति। पुण्यत्यागस्तु अनिष्टपुण्यविषयक एव, इष्टपुण्यक्षये प्रयोजनाभावात् इष्टाश्च ज्ञानिनामपि केचिद्विषयाः। तदुक्तम्-' स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीति प्रजापतेः सभावेश्म प्रपद्ये इति श्रुतिभ्यः। एवञ्च 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे', इत्यादिष्वनिष्टकर्मण एव क्षयो द्रष्टव्यः।

अत एव अस्माद्ध्यात्मनो 'यत्कामयते तत्तत्सृजते' इत्यादिश्रुतयः संगच्छन्ते। मुक्तस्य शरीरेन्द्रियराहित्येऽपि विषयानुभवशक्तिरीश्वरप्रसादात्, उक्तश्रुतिभिः सर्वशक्तिमत्त्वकल्पनाच्च। न च मुक्तस्येन्द्रियादेरभावात् 'स यदि पितृलोककामो भवति' इत्यादिश्रुतीनां विरुद्धार्थकतयाऽप्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्, ये सगुणब्रह्मोपासनया सहैव मनसा ईश्वरसायुज्यं व्रजन्ति तदभिप्रायेणैवोक्तश्रुतीनां सत्त्वेन तत्प्रामाणिकत्वस्यानपहारात्। योगसिद्धान्तमते त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तेरेव मुक्तित्वेन मुक्तावस्थायामप्यैश्वर्यश्रुतेरबाधितत्वात्। वेदान्तमतेऽपि सगुणब्रह्मोपासकानां मुक्तत्वाभाव एव। तत्र मुक्तिपरकश्रुतयस्तु यथाऽरुणदर्शने संध्यायां दिवसो जात इति प्रयोगस्तथा मुक्तेरासन्नतया भविष्यन्मुक्तत्वाभिप्रायकत्वाच्च।

उक्तरीत्या योगशब्दस्य बहुष्वर्थेषु प्रयुक्तत्वे बहुधा विवृतत्वेऽपि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'। इति न्यायेन 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। इति योगदर्शनोक्तमेव योगरूपं विवेकख्यातिद्वारा आत्मज्ञानद्वारा वा मोक्षसाधकमित्यत्र नास्ति काचन विप्रतिपत्तिः। कर्मणो योगत्वोपपादिका फलाशक्तिराहित्यविषयिका चित्तवृत्तिनिरोधरूपा बुद्धिरेव। तादृशबुद्धिमन्तरा केवलस्य कर्मणो बन्धहेतुत्वात्। तदुक्तम्:—

'लोकोऽयं कर्मबन्धनः' इति। अत एव बन्धकस्यापि कर्मणस्तादृशबुद्ध्यायोजनेन मोक्षसाधकत्वकल्पनया कर्मकर्तुः कौशलमुक्तम् 'योगः कर्मसु कौशलम्' इति, एतेन कर्मसु कौशलमुद्दिश्य योगविधानं परास्तम्। कर्मकौशलस्य योगत्वे कस्यापि सम्मतेरभावात्। संसारं प्रति क्लृप्तकारणत्वकेन कर्मणा तद्विरुद्धमोक्षसाधनमेव कर्मकर्तुः पाटवम्।

साङ्ख्याभिमताः ये पदार्थास्ते एव योगशास्त्राभिमताः, एतावानेव योगस्य विशेषो यत्साङ्ख्यसूत्रकारैः 'ईश्वरासिद्धेः' (सा० १–९२) इत्यादिना प्रत्याख्यातस्येश्वरस्य 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' 'तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम्' इत्यादिसूत्रैरीश्वरस्य समर्थनम्, योगः, योगसाधनम्, योगजसिद्धयः कैवल्यम्, इत्येतत्प्रतिपादकपादचतुष्टयेन तत्तत्स्वरूपप्रदर्शनम् इति, चित्तवृत्तिनिरोध एव योगो भवतीत्यर्थः। 'युज् समाधौ' इत्यतो भावे घञि योगः इति समाधिरित्यर्थः। यद्वा युज्यते एकाग्रीक्रियते चित्तं यत्र स चित्तसमाध्यवस्था योगः। तदुक्तं गीतायाम्—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।इति।

दुःखस्य यः संयोगः सम्बन्धस्तस्य यो वियोगो ध्वंसः स योग इत्यर्थः। ननु योगस्समाधिस्तस्य भावरूपत्वेन ध्वंसस्य चाभावरूपत्वेन द्वयोरैक्यासम्भव इति चेन्न, समाधेर्दुःखध्वंसकतया कारणगतधर्मस्य कार्ये आरोपेणादोषात्।

ननु चित्तवृत्तिनिरोधस्य योगत्वे यदा रजस उद्रेकात्सुखदुःखादिविषयेषु प्रेरितमस्थिरं चित्तं भवति तदा, यदा तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविचारमन्तरेणैव कामक्रोधादिभिर्विरुद्धकृत्येष्वेव प्रवर्तते च तदा च मूढायां भूमौ, यदा सत्त्वोद्रेकाद् दुःखसाधनं परिहृत्य सुखसाधनेष्वेव प्रवृत्तं तदा, विक्षिप्तावस्थायाञ्च वृत्तिनिरोधस्य सत्त्वाद्योगत्वापत्तिरिति चेन्न क्लेशकर्मविघटकत्वविशिष्टचित्तवृत्तिनिरोधत्वस्यैव योगत्वात्। क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूम्योश्च वृत्तिनिरोधस्य क्लेशकर्मप्रयोजकत्वात्। अयम्भावः। पञ्चधा हि चित्तस्य भूमयः अवस्थाविशेषाः। रजसा प्रवृत्तिरूपा क्षिप्ता, तमसा परापकारनियता मूढा, सत्त्वेन सुखमयी विक्षिप्ता। एतास्तिस्रश्चित्तावस्था योगानुपयोगिन्यः।

१. एकमेवाग्रं—विषयो यस्य तच्चित्तमेकाग्रं तस्य भाव एकाग्रता। यस्यामवस्थायामेकाग्रता सावस्थाऽपि एकाग्रता शब्देनोच्यते।

२. यस्यामवस्थायां निरुद्धनिखिलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषं चित्तं भवति सावस्था निरुद्धेत्युच्यते। इयमेवैकाग्रता, सम्प्रज्ञातसमाधिशब्देन, सबीजसमाधिशब्देन च व्यवह्रियते।

निरुद्धावस्था च असम्प्रज्ञातसमाधिशब्देन निर्बीजसमाधिशब्देन चाख्यायते। असम्प्रज्ञाते न किञ्चिद् वेद्यम्।

चतुर्विधश्चित्तस्य परिणामः १ व्युत्थानम्, २. समाधिप्रारम्भः, ३. एकाग्रता, ४. निरोधश्च—

पूर्वोक्तक्षिप्तमूढे चित्तभूमी व्युत्थानमित्युच्यते । विक्षिप्ता भूमिश्च सत्त्वोद्रेकात् समाधिप्रारम्भः एकाग्रतानिरुद्धे च पर्यन्तभूमी प्रतिचित्तपरिणामञ्च संस्कारा जायन्ते। तत्र व्युत्थानभूमिजनिताः संस्काराः समाधिप्रारम्भजैः संस्कारजैः प्रत्याहन्यन्ते । समाधिप्रारम्भजाश्चैकाग्रताजैः, निरोधजैरेकाग्रताजाः स्वजनिताः संस्काराः स्वरूपञ्च हन्यन्ते। यथा सुवर्णसम्वलितं ध्मायमानं सीसमात्मानं सुवर्णमलञ्च दहति। एवं निरोधजाः संस्काराः एकाग्रताजनितान् संस्कारान् स्वात्मानञ्च निर्दहन्ति।

किन्तु चित्तकारणीभूतं स्मृतिसंकल्पाभिमानाध्यवसायवृत्तिकं प्रकृतेराद्यपरिणामात्मकं बुद्धितत्त्वं चित्तपदेनात्र गृह्यते । तच्च महत्तत्त्वं चित्तमनोबुद्ध्यहङ्काराणां कारणत्वादुक्तवृत्तिचतुष्टयवदित्यभ्युपगमेन सर्वासां वृत्तीनां संग्रहान्नोक्तदोषः। मनसः कियद्वृत्तिनिरोधेपि योगित्वापत्तिरूपदोषो नेति भावः ।

इयमेवैकाग्रता सम्प्रज्ञातसमाधिरभिधीयते, सम्यग् विपर्ययादिराहित्येन प्रकर्षेण ज्ञायते भाव्यस्य रूपं येन स सम्प्रज्ञातः समाधिर्भावनाविशेषः । स चतुर्विधः १. सवितर्कः, २. सविचारः, ३. सानन्दः, ४. सस्मितश्च। वितर्कः आलम्बनं चित्तस्य स्थूल आभोगः स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा इति यावत्, सचाभोगो विषयस्य स्थूलत्वात् स्थूलः। तेन सह वर्तते इति सवितर्कः। यथाहि—प्राथमिको धानुष्कः स्थूलमेव लक्ष्यं विध्यति, ततः सूक्ष्मम् । एवं प्राथमिको योगी स्थूलमेव पाञ्चभौतिकं चतुर्भुजादिरूपं ध्येयं साक्षात्करोति । तदनन्तरं सूक्ष्मं ध्यायति । तथा च पाञ्चभौतिकचतुर्भुजादिस्थूलविषयकसाक्षात्कारः स सवितर्कः सम्प्रज्ञातः । भोजराजस्तु वितर्काणि इन्द्रियाणि, तेषामात्मबुद्ध्योपासनं वितर्कस्तद्विषयिका भावना सवितर्क इत्याह । चित्तस्य सूक्ष्मे—स्थूलकारणभूततन्मात्रादीनि आलम्बने यः साक्षात्कारः स विचारस्तेन सह वर्तत इति सविचारः सम्प्रज्ञातः। इमौ द्वावपि समाधी समापत्तिशब्देनोच्येते ।

अहंतत्त्वापेक्षया स्थूल इन्द्रियरूपे आलम्बने या चित्तस्य भावना सा सत्त्वप्रधानादहङ्कारादिन्द्रियाण्युत्पन्नानि, सत्त्वञ्च सुखमितीन्द्रियाण्यपि सुखानीति तेष्वाभोगः आह्लाद इत्युच्यते, तेन सह सानन्दः सम्प्रज्ञातः। अयं ग्रहणसमापत्तिशब्देनाख्यायते। अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धहृदयास्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहङ्कारत्वाद् विदेहशब्दवाच्याः। चित्तस्य एकात्मिका संविद् अस्मिता। अस्मिता—अहंतत्त्वम् । तच्चेन्द्रियाणां कारणमित्यस्मिता, इन्द्रियाणां सूक्ष्मं रूपम्, तया सहितः सास्मितः सम्प्रज्ञातः। साचास्मिताऽऽत्मना ग्रहीत्रा सह बुद्धिरेव। तस्याञ्च ग्रहीतुरन्तर्भावाद्, ग्रहीतृविषयः सम्प्रज्ञातः। सम्प्रज्ञातसमाधिरेव क्लेशकर्मादिबीजसहितत्वात् सबीज इत्युच्यते ।

अन्ये तु 'रूपादिज्ञानं सकरणकम्' इति वितर्क्यन्ते—अनुमितिविषयीक्रियन्ते, इति वितर्काणीन्द्रियाणि, विचरन्ति इन्द्रियाणि येषु तानि विचाराणि भूतानि। विषयाणां सत्वेऽपि तत्राभिमानाभावे आनन्दस्यादर्शनादभिमाने आनन्दत्वोपचारेण आनन्दोऽभिमानः। पुरुषविविक्तायां बुद्धावप्यस्मीति प्रतीतिविषयत्वसम्भवादस्मिता बुद्धिः। विषयव्यपदेशं समाधावारोप्य १. इन्द्रियविषयो वितर्कः २. भूतविषयो विचारः, ३. अभिमानविषय आनन्दः ४. बुद्धिविषया चास्मिता।

असम्प्रज्ञातश्चैकविध एव निर्बीजपदेन व्यपदिश्यते । निर्गतं क्लेशकर्मादिबीजं यत्रेति व्युत्पत्तेः। न हि

तत्र किञ्चिद् वेद्यं भवति । तथा हि, चित्तं यद्यपि सत्त्वप्रधानत्वात् प्रख्यारूपमेव तथापि यदा रजस्तमोभ्यां संसृष्टं भवति तदाणिमाद्यैश्वर्ये शब्दादिविषये चानुरागि जायते। इयं क्षिप्तावस्था। तमसानुविद्धन्तु अधर्माज्ञानाऽवैराग्याऽनैश्वर्यावस्थं भवति। इयञ्च मूढावस्था। यदा तदेवाभिभूतसत्त्वमपगततमःपटलं सरजस्कं भवति, तदा प्रक्षीणतम आवरणं सर्वतः प्रद्योतमानं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य्यविशिष्टं सम्पद्यते। एषा विक्षिप्तावस्था। क्षिप्ताया मूढायाश्च न योगत्वम्, क्लेशकर्मादिविघटकत्वाभावात्। तृतीयाया विक्षिप्ताया अपि लेशादिविघटकत्वाभावेऽप्युत्तरत्र योगस्य सम्भवितत्याऽऽरोपितयोगत्वेन योगत्वम् । यदा तदेव चित्तं रजोलेशान्मलादपेतं शुद्धसत्त्वमालम्बते तदा पुरुषाविविक्तायां बुद्धावप्यस्मीति प्रतीतिरस्मिता । इयमेवैकाग्रता । अत्र सत्त्वपुरुषान्यता- ताख्यातिमात्रं चित्तं सम्पद्यते ।

अयम्भावः, प्रतिपक्षभावनाबलादविद्यायाः प्रलये सति निवृत्तकर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानाया रजस्तमोमलानभिभूताया बुद्धेर्बाह्यपरिणामान्निवृत्यान्तर्मुखायाश्चिच्छायाया या संक्रान्तिः सा विवेकख्यातिरित्युच्यते। सा एकाग्रतायामुपलभ्यते । सा बुद्धिरपि परिणामिनी। पूर्वधर्मापचये धर्मान्तरोपजनः परिणामस्तद्वतीति यावत्। प्रतिसंक्रमो विषयेषु सङ्गः, विषयाकारतासम्पत्तिरिति यावत्। तद्विशिष्टा सम्प्रतिसंक्रमा, सुखदुःखमोहात्मकत्वमशुद्धिस्तत्सहिता, सान्ता ध्वंसवती च। ननु सुखमोहावनुकूलतया वेदनीयौ। कथमशुद्धिपक्षे क्षिप्तांविति चेन्न, सुखमोहावपि सान्ताविति स्ववियोगेन पुरुषं दुःखिनं कुरुत इति। तयोरपि प्रतिकूलत्वेन विवेकिनां हानविषयत्वाक्षतेः। तथा चोक्तप्रकाराया विवेकख्यातेरपि हानोपायः—परिणामप्रतिसंक्रमाशुद्ध्यादिदोषराहित्येन बुद्धिविपरीतायाश्चितिशक्तेरुपादानकारणं निरोधसमाधिरिति विवेकख्यातौ विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि। निरुद्धे तु चित्ते बुद्धिवृत्ताख्यदृश्याभवाज्जपाकुसुमवियोगे स्फटिकस्य स्वस्वरूपे स्थितिरिव वृत्तिप्रतिबिम्बशून्ये चिन्मात्रे स्वस्वरूपे पुरुषस्यावस्थितिर्भवति । स निर्बीजः समाधिः। संमृनिबीजेभ्यः अयथार्थज्ञानात्मिकाविद्यादृग्दर्शनशक्त्येकताभिमानरूपास्मिता सुखसाधनविषयकतृष्णारूपरागानिष्टविषयकनिन्दात्मकक्रोधरूपद्वेषपूर्वजन्मानुभूतमरणविषयकवासनारूपाभिनिवेशैतत्पञ्चक्लेशरूपेभ्यः शुभाशुभकर्मात्मकेभ्यः जात्यायुर्भोगात्मककर्मफलेभ्यः जात्यादिफलविषयकसंस्कारेभ्यश्च निर्गतः समाधिर्निर्बीजः। तदुक्तम्—'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारविशेषोऽन्य' इति (यो० सू० ९) पूर्वोक्तनिर्बीजसमाधिसिद्धये क्रियायोगः यमादीन्यङ्गानि चापेक्ष्यन्ते। क्रियायोगश्च शास्त्रान्तरोपदिष्टं चान्द्रायणादितपः, प्रणवपूर्वकमन्त्राणां जपः सर्वशुभकर्मणां फलनिरपेक्षतयेश्वरे समर्पणञ्च।

स च क्रियायोगः समाधेः पुनः पुनश्चेतसि निवेशनाय अविद्यादिपञ्चक्लेशानां स्वस्वकार्यकरणशक्तिप्रतिबन्धाय च । तस्मात् प्रथमं क्रियायोगतत्परेण योगिना भवितव्यमिति भावः। तदुक्तम्—'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग' इति (यो० सा० पा० सू०) 'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च' (यो० सा० पा० सू०)

द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषः, दृश्यं बुद्धितत्त्वोपरूढं धर्ममात्रम्, तयोरन्यताख्यात्यभावपूर्वको यः संयोगः भोग्यभोक्तृत्वेनानादिसन्निधानम्। एतेन अप्राप्तस्य प्राप्तिरूपः संयोगः प्रत्युक्तः। स एव हेयस्य संसारस्य कारणम्। यावत्कालपर्य्यन्तं द्रष्टृदृश्ययोरुक्तविधः संयोगस्तावत्कालं संसृतिः। संयोगजन्या संसृतिरिति

यावत्। तदुक्तम् 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः' इति (यो० सा० पा० २२ मू०) तस्य संयोगस्य चाविद्याकारणम्। अविद्या च विपर्ययज्ञानवासनावासिता अनादिबुद्धिः। सा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपां स्वकर्त्तव्यचरमसीमामप्राप्य पुनरावर्त्तते। यदा तु सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमन्यः पुरुषोऽन्ये गुणा इत्येवंरूपां प्राप्नोति। तदा समाप्तकर्त्तव्यता सती न पुनरावर्त्तते। तदुक्तम्—"तस्य हेतुरविद्या" इति (यो० सा० पा० सू०) संयोगस्य हानमेव पुरुषस्य कैवल्यम्। विवेकख्यातिश्च योगजन्या। योगश्च योगाङ्गानुष्ठानजन्यः। योगाङ्गानि च योगसूत्रे-उक्तानि 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' इति (यो० सा० पा० २९ सू०) तत्र यमः-प्राणवियोगफलकः कायिकवाचिकमानसो यो व्यापारस्तदभावः। सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह इति यावत्। वाङ्मनसयोर्यथार्थत्वम् सत्यत्वम्। परस्वापहरणभावोऽस्तेयः, उपस्थयोर्भगशिश्नयोः संयमः ब्रह्म—वेदस्तदध्ययनार्थो नियमोऽपि ब्रह्मचर्य्यम्, विषयाणां धनादीनामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादिदोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः। एतत्पञ्चकं यमपदेनोच्यते।

"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः" (यो० सा० पा० ३२, सू०) तत्र शौचम्, बाह्यमाभ्यान्तरञ्च। आद्यं मृज्जलादिभिः कायवस्त्रादिप्रक्षालनम्। स्वरूपतः स्वामितश्च मेध्याहारादिसेवनम्। आभ्यन्तरम् परासूयदयासहनरूपेर्ष्या-परापकारचिकीर्षा-परदोषाविष्करणरूपासूयाक्रोधादीनां चित्तमलानामाक्षालनम् सुखितेषु सर्वेषु सुखिनो मदीया इति मैत्रीभावनया, दुःखितेषु स्वस्येव परेषामपि दुःखं न भूयादिति करुणाभावनया, पुण्य कर्म कुर्वत्सु प्राणिषु स्वकीयहर्षभावनया, कोष्ठस्थस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनेन, प्राणायामेन, विषयवत्या नासिकाग्रे चित्तस्य धारणया, दिव्यगन्धसंविदा, जिह्वाग्रे दिव्यरससंविदा जिह्वामध्ये दिव्यस्पर्शसंविदादिना वा मानसमलानामपकर्षणम्।

एवं समाधिपादोक्तरीत्या तास्ता मनसः प्रवृत्तयो सत-ईश्वरविषयायां विवेकख्यातिविषयायां वा स्थितौ निबध्नन्ति।

हृत्पुण्डरीके चित्तं धारयतः पुंसो या बुद्धिसंवित्सा मनसः स्थितिनिबन्धिनी भवति। अयम्भावः। उदरस्योरसश्च मध्येऽष्टदलमधोमुखं कमलमस्ति तद्रेचकप्राणायामेनोर्द्धमुखं कृत्वा तत्र चित्तं धारयेत्। तन्मध्येऽकारः सुषुप्तिस्थानम्। तस्योपरि परं व्योमात्मको ब्रह्मनादः तुरीयं स्थानम्। तत्र कर्णिकायामूर्द्धमुखी सूर्यादिमण्डलगा ब्रह्मनाडी। ततोऽप्यूर्द्धं मूर्द्धपर्य्यन्तं गता सुषुम्ना नाम नाडी। तया बाह्यान्यपि सूर्य्यादिमण्डलानि प्रोतानि। सा हि चित्तस्थानम्, तत्र चित्तस्य धारणया बुद्धिसंविदुपजायते। तया योगिनश्चित्तं स्थिरतां लभते।

न च तत्तद्विषयाः प्रवृत्तयः कथं समाधिप्रज्ञायां स्थितिं निबध्नन्तीति वाच्यम्, योगादिशास्त्रानुमतेष्वाचार्य्योपदिष्टेषु तात्त्विकेषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु चञ्चलमनसा शास्त्रमवगर्हयतां प्राणिनां प्रामाणिकत्वेन विश्वास उत्पादनीयः तत्रावश्यं कश्चन विशेषार्थः प्रत्यक्षीकरणाय तत्र तदुपदिष्टार्थेष्वेकदेशस्य प्रत्यक्षीकृतत्वे सति सर्वं सुसूक्ष्मविषयमापवर्गात् सुश्रद्धेयं स्यादिति संशयापनोदार्थमेव तेषु तेषु संशयद्वारा तत्तत्सिद्धीनां योगशास्त्रे प्रतिपादनम्।

आसनञ्च स्थिरसुखं पद्मासनम्, वीरासनम्, भद्रासनम्, स्वस्तिकासनमित्यादीनि बहूनि आसनानि। यत्र क्वचन स्थिरसुखं जायते तदासनं योगाङ्गम्। तदुक्तम्—'स्थिरसुखमासनम्' इति (यो० सा० पा०

४६ सू०) आसनस्थैर्ये सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः स प्राणायामः। बाह्यस्य वायोरन्तःप्रवेशनं श्वासः कोष्ठ्यस्य वायो निःसारणं प्रश्वासः।

प्राणायामेन चित्ते निरुद्धक्रिये सति इन्द्रियाणां स्वविषयो रूपादिस्तेन सहासम्प्रयोगे आभिमुख्येन वर्त्तनाभावे इन्द्रियकर्तृकं चित्तसम्बन्धिस्वरूपानुसरणं प्रत्याहारः। यदामोहनीयरञ्जनीयकोपनीयैः शब्दादिभिर्विषयैश्चित्तं न संयुज्यते तदा चक्षुरादीन्द्रियाण्यपि विषयैर्न संप्रयुज्यन्ते इति सोऽयमिन्द्रियाणां चित्तस्वरूपानुसरणम्, स्वविषयासम्प्रयोगरूपसाधारणधर्मेण चित्तस्वरूपानुकारसादृश्यम्।

यथा मधुमक्षिका उत्पतन्तं मधुकरराजमनूत्पतन्ति, निविशमानमनुनिविशन्ते, तथा इन्द्रियाणि सक्रिये चित्ते सक्रियाणि, निरुद्धे तस्मिन् निरुद्धानि जायन्ते। इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाहियन्ते स्वरूपसत्तायां प्राप्यन्तेऽस्मिन्निति प्रत्याहारः।

यमादिप्रत्याहारान्तान्यङ्गानि असम्प्रज्ञानसमाधेर्बहिरङ्गतयोपकारकाणि बहिरङ्गाणि धारणादीनां साधनानि च बहिरङ्गाणि, धारणादीनि अन्तरङ्गाणि, अन्तरङ्गत्वञ्च नान्तर्भवत्वेन, ईश्वरप्रणिधानस्य "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" (यो० स० पा० २४ सू०) इत्युक्त्याऽन्तरङ्गत्वेऽपि तत्रान्तरङ्गत्वस्य केनाप्यस्वीकृततया तत्रातिव्याप्तेः, किन्तु ध्येयसमानविषयकत्वेन अन्तरङ्गाणि।

तदपि सम्प्रज्ञातसमाधिम्प्रत्येव असम्प्रज्ञातस्य निर्विषयत्वात्। तदुक्तम्—'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः'? इति (यो० वि० पा० ३ सू०)। धारणादीनि संयमरूपे समाधौ श्रद्धोत्पादिकानां वक्ष्यमाणविभूतीनां साधकानि सन्ति समाधेरुपकारकाणि च।

प्राणायामो हि मनःस्थिरतामानयन् धारणा सुयोग्यं करोति। तदुक्तम्—

> प्रणायामेन पवनम् प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
> वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये॥ इति॥

नाभिचक्रे, हृत्पद्मे, मूर्धस्थे ज्योतिषि, नासाग्रे इत्येवमादिषु वाह्यायां वाभगवदादिमूर्त्तौ चित्तस्य बन्धो धारणा। बन्धश्च सम्बन्धः। स च न स्वरूपतः, किन्तु ज्ञानात्मकवृत्तिविषतया।

बाह्ये आभ्यन्तरे वा शुभाश्रये स्थिरीभूतया धारणया ध्यानयोग्यं मनः सम्पद्यते। तत्र ध्येये प्रत्ययस्य या एकतानता प्रत्ययान्तरेण परामर्शरहितः सदृशः प्रवाहस्तद् ध्यानम्। तदुक्तम्—प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" इति (यो० वि० पा० २ सू०) प्रत्ययैकतानता च परिपघटिकावच्छिन्ना ग्राह्या। अन्यथा द्वित्रक्षणमात्रेणापि प्रत्ययैकतानताया ध्यानत्वापत्तेः तदुक्तम्—

> धारणा पञ्चनाडिका ध्यानं स्यात् षष्टिनाडिकम्।
> दिनद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥ इति (स्कं पु०)

तदेव ध्यानमर्थाकारसमावेशान्यग्भूतध्यानस्वरूपमत एव स्वरूपशून्यमिव समाधिरित्यु- च्यते। सम्यक् विक्षेपान परिहृत्य आधीयते एकाग्रीक्रियते मनो यत्र स समाधिः। तन्वर्थाकारनिर्भासस्य

ध्यानेऽपि सत्वाद् ध्यानसमाध्योरैक्यापत्तिरिति चेन्न, ध्याने ध्यातृध्यानध्येयरूपायाः त्रिपुट्या भानेन समाधावर्थमात्रप्रतीत्या च तयोर्भेदस्य सत्त्वेनैक्यासंभवात् ।

पूर्वं समाधिजा सिद्धयः योगशास्त्रप्रतिपाद्यार्थस्य साक्षात्करणेन प्रामाणिकत्वद्योतनद्वारा शास्त्र-बोधितसमाधावपि श्रद्धोत्पादनद्वारेणोपकारकाः। तत्र सिद्धयः कथं सिद्ध्यन्तीत्याकाङ्क्षायाम् 'परिणाम-त्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्" (यो० सू० वि० पा० १६) 'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सर्वभूतरुत-ज्ञानम्' 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' इत्यादिसूत्रैर्बह्व्यः सिद्धयः उक्ताः । तत्र संयमपदार्थप्रदर्शनाय 'त्रयमेकत्र संयमः' धारणादित्रयस्यैकत्रस्थिती संयम इत्युच्यते। तेन चित्तदार्ढ्याय समाधेश्चाश्वासोत्पत्तये च नानाविधाः सिद्धयो बाह्या भुवनज्ञानादिरूपाः, आभ्यन्तराः कायव्यूहादिरूपाः, समाध्युपयोगिनश्चान्तः-करणबहिष्करणलक्षणेन्द्रियभावाः प्राणादिवायुभावाश्च योगदर्शने दर्शितास्ते तत्रैव द्रष्टव्याः।

इदानीं स्वदर्शनोपयोगिसम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातसमाधिसिद्धये विविधोपाया उच्यन्ते। भूतानाम् पृथि-व्यादीनां विशिष्टाकारवद्दृश्यमानं स्थूलरूपम् । गन्धस्नेहोष्णताप्रेरणाऽवकाशदानलक्षणं स्वरूपम् २. भूतानां कारणं गन्धादितन्मात्रं सूक्ष्मम् ३. भूतेष्वन्वयिनो ये सत्वादिगुणास्तेषां प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूप-मन्वयत्वम् ४. भूतगतसत्वादिगुणानां भोगापवर्गरूपप्रयोजनवत्त्वरूपार्थत्वम् ५. एषु पञ्चसु संयमाद् भूतजयी योगी जायते। तज्जयाद् वत्सानुसारिण्यो गावः इवास्य योगिनः संकल्पानुगामिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति।

भूतानां योगिसंकल्पानुगामित्वे महानपि अणुर्भवति, इति अणिमाख्या सिद्धिः १. गुरुरपि लघुर्भूत्वा इषीकातूल इवाकाशे विहरति, इति लघिमासिद्धिः २. अल्पोऽपि नाग-नग-नगर परिमाणो भवितुमर्हति, इति महिमासिद्धिः ३, योगिनः सर्वे पदार्थाः सन्निहिता इति प्राप्तिः सिद्धिः ४. भूमिष्ठ एवाङ्गुल्यग्रेण चन्द्रा-दिकं स्पृशेत्। भूतजयिनो योगिनो रूपम् भूतस्वरूपैर्मूर्त्यादिभिर्नाभिहन्यते भूमावुन्मज्जति निमज्जति चोदके इव इति प्राकाम्यसिद्धिः ५. सर्वाण्येव भूतानि भौतिकानि च तदनुगामित्वात् तदुक्तं नातिक्रामन्ति, इति वशित्वसिद्धिः, यानि यथा स्थापयति तानि तथैव तिष्ठन्तीति वशित्वसिद्धिः ६. विजितमूलप्रकृति योगी भूतभौतिकानामुत्पादः, विनाशः, व्यूहः, यथावत् स्थापनमेतेषां सर्वेषामीष्टे इति ईशित्वसिद्धिः ७. विजितगुणार्थवत्त्वो योगी यद्वस्तु यत्फलकत्वेन संकल्पयति तद्वस्तु तत्फलाय कल्पते विषमप्यमृतकार्ये संकल्प्य भोजयन् जीवयति प्राणिनः इति कामावसायित्वसिद्धिः ८. तदुक्तम् ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च इति (यो० सू० वि० पा० ४६)।

इन्द्रियाणां विषयाकारवृत्तौ, प्रकाशकत्वस्वरूपे चास्मितायाम्, गुणेऽर्थत्वे च संयमादिन्द्रियजयः। इन्द्रियजये च मनोवत् शरीरस्य शीघ्रगतिः। देशान्तरे शरीरगमनं विनैव इन्द्रियजन्यं ज्ञानं जायते। यथा स्रुघ्नस्थ एव योगी पाटलिपुत्रस्थं मैत्रादिकं जानीयात्। तदुक्तम् ('मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान-जयश्च इति यो० सूत्र वि. पा. ४८') देशान्तरे स्थितस्यापि योगिनो दूरव्यवहितदेशस्थवस्तुविषयक-प्रत्यक्षात्मकेन्द्रियवृत्तिलाभो विकरणाभावः। उक्तरीत्येन्द्रियजयानन्तरमन्तःकरणस्यजयो विधेयः।

स च दूरीकृतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य वश्यतारूपः। तत्र वर्तमानस्य योगिनो वशिनः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं जायते। तादृशख्यातिमतश्च जडप्रकाशरूपाः सर्वे भावाः क्षेत्रज्ञं स्वामिनं

प्रति अशेषरूपेणोपतिष्ठन्ते, इति सर्वाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च तस्य जायते। अतीतानागतवर्तमानरूपेण परिणतानां गुणानां युगपद् विवेकजं ज्ञानं भवतीति यावत्। इयं विशोका नाम ज्योतिः यत्र वर्तमानो योगी क्षीणक्लेशादिबन्धनो वशी सर्वज्ञः सन् विचरति।

यदा क्लेशकर्मणोः क्षये सति 'सत्त्वं विवेकजज्ञानरूपधर्मवत् परिणामि, रागाद्यशुद्धिमत्, इत्येवं विशोकायामपि हेयत्वबुद्धया वैराग्यं जायते। पुरुषश्चापरिणामी, शुद्धःसत्त्वादन्यः विवेकजज्ञानधर्मरहित इत्युपादेयता प्रतीयते। तदैव विरज्यमानस्य योगिनो यानि क्लेशकर्मरागादिदोषाणां बीजानि अविद्यादीनि तानि दग्धबीजकल्पानि प्रसवसामर्थ्यहीनानि सम्पद्यन्ते। मनसा सहैव प्रत्यस्तं यान्ति। तेषु लीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं नानुभवति। पुरुषस्यात्यन्तिकगुणवियोगरूपम् त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपं वा कैवल्यं जायते।

चतुर्विधा हि योगिनः—प्राथमिकल्पिकः २. मधुभूमिकः २. प्रज्ञाज्योतिः ३. अतिक्रान्तभावनीयश्च ४. तत्राभ्यासी, यस्य परचित्तादिविषयकं ज्ञानं प्रवृत्तमात्रं स प्रथमः १ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा या प्रज्ञा सा निर्विचारा। रजस्तमउपचयरूपावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। तयोर्निर्विचारवैशारद्ययोः समाहितचितस्य या प्रज्ञा सा ऋतम्भरा तद्विशिष्टऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः, भूतेन्द्रियजयी तृतीयः, अतिक्रान्तभावनीयश्चित्तलयमात्रकर्त्तव्यकश्चतुर्थः। अयञ्च जीवन्मुक्तश्चरमदेहः।

तत्र योगिनामिन्द्रादिभिर्देवैरुपनिमन्त्रणं श्रूयते—तद्यथा, देवाः स्वर्गस्थानोपलक्षितैर्विमानकल्पद्रुम सिद्धाप्सरोदिव्यविभवैर्योगिनः प्रलोभयन्ति। तत्र जननमरणतिमिरसंकुलसंसृतौ परिभ्राम्यता मया बहुजन्मायासतः कथञ्चिदासादितः संसरणतमोध्वंसको योगप्रदीपः, लब्धालोकोऽहं पुनर्देवप्रदर्शितयाऽनया-मृगतृष्णया वञ्चितः सन् कथमपि प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानं नेन्धनीकुर्यामिति सङ्गभयं भावयेत्। उक्तविषयसङ्गं परिवर्जयन् अहो अहं देवानामपि प्रार्थनीयः सम्पन्न इति स्मयमपि न कुर्यात्, अन्यथा सङ्गस्मयाभ्यामुपस्थितः प्रमादो लब्धविवरः क्षीणान् क्लेशान् पुनरुत्तम्भयिष्यति।

इदञ्चोपनिमन्त्रणं न प्राथमकल्पिकयोगिपरम्, तस्य प्रथमप्रवृत्तत्वेन तादृशयोग्यताया अभावात्। नापि प्रज्ञाज्योतिस्तृतीययोगिपरम्, भूतेन्द्रियवशित्वेनैव तस्य देवैः प्रलोभनीयवस्तूनां प्राप्तिसंभवात्। नाप्यतिक्रान्तभावनीयं चतुर्थं प्रति, तस्यासम्प्रज्ञानसमाधित्वेन परवैराग्यसम्पत्तेः सङ्गस्मयाशङ्काया दूरोत्सारितत्वात्। किन्तु ऋतम्भरप्रज्ञस्य मधुभूमिकापरपर्य्यायस्यैवोपमन्त्रणम्।

वसिष्ठेनाप्युक्तम्—

संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
आत्मज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि॥

द्वितीयः प्राणसंरोधः इत्युक्त्या प्राणवृत्तिनिरोध एव योग इत्याह। तथा हि कुक्षेर्दक्षिणभागे इडा, वामभागे पिङ्गलानाम नाडी। अतिसूक्ष्माऽप्रनीयमाना विद्यते। तयोः सकलप्राणशक्तीनामाधारभूतयन्त्रनिभमस्थिमांसमयं पुरीतन्नामकं पद्मयुगत्रयं विलसति। नासिकाग्रमारभ्य पादतलं यावत् शरीराकाशे

संचारिणश्चन्द्राभिधस्याधानवायुरूपामृतस्य सेकेन पद्मयुगत्रयस्य पत्राणि विकसितसंकुचितानि जायन्ते। तत्पत्राणां कम्पनेन पुरीतत्सम्बद्धासु ऊर्द्ध्वाधः स्थितासु सर्वासु नाडीषु जङ्गले लता इव स मरुत् परिवर्द्धते। वृद्धो वायुः तत्तद्गत्या प्राणापानोदानसमानव्यानसंज्ञां लभमानः द्विसप्ततिसहस्रनाडीनां प्रतिशाखमेकशतनाडीषु विहरति। तेभ्यो हृदयपद्मेभ्यश्चन्द्रबिम्बात् किरणा इव निखिलाः प्राणशक्तयो विस्तृताः सन्ति। ताभिः प्राणशक्तिभिः सततमन्नरसादीनां यथावत् स्वरूपसम्पादिका गत्यागतिविकर्षणहरणविहरणादिक्रियाः क्रियन्ते। काचिल्लोचने स्पन्दयति, काचित् त्वचा स्पर्शं ग्राहयति, काचिन्नसा गन्धम्, काचिदन्नं जरयति काचिद्वाचमुच्चारयति इत्येवं सर्व शरीरावयवकार्यं निर्वहति। तेषूद्ध्र्वगः प्राणः, अधोगोऽपानश्चोत्तमः। इमौ द्वौ देहरूपमहायन्त्रस्य श्रमहीनावश्वौ हृदाकाशस्यार्कशशिनौ शरीरनगरपालस्य मनसो रथचक्रे स्तः। तथा च प्राणवृत्तिनिरोधेन मनसो वृत्तिनिरोधः स्फुट एवेति नास्ति विरोधो योगशास्त्रोक्तचित्तवृत्तिनिरोधेनेत्यलमतिविस्तरेणन।

योगतत्त्वस्य मीमांसा मनःशुद्धिं विधाय मे।
ददातु तुर्यमिष्टार्थमितीच्छति सभापतिः।

कर्मानुष्ठाने आत्मतत्त्वप्रतिभासः

चिन्नस्वामिशास्त्री

लोके तावदिदं सर्वतन्त्रसम्प्रतिपन्नम् यत् प्राणिमात्रस्याऽऽत्मनः सुखलाभाय चेष्टेति। तत्र यावान् यावान् ज्ञानप्रकर्षोदयः तावतीमभ्यधिकां सुखसन्ततिं समीहते चेतनः। यश्च यावांश्चाभ्युदयस्समुपनिपतितः, तञ्च तावन्तं कञ्चित्कालं सहर्षमनुभवन्, गच्छति च काले तत्रैव चर्वितचर्वणतया, मध्ये मध्ये दुःखौघसंवलिततया च समुपजातानल्पग्लानिः, ततोऽप्यधिकं दुःखासम्भिन्नञ्च कञ्चन सुखविशेषमिहैव प्रत्यक्षेणानुमानेन वा समधिगच्छन् तत्र च जातौत्कण्ठ्यो यतते तल्लाभाय। एवं क्रमेण ससागरामपि समग्रां पृथिवीं स्वाभिलाषपूरणायाऽपर्याप्तां मन्वानः, इतोऽपि श्रेष्ठतमं कञ्चन लोकविशेषं स्वमनीषारूढैः प्रमाणैस्साधयन् तदवाप्तये साधनमन्विष्यति। एवं बहून् लोकान् तत्र चोत्तरोत्तरं सुखाधिक्यञ्च कल्पयन् पूर्वपूर्वसुखेष्वनाविष्टचेता उत्तरोत्तरस्मै तस्मै स्पृहयति। तत्प्राप्तिञ्च ततस्ततोऽभ्यधिकेषु लोकेष्विति। अनयैव दिशा चतुर्दशभुवनानि वैकुण्ठं कैलासं वा कल्पयन् तत्र सुखस्य परां काष्ठामभिमनुते पुरुषः प्रेक्षावानित्यभियुक्ता आशंसन्तेऽभ्यूहकुशलाः।

सुखसाधनं धर्म एव

तत्र पारलौकिकस्य ऐहिकस्य वा सुखस्य यत् साधनं, यस्य यथावदनुष्ठानेन तत्सुखमविकलमवाप्तुं शक्यते, तदेव धर्मपदाभिधेयं ब्रुवते विचक्षणाः। तच्च सुखं सावधिकं मन्वानाः, अत एव तत्रापरितुष्यन्तो निरवधिकं निरतिशयञ्च कञ्चन सुखविशेषमचीक्लृपन् मेधाविनः। स च निःश्रेयसपदेनाऽभिधीयते। तत्रापि कारणं धर्ममेव सम्मन्वते केचनाचार्याः। यथोक्तमृषिणा कणादेन–'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिस्स धर्मः' इति। एवञ्च यद्यस्ति लोकान्तरं यदि च चेतनेन तत्र गन्तव्यमित उत्तमस्य सुखस्यानुभवाय, तर्हि कथं तत्र गन्तुं शक्यते! कस्तत्र पन्थाः? सशरीरस्य गमनमुताशरीरस्य? अनुष्ठितात्कर्मणः स्वत एव फलमुत्पत्तुमर्हति? उत तस्य प्रदात्राऽन्येन भाव्यम्? यद्यन्येन केनचन भाव्यम् स किंप्रभावः कीदृशः? किंवपुः? कियान् कीदृशश्चानेन चेतनेन सह तस्य सम्बन्ध? इत्यादयः प्रादुःष्यन्ति विशयाः।

शरीरातिरिक्तात्मसद्भावः

तत्र प्रत्यक्षेण शरीरमिदं दह्यते, नाश्यते, खाद्यते वा। अतो नानेन शक्यते परलोकः प्राप्तुमिति

निश्चिन्वानः शरीरातिरिक्तस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽस्तित्वम्, तस्य च विनापीदं भौतिकं शरीरं स्वतो लोकान्तरगमने सामर्थ्यञ्चावधारयति। एवञ्च एतच्छरीरातिरिक्तः कश्चिदस्ति य एतच्छरीरमन्तरापि स्थातुं शक्नोति, नास्य नाशेन नश्यति, स्वकर्मबलेन लोकान्तरं प्राप्य तत्रत्यं सुखं यथोपलब्धमनुभवति इत्यध्यवस्यति। अत्रैव च केचित् कृष्यादिवत् अनुष्ठितादेव कर्मणः स्वतः फलमुत्पद्यत इति नान्तरा कञ्चन फलदातारमीहन्ते। अन्ये च केचिल्लोकदृष्टान्तेन चेतनादेव फलावाप्तिं मन्वानाः, तद्दानाय प्रभविष्णुं निरवधिकज्ञानैश्वर्यसम्पन्नम्। अनाद्यन्तमीश्वरपदाभिधेयं विशिष्टं चेतनं कञ्चित् फलदातृत्वेऽभ्यषिञ्चन्ति। स सर्वेश्वरोऽपि सर्वशक्तिरपि स्वस्य वैषम्यनैर्घृण्यदोषपरिहाराय तत्तत्कर्मानुरूपमेव फलं प्राणिभ्यो दातुमुत्सहते न ततोऽधिकमित्यध्यवस्यन् पुरुषः तावताऽप्यसमाहितचेताः ततोऽपि समुन्नतफलावाप्तये समुन्नते साधने यतते। तच्च सुखं निरवधिकं मन्वानः तस्याऽनुभवितापि नित्येन भाव्यमिति शरीरातिरिक्तात्मसत्ता, तस्य नित्यता च निश्चीयते पुरुषेण। गच्छत्सु च कतिषुचन कालेषु ऐहिकसुखदृष्टान्तेन पारत्रिके सुखे सावधिकतामनुमिमानः, अत एव तत्रापरितुष्यन् निरवधिकसुखेप्सुः, अग्रे धावति कल्पनायै। अस्मिन्नेव.वसरे स्वापेक्षया कस्यचित् पृथग्भूतस्य सत्त्वम्, तस्य चेश्वरत्वम्, परभावः, निरवधिकज्ञानसुखरूपत्वम्, तेन महात्मनस्सेव्यसेवकभावः, शरीरशरीरिभावः, स्त्रीपुंसभावः, परापरभावः, सोऽहंभावः, भेदो नित्यः, अभेद औपचारिकः, आंशिको भेदः, आंशिकश्चाभेदः, अभेद एव नित्यस्सत्यश्च, भेदस्त्वौपाधिको मिथ्याभूत इत्यादयः कल्पिताः प्रकाशं प्रापिता वा पुरुषैर्यावदभिप्रेतं स्वस्वधिषणाबलानुसारम्। सुदूरञ्च धावित्वा तत्र सर्वास्मातिरिक्तेष्वसारतामनस्थिताञ्च परिपश्यन्, अन्तत आत्मन एव तादृशसुखरूपत्वं पश्यन् तत्रैवात्यन्तिकीमुपरतिं सुखत्वेनाध्यवस्यति। तदेव सर्वसुखापेक्षया परमं सुखं निःश्रेयसमित्युच्यते बुधैः। तत्रैवेतरेषां सुखानामन्तर्भावः। तत्प्राप्तौ सत्यां नान्यस्मिन् सुखे रमते चेतनः। एवञ्च चेतनस्सुखाभिलाषी स्वतो बहिस्तत्तत्साधनञ्च लब्धुं प्रवृत्तः क्रमशः परीक्ष्य स्वातिरिक्तेषु सर्वेष्वपि वस्तुष्वनवाप्तपारस्यः, अन्तत आत्मन्येव पर्यवस्यति। एवञ्च यत्रोपक्रमस्तत्रैवोपरमः। इयमेव चेतना चित्तविकारस्य कल्पनामूलस्य परा काष्ठा।

वेदशब्दार्थः

एवं स्वस्वमतिविभवानुसारेण स्वाभ्यूहकुशलतातिक्रमेण यां यां परस्यापरस्य वाऽऽत्मनोऽवस्थाम्, यच्च यच्च साधनं, यानि यानि च फलानि पर्यकल्पयन् समर्थयंश्च, तानि तानि यथासमयं यथासम्भवं स्वशब्दैराविष्कुर्वन् पूर्वे महर्षयः। त एव च कालेनैकत्रीकृताः ग्रन्थरूपतामापादिता वेदशब्दाभिधानं भजन्ति। इयञ्च विकासपरम्परा नाल्पीयस्यनेहस्याविर्भवितुमुत्सहते। तत्र च परस्सहस्राणि वर्षाण्यत्ययुः। तत्र कल्पकबुद्धिशक्तिमनुसृत्य क्वचित् क्वचित् वस्तुषु न्यूनाधिकभावः, अन्यथाभावो वा नूनं कदाचिदुपलभ्येतापि, परं सोऽकिञ्चित्करः। अत एव 'अजानन् ह वै पृश्नीं स्तपस्यमानान ब्रह्मस्वयंभ्वभ्यानर्षत् तदृषीणामृषित्वम्", "स तपस्तप्त्वा, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै० आ० ९.२.१) इत्यादीनि तत्र तत्रोपलभामहे वाक्यानि। एवञ्चास्माकीना महर्षयः पूर्वे प्रात्यक्षिकेषु विषयेषु, असारताम-

---

(१) कल्पादौ सृष्टान् पुनः पुनर्जन्ममरणरहितान् कांश्चन महापुरुषान् तपः कुर्वतो वेदाख्यस्स्वतस्सिद्धः शब्दराशिः प्राप्नोत्। अत एव तेषामृषित्वमिति तस्यार्थः। (तै० आ० २. ९. १.)

ल्पकालतां च परिपश्यन्तस्ततोऽपि सारवत्तमायानल्पकालवर्तिनेऽविनश्यदवस्थाय तत्त्वाय स्पृहयन्तः तस्य चावरस्य सत्तां निश्चिन्वन्तस्तल्लाभायानल्पं तपः कायिकं मानसिकं तप्यमाना अन्ततस्तदलभन्त, तच्च बहिश्शब्दराशिना प्राकाशयन्। स एव शब्दराशिर्वेद इति सिद्धयति।

अनेन शङ्केयं समाहिता भवति यद्येवं सर्वमिदं परलोकतत्सुखानुभवादिकं पुरुषबुद्धिमात्रकल्पितं स्वरूपतो नास्तीति शून्यवादे, नास्तिकवादे वा पर्यवस्येदिति। स्वरूपतस्सताम् अथ च नित्यानामपि भावानां यावत्पुरुषज्ञानविषयता तावदसत्समा एव ते। अर्थात् परोक्षविषयाणामनुमानादिप्रसाध्यानां पुरुषबुद्धयैकसंवेदनीयत्वात् यावत् पुरुषा इमान् लोकान्तरतत्सुखसत्तादीन् प्रमाणेन प्रसाध्य विषयान् न बहिः प्रकाशयन्ति तावत्कथमवगन्तुं शक्यते तेषां सत्ता, अतो न दोषः।

कर्मकाण्डे आत्मविचारः

तत्र कर्मोपासनाज्ञानकाण्डात्मना त्रिधा विभक्ते वेदे औपनिषदे भागे आत्मविषयको विचारः परां काष्ठामधिरूढः, इति नात्र विचारणीयमस्ति किञ्चिदपि। कर्मकाण्डैकोपजीविनः कर्मिणः तेषामात्मविषये कियत्यवगतिरिति विचारयामः किञ्चिदिव।

तत्र कर्मानुष्ठायिनोऽपि पारलौकिकसुखमनुभवितुम् अनुभवितुरात्मनो नित्यत्वमभ्युपगच्छन्ति। अन्यथा तेषां सिद्धान्तस्य मूलमेव निकृत्येत। सत्येव हि कस्मिंश्चित् कालान्तरे कर्मजन्यफलभोक्तरि कर्मसु प्रवृत्तिरुदियात्। अन्यथा स्वोभावे आत्मनः संशयानः पुरुषः कथं कष्टात्मकेषु कर्मसु प्रवृत्तिमादध्यान्मन्दधीरपि। परलोकगमने च तेषां सुनिश्चिता प्रतिपत्तिरासीत्। अत एवान्त्येष्टयाख्ये कर्मणि मृतशरीरदाहकोऽग्निः प्रार्थ्यते—"यस्ते शिवास्तनुवो जातवेदः। ताभिर्वहेमं सुकृतां यत्र लोकाः" इत्यादिभिर्मन्त्रैः मृतस्य परलोकप्रापणं प्रति। परं तावतैव सतुष्टास्ते कर्मठा न ततोऽधिक आत्मविचारे विशेषतः प्रावर्तन्त। परं कर्मकाण्डेऽपि वैरल्येनोपलभ्यत एव स विचारः। अतः कर्मिण आत्मज्ञानविधुरा इति यत्कथनं तत्कथयतामिव विचारवैधुर्यं पुष्णाति।

इन्द्रादिदेवतास्वीकारः।

वैदिके मार्गे विशेषेण पर्यालोच्यमानेऽपि नेदं स्फुटतरमवगन्तुं शक्यते यत् कृतस्य कर्मणः फलदातारं स्वाराध्यदेवतातिरिक्तं कञ्चिन्निरतिशयशक्तिमन्तमीश्वरमभ्युपगच्छन्ति न वेति। परमिदं स्पष्टतया प्रतीयते इन्द्राग्निमित्रावरुणादीन् न केवलं स्वीकुर्वन्ति देवान्, तैस्सह प्रत्यक्षतो वार्तालापादिकमपि कुर्वन्ति। प्रायेण तेषां प्रत्यक्षदृश्याः पुरुषविधा एव देवाः। तानेव यजन्ति चरुपुरोडाशादिभिः, तानेव च प्रार्थयन्ते

१ इन्द्रो दिव इन्द्रम् ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगहव्य इन्द्र॥ (ऋ० सं० १०,८९.१५)
देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे ये विश्वा भुवनानि प्रतस्थुः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिस्सदा नः॥ (ऋ० सं० १०.६६.१५)
'यदा सत्यं कृणुते मन्युमिन्द्रः विश्वं दृढं भयत एजदस्मान्' (तै० ब्रा० २.८.३.३)

स्वाभीष्टफलप्रदानाय । ते च तादृशीं सर्वथा बिभ्रत्येवेति तेषामभेद्यो विश्वासः। निखिलजगतामाधिपत्यं तत्तादृशमैश्वर्यञ्चेन्द्रादीनां पुष्कलं तेऽङ्गीकुर्वन्ति । तेष्वेवाऽन्यतमस्तादृशीमेव शक्तिमाबिभ्रद्रुद्रो विष्णुर्वा देवविशेषः, न ततो विलक्षणशक्तिमान् । सर्वदेवश्रेष्ठ इन्द्र एव, अन्ये देवा तदवाञ्च इति मन्यन्ते स्म । अनन्तरकालिकेषु पुराणेष्वेव सर्वदेवतातिशायिनी शक्तिस्तयोरन्यतरस्योभयोर्वाऽप्रतिहता परिपठ्यते । तमेव पौराणिकं भावमुपष्टम्भयितुं तैस्तैरुपासकैः तत्तादृशं श्रुतिवचनमन्विष्यान्विष्योदाह्रियत इत्यन्यदेतत् । परमिदमवश्याभ्युपगमनीयमापतति—यदेकं वस्तु सर्वातिशायि, सर्वव्यापि, अजरममरमनाद्यनन्तम्, येन सर्वमिदं ततम् । यस्यैव महिमायम् सर्वमिदं स्थावरजङ्गमात्मकम् । तदेव 'चेन्द्राद्यात्मना तदा तदा व्यवह्रियतेऽनुसृत्य प्रयोजनम् । एवञ्च न तेषां ज्ञानमात्मास्तित्वमात्रे तन्नित्यत्वमात्रे वा पर्यवस्यति, परं जीवापेक्षया परमात्मनस्सत्तायां, तस्य च जीवापेक्षया भेदे, तस्यैव जगत्कारणत्वे, जीवस्यैव कर्मफलभोक्तृत्वे, तस्य च स्वकर्मफलभोगावसाने पुनर्जन्मप्राप्तौ यावदुपाधिसत्त्वं तावत् पुनः पुनर्जन्ममरणाख्यसंसारपरिभ्रमणे परमात्मनस्साक्षिमात्रत्वे च साधीयान् विचारस्सुपरिनिष्ठित आसीदिति सुनिश्चितमवगम्यते ।

वेदेषु सर्वत्र पुनःपुनर्जन्मोपलब्धिः

सति चैवं यदुक्तं Rabert Ernest Hume महाशयेन स्वीयोपनिषदनुवादोपोद्घाते—ऋग्वेदे पुनर्जन्मविषयिणी चर्चा नास्ति । आशयोऽयं परिपोष्यते छान्दोग्योपनिषद्गतया पञ्चाग्निविद्यासम्बन्धिन्या कयाचिदाख्यायिकया । तत्र हि अद्य यावदियं विद्या क्षत्रियेष्वासीत्, नमां ब्राह्मणा जानन्ति स्म । इतः प्रभृत्येव ब्राह्मणान् गमिष्यति इत्युपलभ्यते कथा । तेनावगम्यते—उपनिषत्कालात् प्राक् पुनर्जन्म नाजानन् भारतीया इति । तदिदमनालोचितवस्तुतत्त्वम् । न वयं प्रतीमो वह विचारयन्तोऽपि कथमनया कथया तेषां पुनर्जन्मविषयकज्ञानाभावः । स एव महाशयो लिखति ततः पूर्वं क्षत्रियेष्वासीदिति । क्षत्रियाः किं न भारतीयाः ? सर्वथा तावदासीदेषा जन्मान्तरविषयकं ज्ञानं क्षत्रियेषु ब्राह्मणेषु वेति तु नापलपितुं शक्यते ।

किञ्च मन्त्रभागेषु बहुत्रोपलभ्यते पुनर्जन्मविषयिणी चर्चा । तथा हि—ऋग्वेदे प्रथममण्डले अस्यवामीयसूक्ते [२]"अपाङ्प्राङेति स्वधया गृभीतः" इत्यस्मिन् मन्त्रे कर्मार्जितेन सूक्ष्मशरीरेण सम्बद्धो जीवपदाभिधेय आत्मा तत्तत्कर्मानुसारं नानायोनिषु जन्म लभते । अभिज्ञाः केचित् यथावत्तं जानन्ति, केचनाभिज्ञा न जानन्तीत्युदीर्यते । अन्तरा पुनर्जननं, अनेकयोनिप्राप्तिकथनं कथमिव संगच्छताम् ।

(१) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। (ऋ० म० १.१६४.४६)
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।। (ऋ० सं० १,१६४,२०)

(२) अपाङ्प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येनासयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ।। (ऋ० सं० १.१६४.३८)

तत्रत्यभाष्यसंग्रहः—अमर्त्यः अमरणधर्माऽयमात्मा स्वधाशब्दलक्षितेन शरीरेण गृहीतस्सन् अशुक्लं कर्म कृत्वाऽधोगच्छति ।

अत्रैव स्थलान्तरस्थेन मन्त्रेणाप्ययमर्थः परिपोषमावहति। अन्त्येष्टिप्रकरणे प्रेतं भौतिकशरीरेण वियुक्तं जीवमुद्दिश्य तत्पुत्रादिः प्रार्थयते—

"संगच्छस्व[1] पितृभिः" इत्यादिना केनचन मन्त्रेण। तत्रोत्तरार्द्धे "हित्वा यात्वद्यं पुनरस्तमेहि" इति स्वर्गे इष्टापूर्तजन्यपुण्यफलभोगानन्तरं पुनरत्रागमनं शोभनशरीरग्रहणञ्च संप्रार्थ्यते। अभेद्यमिदं प्रमाणं पुनर्जननास्तित्वे इति किं वक्तव्यम्।

एवं तैत्तिरीयशाखायामप्ययं मन्त्रस्तत्प्रकरणे पठितस्तमेवार्थमनुवदति। परं "यत्र भूम्यै वृणसे तत्र गच्छ" इत्यस्ति पाठः। तस्याप्ययमेवार्थः—यस्यां भूमौ जन्म प्राप्तुमिच्छसि हे जीव! तत्र गच्छेति। परतन्त्रोऽहं कथं स्वतो गन्तुं शक्नुयामित्याशङ्कायामुच्यते—"तत्र त्वा देवस्सविता दधातु" इति। तत्रैव पठितं मन्त्रान्तरं साधयपादयति विषयमिमं "स्तोदितृपदम्"[2] इति। मन्त्रस्याशयं यथावद्विवृणोति भाष्यकारः। "अयमर्थः—अत एव रथचक्रवत् पुनः पुनरावर्तमानो लोकदृष्ट्या मृतोऽपि वस्तुतः स जीवो न मृतः, किन्तु जीवत्येव। यथा रथचक्रं पुनः पुनः पर्यावर्तते।

तथा जीवोऽपि संसारे पुनः परिभ्रमति। स च सत्त्वरजस्तमोगुणैरावृतत्वात् कदाचित्सत्त्वाधिक्येन शास्त्रार्थं जानन्नपि कालान्तरे तमोगुणाधिक्ये सति तं शास्त्रार्थं न जानाति' इत्यादि। "प्रजामनुप्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्" इत्यादीन्यपि मन्त्रगतानि वचनान्यत्रानुकूलानि। किं बहुना! सर्वप्रथमेऽपि वैदिककाले जीवस्य कर्मबन्धनं पुनः पुनर्जन्म तत्रोच्चावचलोकादिप्राप्तिरित्यादिकं, ज्ञातं, स्वीकृतम् उद्भावितञ्च क्वचित्क्वचिदिति इम महाशयस्योक्तिर्निर्मूला भ्रममूला वेत्येव वयमुत्पश्यामः।

---

(१) "संगच्छस्व पितृभिः संयमेन समिष्टापूर्तेन परमे व्योमन् हित्वा यावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः (ऋ० म० १०–१४–८)" यत्र भूम्यै वृणसे तत्र गच्छ तत्र त्वा देवस्सविता दधातु इति तैत्तिरीये (तै० आ० ६–४–२, अथर्व सं० १८–३–५८)

(२) तदित् पदं न विचिकेत विद्वान् यन्मृतः पुनरप्येति जीवान्।
त्रिवृद्यन् भुवनस्य रथवृत् जीवो गर्भो न मृतस्स जीवात्॥"

(तै० ब्रा० ३, ७, १०, ६)

It is noteworthy that in the Rigveda there is no mention of Metapsychos. This fact is interestingly Confirmed in the Upanishads at chanda 5. 3 where neither Swetaketu (who according to chanda 6. 1. 2 has spent twelve years in studying Vedas) nor his father and instructor Gautama, had heard of the doctrine; but when they are instructed in it, it is expressly stated that the *doctrine had always belonged to the Kshathriyas, the military class and* was then for the first time divulged to one of the Brahman class.

अन्यविषयेष्वप्याध्यात्मिकेषु परिचयः

अन्येष्वप्येतादृशेषूपनिषत्प्रतिपाद्येषु आत्मविषयेषु कर्मिणामपि नैसर्गिकी प्रवृत्तिः प्रतीतयश्च साध्य आसन्नित्यत्र नास्ति विशयः। परं ते कर्मकाण्डे वैरल्येनेतस्तः प्रासङ्गिकतयोपात्ताः। तदुपपादनमात्रैकप्रवृत्ते ज्ञानकाण्डे तु पौनःपुन्येन बह्वीभिर्विद्याभिरिदं परतया इत्येतावानेव विशेषः। तथाहि —"पूर्वोदाहृते 'द्वासुपर्णाः' इति मन्त्रे जीवात्मा परमात्मा चेति द्वौ श्रूयेते। तत्र जीवात्मन एव तत्तत्कर्मफलोपभोगः, परमात्मा तु साक्षिमात्रतयाऽवतिष्ठत इत्युक्तम्। यस्य पुनः पुनराम्रेडनमुपनिषत्सूपलभामहे। एवं तत्रैव "इन्द्रं मित्रं वरुणम्" इति मन्त्रेण यदेकस्य परमात्मन एव सर्वात्मकतोक्ता, सापि

"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

इत्यादीन्यौपनिषदानि वाक्यान्यनुवदन्ति। स एव परमात्मा क्वचिदात्मशब्देन, क्वचिद् ब्रह्मशब्देन क्वचिच्चपरब्रह्मशब्देन व्यवह्रियते। यद्यप्यत्रोपनिषद्वाक्ये भूतात्मशब्दप्रयोगात् सर्वेषां जीवानामेकत्वमेवात्र प्रतिपद्यते, न जीवात्मपरमात्मनोरैक्यम् इति प्रतीयते, तथापि जीवैकत्वकथनं परमात्माभेदकथन एव पर्यवस्यति। जीवानां परस्पराभेदसिद्धौ श्रुत्यन्तरोक्तो जीवात्मपरमात्मनोरपि भेदः कैमुतिकन्यायेन सिध्यति। किञ्च "स इत् तन्तुं स' विजानात्योतुम्" इत्यादिषु त्रिषु मन्त्रेषु परमात्मन एव स्वरूपमुपवर्ण्यते

तत्र द्वितीये मन्त्रे "ध्रुवं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु" इत्यनेन मर्त्येषु मरणधर्मवत्सु प्राणिषु अमरणधर्मा प्रकाशात्मकः, अमृतस्वरूपः कश्चन देदीप्यमान आस्त इति स्पष्टमुद्घोष्यते। नच स जीवः कुतो न स्यादिति शङ्कनीयम्। प्रथममन्त्रे "स इत्तन्तु स विजानात्योतुम्" इति तस्य जगत्सृष्ट्यादौ सामर्थ्यप्रतिपादनात्। जीवस्य ततोऽन्यस्य वा कस्यचित् परिच्छिन्नशक्तिमतः जगदोतत्वप्रोतत्वयोर्सामर्थ्यात्। यदि चोपाधिकल्पितो भेदो जीवपरमात्मनोः, तदा उपाधिनाशे परमात्मैव स इति तस्य सर्वशक्तिमत्तोपपद्येत। अपि चाथर्वणश्रुतौ "यद्यन्तरिक्षे।

---

(१) स इत्तन्तुं स विजानात्योतुं स वक्त्राण्यृतुधा वदाति।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन् परो अन्येन पश्यन्॥ (ऋ० सं० ६, ९, १)।
(१) ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशयेकं मनोजविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
विश्वेदेवाः समनसस्सकेता एकं क्रतुमभिवियन्ति साधु॥
अयं होता प्रथमः पश्यते ममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं सयज्ञे ध्रुव आनिषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वर्द्धमानः॥ (ऋ० सं० ६, ९, २, ३)
(२) यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोपलेषु।
यदश्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपेतु॥ (अथर्व० ७,६८,१)
(२) ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्मद्यौरुत्तराहिता। ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचोहितम्॥
(४) ब्रह्म देवानजनयत् ब्रह्म विश्वमिदं जगत्। अन्तरस्मिन्निमे लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत्"
ब्रह्मन् देवास्त्रयस्त्रिंशत् ब्रह्मन्निन्द्रप्रजापती।
ब्रह्मन् ह विश्वाभूतानि नावीवन्तस्समाहिता॥ (तै० ब्रा० २८-८-१०)

यदि वात आस" इत्ययं मन्त्रो ब्रह्मणस्सर्वगतत्वमुपवर्णयति। तत्रैव मन्त्रान्तरमस्य जगत्कर्तृत्वं ख्यापयति—"ब्रह्मणा भूमिर्विहिता" इत्यादि। एतेन ब्रह्म सर्वज्ञं, सर्वशक्तिमत्, सर्वगतं, जगत्कारणञ्चेति सिध्यति। तैत्तिरीयश्रुतिरपि "ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्"।

"ब्रह्म देवानजनयत् ब्रह्म विश्वमिदं जगत्" इत्यादिका ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वम्, जगत्कर्तृत्वञ्च प्रतिपदयति। न केवलं तत्। ब्रह्मण्येव सर्वमिदं जगदध्यस्तमित्यपि सा कथयति—"ब्रह्मन् देवास्त्रयस्त्रिंशत्" इत्यादिका। "[1]येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हे" इतीयमृक् ब्रह्मणो जगदवष्टम्भकत्वमावेदयति। यद्यपि हिरण्यगर्भसूक्तान्तर्गतेयमृक् तमेवाभिधातुमीष्टे, हिरण्यगर्भस्तु जीव एव समष्टिरूपः, न परमात्मा, तथापि सेयमृक् परमात्मरूपेणैव तमभिधत्ते न हिरण्यगर्भेण, [2]तथैवाचार्यैर्व्याख्यातत्वात्। स एव च परमात्मा जनानां हृदये संनिविष्टः, प्रविष्टश्च। स एव च भूतात्मा जीवतामापन्नः। तस्यैव च परमात्मन एकत्वेनावस्थितस्य जीवरूपेण बहुत्वापत्तिरित्यादि चातुर्होत्रीयाख्यचयनाङ्गभूता होतृहृदयाख्या मन्त्रा अभिदधति। अन्तः[3] प्रविष्टश्शास्ता जनानाम् इत्यादयः। यथा बुद्बुदाः जलमध्ये समुत्पद्य कंचित्कालमवस्थाय विलीनाः जल एवैक्यं प्राप्नुवन्ति, तथा सर्वे भावाः परब्रह्मण एवोत्पद्य तत्रैव स्थित्वा विलीयमाना एकतां गच्छन्ति। तं हि जना योगेन निरुद्धचित्तास्सन्तो जगदीश्वरं स्वस्वरूपत्वेन साक्षात्कुर्वन्ति। न तु भदन पश्यन्ति, इत्यादि तत्रत्यं भाष्यम्। एवं सन्ति बहवो मन्त्रास्तस्मिन्नेव प्रकरणे जीवात्मपरमात्मनोरैक्यप्रतिपादकाः।

एवं "नासदासीत्" सूक्तेऽपि सृष्टेः पूर्वमव्यक्तावस्थां ततो जगतो व्यक्तरूपेण सृष्टिमभिदधद्भिर्मन्त्रैर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्, तस्यैव च जगदात्मना भासमानता, तत्सत्तातिरेकेणाऽन्यसत्ताभावश्च व्यक्तीक्रियन्ते प्रश्नोत्तरनिरूपणद्वारा। इयञ्च श्रौती कथा।

मन्वापस्तम्बयाज्ञवल्क्यादयोऽपि महर्षयोऽमुमेवाशयं स्वग्रन्थेषु प्रकटीचक्रुः। परं श्रौतं तत्रापि सांहितिकमेवाशयं विवरीतुमुद्युक्ता वयं न तत्र लेखनीं व्यापारयितुमभिलाषामः। अत्र श्रौतेष्वौपनिषदेषु दार्शनिकेषु वा भेदवादे, अभेदवादे, भेदाभेदवादे, जगतस्सत्यत्वे मिथ्यात्वे, आरम्भपरिणामविवर्तवादेषु, अन्येषु वैताद‍ृशेषु विवादास्पदेषु पदमनिधाय ताटस्थ्यमेवावलम्बितुमीहमानाः केवलं संहिताभागेषु कर्मप्रतिपादनैकप्रवणेष्वपि आत्मतत्त्वमन्तर्गर्भितं विवर्तवादावधिकमितस्ततो विप्रकीर्णमुपलभमाना वयं प्रायेण सांहितिकोऽपि भाग औपनिषदेनात्मतत्त्वेनाभिव्याप्त एवेत्येतावदेव सप्रमाणं यथामत्युपपादयन्तः शेषं विवेचकेभ्यो विसृजन्तः प्राज्ञेभ्योऽत्रैव विरमणं वाञ्छाम इति शिवम्।

---

(१) येन द्यौरुग्रा पृथिवी दृळ्हे येन सुवस्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम" (ऋ० सं० १०, १२२, ५)

(२) अव्यभिचारि हि तल्लिङ्गं यत् द्यावापृथिव्यौ नियते वर्तेते। चेतनावन्तं प्रशासितारमन्तरेण नैतद्युक्तम्। येन द्यौरुग्रा पृथिवी दृढा इति मन्त्रवर्णात्" (शां० भा० बृ० उ० ३,८)

(३) अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानाम्। समानसीन आत्मा जनानाम्। सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति। सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति। स मानसीन आत्मा जनानां सर्वात्मा (तै० आ० ३, ११,१,२)

कवे रसप्रतीतिः

को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर

मुनीन्द्रं भरतं ध्यात्वा रसमार्गप्रवर्तकम् ।
आनन्दवर्धनं चैव ध्वनिलक्ष्मविधायिनम् ॥
नत्वाभिनवगुप्तं च महान्तं ज्ञानसागरम् ।
तेषामेव स्वतुष्ट्यर्थं मतलेशोऽत्र कथ्यते ॥

(१) विदितमेवैतत् सर्वेषां यद् रसवादो नामालंकारशास्त्रप्रतिपादितेषु विषयेषु मुख्यतमः। भरतमुनेरारभ्य यावन्त आलंकारिकाः समभवंस्तैः सर्वैरपि रसमधिकृत्य स्वल्पं बहु वा लिखितमुपलभ्यते। भारते तत्र तत्र तदा तदा प्राप्तयशसामालंकारिकाणां रसविषयकेषु मतेषु यद्यपि महद् वैचित्र्यं दृश्यते तथापि तेषां सर्वेषामपि मतानामस्ति किंचित् सामान्यं तच्चेदं यत्तेषु सर्वेष्वपि सामाजिकदृष्ट्यैव रसस्वरूपनिरूपणं कृतं दृश्यते। भरतमुनेरिवानन्दवर्धनाचार्याणामभिनवगुप्ताचार्याणामिव। पण्डितराजजगन्नाथस्य मते रसो नाम सामाजिकस्यानुभवः। अतः सर्वैरपि सामाजिकदृष्ट्या रसस्वरूपनिरूपणं कृतम्।

(२) अत्रायं प्रश्नः समुल्लसति "किं कवेरपि रसास्वादो भवितुमर्हति नवेति। यदि भवितुमर्हति तर्हि कविगतस्य रसस्य किं स्वरूपम्। तत्प्रतीतौ च का प्रक्रिया। कविसामाजिकगतयोः रसयोः परस्परं कः संबन्धः इति। यद्यपि मुख्यविचारविषयत्वेन न स्वीकृतोऽयं प्रश्नः शास्त्रकारैस्तथापि सामाजिकदृष्ट्या रसस्वरूपनिरूपणे प्रवृत्तैस्तैरस्मिन् विषये प्रसङ्गतो यद् यदुक्तं तत्सर्वं संगृह्य विमृश्यमानं सत् किं किं तत्त्वं बोधयतीति भवति नैसर्गिकं कुतूहलमस्माकं सर्वेषाम्।

(३) परं तु प्रयत्ने कृतेऽप्यस्य कुतूहलस्यात्यन्तिकी शान्तिर्न भवेत्। यतः शास्त्रकारैरिमं विषयमधिकृत्य कण्ठतो बहु नोक्तम्। यच्च स्वल्पं तैरुक्तं तेन न भवति सर्वासां शङ्कानां समाधानमिति बहु स्वयमभ्यूहितव्यमस्माभिः। एवं शास्त्रकारैः प्रसङ्गतो यद् यदुक्तं तत्सर्वं पर्यालोच्य स्वयं च किंचिदूहयित्वास्मिन् विषये यत् स्वल्पं किंचिद् वयं वक्तुमत्र समुद्यतास्तत् स्वकीयमन्तःकरणमपि न तोषयति, किं पुनरनेकशास्त्रपरिशीलनपरिष्कृतमानसानां विदुषाम्। तथापि सरसोऽयं विषय इति कृत्वा परस्परसंबन्धरहितांस्तदा तदा प्रादुर्भूतान् कांश्चिद् विचारान् स्वल्पैः शब्दैरत्र प्रकटयितुमिच्छामः।

गणेश-लक्ष्मी की कांस्य-मूर्ति
नैपाली कला
ई० १७वीं शती

—लखनऊ संग्रहालय

(४) केचिदाचार्या एवं मन्यन्ते यद् रसास्वादः सामाजिकस्यैव भवितुमर्हति, न कवेरिति। कविर्हि काव्यशब्दार्थचिन्तनपरः। अतः सर्वदैव दुःखमग्नः। "कविरेव हि जानाति कवेः काव्यपरिश्रमम्" इति न्यायेन रसानुगुणशब्दार्थान्वेषणपरस्य कवेः कथं रसास्वादो भवितुमर्हति। भवेत्तस्य रसास्वादो भावकत्वलक्षणद्वितीयावस्थायाम्। परं तु तस्यामवस्थायां स सहृदय एवेति रसः सहृदयस्यैव। "भूत-पूर्वकस्तदुपचारः" इति न्यायात् कवेरुपचर्यते रसः। एवं काव्यनिर्माणदशायां काव्यशब्दार्थान्वेषणदुःख-मग्नस्य निर्माणानन्तरं स्वनिर्मितं काव्यं सहृदयरूपेण शृण्वतः कवेः कदापि रसास्वादो न भवितु-मर्हतीत्ययं पक्षः माणिक्यचन्द्रादिभिरङ्गीकृतः।

काव्यप्रकाशः माणिक्यचन्द्रकृतसंकेतसहितः—पृ० ५ (आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः—ग्रन्थाङ्कः८९)।

(५) परंत्वाचार्याभिनवगुप्तकृतलोचनाभिनवभारत्यादिग्रन्थेष्वन्यादृशानि कानिचिद् वाक्यानि समुपलभ्यन्ते यान्यस्माकमत्यन्तं विचारार्हाणि प्रतिभान्ति। "नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः" इति (ध्वन्यालोकः लोचनसहितः—पृ० ९२, काशी संस्कृत-सीरीज १३५) भट्टतौतवचनमनुवदद्भिः स्वयं च "कविगतो रसः" (अभिनवभारती–१, पृ० २९५, गैकवाड ओरियन्टल सीरीज, XXXVI) इति, *"कविर्हि सामाजिकतुल्य एव"* इति च (अभिनवभारती, १, पृ० २९५, गैकवाड ओरियन्टल सीरीज XXXVI) वदद्भिरभिनवगुप्ताचार्यैः कवित्वसहृदयत्वयोर्भेदं *"सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते" (ध्वन्यालोकलोचनं, पृ० १, काशी-संस्कृत-सीरीज, १३५)* इत्यत्रान्यत्र चाभ्युपगच्छद्भिरपि स्पष्टमेव कवेरपि रसास्वादः स्वीक्रियते। काव्यस्य रस एव सारभूतोऽर्थः, आदिकवेर्वाल्मीकेः:—

"क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः"
(ध्वन्यालोकः, पृ० ८५, का-सं-सी, १३५)

इति वदद्भिरानन्दवर्धनाचार्यैरपीदमेव तत्त्वमङ्गीकृतं प्रतिभाति। आनन्दवर्धनाचार्यैर्या रामायणकथा परामृष्टा सावश्यं स्मर्यत एव विद्वद्भिः। निषादेन निपातितं क्रौञ्चं दृष्ट्वा ऋषेर्वाल्मीकेः कारुण्यं समपद्यत। रुदतीं क्रौञ्चीं निशाम्य :—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
तत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।"
(वा० रा, बालकाण्डः, सर्ग २, श्लोक, १५)

इति श्लोकं व्याजहार। आदिकवेः शोकस्य श्लोकत्वेन परिणतिर्वाल्मीकिरामायण एव वर्णिता दृश्यते। यथा—

"समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो मनीषिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥"
(वा० रा०, बालकाण्ड, सर्ग २ श्लो० ४०)

इति। "शोकः श्लोकत्वमागतः" इत्यस्य स्थाने "श्लोकः श्लोकत्वमागतः" इत्यस्ति प्राचीनः पाठः॥ यस्यैवं व्याख्या कृता गोविन्दराजेन—"स श्लोकः अनुव्याहरणात् शिष्यैः पुनः पुनः व्यवह्रियमाणत्वात्

भूयः श्लोकत्वमागतः। पूर्वं [illegible] श्लोकत्वं गतः । संप्रति श्लोक्यमानत्वात् पुनः श्लोकत्वं गत इत्यर्थः" इति। परं तु "शोकः श्लोकत्वमागतः" इत्येव प्रशस्तः पाठः, अतीव प्राचीनश्च। यत :—

"निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः।
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥" (रघुवंशः, १४, श्लोक, ७०)

इत्यस्मिन् रघुवंशश्लोकेऽनूदितोऽयं पाठो महाकविना कालिदासेन। प्रकृतस्य रामायणश्लोकस्य तिलकव्याख्यानेऽयमर्थः क्रियते। "अनु अतिशयितशोकोत्पत्त्यनन्तरं व्याहरणात् भूयःशोकः विपुलः शोक एव श्लोकत्वं प्राप्त इति वयं मन्यामहे" इति। सहृदयचक्रवर्तिभिरानन्दवर्धनाचार्यैः स्वकीये ध्वन्यालोके अभिनवगुप्ताचार्यैश्च स्वकीये लोचने कथामिमामवलम्ब्य कविगतरसविषये यदुक्तं तत् स्वल्पमपि मननार्हमस्माकं सर्वेषाम्। तेषामुक्तेरयमेव सारांशः यन्मुनिना वाल्मीकिना निषादनिहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्च्याक्रन्दनं श्रुत्वा करुणरसोऽनुभूतः। यश्च "मा निषादेति" श्लोक उदीरित स तस्यैव करुणरसस्य समुच्छलनरूप इति।

(६) अत्र बहवः प्रश्नाः समुल्लसन्ति। सामाजिकदृष्ट्या रसनिरूपणे प्रवृत्तैराचार्यैर्या रसप्रक्रियोक्ता तत्र कानिचित् तत्त्वानि महतीं प्रसिद्धिं गतानि। तद्यथा—अलौकिक-प्रसन्न-मधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणत्वात् प्रमदोद्यानकटाक्षादीनां लौकिककारणत्वादिपरिहारः। विभावनाऽनुभावना-समुपरञ्जकत्वरूपैर्व्यापारैस्तेषां विभावादिशब्दव्यपदेश्यत्वम्। एतेषां विभावदीनां न ताटस्थ्येन प्रतीतिः, परंतु प्रमातुः हृदयसंवादात् पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेन तन्मयीभवनोचितचर्वणाप्राणतया। ततः सामाजिकधियि सम्यग् योगस्य संबन्धस्यैकाग्र्यस्यासादनम्। वासनात्मतया स्थितस्य समुद्बोधनं तस्य च रसनात्मवीतविघ्नप्रतीत्या ग्रहणम्। एतन्मुख्यतत्त्वकृतमेव रसस्य रसत्वम्। यस्यां प्रतीतावेतानि तत्त्वानि नोपलभ्यन्ते तस्याः प्रतीतेः सामाजिकदृष्ट्या रसप्रतीतित्वं न स्वीक्रियते शास्त्रकारैः।

(७) अधुनास्माभिरिदं विचारणीयम्—क्रौञ्चवृत्तान्तदर्शनेन मुनेर्वाल्मीकेर्योऽनुभवः संजातः तस्मिन्नेतानि तत्त्वानि समुपलभ्यन्ते न वेति। तत्रापाततः विचारे क्रियमाणे केषांचित्तत्त्वानां तत्राभाव एव प्रतीयते इति केचित्। तेषामयमाशयः। प्रथमतस्तावन्मुनेर्वाल्मीकेर्योऽनुभवः संजातः स न काव्यपठनाद्वा नाट्यदर्शनाद्वा संजातः। अतो निहतस्य क्रौंचस्य कथमलौकिकालम्बनविभावत्वम्। तस्य लौकिककारणत्वमेव भवितुमर्हति। एवं क्रौच्याक्रन्दनस्य तिलकव्याख्योक्तदिशा कथमुद्दीपनविभावत्वम्। "अत्र नष्टक्रौञ्चालम्बनकः क्रौंचीविरावानुदीपितः निषादविषयक्रोधव्यभिचारिकः "मा निषादेति वाक्यानुभावकः करुणो रस इति बोध्यम्" इति ह्यत्र तिलकव्याख्यानम्। क्रौञ्च्याक्रन्दनस्य लौकिकसहकारित्वमेवोचितम्। "न हि लोके विभावानुभावादयः केचन सन्ति। हेतुकार्यावस्थामात्रत्वाल्लोके तेषामिति वचनमभिनवभारतीस्थं तत्र प्रमाणम्। (अभिनवभारती, १, पृ९, गंक० ओ० सी० ३६) एवं विभावादीनामेवाभावात् कथं प्रक्रियागतानामन्येषां साधारणीकरण-हृदयसंवाद-तन्मयीभवनादीनां तत्त्वानां तत्रोपस्थितिः स्यात्। एवं स्थिते मुनेर्वाल्मीकेः कथं करुणरसप्रतीतिः स्वीकर्तुं शक्यते इति।

(८) अस्याक्षेपस्य समाधानं यदि भवितुं शक्नोति तर्हि:—

(४) केचिदाचार्या एवं मन्यन्ते यद् रसास्वादः सामाजिकस्यैव भवितुमर्हति, न कवेरिति। कविर्हि काव्यशब्दार्थचिन्तनपरः। अतः सर्वदैव दुःखमग्नः। "कविरेव हि जानाति कवेः काव्यपरिश्रमम्" इति न्यायेन रसानुगुणशब्दार्थान्वेषणपरस्य कवेः कथं रसास्वादो भवितुमर्हति। भवेत्तस्य रसास्वादो भावकत्वलक्षणद्वितीयावस्थायाम्। परं तु तस्यामवस्थायां स सहृदय एवेति रसः सहृदयस्यैव। "भूतपूर्वकस्तदुपचारः" इति न्यायात् कवेरुपचर्यते रसः। एवं काव्यनिर्माणदशायां काव्यशब्दार्थान्वेषणदुःखमग्नस्य निर्माणानन्तरं स्वनिर्मितं काव्यं सहृदयरूपेण शृण्वतः कवेः कदापि रसास्वादो न भवितुमर्हतीत्ययं पक्षः माणिक्यचन्द्रादिभिरङ्गीकृतः।

काव्यप्रकाशः माणिक्यचन्द्रकृतसंकेतसहितः--पृ० ५ (आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः—ग्रन्थाङ्कः८९)।

(५) परंत्वाचार्याभिनवगुप्तकृतलोचनाभिनवभारत्यादिग्रन्थेष्वन्यादृशानि कानिचिद् वाक्यानि समुपलभ्यन्ते यान्यस्माकमत्यन्तं विचारार्हाणि प्रतिभान्ति। "नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः" इति (ध्वन्यालोकः लोचनसहितः—पृ० ९२, काशी संस्कृत-सीरीज १३५) भट्टतौतवचनमनुवदद्भिः स्वयं च "कविगतो रसः" (अभिनवभारती—१, पृ० २९५, गैकवाड ओरियन्टल सीरीज, XXXVI) इति, "कविर्हि सामाजिकतुल्य एव" इति च (अभिनवभारती, १, पृ० २९५, गैकवाड ओरियन्टल सीरीज XXXVI) वदद्भिरभिनवगुप्ताचार्यैः कवित्वसहृदयत्वयोर्भेदं "सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते" (ध्वन्यालोकलोचनं, पृ० १, काशी-संस्कृत-सीरीज, १३५) इत्यत्रान्यत्र चाभ्युपगच्छद्भिरपि स्पष्टमेव कवेरपि रसास्वादः स्वीक्रियते। काव्यस्य रस एव सारभूतोऽर्थः, आदिकवेर्वाल्मीके:--

"क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः"
(ध्वन्यालोकः, पृ० ८५, का-सं-सी, १३५)

इति वदद्भिरानन्दवर्धनाचार्यैरपीदमेव तत्त्वमङ्गीकृतं प्रतिभाति। आनन्दवर्धनाचार्यैर्या रामायणकथा परामृष्टा सावश्यं स्मर्यत एव विद्वद्भिः। निषादेन निपातितं क्रौञ्चं दृष्ट्वा ऋषेर्वाल्मीकेः कारुण्यं समपद्यत। रुदतीं क्रौञ्चीं निशाम्य :—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
तत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।"
(वा० रा, बालकाण्डः, सर्ग २, श्लोक, १५)

इति श्लोकं व्याजहार। आदिकवेः शोकस्य श्लोकत्वेन परिणतिर्वाल्मीकिरामायण एव वर्णिता दृश्यते। यथा—

"समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो मनीषिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥"
(वा० रा०, बालकांण्ड, सर्ग २ श्लो० ४०)

इति। "शोकः श्लोकत्वमागतः" इत्यस्य स्थाने "श्लोकः श्लोकत्वमागतः" इत्यस्ति प्राचीनः पाठः॥ यस्यैवं व्याख्या कृता गोविन्दराजेन—"स श्लोकः अनुव्याहरणात् शिष्यैः पुनः पुनः व्यवह्रियमाणत्वात्

भूयः श्लोकत्वमागतः। पूर्वं श्लोकलक्षणलक्षितत्वात् श्लोकत्वं गतः । संप्रति श्लोक्यमानत्वात् पुनः श्लोकत्वं गत इत्यर्थः" इति। परं तु "शोकः श्लोकत्वामागतः" इत्येव प्रशस्तः पाठः, अतीव प्राचीनश्च। यत :—

"निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः।
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥" (रघुवंशः, १४, श्लोक, ७०)

इत्यस्मिन् रघुवंशश्लोकेऽनूदितोऽयं पाठो महाकविना कालिदासेन। प्रकृतस्य रामायणश्लोकस्य तिलकव्याख्यानेऽयमर्थः क्रियते। "अनु अतिशयितशोकोत्पत्त्यनन्तरं व्याहरणात् भूयःशोकः विपुलः शोक एव श्लोकत्वं प्राप्त इति वयं मन्यामहे" इति। सहृदयचक्रवर्तिभिरानन्दवर्धनाचार्यैः स्वकीये ध्वन्यालोके अभिनवगुप्ताचार्यैश्च स्वकीये लोचने कथामिमामवलम्ब्य कविगतरसविषये यदुक्तं तत् स्वल्पमपि मननार्हमस्माकं सर्वेषाम्। तेषामुक्तेरयमेव सारांशः यन्मुनिना वाल्मीकिना निषादनिहतसहचरविरहकातरक्रौञ्च्याक्रन्दनं श्रुत्वा करुणरसोऽनुभूतः। यश्च "मा निषादेति" श्लोक उदीरित स तस्यैव करुणरसस्य समुञ्च्चलनरूप इति।

(६) अत्र बहवः प्रश्नाः समुल्लसन्ति। सामाजिकदृष्ट्या रसनिरूपणे प्रवृत्तैराचार्यैर्या रसप्रक्रियोक्ता तत्र कानिचित् तत्त्वानि महतीं प्रसिद्धिं गतानि। तद्यथा—अलौकिक-प्रसन्न-मधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणत्वात् प्रमदोद्यानकटाक्षादीनां लौकिककारणत्वादिपरिहारः। विभावनाऽनुभावना-समुपरञ्जकत्वरूपैर्व्यापारैस्तेषां विभावादिशब्दव्यपदेश्यत्वम्। एतेषां विभावदीनां न ताटस्थ्येन प्रतीतिः, परंतु प्रमातुः हृदयसंवादात् पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेन तन्मयीभवनोचितचर्वणाप्राणतया। ततः सामाजिकधियि सम्यग् योगस्य संबन्धस्यैकाग्र्यस्यासादनम्। वासनात्मतया स्थितस्य समुद्बोधनं तस्य च रसनात्मवीनविघ्नप्रतीत्या ग्रहणम्। एतन्मुख्यतत्त्वकृतमेव रसस्य रसत्वम्। यस्यां प्रतीतावेतानि तत्त्वानि नोपलभ्यन्ते तस्याः प्रतीतेः सामाजिकदृष्ट्या रसप्रतीतित्वं न स्वीक्रियते शास्त्रकारैः।

(७) अधुनास्माभिरिदं विचारणीयम्—क्रौञ्चवृत्तान्तदर्शनेन मुनेर्वाल्मीकेर्योऽनुभवः संजातः तस्मिन्नेतानि तत्त्वानि समुपलभ्यन्ते न वेति। तत्रापाततः विचारे क्रियमाणे केषांचित्तत्त्वानां तत्राभाव एव प्रतीयते इति केचित्। तेषामयमाशयः। प्रथमतस्तावन्मुनेर्वाल्मीकेर्योऽनुभवः संजातः स न काव्यपठनाद्वा नाट्यदर्शनाद्वा संजातः। अतो निहतस्य क्रौंचस्य कथमलौकिकालम्बनविभावत्वम्। तस्य लौकिककारणत्वमेव भवितुमर्हति। एवं क्रौच्याक्रन्दनस्य तिलकव्याख्योक्तदिशा कथमुद्दीपनविभावत्वम्। "अत्र नष्टक्रौञ्चालम्बनकः क्रौचीविरावानुदीपितः निषादविषयक्रोधव्यभिचारिकः "मा निषादेति वाक्यानुभावकः करुणो रस इति बोध्यम्" इति ह्यत्र तिलकव्याख्यानम्। क्रौञ्च्याक्रन्दनस्य लौकिकसहकारित्वमेवोचितम्। "न हि लोके विभावानुभावादयः केचन सन्ति। हेतुकार्यावस्थामात्रत्वाल्लोके तेषामिति वचनमभिनवभारतीस्थं तत्र प्रमाणम्। (अभिनवभारती, १, पृ९, गैक० ओ० सी० ३६) एवं विभावादीनामेवाभावात् कथं प्रक्रियागतानामन्येषां साधारणीकरण-हृदयसंवाद-तन्मयीभवनादीनां तत्त्वानां तत्रोपस्थितिः स्यात्। एवं स्थिते मुनेर्वाल्मीकेः कथं करुणरसप्रतीतिः स्वीकर्तुं शक्यते इति।

(८) अस्याक्षेपस्य समाधानं यदि भवितुं शक्नोति तर्हि :—

"काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।
(ध्वन्यालोकः—पृ० ८४, का० सं० सी० १३५)

इति कारिकास्थां वृत्तिं तद्गतं लोचनं च पर्यालोच्यैव भवितुं शक्नोति। तत्र यदुक्तं तदतीव स्वल्पम्। न तत्र ग्रन्थकारैः सर्वेषां सन्देहानां कण्ठत एव समाधानमुक्तं यन्नोक्तं तदस्माभिरूहनीयम्।

(९) कारिकावृत्तिलोचनगतानां संदर्भाणामिदमेव मुख्यमुद्देश्यं यद्रसस्य काव्यात्मत्वप्रदर्शनम्। तच्चेतिहासव्याजेन क्रियते। अत एव रसस्य काव्यात्मत्वं यत् कविनानुभूतो रस एव काव्यरूपेण परिणमति। यं रसमनुभवता कविना काव्यं कृतं स एव रसः काव्यं शृण्वता नाट्यं पश्यता च सामाजिकेनानुभूयते। मा निषादेति श्लोको मुनिनानुभूतस्य रसस्यैव निःष्यन्दरूपः। मुनिना च रसास्वाद इत्थं कृतः। प्रथमं तावद् ध्वस्तसाहचर्यक्रौञ्चरूपस्य विभावस्य आक्रन्दनाद्यनुभावस्य च चर्वणा भवति। तदनन्तरं हृदयसंवादः ततस्तन्मयीभावलाभः तदुत्तरमास्वादः। ततः करुणरसताप्राप्तिः। ततः रसपरिपूर्णकुंभोच्चलनन्यायेन अकृतकतया आवेशवशात् समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपताप्राप्तिः। एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात् स एव काव्यस्यात्मा सारभूतः। अनया प्रक्रिययेदं सिद्धयति यत् कविरससमुच्चलनस्वभावमेव काव्यमिति।

(१०) यस्माल्लोचनगताद्वचनादियं प्रक्रियास्माभिरवगम्यते तदिदम्—
"क्रौञ्चस्य द्वंद्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसनेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद् विप्रलंभशृङ्गारोचितस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमाद् आस्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नः रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवत् चित्तवृत्तिनिःष्यन्दरूपवाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतया आवेशवशात् समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः मा निषादेति।" (ध्वन्यालोकलोचनम् पृ० ८५–६, का० सं० सी० १३५)

(११) अस्मिन् कविरसप्रक्रियावर्णने त एव हृदयसंवाद—तन्मयीभवन-विभावानुभावचर्वणा-चित्तद्रुति-इत्यादयः शब्दाः प्रयुक्ता ये सामाजिकदृष्ट्या रसप्रक्रियावर्णनेऽपि समुपलभ्यन्ते। शब्दसाम्यं च प्रक्रियासाम्यं द्योतयतीति निर्विवादमेतत्। अत्र हृदयसंवादशब्दस्य प्रयोगो विशेषतः कुतूहलं नो जनयति। यतः इदं तत्त्वं तत्र तत्र सहृदयस्य प्राणत्वेन वर्णितमुपलभ्यते। "हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वम्" इति लोचने........"हृदयसंवादात्मकसहृदयत्व" मिति अभिनवभारत्यां (अभिनवभारती १, पृ० २८६) "हृदयसंवादभाजः सहृदयाः" इति सहृदयलक्षणे च वर्णयद्भिरभिनवगुप्ताचार्यैः हृदयसंवाद-सहृदयत्वयोर्घनिष्ठः संबन्धः प्रतिपादितः। इदमेव तत्त्वं कविरसप्रक्रियायामपि सन्निवेशितम्।

(१२) को नाम हृदयसंवादः। यद्यपि शब्दोऽयं बहुत्र प्रयुज्यतेऽभिनवगुप्तपादैः। यद्यपि प्रकरणपर्यालोचनयास्यार्थः कथमप्यवगम्यते तथापि तस्य तैः कृतं लक्षणमस्माभिः कुत्रापि नोपलब्धम्। परं त्वन्यैरभिनवगुप्ताचार्यसंस्थापितसंप्रदायविद्भिः काश्मीरकैरालंकारिकैरस्य लक्षणं कृतं दृश्यते। अलंकार-

सर्वस्वविमर्शिनीकारेण जयरथेन कृतं लक्षणमिदम्—"परकीयायाश्चित्तवृत्तेरात्मीयचित्तवृत्त्यभेदेन परामर्शो हृदयसंवादः। तस्य च स्वपरविभागाभावाद्देशकालाभावाच्च व्यापकत्वेन प्रतीतेः साधारण्यम्। अत एव परमाद्वैतज्ञानतुल्यत्वम्। तस्य ह्यहमित्येव परामर्शः। तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्यासंभवात्।" (अलंकारसर्वस्वम्, पृ० २२६, काव्यमाला ३५) परकीयायाश्चित्तवृत्तेरात्मीयचित्तवृत्त्या वास्तविकस्याभेदस्यासंभवादभेदेन परामर्श इत्यस्य कोऽर्थः। तच्चित्तवृत्तिभावनया तत्सजातीयस्वीयचित्तवृत्त्युद्बोधनमेव तद्भवितुमर्हति। अयं चित्तवृत्तिसंवादो हृदयसंवादस्यैकः प्रकारः। अस्यैवापरः प्रकारो वस्तुसंवादो यः स्वभावोक्त्यलंकारे प्रतीयते सहृदयैः। अत एवोक्तं जयरथेन—"हृदयसंवादो हि वस्तुचित्तवृत्तिगतत्वेन द्विविधः। तत्र स्वभावोक्तौ वस्तुसंवादः प्रदर्शितः" इति। (अलंकारसर्वस्वम्, पृ० २२७, काव्यमाला ३५)। यदिदमपरं तत्त्वं तन्मयीभवनं नाम तदपि चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेवेति हृदयसंवादादस्य भेदः स्फुटं न प्रतीयते। वर्णनीयतन्मयीभवनमेव तन्मयीभवनं नाम। वर्णनीयं च वस्तूनि चित्तवृत्तयो वेति जयरथोक्तवस्तुसंवाद-चित्तवृत्तिसंवादाभ्यां भिन्नं किमिदं तन्मयीभवनमिति विचारार्हम्।

(१३) क्रौञ्चवृत्तान्तदर्शनेन वाल्मीकेर्लौकिकः शोको न संजातः। परं तु लौकिकशोकव्यतिरिक्ता करुणरसरूपता संजाता। लौकिको हि शोकः स्नानभोजनादिकर्मस्वपि पुरुषस्य व्यापारं स्तभ्नाति, किं पुनः विश्रान्तिसव्यपेक्षे काव्यनिर्माणरूपे कर्मणि। अतः आदिकवेर्योऽयं क्रौञ्चवृत्तान्तदर्शनेन हृदयसंवादः संजातः स तस्य मुनित्वकृतो योगित्वकृत इत्येवास्माभिरूहनीयम्। आदिकवेर्योगित्वं रामायण एव वर्णितं दृश्यते। योगदृष्ट्यैव कविना स्वकृतेः रामायणस्येतिवृत्तमवगतं न पूर्वग्रन्थपरिशीलनेन। तत्र श्रूयतामयं रामायणसंदर्भः :—

उपस्पृश्योदकं सम्यङ् मुनिः स्थित्वा कृताञ्जलिः।
प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेणान्वेषते गतिम्॥
ततः पश्यति धर्मात्मा तत्सर्वं योगमास्थितः।
पुरा यत्तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा॥
(वा० रा०, बालकाण्ड; ३, श्लो० २–३)

एवं योगदृष्ट्या पुरा यत्तत्र निर्वृत्तं न केवलं तद्दृष्टं तत्तद्दृष्टविषयोचितरसोऽप्यनुभूतो यो रामायणकाव्यरूपेण परिणतिं गतः।

(१४) अत्र समुल्लसत्ययं संदेहः। भवत्वियं दशादिकवेर्योगिनो वाल्मीकेः। परं तु न सर्वे कवयो योगिनो भवन्ति। शास्त्रे या त्रिविधा कविप्रतिभा वर्णिता दृश्यते जन्मान्तरसंस्कारसिद्धा, अस्मिन् जन्मन्यभ्याससिद्धा मन्त्रतन्त्राद्युपदेशसिद्धा चेति सा त्रिविधाप्ययोगिनोऽपि भवितुं शक्नोति। कालिदासादीनां महाकवीनामपि योगित्वं न श्रूयते। तेषां काव्यानि रसमयानीत्यनुभवसिद्धमिदं सर्वेषाम्।

(१५) *लौकिकवृत्तान्तसाक्षात्कारसमय एव आदिकवेर्वाल्मीकेरिवान्येषामपि कवीनां हृदयसंवादो* मा भवतु। आदिकविर्हि लौकिककामक्रोधादिरहित इति तस्य सर्वदा अर्थात् लौकिकवृत्तान्तानां चर्मचक्षुषा साक्षात्कारदशायामथवातीतानागतानामर्थानां *योगिप्रत्यक्षेण* साक्षात्कारदशायां हृदयसंवादादिक्रमेण रसमास्वादयेत्। इतरेषां तु कवीनां स्वकीयं कवित्वं विहायान्यविषयेषु इतरमनुष्यतुल्यत्वात् लौकिकवृत्तान्तप्रत्यक्षीकरणावसरे इतरमनुष्याणामिवैव भवत्यनुभवः। परं तु तेषामपि तदा तदा स्वकीयकवित्व-

कुतोऽन्यादृशः कश्चिदनुभवोऽपि भवेत्। यस्मिन् पूर्वानुभवाहितानां संस्काराणां कयाचिदलौकिकया रीत्या भवेत् समुद्बोधनम्। इयमेव स्यात्तेषां कवित्वदशा। यतोऽस्यां दशायां पूर्वाहितसंस्काराणां स्वकीयकवित्वकृतमालौकिकया रीत्या भवति समुद्बोधनं तत एव तत्र हृदयसंवादादिक्रमेण भवेद्रसप्रतीतिः। रसप्रतीतिप्रेरितेनैव कविना क्रियते काव्यनिर्माणम्।

(१६) यत् कैश्चिद् विमर्शकैरुच्यते—कविना पूर्वं रसोऽनुभूयते, पश्चात्तस्य रसस्याभिव्यंजनार्थं पाठकसामाजिकादिहृदयेष्वपि रसप्रतीतिमाधातुं रसानुगुणशब्दार्थगुम्फनं क्रियते इति, तन्नावर्जयति नो हृदयम्। किं काव्यनिर्माणसमये कवेर्भवति रसप्रतीतिः। आहोस्वित् पूर्वमनुभूतं रसं स्मृत्वा तत्प्रकाशकं काव्यं निर्मीयते कविना इति पक्षयोर्मध्ये प्रथम एव पक्षः समीचीनः प्रतिभात्यस्माकम्। यथा सामाजिकानां रसप्रतीतिः विभावादिजीवितावधिः, अत एव विभावादिप्रतीतिसंवलिता पानकरसन्यायेन भवति सामाजिकानां रसप्रतीतिरिति प्रोद्घोष्यते शास्त्रे तथा कवेरपि रसप्रतीतावेतादृशी काचित् प्रक्रिया स्वीकर्तव्यास्माभिः। कामं सामाजिकेन शब्दार्थनिर्माणं न क्रियते। परंतु तस्य भवति कविसमर्पितयोः शब्दार्थयोः प्रतीतिः तत्प्रतीत्यधीना च तस्य रसप्रतीतिः। कविस्तु रसमनुभवन्नेव शब्दार्थगुम्फनं करोति। यदयं काव्यं करोति तेनास्माभिरनुमीयते—अयमनुभवति रसमिति। यथा यथा कविः स्वप्रतिभया समुचितगुणालङ्कारसुन्दरशब्दार्थगुंफनं करोति तथा तथा तस्य रसप्रतीतिः परिपूर्णा भवति। अतः सामाजिकस्येव कवेरपि रसप्रतीतिर्विभावादिप्रकाशकशब्दार्थप्रतीतिसंवलितैव भवितुमर्हति।

(१७) तेन यदुक्तं शब्दार्थान्वेषणदुःखमग्नस्य कथं रसास्वाद इति तन्न रमणीयम्। प्रतिभावतः रससमाहितचेतसः कवेर्न भवति शब्दार्थान्वेषणदुःखम्। अत एवोक्तमानन्दवर्धनाचार्यैः "अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परापतन्तीति। (ध्वन्यालोकः, पृ० २२१–२२२, का०मं० सी० १३५) यत्र शब्दा अर्थाश्चाहंपूर्विकया परापतन्ति तत्र को दुःखावकाशः।

अतः कविविषये यदस्माभिः स्वल्पं किंचिदुक्तं तेनादावस्माभिः कविसामाजिकगतयो रसयोः कः संबन्धः इति प्रश्नस्यांशतो भवति समाधानम्। कवेरारभ्य सामाजिकपर्यन्तं सन्ति चत्वारो घट्टाः। कवेः रसः प्रथमो घट्टः काव्यनिर्माणं द्वितीयो घट्टः। नटादिव्यापारस्तृतीयो घट्टः। सामाजिकस्य रसश्चतुर्थो घट्टः। इदं सर्वं मनसि निधायैवोक्तमाचार्याभिनवगुप्तपादैर्यत् कवेः रसो बीजस्थानीयः। काव्यं वृक्षस्थानीयम्। अभिनयादिव्यापारः पुष्पस्थानीयः। सामाजिकरसः फलस्थानीय इति। (अभिनवभारती, १, पृ० २९५)। शुभमस्तु।

सीता-विवाह-कालनिर्णयः

रामाज्ञापाण्डेयः

सीताविवाहः कस्मिन् मासे कस्यां तिथौ कस्मिन् नक्षत्रेऽभूदित्यत्र वर्तते महान् विवादः। साम्प्रतं धनुर्यज्ञमहोत्सवो बहुत्र स्थलेषु मार्गशीर्षमासे क्रियते, तस्यैव मासस्य शुक्लपञ्चम्यां सीता-विवाहोत्सवः।

एतच्च ज्योतिर्विदामपि मतेन विरुध्यते, तन्मते पूर्वे फल्गुन्यौ सीताया विवाहर्क्षम्। मार्गशीर्ष-शुक्लपञ्चम्यां तु फल्गुनीनक्षत्रमापतत्येव न हि। 'प्राचेतसः प्राह शुभं भगर्क्षं सीता तदूढा न सुखं सिषेवे। पुष्यस्तु पुष्यत्यतिकाममेव प्रजापतेराप स शापमस्मात्''' (विवाहवृन्दावने) इति विवाहवृन्दा-वनकर्तुः केशवस्योक्तया भगर्क्षं सीताविवाहर्क्षमायाति। भगो हि पूर्वयोः फल्गुन्योर्देवता ज्योतिर्विदां मतेन। यथाह नारदः (ना० स० ६ ष्ठे ध्याये श्लो० १,२) नक्षत्रेशाः क्रमाद् दस्रयमवह्निपितामहाः। चन्द्रेशादिति-जीवाहिपितरो भगसंज्ञिताः ॥ १ ॥ अर्यमार्कस्त्वाष्ट्रमरुच्छक्राग्नी मित्रवासवाः। निर्ऋत्युदकविश्वेऽजो गोविन्दो वसवोऽम्बुपः॥ २ ॥ ततोऽजपादहिर्बुध्न्यः पूषा चेति प्रकीर्तिताः।' इति

वाल्मीकीयरामायणे निर्णयसागरमुद्रिते तु अयं पाठो दृश्यते :—''मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीय-दिवसे प्रभो। फल्गुन्यामुत्तरे राजँस्तस्मिन् वैवाहिकं कुरु ॥'' इति।

अत्र तिलककारः :—अद्य तृतीयदिवसे तव मिथिलाप्रवेशात् तृतीयदिवसे, यज्ञसमाप्तेस्तृतीयदिवसे वा। अद्य मघा नक्षत्रम् फल्गुन्यां—पूर्वफल्गुनीनक्षत्रे। उत्तरे—श्रेष्ठे। अतो भगो यत्र प्रजापतिरित्यनेन अविरोधः। भगो हि पूर्वफल्गुनीदेवः। उत्तरफल्गुन्योस्त्वर्यमेति बोध्यम्। वैवाहिकम्—विवाहम्। विनयादि-त्वात् ठक्।

मघा नक्षत्रं पितरो देवता, फल्गुनीनक्षत्रमर्यमा देवता, फल्गुनीनक्षत्रं भगो देवतेति तैत्तिरीय-संहितायाम्। 'अर्यम्णः पूर्वे फल्गुन्यौ भगस्योत्तरे' इति तद्ब्राह्मणे चोक्तत्वेन यथाश्रुतमेव सम्यगिति तत्त्वम्। उत्तरे इति पुंस्त्वमार्षम्। यद्यपि उत्तरे फल्गुन्यौ सीताया जन्मर्क्षम्, तथापि तदृक्षे भकूटशुद्धौ तत्र प्रथमचरणं विहाय तज्जन्मसत्त्वेन तस्याः कन्याराशित्वात् तृतीयैकादशरूपभकूटशुद्धेः तस्या न दोषः। भकूटशुद्धौ तत्र दुष्टमिति ज्योतिःशास्त्रे प्रसिद्धम्।

किञ्च पूर्वासु तस्या द्वादशश्चन्द्र इति तत्र विवाहोऽनुचित एव। एकनाडीदोषेण च रामसीतयोर्वियोग इति ध्येयम्। (रा० आ० सर्ग ६६ श्लोक १४ टीकायाम्)।

किञ्च पाद्मेऽपि 'अथ लोकेश्वरी लक्ष्मीर्जनकस्य पुरे स्वतः। शुभक्षेत्रे हलोत्खाते तारे चोत्तरफाल्गुने॥ अयोनिजा पद्मकरा बालार्कशतसन्निभा॥ सीतामुखे समुत्पन्ना बालभावेन सुन्दरी॥ सीतामुखोद्भवात् सीता इत्यस्यै नाम चाकरोत्। ततोऽभूदौरसी तस्य ऊर्मिला नाम कन्यके' त्यनेनापि उत्तरे फल्गुन्यावेव तस्या जन्मर्क्षमायाति।

यत्तु 'तृतीयदिवसे' इत्यस्य तव मिथिलाप्रवेशात् तृतीयदिवस इत्यर्थ इति तिलककारेणोक्तम्। तत्तु कथंचिद् घटते। परं यत् तेनैव यज्ञसमाप्तेस्तृतीयदिवस इत्युक्तं तत्तु न सम्यक् विश्वामित्रस्य जनकपुरप्रवेशदिने 'यज्ञस्यावभृथं पुण्यं द्रष्टासि सपदानुगः। द्वादशाहं च शेषं मे यज्ञस्याहुर्मनीषिणः॥ (स० ५१ श्लो० १४, १५)।

श्वः प्रभाते महाराज निर्वर्तयितुमर्हसि। यज्ञस्यावभृथे पुण्यमुद्वाहमृषिभिः सह॥ (स० ७१ श्लो० १८) उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुन्योर्भगदेवताः। विवाहेषु प्रशंसन्ति नक्षत्रं वै विपश्चितः॥" (सर्ग ७४, श्लो० १४) इत्याद्युक्तिभिर्यज्ञसमाप्तिदिवसे द्वादशानां दिनानां पूर्त्तेः, यज्ञावभृथस्य च सत्त्वात् तत्रैव विवाहसम्पत्तेर्निश्चितत्वात्। वस्तुतस्तु प्राचीनपुस्तकेषु 'तृतीयदिवसे' इति पाठस्यैवाभावः।

अपि च निर्णयसागरमुद्रितपुस्तके उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुनीभ्यां मनीषिणः। वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः॥ (सर्ग ७२ श्लो० १३) इति पाठो दृश्यते। तत्र टीकायाम्:—उत्तरे दिवसे–द्वितीयदिवसे। प्रजापतिदेवताप्राशस्त्यं च विवाहप्रजोत्पत्तिसाधनयोनिलिङ्गाधिष्ठातृभगदैवत्यत्वेनेति कतकः। इत्युक्तम्। तेन च मिथिलाया आगमनाद् द्वितीयदिवसे प्रातर्मघा, अपराह्ले पूर्वे फल्गुन्यौ, तस्मिन्नेव दिने एकादशवादनादूर्ध्वं ततः प्राग् वा तत ऊर्ध्वं वा उत्तरे फल्गुन्यौ भवितारा इति तत्र विवाहो भवेन्।

एतेन उत्तरे फल्गुन्यावेव सीताविवाहनक्षत्रम्, तदीयं जन्मापि तदैवाभूदिति पाद्मं वचनं टीकायां नागेशभट्टेनोद्धृतम्, तद् युक्तं प्रतिभाति।

यत्तु साम्प्रतम् आनन्दाश्रममुद्रिते पद्मपुराणे उत्तरखण्डे *अथ लोकेश्वरी लक्ष्मीर्जनकस्य निवेशने। शुभक्षेत्रे हलोत्खाते शुनासीरे शुभेक्षणा॥ बालार्ककोटिसंकाशा रक्तोत्पलकराम्बुजा। सर्वलक्षणसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता॥ धृत्वा वक्षसि चार्वङ्गी मालामम्लानपङ्कजाम्। सीतामुखे समुत्पन्ना बालभावेन सुन्दरी॥ तां दृष्ट्वा जनको राजा कन्यां वेदमयीं शुभाम्। उद्धृत्यापत्यभावेन पुपोष मिथिलापतिः॥* (अ० २६९ श्लो० ८९) इत्यत्र शुनाशीरे (ज्येष्ठानक्षत्रे) इति पाठो दृश्यते। तत्तु नागेशभट्टोद्धृतप्राचीनपाठविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव।

वाल्मीकीयरामायणे निर्णयसागरमुद्रितपुस्तके तु यस्मिन् दिने दशरथः समायातस्तस्मिन्नेव दिवसे तयोः समागमः। तस्यां रात्रौ दशरथस्य स्वावासे वासः।

प्रभाते जनकेन मन्त्रिद्वाराऽऽहूतो दशरथः सपुरोहित आगतः। तदा स्ववंशवर्णनं तयोरभूत्। अद्य मघा वर्तन्ते, निलयं गत्वा श्राद्धं गोदानादिकं च कुरु इति जनकः प्रोवाच। दशरथः स्वावासं गत्वा तस्मिन्नेव दिवसे नान्दीश्राद्धं चक्रे।

तृतीयदिवसे प्रभाते उत्थाय गोदानमङ्गलं विदधे। यस्मिन् दिने गोदानं चक्रे तस्मिन्नेवाहनि भरतमातुलो युधाजित् समायातः, तेन सह ते स्वावासे तां रात्रिं न्यवसन्।

पुनः प्रभाते चतुर्थे दिवसे परिवारैः परिवृतो दशरथो जनकस्य यज्ञवाटं समायातः, इति कथा दृश्यते।

गरेसियोमुद्रिते पुस्तके तु यस्मिन् दिवसे जनकपुरे दशरथ आयातस्ततस्तृतीये दिवसे विवाहः सम्पन्नोऽभवत्, इति।

एवं चायमेव भेदो द्वयोः पुस्तकयोर्वर्तते। तत्र च दशरथस्य जनकपुरप्रवेशाच्चतुर्थे दिवसे विवाह-पक्षो रामायणविरुद्धः प्रतिभाति। द्वयोरपि पुस्तकयोर्यज्ञस्यावभृथे विवाहो भविष्यतीत्युक्तेः। यज्ञसमाप्ते-श्च दशरथस्य जनकपुरप्रवेशात् तृतीयेऽह्न्येव निश्चितत्वात्।

तथा च चतुर्थे दिवसे इति पक्षस्य का गतिरिति चेत्, श्रूयताम्। बालकाण्डस्य द्वासप्ततितमे सर्गे एकविंशे श्लोके 'स गत्वा निलयं राजा श्राद्धं कृत्वा विधानतः। प्रभाते कल्यमुत्थाय चक्रे गोदानमुत्त-मम्॥' इत्युत्तरार्धे श्लोके 'पुत्राणां प्रियपुत्रः स चक्रे गोदानमुत्तमम्' इति पाठस्यैव सांप्रदायिकत्वात्, तत्पक्षस्यैव गर्भस्रावात् पूर्वोक्तयुक्तिभिश्च तस्य बाधितत्वात्।

इदानीं सीताविवाहकालविषयकलेखस्य मूलभित्तिः प्रस्तूयतेः—

तथाहि अपराह्णकालेऽयोध्यातः प्रस्थानं सराघवस्य विश्वामित्रस्येति रामायणे दृश्यते। विश्वा-मित्रश्च दशरात्रेण मे यज्ञसमाप्तिर्भवितेति दशरथं प्रोवाच। एवं चायोध्यायाः प्रस्थाय अध्यर्धयोजनं गत्वा सरयूतटे रात्रौ निवासः। तदा च वैशाखशुक्लत्रयोदशीतिथिर्हस्तनक्षत्रं चित्रा वा भवेत्। पुनः प्रातर्द्वितीयदिवसे चतुर्दश्यां गङ्गासरयूसंगमे वासः। पुनः प्रातस्तृतीयदिवसे पूर्णिमायां गङ्गामुत्तीर्य गङ्गा-दक्षिणतटे ताटकावने वासः। पुनः प्रातश्चतुर्थदिवसे ज्यैष्ठकृष्णप्रतिपदि सिद्धाश्रमप्रवेशः, मुनेर्दीक्षाग्रहणं च। पञ्चमे दिवसे ज्यैष्ठकृष्णद्वितीयायां यज्ञारम्भः। षड्भिरहोरात्रैर्यज्ञसमाप्तिः। दशमे दिवसे ज्यैष्ठ-मासस्य कृष्णसप्तम्यां यज्ञसमाप्त्यवसरे समायातानां रक्षसां वधः। अष्टम्यामेकादशे दिवसे मिथिला-प्रयाणम् शोणतटे वासः, रात्रौ कथां कथयतो विश्वामित्रस्य अर्धरात्रे शीतांशोरुदयः। इदमेव मूलं तत्तत्कार्यतिथिनिर्णये। द्वादशे दिवसे नवम्यां गङ्गादक्षिणतटे स्थितिः। त्रयोदशे दिवसे दशम्यां गङ्गाया उत्तरे तटे विशालां पुरीं ते ददृशुः। तत्रत्यान् ऋषींश्च सम्पूज्य विशालां तेऽगच्छन्। यां हि तटस्थिता एव तेऽपश्यन्। रात्रौ तत्रत्येन नरपतिना प्रमतिना सत्कृतास्तत्रैव ते न्यवसन्। चतुर्दशे दिवसे एकादश्यां गौतमाश्रमप्रवेशः, अहल्यायाः शापान्मुक्तिः,। तथा गौतमेन च सत्कृतो रामः प्रागुत्तरां दिशं गत्वाऽनु-सृतविश्वामित्रो यज्ञवाटं जनकस्य प्राविशत्। तत्र राज्ञा जनकेन सत्कृतः कौशिको 'द्वादशाहेन' यज्ञसमा-प्तिर्भवितेति जनकेनोक्ते श्वः प्रातर्भवन्तं द्रष्टास्मीति च प्रार्थितस्तां रात्रिं तत्रैवोवास। पञ्चदशे दिवसे

द्वादश्यां जनको विश्वामित्रोपदिष्टो रामं धनुरानाय्यादर्शयत्। श्रीरामचन्द्रो धनुरातोल्यारोपयन्मध्ये बभञ्ज। तस्मिन्नेव दिने विश्वामित्रमापृच्छ्य अयोध्यातो दशरथमानेतुं दूतान् प्राहिणोत्। ते च दूता मार्गे त्रिरात्रं स्थिता अष्टादशे दिवसेऽमावस्यायां पुरीमयोध्यां प्राविशन्, राज्ञा दशरथेन सत्कृतास्ते रात्रौ तत्रैव न्यवात्सुः।

एकोनविंशे दिवसे ज्यैष्ठे शुक्ले प्रतिपदि सभृत्यबलवाहनो राजा दशरथो जनकस्य पुरीं प्रतस्थे। चतुर्भिरहोरात्रैस्त्रयोविंशे दिवसे पञ्चम्यां स जनकान्तिकमाजगाम। तदा जनकोम नोवाक्कायकर्मभिर्दशरथं सत्कृत्य 'श्वः प्रभाते महाराज निर्वर्तयितुमर्हसि। यज्ञस्यावभृथे पुण्यमुद्वाहमृषिभिः सह' इत्युक्त्वा स्वावासं गन्तुमनुमेने। प्रभाते चतुर्विंशे दिवसे षष्ठ्यां सुदामानं मन्त्रिवर्यं दशरथं यज्ञवाटमानेतुं प्रैषयत्।

(अथ जनकः कन्यापितृत्वाद् जामातृवर्गे प्रभुताया अनौचित्येन स्ववंशं स्वयमेवाहेति टीका)

नरानां दशरथं सत्कृत्य वशिष्ठद्वारा कृतवंशवर्णनं स्वयंकृतगोत्रोच्चारो जनकः 'अद्य मघा वर्तन्ते, श्वः उत्तरयोः फल्गुन्योर्विवाहो भविता। अद्यैव गत्वा नान्दीश्राद्धं गोदानादिकं च कुरु' इत्याद्युक्त्वा व्यसर्जयत्। तस्मिन्नेव श्राद्धदिवसे भरतमातुलो युधाजित् समायातः। सर्वे च रात्रौ स्वालये न्यवसन्। प्रभाते पुनरुत्थाय यज्ञवाटमायाताः। विवाहश्च पञ्चविंशे दिवसे सप्तम्याम् उत्तरयोः फल्गुन्योः सम्पन्नोऽभवत्। तिथिवृद्धिक्षयभेदेन अष्टमीतिथिर्भवतुमर्हति। एतावानर्थोऽपेक्ष्यते विवाहमासतिथ्यादिनिर्णये।

अत्र किञ्चिद् विचार्यते :—यद्यपि पूर्वं जनकेन 'श्वः प्रभाते यज्ञस्यावभृथे पुण्यमुद्वाहं निर्वर्तयितु-मर्हसि' इत्युक्तम्। विवाहश्च नहि श्वोऽभवत् किन्तु परश्वः। यज्ञस्यावभृथोऽपि गणनया परश्व एवायाति। यतो हि त्रयोदश्यामयोध्यायाः प्रस्थितस्य विश्वामित्रस्य द्वादश्यां पञ्चदशे दिवसे जनकेन समागमः। तदैव जनकेन 'द्वादश दिनानि यज्ञसमाप्ताववशिष्टानीत्युक्ते पञ्चविंशे एव दिवसे यज्ञस्यावभृथ अयाति। तथा च 'श्वः' इति जनकोक्तिः कथं संघटते? इति चेच्छ्रूयताम्। 'श्व' इत्यस्यागामिनि दिवस इत्येवार्थः, अन्यथा यज्ञसमाप्तिः, उत्तरयोः फल्गुन्योः स्थितिश्च कथं संघटेताम्, परश्वोऽपि श्वस्त्वव्यवहारे बाधाभावात्।

अस्मिल्लेँखे राजगृहसमीपे सराघवः सर्षिगणः शकटीशतपरिवृतो विश्वामित्रः शोणनदमुदतरत्। इति प्राक् प्रदर्शितम्। स शोणमुत्तीर्य दिवसं चलित्वा गङ्गाया दक्षिणं कूलं प्राप। तथा च राजगृहात् क्षामात् क्षामं पञ्चाशत्क्रोशात्मक एव मार्गे पूर्वस्यां दिशि तयोः संगम आसीत् तदानीम्, यदा हि रामायणीयम् आदिकाण्डं निर्मितमभूत्।

शोणनदस्य पश्चिमायां दिशि गमनशक्तिश्च प्रतिशताब्दीत्रयं क्रोशात्मिका स्थिरीक्रियते।। यतो हि पतञ्जलिसमये पाटलिपुत्रं शोणस्य दक्षिणतट आसीत्। इदानीं स एव शोणः षट् क्रोशान् दूरं पश्चिमायां दिशि वर्तते। तथा च दशसहस्राब्दीतोऽधिक एव समयोऽपेक्ष्यते शोणस्य पश्चिमायां दिशि गमने रामायणकालात् पतञ्जलिकालं यावत्।

भगवतो बुद्धस्य समये पाटलिपुत्रमनुगङ्गमासीद् इति हि निर्णीतमितिहासाभिज्ञैः। एवं सति तयोः संगमो नातिदूरे मार्गे आसीत् तदानीम्।

तदानीमयोध्या नगरी अष्टचत्वारिंशतः क्रोशान् दीर्घा द्वादशक्रोशान् विस्तृताऽऽसीत्। अयोध्यातः प्रस्थितः सराघवो विश्वामित्रोऽध्यर्धयोजनं गत्वा सरयूतटमध्युवास। ततः प्रभाते प्रस्थित एकेनाह्ना गङ्गासरयूसंगमं प्रापत्। तथाचैकेनाह्ना तयोर्गतिः त्रिंशतः क्रोशेभ्यो न्यूना न भवतीत्यनुमीयते। एवमेव गङ्गाशोणयोर्मध्यस्थो भागस्तदानीन्तनस्तावानेव स्वीकर्तव्यः एतत्प्रामाण्येनैव गङ्गाशोणसंगमस्थानं निर्णेयम्। मया चैतन्निर्णये स एव पन्था अवलम्बितः।

अत्र केचन कथयन्ति यत् रामायणीया कथा तु अत्यन्तं प्राचीना वर्तते, भवेन्नाम रामकथासमयो विंशतिसहस्राब्दीतोऽप्यतिदूरं पूर्वः। ग्रन्थस्तु ईसामसीतः पूर्वं पञ्चमशताब्द्यामेव ग्रथित इति।

अत्रोच्यते, भगवन्, इयमुक्तिः सारशून्या वर्तते। यतो हि कथामूलमत्यन्तं प्राचीनं भवतु। परं कोऽपि ग्रन्थकारो यदा ग्रन्थं निर्माति तदा भौगोलिकीं स्थितिं तु आत्मकालिकीमेव समक्षं रक्षति, तर्हि सैव सरणी रामायणनिर्माणसमयेऽप्यवलम्बितैवेत्यत्र नास्ति काचिद् विप्रतिपत्तिः।

अत्र हि मया भौगोलिकीं स्थितिं पुरस्तादुपस्थाप्य रामायणनिर्माणसमयो निर्णीयते। यदि भूगर्भतत्त्व-वेत्तारो भूमिष्ठान् पदार्थान् परीक्ष्य शोणनदस्थितिं निर्णेष्यन्ति तदा मदीयं मतं खण्डितं मण्डितं वा भवेन्नाम, परमद्य यावत्तु बाह्यभूभागं दृष्ट्वा मया यो ह्यर्थः समुपस्थाप्यते स तु तावन्मन्तव्य एव गवेषकप्रवरैः।

स्वर्गीयडाक्टर्वेनिसमहोदयानां जीवनकाल एवायं लेखो लेखयित्वा आङ्ग्लभाषायां डाक्टरदेवदत्त-भाण्डारकरकरकमले समर्पित आसीत् इण्डियन् एन्टिक्वेरीनामके त्रैमासिकपत्रे मुद्रयितुम्। प्रतिजज्ञिरे च ते तथा कर्तुम्, परं कालवशात् लेखोऽन्तर्धानं गतोऽभवत् मुद्रणकथा तु दूरापेता संजाता। परं यावन्तो गवेषिता विषया अत्रोपस्थाप्यन्ते तावन्तस्तत्र नासन्। तं च मदीयं लेखं दृष्ट्वा डाक्टर्वेनिसमहोदया अवोचन् यत् तव कल्पनायां पुष्टं प्रमाणं नास्ति, भवेन्नाम रामायणकथा इतोऽपि प्राचीना, परं, भाषादि-दर्शनेन ग्रन्थस्तु अर्वाचीन एव प्रतिभाति। मया च तेषां पक्षस्तत्समक्षेव क्षपितः पूर्वोक्तयुक्तिजालैः। ते च मदीयोक्तिं निशम्य हसितुमारप्सत। न हि काचन विरुद्धा युक्तिस्तैस्तदोद्भाविता।

बहूनामर्वाग्भाविनामस्माकं प्राचीनग्रन्थानामर्वाग्भावित्वसमर्थनेऽयमेव तीक्ष्णः खड्गः करे कलि-तोऽस्ति यद् अस्य ग्रन्थस्य भाषा प्राचीना नास्तीति। परं ते न जानन्ति नापि ज्ञातुं प्रयतन्ते यद् दृश्य-माने ग्रन्थे किं सर्वाण्येव पद्यानि गद्यानि वा समानरूपाण्येव सन्तीति। योऽपि कश्चन निर्णयसागरमुद्रितं रामायणं पश्येत्, गरेसियोमुद्रितं च पश्येत् स किं प्रभवेत् प्रवक्तुं यद् द्वयोर्भाषा समानकालिकीति। अपि च यदि मदीयषोडशमातृकेतिहाससरणिमवलम्ब्य रामायणस्य प्राचीनतमपाठं स्थिरीकर्तुं कोऽपि प्रय-तेत तर्हि अवश्यमेव निश्चिनुयाद् यत् कियत् प्राचीनं ग्रन्थरत्नमिदमस्तीति। दृश्यमानो वेदः पादव्यवस्थ-या व्यवस्थितो वल्मीकप्रभवमहर्षेः पद्यावलीभ्योऽर्वाचीन एव। किञ्च यदि तेषां समये पादव्यवस्थया व्यवस्थिता ऋग् भवेत् तर्हि किम्प्रयुक्तमाश्चर्यं तेषां भवेत्, 'ततः सशिष्यो वाल्मीकिर्विस्मयं परमं ययौ ॥ ४१। तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः श्लोकमिमं तदा॥ मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुर्भूयश्च विस्मिताः ॥ ४२ ॥ समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महात्मना॥ सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ ४३ ॥' इत्यादिसन्दर्भेण इतः पूर्वं पादव्यवस्था नासीदिति सूच्यते।

(वाल्मीकीयादिकाण्डरहस्यनामधेयस्य लेखस्य अयं क्षुद्रोंऽशः। अपरे गवेषिता नूतना अंशाः सारस्वत-सुषमायां द्रष्टव्याः)।

श्रीरुद्रस्यार्यदेवत्वम्

अनन्तशास्त्री फडके

श्रीभगवान् रुद्रोऽतिप्राचीनकालतो वैदिकैरार्यैरत्यादरेण सर्वदा सर्वप्रकारेण प्रपूज्यते। वेदादिष्वपि तस्य वर्णनं च समुपलभ्यते। अथापि तद्विषयेऽधुनातनैरन्वेषणपरैर्विद्वद्भिरार्यदेवत्वमनेकाभिर्युक्तिभिः संशीतिग्रस्तं संपादितम्। परन्तु अस्माकं दृढं मतं श्रीरुद्रो वैदिक आर्यदेवश्चेति। एतन्मतं संहिताब्राह्मणग्रन्थस्थ-प्रमाणैर्नूतनप्रदर्शितसरण्यैव "यथा यक्षस्तथा बलिः" इतिन्यायेन चोपपादयितुं प्रयत्यतेऽस्माभिः।

प्रथमतो विचारात्पूर्वं द्वित्राश्च सूचनाः प्रदर्श्य पश्चादाधुनिकमतमनूद्य विचारः प्रारभ्यते।

(१) वैदिकार्याणामत्यतिप्राचीनतमसंक्रमणकाले प्रादुर्भूतानामनेकवैदिकसूक्तानां मध्येऽत्यल्पी-यांसि सूक्तानि प्राचीनतमानि प्रकृतविद्यमानसंहितासूपलभ्यन्ते। बहुसंख्यकानि कालग्रस्तानि। यान्युपलभ्यन्ते तानि न समग्राणि, किन्तु कस्यचन कियाँश्चिद् भागः, अत एवानेकदेवतावर्णनं सूक्तेषु दृश्यत इति सर्वविदितमेव।

(२) यदाधुनिकानां वैदिकैरार्यैः प्रजापतिरुद्रवरुणेन्द्रादिदेवता झञ्झावातविद्युत्पर्जन्यादिकं पञ्च-महाभूतोत्पन्नं कार्यं दृष्ट्वा भीत्यादरेण वा झञ्झावातादिषु कल्पिता इति मतं तन्नास्मभ्यं रोचते, किन्तु परमप्राचीनतमे काले प्रजापत्यादिनाम्ना स्थिताः समाजोन्नति-राष्ट्रोन्नति-शत्रुसंहारकारका देवा अस्मदा-दिवदासन्, तेषामेव वस्तुभूतं वृत्तं सूक्ताकारेण ऋषिसमाजे प्रादुर्भूतमपि बहुदेशसंक्रमण-परस्परसंघर्षादिना विनष्टं सद् वैदिकार्याणां संघर्षसंक्रमणावस्थासमाप्त्यन्तरं पुनस्समीचीनदेशे दृढस्थित्या पुनः परम्परया कथोपकथनरीत्या जातसंस्कारोद्बोधजननेन कियतांशेन पुनः संहितास्थसूक्तेषु ब्राह्मणेषु च प्रादुर्भूतम्।

(३) वैदिकेष्वार्येषु तत्तत्प्रजापतिप्रभृतिप्रधानपुरुषैः प्रवर्तिता अनेकाः संस्कृतय आसन्। ताश्च *कदाचिद् द्वित्ररूपाः कदाचिदेकरूपाः कदाचिन्नानारूपाश्च। तासां परस्परं संघर्षः परस्परं मेलनं कदाचि*-त्संस्कृतिप्रचारकस्य निमित्तेन केनचिद् बहिष्करणं चेत्यादिकं समाजे स्वभावतः प्रवृत्तं सर्वदैकरूपमेव प्रचलति स्मेति पुराणादिग्रन्थतः वेदादितः स्मृत्यादितश्च निश्चेतुं शक्यते। अस्तु, रुद्रस्यानार्यत्वेऽधुना-तनप्रदर्शितानां प्रमाणानां मध्ये कानिचिन्मुख्यानि चैतानि—

(क) ऋग्वेदे रुद्रस्य सूक्तानि सार्धत्रिसंख्यामितान्युपलभ्यन्ते। परन्तु इन्द्रादिदेवानां सूक्तानि बहूनि।

(ख) अस्य वर्णनं पशुमनुष्यादिहिंसकत्वेन घोररूपेण भीत्युत्पादकप्रकारेण चोपलभ्यते न तथार्य-देवानामिन्द्रादीनाम्।

(ग) शिश्नदेवा अस्माकं यज्ञे माऽऽगच्छन्त्विति प्रार्थना ऋषिभिरिन्द्रं प्रति कृतोपलभ्यते "मा शिश्न-देवा अपिगुर्ऋतं नः" (ऋ० ५।३।३)। तथा शिश्नदेवानां वध इन्द्रेण कृतः—

"घ्नन् शिश्नदेवाँऽअभिवर्पसाभूत्" (ऋ० ८।८।१४) शिश्नदेवा नाम—लिङ्गस्य देवत्वेन पूजयितारः शैवाः।

(घ) यज्ञविध्वंसेन श्मशाननिवासेन कौपीन-रुण्डमाला-सर्पादिधारणेन वृषभवाहनेन च स्पष्टम-नार्यदेवत्वं भवति।

(ङ) रुद्रस्य यज्ञे मुख्यदेवतायागानन्तरमवशिष्टपदार्थेन यजनं स्पष्टमनार्यदेवत्वं निश्चिनोति।

(च) रुद्रप्रसादग्रहणस्य धर्मशास्त्रे निषेधात्, शिवलिङ्गानां श्मशाने, नदीतीरे, पर्वते वा स्थि-त्यानार्यदेवत्व स्पष्टीभवति।

(छ) 'मोहेंजोदारो' प्रभृतिस्थानेषु ऋग्वेदप्राक्कालीना संस्कृतिरासीदित्युपलब्धप्रस्तरादिचिह्नै-र्निश्चीयते। तत्रोपलब्धेषु प्रस्तरचिह्नेषु लिङ्गाधिक्यदर्शनेन ऋग्वेदपूर्वकालिका, अर्थादार्यसंस्कृतीतराऽनार्य-संस्कृतिरेकासीत्। सा च रुद्रदेवताकेति। एताः कल्पनाः प्रायो यूरोपदेशीयसंशोधकैर्विद्वद्भिः प्रकटी-कृताः, तास्तथैव तेषामादरातिशयादनुकरणतत्परैरस्माकं भारतीयैः स्वीकृत्यात्मसात्कृत्वा तत्सदृशीः अनेका-स्तत्र संमेल्य च श्रीरुद्रदेवस्यानार्यत्वं स्पष्टमुद्घोषितम्।

यूरोपस्थविदुषामनालस्योद्योगप्रियत्वादिसद्गुणगणभूषितानां वयमधमर्णा एवेत्यस्मिन्विषये न संशीतिर्यतस्तैरनेकेषु विषयेषु नूतनामाविष्कारसरणिं महता प्रयत्नेन निर्मायास्माकं पुरतो नूतनः पन्थाः प्रकाशित इत्यतस्तेषां प्रयत्नो कौतुकावहो विशेषरूपेण भारतीयैरादरणीय इति निश्चितम्। परन्तु तैर्यथैव स्वबुद्ध्या वैदिकपरम्परारहितया निश्चितं तत्तथैवास्माभिर्निमील्य चक्षुर्ग्रहीतव्यमिति नास्मभ्यं रोचते। अस्माभिः स्वीययाऽविच्छिन्नया वैदिकपरम्परयाऽऽलोच्याविष्य चोचितं चेदवश्य ग्रहीतव्यं नो चेत्सर्वथा त्याज्यमेव।

अत्र नास्त्येवास्माकमयं हठः पुराणमित्येव च साधु सर्वमिति। भारतीयानां वैदिकानां वेदविचार-सरिदखण्डरूपेण, क्वचित्सरस्वतीवाभ्यन्तरलीनापि ब्राह्मणग्रन्थ-उपनिषत्-सूत्र-पुराण-रामायण-भारतादिभि-र्ग्रन्थैरनेकरूपापि प्रवहत्येवाधुनेति निश्चितम्। यद्यपि मध्ये मध्येऽनेकभिन्नसंस्कृतिनदीकुल्यादिभिर्मिश्रित-जलोऽपि वेदसिद्धान्तस्रोतःप्रवाहः सूक्ष्मरूपेण सर्ववाङ्मयसमुद्र उपलभ्यत इति सर्वप्राचीनानां केषांचिदा-धुनिकानामपि दृढमिदं मतम्।

इदमार्याणामिदमनार्याणामिति निश्चयकरणार्थमस्माकं पुरत एकं परमप्राचीनमृग्वेदादिग्रन्थसमूहं त्यक्त्वा नान्यत्किञ्चिदपि प्रमाणकोटिमाटीकते। तत्रभगवतो रुद्रस्य विषयत्वसाधकं किमुपलभ्यते तत्प्र-थमत आलोचनीयम्।

रुद्रस्य यज्ञसाधकत्वेन[1] सुमखत्वेन[2] हविर्दातृत्वेन च वर्णनं लभ्यते, तथा देवश्रेष्ठत्वेन देवानां निवासहेतुत्वेन चोपलभ्यते[3] तथा जीवैः प्रार्थनीये यज्ञेऽस्मान् भागयुजः कुर्विति प्रार्थना[4] दृश्यते। एवं देवानां

(१) त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधम्' (ऋ० १।८।४।५)
(२) 'कद्रुद्राय सुमखाय हविर्दे' (ऋ० ४।३।७)
(३) 'श्रेष्ठो देवानां वसुः' (ऋ० १।३।२६।५)
(४) 'आनो भज बर्हिषि जीवशंसे' (ऋ० ५।४।१३।४)

क्रोधस्य नाशं कुर्वित्यपि स प्रार्थ्यते,[५] किञ्च रुद्र ऐश्वर्येण जगत्सु श्रेष्ठ इत्यपि लभ्यते[६] तथा देवोत्पादितस्य पापस्य नाशकोऽस्तीति ग्रन्थतः प्राप्यते[७]

तथा रुद्रो यज्ञाधिपतित्वेन,[८] देवानां प्रथमत्वेन, वक्तृत्वेन च वर्ण्यते सुवर्णालङ्कारै रुद्रश्चकास्तीति स्तूयते।[९] एवं रुद्रप्रदत्तौषधीभिः शतवर्षजीवनं[१०] प्रार्थ्यते। किञ्च सर्वलोकानां हिरण्यमिव प्रिय[११] इत्यपि लभ्यते, तथा चिकित्सकानां मध्ये भिषक्तम[१२] इति स्तूयते। एवं च यो देवानां श्रेष्ठः, यज्ञस्य साधकः, देवानां क्रोधपातकयोर्नाशयिता, बहुसुवर्णालङ्कारभूषितः, जगत्स्वैश्वर्येण श्रेष्ठः, औषधीभिः शक्तिं दत्त्वा जनानां यज्ञे भागार्हकारकः, स्वयं यज्ञकर्ता, सुवर्णमिव सर्वलोकप्रियो भिषक्तमः, स आर्यविद्रोही यज्ञविरोधिनामनार्याणां देवश्चेति कथनं न युक्तिसङ्गतं ज्ञायते। रुद्रवदिन्द्रस्याग्नेरपि यज्ञनाशकत्वं लभ्यते[१३,१४] अतो यज्ञनाशको हेतुर्नानार्यत्वं साधयति।

श्रीभगवतो रुद्रस्य सेनापतित्वात्सर्वदा तस्य शत्रुसंहारतत्परत्वेन च रुद्रविषये भीतियुक्तस्थित्या तेन स्वपुत्रपौत्रपशूनां नाशो न कर्तव्य इत्यभिप्रायेण तस्य स्तुतिः कृता ऋषिभिःसोचितैव। तस्य सेनापतित्वम्,

अन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः' (ऋ० २।७।१६)

'इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे' (ऋ० ५।४।१३।४)

इत्याद्यनेकमन्त्रतो ज्ञातुं शक्यम्। यथा रुद्रविषये भीतियुक्तं वर्णनं लभ्यते, तथेन्द्रविषयेऽपि। एवञ्च भीत्याद्युत्पादकत्ववर्णनेनास्य नानार्यदेवतात्वं साधयितुं शक्यम्।

अधुनाऽतिमहत्त्वस्य शिश्नदेवशब्दस्य विचार आरभ्यते शिश्नदेवशब्दः ऋग्वेदे—

मा शिश्नदेवा अपिगुर्ऋतं नः (५।३।३।५) 'घ्नन् शिश्नदेवाऽअभिवर्पसाभूत्' (ऋ० १०।८।१९) इत्यादिषु दरीदृश्यते। तं दृष्ट्वा यज्ञे शिश्नदेवानां निषेधकरणाच्छिश्नदेवानामिन्द्रकृतविनाशबोधनाच्च सर्वत्र लिङ्गानां लिङ्गाधारप्रस्तराणां च प्राप्तेर्मोहेंजोदारोप्रभृतिस्थानेषूत्खननजातपदार्थनगरादिध्वस्तावशेषदर्शनेन कस्याश्चिदेकस्याः संस्कृतेः ऋग्वेदपूर्वकालिकत्वकल्पनेन तस्याः संस्कृतेरार्यभिन्नानामर्थादनार्याणां कल्पनेन ऋग्वेदे शिश्नपूजकानां यज्ञे निषेधेन मोहेंजोदारो प्रभृतिषु लिङ्गानां दर्शनेन च शिश्नदेवा नाम लिङ्गपूजका इत्यर्थस्य कल्पनेन च लिङ्गपूजाऽनार्याणां मध्ये प्रचलिताऽऽसीत्, तल्लिङ्गं यस्य देवस्य सोऽप्यनार्याणां देव इत्येतत्कल्पनासाम्राज्यम्।

---

(५) 'आरे अस्मद् दैव्यं हेलो अस्यतु' (ऋ० १।८।५।४)

(६) 'श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि' (ऋ० २।७।१६।३)

(७) 'अपभर्ता रपसो (पापस्य) दैव्यस्य' (ऋ० २।७।१६।७)

(८) 'अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यः' (ऋ० तै० सं० रुद्राध्यायः १।६)

(९) 'शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः' (ऋ० २।७।१६।९)

(१०) 'त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः' (ऋ० २।७।१६।९)

(११) 'हिरण्यमिव रोचते' (ऋ० १।३।२६।५)

(१२) 'भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि' (ऋ० २।७।१६)

(१३) 'अयं सुतः सुमखमामृधस्कः' (ऋ० २।६।२१।४) (हे इन्द्र यज्ञस्य मृधो हिंसाः माकः = माकार्षीः सायणाचार्यः)।

(१४) 'नमोऽग्नये मखघ्ने मखस्य मा यशोऽर्यात्' (तै० सं० ३।२।४)

वैदिकभारतीयार्याणां संस्कृतिबोधकेष्वखण्डितपरम्परया प्राप्तेषु ग्रन्थेषु शिश्नदेवपदस्यार्थः क इति विचारणायां द्विसहस्रवर्षपूर्वकालिकं यास्करचितं निरुक्तं यद्यस्माभिर्दृश्यते तदा शिश्नदेवपदं न लिङ्गदेवानां लिङ्गपूजकानां बोधकमुपलभ्यते। श्रीमता यास्केन (अ० ४ खं० १९) विषुणपदनिर्वचनप्रसङ्गे 'सशर्द्धदर्यो विषुणस्य' (ऋ० ५।३।३।५) मन्त्रो निर्दिष्टः, तत्र 'शिश्नदेवा अपिगुर्ऋतं नः' इत्यागतं तत्र शिश्नदेवपद-निर्वचनं 'शिश्नदेवा अब्रह्मचर्या' इति कृतम्, श्रीदुर्गाचार्येण, 'शिश्नदेवाः शिश्नेन नित्यमेव प्रकीर्णाभिः स्त्रीभिः साकं क्रीडन्त आसते श्रौतानि कर्माण्युत्सृज्य, तेऽपि युष्मदनुग्रहादिदमस्माकं ऋतम्-यज्ञं, मा अपिगुः, मा आगच्छन्तु, नास्माकं तैरपि यज्ञमभिगच्छद्भिरर्थोऽस्तीत्यभिप्रायः, इत्यादिनाऽत्र स्पष्टीकृतम्। श्रीमता सायणाचार्येणापि तथैव विवृतम्। एवं चाखण्डपरम्परावेत्तृभिर्यास्कादिभिः शिश्नदेवपदेनाब्रह्मचर्या एव गृह्यन्ते स्म।

एवं मूरदेवपदं 'मूरा अमूर न वयं' (ऋ० ७।५।३२) इत्यत्रागतम्। तत्रापि यास्केन 'मूरा—मूढा' इत्यर्थो दर्शितः। तत्र मूढो देवो यस्य इति विगृह्य मूढपूजक इत्यर्थकरणमसङ्गतमेव, शिश्नदेव इत्यत्रापि तथैव शिश्नं देवो यस्येति विग्रहकरणमसङ्गतम्, किन्तु यास्कादिभिः प्रदर्शितार्थग्रहणमेवोचितमिति सत्यान्वेषणपराणां मान्यं भवेत्। यदि शिश्नदेवशब्देन लिङ्गपूजकानामेव ग्रहणमिति दृढो हठश्चेत्तथापि सा लिङ्गपूजा वस्तुत अग्निप्रतीकभूतस्य लिङ्गस्य पूजाऽर्थेष्वेव प्रचलिताऽऽसीत्। एवं चेन्द्रपूजाप्रधाने यज्ञे तद्देवतात्वास्वीकर्तॄणामागमनं मा भवत्विति प्रार्थनं त्वत्यन्तमुचितमेव। एवमिन्द्रप्राधान्यास्वीकर्तॄणां नाश इन्द्रकर्तृको न विसंवदते व्यवहारेण। यथा संप्रति मुस्लीमलीगसमितौ तद्भिन्नानामागमनं निषिद्धं बलादागतानां नाशादिकं चोपलभ्यते, परन्त्वेतावता तेषां भारतीयत्वं कथं निवर्तयितुं शक्यम्, तथैव लिङ्गपूजका इन्द्रपूजकानां यज्ञे नागच्छन्तु बलाद् यद्यागच्छेयुस्तर्हि तेषां नाशकरणेऽपि तेषामार्यत्वं कथं निवर्तेत इति नैव ज्ञातुं शक्यते विना कल्पनातः, वस्तुतो लिङ्गपूजक इत्यर्थो नैव संभवति शिश्नदेवपदस्येति पूर्वं स्पष्टं प्रदर्शितम्।

अथ भारतेऽन्यत्र च सर्वत्र लिङ्गपूजा कथं प्रचलिताऽतिपूर्वतमे काले, कथं वा शिवस्य यज्ञात्पृथक्करणं, कथं वा रुद्रसूक्तानामल्पानामेवोपलब्धिः, कथं वा रुद्रस्य यज्ञविध्वंसकरणं कथं वा तस्य प्रजापतिवधकरणं, कथं वा तस्य निर्माल्यस्य निषिद्धत्वमित्यादिशङ्काजातस्य निराकरणाय वस्तुस्थितेः प्रकाशनाय च प्रसङ्गागतं प्राचीनवैदिकसमाजसंस्कृतेरितिवृत्तं किञ्चित् प्रदर्श्यते—अतिप्राचीनतमे काले वैदिकसमाजस्य स्थितिः कीदृशी स्यात् इति कल्पनया सूक्ष्मदृशाऽऽलोच्यमाने वेदसंहिताब्राह्मणादिभ्यः किमपि वृत्तं कल्पयितुं शक्यते। देवाः पूर्वं मनुष्यवन्मर्त्या आसन् विशेषप्रयत्नेनामरा जाता इत्यादिवेदमन्त्रतो ज्ञायते। यथा (ऋ० ५।३।४)

'तव श्रिया देव देवाः पुरुदधाना अमृतं सपन्तः।' तथा

'तव क्रतुभिरमृतत्वमायन्' (ऋ० ६।७।४), तथा

देवा वै मृत्योरबिभयुस्ते प्रजापति मुपाधावन् (तै० सं० २।३।५।१) तथा

'मर्त्या ह्वा अग्रे देवा आसुः (शतः ११।२।३)

इत्याद्यनेकप्रमाणतो देवानाममर्त्यत्वं प्रयत्नसिद्धमिति ज्ञायते। एवं च मनुष्यवदस्यां भूमौ स्थिते देवसमाजे तत्र प्रकृष्टतमः स्वबुद्ध्या स्वशक्त्या च देवानां रक्षणकर्ता प्रजापतिः प्रथमतो देवशासकत्वेन स्थित उपलभ्यते। स च भूतभौतिकानां स्थावरजङ्गमानां सर्वेषामधिपतिरित्यपि वेदमन्त्रत उपलभ्यते,

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋ० १०।१२१।१) अयं मन्त्रः सर्वसंहितास्वनेकवारं लभ्यते। तथा

'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव' (ऋ० ४।५४।२)

हे प्रजापते त्वत् अन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव सर्वतो मुख्यो नास्तीत्यर्थः। निरुक्त-कारेणेमं मन्त्रं प्रदर्श्य 'प्रजापतिः प्रजानां पाता वा पालयिता वा' इति निर्वचनं च प्रदर्शितम्। (नि० १०।४३) प्रजापतिना देवसमाजेऽनेकानि साधुकार्याणि संपादितानि, प्रजानिर्माणं देवानाममर्त्यभवनोपाय-प्रदर्शनं, स्वर्गव्यवस्थाकरणं, नियमानां निर्माणं, वासयोग्यस्थानादिकरणमुत्पन्नानां संकटानां निवारणार्थ-मनेकोपायप्रदर्शनादिनाऽसुरनाशनमित्यादिकानि कार्याणि वेदसंहिताभागतो ब्राह्मणभागतश्च शतशः प्रद र्शयितुं शक्यन्ते। तत्र कानिचित्—

'सोऽकामयत प्रजापतिः। भूय एव स्यात्प्रजायेयेति' (श० ब्रा० ६।१।)

देवा वै मृत्योरबिभयुस्ते प्रजापतिमुपाधावन्' (तै० सं० २।३।२।१)

'प्रजापतिर्देवेभ्यो यज्ञान् व्यादिशत्' (तै० सं० २।६।३)

'स इन्द्रः प्रजापतिमुपाधावत् । तमेतया संज्ञान्याऽयाजयत्' (तै० सं० २।२।११)

'येन देवा स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्' (अथर्व ४।११।६) इत्यादिकार्याणि बहू-न्युपलभ्यन्ते।

प्रजापतेर्देवतानामधिपतित्वकाले तदधिकारमात्मसात्कर्तुमिन्द्रवरुणादिकानां प्रयत्नः प्रचलित आसी-दित्यपि वक्तुं शक्यते। स्वात्माधिकाररक्षणार्थं प्रजापतेरपि बहुकार्याणि कर्तुमापतितानीत्यपि ज्ञातुं शक्यते। तथाहि—यदा प्रजापतिना प्रजा निर्मितास्तदा ताः प्रजापतिं त्यक्त्वा वरुणसमीपे गताः, वरुण-स्ताः परावर्तयितुं नैच्छत्। तदा प्रजापतिना तस्मै श्वेतपादकृष्णपशुं दत्त्वा प्रजाःपुनरानीताः। 'प्रजापतिः प्रजा असृजत ता अस्मात् सृष्टाः पराचीरायन्। ता वरुणमगच्छन्। ता अन्वैत्। ताः पुनरयाचत। ता अस्मै न पुनरदात्। सोऽब्रवीद्वरं वृणीष्वाथ मे पुनर्देहि। तासां वरमालभत। स कृष्ण एकाशीतिपादभवत् (तै० सं० २।१।२), तथा प्रजापतेः प्रजास्तं त्यक्त्वा गतास्तदा प्रजापतिनाग्निसाहाय्येन ताः प्रत्यावर्तिताः। 'प्रजापतिः प्रजा असृजत ताः सृष्टाः पराच्या एवायन् न व्यावर्तन्त । अग्निना पर्यगच्छत्ताः' (ऐ० ब्रा० ३।१२)। तथा इन्द्रः प्रजापतेरधिकारमकामयत। तदा प्रजापतिना तस्मै महेन्द्रपदवी प्रदत्ता

'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याब्रवीत्प्रजापतिमहमेतदसानीति........। यन्महानि-न्द्रोऽभवत्। (ऐ० ब्रा० ३।१२) तथा प्रजापतिनाऽधिकारं कामयमानायेन्द्राय स्वतेजसा निर्मितं पदकं दत्तम् (तै० ब्रा० २।२।१०)

प्रजापत्यधिकारकालेऽनेकदेवगणा आसन्। तेषां मध्ये स्वज्यैष्ठ्याय विरोधोऽपि प्रचलति स्म। कदाचिद्युद्धसमये प्राप्तेऽपि विरोधोदाहरणानि लभ्यन्ते।

'ते देवा मिथो विप्रिया आसन्। तेऽन्योन्यस्मै ज्यैष्ठयायातिष्ठमानाश्चतुर्धा व्यक्रामन्। अग्नि-र्वसुभिः, सोमो रुद्रैरिन्द्रो मरुद्भिर्वरुण आदित्यैः' (तै० सं० २।२।११)

यद्यपि तत्कालेऽग्निसोमेन्द्रवरुणप्रमुखा देवा अधिकारलिप्सव आसन्, तथापि प्रजापतेः सर्वदेव-मान्यत्वं, सर्वज्येष्ठत्वं, सर्वरक्षणकर्तृत्वञ्च, दृष्ट्वा तद्विरुद्धं प्रत्यक्षं किमपि नाचरितवन्तः।

अधिकारनिमित्तकदोषात्प्रजापतेरपि देवक्रोधोत्पादकाः केचनापराधाः संजाताः। ते च केचन कथ्यन्ते। प्रजापतिना देवत्वं प्राप्तैरपि पूर्वमनुजैर्ऋभुभिः सह सोमपानं कृतं तद् दृष्ट्वा देवास्तं निनिन्दुः।

'आर्भवं शंसत्यृभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथमभ्यजन्.....देवा अपैवाबीभत्सन्त' (ऐ० ब्रा०

३।३०) तथा राक्षसेभ्यो वरं दत्तवान् येन सूर्याय पीडा, संजाता (तै० आ० २।२) अन्ततः स्वकुलस्थ-कन्याधर्षणापराधं दृष्ट्वा सर्वैर्देवैर्भृशं क्रुद्धैस्तद्दण्डकरणार्थं संमील्य मन्त्रयित्वा सेनापतित्वाद् रुद्रो दण्डकरणार्थं नियुक्तः। एषा कथा शत० ब्राह्मणे 'प्रजापतिर्हवै स्वां दुहितरं....' इत्यादिनोल्लिखिता (१।७।४), परन्तु तद्दण्डकरणसमये प्राजापत्यभिमानिभिः देवैः साकं महान्संगरः संजातो महांश्च विध्वंसः संजातस्तत्र प्रजापतिर्हत इत्येव निश्चीयते। यद्यपि शतपथब्राह्मणे प्रजापतेः शल्यनिष्कासनं ततः तस्याभिषेक उक्तस्तथाप्यन्ते यज्ञ एव प्रजापतिरित्युपसंहारेण प्रजापतिहननानन्तरं प्रजापतिस्थाने देवैः तद्यज्ञं संस्थाप्याधिकारिणः प्रजापतेः कार्यं प्रचालितम्। अत एव ऋग्वेदे रुद्रस्य नृहन्तृविशेषणं संगच्छते 'प्रवः कदग्ने रुद्राय नृघ्ने' (४।३।६) यद्यपि प्रजापतये दण्डकरणार्थं सेनापते रुद्रस्य पूर्वं क्रुद्धाः सर्वे देवमुख्या अनुकूला आसन्। परन्तु घोरतरप्रसङ्गे तस्मिन्निवृत्ते शान्तक्रोधैर्देवैर्विचारितं दण्डस्थाने प्रजापतेर्हननं संजातं रुद्रसकाशादतो रुद्रस्य यज्ञाद्बहिष्करणं कर्तव्यं तत्तथैव कृतम्। तेनापि रुद्रेण स्वाधिकारस्थापनार्थं पुनर्युद्धं कृतम्, तदा देवैस्तस्मै प्रधानहोमानन्तरमवशिष्टं होमद्रव्यं प्रदत्तम्।

'देवा वै यज्ञाद्रुद्रमन्तरायन् स यज्ञमविध्यत् तं देवा अभिसमगच्छन्त .... तत् स्विष्टकृतः स्विष्टकृत्त्वम् (तै० सं० २।६।८)

अस्य सर्वस्य विस्तारेण प्रदर्शनतात्पर्यमेतद्रुद्रस्य यज्ञबहिष्करणमथवा यज्ञावशिष्टहोमद्रव्यप्रदापनमार्याणामेव मिथःसंघर्षनिमित्तेन संजातं न तेन तस्यानार्यत्वं सिद्ध्यति।

अतिप्राचीनतमे काले वैदिकसमाज एवं मिथःसंघर्षनिमित्तके संगरे जाते सेनापते रुद्रस्य यज्ञाद् मुख्यदेवतातो बहिष्करणे संजाते च रुद्रस्तत्सहकारिणश्च सर्वे स्वस्वाग्निं स्वस्वाभिप्रेतेषु समिध्-आत्म-पाषाणादिचिह्नेषु समारोप्य तत्स्थानात्तिसृषु दिक्षु प्रस्थिताः सन्तः सर्वत्र पृथ्वीतले गताः।

'रुद्रो वा एष यदग्निस्तस्य तिस्रः शरव्याः प्रतीची तिरश्चनूची '(तै० सं० ५।५।८)।

प्रस्थानसमयेऽग्निहोत्री स्वीयमग्निं स्वात्मनि समिधि वा समारोपयतीति प्रसिद्धमेव श्रोत्रियेषु। एवञ्च रुद्रस्य तत्सहकारिणाञ्च यत्र यत्र गमनं संजातं पृथिव्यां तत्र सर्वत्र प्रजापतियज्ञस्थानादानीताग्निसमारोपणाधारभूतवस्तूनां तैः स्थापनं कृतम्। तानि च चिह्नानि रुद्रसेनास्थजनानां भिन्नभिन्नप्रकारेण स्थितत्वात्क्वचित्काष्ठमयानि, रत्नमयानि, सुवर्णमयानि, प्रायो बहुत्र प्रस्तरमयानीति सर्वत्राग्निप्रतीकभूतलिङ्गानामुपलब्धिः संजायते। अत एव भारते क्वचित् क्वचिज्ज्योतिर्लिङ्गानामपि स्थितिः समुचितैव। सेनापते रुद्रस्य सेनायामनेकप्रकारका जना आसन् काश्चन स्त्रियोऽपि विद्यन्ते स्मेत्यतः

'नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यः' 'नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यः'

'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्' इत्यादिरुद्राध्यायस्थं वर्णनं समीचीनमेव प्रतिभाति।

रुद्रस्य सर्वत्र वास आसीदिति बहुत्र बहुपुराणेषु भारते चोपलभ्यते। अस्य मेरुधामेति नाम प्रसिद्धम्। (म० भा० अनु० ४८।९१ कुंभकोण) किञ्च मूजवति पर्वतेऽप्यस्य वास आसीत्

'एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि' (वा० सं० ३।६१)

मूजवान् पर्वतश्च कैलासादपि परतरो विद्यत इति ज्ञायते (वायु० १।४७।१९) रुद्रसहकारिणां रुद्रस्य च अन्यत्रान्यत्र देशे प्रक्रमणानन्तरं बहोः कालादनन्तरं प्रादुर्भूते प्रचलितसंहिताभागे यस्मिन् इन्द्रस्येन्द्रप्रचालितसंस्कृतेश्च प्राधान्यमस्ति तत्र रुद्रसूक्तानामत्यल्पत्वमुचितमेव।

प्रजापतिनाशानन्तरं वरुणोऽधिपतिः संवृत्तस्तदा वैदिकार्याणां जलमार्गेत इतस्तत गमनमासीदत एव वरुणस्य जलेन सागरेण च सह सम्बन्ध आगतः (ऋ० २।२८।४,५।८५।६, ७।६४।२, १।१६१।१४, ८।५८।२) इत्यादिस्थलानि द्रष्टव्यानि, प्रजापतिसंघर्षानन्तरं प्रधानतया स्थितस्य वरुणराजस्य न्यायप्रिय-

त्वेन (ऋ० ७।८३।३) भक्तदयालुतया (ऋ० ७।८६।५, ७।८९।५) सर्वनृपत्वेन (ऋ० १०।१३२।४) स्वावलम्बितत्वेन (ऋ० २।२८।१) च वर्णनमुपलभ्यते। वरुणसंस्कृतिरपि प्रचलितर्ग्वेदसंहितातोऽतिप्राचीनतमा यतश्शुनः शेपबलिप्रसङ्गे वरुणसम्बन्धदर्शनेन प्रचलितब्राह्मणादिग्रन्थेषु परिगणितमनुष्य बलीनामुत्सर्ग दर्शनेन च तस्याः प्रथायास्तत्सम्बन्धिन्या वरुणदेवताया अतिप्राचीनतमत्वं ज्ञायते।

बहोः कालादनन्तरं इन्द्रस्यापि चित्ते वरुणाधिकारमात्मसात्कर्तुमिच्छा प्रादुर्भूता, तेन तत्रैव स्थितानां, रुद्रपुत्राणां मरुतां स्वपक्षे स्वसाहाय्यार्थं स्वीकारः कृतः। अत एव मरुतां नाम 'इन्द्रवन्तः' (ऋ० १०।१२८।२) 'इन्द्रज्येष्ठाः' (ऋ० ६।५१।१५) इत्युपलभ्यते। मरुतां रुद्रपुत्रत्वं वर्ण्यते—'आ ते पितर्मरुतांम्' (ऋ० २।३३।१) इत्यत्र। प्रथमत इन्द्रस्य वरुणसेनापतित्वेन वर्णनं लभ्यते अर्थादिन्द्रो वरुणसेनापतिः संजातः (ऋ० ८।८२।६, ६।६८।३) तत उभयोर्मिलित्वा राज्यकरणं लभ्यते (ऋ० १।१७।१) तत इन्द्रेणैवाधिराज्यत्वं क्रियते। अत्र विषयेऽग्नेर्वरुणस्य च संवाद आलोचनीयः। अत्राग्निः कथयति बहोः कालान्मया पूर्वाधिपतिस्त्यक्तोऽधुना ममेन्द्रोऽधिपतिर्विद्यते

'बह्वीः समा अकरमन्तरस्मिन्निन्द्रं वृणानः पितरं जहामि' (ऋ० १०।१२४।४)

तत इन्द्रवरुणयोरधिराज्यं कस्येति विषये प्रसिद्धः संवादो द्रष्टव्यः। (ऋ० ४।४२) अत्र वरुणः स्वसत्तावर्णनं करोति

वरुणः—'अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमाधारयन्त।'

एतत्खण्डयित्वेन्द्रः स्वसत्तां वर्णयति—

'मां नरः स्वश्वा वाजयन्तो मां वृताः समरणे हवन्ते। कृणोम्याजिं मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः।' (ऋ० ४।४२) अस्तु। यथा शूरत्ववीरत्वबोधकं रुद्रपदमनर्केविशेषणरूपेण धृतं तथेन्द्रेण रुद्रविशेषणं वज्रहस्तत्वम् (ऋ० २।७।१६।३) सहस्रनेत्रत्वम् (तै० सं० ४।५।५) धृतमुपलभ्यते। अस्तु।

आर्याणां भारतादिस्थितिकालात्परमप्राचीनकाले मर्त्या देवाः विशेषयागाद्युपायकरणेन शरीरं हित्वा स्वर्गं गतवन्त आसन्।

'येन देवाः स्वरारुरुर्हुहित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्' (अथर्ववे० ४।११।६)।

तदन्तरं काले स्थितवद्भिर्लोकैस्तत्कालानन्तरं स्थितैश्च जनैरपि देवानां स्वर्गगमनममर्त्यभवनं च ज्ञात्वा अद्य यथा सामान्यलोकानां कल्पना मनुष्यविनाशानन्तरं भवन्ति, यथा च तैः मृताः स्वर्गे गता अग्नौ लीना जले वाऽऽकाशे वेति कल्प्यते, तथा प्राचीनप्रजापतिरुद्रवरुणेन्द्रादिकानां स्वर्गगमनानन्तरम् तत्कालिकैर्जनैरग्न्यादिषु तेषां स्थित्यादिकल्पनेन ततो बहोः कालानन्तरं प्रादुर्भूतमन्त्रादिभागेषु पञ्चभूतवर्णनरूपेण देवाद्याकाररूपेण च तेषां स्वर्गतानामिन्द्राग्निरुद्राणां वर्णनं साधु संगच्छत एव। अत एव रुद्रस्याग्निना सहाभेदरूपेण भेदरूपेण च वर्णनं लब्धं संगतमेव।

मध्ये मध्ये प्राधान्येन प्रचलिताः संस्कृतयः क्षीयन्ते स्म, याश्च क्षीणास्ताः पुनरपि प्रधानरूपेण प्रचलिताः स्मेत्यपि वर्णनं लभ्यते। यदा सर्वे देवाः स्वर्गं गतवन्तस्तदा रुद्रोऽत्रैव स्थितः—

'यज्ञेन वै देवा दिवमुपोदक्रामन्नथ योऽयं देवः पशूनामीष्टे स इहाहीयत' (शतः ब्रा० १।७।३।१

एतेन इन्द्रादिसंस्कृतिसंकोचेन रुद्रसंस्कृतेः पुनरपि प्राधान्यं सूच्यते। तथैव प्रजापतिसंस्कृतिरपि ब्राह्मणकाले विशेषरूपेण पुनः प्रचलिता एवमन्यासामपि संस्कृतीनां पुनः पुनः प्राधान्यं गौणत्वं च कारणावशादायातीत्यपि सूक्ष्मया दृशालोच्यमाने दरीदृश्यते। एवं च कैश्चन सर्वदेवानां वेदेषूपलभ्य-

मानं वर्णनं भौतिकघटनापरमेव कल्प्यते, परन्तु तत्रैव विचारचतुराणां चेतांसि चमत्करोति। सर्वथा सारल्येन तल्लापनं दुःशकमेव।

अस्तु, भारतीयैरार्यैरनेकदा सृष्ट्युन्नत्यर्थं प्रयत्नोऽकारि, यैश्च विशिष्टतपसानेकशास्त्राणि प्रकटीकृतानि, यैश्चास्माकं सर्वथोन्नतिपथे नयनं कृतं तेषामुपकारस्मरणार्थं स्वाभ्युन्नत्यै च तत्तद्देवतारूपेण स्थितस्य, जगत आदिभूतस्यानन्तस्य व्यापकस्य तत्त्वस्य प्रसादार्थं तत्तद्देवतानां यागादिना पूजनं समुचितमेव।

रुद्रस्य निर्माल्यग्रहणं धर्मशास्त्रे निषेधकोटिमाटीकत इत्यपि नैव रुद्रस्यानार्यदेवत्वं साधयितुमीष्टे, सूर्यगणपतिदेव्यादिविषयेऽपि तथा निषेधोपलम्भेन तत्रैव च व्यवस्थायाः प्रदर्शनेन न निर्माल्यस्याशुद्धत्वं कल्प्यते, किन्त्वस्माकं तत्तद्देवतादीक्षाभावे निर्माल्यग्रहणाधिकाराभावेन तद्ग्रहणे पातित्यमेव बोधयति। अतः

शिवदीक्षान्वितो भक्तो महाप्रसादसंज्ञकम्।
सर्वेषामपि लिङ्गानां नैवेद्यं भक्षयेच्छुभम्॥ (शिवपु० विश्वेश्वरसंहिता २२।११)

आधुनिकैर्ऋग्वेदादिवेदसंहिताब्राह्मणादिग्रन्थेषूपलब्धतत्तज्ज्योतिषवर्णनाधारेण, भाषाव्याकरणाधारेण च कालनिर्णयो विहितः, स प्रचलितसंहितादिग्रन्थानां कथंचित्संभवेत्तत्रापि बहुधः संहिता ब्राह्मणानि च लुप्तप्रायाणि, याश्च संहिता ब्राह्मणानि चोपलभ्यन्ते, ताश्च तान्यपि प्रायोऽसंपूर्णरूपाण्येवेति खण्डितस्य यमयमीसूक्तस्य, पुरूरवउर्वशीसंवादरूपसूक्तस्य खण्डितस्य चोपलब्ध्या तथा ब्राह्मणग्रन्थेषूपलब्धानां खण्डितप्रायाणामर्थवादानां लाभेन च वक्तुं शक्यते। किं च ततः पूर्वमनन्तकाले कल्पनयापि निश्चेतुमशक्ये वैदिकसंस्कृतेः प्रादुर्भवनेन कथंकारं वा मोहेंजोदारोप्रभृतिस्थानेषूपलब्धप्रस्तरादिचिह्नैर्भारतसंस्कृत्यपेक्षया सिन्धुदेशीयसंस्कृतेः प्राचीनत्वं वैदिकसंस्कृतेश्च नूतनत्वं वा कल्पयितुं शक्यम्। किञ्च सापि वैदिकसंस्कृतिर्नासीदित्यपि केन दृढप्रमाणेन वक्तुं शक्यं, कथं वा सानार्याणां संस्कृतिः, कदाचिद्भारतस्यार्यावर्तादार्याणामनेकवारं बहिर्गमनं पुनश्चात्रागमनमनेकवारं संजातं संस्कृतेश्च वारं वारं संघर्षादिनिमित्तेन संकोचो विकासश्चा भवदित्यपि चक्रनेमिक्रमेण निश्चप्रचमेवं सिन्धुदेशीयापि भारतीयसंस्कृत्यन्तर्गतैकदेशीयसंस्कृतिर्भवितुमर्हतीति निश्चितम्।

अस्तु। एतत्सर्वमालोच्य विचारचतुराणां मनसि निश्चितं भवेद् भगवतो रुद्रस्यार्यत्वमार्यदेवत्वं वैदिकत्वं चेति संभावयामः। अत्र विषये बहुवक्तव्यमन्यदवशिष्यते तद् 'रुद्र' संज्ञकेऽतिमहति निबन्धे विस्तरेणास्माभिर्विवेचितम्। किंचिच्च तत्रत्यं राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य सारस्वतीसुषमानामपत्रिकासहकारिसंपादकत्वेन कार्यकरणसमये विशिष्टाङ्के (सन् १९४२) वर्णितमस्ति।

अत्र बहूनि शङ्कास्थलानि विद्यन्त इति जानीमः, यथा प्रजापतेः स्वदुहितृधर्षणस्य वेदे स्पष्टतया वर्णनस्योपलब्धेः कथं स्वकुलीयकन्याधर्षणं कथ्यते? कथं वा प्रजापतेः पुनः जीवनस्याभिषेकस्य च वर्णनस्य विद्यमाने हननत्वप्रतिपादनम्? कुत्र वा वास्तविकस्वर्गस्य स्थितिः। तत्सर्वमपि विस्तरेण संस्कृतिह्रासविकासनिबन्धे, विवाहसंस्कारसंकोचविकासनिबन्धे रुद्रनिबन्धे च प्रतिपादितम्।

अत्र वर्णिताः कल्पना नैव सर्वथा नूतनाः पुराणादिषु ब्राह्मणादिभागेषु चैता एव कल्पना इतिहासरूपेण विवृता विद्यन्ते, ता एव केवलसंहिताब्राह्मणभागीयप्रमाणैःसङ्गतिं विधायातिसंक्षेपरूपेण प्रतिपादिताः।

अयमेको देवताविषयविचारप्रकारो विदुषां पुरत उपस्थापितः। एवं मन्ये सर्वासां देवतानां तत्तत्संहिताब्राह्मणादिभागीयवृत्तवर्णनादिकमेकत्र स्थले कृत्वा भारतादीतिहाससाहाय्येन पुराणादिकसाधनेन सम्यगालोच्यते चेत्तदा नूनं वैदिकसंस्कृतेः सम्यक्स्वरूपं देवतातत्वस्वरूपं दर्शनानां प्रादुर्भाव-विकास-भेदस्वरूपनिरूपणं शिल्पमन्त्रायुर्वेदयोगशास्त्रादिक्रमादिज्ञानं च सम्यग् भवेदिति शम्।

भारतीयवेषविमर्शः ।

रघुनाथशास्त्री,

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं, सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं, नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् । १ ।

अथातो वेषविमर्शः । यतो वेष एवानाख्यातमपि देशं शीलं कर्म जीविकां वित्तं वर्णमाश्रमं पुंस्त्वं स्त्रीत्वं वाऽऽख्याति । किं बहुना विषेणैव पशवोऽपि विश्वमन्त्युद्विजन्ते च । वेष एव हि स्त्रियाः पुरुषस्य वा संवननं भवति । दंपत्योः परस्परानुरागजननाय हि वेष आवश्यको यथाऽऽहगोणिकापुत्रः वात्स्यायनप्रणी कामसूत्रे (५ अधिकरणे१अध्यायेस्त्रीपुरुषशीलावस्थापनप्रकरणे)––"यं कञ्चिदुज्ज्वलं पुरुषं दृष्ट्वा स्त्री कामयते तथा पुरुषोऽपि योषितम्, अपेक्षया तु न प्रवर्तते इति गोणिकापुत्रः (८ सू०) व्याख्या:—स्वकीयं परकीयं वा पुरुषमुज्ज्वलं वर्णवेशाभ्यां दृष्ट्वा स्त्री कामयते संजातरागा भवति, पुरुषोऽपि योषितमुज्ज्वलां दृष्ट्वा कामयते, अपेक्षया तु कस्यचित्कार्यस्य न प्रवर्तते द्वावपि न प्रयुज्यते, तदुभयोरत्युज्ज्वलकामित्वञ्च कार्यपेशत्वञ्च शीलम्, गोणिकापुत्रग्रहणं प्रावीण्यख्यापनार्थम् । तथाचात्रार्थे मनुरपि—

तस्यां हि रोचमानायां, सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां तत्कुलं न प्ररोहति । इति
न जीर्णमलवद्वासा भवच्च विभवे सति । इति चान्यत्र ।

'तत्र वेषो नेपथ्यं भूमिका चेत्यनर्थान्तरम्' वेशोऽपि तत्रैव । यतो वेशे साधुर्वेशमर्हति इति वा वेश्या भवति । वेशो वेश्यागृहमप्युच्यते । तत्र वेषो वेश्यानटचराणां वृत्तिसाधनमन्येषां तु प्रसाधनम् । अत एव 'कर्मवेषाद्यत् ।५।१।१००। इति पाणिनिसूत्रस्य वेषेण संपादी वेष्यो नट इत्युदाहरणम् । अवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् । १स०६९श्लो०शिशुपालवधे । स वर्णिलिङ्गी विदित इति च भारविः । तत्र वेषो यद्यपि प्रसाधनं तथापि शरीरसंरक्षणार्थत्वमपि तस्य सुस्थितमेव । तथा च चरकसंहितायां सूत्रस्थाने ५अध्याये––

काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम् ।
श्रीमत्पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम् ।
वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम् ।
सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम्
धन्यं मङ्गल्यमायुष्यं श्रीमद् व्यसनसूदनम् ।

हर्षणं काम्यमोजस्यं रत्नाभरणधारणम्।
मेध्यं पवित्रमायुष्यमलक्ष्मीकलिनाशनम्।
पादयोर्मलमार्गाणां शौचाधानमभीक्ष्णशः।
पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पनं संप्रसाधनम्।
चक्षुष्यं स्पर्शनहितं पादयोर्व्यसनापहम्।
बल्यं पराक्रमसुखं वृष्यं पादत्रधारणम्।
ईतेः प्रशमनं बल्यं गुप्त्यावरणशंकरम्।
घर्मानिलरजोऽम्बुघ्नं छत्रधारणमुच्यते।
स्खलतः संप्रतिष्ठानं शत्रूणां च निषूदनम्।
अवष्टम्भनमायुष्यं भयघ्नं दण्डधारणम्।
नगरी नगरस्येव रथस्यैव रथी यथा।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्"। इति।

अत एव शरीररक्षामपेक्ष्यैव तत्तद् देशेषु ते ते वेषाः सन्ति शीतवातातपसहाः। वस्त्रं हि शरीरस्याच्छादनरक्षार्थं पत्रमिव तरूणाम्। तदभावे हि समूला अपि ते शुष्यन्ति। अत एव देशानुकूल एव वेषो ग्राह्यो नत्वन्यदेशीयोऽनुकार्यः शरीरहितमिच्छता। तथा च लोके आभाणकः। ,यथा देशस्तथा वेष' इति। वक्ष्यते च नाट्यशास्त्रोपन्यासावसरे—

देवजातिविशेषेण देशानामपि कारयेत्।
वेषं तथा चाभरणं क्षुरकर्म परिच्छदम्।
अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यमेवोपजायते।" इति।

नहि हैमवतानां मारवाणाञ्चैको वेषो हितकृत्। न चान्यदीयवेषानुकारेण लोके पूजा भवति, पूजाया अवेषहेतुकत्वात्। तदुक्तम्—

'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।'

तत्र लिङ्गं वेष एव। अत एव च सर्वेऽपि देशभेदेन वेषभेदास्तत्तद्देशीयानां श्लाघ्या एव। तत्र नैकतमस्योपहासः साधुः। किन्तु मध्यस्थलमेव वरम्। तदुक्तं नैषधीये—

क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम्।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समायां मध्यस्थता नैकतरोपहासः। इति।

तत्र वेषो नाम कृत्रिम आकारः। तस्य कृत्रिमत्वञ्च नानाक्रियानिर्वर्तितत्वात्। तथा हि वस्त्रभूषाकेशविन्यासाञ्जनाभ्यञ्जनादिक्रियाभिर्वेषो निर्वर्त्यते।

तत्र नारीणां वेषाभिनिवेशवत्त्वान्नारीवेष एव प्रथमं निरूप्यते। तत्रापि संयुक्ताप्रोषितभर्तृकाविधवाभेदेन संक्षेपतो नारीवेषस्य त्रैविध्येऽपि प्रथमं संयुक्तावेष एव प्रदर्श्यते। भर्तुः प्रवासे मण्डनादिनिषेधात्। तत्रार्धचन्द्ररूपं शिरसि धार्यं सौवर्णं भूषणम्।

'ये वध्वश्चन्द्रं वहत्तु यक्ष्मा यन्ति जनादनु।

पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः। ऋक्सं मं०१०अ०७सू ८५। मं० ३१।

भाष्यम्—वध्वश्चन्द्रं हिरण्यरूपं वहन्तु ये यक्ष्मा व्याधयः अनुयन्ति प्राप्नुवन्ति जनाद् अस्मद्विरोधिनः सकाशात्। यद्वा जनाद् यमाख्यात् तान् पुनर्नयन्तु प्रापयन्तु यज्ञिया देवा यज्ञार्हा देवा इन्द्रादयः, यत आगता यस्मात्ते यक्ष्मा आगतास्तत्र तान्नयन्तु।

"चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।

द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात् सूर्या पतिम्। मं० १०।अ० ७ सू० ८५ मं० ७।

भाष्यम्—चित्तिः देवता उपबर्हणम् आः आसीत्, चक्षुः अभ्यञ्जनम् आः आसीत्। तथाहि वृत्रस्य कनीनिका परापतत् त्रिककुन्नामपर्वते तेन त्रैककुदेनाञ्जनसजातीयेन च चक्षुषी आञ्जते, तच्चक्षुरेवाञ्जनमासीदिति, द्यौश्च भूमिश्च कोश आसीत् कोशस्थानीये अभूताम्। यद् यदा सूर्या स्वकीयनवभर्तारं सोममयात् अगच्छत् तदैवमुपकरणान्यासन्। अनेन चक्षुषोरञ्जनं स्त्रीणामावश्यकं प्रसाधनं प्रतीयते। अधरं चोत्तरीयञ्च वासोयुगं तासां गोभिलगृह्यसूत्रे २ प्रपाठकस्य १ कण्डिकायां विवाहप्रकरणे—'अहतेन वसनेन पतिः परिदध्यात् या अकृन्तन्नित्येतया ऋचा॥ १७॥ भाष्यम्—अहतेनाधौतेनाक्षुण्णेन वसनेन वाससा पतिः कन्यां दत्तां सतीं परिदध्यात् परिधापयेत् या अकृन्तन्नित्येतया ऋचा। मन्त्रस्तु—ओं

या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देव्यो अन्तानभितोऽततन्थ।

तास्त्या देव्यो जरसा संव्ययन्त्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥ मन्त्रब्राह्मणम्॥१।१।५।

व्याख्या—या देव्यो द्युतिमत्यः स्त्रियः इदं वस्त्रमकृन्तन् कर्तितवत्यः सूत्राणि निर्मितवत्यः या अवयन् ऊतवत्यः या अतन्वत विस्तारितवत्यः याश्च अन्तान् एतत्पटसक्तान् अभित उभयपार्श्वयोरततन्थ तेनुर्ग्रथितवत्यः ता देव्यो दानादिगुणयुक्ता हे कन्ये त्वा त्वां जरसा जरान्तं यावत् संव्ययन्तु परिधापयन्तु हे आयुष्मति इदं वासः परिधत्स्व परिधानं कुरुष्व।

"परिधत्त धत्त वाससेति च प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयञ्जपेत सोमोऽददद् गन्धर्वायेति सू०। १८। तत्रैव। भाष्यम्—परिधत्तेत्यनेन मन्त्रेण प्रावृतां कृतोत्तरीयां कथं प्रावृताम्, यज्ञोपवीतिनीम्, * उपवीतवदित्यर्थः कुतः स्त्रीणामुपवीतस्याभावात्। अभ्युदानयन् गृहदग्नेरभिमुखीमानयन् जपेत् सोमोऽददद् इत्येतन्मन्त्रम्। पूर्वसूत्रोक्ताहतवासोलक्षणन्तु—

ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदृशं यन्न धारितम्।

अहतं तद् विजानीयाद् दैवे पित्र्ये च कर्मणि।

वृद्धहारीतस्मृतिः। ९।१४६।

स्त्रीपरिधाने तु श्वेतमित्यविवक्षितम्।

धारयेदथ रक्तानि नारीचेत्पतिसंयुता।

विधवा तु न रक्तानि कुमारी शुक्लवाससी।

इति मत्स्यपुराणात्। शुक्लवाससी इत्यनेन कुमार्या अपि अधरीयोत्तरीये गम्येते। परिधानप्रकारमाहतुः शङ्खलिखितौ। "न नाभिं दर्शयेत् कुलवधूरागुल्फाभ्यां वासः परिदध्यात् न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्" नत्वधुनेवाधरोरुकं परिधेयम्। तथा च पाणिनीयं सूत्रम्। आप्रपदं प्राप्नोति। ५-२-८। पादस्याग्रं प्रपदं तदभिव्याप्नोति आप्रपदीनः पटः। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः। १।१।३६। इति पाणिनिसूत्रा-

---

* पुराकल्पे स्त्रीणां यज्ञोपवीतस्य विहितत्वात् यथाश्रुतं साधु।

दनेकशाटीपरिधानमपि गम्यते। नह्यनेकशाटीपरिधानं विना बहिर्योग उपपद्यते। महाभारते सभापर्वणि द्रौपदीचीरहरणावासरे—

सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टिः शनैरुवाचाथ रजस्वलाऽस्मि।

एकं च वासो मम मन्दबुद्धे सभां नेतुं नार्हसि मामनार्य।४७१। अधरोरुकमपि शाटयन्तः परिधीयमानं स्त्रीवेषः, केवलं तु तदल्पवयसः कुमार्या इत्येतदधरेति विशेषणाद् भाति। तदुक्तं व्याकरण-महाभाष्ये दशदाडिमादिवाक्ये। अधरोरुकमेतत्कुमार्याः इति।

ततो जवेनाभिससार रोषाद् दुःशासनस्तामभिगर्जमानः।

दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम्।३६९। आर्यस्त्रीणां दीर्घकेशवत्त्वं वेष आसीन्नतु कर्तनेन ह्रस्वीकृताःकेशा इ त्येतद्वाक्यात्प्रतिभासते। नील्या रक्ता शाटी तु स्त्रिया न धार्या ऋते पतिसमागमकालात्। तथा चाङ्गिरःस्मृतिः।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नीलीशौचस्य वै विधिम्।
स्त्रीणां क्रीडार्थसंभोगे शयनीये न दुष्यति।१२।
स्नानं दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
स्पृष्ट्वा तस्य महापापं नीलीवस्त्रस्य धारणम्।१४।
नीलीरक्तं यदा वस्त्रमज्ञानेन तु धारयेत्।

अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुध्यति।१५। वधूदुकूलदशा हंसादिचित्रिता आसन्निति-कुमारसंभवपद्यदर्शनेनानुमीयते। तदुक्तम्।

त्वमेव तावत्प्रविचारय स्थिरं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः।

वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च। कुमारसंभवे पार्वतीवर्णिसंवादे वासोविन्यास-विशेषस्तु तत्तद्देशाचारदवगन्तव्यः, तत्र दिङ्मात्रं यथा काव्यमीमांसायां कविरहस्यनाम्नि प्रकरणे ३ अध्याये—

आर्द्रार्द्रचन्दनकुचार्पितसूत्रहारः सीमन्तचुम्बिसिचयः स्फुटबाहुमूलः।
दूर्वाप्रकाण्डरुचिरास्वगुरूपभोगाद्, गौडाङ्गनासु चिरमेष चकास्तु वेषः।
ताडङ्कवल्गनतरङ्गितगण्डलेख, मानाभिलम्बिदरदोलिततारहारम्।
आश्रोणिगुल्फपरिमण्डलितोत्तरीयं, वेषं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम्।
आमूलतो वलितकुन्तलचारुचूड, श्चूर्णालकप्रचयलाञ्छितभालभागः।
कक्षानिवेशनिबिडीकृतनीविरेष, वेषश्चिरं जयति केरलकामिनीनाम्। इति। वात्स्यायनप्रणीते कामसूत्रे ४अधिकरणे १अध्याये एकचारिणीवृत्तप्रकरणे नानाविधाः संयुक्तावेषाः। 'स्वेददन्तपङ्कदुर्गन्धाँश्च बुध्येतेति विरागकारणम्।२३। "बहु भूषणं विविधकुसुमानुलेपनं विविधरागसमुज्ज्वलं वास इत्याभि-गमिको वेषः।२४। "प्रतनुश्लक्ष्णाल्पदुकूलता परिमितमाभरणं सुगन्धिता नात्युल्वणमालेपनं तथा शुक्लान्यन्यानि प्रयोज्यानीति वैहारिको वेषः।२५। कामसूत्रे ५अधिकरणे २अध्याये अभियोगप्रकरणे— 'तत्र महाहिगन्धमुत्तरीयं कुसुमं चात्मीयं स्यादङ्गुलीयञ्च तद्धस्तात्ताम्बूलग्रहणं गोष्ठीगमनोद्यतस्य केशहस्तपुष्पयाचनम्।२१। स्त्रीणां केशपाशे पुष्पग्रथनमितः प्रतीयते। कामसूत्रे ६अधिकरणे १अध्याये गम्योपावर्तनप्रकरणे—

ताम्बूलानि स्रजश्चैव संस्कृतञ्चानुलेपनम्।
आगतस्य हरेत्प्रीत्या कलागोष्ठीश्च योजयेत्।

व्याख्या—संस्कृतमिति सर्वत्र योज्यम्। कलागोष्ठीश्चेति चशब्दात्काव्यगोष्ठीश्च। इतो वाक्यात् कलातः काव्यस्य भेदः प्रतीयते। कामसूत्रे ६अधिकरणे १अध्याये कान्तानुवृत्तप्रकरणे वृथाऽपराधे तद्व्यसने वाऽलंकारस्याग्रहणमभोजनञ्च । १८ । नित्यमलंकारयोगः परिमितोऽभ्यवहारः ।२१। व्याख्या—यत्तु नित्यमलंकारयोगिनीस्याद् इत्युक्तं तत्पत्युः परदेशादुपावर्तनकाले द्रष्टव्यम् । परिमित इति, बहुभक्षणे प्रायशो वेश्यानां दोषवत्त्वात्, तत्रापि स्निग्धं, न रूक्षं, ज्वरादिकारित्वाद् रूक्षस्य । ।२१। कामसूत्रे ६अधिकरणे ५अध्याये लाभविशेषप्रकरणे—'सर्वाङ्गिकोऽलंकारयोगः, गृहस्योदारस्यकरणं, महार्हैर्भाण्डैः परिचारकैश्च गृहपरिच्छदस्योज्ज्वलेति रूपाजीवानां लाभातिशयः ।२६। व्याख्याः—सर्वाङ्गिक इति। सर्वेष्वङ्गेषु यो भवति, उदारस्येति । संस्थानतः संस्कारतश्चेति। महार्हैरिति। लोहताम्रराजतैः। परिचारकैरिति। यथास्वं कर्मणा परिचरन्ति ये। गृहपरिच्छदस्येति। गृहसंविधानकस्योज्ज्वलतेत्ययंप्रधानार्थः। तद्व्ययसहिष्णोर्धनस्य नायकात्परिग्रहणमिति वर्तते। अयं प्रकृष्टो लाभातिशयो रूपाजीवानामिति। उत्तमानां सत्स्वपि गुणेषु रूपमेवाजीवो यासां, रूपस्य प्रधानत्वात्। कलास्तु न सन्ति। तत्र रूपस्य गुणानां पादार्धहान्या मध्यमाधमाः। अत्र यः प्रधानार्थः स गणिकानामस्त्येव ।२६। नित्यं शुक्लमाच्छादनमपक्षुधमन्नपानं नित्यं सौगन्धिकेन ताम्बूलेन च योगः सहिरण्यभागमलंकरणमिति कुम्भदासीनां लाभातिशयः ।२७। व्याख्या—नित्यमिति। आच्छादनमिति। परिधानीयं प्रावारणीयञ्च सदैव शुक्लम्, अकदर्थितत्वात् क्षुधमपनयति, सौगन्धिकेन सुगन्धिसमूहेन चतुःसमकादिना ताम्बूलेन च नित्यं योगः, एतत्सर्वं गणिकानां रूपाजीवानाञ्चास्त्येव। विशेषमाह सहिरण्यभागमिति। सुवर्णलेशेन युक्तमित्यर्थः।२७। कामसूत्रे ७अधिकरणे १ अध्याये सुभगंकरणप्रकरणे —तगरकुष्ठतालीसपत्रकानुलेपनं सुभगंकरणम्।४। व्याख्या—तगरेति। तगरं तु कन्दमौत्तरापथिकं न नेपालभवं, कुष्ठं यच्छ्वेतं, तालीसपत्रकं प्रतीतम्, एतैरनुलेपनं शरीरस्य।४। 'एतैरेव सुपिष्टैर्वर्तिमालिप्याक्षतैलेन नरकपाले साधितमञ्जनञ्च।५। व्याख्या—एतैरेवेति। वर्तिमालिप्य दुकूलमयीम् अक्षतैलेन विभीतकतैलेन। साधितमिति। नरकपाले पाचितमित्याम्नायः। कज्जलं तेन स्नेहेन योज्यं, सुभगंकरणमिति सर्वत्र योजनीयम्।५। पुनर्नवासहदेवीसारिवाकुरण्टकोत्पलपत्रैश्च सिद्धं तैलमभ्यञ्जनम्। ६। व्याख्या—पुनर्नवेति। पुनर्नवा, सहदेवी, दण्डोत्पलकं, सारिवेति उत्पलसारिवा ग्राह्या, कुरण्टकः प्रतीतः । उत्पलपत्रमिति । यदाभ्यन्तरं, न बाह्यम् । शेषाणां मूलम् । सिद्धमिति । तैलविधानेन पक्वम् । एतैरेव कषायं कल्कञ्च कृत्वा । तैलमिति । तिलानाम् । अभ्यञ्जनं सुभगंकरणम् ।६। तद्युक्ता एव स्रजश्च ।७। व्याख्या—पुनर्नवादिचूर्णयुक्ताः स्रजो धारिताः सुभगंकरणम् ।७। पद्मोत्पलनागकेशराणां शोषितानां चूर्णं मधुघृताभ्यामवलिह्य सुभगो भवति।८। व्याख्या—नागइति नागकेसरः। पद्मादीनां केशराण्येकीकृत्य संचूर्ण्य, अवलिह्येति वमनविरेचनं कृत्वा, तत्रापि न तदैव सुभगो, मासादूर्ध्वं दृष्टशक्तिः। सुभग इति पुंस्त्वमविवक्षितम्।८। तान्येव तगरतालीसतमालपत्रयुक्तान्यनुलिप्य।९। व्याख्या—पद्मादिकेसराणि तगरादियुक्तानि अनुलिप्येति। अनुलेपनं कृत्वा शरीरस्य, सुभगो भवति।९। मयूरस्याक्षितरक्षोर्वा सुवर्णेनावलिप्य दक्षिणहस्तेन धारयेदिति सुभगंकरणम्।१०। व्याख्या—मयूरस्येति। यो न विशीर्णबर्हः। तरक्षोर्वेति। यो मत्तः। स हि ग्रीष्मे माद्यति। अक्षीति दक्षिणं वामञ्च ग्राह्यम्, द्वयोरेव सामर्थ्यमित्याम्नायः। सुवर्णेनविलिप्येति। शुद्धसुवर्णपत्रेण पुष्ययोगेन वेष्टयित्वा। कामसूत्रे १ अधिकरणे ४अध्याये नागरकवृत्तप्रकरणे—'तत्र रात्रिशेषमनुलेपनं माल्यं सिक्थकरण्डकं सौगन्धिकपुटिका मातुलुङ्गत्वचस्ताम्बूलानि च स्युः।८। व्याख्या—तत्र वेदिकायां रात्रिशेषं

बौद्ध देवी तारा की कांस्य-मूर्ति
नैपाली कला
ई० १६वीं—१७वीं शती

—मथुरा संग्रहालय

राज्ञ्युपयुक्तशेषं सिक्थकरण्डक सिक्थकसंपुटिका सौगन्धिकं सुगन्धद्रव्यनिर्वृत्तं स्वेदापनोदार्थं तस्य पुटिका तमालादिपत्रमयी मातुलुङ्गत्वचो मुखवैरस्यापनोदार्थं दुष्टमारुतनिवारणार्थञ्च । ८। काशीखण्डे ४ अध्याये संयुक्तायाः प्रसाधनं सौभाग्यवर्धनमुक्तम्। हरिद्रां कुङ्कुमं चैव सिन्दूरं कज्जलं तथा। कूर्पासकञ्च ताम्बूलं माङ्गल्याभरणं शुभम्। २४। केशसंस्कारकबरीकरकर्णादिभूषणम्॥ भर्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेन्न पतिव्रता। २५। काव्यमीमांसायाम् ५अध्याये सौरतोवेषः।

कुतः कण्ठे निष्कोनहि किमुततन्वीमणिलता, कृशांलीलापत्रं श्रवसि, निहितं कुण्डलमुचि।

न कौशेयं चित्रं वसनमवदातं तु वसितं, समासन्नीभूतेनिधुवनविलासेवनितया। अथ तत्रैव नाना-विधालंकारपत्ररचनादिप्रयुक्ता नानाविधानारीवेषाः। तत्रैव ६अध्याये—

नित्यं त्वयिप्रचुरचित्रकपत्रभङ्गीताटङ्कताडनविपाण्डुरगण्डलेखाः।
स्निह्यन्तु रत्नरशनारणनाभिराम कामार्तिनर्तितनितम्बतटास्तरुण्यः।

तत्रैव १०अध्याये—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्यापरिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वाचरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान। तत्रैव १३ अ०
ततस्तमःश्यामलपट्टकञ्चुकं विपाटयत् किञ्चिद्दृश्यतान्तरा।
निशातरुण्याः स्थितशेषकुङ्कुमस्तनाभिरामं शकलं कलावतः।

तत्रैवाग्रे—शोकाश्रुभिर्वासरखण्डितानां, सिक्ताः कपोलेषु विलासिनीनाम्।
कान्तेषु कालात्ययमाचरत्सु, स्वल्पायुषः पत्रलता बभूवुः।

पत्रलताः चन्दनादिकृताः पत्रपुष्पलताद्याकृतयः स्तनकपोलादिषु॥ तत्रैव मुखे वृत्तचन्दन तिलकवर्णनम्।

शैलच्छलेनस्वं दीर्घं भुजमुद्यम्य भूवधूः।
निशासख्याः करोतीव शशाङ्कतिलकं मुखे। तत्रैवाग्रे १५अ०
आलिख्यपत्रसिकतागुरुणाभिरामं रामामुखेक्षणसभाजितचन्द्रविम्बे।
जातः पुनर्विकसनावसरोऽयमस्येत्युक्त्वा सखी कुवलयं श्रवणे चकार।

अथ तत्रैव १३अ० ज्योत्स्नायामभिसारिकावेषः।

हारो वक्षसि दन्तपत्रविशदं कर्णे दलं कौमुदं,
माला मूर्ध्नि दुकूलिनी तनुलता कर्पूरशुक्लौ स्तनौ।
वक्त्रे चन्दनविन्दुरिन्दुधवलं बालं मृणालं करे,
वेषः किं सित एष सुन्दरि शरच्चन्द्रात्त्वया शिक्षितः।

अथ तत्रैव तमिस्रायामभिसारिकावेषः

मूर्तिर्नीलदुकूलिनी मृगमदैः प्रत्यङ्गपत्रक्रिया
वाहू मेचकरत्नकङ्कणभृतौकण्ठे मसारावली।
व्यालम्बालकवल्लरीकमलिकं कान्ताभिसारोत्सवे,
यत्सत्यं तमसा मृगाक्षिविहितं वेषे तवाचार्यकम्।

यान्ति नीलनिचोलिन्यः तमिस्रास्वभिसारिकाः इति साहित्यदर्पणे। व्रज सखि कुञ्जं सतिमिर-पुञ्जं शीलय नीलनिचोलम् इति गीतगोविन्दे। निचोलआगुल्फलम्बि कञ्चुकम् निचोलः प्रच्छदपट इत्यमरः। काव्यमीमांसायामेव १५अ० शुक्लरक्तं वृत्ततिलकमर्धकुङ्कुमशब्दवाच्यम्।

गुणानुरागमिश्रेण, यशसा तव सर्पता।
दिग्वधूनां मुखे, जातमकस्मादर्धकुङ्कुमम्। तत्रैव१८अ०
पुंनागरोध्रप्रसवावतंसा वामभ्रुवः कञ्चुककुञ्चिताङ्ग्यः।
वक्त्रोल्लसत्कुङ्कुमसिक्थकाङ्काः सुगन्धतैलाः कबरीर्वहन्ति।
मधूच्छिष्टं तु सिक्थकमित्यमरः। अत्र सिक्थकपदेन सिक्थकाकारा पत्ररचनाकुङ्कुमकृता विवक्षिता। इदञ्च नारीविशेषणम्। तत्रैवाग्रे वासन्तिको वेषः।
पिनद्धमाहारजनांशुकानां, सीमन्तसिन्दूरजुषां वसन्ते।
स्मरीकृते प्रेयसि भक्तिभाजां, विशेषवेषः, स्वदते वधूनाम्।
कर्पूरचूर्णं सहकारभङ्गस्ताम्बूलमद्रिक्रमुकोपक्लृप्तम्।
हाराश्च तारास्तनुवस्त्रमेतन्महारहस्यं शिशिरक्रियायाः। इति च। अथ ग्रैष्मो वेषः।
मुक्तालताश्चन्दनपङ्कदिग्धा, मृणालहारानुसृता जलार्द्राः।
स्रजश्च मौलौ स्मितचम्पकानां, ग्रीष्मेऽपि सोऽयं शिशिरावतारः।
कर्णे स्मेरं शिरीषं शिरसि विचकिलस्रग्लताः पाटलिन्यः
कण्ठे मार्णालिहारो वलयितमसिताम्भोजनालं कलाच्योः।
सामोदं चन्दजाम्भःस्तनभुवि नयने म्लानमाञ्जिष्ठपृष्ठे,
गात्रं लोलज्जलार्द्रं जयति मृगदृशां ग्रैष्मिको वेष एषः।
इति च। सायंकालिको वेषस्तत्रैव—
अभिनवकुशसूचिस्पर्धिकर्णे शिरीषं मरुवकपरिवारं पाटलादामकण्ठे।
स तु सरसजलार्द्रोन्मीलितः सुन्दरीणां, दिनपरिणतिजन्मा कोऽपि वेषश्चकास्ति।
मेघदूते उत्तरमेघे स्त्रीणां पौष्पी वेषरचना।
हस्ते लीलाकमलमलकं बालकुन्दानुविद्धं नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामाननश्रीः।
चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं, सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।
विराटपर्वणि स्त्रीवेषः। यस्य ज्याघातकठिनौ, बाहू परिघसंनिभौ। स शङ्खपरिपूर्णाभ्यां,शोचश्रास्ते धनञ्जयः। १९अ० १७श्लो०।
किरीटं सूर्यसंकाशं यस्य मूर्धन्यशोभत।
वेणीविकृतकेशान्तः सोऽयमद्य धनञ्जयः।
भूषितं तमलंकारैः कुण्डलैः परिहारकैः।
कम्बुपाणिनमायान्तं दृष्ट्वा सीदति मे मनः। १९अ०२६।
कम्बुपदवाच्यानि शङ्खघटितवलयानीति नीलकण्ठी १३अ०विराटपर्वणि—
सत्त्वोपपन्नः पुरुषोमरोपमः, श्यामो युवा वारणयूथपोपमः।
आमुच्य कम्बूपरिहाटके शुभे, विमुच्य वेणीमपिनह्य कुण्डले। ११अ० ५श्लो०।
कुण्डले ताडङ्के कम्बूनां शङ्खानामुपरिहाटके कनकमये वलये च परिमुच्येति नीलकण्ठी। मृच्छकटिके १अङ्के स्त्रीवेषः।
रक्तांशुकं पवनलोलदशंवहन्ती। २०।
प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपार्श्वा। २४।

किं त्वं कटीतटनिवेशितमुद्वहन्ती, ताराविचित्ररुचिरं रशनाकलापम् ।२७।
त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं, गन्धश्च भीरु मुखराणि च नूपुराणि ।३५। तत्रैव २ अङ्के—
विचलतिनूपुरयुगलं, छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिताः।
वलयाश्च सुन्दरतरा रत्नाङ्कुरजालप्रतिबद्धाः। १९। तत्रैव ५अङ्के—
वर्षोदकमुद्गिरता श्रवणान्तविलम्बिना कदम्बेन ।
एकःस्तनोऽभिषिक्तो नृपसुत इव यौवराज्यस्थः।।२८। अभिज्ञानशाकुन्तले १अङ्के—

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।४।

तत्रैव शकुन्तलावाक्यम् सखि अनसूये, अतिपिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रिताऽस्मि शिथिलय तावदेतत्। तत्रैव दुष्यन्तवाक्यम्—

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव न रुचिराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।१७। तत्रैव ४ अङ्के—

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतम्,
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केन चित्।

अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरपर्वभागोत्थितैर्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः।४।

क्षौमं, क्षुमाऽतसी तस्यास्त्वचो विकारभूतं वस्त्रं विवाहादिमङ्गलावसरे परिधेयं महाजनवेषपरिगृहीतञ्च पुराऽभूत् इदानीन्तनैस्तु पटकर्तृभिर्नाथापि तदवबुद्धम्। अवगुण्ठनमपि नारीवेषस्तत्रैव ५अङ्के—

कास्विदवगुण्ठनवती नारी नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।।१३।

सीमन्तरूपः केशवेषोऽपि सीमन्तिनीति स्त्रीनाम्नैव प्रसिद्धः। अयं च पुरुषसाधारणः। यथा नैषधीये—

द्विफालवद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम्।

मङ्गलसूत्रं सूक्ष्मकाचमणिसूत्रयुक्तं विवाहावसरे वधूकरे संस्कारगणपतौ विधानपादिजाते लध्वाश्वलायनस्मृतौ चोपलभ्यते। नन्दिपुराणे सौभाग्यवतीमुद्दिश्य श्राद्धे इदानीमुपलभ्यमानाः सर्वेऽपि करकर्णवक्षःकट्याद्यलंकाराः प्रायेण दृश्यन्ते। किञ्चमार्कण्डेयपुराणे देवीमाहात्म्ये मध्यमचरित्रे २अ०स्त्रीणामलकाराः—हारचूडामणिकुण्डलकटकार्धचन्द्रकेयूरनूपुरग्रैवेयकाङ्गुलीयकनागहाररूपाः श्रीदेव्यै प्रसाधनाय देवैर्दत्ताः। स्त्रीणामलंकारविषयेपाणिनिसूत्रमपि। कर्णललाटात्कनलंकारे। ४–३–६५। कर्णिका। कर्णालंकारः। ललाटिका। ललाटे चन्दनतिलकम्। ललाटिकाचन्दनधूसरालिका। इति कुमारसंभवे। कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलंकारेषु।४।२।९६। ग्रैवेयको हारः। अथ प्रोषितपतिकावेषाः। काशीखण्डे४अ०—कार्यार्थे प्रोषिते क्वापि, सर्वमण्डनवर्जिता।१०। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

क्रीडां शरीरसंस्कारं, समाजोत्सवदर्शनम्।

हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका। कामसूत्रे ४अधिकरणे १अध्याये प्रवासचर्याप्रकरणे—'प्रवासे च मङ्गलमात्राभरणा देवतोपवासपरा वार्तायां स्थिता गृहानवेक्षेत।' सू० ४३। व्याख्या—मङ्गलमात्रमाभरणं शङ्खवलयादिकं यस्याः सा। कामसूत्रे ६अधिकरणे २ अध्याये कान्तानुवृत्तप्रकरणे—'प्रोषिते मृजाऽनियमश्चालंकारस्य प्रतिषेधः। मङ्गलन्त्वपेक्ष्यम्, एकं शङ्खवलयं वा धारयेत्' सू० ४४।
व्याख्या—मृजाऽनियमः शरीरासंस्कृतिः। अभिज्ञानशाकुन्तले ७ अङ्के—

'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।

अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥२१॥ वाल्मीकीयरामायणे सुन्दरकाण्डे हनूमद्वाक्यम्—"न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी। न भोक्तुं नाप्यलंकर्तुं न पानमुपसेवितुम् ॥"

अथ विधवावेषाः। काशीखण्डे ४अध्याये—

'विधवा कबरीबन्धो भर्तृबन्धाय जायते।
शिरसो वपनं तस्मात्कार्यं विधवया सदा ॥ ७४ ॥"
नचाङ्गोद्वर्तनं कार्यं स्त्रिया विधवया क्वचित्।
गन्धद्रव्यस्य संयोगो नैव कार्यस्तया पुनः ॥ ३९ ॥"
'कञ्चुकं न परीदध्याद् वासो न विकृतं न्यसेत् (वसेत्) ॥ ३ ॥"

व्याख्या—विकृतं विशेषेण कृतं चित्रमित्यर्थः। अङ्गिरस्मृतौ—'मृते भर्तरि या नारी नीलीवस्त्रं प्रधारयेत् भर्त्ता तु नरकं याति सा नारी तदनन्तरम् ॥ २१ ॥"

अथ पुरुषवेषाः।

तत्र प्रथमं बालवेषः। तत्रापि कस्यचित्परम्पराप्राप्तं पद्यम्—

'दिगम्बरं गतव्रीडं जटिलं धूलिधूसरम्।
महापुण्येन पश्यन्ति धन्याः शिवमिवार्भकम् ॥'

'बालग्रीवेव व्याघ्रनखपङ्क्तिमण्डिता' इति विन्ध्याटवीवर्णने कादम्बरी 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इत्यमरः। 'चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः इति रघुः।

'बालानां कपोलसमीपशिखा काकपक्षः' इति रामायणतिलके बालकाण्डे।

अथ ब्रह्मचारिवेषाः। तत्र 'पञ्चचूडाङ्गिरसो मुण्डा भृगव एकचूडाऽन्ये' इति पारस्करगृह्यसूत्रे चूडाप्रकरणे। आपस्तम्बधर्मसूत्रे—'जटिलः' प्रथमप्रश्ने २क३१सूत्रम्। व्याख्या—जटावान् स्यात् ॥ शिखाजटो वा वापयेदितरान्' सू० ३२। एतस्यैव संग्राहिकास्मृतिः—

'मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्यातशिखाजटः।' अथ तस्ये दण्डः—

'ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः।' मनु० २अ०श्लोक८५।

'केशान्तगो ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विश ॥" ४६ ॥
'ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्त्वचो नाग्निदूषिताः ॥ ८७ ॥'

आपस्ताम्बधर्मसूत्रे—'पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य नैयग्रोधस्कन्धजोऽवाग्रो राजन्यस्य बादर औदुम्बरो वा वैश्यस्य, वार्क्षो दण्ड इत्यवर्णसंयोगेनैके उपदिशन्ति।' १ प्र० २क०३८सू०। पालाशदण्ड आषाढपदेनापि व्यवह्रियते। 'अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाक्' इतिकुमारसंभवे। 'पार्णवैल्वाश्वत्थदण्डाः' गोभिल गृह्यसूत्रे २प्र०१०क०१०सू०। व्याख्या—पार्णः पालाशः वैल्वः आश्वत्थ इति वर्णक्रमेण: दण्डाः।

अथ तस्य वस्त्राणि

'कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च।' इति

ब्रह्मचारिप्रकरणे मनुः। व्याख्या—कार्ष्णं कृष्णमृग चर्म। रुरुर्विन्दुमान्मृगः, गौरमृगो वा। बस्तोऽजः। एतच्चर्माणि वर्णक्रमेण ब्रह्मचारिणां परिधेयानि। शाणं क्षौममाविकञ्च वस्त्रं वर्णक्रमेण धार्यम्। आपस्तम्बधर्मसूत्रे—'हारिणमैणेयं वा कृष्णं ब्राह्मणस्य' १प्र०२क०३सू०। व्याख्या—हरिणो मृगः, एणी मृगी। 'रौरवं राजन्यस्य'' सू०५। 'रुरुर्विन्दुमान् मृगः' इति तद्वृत्तौ। 'वस्ताजिनं वैश्यस्य' सू०६। 'कम्बलश्च' सू० ७। व्याख्या—प्रावरणमेव सर्वेषाम्। 'अजिनं त्वेवोत्तरं धारयेत्' सू० १० 'शाणक्षौमाजिनानि' सू० ४०। व्याख्या—वर्णक्रमेण परिधेयानीत्यर्थः। 'काषायं चैके वस्त्रमुपदिशन्ति' सू०४१। व्याख्या—काषायं गैरिकरक्तम्। ब्राह्मणस्येति शेषः, इतरयोर्वक्ष्यमाणत्वात्। 'माञ्जिष्ठं राजन्यस्य' 'हारिद्रं वैश्यस्य' ३क० २सू०। गोभिलगृह्यसूत्रे २प्र०१०क०—'क्षौमशाणकार्पासौर्णान्येषां वसनानि' सू०७ व्याख्या—अत्राद्यस्य वासो द्वयस्य ब्राह्मणविषयत्वं वक्ष्यति विकल्पेन 'क्षौमं शाणं वा वसनं ब्राह्मणस्य' इति। 'ऐणेयरौरवाजान्यजिनानि' सू०८ क्रमेणेतिशेषः। अथ तस्य मेखला। आपस्तम्बधर्मसूत्रे 'मौञ्जी मेखला त्रिवृद्ब्राह्मणस्य शक्तिविषये दक्षिणावृत्तानाम्' १प्र० २क०३३सू०। व्याख्या—शक्तौ सत्यां प्रदक्षिणावृत्तानां मुञ्जानामित्यर्थः। ब्राह्मणस्येति शेषः। 'ज्या राजन्यस्य' ३४सू० 'मौञ्जी वाऽयोमिश्रा' ३५सू० 'आविसूत्रं वैश्यस्य' ३६सू० 'सैरी तामूली वेत्येके' ३७सू० व्याख्या—सीरावाह्योत्र रज्जुः। तामलो मूलोदकसंज्ञो वृक्षस्तस्य त्वचा ग्रथिता तामली। गोभिलगृह्यसूत्रे—'मुञ्जकाशताम्बल्यो रशनाः' २प्र०१०क०९सू० व्याख्या—मुञ्जकाशौ प्रसिद्धौ, तम्बलः शण उच्यते।

'मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शाणतान्तवी॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्या कुशाश्मन्तकवल्वजैः। त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा॥' इति मनुः। वाल्मीकिरामायणे बालकाण्डे ब्रह्मचारिण उपयुक्ताः पदार्थाः कुशलवकर्तृकरामायणगानावसरे चतुर्थसर्गे—

'प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद् ददौ ताभ्यां महायशाः।
प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः कलशं ददौ॥
अन्यः कृष्णाजिनमदाद् यज्ञसूत्रं तथापरः।
वृसीमन्यस्तदा प्रादात् कौपीनमपरो मुनिः॥
काषायमपरो वस्त्रं चीरमन्यं ददौ मुनिः।
कश्चित्कमण्डलुं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः॥
ताभ्यां ददौ तदा हृष्टः कुठारमपरो मुनिः।
जटाबन्धनमन्यस्तु काष्ठरज्जुं मुदान्वितः॥'' इति।

व्याख्या—काषायं ब्रह्मचारिधार्यं कुसुम्भरक्तं वस्त्रम्। चीरं खण्डपटम्। जटाबन्धनं काष्ठरज्जुं पालाशादिमूलनिर्मितरशनाम्। उपर्युक्तानि ब्रह्मचारिधार्याणि प्रतीयन्ते। अथ ब्रह्मचारिणां वर्णक्रमेण यज्ञोपवीतानि।

'कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्द्ध्ववृतं त्रिवृत्। शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्' मनुः २अ० ४४श्लो० हारीतस्मृतौ ६अध्याये—

'अजिनं दण्डकाष्ठं च मेखलाञ्चोपवीतकम्।
धारयेदप्रमत्तश्च ब्रह्मचारी समाहितः।
छत्रं चोपानहं चैव गन्धमाल्यादि वर्जयेत्।'

अथ स्नातकस्य वेषाः। आश्वलायनगृह्यसूत्रे अ०३खं०८—अथैतान्युपकल्पयीत समावर्तमानो मणि कुण्डले वस्त्रयुगं छत्रमुपानद्युगं दण्डं स्रजमुन्मर्दनमनुलेपनमाञ्जनमुष्णीषमित्यात्मने चाचार्याय च। बौधायनसूत्रे १प्र०३अ०—'अथ स्नातकस्य।' १। 'अन्तर्वास्युत्तरीयवान्'। २। स्यादिति शेषः। अन्तर्वासः कटिसूत्रं तद्वान् अन्तर्वासी स चोत्तरीयवान् स्यादित्यर्थः। कटिसूत्रं गृहस्थस्यापि वाल्मीकीयरामायणे सुन्दरकाण्डे हनूमत्कर्तृकप्रसुप्तरावणवर्णनावसरे—

श्रोणीसूत्रेण महता मेचकेन सुसंवृतः'। इति।

बौधायनधर्मसूत्रे तत्रैव—'वैणवं दण्डं धारयेत्'। ३। अङ्गुष्ठप्रमाणा मूर्धपरिमिता (मुखपरिमिता) यष्टिर्दण्डः। 'सोदकञ्च कमण्डलुम्।' ४। धारयेदिति शेषः। 'द्वियज्ञोपवीती'। ५। 'उष्णीषमजिनमुत्तरीयमुपानहौ छत्रञ्चोपासनञ्च दर्शपूर्णमासौ च'। ६। 'पर्वसु च केशश्मश्रुलोमनखवापनम्।' । ७। केशाः मूर्धजाः। श्मश्रु मुखजम्। लोमगुह्यप्रदेशजम्। नखाः करजादयः। आपस्तम्बधर्मसूत्रे स्नातकधर्मप्रकरणे १प्रश्ने—'सर्वान् रागान्वाससि वर्जयेत्।' १०। 'कृष्णञ्च स्वाभाविकम्'। ११। अपीति शेषः। 'अनुद्भासि वासो वसीत'। १२। अनुद्भासि अनुल्वणवर्णम्। 'अप्रतिकृष्टञ्च शक्तिविषये'। १३। व्याख्या—प्रतिकृष्टं निकृष्टं जीर्णं मलवत्स्थूलञ्च तद्विपरीतमप्रतिकृष्टं तादृशं वासो वसीत शक्तौ सत्याम् इतिहरदत्तीयोज्ज्वलावृत्तौ। 'दिवा च शिरसः प्रावरणं वर्जयेत् मूत्रपुरीषयोः कर्म परिहाप्य'। तत्रैव। परिहाप्येत्यस्य वर्जयित्वेत्यर्थः। गृहस्थस्यापि यथायोगमेते धर्माः। अथ गृहस्थ वेषाः। आपस्तम्बधर्मसूत्रे गृहस्थधर्मप्रकरणे २प्र०—'नित्यमुत्तरं वासः कार्यम्'॥ २२। गृहस्थस्य नित्यमुत्तरं वासो धार्यमित्यर्थः।

"जलतीरं समासाद्य, तत्र शुक्ले च वाससी।
परिधायोत्तरीयञ्च, कुर्यात् केशान्नधूनयेत्। ३४।
न रक्तमुल्वणं वासो, न नीलञ्च प्रशस्यते।
मलाक्तं गन्धहीनञ्च, वर्जयेदम्बरं बुधः। ३५। हारीतस्मृतिः
सदोपवीतिना भाव्यं, सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीती च यत्करोति न तत्कृतम्। इत्यपि स्मर्यते।

कामसूत्रे १अधिकरणे ४अध्याये नागरकवृत्तप्रकरणे—'स प्रातरुत्थाय कृतनियतकृत्यःगृहीतदन्तधावनः मात्रयाऽनुलेपनं धूपं स्रजमिति गृहीत्वा दत्त्वा सिक्थकमलक्तकञ्च दृष्ट्वाऽऽदर्शे मुखं गृहीतमुखवास ताम्बूलः कार्याण्यनुतिष्ठेत्। १६। व्याख्या—मात्रयेति। प्रभूतानुलेपनादिग्रहणादनागरकः स्यात् कार्यानुष्ठाने प्रस्तुतत्वात्। धूपमगुर्वादिना, स्रजं शेखरकमापीडं वा, अलक्तकं विशिष्टरागार्थं दत्त्वेति। अर्थादोष्ठयोः। ईषदार्द्रयाऽलक्तपिण्डया घृष्टःयौष्ठं ताम्बूलमुपयुज्य सिक्थगुटिकया ताडयेदित्ययं क्रमः। आदर्शे मुखमवलोक्य मङ्गलार्थं प्रसाधगुणदोषज्ञानार्थञ्चेत्यर्थः। 'नित्यं स्नानं द्वितीयमुत्सादनं तृतीयकः फेनकः चतुर्थकमायुष्यं पञ्चमकं दशमकं वा प्रत्यायुष्यमित्यहीनम्। १७। व्याख्या—प्रत्यहं स्नानम् ओजस्करत्वात् पवित्रत्वाच्च। द्वितीयकमिति। यस्मिन् दिवसे कृतमुत्सादनं तदनन्तरदिनं प्रथमंतस्माद्द्वितीयेऽह्नि शरीरदार्ढ्यार्थं स्यात्। एकान्तरितमित्यर्थः। उत्सादनमुद्वर्तनम्। तृतीयकमिति। तृतीयेऽह्निजङ्घयोः फेनको देयः स्यात्। द्विदिनान्तरित इत्यर्थः। अन्यथा ऊर्ध्वं जङ्घे कर्कशे स्याताम्। चतुर्थकमिति। त्रिःपक्षस्य च श्मश्रुनखरोमाणि वर्धयेदित्ययमागमः। अत्र केषांचिन्नागरिकाणामुपायभेदात्कालभेदः। तत्रायुष्यं श्मश्रुकर्म, क्षुरेण तच्चतुर्थेऽह्नि स्यात्। दिनत्रयान्तरितमित्यर्थः। कर्तर्या तु पञ्चमकमेव स्यात्।

प्रत्यायुष्यमिति। यद्गुह्येक्षुरेण कर्म तत्पञ्चमेऽह्नि। यत्तु लोम्नामुत्पाटनेन तद्दशमे स्यादित्याह दशमकं वेति। तत्र लोम्नां चिरेणोद्गमनात्। 'आयुष्यं तच्चतुर्थेऽह्नि, स्याद् यत्तुक्षुरकर्मणा। प्रत्यायुष्यं यदुद्धारात्, लोम्नां तद्दशमेऽहनि॥" अहीनमिति। स्नानपञ्चकमविकलं स्यादित्यर्थः। १७। गृहस्थवेष उपानहौ चर्मणा मुञ्जेनापि भवतः। तत्र पाणिनीयं सूत्रम्। ऋषभोपानहोर्ञ्यः। ५–१–१४। औपानह्यो मुञ्जः। प्रावारोऽपि गृहस्थवेष। महाभारते शीलनिरूपणाध्याये दुर्योधनं प्रति धृतराष्ट्रवाक्यम्—

आच्छादयसि प्रावारान् अश्नासि पिशितौदनम्।

मृच्छकटिके च जातीकुसुमवासितः प्रावार, आर्यचारुदत्ताय वसन्तसेनया प्रेषितः। निष्को उरोभषणम्। 'नाप्यनङ्गदनिष्कधृक्'। वाल्मीकीयरामायणे बालकाण्डे ६सर्गे९श्लो०।

अथवानप्रस्थवेषाः।

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा, वनवासं यदा चरेत्।

चीर वल्कलधारी स्याद्, अकृष्टान्नाशनो मुनिः। ४८। विष्णुस्मृतिः। गृहस्थनैष्ठिकब्रह्मचारिणोरेव वानप्रस्थत्वसंभावनयेदमुक्तम्। वाल्मीकीयरामायणे बालकाण्डे २स्वर्गे वाल्मीकिवचनम्

'अकर्दममिदं तीर्थं, भारद्वाज निशामय।

न्यस्यतां कलशस्तात, दीयतां वल्कलं मम। ७। व्याख्या—मम वल्कलं शरीराच्छादनहेतुभूतं कदलीत्वग्दीयतामिति रामायणशिरोमणिः। कौपीनं जटाजूटश्च मुनीनां वेष इति कुशलवकर्तृकगीतावसरे प्रागुदाहृतरामायणवचनात्प्रतीयते। अन्येऽप्येषां वेषा ब्रह्मचारिवदित्यतएव वस्त्रदण्डबर्जम्। वक्ष्यते चाग्रे नाट्यशास्त्रीयवेषवाक्योपन्यासवसरे।

अथ यतीनां वेषाः।

'क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्। मनुः। ६अ०५२श्लो०।
'अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे। ५३। मनुः। विष्णुस्मृतौ—
कौपीनाच्छादनं वासः, कन्थां शीतनिवारिणीम्।
पादुके चापि गृह्णीयात्, कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्। ७१।
ईषत्कृतकषायस्य लिङ्गमाश्रित्य तिष्ठतः।
अन्नार्थं लिङ्गमुद्दिष्टं न मोक्षार्थमिति स्थितिः। ८२।

व्याख्या—कौपीनस्य पुरुषलिङ्गस्याच्छादनं कौपीनमेव वाऽऽच्छादनम्। 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः।' ५।२।२० पाणिनिसूत्रम्। तत्र कूपपतनमर्हति कौपीनं पापं तत्साधनत्वात्तद्वद्गोप्यत्वाद्वा पुरुषलिङ्गमपि, तत्संबन्धात्तदाच्छादनमपि। ७१। कामक्रोधादयः कषायाः। लिङ्गं यतिवेषः। ८२। आपस्तम्बधर्मसूत्रे ९पटले २१क०—'तस्योपदिशन्ति'। ९सू०। व्याख्या—तस्य परिव्राजः कर्तव्यमुपदिशन्ति धर्मज्ञाः। 'तस्यमुक्तमाच्छादनं विहितम्'। ११। व्याख्या—यत्परैर्मुक्तं परित्यक्तमयोग्यतया तत्तस्य विहितमाच्छादनं तद्वास आच्छादयेत् निर्णिज्येति गौतमः। 'सर्वतः परिमोक्षमेके'। १२। सर्वैरेव वासोभिः परिमोक्षमेके उपदिशन्ति, न किञ्चिदपिवासो बिभृयात्, नग्नश्चरेदिति। 'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रह' इति च श्रुतिः। हारीतस्मृतौ—

'त्रिदण्डं वैष्णवं सम्यक्, संततं समपर्वकम्।

वेष्टितं कृष्णगोवालरज्जुमच्चतुरङ्गुलम् ।

(६ अ ६ श्लो०) अर्जुनस्य त्रिदण्डिवेषो भारते द्वारिकायाम् । क्वचिदेकदण्डोऽपि पठ्यते।

अथ वध्यवेषः ।

तथाच मृच्छकटिके १० अङ्के—

'अंसेन बिभ्रत्करवीरमालां स्कन्धेन शूलेन हृदयेन शोकम् ।
अग्राहमाघातमनुप्रयामि शामित्रमालब्धुमिवाध्वरेऽजः' । २१ ।

'रक्तं तदेव वरवस्त्रमियं च माला, कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति ।
एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव, जाता विवाहपटहध्वनिभिः समानाः' । ४४ ।

अथ योद्धवेषः ।

तत्र विराट्पर्वणि महाभारते ५अ०—

'ते वीराबद्धनिस्त्रिंशास्तथा बद्धकलापिनः ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः कालिन्दीमभितो ययुः । १ ।

व्याख्या—निस्त्रिंशःखड्गः । कलापस्तूणीरः । गोधाचर्म इति रामायणतिलके ।

बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महा.....

सा च लोके 'ढाल' इति प्रसिद्धा, यद्वा गोधेव कटिसंलग्ना कटिबन्धरूपा चर्मपट्टिका। अङ्गुलित्राणं लोहादिनिर्मितम् । १ । कवचोऽपि । 'नथाऽभेद्यञ्चदंशनम्' इति देवीमाहात्म्ये २अध्याये । धनुस्तु प्रसिद्धमेव । अन्येऽपि बहवः स्त्रीपुरुषादिवेषाः नाट्यप्रयोगप्रचलिताः देशकालरीतिपरिचायकाः भरतीयस्य नाट्यशास्त्रस्य २३ अध्याये विस्तरेणवर्णितास्ते तत्रैव द्रष्टव्याः ।

शिलाचित्रादितो ज्ञातवेषाः ।

तत्र तत्रोपलभ्यमानेषु प्राचीनशिलाचित्रेष्वपि नानाविधाः स्त्रीपुरुषवेषाः प्रत्यक्षीक्रियन्ते । तद् यथा अजन्ताख्यगुहायां समुपलभ्यमानानि चित्राणि कानिचिदुपाह्रियन्ते । तत्र स्त्रीवेषः—चित्रसंख्या १७गुहासंख्या १९उत्तरीयं शाटी च । आप्रपदीनो वेषः । चि०सं०४४गु०सं०१६केवलं स्तनबन्धः स्तनपट्टिका वा वस्त्रनिर्मिता, अन्यत्कलेवरं नग्नम् । चि० सं०७१गु०सं०१७—आजानुलम्बो निचोलः । गुहासं०सैवचि०सं०६—निवीवतद् आप्रपदीनमुत्तरीयम् । गु० सं० १चि०सं०६—मौक्तिकहारः, व्युप्तरक्तकङ्कणः, केवलकङ्कणः, केयूरस्थाने वलयीकृता मौक्तिकमाला, कनिष्ठिकायामङ्गुलीयकम्, मौलौ पुष्पमाल्यम्, आस्तनाभ्यामाचोरुमध्यात् स्यूतं शरीरसंलग्नञ्च वसनं कञ्चुकरूपम् । गु०१, चि०४—वलयः, केयूरः, काञ्ची, अर्द्धोरुव्यापिवेष्टितं दशाबहुलं वसनम्, एकयष्टिको नूपुरः । ऊरुवलयम् । गु०१,चि०५—केशपाशे माल्यम्, भूषणवत्त्वेऽपि नग्नत्वम् । गु०२ चि० ६६—दोलारूढा, शङ्खवलया आगुल्फवसनम्, कञ्चुकरहितो वेषः ।

अथ तत्रैव गुहायां पुरुषवेषः । गु०१,चि०५—कञ्चुकम् उपवीतवद्हारः, स्यूतं शिरस्त्रं शिरसि । गु०१, चि०७—वृत्तं शिरस्त्रम्, कञ्चुकम्, कटिपट्टिका, अर्धोरुकम्, । गु०१,चि०८—जटाजूटः, उपवीतवदुत्तरीयम् । गु०१,चि०२८—सूक्ष्मं धौतवस्त्रं केवलम् । गु०१,चि०३४—उरुमूलव्यापि बद्धपरिकरो वेषः, नानाशिखरवान्मुकुटः, कङ्कणद्वयवान् बाहुः, बहुयष्टिको लम्बमानो हारः । कर्णयोः कुण्डलम् । तदग्रे चि०३९—कण्ठसंलग्नहारः, अर्धबाहुकमार्धनाभिकञ्च शरीरसंलग्नं कञ्चुकम् । गु०१७चि०सं०४७—अर्द्धोरुकम् । गु०१चि०४८—अर्द्धोरस्कम् । गु०१,चि०५९—बद्धपरिकरो वेषः कञ्चुकरहितः ।

निवेदनम्

इत्थं विचारितो वेषो देशकल्याणकाम्यया ।
परप्रणेयतां यान्ति परानुकृतिका यतः ॥ १ ॥
ऐदंयुगीनो वेषस्तु, दारिद्र्यदरसंज्ञिनाम् ।
स्वेच्छामात्रप्रवृत्तत्वात् न व्यवस्थातुमर्हति ॥ २ ॥
देशो व्यवस्थितो वेषे वृत्तं वेषे व्यवस्थितम् ।
भाषा व्यवस्थिता वेषे सर्वं वेषे व्यवस्थितम् ॥ ३ ॥
वेषेणाद्रियते लोके वेषेण परिभूयते ।
ददौ तनूजां हरये हरायाब्धिर्महाविषम् ॥ ४ ॥
परवेषानुकारो हि परगौरवभावनः ।
तस्मात्स्वलाघवकरः परवेषो न सेव्यताम् ॥ ५ ॥

"प्रत्यक्ष-विमर्शः"

अनन्तरामशास्त्री

अयि गुणलोभ्याः सभ्याः।

नाविदितन्तत्रभवताम्भवतां यदत्र जलचर-स्थलचर-स्थास्नुचरिष्णु-नैकविध-प्राणि-संकुले निखिले प्रपञ्चजाते विश्वजनीन-विश्वव्यवहारविषय-वस्तुनो यथार्थतो विज्ञानं प्रमाणमन्तरा नैव संसिध्यतीति। तदुक्तमभियुक्तैः—'मानाधीना मेयसिद्धिरिति'। तत्र च सर्वप्रमाणोपजीव्यत्वात्, सर्वतैर्थिकपरिगृहीतत्वेनात्यन्तमुपादेयत्वाच्च,—प्रत्यक्षमेव प्रमाणमूर्धन्यकोटिमाटीकत इति साम्प्रतं प्रत्यक्षविषयमेवावलम्ब्य किंचिदिव लेखनीं व्यापारयामः। तत्र च घटः प्रत्यक्षः घटज्ञानं प्रत्यक्षं, इन्द्रियाणि प्रत्यक्षाणि, इतिसर्वजनीनाबाधितानुभवानुरोधेन प्रत्यक्ष-प्रमाण–प्रमेयाणां निरूपणीयतया, नास्तिकदर्शनमतानि चार्वाकबौद्धजैनाख्यानि न्यायमीमांसाद्यास्तिकसिद्धान्तांश्च पूर्वपूर्वमतेऽस्वारस्यप्रदर्शनपुरस्सरं निरस्य सकलदर्शनशिरोमणौ वेदान्तशास्त्रे प्रतिपादितं सिद्धान्तं संक्षेपतः प्रतिपादयिष्यामः।

चार्वाकमतम्—

तत्रादौ लौकायतिकमतं विविच्यते। एषां मते प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। तत्प्रत्यक्षं (प्रमात्मकं) द्विविधं, बाह्यमान्तरञ्च। तत्र इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानमाद्यम्। द्वितीयं मनोजन्यम्। अनुमित्यादिस्थले धूमेन सहेन्द्रियसन्निकर्षसत्वात् धूमस्य बाह्यं प्रत्यक्षम्। वह्नेस्तु तदभावान्न बाह्यं किन्त्वान्तरम्। प्रत्यक्षप्रमाकरणं च इन्द्रियाणि मनश्चेति।

चार्वाकमतेऽरुचिप्रदर्शनम्—

एतन्मतमसहमाना बौद्धास्तु अनुमानप्रमाणानङ्गीकारे परपुरुषवर्तिनोऽज्ञानसंशयादयः कथं ज्ञातुं शक्याः? अज्ञात्वैव शब्दप्रयोगे तु उच्चारयितुर्भ्रान्तत्वापत्तिरिति अकामेनापि अनुमान-प्रमाणमङ्गीकर्तव्यमेवेति वदन्ति।

बौद्धमतम्—

एषां मते द्वे प्रमाणे प्रत्यक्षमनुमानञ्च। तत्र प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्। तच्चतुर्विधम् इन्द्रियज्ञानं, *मानसं, स्वसंवेदनं, योगिज्ञानञ्च। तत्र निर्विकल्पकं यथा बालमूकादीनां* वस्तु-प्रथमदर्शने 'अस्ति किंचिद्वस्तु' इति प्रतीतिगोचरः *लोचनादिजन्यः सकलजात्यादिकल्पनाकलापरहितः स्वलक्षणमात्रबोधः* समुदेति तदेव निर्विकल्पकम्। तदुक्तं 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं तत्र बुद्धयतामिति।' शब्दसंसर्गवती प्रतीतिः कल्पना, सा अपोढा-अपगता यस्मात्। अथवा कल्पनाया अपोढं, नाम जातिगुणक्रियाद्रव्यकल्पनारहित-

मिति तदर्थः। अभ्रान्तं भ्रान्तिरहितम्। एतेन शुक्तिरजतादीनां भ्रान्तिज्ञानानां निरासः।

सविकल्पकप्रत्यक्षखण्डनम्—

निर्विकल्पकानन्तरं तु जाति-गुण-नामव्यक्त्यादिकल्पनावसरस्य समापतितत्वान्न सविकल्पकस्य कल्पनापोढत्वरूपनिर्विकल्पकत्वसिद्धिः। तस्य प्रत्यक्षकार्यत्वेन प्रत्यक्षत्वासंभवाच्च। किंच प्रत्यक्षेण हि अनधिगतार्थविषयकेण भवितव्यम्। नच तत् सविकल्पकस्य सम्भवति, तस्य निर्विकल्पकाधिगतार्थविषयकत्वात्। तस्मान्न सविकल्पकं प्रत्यक्षमिति।

इन्द्रियज्ञाननिरूपणम्—

ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकाश्रयेणोत्पन्नं बाह्यरूपादिपञ्चविषयावलम्बनं ज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम्।

मानसम्—

स्वविषयानन्तरं विषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययसंज्ञकेन जनितं मनोविज्ञानं मानसम्। अस्यार्थः—स्वविषयस्य घटादेरिन्द्रियज्ञानविषयस्यानन्तरो विषयो द्वितीयक्षणः, तेन सहकारिणा सह मिलित्वा, इन्द्रियज्ञानेन उपादानेन समनन्तरप्रत्ययसंज्ञकेन यज्जनितं तन्मानसम्। समनन्तरप्रत्ययविशेषणेन योगिज्ञानस्य मानसत्वप्रसङ्गो निरस्तः। समनन्तरप्रत्ययशब्दः स्वसंतानवर्तिन्युपादाने ज्ञाने रूढ्या प्रसिद्धः।

स्वसंवेदननिरूपणम्—

सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम्। चित्तं वस्तुमात्रग्राहकं ज्ञानम्, चित्तेर्भवाश्चैत्ताः वस्तुविशेषरूपग्राहकाः—सुखदुःखोपेक्षालक्षणाः, तेषामात्मा येन वेद्यते तत् स्वसंवेदनम्।

योगिज्ञानम्—

भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्। भूतार्थः प्रमाणोपपन्नार्थः, तस्य भावना पुनःपुनश्चेतसि समारोपः, तयोः प्रकर्षाज्जातं योगिज्ञानम्।

एतादृशप्रमाजनकं प्रत्यक्षप्रमाणम्। तच्च क्वचित् चक्षुरादि। क्वचिन्मनः। क्वचित् स्वसंवित्तिरित्यादीनि।

बौद्धमतेऽरुचिप्रदर्शनम्—

एतन्मतमसहमानैर्जैनैः सविकल्पकमेव प्रत्यक्षमङ्गीक्रियते। निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वाङ्गीकारे हि भ्रम-प्रमाव्यवस्था न स्यात्, तद्वति तत्प्रकारकज्ञानस्यैव प्रमात्वात्। तस्य च निर्विकल्पकेऽसंभवात्, तज्जनकस्य प्रमाणत्वासंभवात्। उक्तं च—हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् निर्विकल्पकज्ञानात्प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्याताम्। यतः प्रवर्तकज्ञानं हि 'इदं मया कर्तव्यम्' निवर्तकञ्च 'इदं मया न कर्तव्यम्' इति। निर्विकल्पके च विशेषण-विशेष्यभावासंभवात् हिताहितप्राप्तिपरिहारौ न भवतः। तस्मात् निर्विकल्पकं न प्रत्यक्षम्।

जैनमतम्—

तच्च सविकल्पकं प्रत्यक्षं (प्रमात्मकं) द्विविधं बाह्यमान्तरञ्च। आद्यन्तावत् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यम्। द्वितीयं मनोजन्यम्। तदुक्तम् 'अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्। प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षयेति। अस्यार्थः—अपरोक्षतया अर्थस्यान्तरस्यात्मस्वरूपस्य बाह्यस्य च घटपटादेर्वस्तुनो व्यवसायात्मकतया साक्षात्परिच्छेदकज्ञानम्। एतेन विशेषणेन कल्पनापोढत्वादिवादिनां सौगतानां निरासः।

ग्रहणेक्षयेतिपदस्य—ग्रहणं ज्ञानात्पृथक्बाह्यार्थस्य यत्संवेदनं, तस्येक्षयाऽपे तत्र। अर्थस्य ग्राहकं यत्तत्प्रत्यक्षम्। एतेन योगाचारादयोऽपि निरस्ताः। तच्च प्रत्यक्षं मुख्य-सांव्यवहाक्षया, न द्विविधम्। तत्रान्त्यं यथा—'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् विशदं प्रत्यक्षमिति रिकभेदेशे समीचीनो-

ऽबाधितः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो व्यवहारः संव्यवहारः, स प्रयोजनमस्य प्रत्यक्षस्य तत्सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। मुख्यं प्रत्यक्षं तु 'सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलाऽऽवरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम्। इति।

जैनवार्त्तिके तु—त्रिविधं प्रत्यक्षम्। ऐन्द्रियम्, अनैन्द्रियम्, योगजं चेति। उक्तं हि—

प्रत्यक्षं विशदज्ञानं त्रिधेन्द्रियमनिन्द्रियम्।
योगजं चेत्यवैशद्यमिदन्त्वेनावभासनम्॥ इति॥

जैनमतनिरासः—

तदिदं बौद्धजैनमतं नैयायिका न सहन्ते। तेषामिदमाकूतम्—सविकल्पकं हि विशेषणविशेष्यभावावगाहि भवति। तत्र विशेषण-विशेष्ययोर्ज्ञानमन्तरा विशिष्टज्ञानाऽसंभवः। घटघटत्वे इति विशेषणविशेष्ययोः पार्थक्येन यज्ज्ञानं तदेव निर्विकल्पकमित्यकामेनापि जैनेन निर्विकल्पकमवश्यमङ्गीकरणीयम्। यदुक्तं निर्विकल्पकस्य हिताऽहितप्राप्तिपरिहारेत्यादिलक्षणासंभवेन प्रमात्वमेव नास्तीति, तदिष्टापत्त्या परिह्रियते, निर्विकल्पकस्य भ्रम-प्रमाबहिर्भूतत्वात्।

बौद्धमतनिरासः—

यदपि सौगतैरुक्तं सविकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वमेव नास्तीति। तदपि न युक्तिसहम्, तस्य प्रत्यक्षत्वे प्रतीतेरेव मानत्वात्। तस्मान्निर्विकल्पकवत् सविकल्पकमपि प्रत्यक्षमिति।

न्यायमतम्—

तच्च प्रत्यक्षं (प्रमात्मकं) द्विविधम्, लौकिकम् अलौकिकञ्च। आद्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं, घ्राणजादिभेदेन षड्विधम्। इन्द्रियाणि च भौतिकानि। तत्त्वं च तेषामनुभवेनैव सिद्धम्। अलौकिकं प्रत्यक्षं च सामान्यलक्षणाज्ञानलक्षणायोगजभेदेन त्रिविधम्। आद्यं यथा धूमत्वेन सकलधूमविषयकं ज्ञानम्। द्वितीयं यथा सुरभि चन्दनमित्यत्र सौरभज्ञानम्। शुक्तिरजतज्ञानं च। योगिनाम् अतीतानागतविषयकं योगजम्। एतत्सकलविधप्रत्यक्षग्राहकं तत्तदिन्द्रियादिरूपं लौकिकम्, ज्ञानलक्षणादिकं चालौकिकं प्रमाणम्।

नैयायिकमतऽरुचिप्रदर्शनम्—

एतन्मतेऽप्यसंतुष्टा जैमिनीयाः—लौकिकालौकिकोभयविधप्रत्यक्षाङ्गीकारे प्रमाणाभावः। ज्ञानलक्षणाजन्यं सामान्यलक्षणाजन्यं च न प्रत्यक्षम्, ज्ञानलक्षणासामान्यलक्षणयोरनङ्गीकारात्। योगजमपि न प्रत्यक्षम्। यतः—प्रत्यक्षत्वं विद्यमानोपलम्भनत्वम्। अत्र च 'सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म-तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' इति जैमिनिसूत्रस्यैव प्रमाणत्वात्। अतीतानागतविषयकयोगिप्रत्यक्षे विद्यमानोपलम्भनत्वं नास्ति। तस्मात् लौकिकमेव प्रत्यक्षम्। तत्र च निर्विकल्पकस्य भ्रम-प्रमाबहिर्भूतत्वम्, तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपप्रमात्वस्य, तदभाववति तत्प्रकारकत्वरूपभ्रमत्वस्य च तत्राभावात्, इति यदुक्तं तन्न युक्तिसहम्, अगृहीतग्राहित्वमेव प्रमाणत्वम्। अगृहीतग्रहणं हि प्रमा। निर्विकल्पके च अगृहीतग्रहणं जायते इति तत्र प्रमात्वं निर्विवादमेव।

मीमांसकमतम्—

तत्र प्रत्यक्षं घ्राणजादिभेदेन षड्विधम्। इन्द्रियार्थसम्प्रयोगजन्यं लौकिकमेव। तत्र पूर्वं निर्विकल्पकं ततः सविकल्पकमिति तार्किकोक्तदिशाऽवसेयम्। सविकल्पकप्रत्यक्षं च पञ्चधा विकल्पा जातिगुणद्रव्यक्रियानामविषयका भवन्ति। ते च बौद्धमतवज्ज्ञेयाः। एतन्मतेऽपि भौतिकान्येवेन्द्रियाणि। तत्त्वं च नैयायिकमतवदेव ध्येयम्।

मीमांसकमतेऽरुचिप्रदर्शनम्—

एतन्मतमसहमानाः कापिलास्तु अलौकिकप्रत्यक्षानङ्गीकारे इष्टसिद्धिर्दुर्लभा। तथाहि- सामान्यलक्षणायाः- प्रत्यासत्तित्वानङ्गीकारे व्यवहारविषये एकघटव्यक्तौ शक्तिग्रहे सर्वव्यक्तीनामप्रत्यक्षतया सर्वत्र

शक्तिग्रहो न स्यात्। एवं सुखार्थिनो नरस्य सिद्धसुखविषयकप्रवृत्त्यभावात्। असिद्धसुखस्य चाज्ञानात् तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्। एवं अरण्यस्थदण्डादौ घटजननयोग्यत्वरूपजनकत्वस्यासिद्धिः, अरण्यस्थदण्डाज्ञानात्। तस्मात् सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिरावश्यिकी। एवं ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्त्यनङ्गीकारे सुरभि चन्दनम् इति ज्ञाने सौरभस्य भानं न स्यात्। तदंशे चक्षुःसन्निकर्षाभावात्। सामान्यलक्षणया कथंचित् सौरभस्य भानेऽपि सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणयैव। सौरभत्वस्य स्वरूपेणानुपस्थितेः। तस्मात् ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिरप्यावश्यिकी। एवं योगजमपि। इति वदन्ति।

सांख्यमतम्—

'दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्चे' ति सांख्यकारिकोक्तेः। 'प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रं च विषयागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता' ॥ इतिस्मृतेः। 'द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा तत्साधकं यत् तत् त्रिविधं प्रमाण'मिति सांख्यप्रवचनकृदुक्तेश्च, सांख्यमते त्रिविधमेव प्रमाणम्। उपमानार्थापत्त्यनुपलब्धीनां पृथक्प्रमाणत्वाङ्गीकारे फलाभावो गौरवञ्च। प्रत्यक्षानुमानागमेष्वेव तदन्तर्भावसंभवः। तदुक्तं 'सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्' इति।

एषां मते पुरुषनिष्ठबोध एव प्रत्यक्षप्रमा। पुरुषनिष्ठबोधश्च बुद्धौ (अन्तःकरणे) चितिशक्तेर्यः प्रतिबिम्बः तस्मिन् बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बनमेव। वृत्तिप्रतिबिम्बनञ्च तत्तदिन्द्रियेण सह विषयस्य सन्निकर्षे सति विषयाकारा या अन्तःकरणवृत्तिरुपजायते तस्याः चितिशक्तौ प्रतिबिम्बनमित्यर्थः। 'असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः पौरुषेयबोधश्च फलप्रमा तत्करणं प्रमाणम्' एवं च वृत्तेः प्रमाणसंसिद्धम्। योगभाष्येऽपि 'फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः'। इति। इन्द्रियापेक्षया च वृत्तेः प्रमात्वम्। तदपेक्षया इन्द्रियाणां प्रमाणत्वव्यवहारः। तत्प्रत्यक्षं द्विविधम्—ऐन्द्रियम्, अनैन्द्रियञ्च। आद्यं यथा सांख्यप्रवचनभाष्ये 'सत्संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्' इति। द्वितीयं पुनर्योगजम्। तच्च पूर्वोक्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकसविकल्पकभेदेन पुनर्द्विविधम्। तयोर्लक्षणं तु वेदान्तिमत उपपादयिष्यते। इन्द्रियाणि चाहङ्कारिकाणि। तदुक्तं 'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्' इति। प्रत्यक्षविषये तु मीमांसकमतात् अस्मिन्मतेऽयमेव विशेषः यत् एषां मते विषयाकारा अन्तःकरणवृत्तिर्भवति। तन्मते तु नेति।

सांख्यमतेऽरुचिप्रदर्शनम्—

दार्शनिकमूर्धन्यानाम् अद्वयसिद्धान्तिनां वेदान्तिनां तु नैतत्सह्यम्—यतः सांख्यमते पौरुषेयबोधो हि प्रत्यक्षप्रमा। स च अन्तःकरणनिष्ठवृत्तेः पुरुषे प्रतिबिम्बनमेव। तत्तु न संभवति पुरुषस्य निर्लेपत्वाऽसंभवात्। 'प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः' इति तेषां सिद्धान्तात्। तस्मात् चैतन्यमात्रमेव प्रत्यक्षप्रमा। एवम् 'उपमिनोमि' इति, 'अर्थापयामि' इति च सर्वजनीनानुभवसत्वात्—उपमानार्थापत्त्योः प्रमाणत्वानङ्गीकारे प्रमाणाभावः। एवमेवानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वमेव।

वेदान्तिमतम्—

एषां मते प्रत्यक्षप्रमालक्षणं चैतन्यमेव। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मे' ति श्रुतेः। तच्च प्रत्यक्षं जीवसाक्षि, ईश्वरसाक्षिभेदात् द्विविधम्। अन्तःकरणस्य विशेषणत्वे चैतन्यस्य जीवत्वव्यवहारः। तस्योपाधित्वे तु जीवसाक्षीति व्यवहारः। विशेषणं च कार्यान्वयित्वे सति व्यावर्तकं यत्तदेव। यथा प्रकृते च कर्तृत्वादिधर्माः-अन्तःकरणस्यैव न चैतन्यस्य। तत्र चाहं करोमि, अहं गच्छामि, इत्यादिप्रतीतौ कर्तृत्वादिकार्यान्वयित्वमन्तःकरणस्यैवेति तस्य विशेषणत्वम्। उपाधित्वं च कार्यान्वयित्वे सति व्यावर्तकत्वे सति वर्तमानत्वम्। यथा चैतन्यस्य ज्ञानरूपत्वेन विषयभासकत्वम्। एवं च विषयभासकत्वरूपकार्यान्वयित्वेन

विषयभासकचैतन्योपाधित्वमन्तःकरणस्येत्यर्थः। एवं मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः। मायोपहितं चैतन्यं चेश्वरसाक्षी। अत्रापि-पूर्ववत् मायाया विशेषणत्वोपाधित्वव्यवहारः। तदुक्तं सिद्धान्तलेशे—

'कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासी साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति।

तच्च—निर्विकल्पक-सविकल्पकभेदेन पुनर्द्विविधम्। तत्राद्यं तावत् विषयित्वसंबन्धेन विद्यमानो विकल्पो विशेष्यविशेषणयोः संसर्गो यत्र ज्ञाने तत्। तदुक्तं धर्मराजाध्वरीन्द्रेण—वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं सविकल्पकम् यथा घटमहं जानामीति। संसर्गानवगाहिज्ञानं च निर्विकल्पकम्। यथा सोऽयं देवदत्तः। तत्त्वमस्यादि च। पुनरपि प्रत्यक्षं द्विविधमिन्द्रियजन्यं, तदजन्यञ्च। अन्त्यं च सुखादिप्रत्यक्षम्। तस्य मनोजन्यत्वात्। मनसश्च इन्द्रियत्वाऽस्वीकारात्। आद्यं चाक्षुषादिप्रत्यक्षम्। इन्द्रियाणि पञ्चैव।

प्रत्यक्षप्रमाणम्—

इन्द्रियेण सह विषयस्य सन्निकर्षे सति अन्तःकरणपरिणामात्मिका या वृत्तिरुदेति सैव प्रत्यक्ष-प्रमाणम्। तदपेक्षया इन्द्रियाणामपि प्रमाणत्वेन व्यवहारः सांख्यमतोक्तरीत्या सूपपादः। इन्द्रियापेक्षया च वृत्तेः प्रमात्वव्यवहारः। घटज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रतीतेरनुभवसिद्धत्वेन—घटज्ञानस्य घटांशे प्रत्यक्षत्व-प्रयोजकं नैयायिकादिमते इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वमेव। तच्च न संभवति,—अनुमित्यादेरपि तत्त्वेनातिव्याप्तेः ईश्वरप्रत्यक्षेऽव्याप्तेश्च। तस्मादन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यविषयावच्छिन्नचैतन्ययोरभेद एव विषयांशे। ज्ञानगतप्रत्यक्षत्वव्यवहारप्रयोजकः। घटज्ञानस्य स्वांशे प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं तु चित्त्वमेव। तत्त्वमसीति-वाक्यजन्यप्रत्यभिज्ञास्थले इन्द्रियजन्यज्ञानत्वाभावेऽपि प्रत्यक्षत्वमेव। इन्द्रियजन्यज्ञानत्वस्य प्रत्यक्षत्वाप्रयोजक-त्वात्। एवंधारावाहिकबुद्धिस्थलेऽपि बोध्यम्।

प्रमेयविचारः—

प्रत्यक्षप्रमा-विषयश्च-चार्वाकमते प्रत्यक्षमात्रस्यैव प्रमाणत्वेन देहादिः सर्व एव विषयः। बौद्धैक-देशिमते बाह्यार्थः प्रत्यक्षविषयः। तल्लिङ्गकानुमितिविषयं ज्ञानं तु अनुमेयम्। अन्येतु बाह्यार्थंनङ्गीकुर्व-न्ति। तन्मते ज्ञानं प्रत्यक्षविषयमेव तदुक्तं शबरस्वामिना प्रत्यक्षं च नोबुद्धिः अतस्तदभिन्नमर्थरूपं नाम न किंचिदस्तीति पश्यामः। नैयायिकमते लौकिकप्रत्यक्षे-उद्भूतरूपमहत्त्वादीनां कारणत्वेन पृथिव्यादि-चतुष्टयपरमाणुद्व्यणुकाकाशादिपञ्चकस्य लौकिकप्रत्यक्षविषयता नास्ति। मीमांसकमते तु—इदानीं घटः आकाशे बलाका। इत्यादिप्रतीत्यनुरोधात् दिक्कालादीनामपि प्रत्यक्षविषयता। ज्ञानस्य तु ज्ञाततालिङ्गका-नुमितिगम्यता। ज्ञातता च प्रत्यक्षगम्या। सांख्यमतेऽपि नैयायिकमतोक्तदिशा पदार्थानां प्रत्यक्षविषयता। दार्शनिकसार्वभौमवेदान्तिमते तु त्रिविधं सत्त्वं पारमार्थिकं, व्यावहारिकं, प्रातिभासिकं च। तत्र पारमार्थिक-प्रत्यक्षविषयत्वं चैतन्यस्यैव। व्यावहारिकप्रत्यक्षविषयत्वं-घटपटादीनाम्। कालस्यापि, प्रातिभासिकप्रत्यक्ष-विषयता च प्रातिभासिकानां शुक्तिरजतादीनाम्। विषयांशे प्रत्यक्षत्वव्यवहारप्रयोजकं तु अन्तःकरणाव-च्छिन्नचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्याऽभेदः। एवं संक्षेपतोऽन्यमतनिरासपूर्वकं वेदान्तिमत-प्रत्यक्षविचारो-ऽस्मिन्निबन्धे प्रदर्शितः।

सूचना—

अत्र प्रत्यक्षविचारेऽवश्यं विचारणीयानाम्—इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वम्, चर्ममनःसंयोगस्य, त्वङ्-मनःसंयोगस्य वा ज्ञानकारणत्वविचारः, प्रत्यभिज्ञाविचारः, धारावाहिकबुद्धिविचारः, अन्ये च प्रासङ्गिका-विषयाः (एतेषां) विषयाणामत्रसमावेशे लेखविस्तरभयं मनसि समजनि, अतोऽत्रोपेक्षितं मया। काला-न्तरे लेखान्तरे वा यथावसरं पुनरवशिष्टविषये प्रयतिष्यते। प्रकृतलेखविषये च हंसक्षीरन्यायेमनुसरन्तु विद्वत्तल्लजा, इति भूयो भूयो निवेद्य विरमामोऽस्माद् व्यापारात् इति।

भगवान् वात्स्यायनः

आनन्दझा,

कोऽसौ तत्रभवान् न्यायदर्शनापरनामधेयस्य गौतमसूत्रस्य बृहद्भाष्यकर्ता वात्स्यायनः, यदीयप्रतिष्ठिततमं भाष्यं मूलत्वेनादाय तत्रभवता श्रीमदुद्योतकारेण विरचिता न्यायवार्तिकनाम्नी महती टीका। यदुपरि विरचिता वृद्धवाचस्पतिना न्यायाचार्यश्रीमदुदयनविरचितपरिशुद्धिमूलभूता तात्पर्यटीका, इति प्रश्ने समुत्थाप्यमाने नैकविधमुत्तरं समुपलभ्यते सर्वेषां समीक्षकाणामविरोधेन। तथाहि—भाष्यकर्ता वात्स्यायनः परमर्षिमहर्षिगौतमात्प्रात्यर्वाचीन इत्येकं मतम्। नासौ परमर्षिः किन्तु वत्सगोत्रोत्पन्नतया वात्स्यायननामधेयवान्, परन्तु अर्थशास्त्रकृतः, कामशास्त्रकृतश्च चाणक्यापरनामधेयादाचार्यकौटिल्याद् भिन्न इत्यपरं मतम्। कामशास्त्रकर्तुराचार्यात् कौटिल्यादभिन्नो भाष्यकर्ता वात्स्यायन इति तृतीयं मतम्।

तत्र कस्य पक्षस्य युक्तत्वमिति विचारे विधीयमाने तृतीयस्यैव पक्षस्य युक्ततेति प्रतिभाति। यतः प्रथमपक्षस्य बाधकमिदं लक्ष्यते यन्मन्त्रद्रष्टॄणामेव ऋषिपदेन व्यवह्रियमाणता दृश्यते नान्येषाम्। न्यायभाष्यकर्तारो वात्स्यायनपादाः मन्त्रद्रष्टार आसन् इति विषये प्रमाणाभावः। यद्यपि दिनकर्यपरनामधेये मुक्तावलीप्रकाशे "प्रतिपादितञ्चैवमेव भाष्ये, अत एवोपमानचिन्तामणौ" इत्यादिमुक्तावलीपङ्क्तिव्याख्यानाऽवसरे "भाष्यस्याऽऽर्षत्वमाशङ्क्य आह अत एवेति" इत्यवतरणरूपेणोक्तम्। आर्षत्वं च न्यायभाष्यस्य ऋषिप्रणीतत्वादेव भवितुमर्हतीति भवति सम्भावना भाष्यकारे वात्स्यायने ऋषित्वस्य। तथाप्यवतरणात्मकस्योक्तदिनकरीग्रन्थस्य भाष्यकर्तरि ऋषित्वसम्भावनयाऽपि सङ्गतेर्न तस्य ग्रन्थस्य निश्चायकता ऋषित्वे न्यायभाष्यकर्तुः। यदपि "बभूव वात्स्यायनगोत्रसम्भवो द्विजो जगद्गीतगुणोऽग्रणीः सताम" इति कादम्बरीपद्ये वात्स्यायनस्य गोत्रं वात्स्यायनगोत्रमिति व्युत्पत्त्या भाष्यकर्तुर्वात्स्यायनस्य गोत्रप्रवर्तकत्वश्रवणं समुपलभ्यते। गोत्रप्रवर्तकत्वं च कश्यप-शाण्डिल्यादिषु महर्षिष्वेव दृष्टमिति भवति भाष्यकर्तुर्महर्षित्वमिति, तदपि वात्स्यायनं च तत गोत्रं च वात्स्यायनगोत्रं इति कर्मधारयसमासाश्रयणेन विचार्यमाणपक्षस्थापकं भवति। किञ्च वात्स्यायनस्य गोत्रं वात्स्यायनगोत्रमिति षष्ठीसमासपरिग्रहेऽपि न्यायभाष्यसदृशदुरूहग्रन्थकर्तुर्विद्वन्मूर्धन्यतया महापुरुषस्य भगवतो वात्स्यायनस्य सम्बन्धमादायाऽपि गोत्रशब्दवाच्यस्य वंशस्य प्राशस्त्यं तद्दर्शनाभिप्रायेण महाकवेर्बाणस्य तथोक्तिश्च सङ्गतिमावहत्येवेति कथं ततो निर्णीतं भवति भाष्यकर्तुर्महर्षित्वम्?

यच्च न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाभूमिकायां "वात्स्यायनमुनिप्रणीतं गौतमसूत्राणां भाष्यम्" इति महामहोपाध्यायश्रीगङ्गाधरशास्त्रिणां लेखदर्शनात् तेन परम्परावगतं मुनित्वं भाष्यकर्तुरायाति। मुनित्वं च महर्षेरेव भवितुमर्हतीति भवति भाष्यकर्तुर्महर्षित्वमिति तदपि न मनोरमतामावहति। यतः "स्थितधीर्मुनिरुच्यते" इति गीतावाक्येन स्थितधिय एव मुनित्वाऽभ्युपगमः। न खलु मन्त्रद्रष्टृत्वस्वरूपमहर्षित्वस्याऽऽवश्यकता। दृश्यते च "क्रियते चित्सुखमुनिना प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकाविदुषा" श्रद्धाघ्नेन मुनिना मधुसूदनेन इत्यादिवाक्ये महर्षिभिन्नानामपि मुनित्वव्यपदेशः। न चेदमाशङ्कनीयम् यन्महर्ष्यप्रणीतत्वे भाष्यस्य महत्त्वव्याघात इति, आचार्यशङ्कर-श्रीपतिरामानुज-माध्वादीनां महर्षिभिन्नानामेव महापुरुषाणां भाष्यकृत्त्वदर्शनेन तत्कृतभाष्याणाञ्चातिसमादरणीयत्वदर्शनेन तादृशशङ्काऽनवकाशात्।

एवं द्वितीयः पक्षोऽपि न प्रतिभाति प्रामाणिकः। यतो हि साधकप्रमाणप्राप्तेः का कथा! प्रत्युत बाधकान्येव प्रमाणानि समुपलभ्यन्ते। तानि च तृतीयमतस्थापकान्येवेत्यनुपदमेव विवेचयिष्यन्ते। तथाच—कामसूत्रकर्तुरर्थशास्त्रकर्तुश्चाभिन्न एव न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायनः। तथाहि अर्थशास्त्रस्य कर्ता चाणक्यापरपर्याय आचार्यकौटिल्यः, कामसूत्रस्य च कर्ता आचार्यमल्लनागः। कोषे वात्स्यायन-कौटिल्य-मल्लनागप्रभृतिनाम्नां समानार्थकत्वं दृश्यते। तादृशकोषवाक्यं तु,—

> वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
> द्रामिलः पक्षिलः स्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः। इत्यभिधानचिन्तामणीयम्।
> विष्णुगुप्तस्तु कौण्डिन्यो चाणक्यो द्रमिलोऽङ्गुलः।
> वात्स्यायनो मल्लनागः पक्षिलः स्वामि इत्यपि।

इति त्रिकाण्डशेषीयश्चावगन्तव्यम्। 'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च' इत्यभियुक्तोक्तेः कोशस्यापि शक्तिग्राहकतया वात्स्यायनपदस्य चणकात्मजे कामसूत्रकर्तुर्मल्लनागादिभिन्ने शक्तेरवश्यं स्वीकर्तव्यतया पक्षस्तृतीयो न कथंचिदपि क्षोदक्षमतामावहति। न चानेकेषामप्येकनामदर्शनात् कोषवाक्यघटकवात्स्यायनशब्दः भाष्यकर्तृवात्स्यायनभिन्नस्यैव कस्यचिद्वाचक इति वाच्यम्, व्युत्पादिते च भगवता-पक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते इति तात्पर्यटीकायां वाचस्पतिमिश्रेण भाष्यकारमभिलक्ष्य पक्षिलस्वामिनाम्नः प्रोक्तत्वात्, प्रोक्तकोषवाक्यद्वयेऽपि च पक्षिलस्वामिनाम्नः समुल्लेखात् त्रिकाण्डशेषीयवाक्ये कौटिल्यस्थाने कौण्डिन्य इति पाठः प्रामादिक इति तु स्पष्टमेव प्रतिभाति।

कामसूत्रकर्तृमल्लनागाभेदश्च न्यायभाष्यकारस्य प्रोक्तकोषवाक्यद्वयेन, कामसूत्रविन्यास इव मल्लनाग इति वासवदत्तान्तःपातिसुबन्धूक्त्या च सेत्स्यति। यत्तु भाष्यस्य प्रसन्नपदाख्यव्याख्यारचयित्रा सुदर्शनाचार्येण भाष्यकारवात्स्यायनस्योपरि कामसूत्रकृत्तया कामुकत्वस्य, नन्दनृपवंशोच्छेदकतया क्रूरत्वस्य, अर्थशास्त्रकृत्तया कुटिलहृदयत्वस्य चाक्षेपः, तत्प्रणीततया च भाष्यस्य नानाऽसम्बद्धाभिधानघटितत्वाक्षेपश्च साटोपं विहितः स्वलिखितायां भूमिकायां स तु सीमातिशायितबोधविभवस्यैवाऽनुमापकः।

यदि कामविषयकचर्चयैव शास्त्रस्य जघन्यत्वं तत्प्रतिपादकस्य च निन्दितत्वं तदा "योषा वा अग्निर्गौतम? तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति, तेऽङ्गाराः अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति" इति बृहदारण्यकोपनिषदि प्रतिपादनाद् उपनिषदोऽपि जघन्यत्वं, तत्कर्तुश्च भगवतो निन्दितत्वमापतति। अतः सर्वथेदं स्वीकरणीयमेव यद्

विवेचने कस्यापि पदार्थस्य न कोऽपि दोष इति। कोऽपि महांश्चिकित्सको यदि योनिव्यापदादिरोगचिकित्सार्थं निर्मलहृदयः पश्यति जननेन्द्रियं तर्हि स किं कामुक इति कथ्यते लोकैः? अतः कामसूत्रकृत्त्वेऽपि न भाष्यकारस्य तत्रभवतो वात्स्यायनस्य कामुकत्वम्, तत्प्रयुक्ता भाष्यसमादरहानिर्वा, प्रत्युत तादृशसूत्रकृत्त्वादेव तस्य गौणं महर्षित्वमपि प्रतिपादितं लोकैः। यदपि नन्दनृपवंशोच्छेदकतया क्रूरत्वं तेन च भाष्यकारस्याऽमहत्त्वमुद्घोष्यते तदपि न साधु सङ्गच्छते। कुतश्चित्कारणात् कालविशेषे व्यक्तिविशेषमधिकृत्य यो भवति क्रूरकार्यकारी स सर्वदा क्रूरत्वमादाय तिष्ठति किम्? एकविंशतिवारं मेदिनीं निःक्षत्रियां कुर्वन् भगवान्परशुरामः किं विहाय दारुणकार्याणि न तेपे तपांसि? य एव जीवः प्रथमं बद्धस्तिष्ठति स हि किं मुक्तो न भवति ज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः सन्?

तात्पर्यटीकाकृद्वाचस्पतिमिश्रकीर्तित-प्रोक्तकोशवाक्यद्वयोक्तपक्षिलस्वामीति तन्नाम्ना स्पष्टमिदं प्रतीयते यत् पश्चादसौ चाणक्यो क्रौर्यादुपरतः परमशान्तः सञ्जातः, तदानीमेव च न्यायभाष्यं रचयामास। स्वामीति संज्ञा यतो यतेर्यतिकल्पस्यैव वा सम्भवति युक्ता।

मम त्वयं दृढो निश्चयो यदाचार्यश्चाणक्यो धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुर्विधपुरुषार्थानां प्राप्तिर्जनानां सारल्येन भवतु इत्येतदर्थं चतुर्विधपुरुषार्थप्राप्त्युपायप्रकाशकान् ग्रन्थान् रचयामास यत्र धर्मार्थयोर्घनिष्ठसम्बन्धात् उभयप्रतिपादकमेकमर्थशास्त्रं, कामप्रतिपादकं कामशास्त्रं, मोक्षोपायप्रकाशकं च वात्स्यायनभाष्यं विरचितवान्। अधर्माचरणे दण्डस्य प्रायश्चित्तस्य च विधानव्यवस्थापनात् अर्थशास्त्रस्य तदीयस्योभयप्रकाशकत्वं स्फुटमेव। धर्मार्थयोर्घनिष्ठसम्बन्धस्त्वतोऽपि बुध्यते यतो मनुयाज्ञवल्क्यादिरचितसकलधर्मशास्त्रे राजनीतिसमावेशो दृश्यते। कथमन्यथा दण्डविचारो दायविचारो वा तत्तद्धर्मशास्त्रे स्थानमाप्नुयात्।

अतो मौर्यचन्द्रगुप्तसचिवो विद्याम्बुराश्यायितमानसो अत्रभवान् चाणक्य एव न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायनः। यदपि भाष्यलेखशैली कौटिल्यार्थशास्त्र-कामसूत्रलेखशैलीतो भिन्नेति न त्रयाणां ग्रन्थानामेकः कर्तेति कथनं, तदपि न सन्तोषयति हृदयम्। यतो भाष्ये तत्र तत्र स्वपदवर्णनार्थं सूत्रानुरूपसंक्षिप्तभाषया तत्तदर्थोपन्यासो भाष्यकारस्यास्य सूत्रकृत्त्वं स्पष्टयत्येव।

अर्थशास्त्रान्तर्गतविद्योद्देशप्रकरणपरिपठितस्य—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्म्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता

इति पद्यस्यैव—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्म्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ।।

इत्येवं रूपेणोपन्यासः विद्योद्देशे प्रकीर्तिता इत्यनेन कृता अर्थशास्त्रान्तर्गतविद्योद्देशप्रकरणचर्चा, विद्योद्देशे प्रकीर्तिता इत्येतद्घटकप्रकीर्तितेति क्रियापदबलादध्याहृत "मया" इति तृतीयान्तपदं च पुष्णाति न्यायभाष्यकर्तुश्चाणक्यादभेदं वात्स्यायनस्य। यदि च प्रकीर्तितेति क्रियापदेन "कौटिल्येन" इत्येव

तृतीयान्तपदमध्याहार्यं तदाऽर्थशास्त्रकर्तुश्चाणक्यात् न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायनोऽर्वाचीनतां गच्छतीति पूर्वप्रदर्शितकोशवाक्यद्वयमाकुलं भवति सर्वथा।

यद्यपि अस्माकमन्यतमगुरुवरैर्महामहोपाध्यायफणिभूषणतर्कवागीशमहाशयैः स्वकीयन्यायपरिचयाख्य-वङ्गभाषामयग्रन्थभूमिकायां न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायनश्चाणक्याद् भिन्न एवेति संक्षेपेणोक्तम्, तथापि विचार्यमाणे तत्त्वे न तन्मनसे रोचते। मन्ये सुदर्शनाचार्याक्षिप्तकामुकत्वादिदोषनिरासायैव गुरुचरणैरेवं प्रतिपादितम्। परन्तूक्तदिशा विचारे क्रियमाणे तदाक्षेपस्यावसर एव नास्तीति कृतं तद्भिया भाष्यकर्तु-र्वात्स्यायनस्य चाणक्यभिन्नत्वप्रतिपादनेन। तथा च—सर्वथेदं सिद्धं, यदाचार्यकौटिल्य एव भाष्यकर्ता वात्स्यायनः इति।

भूसुरोऽसौ किंदेशजन्मेत्यत्रापि विद्यते विप्रतिपत्तिः। कश्चिद्वदति पञ्चाम्बुनदीयोऽसावासीत्। कश्चिद् अभिधानचिन्तामणीयप्रोक्तपद्यस्य द्रामिलस्थाने द्राविड इति पाठं प्रकल्प्य दाक्षिणात्योऽसाविति वदति। बहवस्तु मगधराज्याऽनतिदूरवर्तिनैयायिकाकरभूतमिथिलाप्रसूतो, मैथिलब्राह्मणोऽसाविति वदन्ति। अत्रापि विचारे विधीयमाने तृतीय एव पक्षः स्थैर्यमावहति। प्रथमपक्षे तु किमपि मानमेव नावलोक्यत इति, तस्य पञ्चनदीयत्वव्यवस्थापनाग्रहो 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' इति न्यायमेवानुधावति। द्वितीयपक्षेऽपि न किमपि वास्तविकं मानमुपलभ्यते। यदप्युपस्थाप्यते मानत्वेन तदपि मानाऽऽभासतामेव व्रजति। किमत्र मानं यद् द्रामिल इतिकोषोक्तिर्भ्रान्तिमूला तत्स्थाने द्राविड इति पाठो वास्तविक इति?

यदपि स्वामीत्युपाधेर्दक्षिणदेश एव प्रचारात् भाष्यकारस्य च पक्षिलस्वामीति नामोपलब्धेस्तस्य दाक्षिणात्यत्वमिति, तदपि त्यागित्वमूलकतदुपाधिसम्भावनया निर्णयकथाऽतीतमेव प्रतिभाति। न हि कुप्पुस्वामि-चिन्नस्वामीतिवत् स्वरूपानन्दस्वामीत्यत्रापि स्वामिपदस्य श्रूयमाणतया स्वरूपानन्दस्वामिनोऽपि भवति दाक्षिणात्यत्वम्। स्वामिपदप्रवृत्ति-निवृत्तिनिमित्तभूतस्त्यागस्तु तस्य इतिहासादिप्रसिद्ध एव। यो मौर्यसम्राजश्चन्द्रगुप्तात् प्राप्ताः दीनारापरनामधेयस्वर्णमुद्राः दीनेभ्य एव वितरेत् कस्ततोऽधिकत्यागी वक्तुं शक्यते कैरपि। अथवा मौर्यराज्यसाम्राज्यासनासीनोऽपि सर्वदा सर्वथा चाप्रतिहताज्ञत्वात् स्वामीति व्यपदेश-मुपागतः। राजनि स्वामिपदस्य लोकेऽतिप्रसिद्धेः। पक्षिणः—स्वपक्षाश्रिताः लसन्ति यस्मात्, अथवा पक्षिषु—स्वपक्षाश्रितेषु लसति, किंवा पक्षः—सन्दिग्धसाध्यवान् अस्य हेतोः अस्तीति पक्षी, 'संदिग्धसाध्यवद्वृत्तिहेतुः' तं लाति कृन्तति अर्थात् निश्चितसाध्यवद्वृत्तिं करोतीति विविधव्याख्यया आचार्यवर्यचाणक्यस्य पक्षिलत्वमपि साध्वेव सम्पद्यते इति।

तथा च—मैथिलोऽसौ न्यायभाष्यकर्ता चाणक्यापरनामा वात्स्यायन इत्येव परिशेषसिद्धिमुपयाति। परिशेषश्चेतोऽप्यवसीयते यत् यद्यसौ भवेद्दाक्षिणात्यः पञ्चाम्बुनदीयो वा न कथमप्यतिविप्रकृष्टमगधदेश-मागत्य तादृशीं लोकरुचिं समुत्पादयितुमर्हेत् येन बद्धमूलनन्दमहासाम्राज्योच्छेदनक्षमतामुपेयात्। किञ्चा-यमितिहाससाक्षिको विषयो यत् कुरूपः काणश्चासौ चाणक्यो नन्दनृपप्राङ्गणविधीयमानब्राह्मणभोजने प्राप्तनिकारोऽतिविकारमागत्य नन्दराज्योच्छेदं चकारेति। एवं च सूक्ष्मेक्षिकया समीक्षणीयमेतत् यद् दूरदूरात् पञ्चाम्बुनदात् दक्षिणदेशाद्वा कः समागच्छेद् भोजनार्थम्? आगत्य वा प्राप्तनिकारसहस्रोऽपि किं तत्र कर्तुं शक्नुयादत्यन्तापरिचिते प्रदेशे?

पक्षेऽस्मिस्तृतीये सर्वाधिकबलवती युक्तिस्त्वियं यत् मिथिलायां यद्आबालवृद्धस्त्रीपुरुषसाधारणी ख्यातिश्चाणक्यस्य दृश्यते, न तथाऽन्यप्रदेशे। कास्ता: मूढमूढा अपि मैथिलललना या: 'चानक' इत्यपभ्रंशेन चाणक्यं न व्याहरन्ति। चाणक्यस्य ख्यातिरीदृशीं व्याप्तिमुपगता तत्र, यत्तत्रत्या मूर्खा अपि रमण्य: 'ई चानक थीक' इत्यादिरूपेण नीतिमपि चाणक्यापभ्रंशभूतेन 'चानक' इति शब्देन व्याजह्रु: व्याहरन्ति च।

न्यायभाष्याऽर्थशास्त्र-कामसूत्रलेखशैलीष्वक्षिनिक्षेपेऽपि तत्कर्तुंस्तृतीय एव पक्ष: सर्वथा स्थिरतामुपगच्छति। महतां मैथिललेखकानां लेखस्याऽयमसाधारण: स्वभावो यद् गम्भीरबहुलार्थत्वेऽपि शब्दसंक्षेपमूलकं काठिन्यम्। यन्निदर्शनं तु शङ्कराचार्यभगवत्पादादतिपरवर्तिनां उदयन-श्रीवल्लभादीनां कुसुमाञ्जलि-न्यायलीलावत्यादिगतो लेख:। न्यायभाष्यादिष्वपि शब्दसंक्षेपमूलकं तादृक्काठिन्यं दृश्यत एवेति सर्वथा स्थिरतामुपगच्छत्ययं तृतीय: पक्ष:। भाष्यकर्तुर्वात्स्यायनस्यास्य स्थितिसमयश्च स्कन्द-विष्णुपुराणाद्यालोचनेनैवं प्रतिभाति यद् ईशवीयवर्षारम्भात्सहस्रद्वयाब्दपूर्वमेवासीदत्रभवान् न्यायभाष्यकर्ता वात्स्यायन इति कृतमधिकेन।
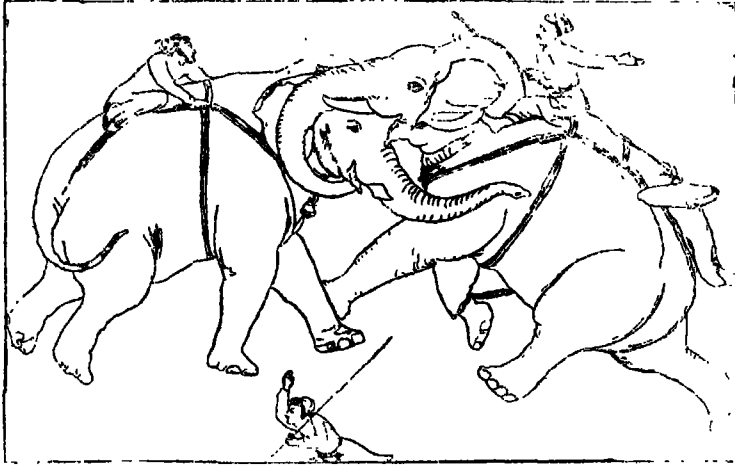
स्वतन्त्रभारते प्राचीनार्य्यमर्य्यादा।

गोपालशास्त्री

(टि०—अत्र विवादग्रस्तविषयाणां कृते प्रत्युत्तरदायित्वभारो लेखके एव—सम्पादकः)

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।"

उपर्य्युक्तमनुस्मृतिश्लोकेन तु स्पष्टमेवेदं प्रतीयते यद् भारतीया आर्य्याः कदाचित् समग्रस्यैव विश्वस्य गुरवो भूत्वा जगद्गुरुपदासीनाः सर्वमानवशिक्षका आसन्निति। इत्यत एव प्राचीना आर्य्या विशालहृदया दीर्घदर्शिनो दैवीं सम्पत्तिं समाश्रिता इन्द्रियारामबहिर्मुखास्त्यागवृत्तयो वीरभावापन्नाः शासकप्रकृतय एवासन्निति।

तस्मिन् काले सत्यमेवार्य्या आर्य्या एवासन्। न कोऽपि दोषस्तेषु अन्वेषणतोऽपि तदानीमुपालभ्यत। यदि कुत्रापि कुतोऽपि कियानणुमात्रेणापि दोषलेशो गुप्तोऽगुप्तो वा दृष्टिपथमायाति स्म, तदा तदा झटित्येव तदानीमार्यस्यस्तस्य दोषलेशतः पुंसो जातिबहिष्कारो धर्मबहिष्कारोऽथवा देशबहिष्कार एवान्ततो भवति स्म। इयं बहिष्कारप्रथा आर्य्येषु क्रमश एवं बद्धमूला समजनि, यद् उत्तरोत्तरं जातिधर्मसमाजदेशबहिष्कृतानामेवार्य्याणां भूयसी संख्या देशदेशान्तरे द्वीपद्वीपान्तरे च प्रसृता। तत्र च ब्राह्मणाः सम्पर्कशून्यतया आर्य्याचारबहिष्कृता विस्मृतस्वकुलजातिधर्मसमाजाचाराः। शनैः शनैर्व्रात्यतां समापन्नास्ते म्लेच्छा एव सञ्जाताः। यथोक्तम् मनुनापि—

"तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः।
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पल्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥
शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥"

भारतीयार्य्याणामितो भारताज्जाति-धर्म-देश-बहिष्कारेण, व्यापारादिनिमित्तेन च द्वीपान्तरे देशान्तरे च प्रवेशः सर्वत्रैव संस्कृतपुस्तकेषु शतपथब्राह्मणादारभ्य रामायणमहाभारतेतिहासग्रन्थेषु

विष्णुवह्निपुराणादिषु च बहुशः समुपलभ्यते । तथापि, ऐतरेयब्राह्मणे: "तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः। पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्छन्दसः, पञ्चाशत् कनीयांसः। तत्र ये ज्यायांसो न कुशलं मेनिरे।ताननुव्याजहार सुतान् वःप्रजा नेह वर्द्धिषत । त एते आन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा भल्ला इत्युदन्ता बहवो भवन्ति विश्वामित्राद् दस्यूनां भूयिष्ठाः" इत्यादि। इमे विश्वामित्रपुत्रा आन्ध्रा आन्ध्रालये (आष्ट्रियानाम्नि महाद्वीपे) गत्वाऽधिकसंख्यायां विस्तीर्णा जाताः। भल्ला पुलिन्दाश्च अफ्रिका-द्वीपे गत्वा जुलूनाम्ना प्रख्याता जाताः। चीनास्तु सम्प्रत्यपि तेनैव नाम्ना प्रख्याताश्चीनदेशे तिष्ठत्येव। किरातास्तु 'बलोच्चस्थाने' बलुचिस्ताननाम्नि देशे गताः।

एवं महाभारते ययातिनाम्नो भारतीयसम्राजः पुत्राणां तुर्वसुद्रुहुप्रभृतीनां म्लेच्छभूमौ गमनं प्रसिद्धमेव। यदा हि सम्राट् ययातिः शुक्रशापाज्जरां परिगतस्तदाऽनुनयादिना पुनस्तोषितेन शुक्रेण पुत्रैः प्रदत्तया यौवनावस्थया ते जराच्युतिर्भविष्यतीति वरमासाद्य सर्वानपि पुत्रान् स्वीयजरया तेषां तारुण्यविनिमयं कर्तुं प्रवृत्तस्तदा पुरुरेव कनीयान् स्वीयं तारुण्यं दत्त्वा पितुर्वार्द्धक्यं गृहीतवान्। ततश्च क्रुद्धेन ययातिना पुरवे कनिष्ठायैव राज्यं दत्त्वाऽपरे केचन देशान्तरे निःसारिताः, तेऽपि यदुप्रभृतयः तद्योग्या अपि राज्यप्राप्तितो वञ्चिताः कृताः। तथाहि—

> यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वयस्त्वं न प्रयच्छसि।
> तस्मात्प्रजासमुच्छेदं तुर्वसो ! तव यास्यति।
> सङ्कीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च
> पिशिताशुचिजात्येषु मूढ ! राजा भविष्यसि। (महाभा०)

एवं हरिश्चन्द्रवंशीयेन सगरेण राज्ञा कृता हैहय-काल-जङ्घादिक्षत्रियाणां जातिबहिष्कारो धर्मनिरा-करणञ्च महाभारतहरिवंशविष्णुपुराणादिसंस्कृतग्रन्थेषु सर्वत्रैव समुपलभ्यते। तथाहि—

> "शका यवनकाम्बोजाः पारदाः पल्लवास्तथा।
> कोलिसर्वाः समहिषा हैहयाश्चोलकेरलाः।
> सर्वे ते क्षत्रियास्तात ! धर्मस्तेषां निराकृतः।
> वशिष्ठवचनाद्राज्ञा सगरेण महात्मना। (महा०)

इत्यादयो बहवः क्षत्रिया भारतदेशादेव बहिर्विदेशे गत्वा त्यक्तस्वधर्माचारा अन्यजातिपरिणता जाताः। बहवश्च व्यापारादिनिमित्ताद् गतास्तत्रैव विदेशे बहुकालस्थित्या ब्राह्मणादर्शनेन विस्मृतविदेशधर्माचारा अनार्य्यतां गताः। यथोक्तं हरिवंशादिषु पुराणग्रन्थेषु—'तुर्वसोर्यवना जाताः।...नरिष्यतः शकाः पुत्राः।" इत्यादि। कियतः कालात् पुनर्यदा तेषामेवानार्य्यतां गतानां भारताद् बहिःस्थितानां क्षत्रियाणां भारतदेशे व्यापारादिना युद्धोद्योगेन वा प्रवेशः प्रारब्धस्तदाऽत्रत्यैस्तदानीन्तनैरुदारहृदयैः संस्कृतज्ञविद्वद्भिः समाजनेतृभिः शुद्धिसंस्कारादिना व्रात्यस्तोमविधानेन च ते पुनरपि भारतीयार्य्यधर्मे सम्मेल्य स्वस्व-जातिषु क्षत्रियादिषु स्वकर्मानुसारं ब्राह्मणादिषु च प्रवेशिता अभूवन्। यथा मिश्र-(इजिप्ट) देशीयाः यहूदीजातयो हि पूर्वमिह भारते सूर्य्यवंशीयाः पाण्ड्याः क्षत्रिया आसन्। पुनरिहागत्य दक्षिणप्रान्ते चित्पा वननामानो ब्राह्मणा जाताः। चीनाश्च शिक्षादीक्षासम्पन्ना उच्चकुलीना इहागत्य तत्रैव प्रान्ते 'कह्लाडे' इतिनामका ब्राह्मणा अभूवन्। शाकद्वीपीयाः क्रौञ्चद्वीपीयाश्च ब्राह्मणा अधुना स्वदेशनाम्नैव प्रख्याता उत्तरभारते विशिष्टश्रेण्यां विद्यन्ते। इत्थमेव शकवंशीया हूणजातिकाश्च बहव इह भारते सम्मिलता-

स्तथाम्मैव क्षत्रियत्वमुपेतास्तिष्ठन्ति। कण्वस्य मुनेर्मिश्रदेशगमनं तत्रानार्य्याणां व्रात्यस्तोमादिविधिना-ऽर्यीकरणञ्च भविष्यपुराणादौ प्रसिद्धमेव।

सरस्वत्याज्ञया कण्वो मिश्रदेशमुपाययौ।
म्लेच्छान् संस्कृत्य चाभाष्य तदा दशसहस्रकान्।
वशीकृत्य स्वयं प्राप्तो ब्रह्मावर्ते महोत्तमे।
सपत्नीकांश्च तान् म्लेच्छान् शूद्रवर्णाय चाकरोत्।
द्विसहस्रास्तदा तेषां मध्ये वैश्या बभूविरे।
तन्मध्ये तु पृथुर्नाम स्वयं कश्यपसेवकः।
तेषां चकार राजानं राजपूतपदं ददौ। (भविष्यपु)

मनुनापि तु आर्य्यैरनार्य्याणां नारीणां स्वीकृत्य तदीयसन्ततीनाम् आर्य्यीकरणं स्पष्टमेव प्रतिपादितम्। तथाहि–

"जातो नार्य्यामनार्य्यायामार्य्यादार्य्यो भवेद्गुणैः।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात्।" (मनुः)

इत्यादीनि बहूनि वचनानि पुराणादिषु स्मृतिष्वपि सन्ति यैरनार्य्याणां पुराकाले आर्य्यैः स्वस्वीकृत्याऽर्य्यीकरणं समर्थितं भवति। अर्जुनस्योलुपीपरिणयः। भीमस्य हिडिम्बोद्वाहः। ययातेश्च शर्मिष्ठास्वीकारः। इत्येवं पुलस्त्यसूनोः विश्रवसो मुने श्चैलबिलायां देव्यां रावणादीनां समुत्पत्तिः प्रसिद्धैव। इत्येवं बहुश इतिहासग्रन्थेषु पुराकालेऽनार्य्याणां नारीणामार्यीकरणम्, तथाऽनार्य्याणामार्य्यजातौ प्रवेशोऽपि लिखितो दृश्यते। इत्येवमेवासीदिह स्वतन्त्रभारते जात्यन्तराणामार्य्यजातिप्रवेशप्रवाहः प्रवहमानः। सोऽयमनार्य्याणामार्य्यधर्मस्वीकृतिसमुदाचार अनार्य्यनारीणामार्य्यैः स्वजातिप्रवेशप्रवाहश्चेह भारते मोहम्मदीयशासनकाले बलान्नियमितो जात इति प्रतिभाति। मोहम्मदीय (इस्लाम) धर्मप्रचारकामुकैस्तुर्कमोगलप्रभृतिशासकैर्बलात् प्रलोभनाद् भयाद्वा विविधकारणकलापाद् आर्य्याणां सततं प्रवहन्तीयमनार्य्याणामार्यीकरणगङ्गा पूर्वाभिमुखी बलान्निरुध्य पश्चिमाभिमुखी कारिता। तत एवारभ्यानार्य्याणामार्य्येषु प्रवेशः सर्वथा निरुद्धोऽभवत्। प्रत्युतार्य्याणामेव विविधैरुपायैरनार्य्येषु तेषु प्रवेशः समारब्धः। ते हि मोहम्मदीय-धर्मानुगा बलाद्भयाच्छलेन व्याजेन छद्मनाऽप्यर्यानेव स्वधर्मे प्रवेशयितुमारब्धवन्तः। एवमार्य्यधर्मविरोधिनः संस्कारा अपि तैरुद्भाविता गोभक्षणकलमापाठप्रभृतयो यद्वशात् मुस्लीमवागुरापतितान् आर्य्यान् पुनः स्वधर्मे परावर्तितुमार्य्या एव नान्वमोदयन्। येन तूलेऽग्निरिव मोहम्मदीयानां संख्येहप्र वर्द्धमाना समजनि। येन च गान्धारादिः सर्वोऽपि विशालः क्षत्रियदेशोऽद्य मुस्लिममतप्रविष्टो भूत्वाम्लेच्छतां गतो विद्यते। अत्रास्माकं समाजनेतॄणां संस्कृतज्ञानां पण्डितानामज्ञानं राजनीतिज्ञतावैमुख्यं देशकालात्मानभिज्ञता चाग्नौ घृताहुतिकृत्यं चक्रुः। पश्यन्तु अवधारयन्तु च पूर्वमिह भारते मोहम्मदीयानां प्रवेशात् प्राक् सर्वेऽपि शतं प्रतिशतं हिन्दव आर्य्या एवासन्। एकस्यापि विधर्मणः गन्धोऽपि नासीत्परन्तु तत्रैव सम्प्रति पूर्वबङ्गालप्रान्ते, पञ्चालप्रान्ते, सिन्धुप्रान्ते च, सर्वेऽपि मोहम्मदीया एव सन्ति। बिहार-संयुक्तप्रान्तादिषु शते पञ्चदश संख्या अद्यापि विधर्मिणां विद्यत एव। तेऽद्यत्वेऽपि दैनन्दिनं तूलेऽग्निरिव वर्द्धन्ते एव। कालवशात् यद्यस्माकमज्ञानमेव स्थास्यति चेदेषु प्रान्तेष्वपि पूर्वबङ्गाल-पश्चिम-पञ्चाल-दशा कथन्नागमिष्यति? अनागमने किमिह विनिगमकं विद्यते?

अतश्चाधुनाऽप्यस्माकं बुद्धिर्देशकालात्मवेदिनी स्वतन्त्रभारतीयार्य्यमर्य्यादानुकूला यदि स्यात्तर्हि बहुसिद्धं स्यादार्य्यसमाजस्य, नितरां हितं स्याद् हिन्दुसमाजस्य । डा० भगवद्दासैर्मानवधर्मसारनाम्नि स्वरचितग्रन्थे साधूक्तं विद्यते यत्—

शिखा चेन्मुण्डिता सूत्रं त्रोटितं च बलादपि ।
अभक्ष्यं वाऽप्यपेयं वा खादितं पायितं बलात् ।।
हिन्दुत्वं वा कथं नष्टमामूलं तावतैव हि ।
जन्मना मानवत्वं यत्तत्तु नैवापनीयते ।।
वर्णस्तदा कथं गच्छेदिति बुद्धया विचार्य्यताम् ।
केनापि कारणेनैव सोऽपनेयो भवेद्यदि ।।
न कथं प्रत्युपानेयो भवेत्स प्रतिकारणैः ।
सूत्रभङ्गेन भज्येत शिखाया मुण्डनेन च ।।
अभक्ष्यपेयपानेन यदि वा तत्कथं पुनः ।
नवसूत्रपरिधानैर्नवकेशविवर्द्धनैः ।।
रेचनेन विरेकेण सन्धीयेत कथं नहि ।

किं बहुना, सम्प्रति स्वतन्त्रेऽस्मिन् भारते बालबुद्धिविडम्बनामिमां विहाय बद्धपरिकरैः सर्वैरेव विद्वद्धौरेयै-स्तथा हिन्दुसमाजः संस्कर्तव्यः यथा कोऽप्येकोऽपि हिन्दुर्विधर्मा न भवेत्, तथा विधर्मीभूता मोहम्मदीया खृष्टाश्च पुनर्हिन्दुसमाजे समाविष्टाः स्युर्येन पुनरपि पूर्ववद् भारते आर्य्याणामेव शतं प्रतिशतं संख्या स्यात्। पूर्वमिह भारते स्वतन्त्रावस्थायां ये केऽपि वैदेशिका आगच्छन्ति स्म ते सर्वेऽपि लवणसम्पर्केण लवणवत्, भारतीयार्य्यसम्पर्के समागत्य भारतीया आर्य्या एव भवन्ति स्म । तथैवाधुनापि स्वतन्त्रे भारते इहस्थानामार्य्यकुलादेव कतिपयवर्षतः पूर्वमनार्य्यतां गतानां विधर्मणान्तु कथैव का वैदेशिका अपि सर्वथा सहस्रवर्षतोऽनार्य्यतां गता विधर्मणोऽप्यार्य्यतां गत्वा चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यमर्य्यादापालका भवेयुरिति। इत्थं हि पूर्वं स्वतन्त्रभारतेऽनार्य्याणामार्य्यीकरणप्रथा प्रसृता आसीत् । पश्यन्तु मानवधर्मसारे तथैवै-तिहासिकं संक्षिप्तमितिवृत्तम्—

"शिवसिंहो महाराजो महोत्साहो महाबलः ।
शिवाजीत्येव नाम्ना यः सर्वत्र प्रथितो भुवि ।
स निम्बकरनामानं स्वीयं सेनाधिकारिणम् ।
युद्धेषु मुस्लीमीभूतं पुनरावर्त्य हिन्दुताम् ।
जनताबोधनार्थं वै स्वां सुतामुदवाहयत्
पश्चात्तंजोरराजश्च तन्नीतेरनुसारिणः
सर्वान् वै मुस्लीमीभूतान् ख्रीष्टीयानपि मानवान्
हिन्दुधर्मे समानिन्युः शुद्धिसंस्कारपूर्वकम् ।
रणवीरोऽपि नृपतिरिमां नीतिमुपाग्रहीत् ।"
बहवो ह्येवमावृत्ता हिन्दवो हिन्दुतां पुनः
साऽनुसार्य्योत्तमा नीतिः पुनरस्माभिरद्य वै ।"

महायान बौद्ध देवता सिंहनाद लोकेश्वर
उत्तर मध्यकाल (ई० १२वीं शतीं)
चंदेल कला
महोबा से प्राप्त
—लखनऊ संग्रहालय

इत्यादीनि पुराणेतिहासोपाख्यानानि तत्र मानवधर्मसारग्रन्थे निबद्धानि। स ग्रन्थोऽधुना सर्वैरेव संस्कृतज्ञै, द्रष्टव्यः। इत्येवमार्य्यमर्य्यादायाः प्रणवीकरणप्रकारमभिधायाहमपि विरमामि। अन्ते च सर्वानेव भारतीयान्निवेदयामि यत्ते स्वतन्त्रभारतेऽधुना बद्धपरिकरा भूत्वा स्वीयां पुरातनीं प्रथां पुनरपि प्रचारयन्तु सर्वानेव विधर्मिणः संस्कृत्य कृण्वन्तो विश्वमार्यमिति वैदिकं सिद्धान्तं सफलयन्तो भारतं पुनरार्यमात्रैकवसतिमनुपलभ्यमानविधर्माणं विधाय—

> यस्यैते हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
> यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

इतिभारतीयसीमात्मने परेशाय स्तवमुपहरन्त्विति।
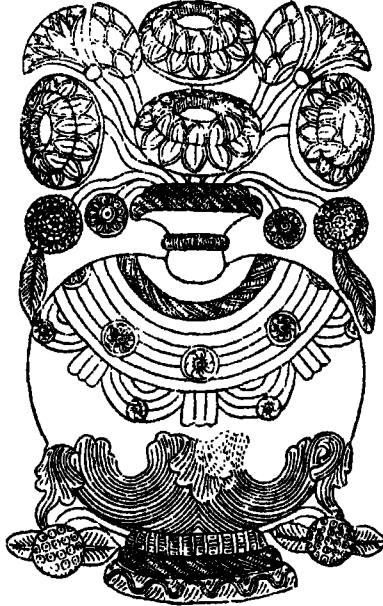
भारतीयसंस्कृतेः परिरक्षणम्

पट्टाभिरामशास्त्री

किं ब्रूमो वयमस्माकं पचेलिमां भागधेयपरम्पराम्—यदद्य वयं सुबहोः कालादनन्तरं केनापि दैवविशेषण, अथवा भारतीयसन्नायकानां दृढतरोद्यमविशेषेण पारतन्त्र्यपिशाचादुन्मुक्ताः प्राज्यं स्वातन्त्र्यसुखमनुभवामः। स्वातन्त्र्यं हि नाम नोच्छृङ्खलता, न वा यथेच्छाचारिता, किन्तु स्वस्वतन्त्रेषु (कर्तव्येषु) यथावद्वर्तनम्। तत्तद्देशप्रसूतस्य राज्ञो नायकस्य वा स्वभावसिद्धोऽयं गुणः—यत् स्वराष्ट्रस्य देशस्य समाजस्य च सम्यक्परिष्करणम्, यस्मै च परिष्काराय देशान्तरस्था अपि सर्वात्मना स्पृहयेयुरिति। तदिदमेव पवित्रं कार्यं सम्पादयितुं भारतीया अस्माकं सन्नायकाः शासनसूत्रं हस्ते परिगृह्य समनोयोगं प्रयतन्त इति नितरां प्रमोदस्थानमस्माकम्। अधुना भारतशासकानां पुरतः संख्यातीताःप्रश्ना एकदैव समुपस्थिताः, ये चात्यन्तं दुस्समाधेयाः। तथाहि—यवनानां हिन्दूनाञ्च परस्परं विश्वाससमुत्पादनम्, स्थानान्तरितव्यक्तीनां भारते यथायोगं समावेशनम्, एभिस्तत्र तत्र बलात्परित्यक्तानां प्रभूतानां धनराशीनां पुनरपि तत्स्वायत्तीकरणम्, अन्नस्य वस्त्रस्य च यथायथं वितरणम्, प्रभूतस्यान्नराशेस्समुत्पादनम्, आढ्यैस्तत्र तत्र क्रियमाणस्य दुर्व्यवहारस्य निरोधनम्, प्राप्तेऽवसरे शत्रूणां कदनाय विविधानामाधुनिकशस्त्राणां समुत्पादनञ्चेत्यादीनि नैकविधानि कार्याण्येकदैव समुपस्थितानि। इमानि च कार्याणि सत्यमेवास्माकं दृढतराणामपि शासकानां चेतांसि विकम्पयन्ति। इतोऽपि महदेकं सर्वापेक्षयात्यावश्यकञ्च कर्म समुपस्थितं वर्तते—यद् भारतीयसंस्कृतिपरिरक्षणं नाम।

समाजान्तर्गता मानवाः क्रमशो यया विकासमाप्नुवानाश्शुभेषु कार्येषु लोकहितेषु प्रवर्तेरन्, यया च मानवानां मानवत्वं व्यवस्थितं भवेत् सैव नाम संस्कृतिशब्देन व्यवह्रियते। सर्वोऽपि हि मानवः दृढतरां संस्कृतिमेवावलम्ब्य समत्वबुद्धिं व्यापकत्वञ्चाधिगत्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इति पाठं शिक्षयति। अत एव जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्' 'न मानवाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' इत्यादयो वादास्सम्प्रवृत्ताः। संस्कृतेरुपादेयत्वमधिकृत्य किं ब्रवीम्यहम्—संस्कृतिरियं मानवेषु परस्परं प्रेम्णा वर्तनं शिक्षयति, भेदेन वर्तमानानामभेदं बोधयति, नीचकर्मभ्यो मानवान् निवर्त्योच्चकर्मसु प्रवर्तयति, नैकविधैः क्लेशैरुच्चावचं परिभूयमानान् तेभ्यस्समुद्धर्तुं मनः प्रेरयति, हिंसकांश्चाहिंसायां समाकर्षति, दुष्टांश्च शिष्टान् विदधाति अतस्संस्कृतेरुपादेयत्वे न कोऽपि सन्दिहीत।

कस्यापि राष्ट्रस्य समाजस्य वा समुन्नतये स्वसंस्कृतिपरिरक्षणमेव मुख्यं साधनम्। इदमेव च स्व-स्वातन्त्र्यपरिरक्षणाय प्रबलं शस्त्रम्। यदि कश्चन राष्ट्रस्य नेता, स्वसंस्कृतिं समेधयितुं बद्धादरस्स्यात्, तर्हि मन्ये स शासनकर्मणि साफल्यमवश्यमवाप्नुयात्। यश्च समाजः स्वसंस्कृत्याभिमानमादध्यात् स कदापि पारतन्त्र्यं नानुभवेत्। प्रबलेन सेनाबलेन वैज्ञानिकदृशा उच्चावचमाविष्कृतैश्शस्त्रजालैस्समेतेन, सुसज्जितेन वा पराजितश्शत्रुः पुनरपि सुसमयमवाप्य ततोऽपि प्रबलैश्शस्त्रैस्समेतः कालान्तरेऽस्मान् विजेष्यत इत्यत्र स्यादवकाशः। यदि वयं तमेव, प्रलोभनीयेन स्वसंस्कृतिशस्त्रेणाध्यात्मिकशक्तिसंवलितेन पराजयेम, तर्हि स कदापि पुनरुत्थातुं न प्रभवेत्।

यद्यपि कठिनतरोऽयं प्रश्नः दुस्समाधेयश्च। बहोः कालादारभ्यैव वैदेशिकशिक्षादीक्षिता वयं भारतीयाः। वैदेशिकानामाक्रमणेन स्वसंस्कृतिर्विस्मृता अस्माभिः। तेषामेव संस्कृतिरस्मासु दृढमूला वर्तते। तयैव संस्कृत्या कालं यापयितुं समुत्सुकास्स्मो वयम्, तथापीदं तावदस्माभिर्निश्चेतव्यम्—यद्वै-देशिका अपि भारतीयार्यसंस्कृत्यै स्पृहयालवो वर्तन्त इति। तत्र किं कारणम्? मन्त्रद्रष्टॄणां चिरन्तनानां महर्षीणां महतोद्यमेनाविष्कृतानि तत्त्वानि विज्ञानानि, योगशक्त्या निरूपितानि च पदार्थजातानि भारतीयसंस्कृतिकल्पतरोर्मूलेषु पूर्वजैस्समावेशितानि, यानि चाद्यापि कल्पतरुं न परित्यजन्ति। कल्पतरो-रस्य पत्राणि कामं शुष्काणि, शाखाः स्कन्धाश्च विलीनाः, मूलं परमशुष्कं दृढतरञ्च वर्तते। अस्माकं सन्नेतॄणां हस्तैर्जलसेचनमेव प्रतीक्षते।

तत्तद्देशभेदेन संस्कृतिरियं वस्तुतः प्रभिन्ना। अस्माकं प्राचीनैरार्यैः प्रवर्तितेयमनितरसाधारणी संस्कृतिर्मानसिकीमाधिभौतिकीमाध्यात्मिकीञ्च शक्तिं परिवर्द्धयन्ती चतुर्विधपुरुषार्थेषु प्राधान्येन प्रथमस्य तुरीयस्य च सम्पादिका। "विषया उपतिष्ठन्तां विषयैर्वा समवयन्तु करणानि। आन्तरमेकं करणं शान्तं यदि का ततश्चिन्ता"॥ इति रीत्या मानवान् विषयोपभोगेभ्यो निवर्तयति, समाजपरिष्करणाय सामाजि-कान् प्रवर्तयति, शरीरेन्द्रियादिभ्योऽतिरिक्तमात्मानमवबोधयति, जगति मनीषिणः वर्णव्यवस्थासु नाना-विधासु च सम्प्रदायपरम्परासु 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डितास्समदर्शिनः। "त्यक्तव्यो ममकारः त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ। कर्तव्यो ममकारः किं तु स सर्वत्र कर्तव्यः"॥ इत्येवंरूपेण मानवेषु वैषम्यमपाकृत्य समतामुपदिशति। एवं निवृत्तिमार्गं समुपदिशन्त्यस्माकं भारतीया संस्कृतिः, तेषु तेषु देशसमाजौन्न-त्यौपयिकेषु कर्मसु विशेषेण श्रद्धां समुत्पाद्य मानवान् प्रवर्तयन्ती ज्ञानभक्तिकर्मणां समन्वयरूपेण विलसती-त्यहो भाग्यमस्माकम्।

संस्कृतेरस्याः प्रसाराय सन्ति बहूनि कारणानि—कला भाषा, साहित्यं शिक्षा चेत्यादीनि। तत्र च प्राधान्यं कलाया एव स्वीकर्तव्यम्। मानवानां समाजेषु पवित्रभावनानां सञ्चारः कलयैव भवन्तीत्यत्र सन्ति बहून्युदाहरणानि। भरतनाट्यशास्त्रे विमृश्यमाने स्पष्टमिदं प्रतीयते कियन्माहात्म्यं कलाया इति। तत्र प्रतिपादितानां मूर्तिचित्रकाव्यसङ्गीतनृत्यरूपेण प्रभिन्नानां कलानां यादृशं भावाभिव्यञ्जकत्वं न तादृशं कस्याप्यन्यस्य साधनस्य भवितुमर्हतीति सुदृढं वक्तुं शक्यते। किन्तु यदा हि ताश्ताः कला वैषयि-कोपभोगसाधनत्वेन स्वीक्रियन्ते, तदा ताः समीचीनसंस्कृतिनिर्माणेऽसमर्था भवन्तीत्यपि न विस्मरणीयम्।

अत्र हि प्राचीनेतिहास एव प्रमाणम्। मौर्यशासनसमये प्राचीनार्यसंस्कृतिः पुरकला सुसमृद्धा चासीत्। तदा हि विविधाः कलाः सम्यग्विकसितास्सत्यः स्वीयमनुपमं कार्यं सम्पादयामासुः, परं यवनानां समये ता एवोपभोगसाधनान्यभवन्। याश्चित्रकला मौर्यसमये सुसंस्कृत्याधायिका अभवन ता एव यवनानां समये मनोरञ्जनाधायिका अभवन्। तत आरभ्यैव क्रमशो भारतवर्षे कलानां ह्रासस्समुदभूत्। या हि भक्तेः श्रद्धाया विषयसुखोपभोगेभ्यो निवृत्तेश्च साधनम्, सा चेन्मनोरञ्जनसाधनम्, तर्हि कथं नाम संस्कृतेः परिरक्षणं स्यात्? विंशतितमेऽप्यस्मिन् शतके भगवतो बुद्धस्य, तत्तत्सम्प्रदायप्रवर्तकानां श्रीमच्छङ्कररभगवत्पादाचार्यप्रभृतीनां, श्रीमतो गान्धिमहोदयस्य च चित्रेषु, प्राचीनमन्दिरस्थेषु देवताबिम्बेषु च विलोक्यमानेषु कस्य वा सचेतसो मनसश्शान्तिर्न समुदियात्? अद्यापि तदानीन्तनैः कलाकारैः समुट्टङ्कितानि हावभावविन्यासपुरस्सरं द्रष्टॄणां हृदयावर्जकाणि चित्राणि सुवर्णरञ्जनानि विलोक्य, सामयिकं भावमवबुध्य, प्रसन्नः को वा रसिकः कलाकारं न प्रशंसेत्? सन्तापपरीतं जनस्य हृदयमावर्ज्य तत्र किमपि नूतनं वैभवमातन्वतः, विलक्षणं भावं द्रष्टॄणां मनसि सम्पादयतः पुरातनीं शैलीं संस्कृतिञ्च प्रबोधयतः, अनन्यसाधारणीं योग्यताञ्च प्रकटयतः कलाकारस्य वैशिष्ट्यं किं निगूढं कस्यापि विवेकिनः?

एवं सत्यपि वैशिष्ट्ये पुरातनीं संस्कृतिं परिवर्त्य स्वस्वानुरूपां संस्कृतिं सर्वत्र प्रसारयितुं यवनशासका विलक्षणां काञ्चन भाषां, तदनुरूपञ्च साहित्यम्, तच्छिक्षणञ्च प्रारभन्त। 'यथा राजा तथा प्रजा' इति न्यायेन तदानीन्तनानां भारतीयानां राजाज्ञानुवर्तनमनिवार्यमापतितम्। आचारे व्यवहारे वेषभूषासु च महदन्तरं संवृत्तम्। मानवानां परस्परं प्रेमभावो लुप्तः, पाशविकस्य कर्मणः सर्वत्र प्रचार आसीत्, मन्दिरेषु देवतासु च भक्तिभाव क्षीणतां गतः, मन्दिरेषु तेषु तेषु आगमानुसारं प्रतिष्ठापितास्तास्ता देवता प्रतिमाश्च शासकवर्गेण खण्डिताः, चित्रकलासु मानवानां कौशलं कुण्ठितमभूत्, लिलिम्पवाण्याः पठनं पाठनञ्च क्रमशो ह्रासभावं गतम्, यवनभाषायाश्चातिमात्रं प्रचार आसीत्, बलात्तत्र तत्र मतपरिवर्तनं समारब्धं यवनैः। एवं क्रमेण तेषां दौष्ट्येन दुराचारेण वा यदा स्वानुकूला संस्कृतिः प्रसृता, तदा तां निरोद्धुं तत्र तत्र भक्तशिरोमणयः श्रीतुलसीदासप्रभृतयस्त्रिचतुरा महापुरुषाः प्रादुरभूवन्, न्यभान्त्सुश्चार्यसंस्कृतिपरिरक्षणाय श्रीरामचरितमानसप्रभृतीनि ग्रन्थरत्नानि। इमानि च ग्रन्थरत्नानि संस्कृतेरस्माकं रक्षायै कवचरूपाण्येवासन्निति न वक्तव्यमस्माभिः।

एवं याते बहुतिथे काले आङ्गलानां भारतवर्षे प्रवेशो जातः। तदारभ्य परिशिष्टाप्यार्यसंस्कृतिः सर्वत्र विलयं गता। आङ्गला हि भौतिकशरीरविकास एव भृशं श्रद्धवानास्तन्निर्माणमेव मुख्यममन्यन्त। शरीरातिरिक्तस्यात्मनस्सत्तायां ते सन्दिहाना एवाभवन्। अत एव तेषां तच्छवितसंग्रहे प्रवृत्तिर्नोदभूत्। तेन चात्मा दुर्बलो जातः। तेषां शासनसमये प्राचीनार्येतिहासस्य, शिक्षायाः, संस्कृतेः सभ्यतायाः, कर्मकाण्डस्य, आत्मज्ञानसाधनानां दर्शनानाञ्च यया द्रुतगत्या ह्रासस्समजायत, न तथा यवनानां शासनसमय इति निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते। तेषाञ्चायमभिनिवेश आसीत्—यद् भारते मानवाः वर्णेन, रुधिरेण, अस्थ्नां समूहेन च कामं भारतीया भवन्तु, किन्तु बुद्ध्या, व्यवहारेण आचारेण, वेषेण, रुच्या, चेमे पाश्चात्त्या एव यथा भवेयुस्तथास्माभिः प्राणपणेनापि प्रयतनीयमिति। यवना आसुरीं वृत्तिमाश्रित्य प्रजापालनकर्माकुर्वन्, पाश्चात्यास्तु पैशाचीं वृत्तिमाश्रित्य तदकुर्वन्निति वक्तुं शक्यते। मन्ये मनोरथस्तेषां परिपूर्ण इति। अद्यत्वे वयमवलोकयामः—प्रायस्सर्वोऽपि परमात्मनस्सत्तायां सन्दिग्धो सर्वपुरुषा-

र्थरत्नाकराद्धर्मादुद्विजते, प्राचीनानि शास्त्राणि दर्शनानि च द्वेष्टि, सदितिहासं विस्मृत्य मिथ्यारूपेण पाश्चात्यैः प्रसारित इतिहासे श्रद्धत्ते, प्राचीनैस्सुपरिश्रम्य प्रवर्तितं साहित्यं दूरीकरोति, भक्ष्यमभक्ष्यञ्च न विवेचयति, गम्यागम्ये च न विचारयति, ज्ञानेन वयसा तपसा च वृद्धानधिक्षिपति, पुत्रः पितरम्, शिष्यो गुरुम्, जाया पतिम्, सेवकश्च स्वामिनं न तृणाय मन्यत इति। हन्त! किमहं ब्रवीम्यैकैकोऽपि भारतीयः पाश्चात्यपिशाचिकया समाक्रान्तो यथेच्छं मूर्द्धजानुन्मुच्य स्वैरं नृत्यति। सर्वस्या अप्यस्या अनर्थपरम्परायाः प्रसारे तेषां भाषैव मुख्यं कारणमिति न वक्तव्यमस्माभिः। कूटनीतिकुशलास्ते प्राचीनैराविष्कृतान् विषयान् कथञ्चिदवगत्य स्वभाषया च तान् संग्रथ्य, स्वेच्छानुरूपञ्चान्यथयित्वा सर्वत्र क्रमशः प्रचारयाम्बभूवुः। भारतीया अपि तपस्विनः ततो रुचिमादधानाः, तैः प्रसारिते मोहजाले संलग्नाः, तत्रैव तथ्यबुद्धिं विदधतः, तदध्ययने तत्प्रचारे च सुभृशं साह्यमाचरन्। य एव हि पाश्चात्यदेशान् प्राप्य वेदान् दर्शनानि, साहित्यञ्चाधीत्य समागच्छति, स महान् पण्डितः पर्यगण्यत इत्यत्र सुलभान्युदाहरणानि। येनैव भारतीयेन ततः त्रिचतुराण्यक्षराणि पी० एच्० डी०, डी० लिट्, प्रभृतीनि प्राप्यन्ते, स एव विद्वदग्रेसरः। अहह! किमितोऽप्यधिकं कष्टतरमस्माकं स्यात्? सत्यमास्माकं नैतिकं सांस्कृतिकञ्च पतनं जातम्।

एवं सत्यामप्यनर्थपरम्परायां तदपाकरणायास्त्यवकाशः। राजनीतौ कुशलान् स्वातन्त्र्येण भारतभुवं प्रशासतो नायकान् वीक्ष्य भगवती भारतमाता नूनं सम्प्रति प्रमुदितान्तरङ्गा विलसति। तत्रापि महात्मनो गान्धिमहोदयस्यैव पन्थानं जगद्धितकरमनुवर्तयमानान् श्री नेहरू–पटेल–राजेन्द्र–गोविन्दवल्लभ–सम्पूर्णानन्दप्रभृतीन् सत्पुत्रानुद्वीक्ष्य निवृतस्वान्ता वर्तत इत्यत्र नास्ति विशयः। परं नैतावता मातुर्मनोरथः परिपूर्णः। नैतिकीं सांस्कृतिकीञ्चोन्नतिं सा कामयते। तदर्थं सत्स्वपि कार्यान्तरेष्वत्यावश्यकेषु भारतीयसंस्कृतिपरिरक्षणमेव प्रथममावश्यकम्। 'सर्वस्सगन्धेषु विश्वसिति' इति हि न्यायः। न्यायमिमनुसृत्य कश्चन सुन्दर उपायस्सन्नायकैरारचनीयः। प्राथमिकशिक्षायां संस्कृतवाण्या अध्ययनं यथा अनिवार्यं स्यात् तथाज्ञा प्रवर्तनीया। एवं सति राष्ट्रभाषाया हिन्द्या महानवलम्बस्स्यात्। संस्कृतसंवलितहिन्दीभाषाया एव पूर्वोक्तसर्वानर्थनिवारणायस्ति सामर्थ्यमिति न वक्तव्यमस्माभिः। एवं सत्येव प्राचीनैर्महर्षिभिस्सुपरिश्रम्याविष्कृतानां वेदाभिधानानां शब्दसन्दर्भाणां, दर्शनानाम्, अन्येषाञ्चाध्यात्मिकशक्तिसमेधकानां शास्त्राणां सर्वत्र प्रचारायानुकूल्यं स्यात्। एतदर्थमामूलचूडं शिक्षायाः परिवर्तनं तथा विधेयम्, यथा ह्यधीतानां विषयाणां क्रियात्मना प्रयोगाय द्वारमुद्घाटितं स्यात्।

साम्प्रतमस्माकं भाग्यस्यैव परिणामभूताः श्रीसम्पूर्णानन्दमहोदयाः, उत्तरप्रदेशे शिक्षासाचिव्यमावहन्तो भारतवर्षानुकूलां काञ्चन मनोरमां शिक्षापद्धतिं प्रवर्तयितुं बद्धपरिकरास्सन्तीति नितरां प्रमोदस्थानमिदं विश्वसिमश्च वयं––यद् श्रीशिक्षासचिवमहाभागाः सम्पूर्णानन्दमहोदयाः प्रथमममुत्तरप्रदेशे पूर्वोक्तसर्वानर्थनिवारणाय शिक्षापद्धतिं परिवर्त्य भगवत्या भारतमातुर्मनोरथं परिपूरयेयुरिति।

साङ्ख्यनये प्रमाणप्रमेयविचारः

ले० उमेशमिश्रः

तत्तच्छास्त्रप्रतिपादितपरमतत्त्वावसिद्ध्यर्थं तत्साधनभूतप्रमाणप्रमेयनिरूपणं तत्तच्छास्त्रकारैः कृतमिति तत्तच्छास्त्रप्रमुखग्रन्थेषु स्पष्टमेव। चरमोद्देश्यभेदेन प्रमेयविभिन्नता तथा प्रमाणभेदोऽपि। अत एव यानि खलु प्रमेयाणि प्रमाणानि च न्यायशास्त्रे नियतानि, न तानि सांख्यनये सर्वथाऽपेक्षितानि। एवमन्येष्वपि शास्त्रेषु दृश्यत एव। शास्त्रस्य वास्तविकस्वरूपज्ञानं तच्छास्त्रप्रतिपादितप्रमाणप्रमेयज्ञानेनैव जायते, एतयोरेव विशेषविचारे शास्त्रस्य महानायामः। एतयोः पुनः प्रमेयज्ञानं प्रमाणज्ञानाधीनम्। प्रमाणभेदश्च प्रमेयस्वरूपाधीनः। तदुक्तम्—'मानाधीना मेयसिद्धिः' 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धी' ति। यदि प्रमेयस्वरूपमीदृशं यस्य सम्यग्ज्ञानायैकमेव प्रमाणमपेक्षेत तर्हि प्रमाणद्वयस्वीकारे नास्ति काऽपि युक्तिः, शास्त्रव्यर्थता च।

इत्थं शास्त्रसिद्धान्तमुररीकृत्य तद्विशेषविचाराय प्रवर्त्तमाने ईश्वरकृष्णविरचितसाङ्ख्यसप्ततिग्रन्थे तापत्रयविनाशाय त्रिविधमेव प्रमेयं निरूपितम्। एतस्यैव व्यक्ताव्यक्तज्ञरूपत्रिविधप्रमेयस्य विशेषज्ञानेनेश्वरकृष्णोक्तसाङ्ख्यशास्त्रप्रतिपादितचरमोद्देश्यस्य सिद्धिर्भवतीति। अत एवोक्तमीश्वरकृष्णेन—'तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानाद्' इति। एतस्य त्रिविधप्रमेयस्य विज्ञानार्थम् 'दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च्चेति त्रिविधं प्रमाणमिष्टम् केन प्रमाणेन पुनः कस्य प्रमेयस्य प्रतीतिर्जायत इति जिज्ञासायाम्—

'सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्॥

इति कारिकाकारैरुक्तम। सांख्यनये दृष्टशब्दः प्रत्यक्षेऽर्थे प्रयुक्तः। अस्याः कारिकायाः व्याख्यानन्त्वित्थं प्रतिभाति—'सामान्यतः' इत्यत्र षष्ठ्यर्थे तसिः। सामान्यस्य-साधारणवस्तुनः- इन्द्रिययोग्यस्य सर्वस्य 'दृष्टात्' प्रत्यक्षादेव 'प्रतीतिः' ज्ञानं जायते। तेन सकलव्यक्तस्य—(बुद्धिः, अहंकारः, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि तथा पञ्चभूतानि) सांख्यदृष्ट्या साधारणवस्तुजातस्य ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणेनैव जायते। तदुक्तं गौडपादैः—'व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम्'। 'अतीन्द्रियाणां' बुद्धेरगोचराणां प्रमेयाणां 'प्रतीतिः' 'अनुमानात्' अनुमानप्रमाणेन भवति। कानि पुनरतीन्द्रियाणि साङ्ख्यनयस्वीकृतप्रमेयेषु सन्तीति विचार्यमाणे अव्यक्तमेव ईदृशं प्रमेयं यत्खल्वतीन्द्रियम्, अव्यक्तत्वादेव हेतोः। ननु अव्यक्तस्य प्रधानस्य एकत्वात्

कथं बहुवचनमतीन्द्रियाणामित्यत्रोक्तम् आदरार्थे बहुवचनम्। अथवा यद्यपि मूला प्रकृतिस्तु अव्यक्त-रूपा एकैव, किन्तु प्रकृतिविकृतिरूपेषु सप्तसु व्यक्तेष्वपि प्रकृतिरूपं तु सर्वत्राव्यक्तमेव। अर्थाद् बुद्धिस्तु व्यक्तरूपेण प्रत्यक्षमेव किन्तु अहङ्कारस्य प्रकृतिरूपत्वात्, प्रकृतिरूपेण च तस्या अव्यक्तत्वमिष्टमेव। एवमहङ्कारादिष्वपि विकृतिरूपेण व्यक्तत्वं प्रत्यक्षसाध्यत्वञ्च; प्रकृतिरूपेण चाव्यक्तत्वं मतीन्द्रियत्वञ्च स्पष्टमेव। तेन अव्यक्तानां प्रकृतीनामतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानेन भवतीति। अथवा सांख्यनये द्विविधस्य पुरुषस्य प्रतिपादनं वर्त्तते। तत्र एको बद्धः यस्यास्तित्वं 'संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययाद्धिष्ठानात् पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥' इत्यनया कारिकया प्रसाधितम्। एवं 'जननमरणकरणाना'मित्यादि कारिकया च तस्यैव बहुत्वं निर्णीतम्। एष पुरुषः परोक्षोऽतीन्द्रिय इति यावत्। एवं 'संघातादि'-लिङ्गैरनुमेयः। तेन प्रधानस्याव्यक्तस्य बुद्ध्यादिप्रकृतिरूपाव्यक्तानां बद्धपुरुषाणाञ्चातीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानेन भवतीति सर्वं सुस्पष्टमेव।

एवं व्यक्ताव्यक्तयोर्विज्ञानार्थं प्रत्यक्षानुमानयोः सार्थकत्वं दर्शितम्। तदनु ज्ञरूपप्रमेयस्य कथं प्रतीतिरिति विचारः प्रवर्त्तते। ज्ञोऽप्यतीन्द्रियः परोक्षः। किन्तु अस्य त्रिगुणातीतत्वात् लिङ्गादेरभावाद् अनुमानेन प्रतीतिर्भवितुं नार्हति। अत एवास्य प्रतीतिः केवलमाप्तश्रुत्या भवति। एवं त्रिविधस्य प्रमेयस्य प्रमाणत्रयेणैव विज्ञानं जायते। अतो नाधिकस्य प्रमाणस्य सांख्यनयप्रतिपादिततत्त्वज्ञानायापेक्षा वर्त्तते न चाल्पेनैव प्रमाणेन सर्वस्य प्रमेयजातस्य ज्ञानं भवितुमर्हतीति। तस्माद् उक्तार्थप्रतिपादनमेवेश्वरकृष्णस्याभिप्रायो भवितुमर्हति। तदर्थमेवोक्तम्—'सामान्यतस्तु दृष्टादि'त्यादि।

स्वाभाविकममुमर्थमनादृत्य टीकाकारैः क्लिष्टतमकल्पनादिकमुद्भाव्य स्वस्वग्रन्थव्याख्यानचातुर्यं प्रदर्शितम्। तत्र तत्त्वप्रदर्शनमात्रप्रवृत्तानामस्माकं कोऽप्याग्रहो नास्ति। अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरेवावगन्तव्ये इति।

जयति जननि भारती

राजेंद्र

जयति जननि भारती !

अमृत पीन वक्ष पटल
पर तुषार हार धवल
चरण विकच श्वेत कमल
—कल्पना निहारती

केश गगन नील जलद
मृदुल मृदुल हस्त वरद
हास मधुर चंद्र शरद
—ज्योत्स्ना सँवारती

परमाणु शक्ति और परमाणु बम

राहुल सांकृत्यायन

परमाणु बम के बारे में आजकल बहुत शोर सुनने में आता है। शायद ही कोई दिन नागा जाता हो, जब परमाणु बम के बारे में अखबारों में कुछ न आता हो। कम्युनिज्म और रूस से घबड़ाई दुनिया के लिये परमाणु बम सब से बड़ा सहारा है। लोग इसके भरोसे निश्चिन्त बैठना चाहते हैं, यद्यपि परमाणु बम के रहते-रहते भी ४५ करोड़ निवासियों का चीन कम्युनिज्म के हाथ में चला गया। जापान की मनचूरिया में हार पर हार हो रही थी और जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद उसका आत्मसमर्पण चंद ही दिनों में निश्चित था, तब भी अमेरिका ने हिरोशीमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराये ही, जो केवल नृशंसता थी। हिरोशीमा के ६० हजार बच्चों, स्त्रियों, नर-नारियों को तुरंत और उतनों ही को कुछ महीनों के भीतर मार डालना मानवता का चरम पतन था। अमेरिका जानता था कि जापान से अमेरिका बहुत दूर है, वहाँ तक उसके विमानों का पहुँचना असंभव सा है। इसीलिये निर्द्वंद्व हो उसने जापान के दोनों नगरों पर परमाणु बम गिराए। यदि जापान से अमेरिका उतना ही नजदीक होता, जितना जर्मनी से इंगलैंड, तो हिरोशीमा और नागासाकी पर ये बम कभी नहीं गिराए जाते, क्योंकि तब जापान विषैली गैसों और रोग-कीटाणुओं के बम अमेरिका पर फेंकता, जो परमाणु बम से कहीं भयंकर सिद्ध होते। वस्तुतः जर्मनी और जापान के साथ युद्ध करने में इंगलैंड और अमेरिका की सेनाएँ जितनी हीं कच्ची सिद्ध हुई थीं उतनी ही रूस की सेना अधिक मजबूत मालूम पड़ी। इस लज्जा को धोने और भविष्य में अपने राजनीतिक महत्व को कायम रखने के लिये परमाणु बमों द्वारा जापानियों को मारा गया, उनके दो नगरों को ध्वस्त कर दिया गया। आज अमेरिका चाहे कितनी ही सहृदयता दिखलाए, किंतु क्या जापानी कभी इस नृशंसता को भूल सकते हैं? परमाणु बम के गिराने से पश्चिमी युरोप के प्रतिगामियों को साँस लेने की हिम्मत हुई। रूस परमाणु बम से नहीं डरता, यह निश्चित है कि उसके पास परमाणु बम तथा उससे भी भयंकर हथियार मौजूद हैं, हाँ, दुनिया के बहुजनों का हितैषी होने से वह हिरोशीमा के नृशंसतापूर्ण हत्याकांड का कारण नहीं बन सकता।

परमाणु बम की शक्ति

परमाणु बम बहुत भयंकर हथियार है। तेरहवीं शताब्दी में आदमी ने बारूद के हथियारों का प्रयोग आरंभ किया। उससे पहिले लकड़ी, कोयला और तेल को जला कर आदमियों ने

ताप तथा शक्ति का उपयोग किया था। तेल और कोयले में छिपी रासायनिक शक्ति को जला कर इंजन और मोटर चलाई जाती है। यह रासायनिक शक्ति वस्तुतः परमाणु के एलेक्ट्रोनों से भी नहीं आती, बल्कि समानधर्मा परमाणुओं को बाँध कर उन्हें अणु के रूप में परिणत करनेवाली शक्ति का ही यहाँ उपयोग किया जाता है। इस शक्ति को परमाणु के बाहरवाले एलेक्ट्रन एक दूसरे से उलझ कर पैदा करते हैं। यह रासायनिक शक्ति भी बहुत जबरदस्त है, इसमें शक नहीं। किंतु कोयला और पेट्रोल से ले कर बारूद तक का प्रयोग करते हुये आदमी ने ऊपरी तल की शक्ति का ही अभीतक उपयोग किया था। परमाणु बम में परमाणु के भीतरी नाभिकण में निहित अपार शक्ति का प्रयोग किया जाता है। वह शक्ति कितनी है, यह इसीसे मालूम हो जायगा, कि एक छोटे से गेंद के बराबर के उरानियम में कितने ही अरब उरानियम परमाणु होते है, जिनमें से हरएक के भीतर बीस करोड़ एलेक्ट्रन-वोल्ट शक्ति छिपी हुई है। इस छोटे से गेंद में कितनी शक्ति निहित है उसका अंदाज आसानी से लगाया जा सकता है। टी–एन–टी आजकल का सब से जबरदस्त विस्फोटक है। हिरोशीमा पर जो परमाणु बम गिराया गया था, उसमें बीस हजार टन टी–एन–टी की शक्ति थी।

परमाणु गर्भ

प्राचीन काल से आज तक साइंस वेत्ता परमाणुओं का पता लगाते आ रहे है। उनमें बहुत से तो प्रकृति में स्वाभाविक रुप से मिलते भी नहीं। उनके नाभिकण इतने भंगुर होते हैं, कि वह क्षणभर के लिये भी ठहर नहीं सकते। कितनी बार लोगों ने उनके आविष्कार का दावा किया, लेकिन वह सत्य नहीं साबित हुआ।

परमाणु के बाहरी भाग में एलेक्ट्रन बड़ी तेजी से चक्कर काटते हुए किसी भी नजदीक आने वाले पराये पदार्थ को धक्का देकर बाहर करते हुए पहरेदारी करते हैं। उनसे बहुत दूर परमाणु के गर्भ में नाभिकण है, जो प्रोटन और न्यूट्रन से बना है। एलेक्ट्रन यदि ऋण विजली है तो प्रोटन धन विजली, और न्यूट्रन न धन विजली है न ऋण विजली। न्यूट्रन और प्रोटन की भूतमात्रा प्रायः समान है। प्रथम परमाणु हाइड्रोजन सब से छोटा और बनावट में सरल अर्थात् उसे बाहर पहरा देने के लिए सिर्फ एक एलेक्ट्रन और गर्भ में एक प्रोटन होता है। विशेष हाइड्रोजन दो और तीन प्रोटन वाले भी होते है। हाइड्रोजन के बाद का अगला परमाणु हीलियम है, जिसके बाहर दो एलेक्ट्रन होते हैं और गर्भ में दो प्रोटन। हीलियम की भूतमात्रा चार है। इस भारीपन का कारण उसके गर्भ में अवस्थित दो न्यूट्रन हैं। सब से हल्की धातु लिथियम के भीतर तीन धन बिजली (प्रोटन) हैं, लेकिन उसकी भूतमात्रा सात हैं, बाकी चार भूतमात्रा चार न्यूट्रनों के कारण है। यह मालूम ही है कि एक प्रोटन की भूतमात्रा एलेक्ट्रन से १८०० गुनी होती है।

नाभिकण में अपार शक्ति है, यह बात तो पहिले से ही मालूम थी, किंतु उस शक्ति को हस्तगत करने का कोई साधन नहीं मालूम था, जब तक १९३० में चडविक ने न्यूट्रन का पता खोज नहीं निकाला। न्यूट्रन धन और ऋण दोनों बिजलियों से वर्जित है, इसलिये किसी परमाणु के नाभिकण में पहुँचने में उसे बाधा नहीं होती। यदि किसी दूसरे हथियार को इस्तेमाल करना पड़ता, तो करोड़ों एलेक्ट्रन वोल्ट की शक्ति भरके "गोली" को प्रोटन तक पहुँचाने में सफलता मिलती।

न्यूट्रन एक या दो एलेक्ट्रन वोल्ट की शक्ति से फेंक कर नाभिकण में पहुँचाया जा सकता है। हाँ, न्यूट्रन को इतनी शक्ति से फेंकने की जरूरत है, जिसमें वह नाभिकण के आगे नहीं निकल जाए। इसीलिये न्यूट्रन को बड़ी धीमी गति से भीतर फेंकने का ढंग निकाला गया है। प्रोटन की भूतमात्रा १.००७६ और न्यूट्रन की १.००९० है। दोनो मिलकर के जब नाभिकण का निर्माण करते हैं, तब दोनों के योग की थोड़ी सी मात्रा कम उतरती है। दोनों का योग २.०१६६ है, किंतु प्रोटन और न्यूट्रन से मिलकर बना ड्युटेरोन २.०१४२ के बराबर होता है। यह कमी उस शक्ति के निर्माण में व्यय हुई, जो कि प्रोटन और न्यूट्रन को बाँध के रखती है। इस बाकी .००२४ भाग से ड्युटेरोन को बाँधकर रखनेवाले २२ लाख एलेक्ट्रन वोल्ट की शक्ति पैदा हुई। यदि दोनों टुकड़ों को अलग किया जाए, तो फिर उक्त कमी को पूरा करना पड़ेगा।

रेडियो-क्रियावाले तत्त्वों के बारे में पहिले कहा जा चुका है, थोरियम, उरानियम आदि रेडियो-क्रियावाले परमाणु हैं, जिनके नाभिकण की कणिकाएँ स्वतः निकलती रहती हैं, जिनकी कमी के कारण परमाणु का द्रव्यांतर होता रहता है। अपार शक्ति लगाकर नाभिकण को बाँध रखा गया है, इसीलिये नाभिकण का तोड़ना आसान काम नहीं था। लेकिन रेडियो-क्रियावाले तत्त्वों ने काम को कुछ आशाप्रद बना दिया। न्यूट्रन के हाथ लग जाने पर तो काम और आसान हो गया। उरानियम ९२ परमाणुओं से सब से भारी और अंतिम परमाणु है। इसकी भूतमात्रा २३८ है, और इसके बाहरी ९२ एलेक्ट्रनों के संतुलन के लिये ९२ प्रोटन तथा उन्हें बाँधकर रखनेवाले १४५ न्यूट्रन हैं। लेकिन परमाणु-बम जिस उरानियम से बनाया गया, वह २३८ भूतमात्रावाला साधारण उरानियम परमाणु नहीं, बल्कि २३५ भूतमात्रा रखनेवाला समस्थानीय उरानियम है, जो दो न्यूट्रन कम हो के २३५ का बना होता है। अर्थात् वह १४३ न्यू–९२–ए–९२–प्रो है।

उरानियम की खानें विश्व में बहुत अधिक नही है और अब तो उन्हें बहुत छिपाकर रखने की कोशिश की जाती है। युक्तराष्ट्र अमेरिका, कनाडा तथा दूसरे देशों ने उरानियम ही नहीं, अपने यहाँ की सभी रेडियो-क्रियावाली धातुओं की खानों को भी राष्ट्रीय संपत्ति बना लिया। निश्चय ही यदि भावी युद्ध म परमाणु-बम का इस्तेमाल हुआ, तो खानों पर सब से पहिले आक्रमण होगा। अभी तक जो खानें प्रकट हैं, उनका स्थान-निर्देश निम्न प्रकार है :--

नाम	देश
बिहार	भारत
फरगाना उपत्यका	सोवियत रूस
योआख्रिम्स्ताल	चेकोस्लावाकिया
उत्तरी भाग	जर्मनी
दक्षिणी भाग	स्वेडन
कार्नवाल	इंगलैंड
——	पोर्तुगाल
टंगानिका	अफ्रीका
मदगास्कर	मदगास्कर द्वीप
बेल्जियम कांगो	अफ्रीका

दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका	अफ्रीका
गोर्डीनिया	दक्षिणी अफ्रीका
ब्राजील	ब्राजील
——	मेक्सीको
कोलोरेडो	युक्तराष्ट्र
ओंटारियो	युक्तराष्ट्र अमेरिका
यूटा	युक्तराष्ट्र अमेरिका
एलडोरेडो	कनाडा

लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रेडियो-क्रियावाले तत्वों, विशेष कर उरानियम की खानों को गुप्त रखने की बड़ी कड़ाई कर दी गई है। सोवियत मध्येशिया की उरानियम खान बाहर के लोगों को मालूम है, क्योंकि युद्ध से पहिले उसे छिपाने की कोशिश नहीं की जाती थी। सोवियत रूस में और कई उरानियम की खानें हैं, जिनमें कुछ तो ध्रुव कक्षीय प्रदेश में है।

ऐसी ११५ धातुएँ है जिनके साथ उरानियम पाया जाता है। जहाँ कहीं भी संगखारा की चट्टान मिलती है, वहाँ उरानियम की साथी धातुएँ भी पाई जाती है। पहिले हमारे विहार के उरानियम या ट्रावंकोर के थोरियम की कोई पूछ न थी, किंतु अब इनका मूल्य बहुत बढ़ गया है। उरानियम की खानें अब सोने और हीरे की खानों को भी मात करने लगी है। एलडोरेडो (अमेरिका) में उरानियम के मनुष्य द्वारा भेदने के पहिले प्रतिमास ५ लाख डालर (बीस लाख रुपया) की चाँदी, सोना और रेडियम निकलता था। द्वितीय युद्ध से पहिले उरानियम वहाँ कूड़ा-कर्कट समझ कर फेंक दिया गया था। अब उससे करीब-करीब उतना ही मूल्य प्राप्त होता है। यूटा और कोलोरेडो के वनाडियम, उरानियम और लेशमात्र रेडियमवाली खानों का भी मूल्य बढ़ गया है। पश्चिमी कोलोरेडो के पथराये (फोसील) वृक्ष संसार में उरानियम और रेडियम के लिए बहुत ही समृद्ध स्रोत है। १९२० में सानमगुल नदी में दो विशाल फोसील वृक्ष मिले थे, जिनसे २३० हजार डालर (९ लाख २० हजार रुपया) का वनाडियम उरानियम और रेडियम निकला था। उरानियम ओषिद का मूल्य २७ हजार वनाडियम का २८ हजार और १.७५ ग्राम रेडियम का १७५००० हजार डालर था—यह १९२० के मूल्य से। उरानियम और रेडियम के कोई-कोई धातुपाषाण ६४ से ८९ प्रति सैकड़ा उरानियम ओषिद प्रदान करते हैं। यह धातु साधारण तौर से ग्रेनाइट (संगखारा) चट्टानों में मिलती है, जो पृथिवी के गर्भ से आदि काल में पिघले लावा के रूप में बाहर निकलकर ठंडे और स्फटिक बन गए।

यह निश्चय ही है कि उरानियम और उसके बाद थोरियम तथा दूसरी रेडियो-क्रियावाली धातुओं का महत्व और मूल्य अब सभी धातुओं से अधिक माना जाने लगा है। जब तक उनका प्रयोग केवल संहार के लिये किया जा रहा है, तब तक उन्हें गुप्त रखने की भी पूरी कोशिश की जायेगी।

आजकल परमाणु-बम राजनीतिक धमकी का हथियार बन गया है। एंग्लो-अमेरिकन साम्राज्य-वादी अपने प्रभावित देशों में इस बात का बहुत जोर से प्रचार कर रहे हैं, कि परमाणु-बम और

परमाणु-शक्ति की कुंजी केवल हमारे हाथों में है। लेकिन यह बहुत कुछ गाल बजाने की सी बात है। उरानियम परमाणु तोड़ने का काम अमेरिका के नहीं, बल्कि जर्मनी के दो वैज्ञानिकों ने किया। उरानियम के नाभिकण के स्वतः विदरण की बात १९४० से पहिले ही दो रूसी वैज्ञानिकों ने खोज निकाला था, जिसका विवरण अमेरिका की प्रमुख भौतिक-विज्ञान-पत्रिका फिजिकल रिव्यू में १९४० में छपा था। उक्त विद्वानों ने दिखलाया था, कि किस तरह बिना न्यूट्रन के प्रहार के स्वतः उरानियम का नाभिकण विदरित होता है। यह विदरण बहुत कम पाया जाता है। १९४० में प्रकाशित रूसी ग्रंथों से पता लगता है, कि एक किलोग्राम (सवासेर) साधारण उरानियम से एक सेकंड में ५५० न्यूट्रन स्वतः निकल कर बाहर हो जाते हैं।

उरानियम का विदरण

परमाणु के गर्भ में अवस्थित अपार शक्ति यदि किसी तरह मुक्त की जा सके तो, कोयला, तेल और पानी से भी अधिक सस्ती तथा भारी परिमाण में विद्युत्-शक्ति प्राप्त हो सकती है। सभी परमाणुओं के नाभिकणों को तोड़कर शक्ति बाहर करने की बात मुश्किल थी, लेकिन स्वतः विदरित होनेवाले (रेडियो क्रियावाले) परमाणुओं से विशेष कर न्यूट्रन के आविष्कार के बाद अधिक आशा हो चली और वैज्ञानिकों ने उनके ऊपर अपना ध्यान भी आकृष्ट किया। जर्मनी के विज्ञानवेत्ता हान ने सबसे पहिले सफलतापूर्वक उरानियम के नाभिकण का १९३८ में विदरण किया। १९३० में न्यूट्रन के आविष्कार के बाद न्यूट्रनों को बढ़ा-घटाकर ९२ तत्त्वों के कितने ही विभेद समस्थानीय तैयार किये गए। प्रोफेसर अटोहान इसी तरह नाभिकण को प्रहारकर के नये-नये समस्थानियों के निर्माण का प्रयोग कर रहे हैं। यह याद रखना चाहिये, कि अभी तक इस प्रक्रिया से ३०० से ऊपर स्मस्थानीय परमाणु निर्मित किये जा चुके हैं। प्रोफेसर हान अपने प्रयोग में उरानियम परमाणु के नाभिकण पर न्यट्रन की गोली दाग रहे थे। न्यूट्रन कभी नाभिकण को तोड़ने का काम करते हुए निकल जाता है और कभी नाभिकण इस आक्रमणकारी को पकड़ के अपने पास रख लेता है। यदि उरानियम का नाभिकण न्यूट्रन को पकड़ लेता है, तो उसकी भूतमात्रा २३८ की जगह २३९ हो जाती है, ऐसा पहले भी देखा गया था और पकड़ने की प्रक्रिया से ही उरानियम में एक न्यूट्रन बढ़ाकर नेप्तूनियम समस्थानीय बनाया गया, जो ९३वाँ रसायनिक तत्त्व है। समस्थानीय भी रेडियो-क्रियावाला है। अपने भीतर से वीटा कण को निकालकर यह ३-३ दिन में प्लूतोनियम समस्थानीय (प्लू० २३९) के रुप में परिणत हो जाता है। यह उतना जल्दी परिणत नहीं होता और इससे उरानियम की तरह विदरण के लिये काम में लाया जा सकता है, परमाणु-बम में भी इसका उरानियम की तरह उपयोग हो सकता है। प्लूतोनियम का आविष्कार १९४० में हुआ था। उरानियम से बने प्लूतोनियम का वही महत्त्व है, जो उरानियम २३५ का। जापान पर गिराए गए दो परमाणु बमों में एक प्लूतोनियम का था।

हाँ, तो प्रोफेसर हान जिस वक्त न्यूट्रन से उरानियम के नाभिकण पर प्रहार कर रहे थे, उस वक्त वह यही आशा रखते थे, कि नाभिकण में पकड़ा जाकर वह इस परमाणु को दूसरे तत्त्व में परिणत कर देगा। लेकिन उनको जो दृश्य देखने में आया, उस पर वह विश्वास नहीं कर सकते थे। २३८ भूतमात्रा का उरानियम टूटकर (विदरित होकर) प्रायः दो समान भागों में बँट गया और उनमें से प्रत्येक की भूतमात्रा बारियम (१३७ भूतमात्रा) के बराबर थी। प्रोफेसर को विश्वास

करना मुश्किल था, किंतु अंत में धर्मकीर्ति के शब्दों को मानना ही था, "यदिदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्"। हान ने फिर और प्रयोग कर के देखा, किंतु परिणाम वही निकला। रासायनिक परीक्षा ने बतलाया, कि वह न्यूट्रन द्वारा प्रहारकर के उरानियम परमाणुओं को बारियम परमाणु के रूप में बदल रहे हैं। १९३८ के उत्तरार्ध को हान ने इसी परीक्षा में बिताया। उन्होंने अपने परीक्षण की व्याख्या के लिए एक महिला वैज्ञानिक डाक्टर लीज माइटनेर की सहायता ली, जो सैद्धांतिक भौतिकशास्त्र तथा उच्च गणित एवं परमाणु-संयोजन संबंधी सिद्धांतों की पंडिता थीं। यहूदी होने के कारण कुमारी माइटनेर थोड़े ही समय बाद जर्मनी से भागने के लिए मजबूर हुईं और आजकल वाशिंग्टन के कैथोलिक विश्वविद्यालय में भौतिकशास्त्र का अध्यापन करती हैं। उन्होंने हान को बतलाया कि उनके प्रहार से उरानियम परमाणु विदरण द्वारा विभक्त हो गया। यह विदरण की प्रक्रिया ठीक उसी तरह की थी, जिससे प्राणियों के सेल बढ़ते-बढ़ते विदरित हो जाते है। डाक्टर माइट्नेर ने विदरण होने की ही बात नहीं बतलाई, बल्कि यह भी कहा, कि जहाँ टी–एन–टी जैसी परम शक्तिशाली विस्फोटक वस्तु का प्रत्येक अणु तीन या चार शक्ति-एकाई देता है, वहाँ उरानियम परमाणु-विदरण द्वारा द्विधा विभक्त होते समय २० करोड़ शक्ति-एकाई प्रदान करता है। यहाँ वह संकेत मिला, जो आगे परमाणु-बम-निर्माण करने में सहायक बना। डाक्टर माइट्नेर जर्मनी से भाग कर डेनमार्क में पहुँचीं। नोबेल-पुरस्कार-विजेता भौतिक शास्त्री प्रोफेसर बोर की प्रयोगशाला में शामिल हुईं। वह अपने साथ उरानियम-विदरण की गणित-शास्त्रीय गणना को भी लेती हुई गई थीं। प्रोफेसर बोर १ जनवरी १९३९ को कोपन हेगन (डेनमार्क) से अमेरिका के लिये प्रस्थान कर रहे थे, जहाँ उन्हें प्रिंसटोम विश्वविद्यालय में महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टाइन से मिलना था। इसी समय हान के प्रयोग को डाक्टर माइटनेर तथा डाक्टर र० फ्रिश दोहराने की तैयारी कर रहे थे। उन्हें बारियम बनाने की चिंता नहीं थी, बल्कि वह २० करोड शक्ति एकाई की खोज में थे।

प्रोफेसर बोर प्रयोग के देखने की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। अमेरिका में जनवरी के मध्य में पहुँचकर उन्होंने प्रिंसटोन के भौतिक-शास्त्री डाक्टर जान वीलर और कोलंबिया युनिवर्सिटी में उस समय अध्यापक मुसोलिनी के कोप से निर्वासित इटालियन वैज्ञानिक एनर को फेर्मी से उसका जिक्र किया।

अभी द्वितीय युद्ध छिड़ा नहीं था। इसी समय वाशिंग्टन के विश्वविद्यालय और कार्नेगी, प्रतिष्ठान ने सैद्धांतिक भौतिकशास्त्र के संबंध में एक संमेलन बुलवाया था। २८ जनवरी को संमेलन जुड़ा। पहिले वक्ता ने अपना भाषण शुरू ही किया था, कि इसी समय फेरमी और बोर बहुत उत्ते-जित स्वर में बात करते सभागार में पहुँचे। उनका ध्यान वक्ता की ओर बिल्कुल नहीं था। कितने ही उनसे परिचय रखने वाले विद्वान उनके पास जमा हो गए। प्रोफेसर बोर, प्रोफेसर फेरमी से एक पत्र के बारे में कह रहे थे, जिसमें उन्हें उनके भांजे डाक्टर फ्रिश ने माइटनेर की गणनाओं के बारे में लिखा था। फ्रिश ने यह भी बतलाया था, कि हान और उनके सहकारी स्ट्रासमान के प्रयोगों का पूरा विवरण जर्मन वैज्ञानिक पत्रिका नातुर-विजेन-शाफटेन के फरवरी (१९३९) के अंक में निकल रहा है।

बोर और फेरमी पत्रिका के उस अंक के देखने के लिये अधीर हो उठे। अभी उसके अमेरिका पहुँचने में देर थी, किंतु उसका प्रूफ वाशिंग्टन की राष्ट्रीय साइंस एकेडमी के कार्यालय में मौजूद

था। बोर और फेरमी मँगाकर उस ऐतिहासिक लेख को पढ़ने लगे, जिसने परमाणु-युग का आरंभ कराया। प्रयोग दुरूह नहीं था, कई प्रयोगशालाओं में उसे तुरंत दोहराया गया और कुछ ही घंटों के भीतर पता लग गया कि उरानियम परमाणु के टूटने से अपरिमित शक्ति निकलती है। उसी शाम को बोर और फेरमी ने दूसरे मेहमानों के साथ स्वयं अपनी आँखों इस तजरबे को देखा। यह आसानी से समझा जा सकता था कि जैसे उरानियम परमाणुओं को तोड़कर बारियम और क्रिपट्रोन के परमाणुओं में बदलते हुए अपरिमित शक्ति मुक्त की जा सकती है, उसी तरह पास-पास रखे दूसरे उरानियम परमाणुओं का भी विदरण कराया जा सकता है और इस प्रकार उनसे अपार शक्ति फूट कर बाहर निकल सकती है। इसी समय पेरिस से सूचना भी मिली कि यहाँ उरानियम के विदरण द्वारा एक विदरण-शृंखला कराने का तजरबा सफल रहा। एक उरानियम-परमाणु टूटते वक्त अपरिमित शक्ति को मुक्त करते हुए अपने न्यूट्रन से दूसरे उरानियम परमाणु पर प्रहार करता है। इसी तरह यह शृंखला आगे चलाई जा सकती है। १९३९ की गर्मियों से १९४० के जाड़े के महीनों तक परमाणु-भेदन संबंधी बहुत तरह की विचित्र-विचित्र कथाएँ अखबारों में छपती रहीं। वैज्ञानिक अभी परमाणु-शक्ति के औद्योगिक उपयोग को दशाब्दियों की बात समझ रहे थे, किंतु सेना के वैज्ञानिक उसके तुरंत उपयोग करने की धुन में थे।

जर्मनी द्वितीय विश्वयुद्ध छेड़ चुका था, हिटलर की सेनाएँ अव्याहत गति से सब जगह आगे बढ़ रही थीं। जर्मन वैज्ञानिक भी परमाणु-शक्ति के सैनिक उपयोग के उपाय ढूँढ़ रहे थे। ७ दिसम्बर १९४१ को जापान ने पर्ल हारबर पर आक्रमण करके अमेरिका को भी युद्ध में ढकेल दिया। अमेरिकन सरकार की रोक के कारण परमाणु तथा उरानियम-धातु संबंधी अनुसंधानों की कोई बात बाहर छपने नहीं पाती थी। लेकिन अनुसंधान जारी रहा तथा पर्ल हारबर-कांड के चार साल के भीतर ही अमेरिका ने हिरोशीमा और नागासाकी पर परमाणु-बम गिराए।

उ. २३५—उरानियम के वस्तुतः तीन भेद हैं, जो अपनी भूतमात्रा के अनुसार उ—२३५, उ—२३४, और उ—२३८ के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों उरानियम समस्थानीयों में उ—२३५ ही ऐसा है जो परमाणु-शक्ति के मोचन में सहायक हुआ। लेकिन वह बहुत दुर्लभ द्रव्य है। उ—२३८ का १४० पौंड जितने धातु-पाषाण से प्राप्त होता है, उतने से उ—२३५ का एक पौंड ही हस्तगत होता है। उ—२३५ पर न्यूट्रन द्वारा प्रहार करने पर विदरण होते देखा गया। उ—२३८ प्रहार करने पर विदरित नहीं होता, बल्कि वह न्यूट्रन को पकड़कर मानव निर्मित प्लूटोनियम के बनाने में सहायक होता है, जो भी परमाणु-बम का एक महत्त्वपूर्ण उपादान है।

१९४२ में अमेरिका में परमाणु-बम के निर्माण के लिये दौड़ सी लग रही थी। उसे यह मालूम था, कि उरानियम के विदरण का आविष्कार जर्मनों ने किया और अब वह परमाणु-बम के पीछे पड़े हुए हैं। २ दिसम्बर १९४२ से बहुत तत्परता के साथ काम होने लगा। पहिले दिन के प्रयोग में केवल आधी वाट शक्ति उत्पन्न हुई, जिससे एक छोटा-सा बिजली का लट्टू भी जलाया नहीं जा सकता था, लेकिन १२ दिसम्बर तक २०० वाट शक्ति पैदा करने में सफलता मिली, लेकिन इसी समय वैज्ञानिकों ने काम रोक दिया, क्योंकि इस विदरण द्वारा रेडियम जैसी घातक किरणें पैदा हो रही थीं। इन तजरबों से पता लग गया, कि प्लूतोनियम बनाया जा सकता है और इस क्रिया में जो

भयंकर किरणें उत्पन्न होती हैं, उनसे रक्षा का प्रबंध किए बिना वैज्ञानिक कर्मियों के लिये भारी खतरा है।

समस्या चाहे कितनी ही कठिन हो, लेकिन उसका समाधान भी निकालना आवश्यक था। अमेरिकन सरकार पानी की तरह डालर बहाने को तैयार थी। उसने बड़े-बड़े वेतन दे देश-विदेश के बहुत से महान् वैज्ञानिकों और यंत्र-शास्त्रियों को इस काम पर भिड़ा दिया। न्यू-मेक्सीको (युक्त-राष्ट्र, अमेरिका) की बालुका भूमि के एक कोने में नगरों और घनी बस्तियों से बहुत दूर लोस अलमोस स्थान में परमाणु-बम की प्रयोगशाला बनाई गई। प्रिंसटोन, शिकागो, केलिफोर्निया, विस्कोनसिन और मिन्नेसोता के विश्वविद्यालयों के विज्ञानविशारद वहाँ पहुँचे। प्रिंसटोन से तीन लारी वैज्ञानिक यंत्र आए। हारवर्ड का विशाल साइक्लोट्रोन उखाड़कर लोस अलमोस पहुँचाया गया। विस्कोनसिन ने वान-डी-ग्राफ नामक दो परमाणुभेदक भेजे। हारवर्ड का साइक्लोट्रोन १४ अप्रैल १९४३ को वहाँ पहुँचा, लेकिन कार्य इतनी तत्परता से किया जा रहा था, कि जुलाई के आरंभ से ही उसका उपयोग किया जाने लगा।

परमाणु-बम का निर्माण अमेरिका का परम गोपनीय रहस्य है। वह अपने सहकारी तथा अनुगामी इंगलैंड और कनाडा को भी वह रहस्य बतलाना नहीं चाहता। लेकिन अब भी परमाणु-बम के निर्माण का ढंग अमेरिका से बाहर किसी देश को मालूम नहीं है, यह नही कहा जा सकता। उ २३५ तथा प्लूतोनियम पहिले ही से प्रसिद्ध थे । विदरणों की शृंखला भी वैज्ञानिकों को सर्वत्र विदित हो चुकी थी। अमेरिका ने विदरण-शृंखला द्वारा अधिक शीघ्र तथा भयंकर विस्फोटनवाले बम तैयार करने का कार्य आरंभ किया। प्रयोग द्वारा देखा गया कि उ २३५ या प्लूतोनियम के डले तभी अभीष्ट कार्य करने में सफल हो सकते हैं, जब वह एक निश्चित परिमाण में हों। छोटा परमाणु-बम बेकार होता, क्योंकि वह फूट नही सकता था। एक ऐसा बड़ा बम बनाना था, जिसके भिन्न-भिन्न भाग इस तरह एक दूसरे के साथ संबंधित हों, कि वह निश्चित और इच्छित काल में ही विस्फोटन करें। यदि उसके भीतर के परमाणु धीरे-धीरे विस्फोटित होने लगें, तो बम के कितने ही भाग टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे, और बम के भीतर की सारी सामग्री का उपयोग नही हो सकेगा। बिना फूटा हुआ टुकड़ा जमीन पर गिरेगा और उ २३५ या प्लूतोनियम का यह महार्घ डला शत्रु के देश में गिरकर उसके हाथ लगेगा। अमेरिका ने देशी विदेशी वैज्ञानिकों की सहायता से यह समस्या हलकरके परमाणु-बम बनाया, और न्यू-मेक्सीको के अलमोगोरदो नामक स्थान में प्रथम परमाणु-बम के विस्फोट का सफल तजरबा किया गया।

युद्धोपरांत परीक्षाएँ

परमाणु-बम विश्व का सब से शक्तिशाली हथियार है, किंतु उसके निर्माण में खर्च भी बहुत अधिक पड़ता है। उसकी उपादान, उरानियम जैसी अत्यंत महार्घ धातु सामग्री का दाम चुकाने के लिये अमेरिका तैयार है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है, कि उसका प्रतिद्वंद्वी रूस इस दौड़ में पीछे तथा उदासीन है । अमेरिका से उसकी नीति बिल्कुल उलटी है । जहाँ अमेरिका परमाणु-बम का मौके-बेमौके हर वक्त सभी जगह ढिंढोरा पीट रहा है, वहाँ रूस से इतना ही मालूम हो सका, कि उसने भी परमाणु-बम बना लिया है। रूस ने ढिंढोरा नहीं पीटा, किंतु

अमेरिका और उसके साथी देशों को भूकम्प-मापक यंत्रों द्वारा पता लग चुका है, कि रूस के पूर्वी भाग में कई बार परमाणु-बम के प्रचंड विस्फोट हो चुके हैं। रूस भी उसी तरह हजारों की संख्या में बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को परमाणु-शक्ति के सैनिक और असैनिक उपयोग की गवेषणा में लगाये हुए हैं। अमेरिका की होहल्ला मचानेवाली विशाल प्रोपेगंडा मशीन ज्यादा प्रभावशाली है या रूस का गंभीर मौन, इसके बारे में निर्णय देने का यहाँ स्थान नहीं है।

अमेरिका ने हिरोशीमा और नागासाकी के बाद भी परमाणु-बम के तजरबे किए हैं और उसका कहना है, कि हमारे आधुनिकतम परमाणु-बमों से हिरोशीमा और नागासाकीवाले बमों की कोई तुलना नहीं हो सकती। १ जुलाई १९४६ को प्रशांत महासागर के बिकिनी द्वीप की खाड़ी में अमेरिका ने अपने नये परमाणु-बम का तजरबा किया। इसके लिये बिकिनी द्वीप के निवासियों को वहाँ से हटा कर दूसरी जगह भेजा गया। एक प्रत्यक्षदर्शी वैज्ञानिक संवाददाता ने बिकिनी खाड़ी के तजरबे के बारे में लिखा है :—

"रात्रि के अंधकार में १८ मील पर एक आलपीन के आकार का लालिमा लिए हुए पीला प्रकाश दिखलाई पड़ा। यह परमाणु-बम के विस्फोट की पहिली ज्वाला थी, जो धीरे-धीरे बढ़ती और फैलती एक महान् अर्धगोल के रूप में परिणत हो गई—प्लूतोनियम के परमाणु टूट-टूटकर के यह दृश्य उपस्थित कर रहे थे। यह सबकुछ एक सेकंड के दस लाखवें हिस्से में हो गया। महान् अर्धगोल की ज्वाला फूटती ऊपर की ओर बढ़ती गई। उसके मुंड से परमाणु बम का विशेष चिह्न मक्खन जैसा सफेद एक महान् छत्रक निकला। चक्कर काटते बादलों के छोरों पर चित्र-विचित्र रंग दिखलाई पड़ रहे थे—यह लाल, पीले और नारंगी रंग सभी जगह एक दूसरे से मिश्रित होते सदा बदलते दीख रहे थे। बम फट कर ज्वाला ऊपर और उठती जा रही थी। फिर उसके मुंड मे दूसरा छत्रक निकला। यह परमाणु-बम का बादल पहिले २० हजार फीट फिर ३० हजार फीट तक उठा। वहाँ ज्वाला के तीन तल दिखलाई पड़ रहे थे। सबसे निचला तल समुद्र था, जहाँ बिकिनी की खाड़ी में अवस्थित लक्ष्यभूत जहाज जलते हुए धुआँ दे रहे थे। बिचले तल में कुमुलस बादल कपास के परदे की तरह परमाणु-बम के छत्रक को ढाँके हुए था। अंत में सब से ऊपर का तल सफेद तथा मक्खन के क्रीम की तरह फूले गेंद जैसा परमाणविक बादल का था, जिसमें हिलती-डोलती, गुलाबी, सुनहली आदि कितनी ही आकृतियाँ दिखाई पड़ रही थी। इसी बादल के भीतर आदमी के हाथों द्वारा तोड़े गये अरबों परमाणुओं की आग और ज्वाला जल रही थी। मानव नेत्रों के लिए यह अत्यंत अद्भुत दृश्य थे।

"यह सभी चीजें आँखें देख रही थीं, तो भी वहाँ कोई बड़ी आवाज नही हुई, न तोप जैसी गर्जना सुनाई पड़ी, जिसकी इस हृदयद्रावक दृश्य मे आशा की जा सकती थी। वहाँ केवल एक दबा सा धड़ाका सुनाई पड़ा। जिस वक्त बम ज्वाला के गोले के रूप में फटा, उससे डेढ़ मिनट बाद यह धड़ाका सुनाई दिया। आवाज ११११० फीट प्रति सेकंड चलती है और पत्रकारों का जहाज अपलाचियान धड़ाके की जगह से १८ मील पर था, जहाँ आवाज को पहुँचने में ९० सेकंड लगे। आवाज बहुत हल्की थी। वहाँ धक्का देने वाली बलवान लहर भी कोई नहीं आई। लेकिन अदृश्य रेडियोकरण उन सभी लोगों के शरीर को पार कर गया, जो बम विस्फोट को देख रहे थे। एपला-चियान के एक मनस्वी साहसी नाविक ने दाँत के फोटो के लिये इस्तेमाल होने वाले एक्सरे-फिल्म के

एक टुकड़े को अपने हाथ के पीछे लगा लिया । जिस वक्त बम विस्फोट हुआ उसी समय उसने अपनी हथेली को विकिनी खाड़ी की ओर कर के हाथ को फैला दिया । फिल्म को प्रयोगशाला में धोया गया । उसकी हड्डियों का बहुत साफ एक्सरे फोटो निकला दिखाई पड़ा, और यह एक्सरे फोटो १८ मील की दूरी से लिया गया था । रेडियीकरण अपलाचियान के ऊपर बैठे हम सभी यात्रियों को पार कर गया था, तो भी हमारे ऊपर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि हम विस्फोट–स्थान से दूर सुरक्षित स्थान में थे। हममें से कोई भूल नहीं सकता और न भूल सकेगा, कि दूरी ही ने हमारी रक्षा की। अब हमने अनुभव किया, कि क्यों हमारे जहाज को एडमिरल ब्लेंडी ने १८ मील दूर रखवाया था।

"सवेरे अपलाचियान खुले समुद्र से विकिनी खाड़ी की ओर लौटा। लक्ष्यभूत युद्ध पोतों से केवल चार मील की दूरी से भयंकर ध्वंस लीला दिखलाई पड़ने लगी। डूबने से बचे विशाल पोतों के ऊपरी ढांचे, मस्तूल, चिमनी, राडर—मीनार आदि चूर-चूर हो गये थे, जिससे मालूम हो रहा था कि बम की अदृश्य धक्का देने वाली लहर भी कितनी जबरदस्त शक्ति रखती है। विमानवाहक इंडीपेंडेंस, जो नवीनतम पोत था, जल रहा था और उसका ऊपरी ढांचा तथा उड़ान-डेक का बिल्कुल पता नहीं था। सारी रात इंडीपेंडेंस धाँय धाँय जलता रहा और आग बुझाने वालों का सारा प्रयत्न व्यर्थ गया। अभिमानी, जापानी क्रूजर शकावा चूर्ण और दग्ध हो चुका था। उसकी चिमनियाँ और मस्तूलें दोहरे हो गए थे। अगले दिन शकावा डूब गया। शकावा के पास ही आक्रमणकारी वाहक कालाहिल और ध्वंसक ऐंडरसन लंगर डाले हुए थे। शकावा के नजदीक के यह दोनों जहाज लुप्त हो चुके थे। लक्ष्य के केंद्र से दूर ध्वंसक लेममोन खड़ा था, अब एक विशाल व्हेल की तरह उसकी चिकनी अंडाकार पेंदी ही दिखलाई पड़ रही थी। जहाज बम के धक्के से उलट गया था। पीछे वह डूब गया। लक्ष्यभूत जहाजों के मस्तूल तोड़फोड़कर चूर्ण हुए कालेकाले दिखलाई पड़ रहे थे। बम के द्वारा निर्मित रेडियो-क्रिया की किरणों से उनके पास किसी जीवित प्राणी का रहना असंभव था।

"बम विस्फोट हवा में किया गया था, इसलिये सवेरे ही विकिनी के जल को छोटे पोतों के लिये सुरक्षित घोषित कर दिया गया। एडमिरल ब्लेंडी और नवसेना मंत्री फोरेस्टल का अग्निबोट तुरंत लक्ष्य के क्षेत्र के केंद्र में अवस्थित पोत की ओर दौड़ा। जैसे ही उनका बोट नजदीक पहुँचा, शकावा डूब गया। सवेरे एडमिरल का बोट तथा कुछ दूसरे परीक्षक बोट खतरनाक क्षेत्र में जा पहुँचे। दोपहर को पत्रकार के लिये भी आज्ञा मिल गई। वहाँ कुछ डूबे कुछ उलटे सैकड़ों पोत दिखाई पड़ रहे थे। विमानवाहक इंडीपेंडेंस नये और आधुनिक युद्धपोतों में से था, वह भी परमाणु-बम की सनक का शिकार हुआ। पीछे पता लगा कि इंडीपेंडेंस यद्यपि ध्वस्त हो गया था, तो भी डूबा नहीं। पत्रकारों की आँखें सभी जहाजों में जीवन के चिह्न ढूँढ़ रही थीं और देखना चाहती थीं, कि परमाणु-बम के वाताघात से सूअरों, बकरियों और चूहों में से कौन बचा। पहले जीवधारी आक्रमणकारी वाहक फाल्लोन के ऊपर दिखलाई पड़े। यह पोत नेवादा से एक मील दूर पर था। संवाददाताओं ने वहाँ दो बकरियों को देखा, जिनमें एक कठघरे पर खड़ी थी। उसकी दाढ़ी हवा में हिल रही थी, दूसरी लेटी हुई थी। उनकी आँखें चौंधियाई सी थीं। दोनों जानवरों पर आघात का प्रभाव दिखलाई पड़ रहा था। विशाल विमानवाहक सरातोगा परमाणु-बमके वाताघात की पहुँच से दूर था। उसके ऊपर के प्राणी अच्छी अवस्था में थे। प्रथम विकिनी-परीक्षा ने सिद्ध कर दिया, कि

परमाणु-बम के पतन-स्थान से दो मील दूर पर सरातोगा जैसे पोत सुरक्षित रह सकते हैं। युद्ध में सौ फीट पर गिरे गोले से बच निकलने की आशा रहती है, किंतु परमाणु-बम के गिरने के दो मील तक सुरक्षा की आशा नहीं। सरातोगा जैसे पोत के डेक पर यदि नाविक रहते, तो वहाँ पर रख छोड़े सूअरों की भाँति शायद बम-विस्फोट के दूसरे दिन वह जीवित रहते, लेकिन कौन कह सकता है, वह हिरोशीमा के अभागों की तरह दस या अधिक दिन में मर नहीं जाते। नेवादा दूसरे दिन सारे समय "तप्त" रहा। यह रेडियो-क्रिया संबंधी रेडियो-करण का प्रभाव था। बम-विस्फोट के ७२ घंटे बाद ही संवाददाता नेवादा के ऊपर जाने की इजाजत पा सके।" *

२५ जुलाई १९४६ को विकिनी-खाड़ी में एक और परमाणु-बम की परीक्षा की गई, जिसमें बम को हवा में नहीं जल के भीतर विस्फोटित किया गया। बम-विस्फोट के साथ विकनी-खाड़ी का जल एक ऊँचे स्तंभ के रूप में बराबर लंबा होता ऊपर उठता गया। यह जलस्तंभ प्रायः एक मील ऊँचा था। उसके ऊपर ४००० फीट तक और उठे गैस-फौव्वारे फूल से दिखलाई पड़ते थे। इस फूल के डंठल में १० लाख टन जल था। यह पुष्प सहित डंठल या छत्रक कितने ही समय तक आकाश में लटकता रहा। फिर धीरे-धीरे जहाजों के ऊपर भयंकर रेडियोक्रियावाली वर्षा के रूप में गिर पड़ा। बम बिस्फोट के समय सौ फुट ऊंची लहर समुद्र से निकलकर किनारे की ओर आगे बढ़ने के साथ कम होती चली गई और विस्फोटस्थान से साढ़े तीन मील पर अवस्थित विकिनी द्वीप पर जाके ७ फीट ऊँची रह गई। उसने सारे विकिनी द्वीप को धो नहीं डाला, लेकिन पास के एक छोटे द्वीप को अवश्य डुबा दिया। पानी के भीतर ही भीतर ५००० फीट प्रति सेकंड की चाल से एक भीषण प्रवाह की तरंग बढ़ी, जिसने लक्ष्य जहाजों को सब से अधिक क्षति पहुँचाई, पेंदियों को चूर कर दिया, धरनों को तोड़ दिया और जहाजों को डुबा दिया। युद्धपोत अरकंसस तुरंत इस आघात के कारण डूब गया। सरातोगा और नमातो भी जल के भीतर से ध्वस्त होकर डूब गए। इस परीक्षा में रेडियोक्रिया की बहुत अधिक ध्वंस-लीला देखी गई। चार दिन तक रेडियोक्रिया के खतरे के मारे कोई उन जहाजों के पास तक नहीं जा सकता था, जो अब तक तैर रहे थे। रेडियोक्रियायुत "वर्षा" इसका कारण थी। इस परीक्षा ने बतला दिया, कि जल के भीतर से प्रवाहित आघात आध मील तक बड़े जहाजों को ही डुबा नहीं सकता, बल्कि रेडियोक्रियायुक्त बर्षा के मारे जहाजों के नाविकों का बच निकलना मुश्किल है। चाहे कुछ नाविक न भी मरते, लेकिन रेडियोक्रिया-वाली बर्षा उनके लिए थोड़े समय में घातक सिद्ध होती।

विकनी में परीक्षा के समय दो सौ पोत अपने पैंतीस हजार आदमियों के साथ मौजूद थे। इन पोतों में ७७ लक्ष्यभेद के लिये थे। सब मिलाकर ४२ हजार आदमियों ने परीक्षा में भाग लिया था। उनके खाने के लिये प्रतिदिन १३ हजार सेर आटा, २० हजार सेर मांस, साढ़े ८८ हजार सेर तरकारी, १९ हजार सेर काफी, १८ हजार सेर मक्खन, ६६०० सेर चीनी खरच होती थी। उनके साथ ही लोगों ने ७० हजार मिश्री की सिल्लियाँ तथा ३० हजार सिगरेट के डब्बे भी खरीदे थे।

---

* यंग पीपुल्स बुक आव एटामिक एनर्जी : लेखक रोबर डी पाटर, न्यूयार्क

अंग्रेज विज्ञानवेत्ता जे० बी० एस० हेल्डेन ने परमाणु-बम की ध्वंस-लीला के बारे में कहा है :+

"युक्तराष्ट्र अमेरिका और सोवियतसंघ ही ऐसी दो शक्तियाँ हैं, जो परमाणु-बम के युद्ध से पूर्णतया ध्वस्त नहीं हो सकेंगी। यद्यपि वह न्यूयार्क, सानफ्रांसिसको, लेनिनग्राद या अदेस्सा को नहीं बचा सकेंगे। किंतु मग्नितोगोरस्क, शिकागो और सेंटलुई के बचा पाने की आशा की जा सकती है। युक्तराष्ट्र को शायद कुछ सुभीता हो, किंतु उसके समुद्र तटवर्ती नगर पनडुब्बियों से छोड़े निश्चित समय पर फूटने वाले परमाणु बमों से ध्वस्त हो जायेंगे, उनकी उठाई भयंकर लहरों से बहा दिये जायेंगे। इंगलैंड के बचने की तो बिल्कुल आशा ही नहीं है। जो पागल मंडली पश्चिमी योरोपीय गुट के लिये काम कर रही है, उसे इस बात का ध्यान नहीं है कि दस साल के भीतर ही लंदन और पैरिस सोवियतसंघ या किसी दूसरे राज्य से फेंके जाते उड़ंतू बम की उड़ान के भीतर आ जायेंगे।"

परमाणु-शक्ति का अन्य उपयोग

परमाणुशक्ति का ध्वंस के लिये ही अभी तक प्रयोग हुआ है। युद्ध और सेना के खर्च में पैसे-कौड़ी की ओर ध्यान नहीं रखा जाता। यदि परमाणु शक्ति के असैनिक उपयोग की खोज पर भी उसी तरह प्रयत्न किया जाता, तो संभवतः अब तक उसके संबंध के भी कितने ही आविष्कार हो गये होते। गति धीमी चाहे हो, किंतु दुनिया के विज्ञान-वेत्ताओं का दिमाग इस वक्त उसी में लगा हुआ है। अफसोस यह है कि परमाणुशक्ति के सैनिक उपयोग की ओर अधिक ध्यान होने से सभी देश अपने अनुसंधानों को बहुत गुप्त रख रहे हैं, जिससे दुनिया के सभी वैज्ञानिकों को एक दूसरे के अनुभव से काम उठाने का मौका नहीं मिल रहा है। अमेरिका रहस्य को गुप्त रखने के लिये सब से अधिक सचेष्ट है, लेकिन परमाणुशक्ति उद्योगधंधों के लिये बहुत सस्ती विद्युतशक्ति प्रदान करेगी, जिससे परमाणुशक्ति वाले देश इतनी सस्ती चीजें बना सकेंगे, जिनका बाजार में दूसरे मुकाबिला नहीं कर सकेंगे। भला व्यापार में ऐसी जबरदस्त प्रतिद्वंद्विता से कौन सा देश शंकित नहीं होगा।

परमाणु-बम की अपेक्षा परमाणु-शक्ति के औद्योगिक उपयोग की ओर लोगों का कम ध्यान नही है। लेकिन परमाणुशक्ति के लिये जितने बड़े यंत्रों की आवश्यकता है, उसके कारण परमाणु-शक्ति का उपयोग मोटरों और रेलवे इंजनों पर नहीं हो सकेगा। हाँ, जहाजों पर शक्ति-निष्पादक यंत्र लगाये जा सकते हैं। दो सौ टन का विमान शायद परमाणुशक्ति से संचालित किया जा सके। चिकित्सा में परमाणु-बम के निर्माण से पैदा हुए रेडियो-क्रियावाले तत्वों का बहुत सस्ता प्रयोग अब भी होने लगा है। उसने रेडियम की अपेक्षा बहुत सस्ते साधन डाक्टरों के हाथ में दे दिए हैं। रेडियोक्रियावाले कार्बन १४ तथा आइडिन कई दुःसाध्य रोगों में बड़े सफल सिद्ध हुए हैं।

कृषि को भी इन सस्ते रेडियोक्रिया वाले पदार्थों से बहुत लाभ होगा। उनके द्वारा बीजों के अंदर जाति-परिवर्तन की गति को बढ़ाया जा सकता है और नयी तरह की वनस्पति जातियों को उद्भावित किया जा सकता है। खाद में भी इसका उपयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होगा। रेडियो-क्रियावाले उत्पादित पदार्थों से हमारी संपत्ति को बढ़ाया जा सकता है। हमारी युद्ध करने की शक्ति उससे बढ़ती है, लेकिन साथ ही बहुत से मानवों की प्राणरक्षा भी उसके द्वारा की जा सकती है।

+ सायंस इन दि एटामिक एज

अशोक के लोक सुखयन धर्म का नया दृष्टिकोण

वासुदेव शरण

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक की सब से बड़ी विजय धर्मविजय थी। कलिंग विजय के बाद अशोक में विचारों का जो परिवर्तन हुआ उसके कारण उस ने धर्म के वास्तविक तत्त्व पर बहुत काफी चिंतन किया। जान पड़ता है, विचार करते हुए वह अंत में एक ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचा जिसका मनुष्यजीवन के साथ घनिष्ठ संबंध है। अशोक के लिये धर्म न तो संप्रदायों और मत-मतांतरों की, जिनकी काफी संख्या उस समय भी देश में थी, बपौती थी, और न इस लोक के जीवन से दूर केवल परलोक में स्वर्ग जैसे किसी प्रलोभन को वश में कर लेने का कोई नुस्खा था। अशोक ने अपने महान् व्यक्तित्व और विशाल मस्तिष्क की शक्ति से भारतीय ज्ञान और दर्शन की प्राचीन परंपराओं को मथकर उनका तत्त्व खींच निकाला। उसीको उसने 'सारवढि' अर्थात् धर्मों के सार की वृद्धि कहा है।

देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा सब संप्रदायों, साधुओं और गृहस्थों का संमान करते है और बहुत तरह की पूजा से उनको पूजित करते हैं। लेकिन कोई भी दान और पूजा देवानांप्रिय की दृष्टि में इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी सब संप्रदायों के सार की वृद्धि (शि० ले० १२)।

धर्म के तत्त्व की नई परिभाषा अशोक का अपने अंतर्ज्ञान और प्राणिमात्र की कल्याण—भावना से मथा हुआ मक्खन है। जैसा विशाल उसका हृदय था उसी विशालता के अनुसार धर्म की एक सार्वभौम परिभाषा पर उसका मन जाकर टिका। न तो उसे धर्म के नाम से प्रचलित किसी एक संप्रदाय को औरों की उपेक्षा करके आगे बढ़ाना अभीष्ट था और न उसके जैसी सूक्ष्म तार्किक बुद्धि और अंतर्राष्ट्रीय तथा उदार भावना के व्यक्ति के लिये धार्मिक परिभाषा के किसी तंग बंधन को स्वीकार करना ही संभव था। अतएव अपनी सारग्राहिणी सूक्ष्म प्रतिभा से अशोक ने मौर्यकालीन राष्ट्र के उस महान् युग में महान् पराक्रम किया। धर्म की सार्वभौम परिभाषा का निर्णय करने और अपनी प्रजाओं के एवं अपने मित्र-राजाओं के जीवन में उस धर्म को सत्य कर दिखाने का कार्यक्रम, यही उस पराक्रम का स्वरूप था।

अशोक के धर्म पर विस्तृत विचार करने से पूर्व बौद्धधर्म के साथ जो उसका संबंध था उसपर भी विचार करना आवश्यक है। बौद्धसाहित्य के दिव्यावदान आदि ग्रंथों में अशोक को भगवान् बुद्ध के शासन में दीक्षित कहा गया है। अपने कोष, महापृथिवी, अंतःपुर, अमात्यगण, आत्मा और कुणाल को आर्यसंघ को सौंपकर भी अशोक का मन प्रसन्न न हुआ। इसपर राधगुप्त अमात्य ने पूछा 'आप उदास क्यों हैं?' अशोक ने कहा—'संघ से मैं विप्रयुक्त हूँ, इसलिये दुःखी हूँ' (दिव्यावदान, पृ० ४३०)। इसमें संदेह नहीं कि बौद्धधर्म और संघ के साथ अशोक का घनिष्ठ संबंध था। उसने भगवान् बुद्ध के जन्मस्थान लुंबिनी गाँव की अपने अभिषेक के बीसवें वर्ष में यात्रा की (संमिनदेई स्तंभलेख)। उस अभिषेक के चौदहवें वर्ष में पूर्वकाल के एक बुद्ध कनक मुनि के स्तूप की यात्रा करके आकार में उसको दुगुना बढ़ाया। इन बातों से बौद्धधर्म के साथ उसके जीवन का व्यावहारिक संबंध प्रकट होता है। बैराट शिलालेख से मालूम होता है कि बौद्धसंघ के प्रति भी अशोक के मन में संमान का भाव था। उसने संघ को यथोचित अभिवादन किया है। संघ के लिये उसके मन में गौरव और प्रसाद अर्थात् श्रद्धा का भाव था[1]। परंतु उससे भी अधिक उसकी श्रद्धा भगवान् बुद्ध के उपदेशों के लिये थी। उसके शब्दों में—भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है वह सब सुंदर कहा है। उस भगवान् के उपदेश को भिक्षु और भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाएँ सर्वदा सुनें और धारण करें, यह उसका अभिमत था। इसी प्रसंग में बुद्ध के धर्म को उसने सद्धर्म कहा है और यह इच्छा प्रकट की है कि बुद्ध-वचनों की रक्षा से ही सद्धर्म चिरस्थायी हो सकता है। मास्को से प्राप्त प्रथम लघु शिलालेख में, जिसमें केवल एकबार अशोक का निजी नाम दिया गया है, स्पष्ट लिखा है—अँ सुमि बुध-शके, अर्थात् मैं शाक्य बुद्ध का अनुयायी हूँ। कलिंग-विजय के डेढ़ वर्ष बाद तक अशोक बुद्धानुयायी उपासक बना रहा। तब तक उसने जीवन में जैसा चाहिए था वैसा पराक्रम नहीं किया था। वह कहता है कि एक वर्ष पहले जब से मैं संघ में आया हूँ, मैंने बहुत अधिक उद्योग किया है और पराक्रम का ही यह फल हुआ है।

इन वचनों से यह अवश्य ज्ञात होता है कि अशोक के मन पर बुद्ध के उपदेश की गहरी छाप पड़ी थी और वह एक गृहस्थ की भाँति अपने आपको बौद्धधर्मानुयायी मानने लगा था। संघ में जाने (संघमुपगते) की घटना भी ऐतिहासिक सत्य है, किंतु इससे यह कहना कठिन है कि अशोक ने संघ में दीक्षित होकर चीवर पहन लिया था। संघ का जो विशेष प्रभाव उसपर पड़ा वह बौद्धधर्म के बाहरी रूप के बाहरी प्रचार के लिये नहीं था, क्योंकि उस विषय में उसने बारबार सब संप्रदायों के लिये अपने समान व्यवहार का उल्लेख किया है, बल्कि जिस तत्त्व को उसने धर्मरूप में ग्रहण किया था उसके सर्वात्मना प्रचार के लिये अपनी सारी शक्ति से कटिबद्ध हो जाना, यह विशेष परिवर्तन संघ में आने के बाद उसके जीवन में हुआ। अपने राज्य-शासन को सुरक्षित रखते हुए साम्राज्य की भारी शक्ति को धर्म-विजय के आदर्श से संचालित करना, यही अब उसके उत्थान और उग्र पराक्रम का ध्येय बन गया।

भगवान् बुद्ध के अमृत तुल्य वचन अशोक के सामने थे। भारतीय साहित्य की अन्य जो प्राचीन परंपराएँ थीं, वे भी उसके सामने थीं। अनेक धार्मिक आचार्यों ने जिन प्राणदायक सत्यों का

१ विदिते वे भंते आवतके हमा बुधसि धंमसि संघसी ति गालवे च प्रसादे च (बैराट लेख)

विशालकाय बोधिसत्व, आरंभिक बौद्ध मूर्तिकला पूर्व कुषाणकाल
(ई० १ली शती) मथुरा से प्राप्त

—लखनऊ संग्रहालय

अपने जीवन में साक्षात्कार किया था और जिनसे भारतीय ज्ञान की महती परंपरा प्रतिष्ठित हुई वह भी अशोक को अविदित न थी। उन सब का मथन करके अशोक ने धर्म के तत्त्व का मक्खन या अमृतभाग निकाला। धर्म क्या है ? इसे बताने के लिये सीधे सादे शब्दों में उसने स्वयं ही कहा है—

देवानांप्रिय ऐसा कहते हैं—"मातापिता की सेवा करनी चाहिए। गुरुओं की सेवा करनी चाहिए। प्राणियों के प्रति दया का भाव दृढ़ करना चाहिए। सच बोलना चाहिए। इन धर्म के गुणों को आगे बढ़ाना चाहिए। ऐसे ही अंतेवासी को आचार्य की सेवा, संमान करना चाहिए। सगे संबंधियों के साथ यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए। यह पुरानी प्रकृति है। यह दीर्घायु को देने वाली है। ऐसा ही करना उचित है।" *

इन सरल शब्दों में अशोक ने अपने धार्मिक मंतव्य को कहा है। जतिंग रामेश्वर स्थान के इसी लेख में एक वाक्य और जोड़ा गया है जो धर्म की इस परिभाषा के साथ अशोक के संबंध को निश्चित कर देना है—

हेवं धंमे देवानं पियस

अर्थात् देवों के प्रिय राजा के मत में यही धर्म है। जीवन को ऊँचा उठाने वाले ये नियम अत्यंत प्राचीन हैं और इसीलिये अशोक ने स्वयं मानों अपने धर्म की इस परिभाषा के लिये सार्वजनिक सहानुभूति और मतैक्य प्राप्त करने के लिये ही ऐसा कहा है—

एसा पोराण पकिती।

अर्थात् यही सनातन परंपरा है, यही पुरानी और चिरस्थायी जीवनपद्धति है। इसके स्वीकार करने में सबको एकमत होना चाहिए। इन धर्मगुणों को स्वीकार करने में किसीको बाधा नहीं हो सकती। तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली के अंतर्गत गुरु अपने शिष्य को जो अनुशासन देता है उसमें और अशोक के धर्मगुणों में कितना साम्य है—

सत्यं वद। धर्मं चर। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।

अर्थात्, सत्य बोलो। धर्म पर चलो। माता, पिता, आचार्य और अतिथियों की सेवा करो।

धर्म की इस परिभाषा को दूसरे स्तंभ-लेख में और भी स्पष्ट किया गया है। इस लेख में अशोक ने शृंगग्राहिकया शैली से स्पष्ट कहा है—

धर्म अच्छा है, लेकिन धर्म है क्या? पापरहित होना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सचाई और पवित्रता, ये धर्म हैं। × धर्म की यह परिभाषा मनु के प्रसिद्ध दस लक्षणोंवाले धर्म के कितनी निकट है। मनु ने भी धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, ध्यान, विद्या, सत्य और अक्रोध इन दस गुणों को जिनका संबंध नीति और सदाचार से है, धर्म कहा है। मनु की परिभाषा

---

* लघु शिलालेख, २।

× धंमे साधू कियंचुधंमे ति अपासिनवे बहुकयाने दया दनि सचे सोचिये (द्वितीय स्तंभ लेख)।

के अक्रोध, दम और इंद्रियनिग्रह अशोक के 'अल्प आसिनव' के अंतर्गत हैं।' 'चंडता, निष्ठुरता, क्रोध, मान और ईर्ष्या, ये आसिनव या पाप के गड्ढे में मनुष्य को गिराते हैं' (स्तंभ लेख ३) । क्षमा दया नामक धर्मगुण का पर्याय है। सत्य और शौच दोनों सूचियों में समान हैं। अग्रपराक्रम और अग्र-उत्साह जिन पर अशोक ने इतना जोर दिया है, ये ही धर्ममय जीवन के लिये धृति नामक गुण हैं। मनु के धी या ध्यान पर अशोक ने भी बहुत जोर दिया है और अपने शब्दों में उसे 'निझति' कहा है। स्तंभलेख सात में अनेक प्रकार से धर्म की व्याख्या और धर्म के लिये किए गए अपने कार्यों का परिगणन कराने के बाद कहा है "धर्म की वृद्धि दो तरह से होती है, एक तो बाहरी धर्मनियमों का पालने करने से और दूसरे निझति या ध्यान से। इनमें भी धर्म के नियम महत्त्व में कम हैं। निझति बहुत भारी है। धर्म नियम तो ऐसे समझिए जैसे मैंने यह-यह किया, इन-इन जीवों को अवध्य कर दिया, और भी जो काम मैंने किए, वे धर्म नियम हैं। पर निझति से ही मनुष्यों में सच्ची धर्मवृद्धि हुई है'। (स्तंभलेख ७) वस्तुत: ध्यान के द्वारा मानसिक परिवर्तन ही 'निझति' है। यही इस नये धर्म का रहस्य था जो उस युग के धर्मविषयक सार्वजनिक चिंतन की विशेषता थी। अशोक के बहुत कल्याणवाले धर्म में और मनु के दस लक्षणवाले धर्म में गहरी समानता देखते हुए यह मानना उचित प्रतीत होता है कि दोनों की आत्मा एक है। सम्प्रदाय विशेष या मतमतांतरों के विश्वास से धर्म को ऊपर उठाकर शील और सदाचार की दृष्टि से धर्म की परि-भाषा करना और नीतिप्रधान मार्ग से जीवनक्रम को चलाना यह उस युग के विचार की विशेषता थी। इसका सर्वोत्तम पुष्प हम अशोक में विकसित देखते हैं। अशोक की धर्मविषयक वाणी और व्यास की भारत सावित्री दोनों का मर्म बिल्कुल एक है। अशोक कहते हैं—"भेरीघोष को हटाकर मैंने धर्मघोष चलाया है।" (शिलालेख ४) । वेदव्यास ने भी निम्नलिखित शब्दों में अपने व्यक्ति-त्व की छाप डालते हुए कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।।

अर्थात् भुजा उठाकर मैं कह रहा हूँ कि धर्म से ही जीवन में अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। उस धर्म की उपासना क्यों नहीं करते ?

व्यास के 'न च कश्चिच्छृणोति मे' कोई मेरी बात नहीं सुनता की तरह अशोक ने भी ठीक इसी प्रकार के शब्दों में मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का वर्णन किया है—

कयानमेव देखति इयं मे कयनि कटेति नो मिन पापं देखति इयं मे पापे कटेति इयं वा आसि-नवे नामाति। दुपटि वेखे चु खो एसा । हेवं चु खो एस देखिये। (स्तंभलेख ३)। देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहता है—"कल्याण या अच्छाई को ही हर कोई देखता है कि यह मैंने अच्छा काम किया है। पर पाप को कोई नहीं देखता कि यह मैंने पाप किया है। अथवा यह जो आचार-हीनता है मुझसे हुई है। अवश्य ही इस प्रकार का देखना बहुत ही कठिन है। परंतु इसे इस तरह देखना ही चाहिए।

अशोक और व्यास दोनों के कंठ की वाणी लगभग एक ही प्रकार से फूट पड़ी है। दोनों ने लोककल्याण की कामना से व्याकुल होकर मनुष्यों की एक साधारण कमजोरी की ओर इशारा किया है।

अर्थ और काम के मुकाबले में धर्म की बात किसीको अच्छी नहीं लगती। अपने गुणों का ध्यान करने में लोग जितने तत्पर रहते हैं, अपनी त्रुटियों के प्रति उतने सचेत नहीं रहते और न उन्हें दूर करने में कड़ाई से बरतते हैं। व्यास ने महाभारत में एक नये सिरे से धर्म की व्याख्या की। उनके मत में धर्म को धर्म इसलिये कहते हैं क्योंकि उससे प्रजाओं को धारण किया जाता है। जिसके अंदर धारण करने की शक्ति हो उसीको धर्म कहना चाहिए—

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्यात् धारणसंयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः॥

व्यक्ति को, राष्ट्र को, जीवन को, संस्थाओं को, लोक और परलोक को धारण करनेवाले जो शाश्वत् सर्वोपरि नियम हैं, वे धर्म हैं। धर्म स्वर्ग से भी महान् है। लोकस्थिति का सनातन बीज धर्म है। इस नई दृष्टि से देखने पर धर्म ओजस्वी प्रवाह की तरह जीवन को सींचने और पवित्र करने वाला अमृत है। राजाओं की जय और पराजय आने जाने वाली हैं, पर धर्म नित्य है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥ (महाभारत का अंतिम श्लोक)

अर्थात् काम से, भय से लोभ से, यहाँ तक कि प्राणों के लिये भी धर्म को छोड़ना ठीक नहीं है; क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक हैं। इसी तरह जीव भी नित्य है, जन्म और मृत्यु अनित्य हैं।

अशोक ने भी शील और सदाचार प्रधान धर्म को 'दीघावुस' या दीर्घजीवी माना है (स्तंभ लेख २) और धर्मविजय को महाफला, बहुत फल देनेवाली एवं परलोक में भी टिकाऊ कहा है (शिलालेख १३)। अशोक के अनुसार धर्म ही साधु है या जीवन का सार है।

जीवन के आदर्श परिवर्तनशील हैं और इतिहास इस बात का साक्षी है कि वे युगानुसार बदलते रहते हैं। किसी समय 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' (यजुर्वेद), श्रेष्ठतम कर्म के लिये जीवन को ढाला जाता था। ब्राह्मण ग्रंथों के युग में यह श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ था और यज्ञ का आदर्श ही जीवन का प्रधान आदर्श था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (१।७।१।५)*

इस आदर्श की समाज में जब अति हुई तब भगवान् बुद्ध के युग में उसकी प्रतिक्रिया आरंभ हुई। अशोक ने भी हिंसा की उग्र प्रवृत्ति की ओर उल्लेख किया है—

अतिकांतं अंतरं बहूनि वाससतानि'
वढितो एव प्रणारंभो विहिंसा च भूतानं॥ (शिलालेख ४)

अर्थात् 'पूर्वकाल में बहुत समय तक, अनेक संख्यक सैकड़ों वर्षों तक, पशुओं की हिंसा और सब भूतों

---

* यही बात यजुर्वेद के प्रथम मंत्र के 'श्रेष्ठतम कर्म' शब्दों की व्याख्या करते हुए तैत्तरीय ब्राह्मण में भी कही है—यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म (३।२।१।४)।

के प्रति हिंसात्मक व्यवहार बढ़ता रहा। समाज में इस प्रकार की निरर्थक और उद्वेगकारिणी हिंसा से लोगों का मन फिरा और जीवन में एक नये आदर्श की खोज होने लगी। हिंसात्मक यज्ञ तब श्रेष्ठतम कर्म न रह गया। बुद्ध-युग में शील-प्रधान धर्म आदर्श के ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित किया गया। बुद्ध का प्रयत्न एकांगी न था। सारा समाज उस प्रकार के भाव से हिल रहा था। समाज में विचारों की वह असाधारण उथल-पुथल धर्म जैसी जीवन की सरल व्याख्या को प्राप्त कर के कुछ शांत हुई और स्थिर किनारे पर लगी। इसका गहरा प्रभाव हिंदू साहित्य पर भी स्पष्ट है। संशोधित-महाभारत के विद्वान् संपादक श्री सुकथनकर ने महाभारत ग्रंथ पर पड़े हुए नीति-प्रधान धर्म के इस गंभीर प्रभाव को देखकर, उसकी विवेचना करते हुए लिखा है कि किसी गाढ़े युग में चौबीस हजार श्लोकों वाले वीरगाथा परक मूल काव्य को जिसके कर्ता वेदव्यास माने जाते थे एवं जिसमें भारतयुद्ध के इतिहास का ही विस्तृत वर्णन था, भृगुओं ने, जिनको धर्म और नीतिशास्त्र का विशेष ज्ञान था, अपनाकर, उसका वृहत संस्कार कर डाला और भारत को महाभारत के रूप में संसार को प्रदान किया। फलतः महाभारत केवल इतिहास ग्रंथ न रह गया, उसने धर्मग्रंथ का रूप ग्रहण कर लिया। महाभारत का विशाल प्रासाद धर्म की नींव पर रचा गया है। धर्मग्रंथ महाभारत के नायक धर्म के पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर हैं, भारतयुद्ध धर्मयुद्ध है, युद्धभूमि को धर्मक्षेत्र कहा गया है एवं नारायण को धर्म की ग्लानि दूर कर के धर्म की स्थापना के लिये कृष्ण रूप में अवतार लेनेवाला कहा गया है। इस प्रकार संपूर्ण महाभारत धर्म के साँचे में ढलकर निष्पन्न हुआ। कुछ दिन तक, जैसे आश्वलायन गृह्यसूत्र के समय में, मूल भारत काव्य महाभारत से अलग भी विद्यमान रहा, पर पीछे से धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र नामक त्रिवर्ग के रूप में संसिद्ध महाभारत ग्रंथ ही लोक के सामने बच गया। धर्म-प्रधान भावना का यह युग अनुमान से बुद्ध से लेकर अशोक मौर्य तक का समय था। इसीमें धर्म के आदर्श की पूर्ण प्रतिष्ठा बढ़ी। एक ओर वेदव्यास ने 'नमो धर्माय महते धर्मो धारयते प्रजाः।' कहकर महान धर्म को प्रणाम किया है, और दूसरी ओर अशोक ने—

एस हि सेस्टे कंमे य धमानुसारसनं (शिलालेख ४),

अर्थात् यही श्रेष्ठ कर्म है जो धर्म का अनुशासन है, इस प्रकार की घोषणा की।

जो श्रेष्ठतम आदर्श कर्म है उस धर्म के स्वरूप का परिचय कराने का अशोक ने कई बार प्रयत्न किया है। स्तंभलेख २ और ७ एवं लघुशिलालेख २ में इस सदाचार प्रधान धर्म की व्याख्या की गई है। जिन विशिष्ट कार्यों से और जीवनपद्धति से दया, दान, सत्य, पवित्रता, मृदुता और लोककल्याण की वृद्धि हो वे ही धर्म हैं।* धर्म और शील ये दोनों पर्यायवाची हैं। अशोक ने जहाँ एक ओर धर्म को श्रेष्ठ कर्म बताया वहीं दूसरे सूत्र में कहा है कि जिसके जीवन में शील नहीं है उससे धर्म का आचरण भी नहीं हो सकता—

एस हि सेस्टे कंमे य धंमानुसारसनं
धंमचरणे पि न भवति असीलस। (शिलालेख ४)

* एस हि धंमाप दाने धंमं पटीपति च या इयं दया दाने सचे सोचवे मदवे साधवे च लोकस (स्तंभलेख ७ पंक्ति १८)।

धर्ममय जीवन की कुंजी व्यक्ति के मन की शुद्धि है। जिसके मन के भावशुद्ध नहीं हैं उसका धर्माचरण और सारा काम भी दंभ के लिये हो सकता है। अतएव भाव शुद्धि और आत्मसंयम यही धर्म की सच्ची कसौटी है। अशोक ने सब धर्मों के सिद्धांत पर सूक्ष्म विचारकर के यही निष्कर्ष निकाला कि संयम और भाव-शुद्धि इन दोनों के विषय में वे सब एकमत हैं, यथा—

'देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा की इच्छा है कि सब धर्म और संप्रदायों के लोग हमारे राज्य में सब जगह समान रूप से रहें; क्योंकि वे सभी तो एकमत होकर संयम और भावशुद्धि चाहते हैं। मनुष्यों की इच्छाएँ और उनकी प्रवृत्तियाँ एक-ही नहीं होतीं। कोई पूर्णरूप से और कोई एक अंश में धर्माचरण कर पाता है। लेकिन यह निश्चय है कि संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़भक्ति से जो रहित है वह चाहे जितना भी दान दे उसका स्थान बहुत नीचे रहेगा।' (शिलालेख ७)

ज्ञात होता है कि भावशुद्धि पर इस प्रकार का गौरव उस युग की विशेषता थी। शील-प्रधान जीवन में यदि भाव ठीक नहीं तो सब कुछ आडंबर बन जाता है। मनु ने भी भावशुद्धि को ही मुख्य माना है 'वेद, दान, नियम, यज्ञ और तप, ये सब उसके जीवन में जिसका भाव बिगड़ा हुआ है, व्यर्थ हो जाते हैं।* गीता के धर्म का लक्ष्य भी मन की शुद्धि प्राप्त करना है। बिना मन को ठीक किए धार्मिक जीवन के आडंबर को गीता में मिथ्याचार कहा है। सच्चे धर्म के लिये आत्म-पर्यवेक्षण अत्यंत आवश्यक है। अपने अच्छे-बुरे कर्मों की छानबीन करने की आदत ही धार्मिक जीवन की पहली सीढ़ी है। इस प्रकार का सूक्ष्म विचार या विवेक ही वह भीतरी आँख है जिससे मनुष्य स्वयं अपनी उन्नति कर सकता है। इसे अशोक ने 'चक्षु' कहा है और दया, दान, सत्य, शौच आदि गुणों के अतिरिक्त अनेक उपायों से आध्यात्मिक चक्षुदान के लिये उसने जो अथक परिश्रम किया उसका गौरव पूर्ण उल्लेख किया है। (स्तंभलेख २)।

उसके निजी जीवन में यह आध्यात्मिक आँख अत्यंत जागरणशील विचार और कार्य के द्वारा रात और दिन सब भूतों के हित और लोककल्याण में प्रवृत्त रहती थी। इसके अतिरिक्त उसने अपना प्रभाव अपने पुत्र, पौत्र, और उच्च-राज-कर्मचारियों पर भी डाला और धर्ममय शासन के नये विधान को यथाशक्ति पूरा करने के लिये उन्हें प्रेरित किया।

धर्म-विजय के लिये कृतसंकल्प सम्राट् ने एक विशिष्ट लेख में शासन के इस नए विधान की आज्ञा जारी की—

एसा हि विधि या इयं धंमेन पालना, धंमेन विधाने, धंमेन सुखियना, धंमेन गोती ति।

अर्थात् यह विधान है। धर्म से प्रजा का पालन करो। धर्म से समस्त कार्यों का आचरण करो। धर्म से लोक को सुख पहुँचाओ। धर्म से रक्षा करो। (स्तंभलेख २)।

* वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ (मनुस्मृति २।९७)

इन चार सूत्रों में शासन के नए दृष्टिकोण से सब को परिचित कराया गया। मेरे जितने छोटे-बड़े और मध्यपद के राजकर्मचारी (पुलिसा) हैं, वे सब, एवं प्रत्यंत देशों में कार्य करने वाले महामात्र, सब इसी विधान का अनुवर्तन करेंगे और दूसरे लोगों से करायेंगे' (स्तंभलेख १)। उसने चाहा कि वह अपने उपदेश और उदाहरण से सब के मन में अपना संक्रामक उत्साह भर दे। 'बिना अग्रधर्मकामता के, बिना अग्रआत्मपरीक्षा के, बिना अग्रशुश्रूषा के, बिना अग्रभय के, बिना अग्र उत्साह के, इस लोक और परलोक दोनों में से किसी की भी साधना नहीं की जा सकती।' इस विचार का प्रभाव सब से पहले उसके निजी जीवन पर पड़ा और उसने अपने दैनिक कार्यक्रम में भारी परिवर्तन किया। सर्वत्र और सबकाल में उसने अपने आपको राजकार्य के लिये तत्पर और सुप्राप्य घोषित किया। जो उसका बिल्कुल निजी समय था उसमें भी राजकार्य को हिस्सा बँटाने का अधिकार दिया गया। 'अब मैंने ऐसा कर दिया है कि चाहे मैं भोजन करता होऊँ, चाहे अपने महल में होऊँ, चाहे रनिवास में होऊँ, चाहे शरीर की आवश्यक क्रियाओं में संलग्न होऊँ, चाहे पूजा में निरत होऊँ, और चाहे उद्यान में विश्राम करता होऊँ, सब जगह लोगों के कार्य की सूचना मेरे कर्मचारी मुझे दें, सब जगह मैं लोक-कार्य करने के लिये उद्यत हूँ। ऐसी मैंने आज्ञा दी है। जनकार्य और उत्थान करते हुए मुझे संतोष नहीं होता। सर्व-लोक-हित मेरा एक मात्र कर्तव्य है, उससे श्रेष्ठ और कोई कर्म नहीं है।' (शिलालेख ६)

अब क्रमशः अशोक ने अपने चारों ओर के बहुविध जीवन को टटोलना शुरू किया कि किस प्रकार से उसमें धर्म के नए आदर्श के अनुसार परिवर्तन किया जाय। धार्मिक जीवन के दो पक्ष हैं—एक तो आंतरिक शील, संयम ओर सदाचार की प्रवृत्ति जिसका संबंध व्यक्ति के अपने जीवन से है, ओर दूसरे परिवार और समाज के बीच में स्थित मनुष्य के व्यवहारों से। सच्चे धार्मिक जीवन का प्रभाव मनुष्य के बाह्य व्यवहारिक जीवनपर अवश्य पड़ना चाहिए। इसके लिये अशोक ने एक नए जीवन-विधान का उपदेश दिया। जिस प्रकार प्रथम स्तंभलेख में शासन के नए विधान में चार बातों को प्रधानता दी गई है उसी प्रकार दूसरों के साथ संपर्क में आनेवाले धार्मिक जीवन के लिये चार बातों को मूल भूत कहा गया है। वे इस प्रकार हैं—

१. धर्म दान
२. धर्मसंबंध
३. धर्म संविभाग
४. धर्मसंस्तव या धर्मपरिचय

अर्थात् कोई भी व्यक्ति केवल अपनी ही उन्नति और धर्मवृद्धि से संतुष्ट न रहे, बल्कि उसमें सब को हिस्सा दे और धर्ममय जीवन के बढ़ते हुए क्षेत्र में प्रयत्नपूर्वक सब का स्वागत करे। जब कोई किसीको द्रव्य का दान देता है या अन्य किसी प्रकार से अनुग्रह करता है तो उससे केवल परिमित हित हो सकता है, लेकिन धर्मदान और धर्मानुग्रह का फल अनंत है। धर्म के उपदेश से जिसका जीवन बदल दिया जाता है, उसके कल्याण की कोई हद नहीं रहती। इसलिये पिता को, पुत्र को, भाई को, स्वामी को, पड़ोसी को, मित्र को, सुहृद् को, संबंधी को, और परिचितों को चाहिए कि आपस में एक दूसरे को बताते रहें कि यह कर्तव्य है और यह उत्तम है (शिलालेख ९,११) पर संबंधी धार्मिक व्यवहार की अशोककृत व्याख्या में निम्नलिखित कर्तव्य संमिलित हैं—

१. दास और सेवकों के साथ सम्यक् व्यवहार
२. माता और पिता की शुश्रूषा
३. मित्र, परिचित और संबंधियों को दान
४. श्रमण और ब्राह्मणों को दान
५. प्राणियों की अहिंसा *

शिलालेख ९ में गुरुजनों का संमान और सेवा भी इस कार्यक्रम में संमिलित हैं, एवं इस प्रकार के अन्य उत्तम कर्तव्य भी समझने चाहिए (एसे अंने चा हेडिसे)। यह व्याख्या अशोक को अत्यंत प्रिय थी। शिलालेख ३ और ४ में भी इसको दोहराया गया है। अल्पव्यय अर्थात् देख-भाल कर धन का व्यय करना और अल्पभांडता अर्थात् कम संग्रह करना, ये दोनों गुण भी इसी कार्यक्रम के अंतर्गत कहे गए हैं। अशोक ने कहा है कि जीवन में इस प्रकार के गुणों का आचरण उसके धर्माचरण संबंधी विशेष आयोजन का फल था अन्यथा उससे पूर्व के युगों में पशुओं का यज्ञीय आलंभन और प्राणियों की हिंसा बहुत बढ़ी हुई थी और अन्य सद्‌गुणों की ओर भी लोगों की रुचि नहीं थी। इस प्रकार जनता में नया धर्मदान बाँटने और उनमें धर्म-मंगल का भाव जगाने के लिये केवल एक समान्य आज्ञा देकर ही अशोक ने संतोष नहीं कर लिया, बल्कि उसने शासन के संपूर्ण यंत्र को उसी ध्येय के लिये संचालित किया। साम्राज्य में सर्वत्र राजकर्मचारी, राजुक, और प्रादेशिक पदाधिकारियों को हुक्म हुआ कि वे प्रति पाँच वर्ष में एकबार धर्मानुशासन के कार्य के लिये अवश्य दौरा करें, किंतु उसके साथ अपने नियमित कार्यों को न भूलें। ज्ञात होता है कि पीछे से इस कार्य के लिये स्वतंत्र कर्मचारियों की आवश्यकता का अनुभव हुआ और सम्राट् ने धर्म महामात्र नाम के विशेष कार्यकर्ता नियुक्त किए। सम्राट् स्वयं भी प्रजाओं के संपर्क में आकर धर्मानुशासन और धर्म विषयक परिप्रश्न करते थे। अपनी व्यक्तिगत रुचि की ओर विशेष संकेत करते हुए अशोक ने कहा है कि धर्म का उपदेश और धर्मविषयक परिपृच्छा इन दोनों में भी अंतिम बात उसको बहुत प्रिय थी। सरल ढंग से जानपद जन के निकट जाकर उनसे धार्मिक विषयों के प्रश्नोत्तर करने में उसका मन बहुत लगता था (एसे भुये लाति होति देवानां पियसा पियदसिसा लाजिने) (शिलालेख ८)।

घरेलू जीवन को धर्म के साँचे में ढालने के लिये एक आवश्यक बात की ओर भी अशोक ने ध्यान दिया। गृहस्थ जीवन का मूल आधार स्त्रियाँ हैं और उनका बहुत-सा समय और शक्ति छोटे-छोटे निरर्थक रीति-रिवाजों में निकल जाती है। घर में बीमारी के समय, पुत्र के विवाह में, कन्या के विवाह में, बच्चों के जन्म के समय, घर से बाहर यात्रा के समय और इसी प्रकार के बहुत अवसरों पर नाना भाँति के छोटे-बड़े मंगल लोग मनाते हैं और माताएँ और स्त्रियाँ तो विशेष कर इसमें भाग लेती हैं। उन्हें यह सोचना चाहिए कि इस प्रकार के मांगलिक कार्यों का फल बहुत थोड़ा है। उनसे वास्तविक सुख की वृद्धि नहीं होती। गृहस्थ-जीवन के सच्चे सुख को बढ़ाने के लिये धर्म-मंगल करना चाहिए जिसका फल बहुत बड़ा है। घर में नौकर-चाकरों के प्रति अच्छा, व्यवहार

* तत एषे दाष भटकषि षम्या पटिपति मातापिताषु षुषुषा मितषंथुत नातिक्यानं समना बंभनाना दाने पानानं अनालम्भे (शिलालेख ११)।

बड़े-बूढ़ों का आदर, यथाशक्ति दान और हिंसा की वृत्ति को रोकना यही सच्चा धर्म-मंगल है जिससे घर का स्थायी सुख बढ़ सकता है। इसीमें सबको मन लगाना चाहिए। पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, परिचित और पड़ोसी सभी को अवसर के अनुसार इन बातों को समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। धर्म-मंगल के अतिरिक्त जो दूसरी तरह की मान्यताएँ हैं उनका फल भी संदिग्ध है। उनको करने से काम सिद्ध हो अथवा न भी हो। यदि कार्य हो भी जाय तो उसका फल इसी लोक में मिल सकता है। लेकिन धर्म-मंगल का फल चिरस्थायी होता है। अगर वह विशेष काम न भी पूरा हो तो भी परलोक के जीवन में धर्म-मंगल से अनंत पुण्य होगा। कदाचित् धर्म-मंगल करने वाले व्यक्ति का लौकिक कार्य भी संपन्न हो जाय तब तो दोनों लाभ हैं, यहां कार्यसिद्धि और परलोक में अनंत पुण्य (शिलालेख ९)। इस प्रकार अपने नैतिक विचारों के अनुसार लोगों के जीवन को धर्मपरायण बनाने के लिये अशोक ने एक वृहत् और सार्वजनिक प्रयत्न किया और छोटे-बड़े सब को निमंत्रण दिया कि वे उस सुंदर और आवश्यक कार्य में सहयोग दें।

धर्मानुशासन की नई नीति के फलस्वरूप जनता के बाह्य जीवन में भी सम्राट् को कुछ परिवर्तन आवश्यक जान पड़े। इन्हें अशोक के सामाजिक सुधार कहा जा सकता है। पहला सुधार सब प्रकार की हिंसा को रोकना था। इसके लिये उसने अपने आपको ही सब से पहिले सुधार का पात्र समझा। उसके कथानुसार पहले राजाओं के रसोईघर में सैकड़ों-हजारों पशुओं की हिंसा होती थी, और जिस दिन पहला धर्मलेख उसने लिखवाने का विचार किया, उस दिन तक दो मोर और एक हिरन राजा के चौके के लिये मारे जाते थे। उसमें हिरन निश्चित न था, पर उस दिन से पीछे इन तीनों प्राणियों का वध भी रोक दिया गया। इस प्रकार अपने जीवन को परिशुद्ध बनाकर उसने जनता के जीवन में से हिंसा के दोष को मिटाने का निश्चय किया। उसने उन समाज नामक उत्सवों को बंद करने की आज्ञा दी जिनमें उसे बहुत प्रकार के दोष जान पड़े। बौद्ध साहित्य से मालूम होता है कि समाज संज्ञक उत्सवों का जनता में बड़ा प्रचार था। इनमें नृत्य और संगीत के लिये बहुत बड़ी संख्या में जनता एकत्र होकर आनंद मनाती और मांस और मद्य का प्रचार रहता था। अशोक का लक्ष्य विशेषकर उस तरह के समाज से हो सकता है जिसमें हाथी, घोड़े, बैल, बकरे, मेंढ़े, मुर्गे, बटेर आदि की हिंसामय भिड़ंत कराई जाती थी। कौटिल्य ने भी उत्सव-समाज और यात्राओं का उल्लेख किया है जिनमें चार दिन के लिये राज्य की ओर से मद्य चुआने और पीने की छूट रहती थी (अर्थ० २।२५)। अशोक के पितामह चंद्रगुप्त को पशुओं की भिड़ंत देखने का बहुत शौक था और वर्ष में एकबार इस प्रकार के हिंसायम द्वंद्व कराने के लिये एक बड़े मेले की आयोजना की जाती थी। हाथी और गैंड़ों को परस्पर भिड़ते और लोहू लुहान होते देखकर जनता में पाशविक आनंद की उत्तेजना होती थी। इस वीभत्स कृत्य को बंद करना आवश्यक था और इसी सुधार ने सब से पहले अशोक का ध्यान खींचा। हिंसात्मक समाजों को बंद करते हुए जो जनता के स्वस्थ और शुद्ध उत्सव थे, उनपर किसी प्रकार की रोक थाम नहीं लगाई गई। 'एक तरह के समाज ऐसे हैं जो देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा की दृष्टि में शिष्ट सम्मत हैं' (शिलालेख १)।

ये उत्तम समाज वे जान पड़ते हैं जिनके लिये, स्वयं अशोक ने जनता में धर्म का अनुराग उत्पन्न करने के लिये प्रबंध किया था। ये एक प्रकार के धार्मिक जुलूस थे जिनमें देवताओं के विमान निकाले जाते थे। सजे हुए हाथी, ज्योति-स्कंध एवं और भी अनेक दिव्य रूप जनता को दिखलाए

जाते थे। लोगों में उस समय स्वर्ग और परलोक के संबंध में जैसा दृढ़ विश्वास था उसीके अनु-रूप विमान दर्शना, हस्ति दर्शना, अग्नि-स्कंध और दिव्य रूप प्रदर्शन के आयोजन अशोक के द्वारा कराने की व्यवस्था की गई।

पशु-जगत् के प्रति तो धार्मिक सम्राट् के मन में बहुत ही अनुकंपा का भाव था। 'द्विपाद, चतुष्पाद, पक्षि, और जलचर जीवों पर मैंने बहुत प्रकार का अनुग्रह किया है और प्राण-दक्षिणा दी (स्त० लेख० २)। अनुकम्पा के ये विविध कार्य इस प्रकार थे—

१. मुर्गों को बधिया न किया जाय।*
२. गेहूँ आदि की भूसी जिसमें जीव पैदा हो गए हों न जलाई जाय।
३. जंगलों को व्यर्थ के लिये या जानबूझकर पशु-हिंसा के लिये न जलाया जाय।
४. हर महीने की कुछ निर्दिष्ट तिथियों पर बैल, बकरे, मेंढ़े, सुअर और अन्य पशुओं को खस्सी न किया जाय।
५. अन्य निर्दिष्ट तिथियों पर गाय और घोड़ों को दागा न जाय।
६. वर्ष में परिगणित छप्पन तिथियों पर मछली न मारी जाएँ, न बेची जाएँ।
७. उन्हीं दिनों में हाथियों के लिए सुरक्षित बनों में तथा केवटों के लिये सुरक्षित तालाबों में किसी प्रकार की हिंसा न की जाय।
८. बकरी, भेड़ और शूकरी जो गर्भिणी हैं या जिसके बच्चे दूध पीते हों, वे तब तक अवध्य हैं; जब तक कि बच्चों की आयु कम से कम छः महीने की न हो जाय।
९. संक्षेप में जीव का जीव से पोषण किसी प्रकार न करना चाहिए (जीवेन जीवे नो पुसित-विये)। इस संबंध में पशु और पक्षियों की एक लंबी सूची देकर सम्राट् ने उन्हें अवध्य घोषित किया।

इस प्रकार का ब्यौरेवार शासन जारीकर के अशोक ने पशु-जगत् को वास्तविक रूप में अपनी कृपा का पात्र बनाया और प्राण-दक्षिणा दी।

जनता के व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में उपर्युक्त प्रकार से गंभीर सुधार किए गए। साथ ही अशोक का ध्यान एक दूसरी कठिन समस्या की ओर भी गया। भारतवर्ष में सदा से बहुत से मतांतर और संप्रदायों के लोग बसते रहे हैं। उनकी पारस्परिक शांति और सद्भावना पर ही जनता की उन्नति और सुख निर्भर करते हैं। उनके प्रति राज्य की नीति क्या होनी चाहिए इसका जैसा सुंदर निर्णय अशोक ने किया वह आज भी महत्वपूर्ण है। प्रथम तो अशोक ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि कोई जनपद अर्थात् देश का भाग ऐसा नहीं है, जहाँ कि जनता का किसी न किसी धार्मिक संप्रदाय (पाषंड) में विश्वास और प्रीति (प्रसाद) न हो (शिलालेख १३)। धार्मिक भेद एक अनिवार्य घटना है। जब धर्म की दृष्टि से महान् जनसमूह में भेद अवश्यंभावी हैं, तब उस अनिवार्य परिस्थिति में मनुष्य की चतुराई इसी बात में है कि वह भेद से बचकर समन्वय

* बधिया करने से कुक्कुट का मांस अधिक स्वादिष्ट बन जाता है इस विचार से ऐसा *किया जाता था। इस निष्ठुर प्रथा के विरुद्ध यह आज्ञा जारी की गई थी।*

के मार्ग को खोज निकाले। जिस तरह आज देश में कई प्रधान धर्मों के माननेवाले लोग रहते हैं उसी तरह अशोक के समय में भी थे। स्तंभलेख ७ से ज्ञात होता है कि उसकाल में चार संप्रदाय मुख्य थे, ब्राह्मण, श्रमण अर्थात् बौद्ध, निर्गंथ अर्थात् जैन और आजीवक। अंतिम संप्रदाय के लोग आचार्य मंखलि गोसाल के अनुयायी थे जो नियतिवाद या भाग्य पर अत्यधिक विश्वास करते थे और कर्म का निराकरण करते थे। ये चारों संप्रदाय अत्यंत शक्तिशाली और लोक में बहु संख्यक मनुष्यों को मान्य थे। उनमें पारस्परिक मतभेद, ईर्ष्याजनित वाद-विवाद और कलह भी पर्याप्त मात्रा में रहता था। अपने धर्म की प्रशंसा में और दूसरों का खंडन करने में अंधभक्त लोग शिष्ट मर्यादा का अतिक्रमण कर जाते थे। अशोक ने इस जटिल प्रश्न पर गंभीरता के साथ विचार किया और उसने वह उपाय ढूँढ़ निकाला जिससे इन संप्रदायों में समवाय या मेल की वृद्धि हो। उसने अपनी नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि मैं सभी संप्रदायों के भिक्षुओं और गृहस्थों का संमान करता हूँ, और दान तथा विविध प्रकार की पूजा से उनको पूजित करता हूँ (शिलालेख १२)। इस प्रकार राज्य की ओर से सब संप्रदायों के प्रति समान व्यवहार की घोषणा की गई। यदि यह प्रथम सत्य है कि देश में अनेक मतमतांतर और संप्रदाय बसते हैं, तो दूसरा सत्य यह है कि राजा या राज्य की दृष्टि में वे सब बराबर हैं। राजकोष से दान और संमान पाने में सब का समान अधिकार है।

इस सत्य की घोषणा के बाद अशोक ने एक तीसरे सत्य की ओर ध्यान दिलाया है। वह यह कि जो जिस संप्रदाय को अपनी इच्छा और प्रसन्नता से ग्रहण किये हुए है वही उसके लिए श्रेष्ठ है—

ए चु इयं अतना पचूपगमने से मे मोख्यमते। (स्तंभलेख ६)

संप्रदाय के विषय में अपनी-अपनी रुचि ही सब से बढ़कर है। 'आत्मना प्रत्युपगमनं' अर्थात् अपने मन के अनुसार मार्ग का ग्रहण, यही बुद्धि-परक-नीति कही जा सकती है। जो जिस धर्म को स्वेच्छा से मानता है, वही उसके लिये मुख्य है। धर्मों के विषय में पारस्परिक स्पर्धा बिलकुल अनावश्यक है। इस प्रकार राज्य की दृष्टि से सब धर्मों का समान अधिकार घोषित करके, एवं व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की दृष्टि से हरएक को मुख्य पद का अधिकारी मानकर अशोक ने प्रत्येक संप्रदाय को एक दूसरे ही धरातल पर उठाने का प्रयत्न किया। यह नवीन उद्देश्य सब संप्रदायों या पाषंडों की सारवृद्धि था। देवों के प्रिय राजा दान और पूजा को उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझते, जितना सब धर्मों के सार की बढ़ती को। सारवृद्धि तो बहुत तरह की है किंतु उसका मूल वाणी का संयम (वचिगुती) है। धार्मिक विचार परिवर्तन के संबंध में वाक्-संयम की क्या मर्यादा है, इसकी व्याख्या में अशोक की सूक्ष्म तर्क-शक्ति और निष्पक्षपात विचार का बहुत ही सुंदर परिचय प्राप्त होता है—

'वह वाणी का संयम क्या है? लोग केवल अपने ही संप्रदाय का आदर और दूसरे संप्रदाय की निंदा बिना कारण के न करें। दूसरे संप्रदाय के विषय में हल्की बात केवल किसी विशिष्ट कारण से ही कही जा सकती है और इसी तरह दूसरे संप्रदायों का आदर भी विशिष्ट कारण से ही होना चाहिए। जो ऐसा करता है वह अपने संप्रदाय की उन्नति करता है और दूसरे धर्म का भी हित करता है। इसके विपरीत आचरण से वह अपने धर्म को क्षति पहुँचाता है और दूसरे

संप्रदाय का भी अनहित करता है। जो कोई अपने धर्म की भक्ति में आकर अपने संप्रदायकी प्रशंसा और दूसरे की निंदा करता है कि मैं इससे अपने धर्म का गौरव बढ़ाऊँगा; वह वैसा कर के वास्तव में अपने ही धर्म को बहुत बड़ी हानि पहुँचाता है (शिलालेख १२)।

प्रत्येक धर्म के सारतत्त्व को उन्नत करने का मुख्य उपाय वाक्संयम बताया गया है। यदि भारत जैसे विशाल देश के निवासी व्यवहार में इस नीति का पालन करते तो पारस्परिक कटुता के अवसर बहुत ही कम हो जाते। वाणी का संयम तब तक नहीं हो सकता जब तक पारस्परिक मेल-मिलाप की भावना न हो। इसलिये सब धर्मों को प्रथमबार और अंतिम बार निश्चित रूप से यह जान लेना चाहिए कि आपस का मेल-जोल ही एकमात्र साधु मार्ग है (त समवाय एव साधु)।

समवाय या समन्वय केवल सदिच्छा से ही नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसके लिये बुद्धि-पूर्वक प्रयत्न और कार्य की आवश्यकता होती है। जब तक हम एक दूसरे के धर्म के विषय में सच्ची जानकारी नहीं प्राप्त करते, तब तक हम में दूसरों के लिये सहानुभूति उत्पन्न नहीं हो सकती। अतएव अशोक की दृष्टि में समवाय को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को बहुश्रुत होना चाहिए। इसके लिये सब लोग एक दूसरे के धर्म को सुनें तथा सुनने की इच्छा रखें। इस प्रकार सभी धर्मा-वलंबी बहुश्रुत होंगे, और उनका आगम या सिद्धांत उत्तम बनेगा। प्रत्येक संप्रदाय को यह अच्छी तरह बता देना चाहिए कि देवानांप्रिय की दृष्टि में दान और पूजा का इतना महत्त्व नहीं है जितना इस बात का कि सब धर्मों के सार तत्त्व की वृद्धि हो और सब संप्रदायों का दृष्टिकोण उदार बने (सार वढि अस सर्व पासंडानं बहुका च, शिलालेख १२)।

राज्य की ओर से एक सफल शासक की भाँति अशोक ने सब धर्मों को एकता के मार्गपर लाने के लिये विशेष कर्मचारी नियुक्त किए; जिनका नाम धर्म महामात्र था। वह केवल मौखिक उपदेश देकर ही शांत नहीं रहा; किंतु उसी काम के लिये नियुक्त विशेष कर्मचारियों के द्वारा उसने सब धर्मों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन किया। साथ ही इस बात की भी भरसक चेष्टा की कि सब संप्रदायों में एकता और मेल-जोल की वृद्धि हो, सब को राज्य के प्रसाद में समान भाग मिले, सन्यासी और गृहस्थ लोगों में धार्मिक भावों का प्रचार हो, और राज्य की ओर से प्राणियों के लिये अविहिंसा आदिक जो अनुग्रह के कार्य आदिष्ट थे, उन सबका यथावत् पालन किया जाय। इस प्रकार के गंभीर उत्तरदायित्व की पूर्ति धर्ममहामात्र नामक राजपुरुषों के अधीन थी जिनको बहुत ही विश्वासपात्र जानकर सम्राट् ने नियुक्त किया था।

अशोक के धर्म की अंतिम विशेषता इस लोक और परलोक के जीवन का समन्वय है। वह स्थान-स्थान पर इस लोक और परलोक दोनों को धार्मिक जीवन के द्वारा साधने की बात कहता है। 'इस प्रकार जो धर्माचरण करेगा वह इस लोक और परलोक को बना लेगा (हिदत पालतं आलधे होति। स्तं० ले० ७)। 'राजुक लोग धर्म के लिये नियुक्त राजपुरुषों के द्वारा जानपद जन से कहेंगे कि यहाँ-वहाँ (हिदत-पलत), इस लोक परलोक दोनों की आराधना करो' (स्त० ले० ४) 'बिना ऊँचे दर्जे के पराक्रम और उत्साह के इस लोक और परलोक की साधना कठिन है' (स्तं० ले० १)। 'इस बात पर सब को विशेष ध्यान देना चाहिए कि यह मेरे लिये इस लोक में

लाभकारी है, और यह परलोक में लाभकारी है' ('स्त० ले० ३)। 'जो कर्मचारी इस प्रकार से अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता उसको न स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है और न राजा की प्रसन्नता मिल सकती है। किंतु जो अपने कर्तव्य का ठीक तरह से पालन करेगा वह स्वर्ग भी प्राप्त करेगा और इस लोक में मुझ से भी उऋण हो जाएगा।' (कलिंग ले० १) निम्नलिखित वाक्य में उसकी इस विषय की अभिलाषा स्पष्ट रूप से कही गई है—

सवे मुनिसे पजा ममा। अथा पजाये इच्छामि।

हकं किंति ? सवेन हित सुखेन हिदलोकिक पाललोकिकेन यूजेवू ति। (कलिंग लेख १) अर्थात् सब मनुष्य मेरी संतान की तरह हैं। अपनी संतान के लिये मैं चाहता हूँ कि वे सब प्रकार के इसलोक और परलोक संबंधी हितसुख से युक्त हों।

इस धर्मदान से इस लोक में सुख और परलोक में अनंत पुण्य उत्पन्न होता है (शि० ले० ११)। इसलोक के जीवन में अभ्युदय और परलोक के जीवन में उच्चगति; इन दोनों पर अशोक के धर्म में समान बल दिया गया है। उस समय की जनता में धर्म पर पक्का विश्वास था। उसीकी झलक हमें अशोक के इस वाक्य में मिलती है। इससे बढ़कर और कौन-सा कर्तव्य है जैसी कि स्वर्ग की आराधना।*

इस प्रकार इसलोक और परलोक दोनों को सुधारने का आदर्श सामने रखते हुए शिलालेख दस में उसने अपनी आंतरिक भावना के अनुसार पारलौकिक कल्याण का भी स्पष्टीकरण कर दिया है। वह कहता है कि मेरा जो कुछ पराक्रम है वह परलोक के लिये है, और इस वास्ते है कि सब लोग पाप के बंधन से छूट जाएँ। भाँति-भाँति का अपुण्य ही घोर बंधन है। जहाँ बंधन कम हैं ऐसे स्वर्ग की प्राप्ति छोटे और बड़े दोनों के लिये अग्रपराक्रम के बिना बहुत कठिन है। उन दोनों में भी जो बड़े लोग हैं, उनके लिये तो महा कठिन है।' लघुशिलालेख १ में वह विशेष रूप से पुनः इसी भाव को दोहराता है कि विपुल स्वर्ग की आराधना में छोटे और बड़े का भेद नहीं है, छोटा व्यक्ति अवश्य उसमें भाग पा सकता है।

अशोक ने व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में शील और सदाचार के रूप में धर्म की नई व्याख्या करके प्रजाओं का बहुत कल्याण किया। उसने लोगों को आध्यात्मिक चक्षुदान दिया। उसके अपने शब्दों में 'लोककल्याण दुष्कर है। जो कल्याण का कार्य सब से पहले करता है वह दुष्कर कार्य करता है' (शि० ले० ५)। अशोक समस्त राजकीय परंपरा में लोककल्याण के सच्चे आदि कर्ता थे।

---

* कि च इमिना कतव्यतरं यथा स्वगारधि। (गिरनार शि० ले० ९)।

काशी की प्राचीन शिक्षापद्धति और पंडित

मोतीचंद

आधुनिक और मुगलकालीन अनुश्रुतियों के आधार पर हमारा विश्वास रहा है कि काशी जनपद और विशेषकर उसकी राजधानी वाराणसी बहुत प्राचीनकाल से ही शिक्षा और भारतीय संस्कृति का प्रसिद्ध केंद्र रही है। काशी की प्राचीनता कितनी है, यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, पर इसमें संदेह नहीं है कि अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा को काश्यों का बोध था।[1] शतपथ ब्राह्मण और उपनिषदों में तो काशी के कई उल्लेख हैं। पुराणों में भी काशी संबंधी अनेक अनुश्रुतियाँ सुरक्षित हैं। पर काशी जनपद और उसकी राजधानी वाराणसी का राजनीतिक और सामाजिक चित्र सब से पहले हमें जातकों से मिलता है। काशी जातक-युग में भारतवर्ष की शायद सबसे बड़ी नगरी थी। जातकों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि आज की तरह अढ़ाई हजार वर्ष पहले भी काशी के लोग अपनी स्वतंत्र विचारधारा, अक्खड़पन और व्यापार के लिये प्रसिद्ध थे। काशी का चंदन, वस्त्र, हाथीदाँत के सामान इत्यादि देशभर में प्रसिद्ध थे। यहाँ के काफले देश के कोने-कोने में तो जाते ही थे, कभी-कभी काशी के व्यापारियों के जहाज समुद्र का चक्कर भी व्यापार के लिए लगाया करते थे। पर इतना सब होते हुए भी जातकों में इस बात के बहुत कम उल्लेख हैं कि काशी महाजनपद-युग में भी शिक्षा का केंद्र था। प्रायः सब जातक एकमत हैं कि महाजनपद-युग में तक्षशिला ही भारतवर्ष का प्रसिद्ध शिक्षाकेंद्र था और यहीं उत्तर भारत के प्रायः हर भाग से उच्चवर्ण के विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने आते थे। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, केवल थोड़े ही जातक ऐसे हैं जिन्होंने काशी को महाजनपद-युग का एक शिक्षा-केंद्र माना है। अब स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में प्राचीन काल में काशी केवल एक व्यापारिक नगरी थी और उसकी शिक्षा संबंधी महत्ता बाद में बढ़ी। ध्यानपूर्वक ब्राह्मण और बौद्ध साहित्यों का अध्ययन करनेपर हमें पता चलता है कि काशी की धार्मिक और शैक्षिक महत्ता का ब्राह्मण ग्रंथों में उल्लेख न होने का प्रधान कारण यह है कि काशी अपनी स्वतंत्र विचारधारा के लिये वैदिक युग में प्रसिद्ध थी और यही कारण था कि वहाँ की शिक्षा-परंपरा को संदेह की दृष्टि से देखते हुए कुरु-पंचाल देश के ब्राह्मणों ने न तो उसे माना ही और न उसे अपने ग्रंथों में प्रधानता ही दी। फिर भी ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक उद्धरण ऐसे हैं जिनसे पता चलता है कि प्राचीनकाल में भी काशी तत्वज्ञान-शिक्षा का प्रधान केंद्र थी।

१. अथर्ववेद ५।२२।१४.

हम ऊपर कह आये हैं कि शुद्ध वैदिक आर्यों को काशी के लोग विशेष प्रिय नहीं थे। सर्व-प्रथम काशी की याद अथर्ववेद की पैप्पलादशाखा में किया गया है और वह भी विचित्र तरह से। एक मंत्रकार रोगी के लिये तक्मा अर्थात् जूड़ी से प्रार्थना करता है कि वह उसे छोड़कर गंधार, काशी और मगध के लोगों पर अपना अधिकार फैलावे। इसके माने तो यही होते हैं कि गंधार, मगध और काशी के लोगों से कुरु-पंचाल देश के ठेठ वैदिक आर्य अप्रसन्न थे और उनकी अवनति देखना चाहते थे। इस शत्रुता का कारण काशी की धार्मिक शिथिलता हो सकती है। शतपथ ब्राह्मण[1] में भी इस बात का उल्लेख है कि शतानीक सात्राजित द्वारा काशिराज धृतराष्ट्र के हराए जानेपर काशी-वासियों ने अग्निहोत्र छोड़ दिया। इस घटना से भी काशीवासियों की वैदिक क्रियाओं की ओर अवहेलना प्रकट होती है। मनुस्मृति में भी काशी को कोई विशेष स्थान नहीं मिला है। पर जैसा दूसरे वैदिक उल्लेखों से पता चलता है, काशी उपनिषद और सूत्रकाल में तत्वज्ञान का एक प्रसिद्ध केंद्र थी, इसी कारण से काश्यों और विदेहों का बड़ा घनिष्ट संबंध था। इन दोनों के पारस्परिक संबंध में हम न केवल भौगोलिक सानिध्य का ही दर्शन करते हैं; बल्कि उस सांस्कृतिक विचारधारा की भी एकता पाते हैं जिसने विदेह को उपनिषद्-युग में भारतीय तत्वज्ञान का प्रसिद्ध क्षेत्र बनाया। बृहदारण्यक उपनिषद्[2] के एक उद्धरण से तो ऐसा पता लगता है कि जैसे काशी के राजा अजातशत्रु का विदेह पर भी अधिकार रहा हो। उपनिषदों[3] के अनुसार काशीराज अजातशत्रु स्वयं तत्वज्ञानी थे जैसा ब्राह्मण बलाकी के साथ उनके संवाद से पता चलता है। इसमें संदेह नहीं कि विदेहराज जनक की राजधानी मिथिला की तरह उन्होंने भी काशी को तत्वज्ञान का एक प्रसिद्ध केंद्र बनाने का प्रयत्न किया।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं महाजनपद-युग में तक्षशिला शिक्षा का प्रसिद्ध केंद्र था। लगता ऐसा है कि बनारस को शिक्षा-केंद्र बनाने का श्रेय तक्षशिला के उन भूतपूर्व विद्यार्थियों को था जिन्होंने बनारस में आकर लोगों की शिक्षा का काम अपने हाथों में लिया।[4] खुद्दक अट्ठ कथा (पृ० १९८) में तो यहाँ तक कहा गया है कि बनारस की कुछ शिक्षा-संस्थाएँ तक्षशिला की शिक्षा संस्थाओं से भी प्राचीन थीं। धम्मपद अट्ठकथा[5] में भी इस बात का उल्लेख है कि बनारस शिक्षा के क्षेत्र में इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि तक्षशिला के शंख नामक एक ब्राह्मण ने अपने पुत्र सुसीम को बनारस शिक्षा-प्राप्ति के लिये भेजा। कुछ दिनों बाद तो बनारस में भी संसार-प्रसिद्ध आचार्य होने लगे जिनका काम विद्यार्थियों को शिक्षा देना था[6]। बनारस के लोगों का भी शिक्षा के प्रति इतना अनुराग था कि भोजन की व्यवस्था करके वे गरीब विद्यार्थियों को शिक्षा दिलवाते थे।[7]

---

१. शतपथ, १३।५।४।१९
२. बृहदारण्यक उ०, ३।८।२
३. वही, २।१।१; ३।८।३; कौषीतकी उ० ४।१
४. जा० १,४६३; २,१००
५. धम्मपद अ० ३,४४५
६. जा० १,२३८; ३,१८,२३३; ४,२३१
७. जा० १,१०९

आजदिन भी बनारस में अनेक अन्नसत्र हैं और विद्यार्थियों की हर तरह से मदद करना काशीवासी अपना धर्म मानते हैं। गुट्टिलजातक में कहा गया है कि बनारस संगीत विद्या का केन्द्र था और यहाँ कभी-कभी वीणावादन की प्रतियोगिता भी होती थी।[1]

इस बात का तो ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि महाजनपद-युग में बनारस की पाठशालाओं और आश्रमों का क्या पाठयक्रम था; पर बनारस और तक्षशिला के शिक्षाक्रम में सादृश्य होने से हम इसके बारे में कुछ अंदाज लगा सकते हैं। प्रारंभिक शिक्षा समाप्त कर के सोलह वर्ष की अवस्था में विद्यार्थी उच्चशिक्षा के लिये गुरुओं के पास जाते थे। उन्हें आचार्यों की दक्षिणा अग्रिम रूप में देनी पड़ती थी। दक्षिणा न दे सकनेपर भी गुरू की सेवा करके विद्यार्थी पढ़ सकता था ऐसे शिष्य दिन में तो गुरु की सेवा करते थे और रात में पढ़ते थे। दक्षिणा देकर पढ़नेवालों को आचारिय भागदायक और सेवा करके पढ़नेवाले विद्यार्थियों को धर्मंतेवासिक कहते थे। विद्यार्थी पढ़ाई समाप्त करने के बाद भी दक्षिणा दे सकते थे। आचार्यों और विद्यार्थियों को बहुधा लोग भोजन करा देते थे और दान-दक्षिणा भी देते थे। राजकुमारों के साथियों को भेजने का भार उनको भेजनेवाले राज्य उठाते थे। अंतेवासी प्रायः आचार्यों के पास दिन-रात रहते थे, पर दिन में भी विद्यार्थी आकर शिक्षाग्रहण कर सकते थे। ऐसे विद्यार्थियों में बहुधा गृहस्थ और विवाहित पुरुष होते थे। आचार्यों के पास विद्यार्थियों की संख्या सर्वदा पाँच सौ दी गई है, पर यह संख्या गोल-सी मालुम होती है। विद्यार्थियों में अधिकतर ब्राह्मण और क्षत्रिय होते थे, पर इनमें थोड़े से श्रेष्ठियों और राजपुरुषों के लड़के भी होते थे। शूद्रों और अछूतों का इन शिक्षालयों में प्रवेश नहीं था।[2] अपने शिक्षाकाल में विद्यार्थी सादा जीवन बिताते थे और उनकी दिनचर्य्या पर उनके आचार्य कड़ी नजर रखते थे। यहाँ तक कि बिना आचार्य के साथ वे नदी पर भी नहाने नहीं जा सकते थे। विद्यार्थियों का कर्तव्य था कि वे आश्रम के लिये जंगल से लकड़ियाँ इकट्ठा करें और हर प्रकार गुरु की सेवा करें। उनके भोजन में दलिया और भात होते थे, जिन्हें आचार्य की एक दासी पका देती थी। विद्यार्थियों की संख्या काफी होने से आचार्यों को सहकारी अध्यापकों की; जिन्हें पिठ्ठ आचार्य कहते थे आवश्यकता पड़ती थी। ऊँचे दरजे के विद्यार्थी भी पढ़ाने का काम करते थे।

अध्ययन का काम प्रातःकाल से आरंभ होता था। विद्यार्थियों को नींद से जगाने के लिये आश्रम में एक मुरगा रखा जाता था। प्राचीन पाठ को दुहराने के लिये और एकांत में अध्ययन करने के लिये भी कुछ समय नियुक्त था। पढ़ने का काम दोपहर तक समाप्त हो जाता था। पढ़ाई मौखिक और पुस्तकों द्वारा होती थी।

पाठयक्रम में तीन वेदों और अठारह शिल्पों का विशेष स्थान था। बारबार तीन वेदों के नाम आने से पता चलता है कि अथर्व वेद का पाठयक्रम में कोई स्थान नहीं था। हस्तिसूत्र, मंत्र, लुब्धक कर्म, धनुर्विद्या और चिकित्सा शास्त्र पाठयक्रम में थे। इन शास्त्रों को पढ़कर विशेष कर चिकित्साशास्त्र पढ़ने के बाद विद्यार्थी स्वयं घूमकर अनुभव प्राप्त करते थे।

---

१. जा० २,५,२४८ से

२. रतिलाल मेहता प्री बुधिस्ट इंडिया पृ० ३००

इन शिक्षालयों के सिवा वनों में ऋषि-मुनियों के आश्रम में भी दर्शन और धर्मशास्त्र का अध्यापन होता था। ये आश्रम हिमालय में तथा बस्तियों के पास भी होते थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध दार्शनिक श्वेतकेतु पहले बनारस में विद्यार्थी थे वहाँ अपनी शिक्षा समाप्त कर तक्षशिला गए और वहाँ की भी शिक्षा समाप्तकर वे घूम-घूमकर सब विषयों और कलाओं का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते रहे। अंत में उनकी भेंट पाँच सौ परिव्राजकों से हुई और उन्होंने इन्हें दीक्षित कर सब विद्या पढ़ाई और व्यावहारिक ज्ञान का अनुभव कराया[1]।

भगवान बुद्ध के समय में भी बनारस शिक्षा का एक प्रसिद्ध केंद्र था। उनका उरुवेला से से इसिपतन आना ही इस बात का द्योतक है कि बनारस उस समय शिक्षा और धार्मिक स्वतंत्रता के लिये प्रसिद्ध था। बुद्ध, जैसा कि पालि साहित्य से पता लगता है, बनारस में कई बार ठहरे और यहाँ उन्होंने बहुत से सूत्रों का प्रवचन किया। लगता है, इस संघ के कुछ प्रधान भिक्षु भी समय-समय पर इसिपतन में रहा करते थे। यहाँ रहते हुए सारिपुत्त और महाकोट्ठिक के वार्तालापों का बौद्ध-साहित्य में कई जगह वर्णन है[2]। एक जगह महाकोट्ठिक और चित्तहत्थि सारिपुत्र की भी बातचीत का जिक्र आया है। विनय[3] से पता लगता है कि सारिपुत्र और महाकोट्ठिक के सिवाय महामोग्गलायन्, महाकच्चान्, महाचुंद, अनिरुद्ध, रेवन उपालि, आनंद और राहुल भी बराबर काशी प्रदेश में आतेजाते रहते थे। इस तरह कुछ दिनों में बनारस बौद्ध-शिक्षा और धर्म का भी प्रधान केंद्र बन गया। अशोक के समय में तो वहाँ बौद्ध संघों की भी नींव पड़ गई और इनमें बौद्ध-पिटक साहित्य की शिक्षा का प्रबंध रहने लगा।

३२१ ई० पूर्व नंदों के हाथों से मगध का साम्राज्य मौर्यों के हाथों में चला गया। चंद्रगुप्त मौर्य ने उत्तर भारत में मौर्य साम्राज्य की स्थापना की और विष्णुगुप्त चाणक्य ने उस दृढ़ राज्यसत्ता की नींव डाली जिसका वर्णन हम कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाते हैं। अशोक (२७२ से २३२) मौर्यवंश के सब से बड़े राजा हुए। इन्होंने स्वयं बौद्धधर्म ग्रहण किया और इनके प्रयत्नों से इस धर्म का केवल भारतवर्ष में ही नहीं इसके बाहर भी प्रचार हुआ। अशोक के बाद क्रमशः मौर्य साम्राज्य की अवनति होती गयी और उसके अंतिम राजा बृहद्रथ को मारकर १८४ ई० पू० में पुष्यमित्र ने अपना मगध में राज्य स्थिर किया। इसी काल में डिमिट्रियस की अधीनता में यूनानियनों ने मगध पर आक्रमण किया और जैसा राजघाट से मिली कुछ मुद्राओं से पता लगता है, यह आक्रमण बनारस होकर हुआ। पुष्यमित्र शुंग के बाद बनारस के इतिहास पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, पर लगता ऐसा है कि काशी से शुंगों का काफी संबंध था। भागभद्र, (करीब ९० ई० पू०) जिनके पास तक्षशिला के राजा अंतकिलदास ने अपने दूत हेलियेजोरस को भेजा, लगता है, काशी से संबंध रखते थे, क्योंकि इनकी माता काशी की राजकुमारी थीं। शुंगों के बाद काशी पर कौशांबी के स्थानिक राजाओं का शासन रहा।

---

१. मेहता, वही. पृष्ठ ३०५.

२. संयुक्त निकाया २ पृ० १२ से; ३,१६८; ४; १६२, ३८४ इत्यादि

३. विनय भा० २ पृ० ३५९–३६०

इस युग में बनारस की शिक्षा की क्या अवस्था थी इसपर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। पर ऐसा लगता है कि यहाँ श्रमण और ब्राह्मण दोनों ही की शिक्षा-दीक्षा का अच्छा प्रबंध था। पुष्यमित्र शुंग बौद्धधर्म के द्रोही माने गए हैं, पर शुंगयुग के सारनाथ से मिले हुए अवशेषों से पता लगता है कि बनारस में बौद्ध धर्म का काफी प्रचार था। इस युग में बनारस की कला ने भी काफी उन्नति की और यहाँ एक विशेष शैली की नींव पड़ी।

शक सातवाहन युग के बनारस के इतिहास के बारे में हमें विशेष पता नहीं है, पर अंदाज से यह कहा जा सकता है कि इस युग में भी बनारस कौशांबी के अंतर्गत रहा। ईसा की पहिली शताब्दी में बनारस पर कौशांबी के राजा अश्वघोष राज्य करते थे। कनिष्क के लेखों से पता लगता है कि ८१ ई० सन् के पहिले उसका अधिकार बनारस पर जम चुका था। पर ऐसा लगता है कि कनिष्क के बाद बनारस पर से कुषाणों का राज्य उठ गया और पुनः यहाँ कौशांबी के स्थानीय शासक राज्य करने लगे और यही सिलसिला गुप्तों के अभ्युदय के पहले तक चलता रहा।

इस युग में बनारस में बौद्धधर्म का बोल बाला था। सारनाथ और राजघाट से मिली मूर्तियों से पता लगता है कि बनारस उस समय बौद्धधर्म का एक प्रधान केंद्र था। भिक्षु बल द्वारा ८१ ई० में स्थापित बुद्ध मूर्ति[1] से यह पता चलता है कि बौद्धसंघ उस समय मथुरा और काशी में काफी उन्नत हो चुका था और उन दोनों जगहों में बौद्ध त्रिपिटक का खूब पठन-पाठन होता था। भिक्षुबल स्वयं त्रिपिटज्ञ थे और भिक्षुणी बुद्धिमित्रा भी त्रिपिटक ज्ञाता थीं। लेख से पता लगता है कि सारनाथ के विहार में उपाध्याय, आचार्य और अंतेवासी बौद्धधर्म के पठन-पाठन में रत रहते थे। बौद्ध ग्रंथों की शिक्षा का प्रचार किन-किन विहारों में होता था इसका तो ठीक पता नहीं है, लेकिन राजघाट में मिली एक कुषाण मुद्रा से पता चलता है कि उस युग में बनारस के प्रसिद्ध विहारों में भिषक्‌विहार एक था।

सारनाथ में मिले एक पत्थर की छतरी के टुकड़े पर भगवान बुद्ध द्वारा धर्मचक्र प्रवर्तन के समय के उपदेश उत्कीर्ण हैं, जिसमें बौद्धधर्म के चारों आर्य सत्य आ गए हैं। डा० स्टेनकोनो का मत है कि उत्तर भारत में पालि भाषा का यह अकेला लेख है और इससे पता लगता है कि पालि-त्रिपिटक का वास्तव में अस्तित्व था और बनारस में लोग उसे जानते और पढ़ते थे।[2]

करीब २७५ ई० के बनारस में कौशांबी के राजन्यव का शासन था और शायद इनके ही वंशधरों के समय में बनारस में शैवधर्म का विकास हुआ। लगता है, कौशांबी के साथ-साथ बनारस पर भी चंद्रगुप्त प्रथम का अधिकार हो गया और इसके बाद बनारस बराबर गुप्त साम्राज्य में बना रहा और गुप्त साम्राज्य के अंतिम राजा वज्र के समय तक काशी गुप्तों के ही वश में थी। गुप्तयुग की बहुत-सी मिट्टी की मुद्रायें राजघाट की खुदाई में मिलीं हैं जिनसे गुप्तकालीन बनारस के सामाजिक, धार्मिक और व्यापारिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इन मुद्राओं के आधार

---

१. एपीग्रैफिया इंडिका भा० ८ पृ० १७६

२. कैटलौग आफ दी म्यूजियम आफ आर्कयोलौजी सारनाथ, पृ० २३०

पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बनारस गुप्तयुग में शैवधर्म का प्रधान केंद्र बन चुका था और भागवतधर्म का भी यहाँ काफी प्रचार था। बनारस के प्रधान शिवलिंग अविमुक्तेश्वर की लोग पूजा अर्चना करते थे। इस प्रधान शैव-मंदिर के सिवाय भी बनारस में अनेक शैवमंदिर थे। जिसमें से कुछ में वैदिक शिक्षा का भी प्रबंध था। चातुर्विध लखराती गुप्तकालीन मुद्रा से पता लगता है कि गुप्तयुग में बनारस में चारों वेद पढ़ाने के लिये कोई पाठशाला थी। यह भी संभव है कि इस पाठशाला में चारों विद्याएँ यथा आन्वीक्षिकी, त्रयीवार्ता, दण्डनीति और शाश्वती पढ़ाई जाती रहीं हों। बह्वृच चरण के लेख वाली मुद्राओं से पता लगता है कि गुप्तयुग में बनारस में ऋग्वेद के पढ़ाने के लिये भी एक पाठशाला थी। इन मुद्राओं पर पाठशाला का सुंदर लांछन भी दिया गया है। इस पर बने एक आश्रम में एक जटाजूटधारी अध्यापक अपनी दोनों ओर एक दंड-धारी शिष्य के साथ खड़े दिखलाये गये हैं। अध्यापक के बाएँ हाथ में एक करवा है। जिससे वे बाईं ओर एक वृक्ष पर पानी डाल रहे हैं। आश्रम का अंकन दो वृक्षों द्वारा हुआ है ऐसा पता लगता है कि बनारस में प्रत्येक मंदिर के साथ आश्रम अथवा पाठशालाएँ होती थीं।

गुप्तयुग की कुछ बनारस की पाठशालाओं में सामवेद पढ़ाने की व्यवस्था भी थी। इस पाठशाला की मुद्राओं पर छांदोग्य लेख आता है। शायद इस पाठशाला का लांछन वृषभ था। इलाहाबाद म्यूजियम की तीन मुद्राओं के पट पर भी छापे हैं एक के पटछाप पर छांदोग्य की पुनरुक्ति है। दूसरे पर पालसेन का नाम है, तीसरी मुद्रा के पट पर दो छापे हैं एक में चक्र और दो छोटे शंख अंकित हैं और दूसरे में छरहरे बदन का एक लंबा आदमी। कलाभवन बनारस की छांदोग्य वाली तीन मुद्राओं के पटों पर योगेश्वर स्वामी के लेख हैं तथा अर्धचंद्र, अक्षसूत्र, अमृतघट तथा दंड अंकित हैं। इन मुद्राओं के आधार पर हम इन नतीजों पर पहुँच सकते हैं, बनारस में योगेश्वर के मंदिर के साथ-साथ सामवेद की एक पाठशाला थी; कुछ वैष्णव लक्षणों के आने से शायद यह भी कहा जा सकता है कि इस पाठशाला के कुछ आध्यापक वैष्णव थे।

श्री सर्वत्रै विद्यस्य वाले लेख की मुद्राओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बनारस में शायद त्रैविध नाम के किसी शिव मंदिर के साथ तीनों वेदों के पढ़ाने का प्रबंध था।

गुप्तों के बनारस से हट जाने पर लगता है यहाँ कुछ दिनों तक मागध गुप्त राज्य करते रहे। इनकी मौखरियों से शत्रुता थी। इस वंश के कुमारगुप्त ने करीब ५६० ई० के लगभग ईशानवर्मा से बनारस सहित प्रयाग को जीत लिया पर मागध गुप्तों की यह विजय क्षणिक ही रही और बनारस पुनः मौखरियों के अधीन हो गया। मौखरियों के अंत होने पर बनारस, लगता है हर्ष के साम्राज्य के अंतर्गत हो गया; पर हर्ष के बाद बनारस पुनः मागध गुप्तों के अधीन हो गया।

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन से हम देख सकते हैं कि बनारस में अनेक राजनीतिक परि-वर्तन हुए पर जहाँ तक राजनीतिक और धार्मिक अवस्था का सवाल है बनारस अपनी पुरानी परंपरा पर डटा रहा। युवान च्यांग के यात्रा-विवरण से पता लगता है कि बनारस शहर में बौद्ध-धर्म का बहुत कम प्रभाव था और यहाँ के निवासी शिवपूजक थे। शहर में सौ देवमंदिर थे और यहाँ अनेक साधु-सन्यासी तपश्चर्या में निरत रहकर मुक्ति की कामना करते रहते थे। यहाँ के

धनी नागरिकों का शिक्षा के प्रति बड़ा अनुराग था। देवमंदिरों से सटे आश्रम होते थे और लगता है, यहीं बालकों की शिक्षा का प्रबंध था[1]।

आठवीं सदी के मध्य में बनारस कन्नौज के राजा यशोवर्मा के अधिकार में आया, पर उनकी यह विजय क्षणिक रही और उन्हें कश्मीर के ललितादित्य मुक्तापीड़ के हाथों बुरी तरह हारना पड़ा। इस घटनाके बाद पालवंश के राजा धर्मपाल (७५२–७९४) का बनारस पर अधिकार हुआ। धर्मपाल के पुत्र देवपाल के हाथों से बनारस निकल कर ८५० ई० के लगभग प्रतिहारों के अधिकार में चला गया और दसवीं सदी के अंत तक उन्हीं के अधीन रहा। इसके बाद ग्यारहवीं सदी के प्रथम चरण में काशी पर गांगेयदेव कलचूरी का अधिकार हो गया। इन्हीं के राज्य में १०३३ में अहमद नियालतिगिन ने बनारस लूटा। गांगेयदेव के बाद उनके पुत्र कर्ण के अधिकार में भी बनारस बना रहा। कर्ण, लगता है, विद्वानों का बड़ा आदर करते थे। विक्रमांकदेव चरित के रचयिता प्रसिद्ध कश्मीरी कवि बिल्हण की कर्ण से बनारस में ही भेंट हुई।

आठवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक के बनारस के इतिहास से पता चलता है कि इन तीन सौ वर्षों में बनारस के धार्मिक और सामाजिक अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पहले की ही तरह शैवधर्म का बनारस में बोल बाला रहा तथा और भी हिंदू देवी-देवताओं की पूजा का यहाँ प्रचार बढ़ा। बौद्ध धर्म भी काशी में बना रहा। पर इस युग में वह पूरा वज्रयानी हो गया था। जो भी हो गुप्तयुग की तरह इस युग में भी बनारस शिक्षा का प्रधान केंद्र था। बनारस के मिले पंथ[2] के लेख से पता चलता है कि बाराणसी में दूर-दूर से आये विरक्त जनम-मरण से छुटकारा पाने के लिए तप करते थे और विद्या, वेदार्थ, व्रत, जप, नियम का ज्ञान प्राप्त करते थे। अलवेरुनी के तारीख हिंद[3] से भी हमें पता चलता है कि दसवीं सदी में बनारस सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारत का सब से बड़ा नगर था। महमूद गजनवी के आक्रमणों से तो बनारस की महत्ता इसलिये और बढ़ गई कि सारे उत्तर भारत से प्राचीन भारतीय संस्कृति के रक्षक और परिवर्धक पंडित भाग-भाग कर बनारस में बस गये। गाहड़वाल युग में बनारस में जो संस्कृत शिक्षा को अधिक प्रगति मिली, उसका मुख्य कारण यहाँ भारतवर्ष के अन्य भागों से आकर पंडितों का बसना हो सकता है। अलवेरुनी से हमें यह भी पता लगता है कि १०वीं सदी में बनारस स्मृतियों के पठन-पाठन के लिये विख्यात था।

कलचूरी कर्ण की मृत्यु के बाद ही गंगा यमुना के दोआब में गाहड़वालों का उदय हुआ उत्तर भारत में गाहड़वाल मुसलमानी धावे से हिंदू-संस्कृति के प्रधान संरक्षक कहे जाएँ तो अत्युक्ति न होगी। महमूद गजनवी के धावों ने उत्तरी भारत की राजनैतिक और सांस्कृतिक भित्तियों को जड़ से हिला दिया था। इन हमलों के प्रभाव का वर्णन करता हुआ अलवेरुनी लिखता है "महमूद ने देश की विभूति पूर्ण रूप से नष्ट कर दी और वहाँ उसने वीरता के ऐसे कारनामें दिखलाये कि हिंदू धूल के कणों की तरह चारों ओर बिखर गये और एक प्राचीन कथा की तरह लोगों की जुबानों पर

१. वाटर्स, युवान च्वाङ, भा० २, पृ.४६–४७

२. एपि० इंडिका, भा. ९,पृ.५९ से

३. सचाऊ, अलवेरुनीज इंडिया, भा० १,पृ.२२

ही बन गये। उनमें से बचे बचाये लोग मुसलमानों को बड़ी ही घृणा से देखते हैं। यही कारण है कि हिंदू ज्ञान-विज्ञान हमारे विजित इलाकों से बहुत दूर हटकर कश्मीर और बनारस पहुँच गये हैं; जहाँ हमारा हाथ अभी तक नहीं पहुँच सका है। वहाँ शरणार्थियों और मुसलमानों की शत्रुता को राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों से अधिक प्रोत्साहन मिलता है'[1]। जयचंद्र के पहले तक के गाहड़वाल ताम्रपत्रों से हमें पता लगता है कि वे मुसलमानी आक्रमण से देश की रक्षा के लिये सतत प्रयत्न-शील रहे। उनके द्वारा अनेक पंडितों और ब्राह्मणों को भूमिदान देने से भी यह पता चलता है कि वे हिंदू-संस्कृति की रक्षा के लिये बनारस में पंडितों के बसाने में बराबर तत्पर रहे। इतना ही नहीं उन्होंने अपने राज्य में थोड़े-बहुत बसे हुए मुसलमानों पर तुरुष्क दंड लगाकर हिंदुओं पर जजिया लगाने का भी प्रत्युत्तर दिया। आपदकाल से बचने के लिये उन्होंने पौराणिक धर्म, दान-दक्षिणा, व्रत-होम की व्यवस्था की और मंदिर और घाट बनवाए, पर जीर्ण-शीर्ण मध्यकालीन हिंदू-संस्कृति उनके इन सब प्रयत्नों से भी न बच सकी और अंत में उन्हें मुसलमानों के पदाक्रांत होना ही पड़ा।

इस अराजकता के युग में मध्यदेश में गाहड़वाल-वंश में चंद्रदेव नामक एक वीर उत्पन्न हुआ जिसने अपनी वीरता और प्रताप से प्रजोपद्रव शांत कर दिया—"येनोदारतरप्रताप शमिताशेषप्रजोपद्रवा"[2]। चंद्रदेव ने बनारस को अपनी राजधानी बनाई और इस तरह १७०० वर्षों के बाद काशि-जनपद पुनः राजनीतिक केंद्र बन बैठा। चंद्रदेव का राज्य प्राय: पूरे युक्तप्रांत पर था। चंद्रदेव के बाद ११०० और ११०४ के बीच उनके पुत्र मदनपाल गद्दी पर बैठे और १११४ के पहले तक राज्य करते रहे। इनके राज्यकाल ही में राज्यसत्ता इनके पुत्र गोविंदचंद्र के हाथ में थी। मदनपाल के राज्यकाल ही में गोविंदचंद्र को मुसलमानों का सामना करना पड़ा और उन्होंने 'हम्मीर' को बराबर मात दी। अपने पिता की मृत्यु के बाद ११०९ और १११४ के बीच गोविंदचंद्र गद्दी पर बैठे। लगता है, अब तक मुसलमानों का धावा रुका नहीं था और जैसा कि कुमारदेवी के सारनाथ वाले लेख से पता चलता है; एक समय तो बनारस तक उनके झपेटे में आ गया था, पर गोविंदचंद्र की वीरता ने न केवल बनारस की ही रक्षा की साथ ही साथ सालारमासूद गाजी को भी इनके हाथ बहराइच के पास अपनी जान गवाँनी पड़ी। गोविंदचंद्र ने अपने विजय-पराक्रम से कलचूरियों को भी जीता। उनका गुजरात और कश्मीर के साथ भी सांस्कृतिक संबंध था। श्रीकंठचरित[3] में इस बात का उल्लेख है कि गोविंदचंद्र ने सुहल नामक एक पंडित को अलंकार द्वारा नियोजित एक कश्मीरी पंडितों और राज-कर्मचारियों की सभा में भेजा। गोविंदचंद्र केवल पराक्रम-शील राजा ही नहीं थे, विद्या के प्रति भी उनका अतीव अनुराग था। उनके प्रसिद्ध विद्वान् मंत्री भट्ट लक्ष्मीधर अपने कृत्यकल्पतरु में[4] कहते हैं कि वे ज्ञान और पराक्रम दोनों के ही घर थे (एक-ज्ञान पराक्रमैकवसतिः)। गोविंदचंद्र के संधि-विग्रहिक भट्ट लक्ष्मीधर अपने समय के प्रसिद्ध पंडित थे। वे स्मृतियों, पुराणों, वेदों और मीमांसा में निष्णात् थे, दर्शन और शास्त्रों के अपार ज्ञान से

---

१. वही,

२. इंडियन एंटि० मा० १८, ५.१६,१८, पं० ४

३. श्री कंठचरित, २५।०

४. कृत्यकल्पतरु, मा० १, १८, श्लो० ६, के वी० रंगस्वामी द्वारा संपादित, बड़ौदा, १९४१

उन्हें शास्त्रों की विवेचना करने की अपूर्व क्षमता मिली थी और राजनीति के कुशल पंडित वे थे ही[1]। भट्ट लक्ष्मीधर की शिक्षा कहाँ हुई थी और वे रहने वाले कहाँ के थे इसका तो ठीक-ठीक पता नहीं चलता, पर ऐसा लगता है कि बनारस में ही उनकी शिक्षा हुई होगी क्योंकि महमूद गजनवी के आक्रमण के बाद उत्तर भारत में केवल बनारस ही ऐसा क्षेत्र बच गया था; जहाँ शास्त्रों की शिक्षा का पूरा प्रबंध था।

गोविंदचंद्र का राज्यकाल ११५४ में समाप्त हो गया और उनके पुत्र विजयचंद्र गद्दी पर बैठे। इन्हें भी किसी मुसलमानी धावे का सामना करना पड़ा। विजयचंद्रके बाद उनके पुत्र जयचंद्र ११७० में गद्दी पर आये। जयचंद्र की कहानी भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों को विदित है। पृथ्वीराज और जयचंद्र की शत्रुता ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कहाँ तक ठीक है यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इतना तो निश्चित है कि जयचंद्र पृथ्वीराज से द्वेष करते थे और मुहम्मद गोरी द्वारा दिल्ली जीत लिए जाने पर भी उन्होंने आने वाले संकट को नहीं पहचाना, जिसका नतीजा यह हुआ कि चंदावर की रणभूमि में उन्हें अपनी जान खोनी पड़ी और ११९४ में बनारस भी कुतुबुद्दीन ऐबक के हाथों लगा। वहाँ के प्राचीन मंदिर ढहा दिए गए। बनारस के पंडितों पर क्या बीती यह तो नहीं कहा जा सकता, पर इसमें संदेह नहीं कि मुसलमानों के आने से बनारस की संस्कृति और शिक्षा को गहरा धक्का लगा, जिससे सँभलने के लिये उसे कई सौ बरस लग गए।

जैसा हम ऊपर संकेत कर आए हैं, गाहड़वाल युग में बनारस उत्तर भारत में शिक्षा का प्रधान केंद्र था। अभाग्यवश गाहड़वाल युग के लेखों से बनारस के शिक्षाक्रम पर बहुत कम प्रकाश पड़ता है। लेखों में विद्यार्थियों का कहीं उल्लेख नहीं है, पर कुछ ऐसा लगता है कि ब्राह्मणों को बहुत से गाँव दान देने से गाहड़वाल राजाओं का मतलब शिक्षा को प्रोत्साहन देना था। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, बनारस के उपाध्याय न केवल छात्रों को पढ़ाते ही थे; उन्हें उनके रहने और खाने-पीने का भी प्रबंध करना पड़ता था, और यह तभी संभव था जब गुरुओं के पास किसी तरह का आर्थिक संबल हो। लगता है, गाहड़वालयुग में उपाध्याय राज्यदत्त भूमिकर और दान-दक्षिणा से प्राप्त द्रव्य से अपना और छात्रों का काम चलाते थे। चंद्रदेव के एक लेख[2] से पता चलता है कि भूमिदान पाने वाले ब्राह्मणों में बहुधा विद्वान् ब्राह्मण भी होते थे। लेख में जाट (नं० २) नामक एक ब्राह्मण को ऋग्वेदचरणे चतुर्वेदिन् कहा गया है, थील्ह (न० १२६) यजुर्वेद चरणे चतुर्वेदिन् थे, छीहिल (२२२) अथर्ववेद चरणे द्विवेदिन् थे, और देदिग श्रीछान्दोग्य चरणे त्रिपाठिन् थे। इससे पता लगता है कि बनारस में चारों वेदों के पढ़ने-पढ़ानेवाले पंडित थे। विधिकरण गंगाधर (न. ४६८) के नाम से पता चलता है कि वैदिक कर्म कांड को पढ़ने-पढ़ाने का भी काशी में प्रचार था।

अलबेरुनी के अनुसार बनारस की पाठशालाओं में और पंडितों में सिद्धमातृका अक्षर चलते थे। कुछ दिनों पहले तक बनारस के विद्यार्थी आनामासीधं कह के पाठ प्रारंभ करते थे। यह आनामासीधं केवल ओं नमः सिद्धम् की ही दुर्गति है।

---

१. वही, ५९–१५

२. एपि० इंडिका, भा० १४, १९७–२००

सौभाग्यवश भारतीय विद्यामंदिर के संचालक श्री जिन विजयजी को 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' नाम का एक व्याकरण ग्रंथ मिल गया है जिससे बनारस और उसके आसपास के प्रदेशों के सांस्कृतिक जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है। 'युक्तिव्यक्ति प्रकरण' में आए प्रसंगों से पता चलता है कि ग्रंथ के लेखक पंडित दामोदर गोविंदचंद्र के समकालीन थे। ग्रंथ के एक उल्लेख (२१।११–१८) से पता चलता है कि ब्राह्मणों को बनारस में बसाने का बहुत बड़ा श्रेय गोविंदचंद्र को था। पंडित दामोदर के बारे में और कुछ पता नहीं चलता, पर शायद गोविंदचंद्र के ताम्रपत्रों से इन पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। गोविंदचंद्र के ११३४ के लेख[1] में इस बात का उल्लेख है कि महाराज पुत्र आस्फोट चंद्रदेव ने अक्षय-तृतीया के दिन गंगास्नान कर के काश्यप गोत्रीय दामोदर शर्मन् को नंदिनी पत्तना में कनौत नाम का एक गाँव भेंट किया। ११४६ के एक दूसरे लेख से पता चलता है कि गोविंदचंद्र की आज्ञा से महाराज पुत्र राज्यपाल देव ने उत्तरायण संक्रांति के दिन दामोदर शर्मा को एक गाँव दान में दिया[2]। ११५० के एक तीसरे लेख में गोविंदचंद्र द्वारा पंडित दामोदर शर्मा को उत्तरायण संक्रांति के अवसर पर एक गांव देने का उल्लेख है[3]। इन तीनों लेखों से पता चलता है कि दामोदर शर्मा मदनपाल के पुत्र, लोकपाल के पौत्र और गुणपाल के प्रपौत्र थे। उनका गोत्र काश्यप और प्रवर काश्यप, अवत्सर और नैध्रुव थे। वे यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा के विद्यार्थी थे। सूर्य उनके इष्टदेवता थे और वे ज्योतिष के पंच सिद्धांतों के पूर्ण पंडित थे।

ताम्रपत्रों से यह भी पता चलता है कि गोविंदचंद्र के दो पुत्रों, यानी आस्फोटचंद्र और राज्यपाल ने अपने पिता की सहमति से दामोदर शर्मा को गाँव भेंट किए। ताम्रपत्रों में इस बात का उल्लेख तो नहीं है, पर ऐसा मानने के पर्याप्त कारण हैं कि पंडित दामोदर शर्मा राजकुमारों के शिक्षक थे। जो भी हो 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' से तो यह बात साफ हो जाती है कि पंडित दामोदर कुशल शिक्षक थे और उन्हें १२वीं सदी की शिक्षाक्रम का अच्छा ज्ञान था। 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' से यह भी पता चलता है कि संस्कृत के माध्यम से राजकुमारों को देशी भाषा की शिक्षा दी जाती थी। इस शिक्षा का उद्देश्य बहुमुखी था। इसमें पत्र-लेखन और व्यवहार-शिक्षा भी शामिल थी। पढ़ाई रोचक बनाने के लिये तरह-तरह की पहेलियाँ और प्रश्नोत्तरियाँ भी काम में लाई जाती थीं। 'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' में हमें पूर्वी हिंदी के सब से प्राचीन उदाहरण मिलते हैं और उनसे हमें पता चलता है कि बारहवीं सदी में अवधी का क्या रूप था और विचार-स्फुरण की उसमें कितनी शक्ति थी। युक्तप्रांत के पूर्वी जिलों की कहावतों की जानकारी के लिये भी यह ग्रंथ अपनी जोड़ नहीं रखता।

'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' के अनुसार गाहड़वाल युग में बनारस की शिक्षा का उद्देश्य था 'वेद पढ़ब, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब' (१५।१६–१७) अर्थात् हमें वेद पढ़ना चाहिए, स्मृतियों का अभ्यास करना चाहिए, पुराणों को देखना चाहिए और धर्म करना चाहिए। उपर्युक्त

१. एपि० इंडिका, भा० ८, ४.१५५–१५६
२. वही, ५,१५६–५७
३. वही, पृ० १५८–५९

उदाहरण से पता चलता है कि १२वीं सदी के बनारस में वेदों, स्मृतियों और पुराणों के पठन-पाठन पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

उपाध्याय जिन्हें ओझा कहा गया है लड़कों को पढ़ाते थे, 'पढ़ाव छात्रहि शास्त्र ओझा (१३।१८)। विद्यार्थियों को अपना ज्ञान संवर्धन उपाध्याय द्वारा ही करना पड़ता था—ओझा पासे वीदा ले (१४।१६)। लगता है, शहर से प्राय: छात्र अपने गाँवों को जाते थे—'छात्रु गाउं या' (१६।१२)। गाँव जाने के लिये छात्र अपने को सँजोते थे—(गाउं चला संजव' (यु० प्र० ३९।३०) सँजोता क्या था 'नंगा नहाय क्या निचोड़े क्या' की कहावत के अनुसार ये छात्र गाँव जाते समय अपनी पोटली सँजोते थे—'गाउं जांत पोटलि संजव (४१।२८) और इस तरह पोटली लेकर पार उतरने की तैयारी करते थे—'पोटल लै जाण पार' (३८।२१)।

'युक्ति व्यक्ति प्रकरण' में कुछ प्रश्नोत्तरियाँ भी दी हुई हैं जिनसे काशी के विद्यार्थी जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है। 'इहां को पढ़इ ?' 'यहाँ कौन पढ़ता है ?' उत्तर था ब्राह्मण पुत्र (२१।८)। 'इहां को पढ़निहार आछ ?' यहाँ कौन पढ़ने वाला है ?'—उत्तर, 'छात्र' (२१।८-९)। उपाध्याय पूछते हैं, 'अम्हा पासे केइ पढ़व ?' हमारे यहाँ कौन पढ़ेगा' उत्तर 'द्विज' (२१।९।१०)। अंतिम प्रश्नोत्तर से ब्राह्मणों की उस प्राचीन संकीर्ण वृत्ति का पता चलता है जिससे शास्त्र पढ़ने का केवल ब्राह्मण अधिकारी था और दूसरा कोई नहीं। आश्चर्य तो इस बात का है कि इसी युग में जैन-संस्कृत पढ़ सकते थे, और बौद्धों का उसपर अच्छा अधिकार था, पर हिंदुओं में तो खाली द्विजों को ही शास्त्रज्ञान विहित था। यह संकीर्ण वृत्ति बराबर बनारस में बनी रही और पुराने पंडितों में अबतक पाई जाती है।

एक दूसरी प्रश्नोत्तरी से पढ़ाई के एक उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है। प्रश्न है "राउलें पाहू रांघ को आच्छिह ?" "राजा के पास कौन जायगा ?" गुरुजी जवाब देते हैं "तूं' विद्यार्थी पूछता है, "मेरा क्षेम को करिहि" मेरा क्षेम कौन करेगा ?" गुरुजी जवाब देते हैं "हौं' 'मैं' (२२।१-२) इससे पता लगता है कि गुरु के पास पढ़कर विद्यार्थी राजसेवा में भरती होने के लिये आतुर रहते थे।

प्राय: विद्यार्थी उपाध्याय के घर जाकर पाठ पढ़ते थे। प्रश्न है 'बेटा काहां गा ?" ("बेटा कहाँ गया ?" उत्तर है "ओआउल" (२२।१-२)। यह भी पता लगता है, अधिकतर विद्यार्थी उपाध्याय के साथ ही उनके घर पर रहते थे (२४।२२ से ३१)। यहाँ गुरु-शुश्रूषा करते हुए विद्याध्ययन करते थे (२७।४-१०)। यह भी पता लगता है कि प्राचीन काल की तरह गाहड़वाल युग में भी बनारस में आश्रम होते थे (२७।१७)। एक दूसरी जगह इस बात का भी उल्लेख है कि मठों में भी पढ़ाई होती थी। गाहड़वाल युग में केदारमठ बनारस की प्रसिद्ध शिक्षा संस्थाओं में था (२९।७,२२)। बारहवीं सदी में बनारस (३०।४), कान्यकुब्ज (३०।४) और प्रयाग (३०।१४) अपनी शिक्षा-संस्थाओं के लिये प्रसिद्ध थे।

बनारस में यह बात उस समय प्रसिद्ध थी कि केवल घोखने से ही विद्या नहीं आती उसके लिये बुद्धि की भी आवश्यकता होती है। कोई प्रश्न करता है "छोटे हें आहें विद्या अवड़", "झट से

विद्या कैसे आ जाय" उत्तर है "प्रज्ञै", "तीव्रबुद्धि' से (२२-१७)। लगता है, व्याकरण इत्यादि विषयों को सरल बनाने के लिये और बालकों में विद्या के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिये पहेलियों की भी सहायता ली जाती थी। पहले प्रश्न पूछे जाते थे और अंत में उत्तर बता दिए जाते थे। इससे बालकों में कुतूहल उत्पन्न होता था और उनकी विचारशक्ति और हाजिरजवाबी बढ़ती थी। कुछ ऐसी ही पहेलियाँ 'युक्तिव्यक्ति प्रकरण' में दी गई हैं (२२।१३-२१; २३-२५)

"किससे संग्राम-संकट में वीर दुर्जय हो जाता है ? — खंग से।
साहसशाली धीर किससे नदी पार करते हैं ? — बाहुओं से।
रात्रि में जगत् क्षीर समुद्र में डूबा हुआ किससे मालुम पड़ता है ? — शरत् की चाँदनी से।
बिना पैर के रास्ते में किसके सहारे जल्दी से चला जा सकता है ? — काठ की घोड़ी से।
ग्रीष्म-संतप्त भू-पृष्ठ पर आदमी किसके सहारे चलते हैं ? — जूतों के।
किस के सहारे मेघ समय पर विश्व को नया कर देते हैं ? — वृष्टि से।
किसके सहारे कुम्हार मृत्पिंड को पात्र बना देते हैं ? — चाक के।
रात-दिन होते हुए काम को किनके सहारे लोग देखते हैं ? — नेत्रों के।
अपने दृढ़व्रत के सहारे बालनृप के राज्य में कौन रहते हैं ? — पात्र।
सेनापति अपने स्वामी से कहता है "नाथ ! किसने शत्रुओं को जीता है ?" तुमने।
निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से भी बनारस के विद्यार्थी-जीवन पर प्रकाश पड़ता है :—
"सखे तुमने वेद कहाँ पढ़ा ?" — "देव शर्मा उपाध्याय से।"
"ईधन जलाना कहाँ सीखा ?" — "उपाध्याय की पत्नी से।"
"तुम्हें भोजन कहाँ से मिलता है ?" — "द्विजवरों के घरों से" (२३।२०-२१)

उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों से पता चलता है कि छात्रों को भोजन स्वयं बनाना पड़ता था और उन्हें अन्न द्वि-जातियों के घरों से मिल जाता था। बेचारे नये छोकरे गाँव से आते थे उन्हें भला भोजन बनाना क्या मालूम, इसीलिये उपाध्याय पत्नी उन्हें ईंधन जलाने की क्रिया में दीक्षित करती थीं।

लगता है, बिचारे गुरुदेव अपने पुरानों छात्रों से कुछ सहायता की आशा करते थे। निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से इस संबंध में कुछ प्रकाश पड़ता है। अपने विद्यार्थियों को बहुत दिनों के बाद देखकर गुरुजी उनसे प्रश्न करते हैं—

"पुत्रो जानते हो तुमने वेद किससे पढ़ा है ?" — "आपसे"।
"किससे हमारी पत्नी और पुत्रों सहित वृद्धावस्था में गुजर होगी ?" — "हमसे"। (२३।२१-२३)।

इस प्रश्नोत्तरी से साफ-साफ पता चल जाता है कि उपाध्याय विद्यार्थियों को अपने पूर्वकृत उपकारों का स्मरण कराके वृद्धावस्था में उनकी सहायता चाहते थे।

निम्नलिखित प्रश्नोत्तरी से भी बनारस के विद्यार्थी जीवन का कुछ पता चलता है। "यह कौन है ?" "छात्र"। "क्या करता है ?" "पढ़ता है।" "कहाँ पढ़ता है ?" "यहीं" "क्या पढ़ता है ?" "शास्त्र।" "किससे" "पुस्तक से।" कैसे पढ़ता है ?" "पुस्तक से।" "कहाँ पढ़ता है ?" "उपा-

ध्याय से" "कहाँ रहकर पढ़ता है ?" "घर में" किसके घर में ?" "उपाध्याय के" (२४।२२–३१)। लगता है, कि बनारस के विद्यार्थियों से उपर्युक्त प्रश्न इतने लोग पूछते थे कि उसके लिये संस्कृत में निम्निलिखित लोकोक्तियाँ ही बन गईं। (३१।१८–२५)।

प्रश्न—सखे ब्रूहि कस्त्वं चिरं किञ्च कुर्वन् लिखेत कः किमत्रेदृशम् के कस्मै।
कुतः कुत्र कस्येति लोकोक्तिरेखा यदेकत्र वाच्यं दशानां विवक्षा।

उत्तर—अहं विप्रपुत्रा पठन्नेव शास्त्रं लिखामि स्वयं पाणि नैवात्मने स्वात्।
गुरो प्राप्ति तिष्ठन् गृहेऽस्यैव रम्ये प्रयोग प्रकाशं जगत् स्वार्थ हेतुं।
विद्वानों से भी वहुधा ऐसे ही प्रश्न पूछे जाते थे ऐसी प्रश्नोत्तरी भी एक श्लोक में दी गई है।

विद्वन् भवतः कुत्र निवासः ? वाराणस्यां गंगा तीरे।
कस्मिन् दानं कुत्र विवाहः द्विज वर वंशे नागर जातौ (२४।१–२)
"हे विद्वान् आपका निवास कहाँ है ?" वाराणसी में गंगा के तीर पर।
"किसके यहाँ आपकी शिक्षा हुई है ? आपका विवाह कहाँ हुआ है ?"
"द्विजवरवंश में मेरी शिक्षा हुई है और नागर जाति में मेरा विवाह।

उपर्युक्त श्लोक से यह पता चलता है कि काशी के विद्वान् गंगा के तीर पर रहते थे और बारहवीं सदी में भी गुजरात के नागर ब्राह्मण काशी में आ चुके थे।

हमें बारहवीं सदी के काशी के विद्यार्थी की वेशभूषा का भी पता एक उदाहरण से मिलता है। उदाहरण है "को ए मुंडे मुंडे दीर्घी चूलीं धोती पहिरें (३१।२८–२९)। उत्तर है, विद्यार्थी इससे पता चलता है कि बारहवीं सदी के विद्यार्थी अपने सिर घुटाये रहते थे, लेटी शिखायें रखते थें और धोती पहनते थे। आज आठ सौ वर्ष के बाद भी काशी के संस्कृत के विद्यार्थियों की वेशभूषा वैसी ही है।

गुरुजी जैसा हम ऊपर कह आए हैं केवल विद्यार्थियों को प्रेम के साथ शिक्षा ही नहीं देते थे; लगता है, काम न करने पर वे उन्हें पीटते भी थे। एक उदाहरण में आया है "गुरुजी सन्हताडे' (३१–१२) अर्थात् गुरु शिष्यों को सजा देते थे। आज दिन भी बनारस में कहावत है कि चमोटी लागे झमझम विद्या आवे चमचम" पर इससे शिष्य गुरु से कभी बुरा नहीं मानते थे और वे अपने गुरु की पूरी इज्जत और पूजा करते थे। एक उदाहरण में कहा गया है 'यो गुरु आंच सो पाप मुंचु (४३।७–८) अर्थात् जो गुरु की सेवा करता है उसके पाप छूट जाते हैं।

(४)

११९४ ई० में बनारस मुसलमानी सल्तनत के अधीन हो गया जिसके फलस्वरूप लगता है बनारस की प्राचीन शिक्षा-पद्धति को काफी धक्का पहुँचा। सल्तनत के आरंभिक काल में बनारस की धार्मिक और सांस्कृतिक अवस्था पर तो विशेष प्रकाश नहीं पड़ता; पर लगता है; इल्तूतमिश के राज्यकाल ही में बनारस पुनः अपनी प्राचीन संस्कृति को ऊपर उठाने की कोशिश कर रहा
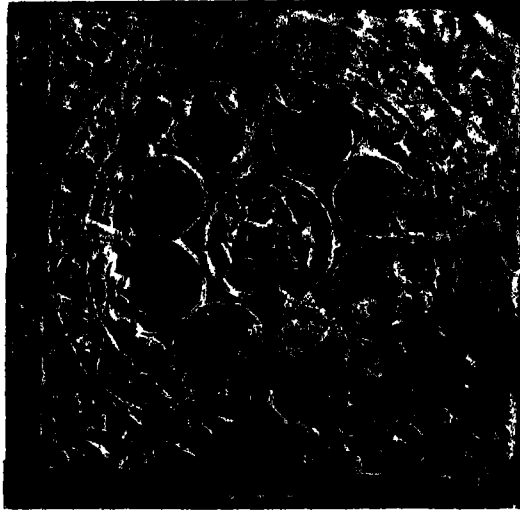
आयागपट्ट जिसपर जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की पूजा का दृश्य अंकित है
कुषाणकाल (ई० १ ली--२री शती)
मथुरा से प्राप्त

—लखनऊ संग्रहालय।

था। लगता ऐसा है कि इसी काल में विश्वनाथ का मंदिर पुनः बना और गुजरात के प्रसिद्ध जैन सेठ वस्तुपाल ने मंदिर में पूजा के लिये एक लाख रुपया भेजा[1]। अलाउद्दीन खिलजी (१२९६–१३१५) की धार्मिक असहिष्णुता इतिहास प्रसिद्ध है, पर उसके राज्यकाल के पहले ही वर्ष बनारस में पद्मेश्वर साधु ने पद्मेश्वर का मंदिर बनवाया[2]। यह मंदिर विश्वेश्वर के मंदिर के पास था। बनारस से मिले एक दूसरे लेख से पता चलता है कि वीरेश्वर नाम के किसी व्यक्ति ने १३०२ ई० में मणिकर्णिकेश्वर-के मंदिर की स्थापना की[3]। मुहम्मद तुगलक (१३२५–१३५१) के जमाने में प्रसिद्ध जैनाचार्य जिन-प्रभ सूरि ने काशी की यात्रा की[4]। उनके यात्राविवरण से पता चलता है १४ वीं सदी में चार बाराणसियाँ थी जिनमें से एक को देव बाराणसी कहते थे। इसी बाराणसी में विश्वनाथ का मंदिर था और कुछ जैन मंदिर भी थे। जिनप्रभ के अनुसार तो बनारस में कोई विशेष गड़बड़ नहीं थी और लोगों को धार्मिक मामलों में काफ़ी स्वतंत्रता थी। हिंदुओं को धार्मिक स्वतंत्रता देने के दो कारण हो सकते हैं, एक तो यह कि बनारस की तरफ सुल्तानों का विशेष ध्यान ही नहीं था, और दूसरा यह कि बनारस के प्रांतीय शासक उतने कट्टर नहीं थे जितना उनके मालिक।

हम ऊपर बता चुके हैं कि तुगलक काल तक बनारस में कुछ न कुछ धार्मिक स्वतंत्रता थी, पर इस युग में बनारस की शिक्षा का क्या हाल था; इसका पता हमें फारसी अथवा संस्कृत ग्रंथों से बहुत कम मिलता है। भाग्यवश जिनप्रभ सूरि द्वारा बनारस की १४ वीं सदी की शिक्षा-पद्धति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। बनारस में उस समय धातुवाद, रसवाद, खन्यवाद तथा मंत्रविद्या के निपुण विद्वान रहते थे। शब्दानुशासन, तर्क, नाटक, अलंकार और ज्योतिष के पठन-पाठन का यहाँ काफी प्रबंध था। लोग निमित्तशास्त्र भी पढ़ते थे। और साहित्य के प्रति भी लोगों का अनुराग था लेखक ने यहाँ वालों का कला-कुतूहलों के प्रति अनुराग का भी उल्लेख किया है।

मुहम्मद तुगलक के बाद हिंदुओं की किस्मत ने पुनः पलटा खाया। फिरोज तुगलक की कट्टरता प्रसिद्ध है। तुर्की सुल्तानों को भी बनारस से, कुछ अधिक प्रेम न था और सिकंदर लोदी को तो काफिर फूटी आँख भी नहीं सोहते थे। फिरोज तुगलक से लेकर सिकंदर लोदी तक बनारस में शिक्षा का क्या हाल था, इस पर तो इतिहास प्रकाश नहीं डालता, पर यह मानने में हमें आपत्ति न होनी चाहिए कि बनारस इस युग में भी शिक्षा का केंद्र रहा, पर वह शिक्षा वही पुराने ढर्रे की थी। इस्लाम के प्रचंड आक्रमण ने भी न तो हमारी शिक्षा का रुख बदला और न उसे इस योग्य ही बनाया कि दुनिया में उससे शिक्षित अपना स्थान बना सकें। शिक्षा और धर्म के इस थोथे रूप के विरुद्ध रामानंद ने बनारस में आवाज उठाई और अपने शिष्यों को जाति और धर्म की प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ डालने के लिये ललकारा। धार्मिक असहिष्णुता और निरर्थक आचारों का कबीर ने कड़ा विरोध किया। बाह्याचारों के चाहे वह हिंदुओं के हों अथवा मुसलमानों के, कबीर कट्टर विरोधी थे और प्रेम को वे इन सब के कहीं ऊपर मानते थे। पर शिक्षा और धर्म का यह सर्वजन-हितकारी

---

१. प्रबंध कोश, प० १३२, कलकत्ता, १९३५

२. फुहरर, दि शर्की आर्किटेक्टर ऑफ जौनपुर, पृ० ५१

३. जर्नल पूभी हि० सो० मा. ९, ((एप्रिल, १९३६), पृ० २१–२२

४. विविध तीर्थ कल्प (जिन विजय द्वारा संपादित), पृ० ७२–१४, शांति-निकेतन १९३४।

विचार बनारस में केवल नीच वर्णों तक ही सीमित रहा। यहाँ के पंडितों ने तो अपना एक मार्ग निश्चित कर लिया था जिसे वे सनातन मानते थे और उससे वे विलग होने को कभी तैयार नहीं थे।

उत्तर भारत में अकबर द्वारा शांति स्थापित होते देश की संस्कृति में एक नया जोश पैदा हो गया। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता और संस्कृति-प्रेम विख्यात है। लगता है, इसीके फलस्वरूप बनारस में पुनः संस्कृत शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। अकबर के राज्यकाल में बनारस के साथ राजा टोडरमल और मानसिंह का काफी संबंध था, इन दोनों के प्रयत्न से बनारस में अनेक मंदिर बने। टोडरमल की सहायता से काशी के प्रसिद्ध विद्वान नारायण भट्ट ने पुनः विश्वनाथ का मंदिर बनवाया। टोडरमल के पुत्र गोबरधन का बनारस से १५८५ से ९० तक के बीच घनिष्ट संबंध था। और उन्हीं के प्रयत्न से बनारस के सांस्कृतिक जीवन को काफी प्रगति मिली। सन् १५८५ और ९९ के बीच विश्वेश्वर की पूजा के उपलक्ष में प्रसिद्ध विद्वान शेषकृष्ण द्वारा लिखित "कंस वध" नाटक का अभिनय हुआ[1]। गोबरधन इस नाटक में स्वयं उपस्थित थे। नाटक के एक प्रारंभिक श्लोक से पता चलता है कि गोबरधन को कलाओं से बहुत प्रेम था और विद्वद्गोष्ठी इन्हें बहुत प्यारी थी। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे अकबर-युग में महाराष्ट्र और दक्षिण से अनेक विद्वान ब्राह्मण बनारस में आकर बस गए और तब से पंडितों का बनारस की शिक्षा पर बहुत बड़ा प्रभाव रहा।

बनारस के शिक्षाक्रम में जहाँगीर और शाहजहाँ-युग में कोई परिवर्तन नहीं हुआ पर औरंगजेब के गद्दी पर आते ही बनारस पर गाज सी टूट पड़ी। १६५९ में बनारस के अनेक मंदिर बादशाह की आज्ञा से तोड़ दिए गए। तथा इलाहाबाद के मुगल सूबेदार को यह हुक्म दिया गया कि वे बनारस में जो बेवकूफ ब्राह्मण अपनी रद्दी किताबें पाठशालाओं में पढ़ाते थे उन्हें पढ़ाये जाने से रोके क्योंकि उनसे न केवल हिंदुओं में ही बल्कि मुसलमानों में भी कुफ्र पैदा होता था। बादशाह के हुक्म का सूबेदार ने तुरन्त पालन किया और बनारस की अनेक पाठशालायें जमींदोज कर दी गईं।[2]

बनारस की इस युग की शिक्षापद्धति पर दो प्रसिद्ध फरांसीसी यात्रियों अर्थात् तावरनियर और बरनियर द्वारा प्रकाश पड़ता है। तावरनियर ने तो केवल विंदुमाधव के पास कंगनवाली हवेली में जयसिंह की निजी पाठशाला देखी जिसे उन्होंने अपने राजकुमारों के पढ़ाने के लिये खोल रक्खा था था।[3] पर बरनियर ने तो बनारस की शिक्षापद्धति पर भी प्रकाश डाला है।[4] तावरनियर जयसिंह की पाठशाला में स्वयं गया और उसमे वहाँ देखा कि कई पंडित बच्चों को संस्कृत में पढ़ना-लिखना सिखा रहे रहे हैं। पाठशाला के पहले खंड की दालान में उसने राजकुमारों को सरदार और ब्राह्मणों के लड़कों के साथ बैठे देखा। ये विद्यार्थी जमीन पर खड़िया से कुछ अंक लिख रहे थे। तावरनियर को देखकर उन्होंने उसका परिचय पूछा और यह पता लगने पर कि वह फिरंगी है, उन्होंने उसे ऊपर

---

१. ऐगलिंग, इंडिया ऑफिस कैटलाग आफ संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट भा० ५–७ पृ० ५९१।

२. इलियट, भा० ७ पृ० १८३–१८४।

३. ट्रैवेल्स इन इंडिया बाइ जें बापतिस्त तावेरनियर अनुवादक वी. बाल, भा० २ २३० से २३७

४. फांको आ बरनियर, ट्रैवेल्स इन दी मुगल एम्पायर, १६५६–१६६८, अनुवादक ए० कांस्टेबुल लेडन, १८९१, पृ० ३३५ से ३४०।

बुला लिया और उससे यूरोप और विशेष कर फ्रांस के बारे में बहुत-सी बात पूछी। एक ब्राह्मण के हाथ में एक डच द्वारा उपहार दिए गए दो ग्लोब थे, जिनपर तावरनियर ने बालकों को फ्रांस की स्थिति दिखलाई।

१६६० ईसवी के करीब बरनियर बनारस पहुँचा। उसके अनुसार पूरा नगर हिंदुओं का विद्यालय था। यहाँ केवल ब्राह्मण और दूसरे भक्त पठन-पाठन में अपना समय व्यतीत करते थे। काशी में उस समय कोई विश्वविद्यालय जैसी संस्था नहीं थी, जहाँ क्रमबद्ध पढ़ाई होती रही हो। गुरु लोग शहर के भिन्न-भिन्न भागों में अपने घरों में अथवा रईसों के बगीचों में रहते थे। कुछ गुरुओं के पास चार शिष्य रहते थे, कुछ के पास छ या सात। प्रसिद्ध पंडितों के पास भी दस या पंद्रह से अधिक विद्यार्थी नहीं रहते थे। प्रायः विद्यार्थी अपने गुरुओं के पास दस से पंद्रह वर्षों तक रहते थे और वहीं विद्याभ्यास करते थे। बरनियर का कहना है कि अधिकतर विद्यार्थी सुस्त होते थे और शायद उनकी सुस्ती का कारण गरमी और उनका भोजन था। प्रतिस्पर्धा की भावना न होने से और विद्वत्ता दिखाने पर किसी मान-मर्यादा अथवा पुरस्कार की आशा न होने से भी ये विद्यार्थी अपनी पढ़ाई धीमे-धीमे चलाते थे। उनका मुख्य भोजन खिचड़ी थी जो महाजनों की कृपा से मिल जाती थी। पाठ्यक्रम में पहले तो विद्यार्थी व्याकरण की मदद से संस्कृत सीखते थे बाद में पुराण पढ़ते थे और आगे चलकर दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि अपने इच्छित विषय का अध्ययन करते थे। बनारस में बरनियर ने एक प्रसिद्ध पुस्तकालय भी देखा जो सम्भवतः आचार्य का प्रसिद्ध पुस्तकालय था।

इसमें संदेह नहीं कि मुगल काल में बनारस में संस्कृत शिक्षा का क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। बनारस में मुगलों के पहिले के पंडितों के इतिहास के बारे में हमें बहुत कम जानकारी है। इसका एक प्रधान कारण यह हो सकता है कि सुलतानों के युग में बनारस में पंडित थे तो अवश्य पर वे खुलकर अपनी विद्या का प्रदर्शन नहीं कर सकते थे। अकबर द्वारा शांति स्थापित होने के बाद बनारस में भी धीरे-धीरे पंडितों का आसन जमने लगा और इसमें संदेह नहीं कि मुगल-युग के संस्कृत साहित्य के इतिहास में काशी के पंडितों का बहुत बड़ा हाथ रहा। उस युग की हजारों हस्तलिखित पुस्तकों की जाँच-पड़ताल के बाद यह पता चलता है कि उनमें से अधिकतर बनारस के पंडितों द्वारा लिखी गई; पर सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि इन पुस्तकों के लेखक अधिकतर एतद्देशीय कान्यकुब्ज और सरयूपारी न होकर दक्षिण और महाराष्ट्र के ब्राह्मण थे। ऐसा होने का केवल यही कारण हो सकता है कि एतद्देशीय ब्राह्मणों में संस्कृत के प्रति मुगल-युग में इतनी लगन नहीं थी जितनी पंचद्राविणों में।

बनारस के मुगलकालीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि उस समय के पंडित मौलिकता खो बैठ थे, वे अपना समय मौलिक शास्त्रों की रचना में न लगाकर अधिकतर टीका-टिप्पणियों में ही लगाते थे। व्याकरण, धर्म-शास्त्र और वेदांत तो इनके प्रिय विषय थे, पर इन विषयों पर उनके ग्रन्थों में मौलिक विचारों की काफी कमी देख पड़ती है। बात यह है कि संस्कृत साहित्य में यह नव्यन्याय का युग था, जिसने वृथा तर्क को आश्रय देकर मौलिकता को आगे बढ़ने से रोका। संस्कृत-शिक्षा पर ब्राह्मणों का एकमात्र आधिपत्य होने से भी साहित्य की गति अविरुद्ध

रही और जनजीवों से तो उसका सम्पर्क ही छूट गया। संस्कृत के साथ-साथ सत्रहवीं सदी में और उसके बाद बनारस ब्रजभाषा साहित्य का भी एक अच्छा केंद्र बन गया। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे; बहुत से संस्कृत के पंडित ब्रजभाषा में भी कविता करने लगे थे क्योंकि उन्होंने लोकरुचि देखकर यह भली भाँति जान लिया था कि ब्रजभाषा अथवा अवधी को केवल 'भाखा' कहकर तिरस्कार की दृष्टि से देखने से ही उनका काम नहीं बनने का था। अगर उन्हें उस समय के राजा-रईसों से दक्षिणा वसूल करनी थी तो केवल संस्कृत श्लोक बनाकर जिन्हें समझने वाले काशी के बिरले ही रईस रहे होंगे, वे उन्हें नहीं रिझा सकते थे। इसके लिये तो उन्हें उस भाषा में भी कविता करना जरुरी था जिसे लोग और विशेष कर राजा-रईस समझ सकते थे और उसका आनंद लूट सकते थे।

बनारस के संस्कृत पंडितों और ब्रजभाषा के कवियों का पूरा २ इतिहास लिखना तो एक स्वतंत्र विषय है जिसका इस लेख में प्रतिपादन होना संभव नहीं है। यहाँ तो हम केवल उन्हीं पंडितों का उल्लेख कर सकते हैं, जिन्होंने मुगल युग में अपनी कृतियों से इस नगरी का उत्तर भारत में नाम बढ़ाया।

जिस महान् पंडित ने बनारस में हिंदू धर्म और संस्कृति के उत्तरभारतीय सिद्धांतों के विरुद्ध हिंदू संस्कृति और जीवन के दक्षिणी मत का प्रतिपादन किया, उनका नाम नारायण भट्ट है। इन्हीं नारायण भट्ट ने राजा टोडरमल की सहायता से बनारस में विश्वनाथ के मंदिर की स्थापना की। यह एक विलक्षण बात है कि नारायण भट्ट के परिवार में तीन सौ बरस तक लगातार बनारस के गण्यमान पंडित होते आए। 'गाधिवंशानुचरितम्'[1] के आधार पर महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री का कहना है कि नारायण भट्ट के पिता रामेश्वर भट्ट पैठन के रहने वाले थे और वहीं शिक्षक का कार्य करते थे। नारायण भट्ट का जन्म १५१४ में रामेश्वर भट्ट की द्वारका यात्रा के अवसर पर हुआ। उनके पिता कुछ दिनों तक द्वारका ठहरकर काशी चले आए और वहीं सदा के लिये बस गए। उनके तीनों ही पुत्रों का विवाह काशी में हुआ। इनके शिष्यों में काशी के अनेक पंडित थे।

अपने पिता की मृत्यु के बाद नारायण भट्ट ने श्रुतियों, स्मृतियों और षट्दर्शन में अधीत होने के कारण अपने पिता का स्थान ग्रहणकर लिया। गया, काशी और प्रयाग की पूजाविधि के लिये उन्होंने 'त्रिशस्थलीकेतु' नाम का ग्रंथ लिखा। उत्तर भारत के अनेक पंडितों से उनके शास्त्रार्थ हुए, जिनमें वे सदा विजयी ठहरे। एकबार तो उन्होंने राजा टोडरमल के घर एक श्राद्ध के अवसर पर नवद्वीप के पंडित विद्यानंद के अधिनायकत्व में पंडितों की एक टोली को हराया।

उनके प्रसिद्ध शिष्यों में ब्रह्मेंद्र सरस्वती और नारायण सरस्वती थे। इनमें ब्रह्मेंद्र सरस्वती का नाम तो जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, कवींद्र सरस्वती के अभिनंदन पत्र में आता है। नारायण सरस्वती ने वेदांत पर सोलहवीं सदी के अंत में कई ग्रंथ लिखे।

नारायण भट्ट ने 'धर्म प्रवृत्ति' और 'प्रयोगरत्न' नाम के दो ग्रंथ स्मृतियों पर लिखे। 'वृत्तरत्नाकर' पर १५४५ में इन्होंने टीका की। इन ग्रंथों के सिवाय नारायण भट्ट के २८ ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है।

---

१. इंडि० एंटि०, भा० १२, पृ० ७–१३।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं, नारायण भट्ट धुरंधर शास्त्रार्थी थे। उन्होंने अपने समय के उपेंद्र शर्मा और मधुसूदन सरस्वती जैसे प्रकांड विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उनकी प्रतिभा से कायल होकर भारतवर्ष की पंडित-मंडली उन्हें अपना संरक्षक मानने लगी और उन्होंने इस भावना का आदर करते हुए सदा रुपए पैसे से उनकी सहायता की। नारायण भट्ट ने संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों का भी अच्छा संग्रह किया।

नारायण भट्ट की मृत्यु वृद्धावस्था में हुई। मरते समय इनके तीन पुत्र और कई पौत्र थे। नारायण भट्ट के सब से बड़े पुत्र रामकृष्ण दीक्षित थे जिनकी मृत्यु बावन साल की अवस्था में हो गई। रामकृष्ण अनेक ग्रंथों के, जैसे 'जीवन पितृक निर्णय', 'कोटिहोमादि पद्धति', 'ज्योतिष्टोम पद्धति', 'मासिक श्राद्ध निर्णय', 'अनंत व्रतोद्यापन प्रयोग', 'शिवलिंग प्रतिष्ठा विधि', 'रुद्रस्नान पद्धति', इत्यादि के रचयिता थे। दूसरे पुत्र शंकर भट्ट के प्रसिद्ध शिष्यों में मनलारि भट्ट, तथा विश्वनाथ दांते थे। इनके ग्रंथों में 'धर्मद्वैत-निर्णय-चंद्रिका', 'मीमांसा-बाल-प्रकाश', तथा 'श्राद्धकल्प-सार' हैं। 'कवींद्र चंद्रोदय' में इन्हें बनारस के पंडितों का मुखिया कहा गया है।

नारायण भट्ट के सब से बड़े पुत्र रामकृष्ण भट्ट के पौत्र गागा भट्ट थे, जिन्होंने अपने पिता दिवाकर भट्ट के कई स्मृति संबंधी अधूरे ग्रंथों को पूरा किया तथा 'जैमिनीसूत्र' पर 'शिवार्कोदय' नाम की टीका की। इन्हीं की व्यवस्था से शिवाजी महाराज क्षत्रिय माने गए। वे शिवाजी के राज्याभिषेक के समय भी उपस्थित थे। गागा भट्ट के उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध नागोजी भट्ट हुए। संस्कृत विद्या की शायद ही ऐसी कोई शाखा बची हो जिसपर नागोजी भट्ट ने टीकाएँ नहीं लिखीं। पाणिनिसंप्रदाय के व्याकरण पर उनकी टीका बड़ी ही प्रमाणित है। व्याकरण के सिवाय उन्होंने अलंकार, तीर्थ, तिथि, योग, मीमांसा, रामायण, सांख्य और वेदांत पर भी अनेक ग्रंथ लिखे। अपने बुढ़ापे में भी जीवन का सुखपूर्वक उपभोग करते हुए वे समाज के प्राय: सब श्रेणी के लोगों मे मिला करते थे। अंग्रेजों का बनारस पर राज्य जम जानेपर करीब १७७५ में उनकी मृत्यु हुई। नागोजी भट्ट के शिष्य और उत्तराधिकारी वैद्यनाथ पायगुंडे थे। इन्होंने व्याकरण और स्मृतियों पर अनेक ग्रंथ लिखे। 'मिताक्षरा' के व्यवहारखंड पर इनकी टीका आज तक बनारस के स्मृतिकारों में बड़ी उपादेय मानी जाती है।

हम ऊपर कह आए हैं कि काशी में नारायण भट्ट का उस काल के एक प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती से शास्त्रार्थ हुआ[1]। मधुसूदन सरस्वती के पिता नवद्वीप के पुरंदराचार्य थे। सन्यास ग्रहण करके मधुसूदन सरस्वती बनारस आए और यहाँ उन्होंने विश्वेश्वर सरस्वती से शिक्षा-ग्रहण की। बाद में उन्होंने यहाँ 'अद्वैतसिद्धि' नामक ग्रंथ लिखा। गोस्वामी तुलसीदास के वे समकालीन और प्रशंसक थे। कहावत है कि जब उन्होंने 'रामचरितमानस' पढ़ा तो उसकी प्रशंसा में गोस्वामी जी के पास निम्नलिखित श्लोक लिख भेजा—"आनन्द कानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरुः, कविता मंजरी यस्य रामभ्रमर भूषितः। यह भी किंवदंती है कि उन्होंने अकबर से भेंट की थी। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वे हरिद्वार चले गए जहाँ एक सौ सात वर्ष की उमर में मृत्यु हो गई। उनका समय १६वीं सदी का दूसरा भाग और १७वीं सदी का आरंभ कहा जा सकता है।

---

१. एनाल्स भांडारकर ओ० रि० इ०, भा० ८, पृ० १४८ से

मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतदर्शन पर 'वेदांत-कल्प-लतिका,' 'सिद्धांतबिंदु,' 'अद्वैतसिद्धि,' 'अद्वैतरत्न-लक्षण' और 'गूढ़ार्थ-दीपिका' नाम के ग्रंथ लिखे। ऋग्वेद के पाठ पर उनका 'अष्टविकृतिविवृतिः' नामक ग्रंथ है। भक्ति पर उन्होंने 'भक्ति-रसायन-टीका,' 'महिम्न-स्तोत्रिका' और 'हरि-लीला-व्याख्या' नाम की पुस्तकें लिखीं। कुछ लोगों का मत है कि 'श्रीमद्भागवत प्रथम श्लोक त्रय टीका,' 'शांडिल्य-सूत्र-टीका,' 'वेद-स्तुति-टीका,' 'आनंद मंदाकिनी' तथा 'कृष्ण-कुतूहल' नाटक भी उनकी कृतियाँ हैं। अर्थशास्त्र पर उन्होंने 'राज-प्रतिबोध' नामक ग्रंथ लिखा।

जिस समय काशी में भट्टवंश की प्रतिभा चमक रही थी उसी समय तैलंग ब्राह्मण कला के प्रसिद्ध विद्वान् शेषकृष्ण अपने निवासस्थान गोदावरी के कांठे से बनारस आए।[1] उनके पूर्वपुरुष का नाम विश्वरूप और उनके पिता का नाम भट्ट नृसिंह था। भट्ट नृसिंह विजयनगर के मुख्य पंडित थे। शेषकृष्ण के भाई का नाम शेषचिंतामणि था। शेषकृष्ण ने मुरारिविजय में अपना मूल स्थान गोदारोध बताया है पर उनके भाई ने अपने गाँव का नाम ब्रध्नपुर कहा है। काशी में बसकर शेष परिवार का महाराष्ट्र ब्राह्मणों से संपर्क बढ़ा और बाद में तो वे तैलंग न माने जाकर महाराष्ट्र ब्राह्मण ही माने जाने लगे।

शेषकृष्ण ने निम्नलिखित ग्रंथ लिखे :—

(१) प्रक्रिया प्रकाश; (२) पारिजातहरण चंपू; (३) कंस-वध, (४) उषा-परिणय, (५) मुरारि विजय, (६) सत्यभामा परिणय, (७) सत्यभामा विलास, (८) क्रिया गोपन काव्य।

'प्रक्रिया प्रकाश' रामचंद्राचार्य की 'प्रक्रिया कौमुदी' नामक व्याकरण ग्रंथ पर टीका है जो पत्र-पुंज के राजपुत्र कल्याण के लिये लिखी गयी। 'पारिजातहरण चंपू' काशी के राजा नरोत्तम के पार-मार्थिक कल्याण के लिये और 'कंस-वध' नाटक राजा टोडरमल के पुत्र धरु अथवा गिरधारी के लिये लिखे गए।

१७वीं सदी के बनारस के साहित्यिक-जगत् में शेषकृष्ण के गुरुत्व को लेकर जगन्नाथ पंडित-राज और भट्टोजी दीक्षित की लड़ाई प्रसिद्ध घटना है, जिसकी याद अब भी काशी के पंडित कभी-कभी करते है।[2] शेषकृष्ण भट्टोजी के गुरु थे और शेषकृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर जगन्नाथ पंडितराज के पिता पेरुपट्ट के गुरु थे। भट्टोजी के एक दूसरे गुरु अप्पय दीक्षित थे। शेषकृष्ण की मृत्यु के उपरांत भट्टोजी ने उनकी प्रक्रिया-प्रकाश पर मनोरमा नाम का एक खंडन ग्रंथ लिखा। इसपर पंडितराज भट्टोजी से बड़े क्रुद्ध हुए। यह सुनकर कि अप्पय दीक्षित ने सिद्धांत कौमुदी की प्रशंसा की थी वे उनसे भी नाराज हुए और दोनों का ही खंडन करने लगे। भट्टोजी को उन्होंने गुरुद्रोही की पदवी दी और भट्टोजी ने उन्हें म्लेच्छ की। इसके बाद जगन्नाथ ने मनोरमा पर मनोरमा-कुचमर्दन नाम का ग्रंथ और अप्पय दीक्षित कृत चित्र मीमांसा पर चित्र मीमांसा खंडन लिखा। क्रोध में उन्होंने अप्पय को द्रविड़पिशाच, द्रविड़शिशु इत्यादि कहकर नीचा दिखाने का प्रयत्न किया।

---

१. वासुदेव अनंत बांबर्डेकर, भट्टोजि दीक्षित (ज्ञाति विवेक)। पृ० ३१२ से, बंबई, १९३-, इंडियन एं० १२, पृ० २४१ से।

२. वही, पृ० ३४० से।

जगन्नाथ पंडितराज के संबंध में अनेक दंत कथाएँ प्रचलित हैं पर उनकी ऐतिहासिकता अभी संदिग्ध है। शेषकृष्ण, अप्पय, भट्टोजी और जगन्नाथ के समय निश्चित करने के साधनों की भी कमी है। अप्पय का काल १५५४ से १६२६ यानी ७२ वर्ष माना जाता है। शेषकृष्ण की मृत्यु १६०५ के करीब मानी जाती है, पंडितराज की मृत्यु १६६० और ग्रंथ-रचना-काल १६३० से १६६० तक। भट्टोजी का काल १५७६ से १६३८–४०–५० तक माना जाता है। इन तीनों काल की विभिन्नता देखते हुए इन तीनों की विवाद संबंधी बहुत-सी अनुश्रुतियाँ गलत प्रमाणित होती हैं। श्रीबांवर्डेकर ने इस विवाद के शास्त्रीय आधारों का पता चलाया है और उन्हीं आधारों का उल्लेख नीचे किया जाता है।

पंडितराज जगन्नाथ का अधिक समय दिल्ली में शाहजहाँ की छत्रछाया में बीता (दिल्ली-वल्लभ-पाणि-पल्लव-तले नीतं नवीनं वयः)। बादशाह ने उन्हें पंडितराज की पदवी दी। वे बादशाह को ईश्वर का प्रतिरूप मानते थे। उन्होंने बादशाह दारा शुकोह और आसफ खाँ की भरपूर प्रशंसा की है। आसफ खाँ की मृत्यु के बाद उन्होंने आसफ-विलास नाम का ग्रंथ लिखा। उन्हें अपनी जाति का अभिमान था। वे वादकुशल पंडित थे और उन्होंने शास्त्रार्थ में कितने ही हिंदू और ईसाई पंडितों को जीता था।

भट्टोजी द्वारा शेषकृष्ण के दोष दिखलाने के लिये ही टीका लिखने के कारण जगन्नाथ का भट्टोजी के प्रति रोष उमड़ पड़ा और वे उस श्रेष्ठ विद्वान् को आर्यद्रोही कहने लगे। श्रीबांवर्डेकर की राय में इस रोष का कारण जातिद्वेष और गुरुद्रोह था। शेषवीरेश्वर जगन्नाथ और उनके पिता पेरुभट्ट के गुरु थे। वीरेश्वर के पिता शेषकृष्ण भट्टोजी के गुरु थे। उन्होंने अपने गुरु के ग्रंथ पर टीका की, बस उन्होंने जगन्नाथ के गुरु-पिता का अपमान किया। इसका बदला लेने की उन्होंने ठान ली। अगर शेष घराने से जगन्नाथ के शिष्यत्व का नाता न होता तो भट्टोजी के गुरुद्रोह की बात ही नहीं उठती थी। अब हमें विचार करना चाहिए कि जगन्नाथ का शेष घराने से क्या संबंध था। रस गंगाधर के आरंभ में ही उन्होंने शेष घराने के गुरुत्व की कल्पना की है जिससे पता लगता है कि जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट ने शेषवीरेश्वर से पातंजल महाभाष्य पढ़ा था। पेरुभट्ट का मूल ग्राम मुगुंज वेंगीनाड में था और वीरेश्वर भी उसी प्रदेश के रहने वाले थे। देशैक्य के कारण ही शायद पेरुभट्ट ने वीरेश्वर को अपना गुरु माना, पर गुरु के इस क्षुद्र अपमान से पीड़ित होकर जगन्नाथ ने मनोरमा कुचमर्दन ऐसा अश्लील शीर्षक वाला ग्रंथ लिखा।

अप्पय दीक्षित और भट्टोजी दीक्षित की भेंट का कोई ऐतिहासिक आधार नही मिलता। प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक होने के कारण अप्पय की चारों ओर कीर्ति फैल चुकी थी और उनके कुछ ग्रंथ काशी ऐसे विद्या-क्षेत्र में भी मान्य हो चुके थे। भट्टोजी ने सिद्धांत-कौमुदी की एक प्रति अप्पय के पास भेजी और उन्होंने इस ग्रंथ का भरपूर स्वागत किया। उसी समय भट्टोजी रामेश्वर की यात्रा के बहाने वेदांत और मीमांसा के अध्ययन के लिये दक्षिण में अप्पय के पास आकर रहने लगे और उन्हें अपना गुरु माना। जगन्नाथ द्वारा भट्टोजी को गुरुद्रोही पुकारने का कारण शेषकृष्ण

के ग्रंथ के विरुद्ध टीका तो थी ही, पर दूसरा कारण यह भी था कि उन्होंने स्वजातीय गुरु के रहते हुए भी द्रविड़ जाति का गुरुत्व स्वीकारा और यही दोनों के बीच में बैर-भाव का कारण था।

इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि भट्टोजी दीक्षित (१५७०–१६३५) काशी के शायद सब से बड़े पंडित हुए। काशी के विद्वानों की ग्रंथ रचना शैली में कोई विशेषता अथवा नवीनता तो थी नहीं, इसीलिये उसका प्रचार सीमित रहा, पर भट्टोजी की अकेली सिद्धांत-कौमुदी ही देश के कोने-कोने में पढ़ी जाती है और लोग आज दिन भी बड़े आदर के साथ उनका नाम लेते हैं। काशी के नाग पंचमी के दिन विद्यार्थी 'बड़े गुरु का छोटे गुरु का नाग ले नाग' कहकर नागों की तस्वीरें बेंचा करते हैं। यहाँ बड़े गुरु से तात्पर्य पतंजलि और छोटे गुरु से भट्टोजी दीक्षित की ओर संकेत है। शायद भट्टोजी को लोग नाग का अवतार मानते हैं।

भट्टोजी के पूर्वज आंध्रदेश के रहने वाले कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के आंध्र ब्राह्मण थे।[1] उनके पिता लक्ष्मीधर भट्ट वियजनगर-सम्राट् के आश्रित थे। लक्ष्मीधर के भट्टोजी और रंगोजी दो पुत्र थे। भट्टोजी की आरंभिक शिक्षा पिता के पास हुई। पिता के देहांत के बाद भट्टोजी पहले जयपुर गए, पर जल्दी ही वहाँ से काशी पहुँचे और वहाँ शेषकृष्ण से व्याकरण पढ़ने लगे। अपनी बुद्धि की प्रखरता से थोड़े ही दिनों में उन्होंने व्याकरण में प्रवीणता प्राप्त कर ली। इसके कुछ ही दिनों बाद उनका विवाह हुआ और वे सोमयाग कर के दीक्षित हो गए। अपनी विचक्षण प्रतिभा के अनुकूल उन्होंने सिद्धांत-कौमुदी की रचना की और प्रचार के लिये उसकी अनेक प्रतियाँ प्रसिद्ध पंडितों के पास भेजीं। अपने पुस्तक की एक प्रति उन्होंने अप्पय दीक्षित के पास भी भेजी। उसे पढ़कर अप्पय दीक्षित ने भट्टोजी का अभिनंदन किया। इसी बीच भट्टोजी के गुरु शेषकृष्ण का देहांत हो गया। इन्हीं घटनाओं के बीच भट्टोजी ने शेषकृष्ण विरचित प्रक्रिया-प्रकाश पर प्रौढ़ मनोरमा नाम का एक खंडन ग्रंथ लिखा और सब प्रकार से सिद्धांत कौमुदी का प्रचार किया। उनके इस गुरुद्रोह से अप्रसन्न होकर पंडितराज जगन्नाथ ने प्रौढ़ मनोरमा कुचमर्दन नामक खंडन ग्रंथ लिखा। भट्टोजी और पंडितराज की इन चढ़ा-उपरियों के बारे में तत्कालीन पंडित-समाज में काफी चरचा रही।

भट्टोजी के छोटे भाई रंगोजी भट्ट केलदी के राजा वेंकटप्पा नायक के आश्रित थे। अपने भाई से मिलने और रामेश्वर यात्रा के निमित्त भट्टोजी ने काशी से प्रस्थान किया। चिदंबरम् में उनकी अप्पय दीक्षित से भेंट हुई। उस समय अप्पय सिद्धांत-कौमुदी पढ़ा रहे थे। बाद में परिचय होने पर अप्पय से उन्होंने 'माध्वमत विध्वंसन' नामका ग्रंथ पढ़ा बाद में भट्टोजी ने 'तत्वकौस्तुभ' नाम के ग्रंथ की रचना की।

भट्टोजी ने व्याकरण, धर्मशास्त्र इत्यादि अनेक विषयों पर चौंतीस ग्रंथ लिखे।[2] भट्टोजी

१. वही, पृ० ३४९ से।

२. भट्टोजी के ग्रंथ—(१) अद्वैत-कौस्तुभ, (२) आचार-प्रदीप, (३) अशौच-निर्णय, (४) आह्निकम्, (५) कारिका, (६) काल-निर्णय-संग्रह, (७) गोत्र-प्रवर-निर्णय, (८) चतुर्विंशति-मुनि-व्याख्या, (९) चंदन-धारण-विधि, (१०) जातकालंकार, (११) तत्व-कौस्तुभ, (१२) तत्व-विवेक-

अद्वैतवादी थे और श्री नृसिंहाश्रम उनके गुरु थे। भट्टोजी के बीरेश्वर दीक्षित और भानु दीक्षित नाम के दो पुत्र हुए तथा हरि दीक्षित नाम के पौत्र। इन सबने भी काफी साहित्य का सर्जन किया। 'मध्य-सिद्धांत-कौमुदी' तथा 'व्यवहार-निर्णय' इत्यादि ग्रंथों के रचयिता बरदाचार्य, नीलकंठ शुक्ल, रामाश्रम तथा ज्ञानेंद्र सरस्वती भट्टोजी के शिष्य थे।

भट्टोजी के पुत्र पौत्र का महाराष्ट्र ब्राह्मणों में विवाह संबंध होने से उनका घराना महाराष्ट्र कहलाया। भट्टोजी के अंतिम दिन ब्रह्म चिंता में बीते और इस तरह ६५ वर्ष की अवस्था में काशी में उनकी मृत्यु हुई।

जिस समय बनारस में रामेश्वर भट्ट आए करीब-करीब उसी समय काशी के प्रसिद्ध धर्माधिकारी कुल लोग भी वहाँ आए। काशी के प्रसिद्ध भारद्वाज कुल का इतिहास महादेव पंडित से आरंभ होता है। महादेव शंकर भट्ट के पुत्र नीलकंठ भट्ट के जामाता थे। इस कुल के अंतिम महामहोपाध्याय दामोदर शास्त्री और गोविंद शास्त्री हुए। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में पायगुड कुल में भी अनेक विद्वान् हुए। चतुर्धर या चौधरी कुल से महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकंठ हुए। पुणतंकर कुल में भी अनेक विद्वान् हुए। इसी कुल के महादेव नामक एक पंडित ने भावानंदसिद्धांतवागीश की दीधिति पर टीका की।

सत्रहवीं सदी के बनारस के अनेक पंडितों का उल्लेख एक निर्णय-पत्र में[1] मिलता है। यह निर्णय-पत्र १६५१ में लिखा गया और इसमें ७० पंडितों और ब्राह्मणों के हस्ताक्षर हैं (देखिए परिशिष्ट १)। इन पंडितों में अधिकतर सन्यासी तथा महाराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकणी, तैलंग, द्रविड़ और दूसरे ब्राह्मण हैं। इस तालिका में से निम्नलिखित पंडितों के बारे में कुछ पता चलता है:—

१. पूर्णेंदु सरस्वती—कवींद्र चंद्रोदय में इन्हें पूर्णानंद ब्रह्मचारी के नाम से पुकारा गया है। इनका नाम रामाश्रम के दुर्जन मुख चपेटिका में भी आता है।

३. नीलकंठ भट्ट—शायद ये शंकर भट्ट के पुत्र हों, इन्होंने भगवंत भास्कर नाम का एक ग्रंथ लिखा (काने, हिस्ट्री आफ दि धर्मशास्त्र, १,४४०)।

४. चक्रपाणि शेष—शायद कारक विचार के लेखक थे (आउफ्रेक्ट, सी० सी० आई० ६६२, ९५)

५. माधवदेव—इन्होंने न्याय सार नाम का ग्रंथ गोदावरी के किनारे बसे हुए धारासुर

दीपन-व्याख्या, (१३) तत्व-सिद्धांत-दीपिका, (१४) तंत्राधिकार-निर्णय, (१५) तर्कामृतम्, (१६) तिथि-निर्णय, (१७) तिथि-निर्णय-संक्षेप, (१८) तिथि-प्रदीप, (१९) तीर्थ-यात्रा-विधि, (२०) त्रिस्थली-सेतु-सार-संग्रह, (२१) तैत्तिरीय-संध्या-भाष्य, (२२) दश-श्लोकी-व्याख्या, (२३) दायभाग, (२४) धातु-पाठ-निर्णय, (२५) प्रायश्चित्त-विनिर्णय, (२६) प्रौढ़-मनोरमा, (२७) बाल-मनोरमा, (२८) भट्टोजि-दीक्षिताय, (२९) भट्टोजि भट्टीय, (३०) मास-निर्णय, (३१) लिंगानुशासन-सूत्रवृत्ति, (३२) शब्द कौस्तुभ, (३३) श्राद्ध-कांड, (३४) सिद्धांत-कौमुदी।

१. पूना ओरियंटालिस्ट, भा० ८(३–४), पृ० १३० से।

ग्राम से बनारस आकर लिखा। इन्होंने रामभद्र सार्वभौम के[1] 'गुण-रहस्य' पर 'गुण-रहस्य टिप्पणी', 'शब्द प्रामाण्यवाद', तथा 'तर्क-भाषासार मंजरी' नाम के ग्रंथ लिखे।

९. रघुदेव भट्टाचार्य—ये बंगाली विद्वान् बनारस में अपनी पाठशाला चलाते थे। प्रसिद्ध जैन विद्वान यशोविजय (करीब १६०८–८८) जिन्होंने छद्मवेश में रहकर १२ वर्ष बनारस में शिक्षा ग्रहण की, इनका अपने ग्रंथ में उल्लेख करते हैं। उनके समकालीन बनारस के कवि चिरंजीव भट्टाचार्य ने भी अपने काव्य-विलास में उनके बारे में एक श्लोक दिया है। रघुदेव भट्टाचार्य ने चिंता-मणि पर 'तत्व-दीपिका', 'निरुक्त-प्रकाश', 'न्याय-कुसुमांजलिकारिका-व्याख्या', 'द्रव्य-सार-संग्रह', 'सिद्धांत तत्व' तथा और भी कई छोटे ग्रंथ लिखे हैं।[2]

१७. नारायण भट्ट आरडे—ये लक्ष्मीश्वर भट्ट के पुत्र तथा 'गृह्याग्निसार,' 'प्रयोगसार', 'श्राद्धसागर' और 'लक्ष-होम-कारिका' के लेखक थे।

२२. ब्रह्मेंद्र सरस्वती व रामाश्रम ने इनका 'दुर्जनमुख चपेटिका' में उल्लेख किया है। शायद ये नृसिंहाश्रम नाम से भी पुकारे जाते थे। इनके नाम दारा शुकोह द्वारा एक संस्कृत पत्र भेजने का भी उल्लेख है।[3]

२७. गोविंद भट्टाचार्य—ये दिग्गज विद्वान् रुद्रन्याय वाचस्पति के एकमात्र पुत्र और काशी के बंगाली पंडितों के नेता विद्यानिवास भट्टाचार्य के पौत्र थे। इन्होंने १६२८–२९ में 'न्यायसंक्षेप' नामक ग्रंथ लिखा। आसफ खाँ की प्रशंसा में इन्होंने पद्य मुक्तावली लिखी।[4]

४६. नारायण तीर्थ—इन्होंने बनारस में 'मातृभाषा-प्रकाशिका' लिखी। 'कुसुमांजलि' और 'दीधिति' पर भी इनकी टीकाएँ मिलती हैं। शायद वे १७२० तक जीवित रहे।[5]

५४. रघुनाथ जोशी—इन्होंने बनारस में १६६० में मुहूर्त-माला लिखी। इनके पिता नृसिंह बनारस के रहने वाले थे। असीरगढ़ का किला फतह होने के बाद अकबर ने इन्हें ज्योतिर्विद पदवी से भूषित किया (दीक्षित, हिस्ट्री आफ इंडियन आस्ट्रोनामी, पृ० ४१८)।

५८. देवभट्ट महाशब्दे—देवभट्ट बनारस के रहने वाले थे तथा इनका शांडिल्य गोत्र था। इनके पुत्र रत्नाकर को सवाई जयसिंह ने अपना गुरू बनाया था।

इस युग के बनारस के सर्वश्रेष्ठ पंडित कवींद्राचार्य सरस्वती थे।[6] कवींद्राचार्य हिंदी और संस्कृत दोनों ही के विद्वान् थे। एक ओर तो वे काशी के संस्कृत पंडितों के सिरमौर थे और दूसरी

---

१. इंडियन हिस्टोरिकल क्वाटरली, जून १९४२, पृ० ९१–९२

२. वही, पृ० ९३–९८

३. अडयार लाइब्रेरी बुलेटिन, अक्टूबर, १९४०, पृ० ९३।

४. इंडियन हि० क्वा० जून १९४५, पृ० ९४–९६

५. वही, पृ० ९१।

६. कवींद्र चंद्रोदय, एच० डी० शर्मा तथा एम० एम० पाटकर द्वारा संपादित, पूना १९३९; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, ५२, अंक।

ओर उनका मुगल दरबार से घनिष्ट संबंध था। इनकी जन्मभूमि गोदावरी के किनारे स्थित पुण्य-भूमि थी। वे वेदांगों और दूसरे शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद सन्यासी होकर बनारस चले आए। उनके काशीनिवास का कारण निजामशाही राज्यपर शाहजहाँ का अधिकार होना बताया जाता है। कवींद्राचार्य काशी में बरना नदी के किनारे जिस बाग में रहते थे वह अब भी वेदांती का बाग के नाम से प्रसिद्ध है।

शाहजहाँ के समय हिंदुओं के पवित्र तीर्थ गया, प्रयाग और काशी में हिंदुओं से यात्री-कर वसूल किया जाता था। काशी के विद्वानों ने इस कर से मुक्ति पाने के लिये कवींद्राचार्य के नायकत्व में शाहजहाँ के पास अपना प्रतिनिधि-मंडल भेजा। इनके प्रयत्न से यात्रीकर उठा लिया गया और शाहजहाँ ने इन्हें सर्व-विद्या-निधान की पदवी से भूषित किया। इतना ही नहीं शाहजहाँ ने इनकी दो हजार सालाना पेंशन भी बाँध दी। बनारस लौटने पर वहाँ के पंडितों ने इन्हें कवींद्र की पदवी से संमानितकर इन्हें एक मान-पत्र भेंट किया। इस घटना का मुगल इतिहास में कोई उल्लेख नहीं है। इसका यह कारण भी हो सकता है कि मुसलमान इतिहासकार उन बातों का उल्लेख नहीं करना चाहते थे जिनसे मुसलमान बादशाहों की हिंदुओं के प्रति कोई सद्भावना देख पड़े।

दिल्ली आने के बाद कवींद्राचार्य का मुगल दरबार में प्रवेश हो गया और वे दारा शुकोह के पंडित समाज के प्रधान बना दिए गए। शाहजहाँ के बंदी होने पर उनकी वृत्ति बंद कर दी गयी। पुनः वृत्ति चलाने के लिये कवींद्राचार्य ने दानिशमंद खाँ से सहयता चाही, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी वृत्ति पुनः चालू हुई अथवा नहीं। सन् १६६७ में बर्नियर ने कवींद्राचार्य से मुलाकात की और उनका बड़ा पुस्तकालय देखा। कवींद्राचार्य की मृत्यु १६७० के लगभग हुई। जैसा हम ऊपर कह आए हैं, कवींद्राचार्य संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। उनके निम्नलिखित ग्रंथ मिलते हैं—कवींद्र-कल्पद्रुम, पंच-पद-चंद्रिका, दश-कुमार-टीका, योग-भास्कर-योग, शतपथ-ब्राह्मण-भाष्य इत्यादि।

कवींद्राचार्य हिंदी के भी कुशल कवि थे। 'शिवसिंह सरोज' में कहा गया है कि शाहजहाँ बादशाह की आज्ञा से इन्होंने कवींद्र-काव्य-लता नामक ग्रंथ भाषा में लिखा। इस ग्रंथ में दाराशुकोह और बेगम साहब की तारीफ में बहुत से कवित्त हैं। हिंदी में उनका दूसरा ग्रंथ योग-वासिष्ठ-सार है, जो संवत् १७१७ में लिखा गया। इनका तीसरा ग्रंथ समर-सार कहा जाता है।

काशी के विद्वानों के अध्ययन से यह पता चलता है कि इनमें अधिकतर दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे पर इसके यह माने नहीं कि काशी उस समय एतद्देशीय ब्राह्मण विद्वानों से शून्य थी। यह संभव है कि इनमें दाक्षिणात्य विद्वानों की-सी तेजी और दौड़-धूप की ताकत नहीं थी और शायद इसीलिये वे इतना नाम नहीं कमा सके। काशी के ऐसे ही एक एतद्देशीय सरयूपारी ब्राह्मण विद्वान् श्रीरामानंद थे। इनके कुल में आज तक संस्कृत का पठन-पाठन होता आया है।[1]

श्रीरामानंद के पूर्वज शायद सोलहवीं सदी के अंत में बनारस आकर बस गए। उनके पिता पंडित मधुकर मिश्र के संबंध में तो अधिक पता नहीं चलता, पर उनके बारे में श्रीरामानंद के

१. प्रोसीडिंग्स एंड ट्रांजैक्शंस् ऑफ दी ऑल इंडिया ओरियेंटल कान्फ्रेंस, १९४३–४, भा० ४ पृ० ४७ से।

उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि वे काशी की विद्वन्मंडली में आदरणीय व्यक्ति थे। ऐसा पता चलता है कि उनकी विद्वत्ता से आकर्षित होकर दाराशुकोह ने उनसे 'विराड्-विवरण-भू' नामक ग्रंथ साकार ईश्वर की सार्थकता सिद्ध करने के लिये लिखवाया। इस ग्रंथ के अंतिम लेख से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि १६५६ ई० में धरणिधर मुहम्मद दाराशुकोह ने रामानंद को विराड्-विवरण लिखने के लिये नियुक्त किया। इस ग्रंथ के निर्माण करवाने से ऐसा भास होता है कि औपनिषदिक सिद्धांतों को समझने के बाद दाराशुकोह को साकार ईश्वर संबंधी दार्शनिक सिद्धांतों को जानने की इच्छा हुई और इस काम के लिये उन्हें बनारस में सब से अच्छे पंडित श्री रामानंद ही नजर आए। दारा की जीवनी से यह पता नहीं चलता कि यह ग्रंथ उसके पास पहुँचा अथवा नहीं, कम-से-कम इस ग्रंथ के आधार पर दारा ने कोई फारसी ग्रंथ नहीं लिखा। जो भी हो दारा ने उनके पांडित्य से मुग्ध होकर उन्हें *'विविधविद्या चमत्कार पारंगत'* की उपाधि से विभूषित किया।

दाराशुकोह के साथ श्री रामानंद का जैसा उनके कुल में किंवदंती है गुरु शिष्य का संबंध था। जो भी हो यह तो निश्चित है कि दारा के प्रति श्री रामानंद का अनुराग था। औरंगजेब द्वारा दारा के पराभव का समाचार सुनकर श्री रामानंद का चित्त जैसा उनके कुछ पद्यों से से पता चलता है, खिन्न हो उठा। दारा के गुणों को याद करते-करते वे कहते हैं—'दारा शाह विपत्सु हा! कथमहो प्राणा न गच्छन्त्यमी', "हाय दाराशाह की विपत्ति से हमारे प्राण क्यों नहीं *निकल जाते। हमें पता है कि १७वीं सदी के मध्य में बनारस के अनेक पंडित दारा के आश्रित थे* पर जहाँ तक हमें पता है, इनमें से किसी ने सिवाय रामानंद के दारा की विपत्ति पर आँसू बहाने की हिम्मत नहीं की और यही मुख्य कारण है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि उनका दारा के साथ निकट संबंध था।

काशी के पंडितों को राज्य का भय सदा बना रहता था और शायद इसीलिये अनेक अत्याचारों को सहते हुए भी उन्होंने अपना मुँह खोलने की कभी हिम्मत नहीं की, पर श्रीरामानंद इस प्रवृत्ति के अपवाद थे। अपनी ओजस्विनी वाणी द्वारा वह औरंगजेब का कुछ बिगाड़ तो नहीं सकते थे पर हिंदुओं में शायद वे अकेले ही व्यक्ति थे जिन्होंने औरंगजेब कालीन बनारस में हिंदुओं की दयनीय दशा का जीता-जागता चित्र अपने हास्य-सागर नामक प्रहसन में खींचा है:—

> हन्यन्ते निर्निमित्तं सकल सुरभयो निर्दयैर्म्लेच्छ जातै—
> दीर्यन्तेऽमी सदेवाः सकलसुमनसामालयाश्चातिदीर्घाः।
> पीड्यन्ते साधुलोकाः कठिनतरकरग्राहिभिः कामचारैः
> प्रत्यूहैस्तैः क्रतूनां समयमिव जगत्यामराणां कुमारैः।

उपरोक्त उद्धरण से पता चलता है कि औरंगजेब-युग में गोबध हो रहा था, देवमंदिरों की प्रतिमाएँ तोड़ी जा रहीं थीं, और औरंगजेब के स्वच्छंद कर्मचारियों के उत्पीड़न तथा अत्यधिक कर-ग्रहण से लोग त्रस्त और आतंकित हो रहे थे। श्लोक के आधारपर यह भी कहा जा सकता है कि श्री रामानंद ने हास्य-सागर-प्रहसन १६६९ के बाद ही लिखा होगा, जब औरंगजेब की आज्ञा से बनारस के मंदिर तोड़ दिए गए और हिंदुओं पर तरह-तरह के अत्याचार किए गए।

पंडित होने के सिवाय श्री रामानंद शिव के परम भक्त थे, पर देवी की उपासना में भी उनका चित्त रमता था और शायद वे तांत्रिक भी थे। अपने अंतिम दिनों में वे सन्यास-ग्रहण कर के लक्ष्मी-कुंड पर स्थित कालीमठ के शिष्य होकर वहीं रहने लगे।

श्री रामानंद संस्कृत के प्रतिभाशाली भावुक कवि थे और उनके पूर्ण अपूर्ण करीब-करीब पचास स्तोत्र ग्रंथ मिलते हैं। हिंदी में भी वे कविता करते थे। साहित्य के सिवाय व्याकरण, न्याय, वेदांत, ज्योतिष, कर्मकांड इत्यादि विषयों में भी वे पारंगत थे। इनके साहित्यिक ग्रंथों में रसिक-जीवन, पद्य-पीयूष, हास्य-सागर, काशी-कुतूहल तथा रामचरित्रम् मुख्य हैं। टीका ग्रंथों में किरात पर भावार्थ-दीपिका और काव्य प्रकाश के प्राकृत अंशों की व्याख्या भी है।

(५)

हम ऊपर देख आए हैं कि महाराष्ट्र ब्राह्मणों के लिये काशी परम पवित्र तीर्थ बन गई। काशी में बहुत से महाराष्ट्र पंडित बस गए और अपने पांडित्य से बनारस का नाम ऊँचा करते रहे। महाराष्ट्र में पेशवई आरम्भ होने पर काशी में महाराष्ट्र ब्राह्मणों की संख्या और बढ़ी और पेशवा बनारस के सुधार के लिये काफी रुपये खर्चने लगे। काशी के अधिकतर महाराष्ट्र ब्राह्मण तो पूना की वृत्ति से ही अपना गुजारा करते थे। इन ब्राह्मणों को रहने के लिये पेशवाओं ने बहुत-सी ब्रह्म-पुरियाँ बनवाई, और उनकी स्नान-पूजा के लिये बहुत से घाट भी बनवाए। इस युग में पूना से बनारस आए हुए पंडितों में नारायण दीक्षित पारणकर का विशेष स्थान था। १७३४ ई० में नारायण दीक्षित अपने पुत्र बालकृष्ण दीक्षित के साथ काशी आए। वे अपनी साधुता और चरित्र के लिये सारे महाराष्ट्र में विख्यात थे और उनसे प्रभावित होकर बालाजी विश्वनाथ उन्हें अपना गुरु मानते थे। बनारस में नारायण दीक्षित ने बहुत से धर्मकार्य किए। ब्रह्माघाट और दुर्गाघाट बनवाया तथा ब्राह्मणों के लिये बहुत से मकान बनवाए। बोडस, चिनक्ते, पारणघर और वझे कुलों के मकान उसी समय के हैं। जिस महल्ले में नारायण दीक्षित का मकान था उसे लोग दीक्षितपुरा अथवा ब्रह्माघाट कहते हैं। बाद में यहीं प्रतिनिधिसांगलीकर, रामदुर्गकर, और नानाफड़नवीस ने इमारतें बनवाईं।[1]

धर्मनिष्ठ और पंडित होते हुए भी नारायण दीक्षित देशस्थ ब्राह्मणों की ही अधिक सहायता करते थे। पेशवा की माता राधाबाई १७३५ में बनारस आईं और वहाँ उन्होंने दस-बीस बड़े पंडितों को अच्छी दान-दक्षिणा दी। उनके जातिभाई चितपावनों को भी कुछ रुपए मिले, पर बाकी महाराष्ट्र ब्राह्मण यों ही टापते रह गए।[2] यह बात नारायण दीक्षित को बड़ा बुरी लगी और इस बात की उन्होंने शिकायत भी की। तत्कालीन बहुत से मराठी पत्रों से यह भी पता लगता है कि बनारस के महाराष्ट्र पंडितों में कई दल थे जो हमेशा एक दूसरे से लड़ाभिड़ा करते थे।

नारायण दीक्षित के समय बनारस में एक महत्व की राजनीतिक घटना हुई जिससे उस समय के पंडित समाज की दुर्बलता पर काफी प्रकाश पड़ता है। बालाजी बाजीराव (१७४०–१७६१)

१. वामन बालकृष्ण दीक्षित, नारायण दीक्षित पारणकर पृ० २८–३०, बम्बई १९२५
२. पेशवा दफ्तर, भा० ९, २५

की यह पूरी इच्छा थी कि बनारस किसी तरह उनके हाथ लग जाय। १७४२ में बालाजी बाजीराव ने बंगाल जाते हुए मिर्जापूर में अपनी सवारी रोक कर बनारस ले लेने की इच्छा की। जब अवध के नवाब सफदरजंग को यह पता लगा तो उन्होंने बनारस के पंडितों को इकट्ठा कर उन्हें बालाजी बाजीराव के बनारस आने के पहिले ही मार डालने की धमकी दी। बिचारे ब्राह्मण क्या करते। नारायण दीक्षित की अधीनता में वे पेशवा के पास पहुँचे और उन्हें लौट जाने के लिये मना लिया।[1] इस घटना पर प्रकाश डालने वाला काय गाँवकर दीक्षित के दफ्तर में २७ जून १७४२ का एक पत्र है।[2] जिसका अनुवाद नीचे दिया जाता है:--

"मल्हारराव का विचार ज्ञानवापी मस्जिद को गिराकर पुनः विश्वेश्वर मंदिर बनाने का हुआ। पर पंच द्राविड़ ब्राह्मण चिंता करने लगे, 'यह मस्जिद अगर बादशाह के हुक्म के बिना गिरा दी गई तो बादशाह क्रुद्ध होकर ब्राह्मणों को मार डालेगा।' इस प्रांत में यवन प्रबल हैं। सब के चित्त में यह बात ठीक नहीं जँचती। दूसरी जगह मंदिर बनाना अच्छा है।' ब्राह्मण चिंता करते हैं... ब्राह्मणों की घोर दुर्दशा होगी, मना करने वाला कोई नहीं है और मना करने से देवस्थापना न करने देने का दोष होगा। जो विश्वेश्वर को भावेगा वही होगा, चिंता करने से क्या लाभ। अगर मस्जिद गिरने लगेगी तो सब ब्राह्मण मिलकर विनती-पत्र भेजेंगे ऐसा विचार है।"

मुगल साम्राज्य की अवनति के युग में भी बनारस के पंडितों की संख्या में कोई कमी नहीं आई। इस युग में नागोजी भट्ट को छोड़कर काशी में कोई ऐसा विद्वान नहीं हुआ जिसने साहित्य अथवा व्याकरणशास्त्र को कोई नयी देन दी हो। १८वीं सदी के उत्तरार्ध में बनारस के अनेक पंडितों का पता वीर प्रमाण-पत्रों से चलता है, जो उन्होंने वारेन हेस्टिंग्ज को १७८७ तथा १७९६ में समर्पित किए थे। १७८७ के दो प्रमाण-पत्रों का संपादन डा० एस० एन० सेन ने किया है।[3] इनमें से एक प्रमाण-पत्र पर १७८ एतद्देशीय, महाराष्ट्र और नागर ब्राह्मणों और पंडितों के हस्ताक्षर हैं। दूसरे प्रमाण-पत्र पर ११२ हस्ताक्षर बंगाली पंडितों के कहे गए हैं पर वास्तव में उनमें से बहुत से सज्जन कायस्थ थे और शायद संस्कृत समझ भी नहीं सकते थे। बंगालियों का मान-पत्र तो बंगला अक्षरों में है, पर देशी पंडितों का नागरी अक्षरों में।

इन मान-पत्रों में जिन पंडितों और ब्राह्मणों के नाम आए हैं उनका संबंध जीवन के अनेक क्षेत्रों से था। इनमें से कुछ तो वास्तव में पंडित थे बाकी पुरोहित तथा पाठ-पूजा करने वाले रहे होंगे। बंगाली पंडितों वाले मानपत्र में तो जयनारायण घोषाल, बिहारी चरण सील तथा रामशंकर बसु के नाम आए हैं जो ब्राह्मण नही थे पर जिनका संबंध काशी के पंडितों से अच्छा था। जो भी हो बनारस के सब ब्राह्मणों और पंडितों और नागरिकों ने मुक्तकंठ से दोनों मानपत्रों में वारेन हेस्टिंग्स के उन कार्यों की प्रशंसा की है जिनसे यात्रियों की गंगापुत्रों से रक्षा हुई और अन्य धार्मिक कार्य करने की बेरोक-टोक सुविधा प्राप्त हुई। इन मानपत्रों में अली इब्राहीम खाँ को बनारस के कोतवाल नियुक्त करने की भी प्रशंसा की गयी है। तथा वारेन हेस्टिंग्स के द्वारा

१. इतिहाससंग्रह, जून १९१० पृ० ४४।
२. राजवाड़े, मराठ्यां च्या इतिहासाचीं साधनें, या. ३. प. ३५४
३. दि जर्नल आॅफ दि गंगानाथ रिसर्च इंस्टिटयूट, या. १, पृ. ३२ से

विश्वेश्वर मंदिर के ऊपर नौबतखाना बनाने के कार्य की भी काफी प्रशंसा की गयी है। इस नौबतखाना के बनवाने से यह पता चलता है कि वारेन हेस्टिंग्स हिंदुओं को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता था।

अब यह प्रश्न उठता है कि पंडितों द्वारा यह मानपत्र अपने मन से दिए गए अथवा जबरदस्ती दिलाये गए। हमें इस बात का पता है कि अली इब्राहीम खाँ ने बनारस के रईसों और पंडितों द्वारा दिए गए चारो मानपत्रों को डेकन साहब की सेवा में इसलिये भेज दिया कि वे कलकत्ते की सरकार के मार्फत उन सबों का अनुवाद ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों के पास भेज दें। डेकन के ऐसा स्वीकार न करने पर ये मानपत्र हेस्टिंग्स के एटर्नी मि० टॉमसन के पास भेज दिए गए। इसपर टॉमसन ने गवर्नर जनरल से प्रार्थना की कि वे हेस्टिंग्स संबंधी और दूसरे भी मानपत्रों को विलायत आने की इजाजत दें। उनकी यह बात मान तो ली गई पर गवर्नर जनरल ने अपने अफसरों को आज्ञा दी कि जो मानपत्र अपने से आवें उन्हें वे रख लें पर मानपत्र इकट्ठा करने के लिये लोगों पर किसी तरह का जोर न दें। पर जैसा इतिहास से पता है काशी के कोतवाल अली इब्राहीम खाँ वारेन हेस्टिंग्स के मित्र थे और उन्हें इस बात का पूरा अवसर था कि वे बनारस के रईसों और पंडितों पर मानपत्र देने का दबाव डालें। जो भी हो मानपत्रों में किसी राजनीतिक बात की तो चर्चा ही नहीं है और इससे पता लगता है कि शायद यह मानपत्र लोगों ने अपनी तबीयत से ही दिया हो। इन मानपत्रों में आए पंडितों के नाम परिशिष्ट २ में दिए जाते हैं।

१७८७ में ही दो मानपत्र देकर बनारस के पंडित चुप रहने वाले नहीं थे। १७९६ में पुनः उन्होने वारेन हेस्टिंग्स के नाम दो मानपत्र धड़का दिए। ये दोनों मानपत्र उन प्रमाण-पत्रों के संग्रह में हैं जो ब्रिटिश भारत के निवासियों ने समय-समय पर वारेन हेस्टिंग्स को दिए थे और जिनका १७९७ में प्रकाशन हुआ।[1] पहला मानपत्र १९ दिसंबर १७९६ को दिया गया। इस मानपत्र पर जिन पंडितों के हस्ताक्षर हैं उनके नाम परिशिष्ट ३ में दिए गए हैं। इस मानपत्र के पंडितों में तर्क और विज्ञान के पंडित (नं० १) ऋग्वेद के पंडित (नं० २३) सामवेद के पंडित (नं० २८) यजुर्वेद के पंडित (नं० ३५) अथर्ववेद के पंडित (नं० ३६) और एक ज्योतिषी (नं० १०) के नाम हैं। ऐसा बोध होता है कि वे इस युग में बनारस के मुख्य पंडित थे।

पंडितों का दूसरा मानपत्र १७९७ में दिया गया। मानपत्र के शीर्षक से पता लगता है कि पहले इस मानपत्र में हिन्दू-मुसलमान, रईस और पंडित सब शामिल होने वाले थे, पर बाद में मुसलमानों ने अपना अलग मानपत्र देने का निश्चय कर लिया और इसलिये उपर्युक्त मानपत्र केवल हिंदुओं के नाम से गया। जिन पंडितों और ब्राह्मणों के नाम इस मानपत्र में है वे परिशिष्ट ३ में दिए गए हैं। इनमें से कुछ पंडितों ने अपने हस्ताक्षर श्लोकों में दिए हैं।

(६)

अठारहवीं सदी में काशी में संस्कृत शिक्षा का वही प्रबंध था जो मुगल काल में या उससे भी पहले था। विद्यार्थियों को काशी के पंडित निःशुल्क पढ़ाते थे और उनके भोजन और रहने का

१. पी० के० गोडे० दी टेस्टोमोनियल्स ऑफ गुड कॅन्डक्ट टू वारेन हेस्टिंग्स बाई बनारस पंडित, जरनल ऑफ दी टैंजोर संस्कृत मॅन्युस्क्रप्ट लाइब्रेरी वा० २ नं० १ पृ० १०–१४।

प्रबंध भी करते थें। जीविका के लिये उन्हें महाजनों और राजाओं की सहायता अपेक्षित होती थी और लगता है, यह सहायता उन्हें पर्याप्त रूप में मिलती थी। जब से पेशवाओं का संबंध बनारस से हुआ तब से दक्षिणी पंडितों के सहायतार्थ महाराष्ट्र तथा मराठों की दूसरी अमलदारियों से भी अन्नसत्र और पाठशालायें चलाने के लिये काफी रुपये आते थे। १८वीं सदी के अंत में जब अंग्रेजों का पैर बनारस में जम गया, तब उन्होंने बनारस में संस्कृत कालेज खोलने की सोची[1]। कालेज चलाने की बात पहले पहल किसके दिमाग में आई यह कहना तो कठिन है। संस्कृत कालेज के प्रथम आचार्य काशीनाथ लार्ड मनिंगटन के नाम अपने १७९९ वाले पत्र में लिखते हैं कि बनारस संस्कृत कालेज की बात पहले पहल उन्होंने ही चलायी। उनके इस कथन में कितना सत्य है यह तो हम नहीं कह सकते, पर उनका यह दावा एकदम से टाला भी नहीं जा सकता। यह भी संभव है कि चार्ल्स विलकिन्स ने जिन्हें संस्कृत पढ़ने के लिये एक पंडित ढूंढ़ने में बड़ी कठिनाई पड़ी थी यह सुझाव वारेन हेस्टिंग्स के सामने रक्खा हो। काशीनाथ पंडित का अपने पत्र में यह कहना कि कालेज की स्थापना के संबंध में मुझे अपनी कलकत्ता यात्रा स्थगित करनी पड़ी और इसके बाद मैंने यह प्रस्ताव जोनेथन डंकन के पास रक्खा, किसी और दूसरे कागजपत्र से समर्थन नहीं होता। जो भी हो पहली जनवरी १७९२ को एक पत्र द्वारा डंकन ने बनारस में संस्कृत शिक्षा के लिये एक कालेज खोलने का प्रस्ताव रक्खा। डंकन के कालेज स्थापना करने में पहला उद्देश्य यह था कि पंडितों और विद्यार्थियों की सहायता से अनेक विषयों पर संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकें इकट्ठी की जायें। दूसरा उद्देश्य यह था कि कालेज की स्थापना से अंग्रेजों की हिंदुओं में ख्याति बढ़ेगी और कालेज से ऐसे पंडित निकल सकेंगे जो हिंदू कानून को समझाने में अंग्रेजी जजों की सहायता कर सकेंगे। कालेज चलाने में खर्च केवल चौदह हजार रुपया सालाना आँका गया। गवर्नर जनरल ने तुरत डंकन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और कालेज के खर्च के लिये बीस हजार की मंजूरी दे दी। कुछ समय बाद संस्कृत पाठशाला की स्थापना हो गई और उसमें पढ़ाने के लिये आठ पंडित रक्खे गए और काशीनाथ इनके प्रधान आचार्य नियुक्त हुए। काशीनाथ का वेतन दो सौ रुपया मासिक नियुक्त हुआ। पाठशाला की देख-रेख का भार बनारस के रेजिडेंट और उनके डिप्टी पर छोड़ दिया गया। डंकन ने इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि ब्राह्मण पंडित जिनपर इस पाठशाला की सफलता निर्भर थी, किसी तरह से अप्रसन्न न होने पाएँ। इसके लिये पाठशाला में ब्राह्मण पंडित ही नियुक्त किए गए और यह भी निश्चय किया गया कि स्मृतियों और धर्मशास्त्र के परीक्षक ब्राह्मण ही हों।

इस पाठशाला के पहिले सात साल के कागज पत्र नहीं मिलते। डंकन १७९५ में बनारस से बंबई के गवर्नर नियुक्त होकर चले गए। १७९८ में पाठशाला के प्रबंध का भार एक कमेटी पर आ पड़ा, जिसमें बनारस के कमिश्नर सैमुअल डेविस और कैप्टन विलफोर्ड भी थे। बनारस की पाठशाला की प्रबंधक-समिति के मेंबर मि० चेरी फारसी के विद्वान थे, डेविस भारतीय ज्योतिष में दखल रखते थे और विलफोर्ड में संस्कृत पढ़ने की बड़ी रुचि थी। विलफोर्ड इस कमेटी के सेक्रेटरी नियुक्त किए गए। कैप्टन विलफोर्ड पहले पहल अंगरेजी जिलों और अवध के नवाब के राज्य

१. एस० एन० सेन, संस्कृत कालेज एट बनारस, जर्नल गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टिट्यूट मई १९४४, पृ० ३१५ से।

की जमीन की पैमाइश के लिये नियुक्त किए गए थे, पर इसकाम में नवाब के आदमियों द्वारा रोड़े अटकाए जाने पर डंकन ने सर जान शोर को लिखा कि वे विलफोर्ड को बनारस में रहकर अपना अध्ययन समाप्त करने की आज्ञा दे दें। सर जान शोर ने डंकन की यह बात मान ली और विलफोर्ड को उनकी तनख्वाह के अलावा पढ़ने की सामग्री इकट्ठा करने के लिये ६ सौ महीने का वजीफा भी स्वीकार कर लिया।

१८०१ में कालेज की कमिटी ने; जिसमें चेरी और डेविस की जगह नीव और डीन आ गए थे, रिपोर्ट भेजी कि काशीनाथ द्वारा बताई गई विद्यार्थियों की दो सौ संख्या में पचास तो बराबर पाठशाला में आते थे। पचास से सत्तर तक महीने में केवल एक या दो बार आते थे और बाकी तो केवल नाम के ही विद्यार्थी थे। पाठशाला में काशीनाथ ने बारह की जगह केवल ग्यारह ही पंडित रख छोड़े थे और बारहवें पंडित का फर्जी नाम देकर उसकी तनख्वाह खुद हड़प जाते थे। कमिटी के आदेशानुसार काशीनाथ वेतन का ठीक तौर से चिट्ठा भी नहीं बनाते थे। इन्हीं सब कारणों से कमिटी ने काशीनाथ को निकाल बाहर किया और उनकी जगह जटाशंकर पंडित को पाठशाला का प्रधानाध्यापक नियुक्त कर दिया। इस तरह निकाल दिए जाने पर काशीनाथ ने लार्ड मार्निगटन के पास एक अर्जी भेजी जिसमें अपना दुखड़ा रोया। इसमें शक नहीं कि पाठशाला के कामकाज में काशीनाथ बड़ी गड़बड़ी करते थे, पर इस गड़बड़ी का बहुत कुछ श्रेय उनके नालायक साथियों को भी था। १७९८ में ही काशीनाथ ने गवर्नर जनरल से शिकायत की थी कि पाठशाला के बारह पंडितों में से पांच पंडित अमलों और रईसों के यहाँ बराबर आया जाया करते थे जिससे पाठशाला के काम में बड़ा विघ्न पड़ता था। इस बात की शिकायत उन्होंने बनारस के अमलों से भी की, पर इसमें उन्होंने दखल देने से इनकार कर दिया। ऐसा लगता है कि कालेज के पंडित काशी की प्रथा के अनुसार विद्यार्थियों को अपने घर पर ही पढ़ाया करते थे जिससे पाठशाला के नियमों का उल्लंघन होता था। डंकन के जाने के बाद तो कालेज के नियम और भी ढीले पड़ गए। पाठशाला के आरंभिक अध्यापकों में रामप्रसाद तर्कालंकार अपनी नियुक्ति के समय करीब ८० वर्ष के थे। वीरेश्वर पंडित, सुब्बा शास्त्री, और जयशंकर भट्ट चाहते थे कि उनके छात्रों की भी वृत्तियाँ उन्हीं को मिलें, पर ऐसा करने से कमेटी ने साफ इनकार कर दिया। १८०४ में कमेटी का विचार था कि जटाशंकर में पाठशाला के आचार्य बनने की योग्यता नहीं थीं। १८१३ में वीरेश्वर पंडित, शिवनाथ पंडित और जयराम भट्ट के विरुद्ध शिकायतें की गई। इन बातों से पता चलता है कि काशीनाथ की असफलता का कारण उनकी अयोग्यता ही नही उनके साथियों की अयोग्यता भी थी, फिर भी रुपये पैसे के मामले में गड़बड़ी करने के लिये वे अवश्य दोषी थे।

काशीनाथ के आचार्य पद से हटा दिए जाने पर भी पाठशाला के प्रबंध में किसी तरह की उन्नति नहीं हुई। उनके उत्तराधिकारी जटाशंकर एक साधारण कोटि के पंडित थे। कमेटी के सभासद भी कालेज के कामों में दिलचस्पी नहीं लेते थे। इन सब बातों से यही पता चलता है कि जिस ध्येय को लेकर डंकन ने इस कालेज की स्थापना की उसका कोई परिणाम नहीं निकला।

१८१२ में कालेज की पुनर्निर्माण योजना हुई, जिससे १८१५ तक उसकी दशा में बहुत कुछ सुधार हो गया। १८२० में कैप्टन फेल कालेज कमिटी के सेक्रेटरी चुने गए। वृत्ति पानेवाले

विद्यार्थियों की संख्या ६० निर्धारित कर दी गई, पर बिना वृत्ति के दूसरे विद्यार्थी भी कालेज में शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। १८२३ में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ कर दो सौ हो गई। १८२५ में इस पाठशाला का आँखो देखा वर्णन विशप हेवर ने छोड़ा है।[1] यह वर्णन इतना मजेदार है कि हम उसे नीचे उद्धृत करते है।

"विद्यालय दो चौक की ऊँची इमारत में है। यह सर्वदा शिक्षकों और विद्यार्थियों से भरा रहता है। विद्यालय में बहुत सी कक्षाएँ हैं; जिनमें भारतीय गणित, फारसी, स्मृति शास्त्र, वेद, संस्कृत, और ज्योतिष इत्यादि पढ़ाये जाते है। विद्यालय में दो सौ विद्यार्थी हैं। उनमें से बहुत से मुझे पाठ सुनाने आए। अभाग्यवश थोड़ी ज्योतिष और फारसी के सिवाय मैं कुछ न समझ सका। ज्योतिष के पंडितों ने हिंदू ज्योतिष के सिद्धांतानुसार बने दो गोले दिखलाये, इनमें उत्तरी ध्रुव पर मेरु पर्वत और दक्षिणी ध्रुव पर एक कछुवा जिसपर पृथ्वी आश्रित है, थे। पंडित जी ने बताया कि दक्षिणी गोलार्ध बसने योग्य नहीं है। इन्होंने यह भी बतलाया कि प्रतिदिन सूर्य पृथ्वी के कितने सौ चक्कर मारता है और उसी गति से वह कैसे नक्षत्रों के भी चारों ओर घूम आता है। . . . . .इस पाठशाला में अंग्रेजी और यूरोपीय ज्योतिष पढ़ाने की कई बार कोशिश की गई, पर इस विद्यालय के विगत प्रधान शिक्षक इसके इसलिये विरोधी थे कि ऐसा करने से संस्कृत शिक्षा पर व्याघात पहुँचने का तथा पंडितों की धार्मिक भावनाओं पर धक्का लगने का डर था।"

"दूसरे दिन मैं बनारस की सैर करने घोड़े पर निकला। विद्यालय का एक छोटा विद्यार्थी मेरे पीछे दौड़ा और हाथ जोड़ कर अपना पाठ सुनाने की प्रार्थना की, जिसे मैं कल नहीं सुन सका था। मैंने अपना घोड़ा रोक दिया और लड़का संस्कृत के श्लोक सुनाने लगा। मैंने उसे उत्साह देने के लिये शाबाशी दी इससे उत्साहित होकर वह और भी श्लोक पढ़ने लगा। जब मैंने उसको कुछ पैसे दिए तो उसने कुछ फूल दिए और बातचीत करता हुआ मेरे साथ आगे तक बढ़ता रहा, जब तक कि भीड़ ने हम दोनों को अलग नहीं कर दिया। जब वह अपना पाठ पढ़ या गा रहा था तब आसपास के लोग उसे शाबाशी दे रहे थे। जिस तरह से श्लोक सुनकर मेरी तरफ इशारा कर रहे थे उससे यह पता लगता है कि श्लोक मेरे संबंध में थे। शायद यह अभिनंदन-पत्र था जो जल्दी में मुझे कल न मिल सका, पर आज दे ही दिया गया।"

१८२४ में कैप्टन फेल की मृत्यु के बाद कैप्टन लोसबाई उनकी जगह संस्कृत पाठशाला के सेक्रेटरी नियुक्त किए गए, इन्होंने छात्र वृत्तियों की संख्या सौ कर दी। १८२९ में उन्होंने एक अंग-रेजी स्कूल खोलने पर जोर दिया और बनारस ऐंग्लो-इंडियन सेमीनरी नाम से १८३० में एक अंग्रेजी स्कूल खुल ही गया। १८३६ में इस स्कूल का नाम गवर्नमेंट स्कूल रखकर एक अंगरेज शिक्षक की नियुक्ति कर दी गई। १८३५ में कुछ काल के लिये इस स्कूल के प्रधानाध्यापक मि० निकोल्स बनाये गए। उनके समय में विद्यार्थियों की संख्या २९६ थी पर १८३८ में फारसी की कक्षाएँ बंद कर देने से तथा छात्रवृत्तियों में कमी कर देने से छात्रों की संख्या घट गई। १८४३ में इस स्कूल का प्रबंध स्थानीय सरकार के जिम्मे कर दिया गया और इसके प्रिंसिपल मि० म्योर बना दिए गए।

---

१. विशप हेवर, टूर इन नार्दर्न प्राविंसेज, पृ० १६२ से

१८४६ में मि० बैलंटाइन स्कूल के प्रिंसिपल हुए। इन्हीं के काल में १८५२ में स्कूल की इमारत बन कर तैयार हुई। इस स्कूल का नक्शा मेजर किटो ने १८४७ में बनाया था और इसके बनाने में तेरह हजार पाउंड की लागत बैठी।

परिशिष्ट १

१६५७ के निर्णय-पत्र में आए हुए पंडितों के नाम :

(१) पुर्णेंदु सरस्वती (कवींद्र चंद्रोदय, ११३–११९, पूर्णानंद ब्रह्मचारी); (२) व्यासेंद्र; (३) नीलकंठ भट्ट; (४) चक्रपाणि पंडित शेष; (५) आडवा शुक्ल; (६) गोविंद भट्ट काले; (७) बापु व्यास; (८) गोपी भट्ट मौनी; (९) रघुदेव भट्टाचार्य; (१०) गोविंद भट्ट दशपुत्र; (११) विनायक शुक्ल; (१२) बापु भट्ट टंकाल; (१३) बहिरव भट्ट; (१४) गणेश दीक्षित; (१५) विश्वनाथ दातार; (१६) वासुदेव कोवाइ; (१७) नारायण भट्ट आरडे; (१८) नृसिंह भट्ट गह्वा॰; (१९) नृसिंह भट्ट पायस; (२०) पुमण भट्ट बेटेरु; (२१) धाडा भट्ट कुंडली; (२२) ब्रह्मेंद्र सरस्वती उर्फ नृसिंहाश्रम; (२३) अनंत देव; (२४) गागा भट्ट, (२५) साम्राज्य पंडित; (२६) भय्या भट्ट (कवींद्र चंद्रोदय, ६१–६२; २७३–२८०); (२७) गोविंद भट्टाचार्य; (२८) बालकृष्ण दीक्षित; (२९) वीरेश्वर शुक्ल; (३०) हरिशंकर कोरडे; (३१) तुलसीदेव भट्ट; (३२) भैरव चंडी; (३३) विश्वनाथ मनोहर; (३४) अप्पया दीक्षित; (३५) धुंटिराज; (३६) भास्कर ज्योतिर्विद्; (३१) ज्योतिर्विद महाब्द; (३८) कृष्ण भट्ट नगरकर; (३९) गिरिधर भट्ट वैशंपायन; (४०) गणेश भट्ट खर; (४१) *रामभट्ट गौतम*; (४२) चिंतामणि भट्ट द्रोण; (४३) बालकृष्ण भट्ट कविमंडन; (४४) (४४) वीरेश्वर भट्ट काल पांडे; (४५) विष्णु दीक्षित पाटरणकर; (४६) शिवराम तीर्थ नारायण तीर्थ; (४७) खंडदेव; (४८) अनंत भट्ट भीमोसक; (४९) लक्ष्मण पंडित वैद्य; (५०) माधव देव भट्टाचार्य; (५२) गोमाजी भट्ट रामहृदय; (५३) गणेश दीक्षित बापु दीक्षित डाउ; (५४) ज्योतिविन्नारायण पालशतेकर; (५५) ज्योतिर्विद्विट्ठलदाभोलकर; (५६) रुद्र दीक्षित; (५७) काशी सोमयाजी लक्ष्मण सोमयाजी; (५८) देवभट्ट महाशब्दे; (५९) काशीभट्ट पोल; (६०) मच्चिदानंद सरस्वती; (६१) *तिलभांडेश्वर*; (६२) विष्णु दीक्षित मौनी; (६३) नरहरि दीक्षित, विष्णु दीक्षित; (६४) लक्ष्मण दीक्षित; (६५) दीन दीक्षित नमू दीक्षित; (६६) वाछाभट्ट; (६७) गदाधर पौराणिक; (६८) जयराम न्याय पंचानन; (६८) महादेव भारद्वाज; (७०) महादेव भट्ट पोटे।

परिशिष्ट २

१७८७ वाले गुजराती, महाराष्ट्र और एतद्देशीय पंडितों और ब्राह्मणों द्वारा दिए गए मानपत्र के हस्ताक्षर :

नीलकंठ भट्ट; वीरेश्वर शेष, आत्माराम काय; बालम भट्ट कोर कालेड़; भैरव दीक्षित; मेघनाद देव; शंभू देव; जयराम भट्ट; जगन्नाथ भट्ट शुक्ल; बैजनाथ भट्ट; जगन्नाथ मिश्र; गंगाराम कर्णिकाल; रामचंद्र भट्ट कूरकोतकर; आत्माराम पुराणिक; भट्ट गंगाराम; सोमनाथ भट्ट नेथोर्थनकर; भूदेव मिश्र; भैरव दीक्षित; बालभट्ट भारद्वाज; गुणेश्वर भट्ट; बाबा दीक्षित; बालकृष्ण दीक्षित; महाजी; दादभट्ट; कृष्णभट्ट अरारी; सुखराम भट्ट; योगेश्वर भट्ट; हरिकृष्ण दीक्षित; बाबू दीक्षित अयाचक; रामकृष्ण त्रिपाठी; उदयशंकर पंडित; अन्न शास्त्री; सदाशिव भट्ट; बालमुकुंद भट्ट खोले;

बालकृष्ण दीक्षित; सीताराम भट्ट पुराणिक; पं० नाना पान्हिक; बालकृष्ण कलिकाल; मौनी राम] भट्ट सदहंती; बैजनाथ भट्ट नागराज; प्रेमशंकर; आनंद राम भट्ट लक्ष्मीधर; शम्भूजी दीक्षित; उदयकृष्ण त्रिपाठी; लक्ष्मीधर दीक्षित; लक्ष्मण व्यास; वल्लभजी; शिववल्लभ जी गोपालजी; जयकृष्ण पाठक; आनंद राम अनंतराम; मायानाथ पंडा; सदाकृष्ण जानी; सदानंद राम; मुकुंदराम शुक्ल, कल्याणजी दीक्षित; मूलनाथ रुद्रजी; दूबे केवल कृष्ण; शिवप्राण जीवन; तिवारी भीष्म देव; तिवारी कन्हैया देव; बालकृष्ण दूबे गणपत जी; दूबे बिष्णुराम, सूरजकृष्ण; तिवारी कृष्ण वल्लभ; पूरा गंगाराम; पूरा बिष्णुराम; पंड्या कल्याण जी; तिवारी मोतीलाल; दूबे कन्हैया जी; आनंदराम शुक्ल; रामदत्त केवलकृष्ण दीक्षित; दीनानाथ; रामकृष्ण भट्ट खोले; अनंतराम भट्ट; मालाधर धर्माधिकारी; बालमुकुंद अरोरी; हरिभट्ट धोबे; वासुदेव भट्ट गुज्जर; शिवराम भट्ट जोशी; जगंनाथ धर्माधिकारी; अनंत राम भट्ट; विनायक भट्ट मौनी; कृपाकृष्ण जकार; शिवलाल पाठक; लक्ष्मण भट्ट; बब्रूपधशास्त्री; भवानी शंकर ठाकुर; योगेश्वर शास्त्री; मेघपति जोशी; गणेश भट्ट शारंगपाणि; शिव भद्र पाठक; सूरजराम जानी, आरतराम वल्लभ राम; गोविंदराम शिवदत्त; बेनीराम बोरा; सिंहजी मोरेश्वर; मोहनलाल मुरलीधर; दूबे चिरंजीव शिवशंकर; देवकरण बखतराम; गौरीशंकर ताराचंद; नानक परमेश्वर कारला करण अजिलेश्वर; दूबे बनातराम; रामेश्वर बकरन; काशीराम रत्लेश्वर; रतिराम संमुखराम; विद्याधर उदयकरण; दूबे इज्जतराम लज्जाराम; दयाधर दीनानाथ; दयानाथ विष्णु; गोथ सत्वाक कृष्ण कायल; ताराधर मंगलेश्वर; रेवादास; जीवनेश्वर; अंबाशंकर विजयशंकर; शीलाधर रूपराम काशीराम शिवशंकर; जानी रेवाधर बिहारी लाल; सूरजराम मुन्नाराम; नाना मोरवा; गोविंदराम निर्वाणेश्वर; ईश्वर जी लक्खू जी; जैन आनंद राम सारथराम; जगतराम इज्जतराम; मुकेश्वर; रसिकलाल ब्रजलाल; दयानंद करुणाकरन; रामदत्त सेवकेश्वर; संमुखराम उत्तमराम; स्वर्गशंकर दयाराम; बज्जीराम चरनराम; बालमुकुद शकर; चंद्रेश्वर; हीराकरण मोतीकरन; विश्वनाथ झा गोपीनाथ; जिनेश्वर लक्ष्मीश्वर; प्रेमशंकर; महंत गोपाल कृष्ण; अंबाराम व्यास; कृष्णजी जोशी; रामचंद्र व्यास; मावारीमल शिवेश्वर; दूबे सूरज जी; तिवाड़ी रतन जी; तिवाड़ी अंबाराम गणपत जोशी; पंड्या महादेव; विद्याधर वैद्य; राजाराम कंवल राम; देवदत्त भट्ट; विद्यानन्द जोशी; बीवरेश्वर; बट्ठाराम भट्ट; ओझा रामकृष्ण; तिवाड़ी बैजनाथ; दूबे चतुर्भुज; दूबे देवराम; ओझा राधाकृष्ण; अंबाशंकर जाली; आनंद राम व्यास; मुन्नाराम; रघुनाथ गोपाल; दीक्षित गोपालजी; दीक्षित हरिकृष्ण; सूरजलाल शुक्ल; जीवनराम दूबे; कृष्णदेव दीक्षित; गोपालदेव; चित्रेश्वर भट्ट; रघुदेव व्यास; शिवशंकर दीक्षित; गोकुलनाथ दीक्षित।

१७८७ में बंगाली पंडितों, रईसों और दूसरे ब्राह्मणों द्वारा दिए गए मानपत्र के हस्ताक्षर : कृपाराम तर्क सिद्धांत; गोविंदराम न्यायाचार्य; रामराम सिद्धांत; काशीराम चटर्जी; प्राणकृष्ण शर्मा; श्याम विद्या वागीश; कृष्ण मंगल शर्मा; कृष्ण चंद्र सार्वभौम; युगल किशोर वंद्योपाध्याय; कृष्णचंद्र मुखर्जी; रामलोचन मुखर्जी; दुलाल न्यायालंकार; बलराम वाचस्पति; सदानंद तर्क वागीश; शिवनाथ तर्क भूषण; आनंद चंद्र भट्टाचार्य; रामचंद्र विद्यावागीश; काशी नाथ मैथिल; गंगाराम व्यास; रामप्रसाद वंद्योपाध्याय; रामसुंदर राय; वागलेश्वर प्रधान; कालीप्रसाद भट्टाचार्य; गंगाधर विद्यावागीश; कृष्णानंद विद्यालंकार; रामचरन चक्रवर्ती; हरिदेव तर्कभूषण; रामचंद्र विद्यालंकार; रामराम बख्शी; बलराम भट्टाचार्य; रुद्रराम सरकार; भवानी चरन सरकार; राम-

शंकर बंद्योपाध्याय; दर्पनारायण भट्टाचार्य; गोकुल कृष्ण विद्यालंकार; रामकांत विद्यालंकार; रामनाथ शर्मा; चंडीचरन शर्मा; लक्ष्मण विद्यावागीश; रामकांत विद्यालंकार; गंगाराम प्रधान; लक्ष्मीनारायण शर्मा; कृष्णानंद सार्वभौम; खेलाराम शर्मा; तिलक चंद्र गंगोपाध्याय; रामराम शर्मा; रामजी गंगोपाध्याय; काली प्रसाद शर्मा;, जगन्मोहन मुखोपाध्याय; शोभानाथशर्मा; रामदास शर्मा; कृष्णदास सावभौम; जयकृष्ण शर्मा; जयशंकर शर्मा; प्रेमानंद गंगोपाध्याय; ज्ञानानंद शर्मा; शंभूनाथ बंद्योपाध्याय; जयनारायण घोषाल; भवानी शंकर घोषाल; गंगाहरी बंद्योपाध्याय; रामसंतोष चटर्जी; विश्वनाथ चटर्जी; रामराम सिद्धांत; जगंनाथ राय; मानिकचंद्र शर्मा; गंगाधर विद्यावागीश; राममोहन भट्टाचार्य; रामचंद्र न्यायालंकार; जयदेव शर्मा; जगंनाथ शर्मा; काशीनाथ शर्मा; देवनारायण शर्मा; गोपाल शंकर प्रधान; लक्ष्मी नारायण न्यायावागीश; कृष्णदेव चटर्जी, युगलमोहन शर्मा; विश्वनाथ घोष; रघुनाथ पालित; काशी प्रसाद सरकार; विहारी चरन सील; संतसिंध, रामनारायण सील; रामसुंदर साईं; राममोहन पालित; प्राणकृष्ण पालित; कृष्णमोहन दास; रामशंकर बोस;, रामहरिदास; रामनिधि दास; हरिचरन मल्लिक; ब्रजकिशोर घोष; काली प्रसाद शर्मा; काली शंकर शर्मा; काली प्रसाद शर्मा; केवलराम शर्मा; केवलराम भट्टाचार्य; प्राणनाथ ठाकुर; रामचंद्र बनर्जी; नीलमणि ठाकुर; चैतन्य चरन ठाकुर; हरिकृष्ण वेद; विष्णु शंकर विफाट; मन्नू विफाट; रामनाथ विफाट; विश्वनाथ मित्र; वैद्यनाथ नारायण मिश्र; औसान मिश्र; कालीदास सिद्धांत।

परिशिष्ट ३

१७९६ के मानपत्र में आए पंडितों के हस्ताक्षर:

(१) काशीनाथ तर्क भूषण; (२) रामचंद्र तारा; (३) विद्यानंद शर्मा भट्ट; (४) गंगाराम शर्मा; (५) सीड़न प्रसाद शर्मा; (६) अनूपनारायण देव शर्मा; (७) सालग्राम त्रिपाठी; (८) ऋषिराज मिश्र; (९) दीक्षित हरीराम शर्मा; (१०) शुकदेव ज्योतिर्विद (११) मन्नूजी जोशी! (१२) दीक्षित दुर्लभजी; (१३) रामप्रसाद शर्मा; (१४) लक्ष्मीपति ज्योतिर्विद्; (१५) काशीनाथ त्रिपाठी; (१६) कृष्णानंद शर्मा; (१७) सुधाकर शर्मा तारा; (१८) धनपति शर्मा; (१९) मनोरथ शर्मा; (२०) केवलराम शर्मा; (२१) सुधाकर शर्मा तारा; (२२) केवलराम मिश्र; (२३) दीक्षित जटाशंकर, ऋग्वेद के शिक्षक; (२४) मार्कंडेश्वर शुक्ल, सामवेद के अध्यापक; (२५) कृष्णदीक्षित देव शर्मा; (२६) हरिदेव शर्मा; (२७) दुर्गाचरन शर्मा ; (२८) हीरामणि शेष; (२९) जयराम शर्मा भटवाड; (३०) गौरी प्रसाद शर्मा, ३१–३४ नाम मलायालम में; (३५) जयराम भट्ट, यजुर्वेद के अध्यापक; (३६) मौनीराम अथर्ववेद के अध्यापक; (३७) भैरव चंद्र शर्मा; (३८) रामानंद शर्म्मा; (३९) रामेश्वर भट्ट गहवर; (४०) गोविंद भट्ट; (४१) मणि शर्मा; (४२) बच्चन् शर्मा; (४३) चेत शर्मा; ।

१७९७ के दूसरे मानपत्र में आए पंडितों और ब्राह्मणों के नाम :—

(१) हरिभद्र पंडित; (२) विश्वंभर शिवभद्र; (३) राम भद्र पंडित; (४) रामचंद्र कोरकर; (५) दाद भट्ट शर्मा; (६) शेष हरिराम पंत; (७) नीलकांत शर्मा उर्फ राजम् भट्ट;

(८) हरिराम शर्मा; (९) पुष्यस्तंभ मुकुंद; (१०) शिवराम दशपुत्र; (११) वेणीराम दशपुत्र; (१२) राजाराम शर्मा जी; (१३) वासुदेव गुर्जर; (१४) मुकुंददेव; (१५) लक्ष्मण पंडित दशपुत्र; (१६) लक्ष्मणशर्मा बांधवकर; (१७) जगंनाथ शर्मा; (१८) विश्वरूप नत्थूभट्ट; (१९) कृपाकृष्ण शर्मा याज्ञिक; (२०) बाचं भट्ट शर्मा मौनी; (३१) जयराम ज्योतिर्विद; (२२) नान्हा गुर्जर; (२३) वक्ष यादव; (२४) टुंडराज दीक्षित; (२५) भैरव दीक्षित पालनेटकर; (२६) नारायण भट्ट पौराणिक; (२७) चिंतामणि कालेंकर; (२८) रामकृष्ण नपट; (२९) भैरव भट्ट मूल; (३०) बालकृष्ण दीक्षित अयाचित; (३१) सखाराम भट्ट लघाटे; (३२) शिवराम भट्ट कत्रे; (३३) गंगाराम भट्ट मोघे; (३४) यज्ञेश्वर; (३५) रामकृष्ण दीक्षित तिलक; (३६) जगंनाथ; (३७) सदाशिव शर्मा अंभोन्कर; (३८) रामचंद्रवंत शर्मा; (३९) राजाराम अर्धमान; (४०) बालं भट्ट भारद्वाज; (४१) विश्वरूप घोडे; (४२) कृष्ण भट्ट; (४३) अनंतराम पटवर्धन; (४४) बाल मुकुंद, (४५) भवानी शंकर शर्मा ठाकुर; (५६) त्रिपाठी जानकी नाथ शर्मा; (४७) शिवलाल; (४८) रामकृष्ण घुल; (४९) लोकनाथ देव; (५०) जगंनाथ भट्ट मराठे; (५१) कृष्णभट्ट लन्ल; (५२) ओकबाला शर्मा; (५३) सखाराम तारा; (५४) मणिराम महाजन; रामेश्वर ज्योतिषी के पुत्र; (५५) चिंतामणि दीक्षित कर्नाटक; (५६) ढुंढिराज फड़के; (५७) जगंनाथ घूल; (५८) बापू दीक्षित द्रोण, (५९) रामचंद्र देव; (६०) भास्कर भट्ट घोटे; (६१) श्रीनिवास पाठक; सदानंद ज्योतिषी के पुत्र; (६२) महादेव देव; (६३) शिवभद्र पाठक; (६४)आदित्य राम पाठक; (६५) विनायक व्यास; (६६) राधा चरण, बनारस की अदालत के पंडित।

क्या ऋग्वेदकाल में मुद्रा प्रचलित थी ?

अनंत सदाशिव अल्तेकर

ऋग्वेदकाल में मुद्रा का व्यवहार होता था या नही, इस विषय पर बहुत मतभेद है। विद्वानों के एक वर्ग का मत है कि उस काल में मुद्रा प्रचलित थी,[1] परंतु दूसरा वर्ग इस मत के विपक्ष में है। अतः वास्तविक स्थिति का पता लगाने के लिये हमें उपलब्ध साक्ष्य की परीक्षा कर के देखना चाहिए कि हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं या नही।

वैदिककालीन समाज में कुछ लोग कृषि का उद्यम करते थे और कुछ भ्रमणशील जीवन व्यतीत करते थे। प्रत्येक कृषक अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का अधिक भाग स्वयं उत्पन्न करता था; जो वह नहीं उत्पन्न करता था उसे अपने पड़ोसियों से अधिकतर वस्तु-विनिमय द्वारा (दूसरी वस्तुओं के बदले में) प्राप्त कर लेता था। अन्न बहुत दिनों तक नहीं रह सकता था और सोने जैसी बहुमूल्य धातुएँ बहुत कम थीं। अतः लोगों के पास उनकी संपत्ति के रूप में अधिकतर पशुओं के समूह ही होते थे। जब वस्तु-विनिमय संभव नहीं होता तो विनिमय के माध्यम के रूप में गौओं का उपयोग होता था।[2] ऋग्वेद में एक स्थल पर इंद्र की प्रतिमा का विक्रयार्थी एक ऋषि उस प्रतिमा का मूल्य दस गौएँ बतलाता है।[3] दूसरे स्थल पर हम एक ऋषि को यह कहते हुए पाते हैं कि मैं अपना इंद्र सौ या हजार या दस हजार गौएँ लेकर भी नहीं बेचूँगा।[4] युद्ध के लिये अभियान करती हुई भरत-सेना के वर्णन में कहा गया है कि वह गौओं के विजय की अभिलाषा से प्रेरित थी।[5] उसकी संपत्ति, जिसका पता लगाने के लिये इंद्र ने अपने दूत सरमा को भेजा था, सोने या चांदी नहीं वरन् गौओं

१. भंडारकरः एंशंट इंडियन न्यूमिज्मैटिक्स, पृ० ७०–१

२. एस० के० चक्रवर्ती : एशंट इंडियन न्यूमिज्मैटिक्स, अ० १।

३. क इमं दशभिर्मम इन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः। ४।२४।९

४. महे चन त्वा अद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ॥ ८।१।५

५. यदंग त्वा भरताः संतरेयुः गव्यन्ग्राम इषितः इन्द्रजूतः ३।३३।११

जैन स्तूप की वेष्ठनी पर लगी शालभंजिकाएँ
कुषाणकाल (ई० २री—३री शती)
मथुरा से प्राप्त

—लखनऊ संग्रहालय।

के रूप में थी।[1] अतः सभी प्रकार के व्यावहारिक कार्यों के लिये वैदिक भारतीयों की संपत्ति गौएँ थीं, जो विनिमय के माध्यम का भी काम देती थीं। इस पर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि अनेक प्राचीन समाजों में यही स्थिति थी। होमर के समय में समाज की संपत्ति अधिकतर ढोरों के रूप में होती थी। यदि ऋग्वेद में दस-गऊ मूल्य वाली प्रतिमा का उल्लेख है तो ईलियड में नौ-गऊ मूल्यवाले शस्त्रों के बदले हजार-गऊ मूल्य वाले शस्त्रों का वर्णन है। वैदिक भारतीय गौएँ देकर सोम खरीदते थे, तो होमरकाल के यूनानी ढोर और खाल देकर मद्य क्रय करते थे। रोम और ड्राको के पुराने कानूनों में अर्थदंड का निर्धारण सिक्कों में नहीं वरन बैलों में किया जाता था।[2]

इसमें तो संदेह नहीं कि विनिमय के माध्यम के रूप में गौओं का उपयोग बड़ा असुविधाजनक है। यदि किसी वस्तु का मूल्य आधी-गऊ हो तो उसका मूल्य चुकाया नहीं जा सकता। विनिमय का माध्यम धातु होने से यह कठिनाई दूर हो जाती है। धातुएँ छोटे खंडों में दी जा सकती हैं और उनके उपयोग, संचय और रक्षा में अधिक सुगमता होती है। अब यह देखना चाहिए कि वैदिककाल में वे विनिमय के माध्यम के रूप में कहाँ तक स्वीकार की गई थीं।

बहुमूल्य धातुओं में केवल सोना ही वैदिककाल में भली भाँति ज्ञात था; चाँदी का उल्लेख बहुत कम और केवल पिछली संहिताओं में हुआ है। ताँबे से लोग अच्छी तरह परिचित थे। अब हमें इस प्रश्न का निर्णय करना है कि वैदिककाल में इन धातुओं की मुद्राएं प्रचलित थीं या नहीं!

यह सर्वस्वीकृत है कि वैदिक साहित्य में ताँबे के सिक्कों का उल्लेख कहीं नहीं है। माष या पण जैसे शब्द जो पिछले काल में ताम्रमुद्रा के सूचक थे, वैदिक साहित्य में अज्ञात हैं। उसमें कोई दूसरे भी ऐसे शब्द नहीं है जिनसे ताँबे के सिक्के का अर्थ लिया जा सके। वैदिककाल में चाँदी के सिक्के भी नहीं थे; स्वयं चाँदी ही वैदिक आर्यों को प्रायः अज्ञात थी। केवल पंचविंश ब्राह्मण में एकबार रजतनिष्क का वर्णन व्रात्यों के प्रसंग में आया है, जो विदेशी-तुल्य थे।[3] अतः हम बेखटके यह स्वीकार कर सकते हैं कि वैदिककाल में चाँदी के सिक्के नहीं थे।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वैदिक काल में सोने की मुद्रा प्रचलित थी? इस विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद-वर्णित निष्क मुद्रा भी था और आभूषण भी। अन्य विद्वान् इस निष्कर्ष पर आपत्ति करते हैं। अतः हमें उपलब्ध साक्ष्य की सावधानी से परीक्षाकर के देखना चाहिए कि उससे किस निष्कर्ष की पुष्टि होती है।

ऋग्वेद में सोने का उल्लेख कई प्रकार से हुआ है। जान पड़ता है कि पिछले काल की भाँति उस सयम भी सोना स्वर्णकण के रूप में पंजाब की नदियों की तलहटियों से इकट्ठा किया जाता था। जब निकट भविष्य में उसके उपयोग की संभावना नहीं होती थी तो उसे छोटे-छोटे थैलों

---

१. इमा गावः सरमे या त्वमैच्छः। १०।१०८।५

२. यहाँ यह कह देना मनोरंजक होगा कि यूरप वालों और उस महाद्वीप के आदि निवासियों के बीच एक गज कपड़ा सिक्के के रूप में व्यवहृत होता था।

३. १७।१।१४

में संचित कर रखते थे। राजा देवदास ने अपने पुरोहितों को दस घोड़ों, दस वस्त्रों और दस स्वर्ण-पिंडों[1] के साथ जो दस थैले दिए थे वे संभवतः स्वर्णकण के ही थे। सुरक्षा के लिये सोना कलशों या अन्य पात्रों में भर कर धरती में गाड़ दिया जाता था।[2]

मूल कण रूप में सोने के उपयोग में कठिनाई होती थी अतः उसे गलाकर पिंडो या डलों के रूप में कर लेते थे जिनका उल्लेख ऊपर दिए मंत्र में **हिरण्यपिंड** नाम से किया गया है। उससे पुरुषों और स्त्रियों के पहनने के भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषण भी बनाए जाते थे। इन आभूषणों में से कुछ का ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है। एक का नाम **खादि** था जो भुजाओं और पैरों में पहना जाता था। संभवतः वह आजकल के कड़ों की तरह का होता था। दूसरा आभूषण **रुक्म** था जो कभी छाती पर और कभी भुजा में पहना जाता था।[3] यह संभवतः कई भिन्न-भिन्न आकारों में बनता था। तीसरा आभूषण **कर्णशोभन** था[4] जो संभवतः आजकल के अनेक प्रकार के कर्णाभूषणों (इयरिंग) में से किसी से मिलता जुलता था। चौथा आभूषण **निष्क** था। एक मंत्र में **निष्क** धारण किए हुए रुद्र का वर्णन है; उस निष्क का आकार **विश्वरूप** कहा गया है। विश्वरूप का ठीक-ठीक अर्थ निश्चयपूर्वक बताना कठिन है। संभवतः निष्क के ऊपर अनेक (विश्व) प्रकार के संकेत या आलंकारिक चित्रण होते थे, इसी कारण उन्हें **विश्वरूप** कहा जाता था। जो कुछ भी हो, पर निष्क एक कलात्मक वस्तु थी, क्योंकि प्रभात के सुंदर दृश्य को अनावृत करती हुई **उषा** के आलंकारिक वर्णन में कहा गया है कि वह मानो **निष्कपट** या माला धारण किए हुए है।[5]

पिछले काल में निष्क एक स्वर्णमुद्रा का नाम था जिसका तोल लगभग ३ तोला या ५७० ग्रेन था। भारत में गोल सिक्कों को गूंथ कर माला (कंठाभरण) बनाने की प्रथा बहुत प्राचीन काल से चली आई है। अतः क्या इस आधार पर हम कह सकते हैं कि ऋग्वेदकाल में भी निष्क कोई स्वर्णमुद्रा था और वह कभी-कभी आभूषण के रूप में भी प्रयुक्त होता था ?

वेदों में कुछ इस प्रकार के मंत्र हैं जो प्रकट रूप में इस विचार की पुष्टि करते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर कक्षवीत ऋषि इस बात का वर्णन करते हैं कि किस प्रकार उन्हें राजा भव्य से दस घोड़े और दस निष्क प्राप्त हुए।[6] अथर्ववेद में एक दूसरा ऋषि बतलाता है कि कैसे उसके

---

१. दशाश्वान् दश कोशान्दश वस्त्राधि भोजना । दशो हिरण्यपिंडान् दिवोदासा दसानिषम् ॥

२. हिरण्यस्येव कलशं निखातं । उदूपर्यु दशमे अश्विनाऽहनि ॥
ऋ० ६।४७।२३

३. भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु वक्षःसु रुक्मा...।१।१६६।१६
रुक्मासो अधि बाहुषु ।८।२०।१०

४. उत नः कर्ण शोभना पुरुणि धिष्णु आभरः।
त्वं हि श्रृण्वसे वसो॥ ऋ० ८।७८।२

५. निष्कं वा धा कृण्वते स्रजं वा दुहितर्दिवः।

६. शतं राज्ञो नाथमानस्य निष्कान्
शतमश्वान्प्रयतान्सद्य आदम्। ऋ० १।१२६।२

संरक्षक उदार राजा ने उसे १०० निष्क, दस मालाएँ, ३०० घोड़े और दस हजार गाएँ दीं।[1] इसपर यह तर्क किया जाता है कि ऋषियों के निजी या पारिवारिक उपयोग के लिये दस या सौ मालाओं की कोई आवश्यकता नहीं थी। अतः जो निष्क उन्हें उनके संरक्षकों से प्राप्त हुए थे वे अवश्य सिक्के रहे होंगे।

परंतु उपर्युक्त तर्क बहुत आस्थाजनक नहीं है। पिछले काल में निष्क का उपयोग मुद्रा और आभूषण दोनों के रूप में होता था; परंतु निष्क उस स्वर्णखंड को कहते थे जो पदक या मुहर के रूप में माला में गूँथे जाते थे न कि स्वयं माला ही को। कवि को जो सौ निष्क प्राप्त हुए थे वे सौ कंठाभरण नहीं वरन् सौ गोल कलात्मक स्वर्णखंड, या संभवतः सिक्के थे। वे कवि-पुरोहित के निजी या पारिवारिक उपयोग के लिये नहीं थे। सौ निष्कों की चार से अधिक मालाएँ नहीं बन सकती थीं। हम यह जानते हैं कि स्त्रियाँ किस प्रकार कई मालाओं का उपयोग किया करती हैं, अतः कह सकते हैं कि २५–२५ खंडों की चार मालाएँ अकेले कवि की पत्नी ही पहन लेती रही होगी; नहीं तो उनमें उसकी पुत्रियों या पुत्रवधुओं का भी हिस्सा लग जाता रहा होगा, जो सब मिलाकर अधिक नहीं तो चार तो हो ही सकती थीं।

इसलिये यदि यह माना जाय कि निष्क सोने के सिक्के नहीं थे वरन् वे गहनों की तरह माला में गूँथेजानेवाले स्वर्णखंड थे, तो भी दस या सौ निष्कों के दान का अर्थ भली भाँति समझा जा सकता है। निष्क उस समय तक नियमित मुद्रा नहीं बन पाया था, इसके लिये दूसरा प्रमाण है। यदि वह ऐसा बन चुका होता तो हम विक्रय वा दान के प्रसंग में बराबर उसका उल्लेख पाते। जहाँ भी विक्रय का प्रसंग आया है वहाँ हम देखते हैं, मूल्य का उल्लेख सदैव गायों के रूप में हुआ है, निष्क के रूप में एकबार भी नहीं। जहाँ तक दोनों के वर्णन का संबंध है, हम कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख पाते हैं कि कवि सौ कलश भर सोना,[2] या सौ स्वर्णपिंड[3] अथवा दस या सौ सोने के निष्क[4] माँग या पा रहा है। यदि यह मान लिया जाय कि निष्क का व्यवहार निर्धारित मूल्य की स्वर्णमुद्रा के रूप में सामान्य रूप से होता था, तो उक्त शब्दावली की भिन्नता का भेद समझना कठिन होगा।

प्रारंभिक वेदकाल का परीक्षण समाप्त करने के पूर्व में ऋग्वेद के उस स्थल का भी निर्देश कर देना है जहाँ इंद्र से प्रार्थना की गई है कि वह भक्त को गौओं और अश्वों के साथ सोने के मन प्रदान करे।[5] यह सत्य है कि कतिपय अन्य पदों में मन का अर्थ इच्छा है,[6] और उक्त प्रसंग

१. य इषाय भामहे शतं निष्कान् दश स्रजः।
   त्रीणि शतानि ऊर्वता सहस्रा दश गोनाम्॥ २०।१२७।३
२. दश से कलशानां हिरण्यानामधीमहि। भूरिदा असि वृत्रहन्। ऋ० ८।३२।१९
३. दशो हिरण्यपिंडान् दिवोदासादसाविषम्।
४. शतं राज्ञो नाथमानस्य निष्कान् शतमश्वान् सद्य आदम्। १।१२६।२
५. आ नो भर व्यञ्जनं गामश्वयभ्यञ्जनम्। स चा मना हिरण्यया॥ ऋ० ८।७८।२
६. धीरासः पुष्टिमवहन्मनायै। ऋ० ४।३३।२
   आ यस्मिन्मना हवींषि अग्नौ॥ १०।६।३

का इस प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है कि उसमें इंद्र से भक्त के लिये गौओं और अश्वों के अतिरिक्त सोने के अर्थात् अनुकूल विचार लेकर आने की प्रार्थना की गई है। परंतु यह बहुत संभव प्रतीत होता है कि कवि का तात्पर्य यहाँ स्वर्णखंड या स्वर्णमुद्रा से हो, विशेषतः जब हम जानते हैं कि बेबिलोनियावाले अपने देश में नियमित रूप से मुद्रा का प्रचार होने के पहले मनि शब्द का प्रयोग नियत तोल वाले सोने या चाँदी के खंड या पिंड के लिये करते थे। सोने के सिक्के या तोल के लिये मन शब्द का प्रयोग उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में अज्ञात है। उपर्युक्त उद्धरण से प्रकट होता है कि वैदिककाल के कुछ भारतीय बैबिलोनिया के स्वर्ण मन से परिचित थे जिसे वे इंद्र से अपने साथ लाने की प्रार्थना करते हैं; परंतु प्राचीनकाल में बेबिलोनिया में मन एक निश्चित तोल का नाम था, न कि सिक्के का और इस अकेले वैदिक उद्धरण से केवल यही सिद्ध होता है कि बेबिलोनिया से कुछ मनि भारत में पहुंच चुके थे। वैदिक भारत में मन निर्धारित तोल या मुद्रा के रूप में अज्ञात था, जैसा उत्तरकालीन साहित्य से इस शब्द के लुप्त हो जाने से सिद्ध होता है।

अब संक्षेप में स्थिति इस प्रकार है। सोना वैदिककाल में सब से बहुमूल्य पदार्थ माना जाता था। परंतु वह इतना महँगा था कि नित्य के साधारण लेन-देन में उसका उपयोग नहीं किया जा सकता था। केवल असाधारण दानी राजाओं द्वारा कभी-कभी दिए जाने वाले बहुत बड़े-बड़े दानों के प्रसंग में ही उसकी बात सोची जा सकती थी। संभवतः वह स्वर्णकणों के रूप में पाया जाता था और थैलों या कलशों में संचित किया जाता था। व्यवहार की सुविधा के लिये स्वर्णकणों को सर्व-स्वीकृत मूल्य के निश्चित और सुप्रसिद्ध तोलवाले खंडों (हिरण्यपिंड) के रूप में बना लिया जाता था; अन्यथा दस अश्वों के साथ दस स्वर्णपिंडों के दान का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। सोने से शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में धारण किए जाने वाले आभूषण भी बनाए जाते थे। इनमें से एक अर्थात् निष्क निर्धारित और सुप्रसिद्ध तोल तथा सर्वस्वीकृत मूल्य का बन चुका था। इसीसे हम राजाओं द्वारा दस या सौ निष्कों का दान दिए जाने का वर्णन पाते हैं। प्रत्येक निष्क या हिरण्यपिंड का ठीक-ठीक तोल क्या था यह हमें विदित नहीं हैं।

यद्यपि हिरण्यपिंड या निष्क का तोल और मूल्य सुनिश्चित और सर्वस्वीकृत हो चुका था, तथापि उसे स्वर्णमुद्रा कहना कठिन है। जान पड़ता है वह उन नियत तोल वाले चाँदी और सोने के छल्लों के सदृश होता था जो प्राचीन मिश्र में प्रचलित थे और जिनका उपयोग गहने और सिक्के दोनों के रूप में होता था[१]। स्वर्णकणों के विनिमय में बिना तराजू और बाट के कठिनाई पड़ती रही होगी। तराजू-बटखरे के बारबार प्रयोग करने की झंझट से बचने के लिये ही भारत के हिरण्यपिंडों और निष्कों, मिश्र और सीरिया के छल्लों, ग्रीस के काँटों (ओबीलिस्कों) और लीडिया की गोलियों का व्यवहार आरंभ हुआ। ये वस्तुएँ आधुनिक अर्थ में मुद्रा नहीं थीं। ऋग्वेद में इस बात

---

१. उदाहरणार्थ हम अब्राहम के सेवकों के विषय में पढ़ते हैं कि वे 'रिबेका' को आधा 'शिकिल' तोल की एक सोने की अंगूठी और दस 'शिकिल' तोल के दो कड़े देते हैं। (गार्डनर : हिस्ट्री ऑव एंशंट कॉयनेज)

प्राचीन ग्रीस के ओबीलिस्क और लीडिया की गोलियाँ भी इसी प्रकार की थीं।

का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि निष्क राज्य या पंचायत के अधिकार द्वारा प्रचलित किए जाते थे और उनपर उनके तत्त्व और मूल्य की प्रामाणिकता के सूचक संकेतों की छाप होती थी।

यदि हम यह मान भी लें कि ऐसा होता था तो भी हमारा यह कहना ठीक नहीं होगा कि वैदिककाल में मुद्रा का प्रचार था। निष्कों या स्वर्णपिंडों का वर्णन केवल उदार राजाओं द्वारा दिए गए बड़े-बड़े दानों के वर्णन के ही प्रसंग में मिलता हैं। अधिकतर राजा तो साधारणतः गौओं का ही दान करते थे; सोने के निष्क केवल कुछ के द्वारा कभी-कभी दिए जाते थे। बेंची या शर्तनामों के के प्रसंग में निष्क का कहीं उल्लेख नहीं है। वैदिककाल में अधिकतर लेनदेन वस्तु-विनिमय की पद्धति द्वारा ही होते थे; केवल कहीं-कहीं गायों का वर्णन विनिमय के माध्यम के रूप में आया है। सोने के निष्क इस प्रकार के साधारण लेनदेन के लिये बहुत महँगे पड़ते थे। जनसाधारण की दैनिक आवश्यकताओं के लिये केवल ताँबे और चाँदी के ही सिक्के उपयोगी हो सकते थे, और इनका उल्लेख ऋग्वेद में कहीं नहीं है। क्योंकि सोना अधिकतर स्वर्णकणों के रूप में पाया जाता था, अतः तराजू-बटखरे की झंझट से बचने के लिये प्रायः उनके निश्चित तोल और सर्वस्वीकृत मूल्यवाले खंड बना लिए जाते थे, जो हिरण्यपिंड या निष्क कहलाते थे। किंतु वे राज्य द्वारा नहीं बनाए जाते थे, न संभवतः उनके ऊपर उनके मूल्य के प्रमाणस्वरूप कोई संकेत आदि ही होते थे। अतएव उन्हें मुद्रा नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उनमें से एक का नाम निष्क पीछे स्वर्णमुद्रा के लिये व्यवहृत होने लगा था। मिश्र और असीरिया जैसे अन्य प्राचीन देशों में भी उन्नत और समृद्धि पूर्ण सभ्यताएँ बिना मुद्रा की रह चुकी हैं। यही बात वैदिक भारत के विषय में भी थी।[1]

---

१. मुद्रा का आविष्कार होने के शताब्दियों बाद तक फोनीशिया वालों ने सिक्के नहीं चलाए, यद्यपि वे फारस और ग्रीस के सिक्के काम में लाते रहे होंगे।

—दी गोल्ड कॉयनेज ऑव एशिया, पृ० ४

सिक्का—१

क ख

क—सामने से। ख—पीछे से।

सिक्का—२

सामने से।

सिक्का—३

क—सामने से ; ख—पीछे से।

महषिवंशी मान राजा का सीसे का सिक्का ; तदाकार ; हैदराबाद संग्रहालय।

सिक्का—४
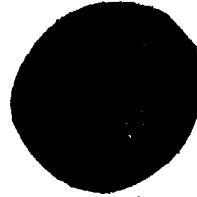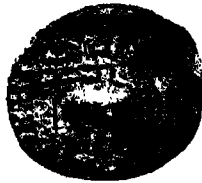
क—सामने से ; ख—पीछे से।

महिवंशी यश राजा का सीसे का सिक्का; मस्की से प्राप्त; तौल २०९·९२५ ग्रेन ; आकार १०१″।

शिक्षक की मानसिक और सामाजिक स्थिति

सोहन लाल

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य, पढ़ना, लिखना, गणित सिखाने के अतिरिक्त, सदा से चरित्र-निर्माण रहा है। किसी भी शिक्षा-पद्धति में शिक्षा-चक्र की धुरी शिक्षक होता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह बालक के सामाजिक तथा नैतिक कर्तव्य संबंधी उचित विवेक से युक्त, पूर्ण, विकास प्राप्त नागरिक बनने में उसकी सहायता करे। शिक्षक और शिष्य की समता प्राय: माली और पौधे से की जाती है। परंतु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह समता बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। माली और पौधे का संबंध सर्वथा बाह्य है। माली पौधे की वृद्धि के लिये अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करता है। वह उसकी शाखाओं की काट-छाँट भी करता है, और इस प्रकार पूरी तरह बढ़ने में पौधे की सहायता करता है। इसी प्रकार शिक्षक से भी आशा की जाती है कि वह बालक की परिस्थितियों का नियंत्रण एवं उसके विकास का पथ-निर्देश करे। परंतु यही सब कुछ नहीं है। शिक्षक और शिष्य के व्यक्तित्वों का आंतर-संपर्क भी होता है। यदि शिक्षक केवल परिस्थितियों के बाह्य नियंत्रण और निर्देशन तक ही अपने को सीमित रखे तो वह अधिक सफल नहीं हो सकता। चरित्र-निर्माण में ठोस और स्थायी सफलता प्राप्त हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि शिक्षक और शिष्य के बीच उनके व्यक्तित्व का संपर्क स्थापित हो। इस प्रकार का संपर्क स्थापित हुए बिना शिक्षक बालक के चरित्र पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता।

मानव-जीवन के दो पक्ष होते हैं—बाह्य और आंतरिक। मनुष्य अपने घर में रहकर परिवार के प्राणियों के साथ भिन्न-भिन्न संबंधों का निर्वाह करता है। कार्यालय में उसका जीवन दूसरे प्रकार का होता है; और गोष्ठी में उससे भिन्न प्रकार का। परंतु इन सबके अतिरिक्त उसका एक और प्रकार का जीवन होता है—विचारों और भावों का आंतरिक जीवन। उसके अपने आदर्श होते हैं, धारणाएँ होती हैं, विचार होते हैं और कल्पनाएँ तथा महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं। उसके हृदय में भय, प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष और कामवासना आदि भी होती हैं। ये सब व्यक्ति की निजी संपत्ति हैं। उसके भीतर निरंतर इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। इस अन्योन्यमुखी क्रिया के फलस्वरूप मन का एक विशेष रूप विकसित होता है, जिससे जीवन के प्रति हमारी भावना बनती है और जो बहुत अंशों में हमारे बाह्य आचरण के लिये उत्तरदायी होता है।

दो मनुष्यों के व्यक्तित्वों में संबंध स्थापित होना सदा संभव नहीं होता। बरसों तक दो मनुष्य साथ-साथ रहें, फिर भी यह संभव है कि उन दोनों का संबंध केवल ऊपर-ऊपर का ही रह जाए, उनके व्यक्तित्वों का कभी स्पर्श तक न हो पाए। व्यक्तित्व का संबंध रासायनिक क्रिया की भाँति होता है। जब दो व्यक्तियों के व्यक्तित्व का संबंध होता है तब दोनों परिवर्तित हो जाते हैं। मैं एक अत्यंत निपुण शिक्षक को जानता हूँ जो कहा करते थे कि "यह तो कोई भी मूर्ख सिखा सकता है कि दो और दो चार होते हैं। मुख्य बात तो शिष्य के व्यक्तित्व पर शिक्षक के व्यक्तित्व की छाप है।" यह कथन पूर्णतया सत्य है। कोई भी शिक्षक आंतर संपर्क के अभाव में बालक के चरित्र का निर्माण नहीं कर सकता।

शिक्षक और शिष्य, इन दोनों में साधारणतः शिक्षक का व्यक्तित्व बलवत्तर होता है। यदि दोनों में आंतरसंपर्क स्थापित हो तो शिक्षक की अपेक्षा शिष्य में ही परिवर्तन की संभावना अधिक है। अतः शिक्षक का चरित्र ऐसा होना चाहिए कि उससे बालक के चरित्र का उत्कर्ष हो, न कि अपकर्ष।

यदि हम शिक्षक के आंतरिक जीवन की ओर ध्यान दें तो मालूम होगा कि वहाँ एक तूफान चल रहा है। समाज का उसके प्रति जो व्यवहार है उसके कारण उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होना संभव नहीं है। वह आर्थिक चिंता से ग्रस्त रहता है। वह अनुभव करता है कि सामाजिक दृष्टि से वह उपेक्षित है और उसके महत्त्व का उचित स्वीकार नहीं किया जाता। उसका मस्तिष्क स्वस्थ है, परंतु जीवन की कठिनाइयाँ उसके मौलिक विचारों और क्रियाओं का दमन कर देती हैं। वस्तुतः वह एक 'कुंठित' (या निराश) व्यक्ति है। क्या ऐसे व्यक्ति से स्वस्थ आंतरिक जीवन की आशा की जा सकती है? ऐसे अस्वस्थ मन का प्रभाव बालक के कोमल मन पर पड़ने का परिणाम निश्चय ही घातक होगा। आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि आज के नवयुवक समाज में जो अनुशासनहीनता, उत्तरदायित्व का अभाव तथा अधिकारियों के प्रति विरोध की भावना पाई जाती है उसका अधिकांश असंतुष्ट शिक्षकों के साथ उनके संपर्क के कारण ही है।

यह प्रायः कहा जाता है कि शिक्षकों को उचित वेतन नहीं दिया जाता। यह निस्संदेह सत्य है। परंतु इसके साथ यह भी अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि कुछ अपवादों को छोड़कर साधारणतः, शिक्षक-समाज धनलोलुप नहीं है। यह बात नहीं कि शिक्षकों को धन की अवश्यकता न हो। आवश्यकता है, पर वे लोभी नहीं हैं। उनमें से बहुसंख्यक ऐसे हैं जिन्हें यदि निश्चित रूप से सरलतापूर्वक जीवननिर्वाह भर के लिये नियत न्यूनतम भृति का प्रबंध हो जाय तो वे अपने बौद्धिक जीवन में ही संतुष्ट रहेंगे। हाँ, एक दूसरा कारण अवश्य है जिसके वश होकर शिक्षक कभी-कभी धन की माँग उपस्थित करता है। यह माँग स्वयं धन के हेतु नहीं वरन् उस प्रतिष्ठा के लिये होती है जो धन के द्वारा प्राप्त होती है। दुर्भाग्य से वर्तमान समाज केवल रुपयों के ही मूल्य में सब कुछ आँकना जानता है। पर यह समझना कठिन नहीं होना चाहिए कि जिन लोगों को बौद्धिक जीवन का रस मिल चुका है उन्हें उस उन्मादपूर्ण दौड़-झपट में आनंद नहीं आ सकता जो प्रभूत धन-संग्रह के लिये आवश्यक है। वास्तव में शिक्षक जो वस्तु चाहता है वह है सम्मान, और वह उसे समाज नहीं दे रहा है।

समाज की दृष्टि में अब के शिक्षक वैसे नहीं हैं जैसे पहले होते थे। समाज पीछे उलटकर प्राचीन आचार्यों की ओर देखता है और उनके साथ आजकल के शिक्षकों की तुलना करता है। वह कहता है—"आजकल के शिक्षकों में चरित्रबल नहीं है। यदि उनका चरित्र प्राचीन आचार्यों का सा हो तो उन्हें भी सम्मान प्राप्त हो सकता है।" इस तर्क में एक मनोवैज्ञानिक त्रुटि है। जब कोई प्राचीन आचार्यों को प्रशंसा के भाव से देखता है तब वह अनजान में अपने को प्राचीन समाज का व्यक्ति समझने लगता है। वह यह भूल जाता है कि अब उस समाज का अस्तित्व नहीं है। वह यह भी भूल जाता है कि यदि प्राचीन आचार्य जी अपनी बिखरी हुई मूँछ-दाढ़ी और जटा लिए हुए, ढीलेढाले वस्त्र पहने, हाथ में कमंडलु और चिमटा सहित किसी दिन प्रातःकाल उसके बंगले पर पधारें तो निश्चय ही चपरासी उन्हें निकाल बाहर करेगा। बेचारे आचार्य जी का आजकल के समाज में कोई स्थान ही नहीं है। तब, क्या यह शिक्षक के प्रति अन्याय नहीं है कि उसकी तुलना एक ऐसे व्यक्ति से की जाय जो हमारे समाज के लिये बिल्कुल बेकार है? कुछ लोग कहेंगे —"तुमने विषय को समझा नहीं। मुख्य बात आचार्य का बाहरी वेष नहीं, वरन् उसका विवेक और चरित्र है।" परंतु मेरा विश्वास है कि प्राचीन आचार्य हमारे आचरण के संबंध में जो परामर्श देगा वह आजकल मान्य नहीं होगा। या तो वह वास्तविकता की उपेक्षा करनेवाला आदर्शवादी कहा जायगा अथवा उसे 'पलायनवादी' की उपाधि मिलेगी। अज्ञों तथा धार्मिक मनुष्यों के लिये वह भले ही अच्छा समझा जायगा, परंतु वह ऐसा व्यक्ति नहीं माना जायगा जिससे महत्व की वार्ता में सलाह ली जा सके। तब यह कहना कितना मिथ्या है कि यदि आजकल के शिक्षकों का चरित्र प्राचीन आचार्यों के समान हो तो उन्हें भी सम्मान प्राप्त हो सकता है? यह तो प्रश्न को टालना है।

यह सत्य है कि प्राचीनकाल में प्राचीन आचार्यों का आदर होता था। जब वे राजसभा में जाते तब राजा उन्हें सिंहासन देता था। ऐसा होने का कारण यह था कि तत्कालीन समाज की दृष्टि आध्यात्मिक थी। समाज जानता था कि आचार्य के द्वारा उसके आदर्शों की उपलब्धि होती है। इसीसे वह उसका आदर करता था। वर्तमान समाज के आदर्श हैं—बहुमूल्य भड़कीले वस्त्र, 'ब्यूक' गाड़ियां, रेडियो, कालीन, उत्तम कोटि के 'फर्निचर', वायुयान द्वारा भ्रमण, तथा पुरुषों और सुंदर स्त्रियों पर अधिकार। जो इन आदर्शों को प्राप्त करने में समर्थ हुए वे आज भी आदर पाते हैं। शिक्षक तो इनसे कोसों दूर है; फिर उसका आदर कैसा?

शिक्षकों से आदर्श चरित्र की आशा करना भूल है। यह सत्य है कि प्राचीन गुरुओं का चरित्र आदर्श होता था, परंतु वे संख्या में बहुत थोड़े थे। सब को शिक्षित बनाने की वर्तमान योजना के अनुसार करोड़ों बालकों को शिक्षा देना आवश्यक होगा और इसके लिये लाखों शिक्षकों की आवश्यकता होगी। आदर्श चरित्रवाले व्यक्ति लाखों की संख्या में नहीं पाए जाते। यदि इतने शिक्षकों का चरित्र किसी प्रकार आदर्श हो भी जाय तो वह इस कारण "आदर्श" नहीं माना जायगा कि उस प्रकार का चरित्र लाखों मनुष्यों का होगा। तब आदर्श और अधिक ऊंचे स्तर पर चढ़ जायगा और शिक्षक पर फिर चरित्रहीनता का दोषारोप किया जायगा।

चरित्र की इस माँग का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। बहुत से लोग, जहांतक चरित्र का संबंध है, स्वयं जैसे होना चाहते हैं वैसे नहीं हैं। जो वस्तु वे स्वयं प्राप्त करने में असफल रहे

उसके अभाव की पूर्ति व अपने बालकों द्वारा कराना चाहते हैं। यही कारण है बालक की सच्चरित्रता के लिये उत्कट अभिलाषा का। और बालक का साहचर्य शिक्षक के साथ होता है अतः बालक-विषयक चरित्र की कामना शिक्षक की ओर प्रसरित हो जाती है। इसी कारण उसका चरित्र आलोचना का विषय हो जाता है।

हम इसे पसंद करें या न करें, पर आज के संसार में शिक्षक एक पेशेवर मनुष्य है। उसका पेशा बौद्धिक है, इसमें संदेह नहीं; परंतु है वह पेशेवर। उसे प्रतिष्ठा उसी अवस्था में प्राप्त हो सकती है जब उसके कार्य को महत्त्व दिया जाय। वर्तमान समाज में व्यक्ति के कार्य का महत्व उसे उस कार्य के लिये मिलने वाले रुपयों से आँका जाता है। अतः शिक्षकों की भृति में वृद्धि किए बिना उन्हें सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता। अब मुख्य प्रश्न यह है कि "समाज के कल्याण के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु कौन-सी है—मौलिक विचार? अथवा शासन या व्यापार संबंधी क्षमता?" यदि उत्तर पूर्वोक्त है, तो शासनाधिकारियों और व्यापारिक कार्यकर्ताओं की अपेक्षा शिक्षकों को अधिक वेतन दिया जाना चाहिए। रूस में ऐसा किया जाता है। और यदि उत्तर अपरोक्त है, तो फिर हमें अपने बालकों को 'कुंठित' पुरुषों और स्त्रियों द्वारा ही शिक्षा दिला कर संतोष करना पड़ेगा। परिणाम इसका स्पष्ट है।

बीजक की रमैनियाँ

हजारी प्रसाद द्विवेदी

मैंने अपनी पुस्तक "कबीर" में लिखा था कि बीजक में शब्द और साखियाँ सब से अधिक प्रामाणिक अंश हैं। उस समय बाकी विषयों के संबंध में किसी निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुँच सका था। पर अब ऐसा लगता है कि हम किसी नतीजे पर पहुँच सकते हैं।

सब से पहले रमैनियों को लिया जाय। टीकाओं में इस शब्द के जितने अर्थ दिए गए हैं वह बहुत खींचतान के हैं। पूर्णदास की त्रिज्या '(या तिर्ज्या) टीका के अनुसार 'ऐनी' जीव को कहते हैं और उसकी 'ऐन' वेदादिक वाणियाँ हैं जिनमें अनुमान अध्यासादि खड़े किए गए हैं। सो, 'ऐन' में ऐनी रम गया वही रमैनी है। सद्गुरु ने रमैनी में अंतर जोति का जाल परखाया है[1]। विचारदास जी को 'रमैनी' संस्कृत 'रामणी' का रूपांतर जान पड़ता है जिसका अर्थ रमण (क्रीड़ा) करना होता है। इस निरुक्ति के अनुसार 'उपजि विनसि फिरि जोइनि आवे'....इत्यादिक वचनों से जीवात्मा की सांसारिक क्रीड़ाओं का सविस्तार वर्णन किया गया है।[2] ये अर्थ बुद्धिमान पाठक को संतोष नहीं दे सकते क्योंकि स्वयं बीजक की रमैनियों में ही 'रमैनी' शब्द आया है। वहाँ ये सब अर्थ ठीक नहीं जँचते। महाराज विश्वनाथ सिंह जी की टीका में रमैनी का अर्थ कथा दिया हुआ है और विचारदास जी तथा राघवदास जी की टीकाओं में स्तुति। परंतु रमैनियाँ न तो कथा ही हैं और न स्तुति ही। 'उपजी प्रीति रमैनी ठानी' से यही ध्वनि निकलती है कि रमैनी का अर्थ स्तुति हो सकता है। परंतु बीजक की रमैनियों को स्तुति कहने या समझने का कोई उचित कारण नहीं है। असल रहस्य यह जान पड़ता है कि ये कबीरपंथी 'रामायण' हैं। रमैनियाँ केवल उतनी ही नहीं हैं जितनी बीजक में संगृहीत हैं। और भी हैं। अक्षरखंड की रमैनी, बलरव की रमैनी आदि बहुत हैं। सबमें तुलसी रामायण की शैली पर चौपाई दोहे सजाए गए हैं। अक्षरखंड की रमैनी आदि जितनी इस ढंग की पुस्तकें हैं वे सब परवर्ती हैं। सगुण मार्गी वैरागियों की प्रतिद्वंदिता में ही दोहा चौपाई वाले गेय पद संग्रहण किए गए होंगे। निस्संदेह कबीरदास ने और उनके पूर्ववर्ती अनेक सिद्धों ने भी चौपाई दोहे लिखे थे। परंतु उन्हें रमैनी कहीं नहीं कहा गया। ऐसा जान पड़ता

१. त्रिज्या या तिर्ज्या टीका, पृ० ३१२-१४।
२. विचार० पृ० २८९-९०।

है कि इन रमैनियों में कुछ अवश्य पुरानी हैं, पर बहुत-सी नई बनाई गई होंगी। हमने अपनी पुस्तक 'कबीर'-साहित्य में सिद्ध किया है कि प्रथम सात आठ रमैनियों का सुर कबीरदास की मूल वाणी से भिन्न है और इनमें प्रतिपादित सृष्टि प्रक्रिया कबीर संमत नहीं है।

यद्यपि बीजक की कई प्रतियों में आरंभ में ही आदिमंगल के छपने से बहुत लोग उसे बीजक का ही अंग समझते हैं तथापि आदिमंगल बीजक का अंग नहीं है। इसलिये इसमें प्रतिपादित-सिद्धांत बीजक के सिद्धांत नहीं कहे जा सकते। इसमें एक विशेष प्रकार की सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन है। पुरानी टीकाओं में केवल विश्वनाथ सिंहजू की टीका में आदिमंगल छपा है। कबीरचौरावाले संस्करणों में उसका एकदम अभाव है। अनुरागसागर, श्वासगुंजार, कबीर मंसूर आदि जिन ग्रंथों के आधार पर उसे समझा जा सकता है, वे सभी धर्मदासी शाखा के ग्रंथ हैं। आदिमंगल दो जगह और छपा है—(१) कबीर-मंसूर में और (२) साधु युगलानंद जी द्वारा सम्पादित सत्य कबीर की साखी में। दोनों ही ग्रंथ धमदासी शाखा से संबद्ध हैं। इसप्रकार आदिमंगल वस्तुतः धर्मदासी संप्रदाय का ही ग्रंथ है। वह कबीर और धर्मदास के संवाद के रूप में ही लिखा भी गया है। परवर्ती तो वह है ही; किंतु यद्यपि आदिमंगल धर्मदासी संप्रदाय का ग्रंथ है तथापि बीजक में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनकी व्याख्या के लिये उस सृष्टिक्रिया की जानकारी आवश्यक है जिसका प्रतिपादन इसमें किया गया है। काशी का कबीरचौरा संप्रदाय आदिमंगल की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करता। अपने ३० अगस्त, ४५ के कृपापत्र में कबीरचौरा शिरोमणि गुरुद्वारा के आचार्य श्री रामविलास साहेब ने मुझे बताया था कि सत्य कबीर के बीजक और साखियों की पुरानी प्रतियों में आदिमंगल नहीं मिलता। बीजक की रमैनियों में कई ऐसी हैं जो आदिमंगल में प्रतिपादित सिद्धांतों का समर्थन करती हैं। हमारा यहाँ यह इशारा नहीं है कि बीजक की रमैनियाँ आदिमंगल या किसी ऐसे ही ग्रंथ द्वारा प्रभावित हैं; अतएव परवर्ती हैं, बल्कि यह है कि वस्तुतः रमैनियों में कुछ ऐसी अवश्य हैं जो कबीरदास की अपनी लिखी हुई नहीं हैं।

हमने ऊपर अपना यह अनुमान प्रकट किया है कि दोहे चौपाइयों को रमैनी के रूप में सजाया गया होगा। कब से इस प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ, यह विचारणीय प्रश्न है। बीजक की एक रमैनी आदि ग्रंथ में (गउड़ी ३०) है। परंतु वहाँ उसे 'राग गउड़ी' कहा गया है, रमैनी नहीं। स्वयं बीजक 'ज्ञान चौंतीसा' को दोहा चौपाई में होने पर भी रमैनी नहीं कहता, जब कि कबीर ग्रंथावली की 'ख' प्रति में यह 'ज्ञान चौंतीसा' कुछ पाठांतर के साथ 'रमैणी' कहा गया है। यही ज्ञान चौंतीसा आदि ग्रंथ में भी प्राप्त है पर उसे वहाँ "गौड़ी पूर्वी, बावन आखरी" कहा गया है। इन संग्रहों को मिलाकर देखने से रमैनियों के बारे में कुछ अत्यंत महत्त्वपूर्ण नतीजों पर पहुँचा जा सकता है।

कबीर ग्रंथावली में कई रमैनियों से मिलती-जुलती रमैनियाँ हैं। पर अधिकांश रमैनियाँ भिन्न हैं। निम्नलिखित रमैनियों के कुछ अंश या मिलते-जुलते पद कबीर ग्रन्थावली में प्राप्त होते हैं—

संख्या	बीजक		कबीर ग्रन्थावाली
(१)	रमैनी २० की साखी	'इच्छा के भव सागर'	तुल० पृ० २३३
(२)	रमैनी २२	—'अलख निरंजन लखै न कोई'	„ „ २३०

संख्या		बीजक	कबीर ग्रंथावली		
(३)	रमैनी २६	–'आपुहि करता भए कुलाला'	,,	,,	२४०
(४)	रमैनी ३०	–'औ भूले षट दरसन भाई'	,,	,,	२३९
(५)	रमैनी ३५	–'पंडित भूले पढ़ि गुनि बेदा'	,,	,,	२३९
(६)	रमैनी ३९	–'जिन कलमा कलि मांति'	,,	,,	,,
(७)	रमैनी ४०	–'आदम आदि सुधी नहिं पाई'	,,	,,	२३८
(८)	रमैनी ५७	–'खग खोजन को तुम परै'	,,	,,	२३०
(९)	रमैनी ८२	–'सुखक ब्रिच्छ एक जात उपाया	,,	,,	२२७
(१०)	रमैनी ८३	–'छत्री करइ छत्रिया धर्मा'	,,	,,	२३९

यह लक्ष्य करने की बात है कि जो रमैनियाँ बीजक और कबीर-ग्रंथावली में सामान्य रूप में मिलती हैं उनमें भिन्न २ मतों की आलोचना है। इनमें या तो भ्रमग्रस्त जनता को भगवान का वास्तविक रूप बताया गया है या फिर षट्दर्शन के मानने वालों की, ब्राह्मण की, क्षत्रिय की, मुसलमान की, काजी की आलोचना की गई है। परंतु सृष्टितत्त्व और ज्ञान महिमा को बताने वाली रमैनियाँ न तो आदिग्रन्थ में हैं और न कबीर ग्रन्थावली में। कबीर ग्रन्थावली की 'ख' प्रति में कुछ पाठभेद के साथ समूचा 'ज्ञान चौंतीसा' रमैणी कहकर उद्धृत किया गया है। साधारण पाठक भी कबीर ग्रंथावली और बीजक के पदों को पढ़ते समय यह अनुभव किए बिना नहीं रहेगा कि कबीर ग्रंथावली के पदों में भक्ति और आत्मार्पण का वेग अधिक है और बीजक में ज्ञान और 'पारिख' पर ज्यादा जोर दिया गया है। जो पद इन दोनों में समान रूप से प्राप्य हैं उनमें भी पाठांतर ऐसे हैं जिनसे बीजक में ज्ञानमार्ग की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है और कबीर ग्रंथावली में भक्तिमार्ग की।

रमैनियों की संख्या चौरासी है। प्राय: प्रत्येक रमैनी के अंत में एक साखी है। ऐसा जान पड़ता है कि रमैनियों का लेखक अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिये सद्गुरु के बचनों की साखी या गवाही पेश कर रहा है। इस नियम का अपवाद कुछ थोड़ी ही रमैनियाँ हैं (नं० ३,२८,३२, ४२, ५६, ६२, ७०, ८०)। एक अत्यंत मनोरंजक तथ्य यह है कि कभी २ रमैनी की चौपाइयाँ गुरुमुख बचन हैं, किन्तु साखियाँ जीवमुख या मायामुख या ब्रह्ममुख बचन। उदाहरण के लिये त्रिज्या (या तीज्यां) टीका के अनुसार छठीं रमैनी गुरुमुख बचन है पर उसकी साखी जीवमुख; दूसरी रमैनी गुरुमुख बचन है पर उसकी साखी मायामुख; २१वीं रमैनी की चौपाइयाँ तो मायामुख हैं, पर साखी ब्रह्ममुख है। इसीप्रकार और भी बहुत हैं। इस प्रकार व्यत्यय का क्या अर्थ हो सकता है समझ में नहीं आता। केवल ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखने से ही इसका कुछ समाधान हो सकता है।

नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज के अनुसार कबीर कृत सब से पुराने हस्तलिखित ग्रंथ चार हैं—कबीर जी के पद, कबीर जी की साखी, कबीर जी की रमैनी और कबीर जी कौ कृत। इनका लिपिकाल सं० १६४९ और रचनाकाल संवत् १६०० बताया गया है, पर खोज करने पर ये दोनों बातें निराधार प्रमाणित हुई हैं। श्री रामकुमार वर्मा ने जोधपुर से, जहाँ से सभा को इन पुस्तकों का संधान मिला था, पुस्तकें मँगवाईं, पर उनमें कबीर जी की रमैनी' और 'कबीर जी कौ कृत'

थे ही नहीं और जोधपुर राज्य-पुस्तकालय से प्राप्त हुए एक ग्रंथ को छोड़कर किसी भी ग्रंथ का लिपिकाल नहीं दिया हुआ है। अतः खोज रिपोर्ट का प्रमाण संदिग्ध है।[1]

अब भिन्न २ संग्रहों में प्राप्य रमैनियों की तुलना करने पर हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं :—

(१) आदि ग्रंथ का संकलन संवत् १६६१ में हो गया था। उस समय तक 'रमैनी' शब्द का प्रचलन नहीं हुआ था । रमैनियों का भी किसी न किसी 'राग' के रूप में ही संग्रह किया गया था। यद्यपि बीजक के कुछ पद उसमें हैं, पर उसके विभाग के नाम भिन्न-भिन्न हैं।

(२) सन् ईस्वी की अठारहवीं शताब्दी के अंत में 'रमैनी' शब्द का प्रचलन हो गया था और सन् १८२४ तक चलकर यह प्रवृत्ति चल पड़ी कि दोहा चौपाई छंदों में लिखित प्रत्येक वस्तु को 'रमैनी' कहा जाय। इसी समय कबीर ग्रंथावली की 'ख' प्रति लिखी गई थी जिसमें ज्ञान चौंतीसा को भी 'रमैणी' कहा गया है।

(३) बीजक में संगृहीत रमैनियों में ज्ञानमार्ग पर अधिक जोर दिया गया है और स्पष्ट मालूम होता है कि बीजक के लेखक के मन में अपने इर्दगिर्द के प्रचलित मतों के खंडन की प्रवृत्ति अधिक है।

(४) बीजक में संगृहीत सृष्टितत्त्व संबंधी रमैनियाँ संवत् १८८१ तक पश्चिमी भारत में अज्ञात थीं।

(५) गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण संवत् १६३१ में आरंभ की गई थी और संवत् १६८० तक अवश्य प्रचारित हो गई थीं, क्योंकि इसी वर्ष गोस्वामी जी का देहांत हो गया था। इस प्रकार रामायण विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक अत्यंत प्रभावशाली रचना हो गई थी। ऐसा जान पड़ता है कि इसी समय के पासपास इस सर्वग्राही ग्रंथ के प्रभाव से अपने संप्रदाय के अनुयायियों की रक्षा करने का प्रयास किया गया और कबीरदास जी के नामपर उन दिनों जो दोहे चौपाइयाँ प्राप्त थीं उन्हें रामायणी रूप में सजाया गया। संवत् १८८१ में ज्ञान चौंतीसा को भी रमनी ही माना गया था क्योंकि वह दोहा चौपाइयों की शैली में था।

ये निष्कर्ष कबीरपंथी साहित्य के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

---

१. संत कबीर।

पंचाग और सरकार

गोरख प्रसाद

भारतवर्ष में पंचांग की मुख्य उपयोगिता यह है कि विवाह आदि के लिये शुभ मुहूर्त ज्ञात किया जा सके। जन्म समय ज्ञात होने पर फलित ज्योतिष द्वारा भविष्य भी बताने की चेष्टा की जाती है। परंतु भारतीय पंचांग नाविकों के काम की वस्तु नहीं है। पाश्चात्य पंचांग से नाविक समय नापता है और समुद्र में अपनी स्थिति का ज्ञान प्राप्त करता है, परंतु प्राचीन पद्धति से बने पंचांग इतने अशुद्ध होते हैं कि वे आधुनिक उपयोगों के लिये पूर्णतया निकम्मे होते हैं।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से पंचांग-संशोधन के लिये एक समिति बनी भी थी, जिसके कर्णधार श्रीसंपूर्णानंद जी थे, परंतु देश की राजनीतिक परिस्थिति उन दिनों कुछ ऐसी थी कि सारी शक्ति स्वराज्य प्राप्ति में लगाना आवश्यक था। इसलिये यह समिति कुछ विशेष कार्य न कर सकी।

परंतु अब समय आ गया है कि सरकार स्वयं विशुद्ध वैज्ञानिक पंचांग बनाने का काम अपने हाथ में ले। अन्य देशों में सरकार ही यह काम करती है। इंगलैंड का नॉटिकल ऐलमनक ऑफिस सरकारी संस्था है जिसके अध्यक्ष इंगलैंड के राजज्योतिषी हैं। यहाँ से जगत्-प्रसिद्ध नॉटिकल ऐलमनक निकलता है। अमरीका से 'अमरिकन एफिमेरिस ऐंड नॉटिकल ऐलमनक' निकलता है जिसकी गणना और प्रकाशन के लिये लगभग तीस वेतनभोगी सरकारी कर्मचारी हैं। जर्मनी से 'बरलिनर यारबुख' और फ्रांस से 'कनेसां दे तां' निकलता है, जो सभी नॉटिकल ऐलमनक की जाति के पंचांग हैं। सभी सरकारी प्रबंध से निकलते हैं।

इस अभिप्राय से कि एक ही गणना को विभिन्न देशों में अलग-अलग करने में व्यर्थ की शक्ति नष्ट न हो पश्चिम के प्रधान देशों में सन् १९१२ में समझौता हुआ था, जिसके अनुसार पंचांग के एक-एक अंश अलग-अलग देशों में तैयार किए जाते हैं और सभी देश इन पृथक-पृथक अंशों से लाभ उठाते हैं। उदाहरणतः सन् १९४९ के 'अमेरिकन एफिमेरिस' के लिये सूर्य, चंद्रमा और ग्रहों की गणना ग्रिनवीच (लंडन) में हुई, शनि के वलयों की बरलिन में, २१३ तारों की गणना इंटरनेशनल ऐस्ट्रोनॉमिकल यूनियन ने की, बृहस्पति के उपग्रहों की गणना फ्रांस में हुई और शेष अमरीका में।

परंतु अमरीका की सरकार पूर्ण पंचांग की गणना स्वयं अपने देश में करा सकने के महत्व को अच्छी तरह समझती है। यह बात निम्न सरकारी आदेश से प्रत्यक्ष है, जो वर्षों तक अमरीकन एफिमेरिस में छपा करता था :—

The Secretary of the Navy is hereby authorised to arrange for the exchange of data with such foreign almanac offices as he may from time to time deem desirable, provided, that the work of the Nautical Almanac Office during the continuance of any such arrangement shall be conducted so that in case of emergency that entire portion of the work intended for the use of navigators may be computed by the force employed by that office, and without any foreign cooperation whatsoever: ...

ठीक ही है। यदि पंचांग की गणना के लिये विदेशियों का मुँह जोहना पड़े तो युद्ध छिड़ जाने पर क्या किया जायगा; तब तो अपने देश के जहाजों का चलना ही बंद हो जा सकता है; रेल और वायुयानों के संचालन में भी अत्यधिक कठिनाई पड़ सकती है।

भारतवर्ष को भी पंचांग के मामले में अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। अभी तक तो इंगलैंड से आए नॉटिकल ऐलमनक से काम चल जाता है, परंतु कब तक हम दूसरों पर आश्रित रहेंगे। गत महासमर में नॉटिकल ऐलमनक काफी पहले से नहीं मिल पाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय पंचांगकार ग्रहण आदि की गणना के लिये नॉटिकल ऐलमनक की सहायता समय पर नहीं पा सकते थे। इससे उनके पंचांग या तो देर से छपते थे, या अशुद्ध रह जाते थे। ग्रहण की अशुद्धि तो साधारण जनता भी पकड़ लेती है। यदि पत्रे में छपा है कि सूर्यग्रहण ३ बजे दिन से आरंभ होगा और वह २॥ या २ बजे ही आरंभ हो जाय तो लोग पत्रे पर कैसे विश्वास करेंगे? इसलिये ग्रहणों की गणना नॉटिकल ऐलमनक से की जाती है, एकादशी, पूर्णिमा आदि तिथियों की गणना चाहे भले ही प्राचीन सूत्रों के आधारपर की जाय।

गुजरात के कुछ उत्साही ज्योतिषियों ने आधुनिक ज्योतिष के सूत्रों से (और अब नॉटिकल ऐलमनक मिल सकता है तब उससे) पंचांग निर्माण करना प्रारंभ कर दिया है। तिथि, नक्षत्र, योग आदि की गणना भी इन पंचांगों में आधुनिक ज्योतिष के आधारपर की जाती है। विश्वस्त सूत्रों से मुझे पता चला है कि इन पंचांगों की बिक्री गुजरात में प्राचीन पद्धति पर बने पंचांगों से अधिक है। यह हर्ष की बात है, परंतु ये पंचांग गुजराती में छपते हैं। हिंदी में छपने वाले आधुनिक ज्योतिष पर आश्रित ऐसे पंचांग जिनका अच्छा प्रचार हो मेरे देखने में नहीं आए।

मेरी राय में भारतीय या प्रांतीय सरकार को एक पंचांग-कार्यालय खोलना चाहिए जहाँ से हिंदी में ऐसा पंचांग छपे जिसमें आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सब वैज्ञानिक सामग्री रहे और साथ-साथ पूजा-पाठ, विवाह आदि, तथा फलित ज्योतिष के लिये भी पर्याप्तसामग्री रहे। ऐसे कार्यालय में प्रारंभ में ५ वेतनभोगी विद्वानों से काम चल जायगा। पीछे विद्वानों की संख्या में आवश्यकतानुसार वृद्धि की जा सकती है। यदि साथ में आधुनिक ज्योतिष-वेधशाला रहे और ज्योतिष

सिखाने के लिये विद्यालय भी हो, तो और भी अच्छा होगा। यदि ज्योतिषाचार्यों को उपाधि प्राप्त करने के पहले आधुनिक ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक कर दिया जाय तो देश में ज्योतिष की उन्नति शीघ्र हो सकती है, परंतु यह सब चाहे अभी हो, चाहे पीछे, आधुनिक पंचांग की गणना और प्रकाशन के लिये एक पंचांग-कार्यालय सरकार की ओर से खोला जाना नितांत आवश्यक प्रतीत होता है।

और इस कार्यालय के लिये काशी से बढ़ कर और स्थान कहाँ हो सकता है?
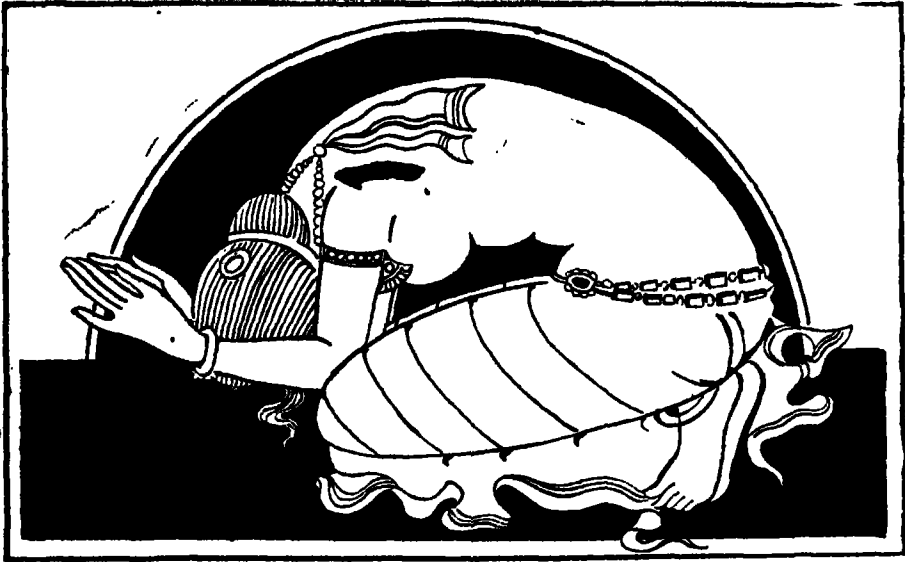
ऋग्वेद में नदी-स्तुति सूक्त की ऐतिहासिक व्याख्या

राजबली पांडेय

ऋग्वेद में नदी-स्तुति नाम का एक सूक्त (१०।७५) है। इसमें आप: (जलों-नदियों) और विशेष कर सिन्धु नदी की स्तुति है। इसका ऋषि प्रैयमेध सिंधुक्षित है। इसका नदी देवता है। सूक्त के जिन मंत्रों में नदियों के नाम आए हैं उनको नीचे उद्धृत किया जाता है;

> इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
> असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जिकीये शृणुह्या सुषोमया॥ ५॥
> तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्यात्या।
> त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथयाभिरीयसे॥ ६॥
> ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परिज्रयांसि भरते रजांसि।
> अदब्धा सिन्धुरपसा पपस्तमाश्वान चित्रावपुषी व दर्शता॥ ७॥
> स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
> उर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधिवस्ते सुभगा मधुवृधम्॥ ८॥

ऊपर के मंत्रों में आए हुए नदियों के नामों की सूची क्रमशः इस प्रकार दी जा सकती है।

(१) गङ्गा (प्रसिद्ध)
(२) यमुना (प्रसिद्ध)
(३) सरस्वती (सरसुती)
(४) शुतुद्रि (सतलज)
(५) परुष्णी (रावी)
(६) असिक्नी (चंद्रभागा-चेनाब)
(७) वितस्ता (झेलम)
(८) मरुद्वृधा (६ और ७ की मिली हुई धारा)
(९) आर्जिकीया (संभवतः सिंधु का ऊपरी भाग)
(१०) सुषोमा (सुवान)
(११) तृष्टामा (अनिश्चित)

(१२) सुसर्तु (सिंधु की एक सहायक नदी)
(१३) रसा (अनिश्चित)
(१४) श्वेत्या ,,
(१५) सिंधु (प्रसिद्ध)
(१६) कुभा (काबुल)
(१७) गोमती (गोमल)
(१८) क्रुमु (कुर्रम)
(१९) मेहत्नु (अनिश्चित)

प्रायः विद्वानों ने नदियों के नामों से यह निष्कर्ष निकाला है कि जिस समय ऋग्वेद की रचना हुई थी उस समय आर्य लोग उत्तरभारत में पूर्व में गंगा से लेकर पश्चिम में काबुल तक के प्रदेश से परिचित थे; क्योंकि ऋग्वेद में सरस्वती और उसके पश्चिम की नदियों के नाम अधिक आए हैं और यमुना और गंगा के बहुत कम (गंगा का केवल एकबार), इससे अनुमान होता है कि आर्य लोग अधिकांश सरस्वती के पश्चिम में ही बसते थे और यमुना और गंगा के बारे में उन्होंने केवल सुन रखा था। जो लोग यह मानते हैं कि आर्य विदेशी थे और उन्होंने पश्चिमोत्तर दर्रों से भारत में प्रवेश किया उनका यह भी कहना है कि इस सूक्त में नदियों की सूची से विदेशी आर्यों के आक्रमण और विस्तार का क्रम मालूम होता है (!) जो लोग सप्त सैंधव प्रदेश (पंजाब, काश्मीर और सीमांतप्रदेश) को आर्यों की आदिभूमि मानते हैं उनकी धारणा है कि सरस्वती के पश्चिम काबुल तक का प्रदेश आर्यों का मूल निवासस्थान था और पूर्व में यमुना और गंगा की ओर वे बढ़ने का प्रयास कर रहे थे।

ऊपर के निष्कर्षों में सब से बड़ा दोष यह है कि इनके समर्थक नदियों के क्रम पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते; सूक्त में नदियों का क्रम पूर्व से पश्चिम की ओर है; गंगा सब से पूर्व की नदी और कुभा (काबुल) सब से पश्चिम की। यदि नदियों के क्रम का किसी जाति के विस्तार-क्रम से कोई संबंध है तो इससे यही अनुमान निकल सकता है कि जिस जाति का इन नदियों से सींची हुई भूमिपर आवास था उसका विस्तार पूर्व से पश्चिम की ओर हुआ। यह स्वाभाविक है कि जब किन्हीं वस्तुओं की गणना की जाती है तो पहले निकट और परिचित वस्तु से प्रारंभ कर गिनती दूर और कम परिचित पर समाप्त की जाती है। इस सूक्त में दिए हुए नदियों के क्रम से तो यही मालूम होता है कि इस सूक्त का ऋषि यद्यपि सिंधु के किनारे पहुँच चुका था तथापि वह पूर्व की नदियों (गंगा, यमुना) से अधिक परिचित था। इसलिये नदियों की गणना गंगा से शुरू करता है। यदि आर्य इस देश में बाहर से पश्चिमोत्तर दर्रों के रास्ते से आए अथवा वे मूलतः सप्त सैंधव के निवासी थे तो बड़े आश्चर्य की बात है कि वे नदियों की गिनती कुभा (काबुल) या परुष्णी (रावी) से न प्रारंभ कर गंगा से शुरू करते हैं। आर्यों को विदेशी या सप्त-सैंधवी मानने वाले विद्वानों से नदी-स्तुति सूक्त की जो व्याख्या की गई, है वह निस्संदेह सदोष और भ्रांत है।

प्रस्तुत लेखक के मत में नदी-स्तुति सूक्त की ठीक व्याख्या करने के लिये दो बातें आवश्यक हैं—(१) पहले तो मन से यह पूर्वधारणा निकालनी होगी कि आर्य विदेशी या सप्तसैंधवी थे

(२) दूसरे जिस देश में नदी-स्तुति सूक्त लिखा गया है उस देश की वैदिक व्याख्या की पद्धति का सहारा लेना होगा। वास्तव में वेद, जिसमें नदी-स्तुति सूक्त पाया जाता है, कोई ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है; उसका विषय काव्य, धर्म और दर्शन है; इसलिये उसमें जो ऐतिहासिक सामग्री मिलती है वह बहुत थोड़ी और आनुषंगिक है। वेद की ऐतिहासिक व्याख्या की कुंजी वेद में नहीं, किंतु भारतीय साहित्य की दूसरी धारा इतिहास-पुराण में है। भारतीय परंपरा के अनुसार वेद का अध्ययन इतिहास और पुराण के सहारे करना चाहिए।

यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदोद्विजः।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ पद्मपुराण ५।२।५०–२

(जो ब्राह्मण अंगों और उपनिषदों के साथ चारों वेदों को जानता हो किन्तु उसके पुराण का ज्ञान न हो तो उसको विचक्षण (योग्य) नहीं समझना चाहिए। वेद का अध्ययन इतिहास और पुराण की सहायता से करना चाहिए; वेद अल्पश्रुत (कम पढ़े लिखे इतिहास-पुराण जैसा प्रसिद्ध साहित्य न पढ़े हुए) से डरता है कि वह मेरे ऊपर प्रहार करेगा (—मेरा अशुद्ध अर्थ करेगा)।)

अब देखना है कि भारतीय इतिहास-पुराण से नदी-स्तुति सूक्त पर क्या प्रकाश पड़ता है। सूक्त का ऋषि प्रैयमेध सिंधुक्षित् है। वेद में केवल नाम के अतिरिक्त और कोई परिचय इस ऋषि का नहीं है। पञ्चविंश-ब्राह्मण (१२।१२।६) में कहा गया है कि सिंधुक्षित् एक राजन्यर्षि (राजर्षि) था जो बहुत दिनों तक अपने राज्य से निर्वासित था, किंतु अंत में उसका पुनरावर्तन हुआ; परंतु ब्राह्मण-ग्रंथ से भी इस बात का पता नहीं लगता कि सिंधुक्षित् कहाँ का राजा था। सिंधुक्षित् के स्थान और समय का पता पुराण से लगता है। भागवत् पुराण के अनुसार भारतवंशी पांचाल (गंगा-यमुना दोआब) के राजा अजामीढ़ के वंशज प्रियमेध आदि द्विजाति थे—

अजामीढ़स्य वंश्याः स्युः प्रियमेधादयो द्विजाः। ९।२१।२१

वैदिक ऋषि प्रैयमेध सिंधुक्षित् अजामीढ़ का ही वंशज था। भारतीय इतिहास में राजकुमारों के निर्वासन और उनके द्वारा दूसरे प्रदेशों में विजय तथा राज्यस्थापन के कई उदाहरण पाए जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि पाञ्चाल निवासी प्रैयमेध सिंधुक्षित् गंगा के किनारे से चलकर पश्चिमी संयुक्त प्रांत और पंजाब की नदियों को पार करता हुआ सिंधु के किनारे पहुँचा हो और उसके पश्चिमी तट पर उतरकर उसमें पश्चिम मे मिलने वाली सहायक नदियों से भी परिचित हो गया हो। सिंधु नदी की समृद्धि, अश्व, रथ, अन्न और युद्ध का जो वर्णन वह करता है उससे मालूम होता है कि वह सिंधु के किनारे विजेता के रूप में वर्तमान था।

सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः॥
—ऋग्वेद १०।७५।९

सिंधु नदी के विस्तार, शक्ति और समृद्धि देखकर सिंधुक्षित् प्रभावित हुआ था, परंतु जब नदियों की स्तुति उसने प्रारंभ की तब उनकी गणना अपनी अधिकतम परिचित और मूलस्थान की निकटतम नदी गंगा से शुरू किया। इस प्रकार नदी-स्तुति सूक्त प्रैयमेध सिंधुक्षित् की पश्चिमाभिमुख यात्रा का द्योतक है।

प्रैयमेध सिंधुक्षित् जिस क्रम से नदी-स्तुति सूक्त की नदियों से परिचित हुआ था उसी क्रम से उससे पहले और पीछे भी मध्यदेश की आर्यजातियाँ और राजवंश सरयू, गंगा और यमुना के किनारे से पश्चिम की ओर चलकर उनसे परिचित हुए थे। आर्यजाति के इस पश्चिमाभिमुख विस्तार का इतिहास भी पुराणों में सुरक्षित है। (देखिए मेरा लेख—पुरानिक डेटा ऑन दि ओरिजिनल होम ऑफ् दि इण्डो-आर्यन्स, दि इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द २४ सं० २ जून १९४८) प्रश्न हो सकता है कि जब आर्य मूलतः मध्यदेश के निवासी थे और न केवल पश्चिम में परंतु भारत के और भागों में भी उनका प्रसार हुआ था तब ऋग्वेद में भारत की और नदियों के नाम क्यों नहीं आते। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद का भौगोलिक और ऐतिहासिक संबंध अपने समय के संपूर्ण भारत से नहीं था। ऋग्वेद की रचना आर्यजाति की उन शाखाओं ने की थी जो प्रायः गंगा-यमुना से चलकर पश्चिम की ओर फैली थीं और जिनकी राजनीति और संस्कृति का केंद्र सरस्वती नदी हो गई थी। इसलिये स्वाभाविक था कि ऋग्वेद में गंगा के पश्चिमी प्रदेशों की नदियों के नामों का उल्लेख होता। आश्चर्य तो यह है कि किस प्रकार विद्वानों ने नदी-स्तुति सूक्त से यह निष्कर्ष निकाला है कि इस सूक्त में वर्णित नदियों का क्रम आर्यों के भारत के ऊपर आक्रमण और उनके पश्चिम से पूर्व की ओर विस्तार का द्योतक है! निष्कर्ष तो ठीक इसका उलटा निकलता है। यदि इस सूक्त का कोई सरल और भारतीय परंपरा से समर्थित ऐतिहासिक अर्थ हो सकता है तो यह कि आर्यजाति की कुछ शाखाओं का विस्तार गंगा-यमुना के किनारों से पश्चिमोत्तर की ओर कुभा (काबुल) तक हुआ था।
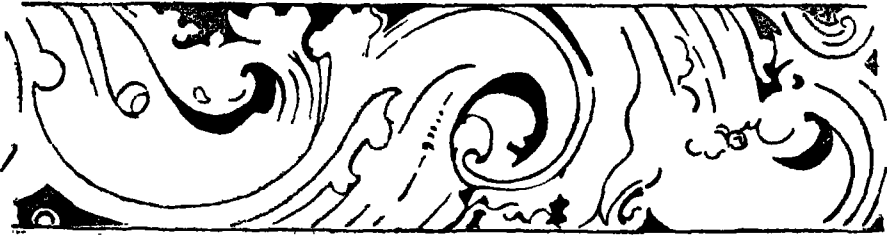
हमारा विश्व कितना पुराना है

अमिय चरण बैनर्जी

यह विश्व जिसके भीतर हमारी पृथ्वी की सत्ता एक बिंदु से भी छोटी है—कितना पुराना है, यह जानने का प्रयत्न करना वस्तुतः बहुत साहसपूर्ण कार्य है। यदि विश्व की कोई जन्म-पत्री होती अथवा उसके जन्मकाल का कोई विश्वसनीय लेखा होता तो बहुत सरलतापूर्वक हमें उसकी उम्र का पता चल जाता। दुर्भाग्यवश हमारे पास ऐसी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं और हमें विश्व की अवस्था जानने के लिये दूसरे प्रकार के साधनों का सहारा लेना पड़ेगा। वैज्ञानिक ढंग से इस प्रश्न का विवेचन होने के पूर्व भी प्राचीन ऋषियों ने काल की प्रगति नापने के क्रम बना रखे थे। कालक्रम जानने की सब से महत्वपूर्ण विधि हिंदुओं की है। हिंदू पुराणों के अनुसार चार युग मिलकर एक महायुग होता है और

१ महायुग =४३२०००० (सायन वर्ष)

१ मन्वंतर =७१ महायुग =३०६७२००० वर्ष
=३×१०^{८} वर्ष (करीब-करीब)

१ कल्प =१६ मन्वंतर × १५ संध्या =१००० महायुग =४३२००००००० वर्ष =ब्रह्मा का एक दिन।

ब्रह्मा अपने इस दिन की इकाई के अनुसार १०० वर्ष तक जीवित रहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा का जीवनकाल $४३२००००००० \times ३६० \times १०० \times ^{२}$ (रात × दिन) =३×१०^{११} वर्ष

हुआ। इस कालक्रम के अनुसार वर्तमान कल्प अथवा सृष्टि का प्रारंभ १,९७२,९४९,०४९ वर्ष अर्थात् २×१०^{९} वर्ष पूर्व हुआ है। यहाँ यह बता देना ठीक होगा कि सृष्टि के आरंभ की यह हिंदू-गणना आधुनिक विज्ञान द्वारा की गई गणना के बहुत समीप आती है।

पश्चिमी यूरोप के बड़े पादरी (आर्क बिशप) उशेर (१५८१–१६५६) ने 'ओल्ड टेस्टामेंट' की कहानियों से यह निष्कर्ष निकाला था कि सृष्टि का प्रारंभ ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व हुआ।

उस समय यदि किसी वैज्ञानिक ने यह बताने का साहस किया कि 'ओल्ड टेस्टामेंट' के लेख अविश्वसनीय हैं तो वह घोर नास्तिक समझा जाता था।

प्रसिद्ध ज्योतिर्विद एडमंड हेली (जिसके नाम पर 'हेली-धूमकेतु' का नामकरण हुआ है) ही पहला वैज्ञानिक था जिसने सन् १७१५ ई० में विज्ञान के सहारे विश्व की उम्र जानने का प्रयत्न किया। उसका यह अनुमान बहुत ठीक था कि मैदान में बहकर आने वाली नदियों द्वारा निरंतर लाए गए लवणीय द्रव्यों के इकट्ठा हो जाने के कारण ही समुद्रों का पानी खारा हो गया है और इसलिये महासागरों में पुञ्जीभूत लवण की मात्रा के ज्ञान के आधार पर हम उनके जन्मकाल का अंदाज लगा सकते हैं और साथ ही पृथ्वी के ठोस रूप धारण करने के काल का भी हमें ज्ञान हो सकता है। हेली ने यह खेद प्रकट किया कि प्राचीन ग्रीक विद्वानों ने इस बात का बिल्कुल उल्लेख नहीं किया कि उस जमाने में समुद्र में कितना खारापन था, अन्यथा उस समय से दो हजार वर्ष पूर्व और उस समय के पानी के खारेपन के अंतर के आधार पर यह गणना की जा सकती थी कि समुद्र के पानी को इतना खारा होने में कितना समय लगा होगा। लेकिन इस युक्ति से कुछ लाभ न होता क्योंकि हम अब यह जानते हैं कि २००० वर्ष के काल में समुद्र के खारेपन में रंच-मात्र भी अंतर नहीं प्रतिभासित होता।

फिर भी इस बात का श्रेय हेली को ही है कि वह पहला व्यक्ति था जिसने यह सुझाव उपस्थित किया कि "अभीतक जितना सोचा जा रहा है संसार उससे कहीं अधिक पुराना है।" पर पृथ्वी को बने कितना अधिक समय बीत गया इसको पहलीबार भलीभाँति समझने का वास्तविक श्रेय भू-गर्भ-शास्त्री जेन हट्सेन को ही है। पृथ्वी के निर्माण का इतिहास घटनाओं के क्रम से दस चक्र में विभाजित किया जा सकता है और इन्हीं विभाजन के आधार पर उसकी उम्र आँकी जा सकती है।

यह मानकर कि पृथ्वी धीरे-धीरे ठंढी होती जा रही है और पृथ्वी के केंद्र की ओर बढ़ने में क्रमशः जो तापमान में वृद्धि होती जाती है उसका हिसाब लगाकर केल्विन ने यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी की ऊपरी सतह को ठंडा होकर ठोस बन जाने में २ करोड़ और ४ करोड़ वर्ष के बीच का समय लगा होगा। केल्विन के इस निष्कर्षको पेरी ने गलत बताया और उसने यह सुझाव पेश किया कि विश्व का निर्माण करीब ४०००० करोड़ वर्ष पूर्व हुआ होगा। हाल ही में (सन् १९४६ ई०) वैसिटीर्स्की ने अपने एक निबंध में पृथ्वी के अंतर की गर्मी के इतिहास पर प्रकाश डाला है और उन्होंने बहुत सुंदर ढंग से पेरी के अनुमान की पुष्टि की है। केल्विन की गणना गलत होने का प्रधान कारण यह है कि उसके जमाने में रेडियम धर्मी पदार्थों का कुछ भी ज्ञान नहीं था। भूगर्भ में रेडियमधर्मी-तत्व बिखरे पड़े हैं जो सर्वथा क्षय हो जाने तक पृथ्वी की गर्मी बढ़ाने में सहायक होते हैं। पृथ्वी उत्तरोत्तर ठंढी अवश्य हो रही है पर भू-गर्भ में स्थित रेडियमधर्मी पदार्थों की अतिरिक्त गर्मी के कारण ठंढे होने की गति बहुत ही क्षीण है। इसलिये यदि पृथ्वी के क्रमशः ठंढे होने की गति के आधारपर उसकी उम्र की गणना की जाय तो वह केल्विन के अनुमान से बहुत अधिक होनी चाहिए। स्ट्रट (वर्तमान लॉर्ड रैले) ने सर्वप्रथम यह खोज की कि पृथ्वी के भीतर प्रायः प्रत्येक भाग में चट्टानों के अंदर रेडियमधर्मी पदार्थ पाए जाते
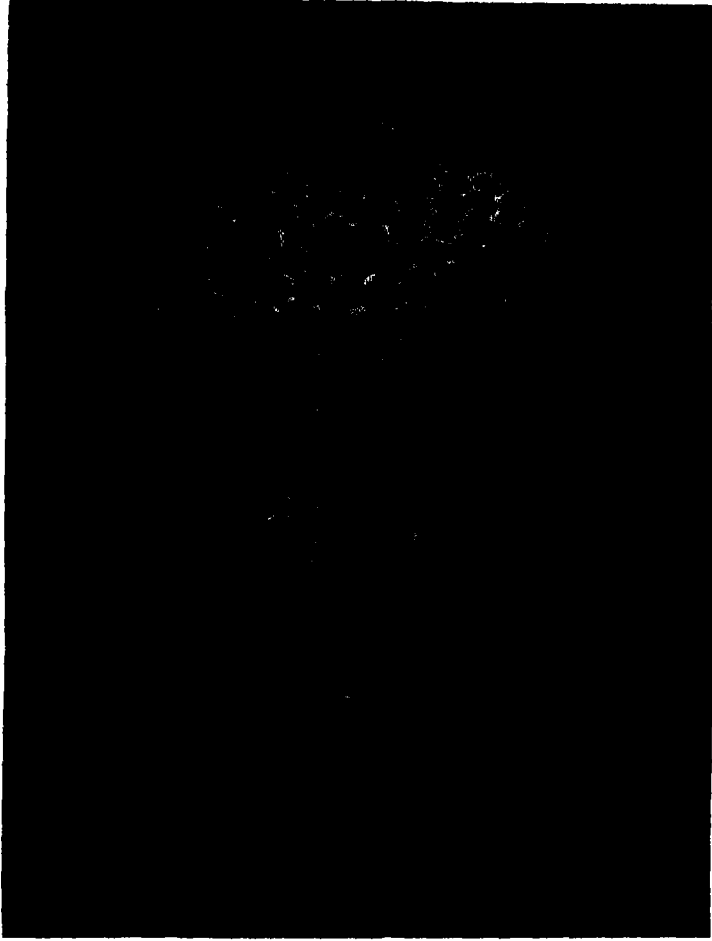
विशाल बुद्धिमूर्ति का मस्तक गुप्तकाल (ई० ५वीं शती) मथुरा से प्राप्त

—मथुरा संग्रहालय

है। पृथ्वी में जो कुछ गर्मी है वह केवल प्रारंभ की गर्मी का अवशेष ही नहीं है वरन् रेडियमधर्मी पदार्थों के कारण भी निरंतर पृथ्वी की गर्मी के क्षय की कुछ अंश तक पूर्ति होती रहती है।

यदि किसी प्रकार यह मालूम हो जाय कि समुद्र के पानी में संमिलित लवण की संपूर्ण मात्रा क्या है तथा एकवर्ष में नदियों द्वारा कितना नमक महासागरों में पहुँचता रहता है तो यह सरलतापूर्वक बताया जा सकता है कि समुद्र कितने पुराने होंगे—हाँ, यह अवश्य है कि यह गणना इस विश्वास पर की जायगी कि प्रतिवर्ष नदियों द्वारा समुद्र में एक ही मात्रा में नमक इकट्ठा होता है। आजकल प्रतिवर्ष समुद्र के पानी में नदियों द्वारा करीब १५×१०^{१५} टन नमक लाया जाता है। यह मानकर कि अतीत में इसी मात्रा में प्रतिवर्ष नदियों द्वारा नमक समुद्र को मिलता रहा है, गणना करनेपर ज्ञात होता है कि समुद्रों का निर्माण करीब २५ करोड़ वर्ष पूर्व हुआ होगा। पर पृथ्वी को बने इतने कम दिन नहीं हुए होंगे। इस त्रुटि का कारण यही है कि भूतकाल में भी नदियों द्वारा समुद्र को ठीक उतना ही नमक प्रतिवर्ष नहीं मिलता रहा है जितना आजकल मिलता है। सुदूरभूत मे जितना लवण समुद्र में बहकर आता था उससे बहुत अधिक आजकल आ रहा है। कारण यह है कि कालांतर में पहाड़ की शृंखलायें अधिक ऊँची होती गई हैं तथा वनविहीन मैदानों का क्षेत्रफल पहले से अधिक बढ़ गया है। इसलिये नदियों को अब स्थल से अत्यधिक मात्रा में लवण उपलब्ध है। अतः यह सर्वथा संभव है कि समुद्रों का निर्माण २५ करोड़ वर्ष के बजाय २५० करोड़ वर्ष पूर्व हुआ हो।

रेडियमधर्मी पदार्थों के क्षय को ध्यान में रखते हुए इस संबंध में अधिक विश्वसनीय तथ्यों का संग्रह किया जा सकता है। रेडियमधर्मी पदार्थों का क्षय किस गति से होता है, यदि यह मालूम है तो चट्टानों में सीसा तथा उरानियम अथवा सीसा तथा थोरियम के अनुपात के सहारे चट्टानों की उम्र का ठीक-ठीक पता लगाया जा सकता है। परमाणुओं का परिवर्तन निम्न प्रकार से होता है।

$$U^{238} \longrightarrow Pb^{206} + 8He^{4}$$
$$U^{235} \longrightarrow Pb^{207} + 7He^{4}$$
$$Th^{232} \longrightarrow Pb^{208} + 6He^{4}$$
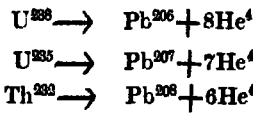
प्रत्येक दशा में सीसे का एक निश्चित समस्थानिक (आइसोटोप) बनता रहता है। आजकल इन पदार्थों के विघटन के कारण सीसे के समस्थानिक किस गति से बनते हैं इसका बहुत ही सही ज्ञान हम लोगों को प्राप्त है। पर प्रश्न उठता है कि क्या सुदूर अतीत में भी इसी गति से सीसे के समस्थानिक बनते रहे हैं। सौभाग्यवश इस बात की परीक्षा ली जा सकती है कि कालांतर में समस्थानिक बनने की रीति में परिवर्तन हुए हैं कि नहीं। ग्रैनाइट के कुछ ऐसे प्रकार हैं जिनमें भूरे माइका के फेन मिलते हैं और जिन्हें (प्लिओक्रोइक हैलोज) कहा जाता है। यदि बहुत अच्छी कोटि की खुर्दबीन के सहारे इनकी कांति का निरीक्षण किया जाय तो प्रभापूर्ण केंद्रीय वृत्तों की एक बहुत ही मनोरम शृंखला दिखाई पड़ेगी और प्रत्येक दीप्तिमंडल के केंद्र में स्थित बहुत ही सूक्ष्म रेडियमधर्मी रवा (क्रिस्टल) मिलेगा। प्रत्येक दिशा में प्रक्षिप्त होने वाले हीलियम के परमाणु अथवा अल्फाकण के कारण ही माइका का रंग काला हो जाता है। हर वृत्त का अर्द्धव्यास रेडियमधर्मी परमाणु के अल्फाकणों की पहुँच का द्योतक है। श्री जी० एच० हेंडर्सन ने बहुत ही सावधानीपूर्वक

इन वृत्तों की सीमा का माप किया है और उन्होंने पता लगाया है कि वे वृत्त जो एक अरब वर्ष से भी अधिक पुराने हैं ठीक उतने ही प्रभापूर्ण हैं जितने कि वे वृत्त जो अपेक्षाकृत कम समय की चट्टानों में पाए जाते हैं। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकला कि वृत्तों के अर्द्धव्यास तथा अल्फाकणों की गतिसीमा (रेंज) समान हैं और भौतिक स्थिरांक बदले नहीं हैं।

इस प्रकार यह जान लेनेपर कि रेडियमधर्मी पदार्थों में सीसा के समस्थानिकों के बनने की गति चिरकाल से एक ही जैसी रही है, यह ज्ञात करना सरल हो जाता है कि सीसे की वर्तमान मात्रा कितने दिनों में इकट्ठी हुई होगी। यूरैनाइट की चट्टानों में निहित सीसे की मात्रा के आधार पर हिसाब लगाने से यह मालूम होता है कि हमारी पृथ्वी कम से कम १ अरब वर्ष पुरानी है। यदि हम यह मान लें कि पृथ्वी के निर्माण के समय इसमें सीसे के समस्थानिकPb^{208} बिलकुल नहीं थे और धीरे-धीरेU^{235} २३२ के विघटन के कारण इनका समावेश होता गया है तो पृथ्वी के अधिक से अधिक ५४०० करोड़ वर्ष पुरानी होने का प्रमाण मिलता है। प्रसिद्ध भूगर्भ-शास्त्री आर्थर होल्म्स का कहना है कि इस बात की अधिक संभावना है कि हमारी पृथ्वी ३३५ करोड़ वर्ष पुरानी है।

पृथ्वी की उम्र की सीमा निर्धारित कर लेने के बाद अब हम अपने विश्व की उम्र के विषय में विचार करेंगे। पर हमारा विश्व तो पृथ्वी की तरह एक छोटा-सा पिण्ड है नहीं। पृथ्वी से लाखों करोड़ों गुने बड़े तारे अरबों की संख्या में इस विश्व में बिखरे पड़े हैं और इन तारों के बीच कोटि-कोटि पृथ्वी को एक कोने में छिपा रखने की क्षमतावाले भयंकर रिक्तस्थान पड़े हैं। अपने इस आश्चर्यजनक विश्व के भीतर किस प्रकार के कितने तारे कहाँ-कहाँ हैं, इसका भी समुचित ज्ञान हमें नहीं है। अतः विश्व की उम्र निर्धारित करना दुष्कर कार्य है। पर अपने विश्व के विषय में एक अच्छी बात यह है कि इसमें बिखरे हुए तारे सर्वथा स्वतंत्र नहीं हैं। जगह-जगह इन तारों के संघटन हैं अर्थात् अनेक तारों के बड़े-बड़े यूथ या समुदाय हैं। तारों के इन समुदायों को नीहारिका कहते हैं। इन नीहारिकाओं की उम्र के विषय में जानने के लिये हमारे पास कुछ उपयोगी ज्ञान है और उन्हीं के आधार पर हम इस विश्व की उम्र की भी सीमा निर्धारण करेंगे। हम उस नीहारिका के विषय में चर्चा करेंगे जिसमें पृथ्वी आदि ग्रहों को लेकर हमारा सूर्य भी संमिलित है। जिस किसी ने अंधेरी रात में निर्मल आकाश पर दृष्टि डाली होगी उसने आकाश-गंगा को अवश्य देखा होगा। आकाश-गंगा एक प्रभापूर्ण मेखला की तरह व्योम में फैली रहती है। मनुष्य की कल्पना ने आकाश-गंगा को लेकर बहुत-सी कथाओं की सृष्टि की है। यूनानियों की यह धारणा थी कि जुपिटर ने जब देवताओं की परिषद् बुलाई थी तब देववृंद इसी मार्ग से गए थे। इस मार्ग के दोनों ओर देवताओं के भव्य प्रसाद बने हुए हैं तथा देवनिवास से हटकर साधारण जनों के रहने के स्थान हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पना अधिक चमकीले और कम चमकीले तारों को लेकर की गई है। आधुनिक ज्योतिष्-शास्त्र ने आकाश-गंगा के विषय में अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण से काम लिया है। आकाश-गंगा में निरंतर परिवर्तन हो रहे हैं, पर ये परिवर्तन इतने धीरे-धीरे हो रहे हैं कि मनुष्य के जीवनकाल में इनको परखना बहुत कठिन है। इसी आकाश-गंगा के एक किनारे हमारा सूर्य भी अपने आश्रित ग्रहों के साथ घूम रहा है। यह नीहारिका अपने केंद्र की धुरी के चारों ओर कुम्हार के चक्के की तरह घूम रही है। इसके भीतर सूर्य से भी बड़े-बड़े तारे और छोटे-बड़े कई तरह के नक्षत्र-समूह भरे पड़े हैं। आकाश-गंगा की ही भाँति और भी नीहारिकायें विश्व में हैं। यहाँ हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि आकाश-गंगा कितनी पुरानी

है। जितने समय में हमारा सूर्य आकाश-गंगा के केंद्र के चारों ओर एक चक्कर पूरा करता है उतने समय को हम एक ब्रह्म-वर्ष कहेंगे। एक ब्रह्म-वर्ष बीस करोड़ साधारण वर्षों के बराबर होता है।

आकाश-गंगा के भीतर के सभी तारे तथा नक्षत्र-समूह निरंतर घूम रहे हैं। इनके घूमने की गति और कक्षा भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन अपने भ्रमण-काल में ये नक्षत्रमंडल एक दूसरे की गति को प्रभावित करते रहते हैं। आकाश-गंगा के बनने के समय उसके नक्षत्रों की जो गति तथा कक्षा रही होंगी उनमें आज बहुत परिवर्तन हो गए होंगे। वस्तुतः घूमने के क्रम में जब एक तारा दूसरे तारे के अथवा एक नक्षत्र-समूह के समीप आ जाता है तो आपस में गति तथा ऊर्जा (एनर्जी) का आदान-प्रदान हो जाता है और यदि बिना किसी ध्वंस के घूमने का यह क्रम चिरकाल तक चलता रहा, तो इन तारों की गति-शक्ति एक दूसरे के बराबर होती जायगी। इस प्रकार आकाश-गंगा की संपूर्ण गति-शक्ति का सभी तारों में समान वितरण होने के लिए कम से कम ५×१०^{१३} वर्ष लगेंगे। निरीक्षण करने से पता चलता है कि आजकल आकाश-गंगा के भीतर के विभिन्न तारों और तारक-समूहों की गति-शक्ति में बहुत भिन्नता है। 'बी'—परिवार के तारों की गतिशक्ति 'के' तथा 'एम' परिवारों की गति-शक्ति के आधे से भी कम है। परिवर्तनशील तारों की गतिशक्ति अपने ही समान के साधारण तारों से करीब २५ गुना अधिक है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न तारों की गति में बहुत अंतर है और इस गति-वैषम्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि आकाश-गंगा को इस तरह चक्कर करते हुए बहुत दिन नहीं हुए होंगे।

आकाश-गंगा का केंद्रक इसके भीतर बिखरे हुए सभी नक्षत्र-समूहों को अपनी ओर आकृष्ट करता रहता है। यदि किसी नक्षत्र-समूह के तारे एक दूसरे के काफी समीप हुए तो उनके आपस के आकर्षण की प्रबलता के कारण नीहारिका के केंद्रक का आकर्षण उनमें किसी प्रकार का विघटन आसानी से नहीं कर सकता, पर यदि किसी नक्षत्र-पुंज में तारों का घनत्व कम हुआ, तो धीरे-धीरे केंद्रक के आकर्षण के कारण उनमें विघटन हो जाता है और कालांतर में वह नक्षत्रपुंज समाप्त हो जाता है। अधिक घनत्ववाले नक्षत्र-समूहों में विघटन तभी होता है जब वे अपनी अबाध दौड़ में अकस्मात् किसी दूसरे नक्षत्र-समूह के पास आ जाते हैं। पर इस प्रकार की दुर्घटना बहुत समय बाद ही हो सकती है। अधिक घनत्ववाले नक्षत्र-समूहों का औसत जीवनकाल प्रायः $१०^{१३}$ वर्ष होता है। पर उन नक्षत्र-समूहों का ध्वंस जिनका घनत्व करीब-करीब (प्लाइडीज) कृत्तिका के समान है अपेक्षाकृत कम समय में हो सकता है। उनका औसत जीवनकाल करीब १५ ब्रह्म वर्ष तक है। इस प्रकार के नक्षत्रपुंजों की संख्या आजकल करीब ७०० के है जिससे यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा उचित है कि आकाश-गंगा को बने बहुत दिन नहीं हुए होंगे अन्यथा इस प्रकार के तारक-समूह इतनी अधिक संख्या में न पाए जाते।

आकाश-गंगा के बाहर स्थित कुछ प्रकाशमेघों की गति का निरीक्षण करने के बाद अपनी नीहारिका के १० अरब वर्ष पुरानी होने का विस्मयजनक पर विश्वसनीय प्रमाण मिलता है। २८ साल पहले फ्लैगस्टाफ तथा माउंट-विल्सन वेधशाला के ज्योतिर्विदों ने देखा कि आकाश-गंगा के बाहर एकाध अपेक्षाकृत धूमिल नीहारिकाओं के वर्णानुक्रम में कुछ अद्भुत लक्षण हैं। इनके वर्णानुक्रम कुछ सूर्य के वर्णानुक्रम के समान ही थे पर इनमें एक विशेष बात थी। आकाश-गंगा के वर्णानुक्रम में यह पाया गया कि वर्ण-पट के लाल किनारे की ओर अवशोषण रेखा खिसक गई है। साथ ही

जितनी ही अधिक धुंधली नीहारिका थी उतनी ही अधिक अवशोषण रेखा खिसकी हुई मिली। अधिक दूरवाली नीहारिकाओं के वर्णानुक्रम में तो आयनित (आयोनाइज्ड) कैल्शियम की के रेखा जिसे एंगस्ट्रॉम की ३९३३ इकाइयों पर रहना चाहिए, ४३४१ इकाइयों पर थी, जहां साधारणतया हाइड्रोजन रेखा रहती है। डॉप्लर के सिद्धांत के अनुसार इस व्यतिक्रम की यही मीमांसा है कि ये दूर की नीहारिकायें हमलोगों से और दूर हटती जा रही हैं और नीहारिकाओं का यह संपूर्ण लोक ही फैलता जा रहा है। यदि अवशोषण-रेखा का लाल किनारे की ओर हटना प्रसरण की गति का द्योतक ह तो सापेक्षवाद के सिद्धांत के अनुसार दूर हटने की गति और दूरी में जो संबंध है उसके आधार पर गणना करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारे विश्व का प्रसरण आज से करीब ३ अरब वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ। यह सन्तोष का विषय है कि दूसरी विधियों द्वारा स्वतंत्र रूप से हिसाब लगाने के बाद विश्व के लिए जो जीवनकाल आता है वह इसके बहुत समीप है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यह अनुमान सर्वथा ठीक है और इसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं। वस्तुतः इस तर्क में कई दोष हैं। विश्व के प्रसरण शील होने के सिद्धांत को सापेक्षवाद का समर्थन अवश्य प्राप्त है पर इसी प्रकार सापेक्षवाद न फैलने वाले तथा स्पंदनशील (आसिलेटिंग युनिवर्स) की भी पुष्टि करता है।

होता क्या है कि हमलोग प्रयोगशालाओं के अनुभवपर प्रतिपादित होने वाले परमाणु-विज्ञान तथा बिकिरण के सिद्धांतों का प्रयोग किसी प्रकार के सुधार की स्पष्ट आवश्यकता के बिना ही इन नीहारिकाओं के साथ भी करते हैं। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि ये नियम उसी सचाई के साथ इन नीहारिकाओं के संबंध में भी लागू हों। जैसे अवशोषण-रेखा का लाल किनारे की ओर हटने का बहुत ही स्पष्ट अर्थ यह लगाया जायगा कि विश्व प्रसारणशील है उसी तरह इस बात की मीमांसा दूसरे ढंग से भी हो सकती है। प्रयोगशालाओं में क्वैंतम की शक्ति सेकंड के कुछ हिस्से तक ही रहती है, हमारी नीहारिकाओं में यह शक्ति कई हजार वर्ष तक रह सकती है। लेकिन यदि क्वैंतम की शक्ति का बहुत ही धीरे-धीरे क्षय हो रहा हो तो यह संमत है कि हमें उस क्षय का अपनी प्रयोगशलाओं में अथवा नीहारिकाओं में किसी प्रकार का आभास न मिले। पर यदि प्रकाश-रश्मि एक करोड़ वर्ष की यात्रा करती रहे तो क्वैंतम की शक्ति का यह ह्रास निश्चय ही इतना अधिक हो जायगा कि इसका रंग कुछ लाल होने लगेगा। हाल ही में गति के संबंध में एक एसे नियम का शोध हुआ है जो यह बताता है कि समय के बढने के साथ फैलने की गति क्षीणतर होती जाती है। तो भूतकाल में फैलने की गति अधिक थी और अब क्रमशः कम होती जा रही है। इस आधारपर गणना करने से विश्व के फैलने का समय १ अरब वर्ष पूर्व प्रारंभ होता है।

आकाश-गंगा के बाहर स्थित तारों के संघटन के गति-विज्ञान का अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी नीहारिका के बनने की अधिक कालवाली अवधि ही ठीक है। पर ट्युबर्ग का कहना है कि नीहारिकाओं के कई यूथ होने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ये सभी नीहारिकायें १००० अरब वर्ष से अधिक पुरानी नहीं हैं। श्वेत बौने तारों का अध्ययन करने से लंबी अवधि वाला ही अनुमान ठीक जँचता है पर यह भी कहा जाता है कि ये तारे विश्व का फैलाव प्रारंभ होने के बहुत पहले ही बन गए थे। फिर हम यह भी देखते हैं कि आकाश-गंगा के भीतर धूलिकण और गैसें भरी हुई हैं। यदि आकाश-गंगा बहुत पुरानी होती, तो ये गैसें और धूलिकण अब तक ठोस तारों में समा गए होते। उनकी उपस्थिति अल्पकाल वाली अवधि की पुष्टि करती है।

पेनेथ ने रेडियमधर्मिता के आधार पर गणना करके यह परिणाम निकाला है कि उल्काकण (मिटियोराइट्स) का जन्म अधिक से अधिक ७ अरब वर्ष पहले हुआ होगा। रसेल का कहना है कि हमारी पृथ्वी में रेडियमधर्मी द्रव्यों की उपस्थिति इस बात की साक्षी है कि हमारी पृथ्वी १० अरब वर्ष से अधिक पुरानी नहीं हो सकती। यह अवधि संपूर्ण सौर परिवार के लिए भी लागू होती है।

मेरी अपनी यह धारणा है कि यह विश्व फैलता भी है और सिकुड़ता भी है। सापेक्षवाद का सिद्धांत भी इस मत की पुष्टि करता है। इस समय यह विश्व फैल रहा है और फैलने का यह क्रम प्रायः १० अरब वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ। श्वेत बौने तारों में कुछ का निर्माण वर्तमान प्रसरण के पूर्व ही हुआ था। वस्तुतः हमारे विश्व के जीवनकाल का न तो कोई आदि है और न अंत।
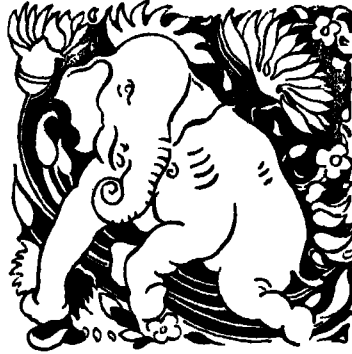
दक्षिण में शक संवत् का प्रसार

वा० वि० मिराशी

ऐसा परंपरागत विश्वास है कि दक्षिण भारत के अधिकांश भागों में संप्रति प्रचलित शालिवाहन शक (संवत्) की स्थापना ई० प्रथम शतक में शालिवाहन नामक राजा ने की। यह भी माना जाता है कि यह शालिवाहन पैठण नगर में राज्य करता था। पुराण, कथासरित्सागर, बृहत्कथामंजरी जैसे संस्कृत ग्रंथों और जैनों के कल्पप्रदीप तथा निर्मुक्ति आदि टीकाग्रंथों में पैठन के सातवाहन राजा का नाम आया है। कहा जाता है कि यह सातवाहन और शक-संस्थापक शालिवाहन एक ही थे। सातवाहन एक कुल का नाम था और उसका संस्थापक सातवाहन नामक राजा था, इसीलिये उसका यह नाम पड़ा। सातवाहन की दो मुद्राएँ प्रकाशित हो चुकी हैं और तीसरी मुझे हाल में ही प्राप्त हुई है, वह भी शीघ्र ही प्रकाशित होगी। परंतु इनसे यह विदित नहीं होता कि इस सातवाहन राजा ने किंवा उसके किसी वंशज ने संप्रति दक्षिण में प्रचलित शालिवाहन शक संवत् को प्रचलित किया होगा। कारण, यदि ऐसा होता तो इस वंश के एकाध शिलालेख में तो इस संवत् के अनुसार काल-गणना की होती। परंतु सातवाहन के किसी भी लेख में इस काल का उल्लेख नहीं है। शकसंवत् के साथ शालिवाहन राजा का नाम भी ई० चौदहवें शतक में अर्थात् इस संवत् की स्थापना के १३०० वर्षों के अनंतर विजयनगर के राजा हरिहर के ताम्रपत्र में पहलेपहल आता है। इसके पूर्व के सभी लेखों में इस काल को शककाल किंवा शक-नृपकाल कहा है और इसके वर्ष का शकवर्ष, शक-नृपति-संवत्सर अथवा शक-नृपति-राज्याभिषेक-संवत्सर नाम से उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि यह संवत् किसी शकनृपति ने प्रचलित किया और कई शतकों के अनंतर इसमें शालिवाहन का नाम जोड़ा गया।

इस शककाल का संस्थापक शक राजा कौन और कहाँ हुआ इस विषय में विद्वानों का मतभेद है। तथापि अनेक शोधकों का मत है कि वह कुषाणवंशी राजा कनिष्क रहा होगा। कनिष्क का विस्तृत साम्राज्य उत्तर भारत में वायव्य सीमाप्रांत से मगध तक फैला हुआ था। उसके द्वारा स्थापित संवत् का उपयोग हुविष्क, वासुदेव इत्यादि उसके वंशजों ने अपने शिलालेखों में किया है। यह राजा शकवंशी न होकर कुषाणवंशी था यह सत्य है, परंतु इतर भारतीय संवतों के समान इस संवत् का 'शक' नाम आरंभ के लेखों में नहीं आता। वह साढ़ेचार सौ वर्ष के बाद के लेख में

पहलेपहल आता है। जिस प्रकार आभीरों द्वारा स्थापित संवत् का पीछे कलचुरि राजाओं द्वारा उपयोग किए जाने पर कलचुरि नाम पड़ा, उसी प्रकार इस संवत् का भी पीछे शक राजाओं द्वारा उपयोग किए जाने पर 'शक' नाम पड़ा।

कुषाणवंश का अस्त होने पर उत्तर में इस संवत् का धीरे-धीरे संकोच होता गया। मध्यहिंदुस्थान में राज्य करने वाले राजा मघ के कुछ लेख हाल में प्राप्त हुए हैं, उनमें एक विशिष्ट संवत् का उपयोग किया हुआ मिलता है। वह भी यह शक संवत् ही होगा, यह प्रस्तुत लेखक ने अन्यत्र दिखलाया है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त द्वारा इस राजा का उच्छेद किए जाने पर इस संवत् का मध्यभारत में भी लोप हो गया। इसके पश्चात् मालवा और काठियावाड़ में राज्य करनेवाले क्षत्रपों के शिलालेखों में और मुद्राओं पर इस संवत् के वर्ष दिए हुए हैं। ये वर्ष शक संवत् के हैं, इस विषय पर विद्वानों का ऐक मत्य है। कुछ का तो यह मत है कि इन क्षत्रपों का मूलपुरुष चष्टन ही इस संवत् का चलानेवाला रहा होगा। परंतु यह मत योग्य नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि चष्टन कितना भी हो तो महाक्षत्रप अर्थात् प्रांताधिपति ही था। तब इसमें संदेह नहीं कि उसने किसी सम्राट् का स्वामित्व स्वीकार किया था। उसे अपना निजी संवत् चलाने की स्वतंत्रता नहीं थी। इससे बहुत कर के यही मत सयुक्तिक प्रतीत होता है कि उसका सम्राट् कनिष्क ही रहा होगा और कनिष्क के द्वारा स्थापित संवत् का ही उल्लेख उसके प्रांताधिपति चष्टन तथा उसके वंशजों के लेखों में किया गया है। क्षत्रपों का उच्छेद द्वितीय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने ई० चौथी शताब्दी के अंत में किया। उसके पश्चात् शक संवत् का उत्तर भारत से सर्वथा लोप हो गया और उसकी जगह पहले गुप्त संवत् ने और पीछे विक्रम संवत् ने ले ली।

केवल दक्षिण में यह शक संवत् धीरे-धीरे स्वयं फैलता गया। उत्तर महाराष्ट्र में कुछ काल तक भूमक और नहपान, इन दो अन्य क्षत्रपों का राज्य था। नहपान के शिलालेख में दिए हुए ४२ और ४६ वर्ष इस शक संवत् के ही होने चाहिए। नहपान के लेख नासिक, कार्ले इत्यादि स्थानों में पाए गए हैं। सातवाहन वंशी गौतमीपुत्र ने इस नहपान का पराभव किया और इसके क्षहरात वंश का समूल उच्छेद किया। इसके बाद ई० दूसरे शतक में यह शक संवत् कुछ काल के लिये महाराष्ट्र से लुप्त हो गया और उसकी जगह आभीरों द्वारा लगभग २५० ई० में स्थापित एक दूसरे संवत् ने ले ली। आभीरों के साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ उनके संवत् का प्रचार उत्तर-महाराष्ट्र, कोंकण और गुजरात प्रांतों में हुआ। पीछे कलचुरि राजाओं द्वारा अपनाए जाने पर वह विदर्भ में भी कुछ काल तक प्रचलित रहा। ई० सातवीं शती में बदामी के चालुक्यों द्वारा कलचुरियों का पराभव होने पर इस आभीर अथवा कलचुरि संवत् का दक्षिण से धीरे-धीरे लोप हो गया।

बदामी चालुक्यों ने शक संवत् का आदर किया। पूर्व कथनानुसार ई० दूसरी शताब्दी में यह संवत् उत्तर-महाराष्ट्र से लुप्त हो गया। इसके बाद का इस संवत् का प्रथम ज्ञात वर्ष ४६५ (ई० ५४३) है जो चालुक्य सम्राट् प्रथम पुलकेशी के बदामी के लेख में मिलता है। चालुक्यों का साम्राज्य ई० सातवीं शती में महाराष्ट्र, कोंकण, गुजरात और आंध्र प्रांतों में फैला और उसके साथ ही साथ शक संवत् का प्रसार भी इन प्रांतों में हुआ। तब से आज तक इन प्रांतों में शक संवत् अविच्छिन्न रूप से प्रचलित है।

ई० दूसरी से छठी शती के बीच के काल का इस संवत् का कोई लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। इस काल में इस संवत् का उपयोग कौन करता था, यह प्रश्न अब भी अनिर्णीत है। इस विषय की थोड़ी नवीन जानकारी प्रस्तुत लेख में देने का प्रयत्न किया गया है।

यह सत्य है कि ई० तीसरी शती से बदामी के चालुक्यों ने शक संवत् को अंगीकार किया, परंतु वे इसे अपना संवत् नहीं मानते थे, इसका स्पष्ट निर्देश उनके तथा उन्हीं की भाँति उनके मांडलिकों के सभी लेखों में मिलता है। तब यह स्पष्ट है कि चालुक्यों के उदय के पूर्व इस संवत् का उपयोग किसी शक् राजा ने किया और अपने प्रांत में पूर्व से ही प्रचलित होने के कारण चालुक्यों ने उसका उपयोग किया। जब चालुक्यों के मांडलिक उत्तर महाराष्ट्र, कोंकण और गुजरात में राज्य करने लगे, तब पहले उन्होंने कुछ काल तक उस प्रांत में पहले से ही प्रचलित आभीर-कलचुरि संवत् का उपयोग किया। इसपर से भी उपर्युक्त अनुमान ठीक मालूम होगा। परंतु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बदामी अथवा बीजापुर जिले के पड़ोसी शक राजा का राज्य चालुक्यों का पूर्ववर्ती था, इसका प्रमाण क्या? इस प्रश्न का उत्तर हाल ही में हैदराबाद में प्राप्त चार मुद्राओं से दिया जा सकता है। इनमें की पहली दो मुद्राएँ हैदराबाद के मुद्रा-संग्राहक श्री हुरमुज कौस के संग्रह में हैं। उनको मैंने तीन वर्ष पूर्व इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली नाम की सुप्रसिद्ध त्रैमासिक शोधपत्रिका में प्रकाशित किया था। ये मुद्राएँ सातवाहन की मुद्राओं के सदृश हैं। उनपर सामने की ओर सूँड़ ऊपर किए हुए हाथी बना है और पीछे की ओर उज्जैन चिह्न (एक पर एक आड़े खड़े रखे हुए डंबल) हैं। हाथी के चारों ओर राजनाम है जो दो में से किसी एक मुद्रा पर भी पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं है। परंतु दोनों मुद्राओं के अक्षर एकत्र करने पर वह 'रंजो सिरि सगमान-महसस' इस प्रकार पूरा होता है। यह नाम तत्कालीन प्राकृत भाषा में है और अक्षरों की लिपि ई० दूसरी या तीसरी शती की है। मुद्राओं पर के शब्दों का अर्थ इस प्रकार होगा—'यह मुद्रा राजा श्री शकमान महिष की' (है)। पुराण में इस राजा का नाम निम्नलिखित रूप में आया है—

'शक्यमानाभवद्राजा महिषाणां महीपतिः।''[1]

पुराणों के पाठ में अनेक लेखकों के अनवधान अथवा अज्ञान के कारण अनेक भूलें पाई जाती हैं। ऊपर उद्धृत मूल का पाठ इस प्रकार होगा—

शकमानोभवद्राजा महिषाणां महीपतिः

इसका अर्थ है—'महिषों का राजा शकमान हो गया'।' अतः यह स्पष्ट है कि ये मुद्राएँ शकवंशी मान राजा की हैं। इन मुद्राओं पर भी उसका 'महिष' विशेषण लगा हुआ है, इससे विदित होता है कि वह माहिषक देशपर राज्य करता था। इस माहिषक देश का उल्लेख दक्षिण में विदर्भ और ऋषीक (वर्तमान खानदेश) देशों के साथ रामायण में आया है। इस विषय का विवेचन पीछे किया जायगा।

कुछ मास पूर्व हैदराबाद राज्य के वस्तु-संशोधन विभाग के प्रमुख ख्वाजा मुहम्मद अहमद ने कुछ मुद्राओं के फोटो मेरे पास पढ़ने के लिये भेजे थे। इनमें से दो मुद्राएँ इस वंश के राजा की हैं। इनमें की एक मुद्रा हैदराबाद नगर के उत्तर के मेदक जिले के कोंडापुर स्थान में प्राप्त हुई थी।

---

१. पार्जिटर कृत कलियुग राजवंश (अंग्रेजी), पृ० ५१।

इस स्थान में सातवाहन राजा का विस्तृत अवशेष पाया गया है। यह मुद्रा सीसे की है और इसके संमुख पृष्ठ पर सिंह की आकृति है। यह मुद्रा भी सातवाहन की मुद्राओं के सदृश हैं। इसपर का राजनाम खंडित है, तथापि बचे हुए अक्षर 'माण महसस' इस रूप में पढ़े जाते हैं। अतः इसमें संशय नहीं कि यह मुद्रा भी उसी शकवंशी मान राजा की बनवाई हुई हैं।

दूसरी मुद्रा हैदराबाद राज्य के दक्षिण रायचूर जिले के अंतर्गत मस्की स्थान के उत्खनन में प्राप्त हुई थी। यहाँ अशोक का शिलालेख प्राप्त होने के कारण यह गाँव शोधकों का सुपरिचित है। यह मुद्रा भी सीसे की है और इसके संमुख भाग पर घोड़े की आकृति है। उसके चारों ओर का राजनाम खंडित हो गया है। तथापि 'यसस महसस' ये अक्षर पढ़े जाते हैं। इससे विदित होता है कि इस मुद्रा को महिषवंश के एक राजा ने बनवाया था और उस राजा के नाम के अंत में 'यशस्' शब्द था। इस राजा की और मुद्राएँ प्राप्त हुए बिना इस राजनाम को पूरा करना संभव नहीं है।

'महिष' वंश का नाम संभवतः माहिषक देश के नाम पर पड़ा। माहिषक देश का उल्लेख रामायण, महाभारत और पुराण में अनेक स्थलों पर आया है। रामायण में सीता की खोज के लिये सुग्रीव द्वारा भिन्न-भिन्न दिशाओं में बानरों के भेजे जाने का वर्णन है। दक्षिण के देशों में 'विदर्भान् ऋषिकांश्चैव रम्यान् माहिषकानपि' इस प्रकार विदर्भ और ऋषिक देशों के साथ माहिषक देश का नाम आया है। महाभारत में माहिषक का नाम भीष्मपर्व, कर्णपर्व, अनुशासनिक पर्व, अश्वमेधिक पर्व इत्यादि कई पर्वों में मिलता है। इन उल्लेखों से विदित होता है कि माहिषक देश द्रविड़, कलिंग, आंध्र और महाराष्ट्र की ही भाँति दक्षिण में था। साथ ही, उसका नाम इन देशों के साथ-साथ आने से यह भी अनुमान होता है कि वह इन देशों के निकट ही था। पूर्वोक्त मुद्रा हैदराबाद राज्य के दक्षिण भाग में प्राप्त होने के कारण इस अनुमान में संभवतः भूल की संभावना नहीं है कि उस भाग का प्राचीन नाम माहिषक था।

पूर्ववर्णित मुद्राओं से विदित होता है कि इस प्रदेश पर शकवंशी मान राजा राज्य करता था। पुराण में जिन थोड़े से ऐतिहासिक काल के राजाओं का नाम-निर्देश है उनमें से एक वह भी है। इससे मालूम होता है कि वह बड़ा बलवान् और उसका राज्य बहुत विस्तृत रहा होगा। इस भाग में उसके वंशजों का राज्य कई पीढ़ियों तक चला था[२]। पुराणों में कहा है कि आंध्र किंवा सातवाहन बंश का अंत होने पर अनेक राज्यों का उदय हुआ, उनमें से एक शक राज्य भी था। पुराणों के ही कथनानुसार ये शक राजा अठारह हुए और उन्होंने ३८० वर्ष राज्य किया। पार्जिटर का कहना है कि उक्त वर्षों की संख्या में भूल है, ठीक संख्या १८३ वर्ष होगी। उनका कथन ठीक माना जाय तो १८ शक राजाओं ने लगभग ई० २५० से ४३३ के बीच राज्य किया होगा।

दक्षिण के इन शक राजाओं के कोई भी लेख अभी तक प्राप्त नहीं हैं। तथापि मैसूर राज्यांतर्गत चंद्रवल्ली के प्रस्तरलेख में बनवासी (उत्तर कानड़ा जिला) के कदंब नृपतियों के मूल पुरुष मयूरशर्मा द्वारा शकस्थान नामक प्रदेश के जीते जाने का उल्लेख है। यह शकस्थान नामक प्रदेश कदंब राज्य से बहुत दूर न होकर दक्षिण में ही रहा होगा। कदंबों का राज्य धारवाड़ जिले के

२. पार्जिटर कृत कलियुग राजवंश, प्रस्तावना, पृ० २४

दक्षिण उत्तर कानड़ा प्रांत पर था। तब यह अनुमान करने में कोई हानि नहीं कि उनका जीता हुआ शकस्थान प्रदेश माहिषक ही होगा।

ऐसा विदित होता है कि इन शक राजाओं ने अपना संवत् माहिषक देश में और उसके आसपास अपने राज्य के इतर भागों में प्रचलित किया था। उस समय इस संवत् का बीजापुर, बेलगांव और धारवाड़ जिलों में प्रचार हुआ होगा। यदि कर्णाटक जिले में चालुक्यों के पूर्वकाल का कोई लेख मिले तो आशा है उसमें इस संवत् का उल्लेख मिलेगा।

ई० छठी शताब्दी में बदामी के चालुक्यों का उदय हुआ। उन्होंने अपने लेख में इस संवत् का उल्लेख किया है। इसका कारण यह होगा कि उनके देश में यह पहले से ही प्रचलित था। राज्यक्रांति होने पर भी लोक द्वारा अपनाई हुई काल-गणना-पद्धति यकायक नहीं बदल जाती। आभीर, कलचुरि, गुप्त हर्ष—इनके संवत् इनका साम्राज्य नष्ट हो जाने पर भी जो कई शतकों तक चलते रहे उसका कारण यही है। अंग्रेजों का राज्य चले जाने पर भी हम उनके ख्रीष्टीय संवत् का उपयोग करते ही हैं। अस्तु।

चालुक्यों ने शक संवत् का उपयोग किया, तो भी वह संवत् उनका न होकर शकों का या शक राजाओं का था, ऐसा स्पष्ट निर्देश उन्होंने अपने सभी लेखों में किया है। चालुक्यों का साम्राज्य द्वितीय पुलकेशी के राज्यकाल में महाराष्ट्र, कोंकण, विदर्भ, गुजरात और आंध्र प्रांतों में फैला। इनमें से प्रथम चार प्रांतों में उस समय आभीर किंवा कलचुरि संवत् का प्रचार था। चालुक्यवंशी राजाओं किंवा उनके मांडलिकों ने अपने आरंभ के लेखों में उसी संवत् का उपयोग किया है। परंतु पीछे वे धीरे-धीरे अपने अधिक परिचित शक संवत् का उपयोग करने लगे। सौ डेढ़ सौ वर्षों की अवधि में इन प्रांतों से कलचुरि संवत् का पूर्ण रूप से लोप हो गया। पूर्व में आंध्र प्रांत में उसका प्रचार चालुक्यों के राज्य के आरंभ से था ही। आंध्र देश के उत्तर कलिंग देश में गांग संवत् प्रचलित था जो ई० दशवीं शती पर्यंत रहा। ग्यारहवीं शती में वहाँ भी शक संवत् का प्रवेश हुआ। पीछे ई० चौदहवीं शती में विजयनगर के राजा ने पहलेपहल उसे 'शालिवाहन शक' नाम दिया और इस प्रकार उसका संबंध शालिवाहन नाम के प्राचीन राजा से जोड़ दिया। तभी से हम उसे शालिवाहन शक (संवत्) कहते हैं।

इस प्रकार इस शकसंवत् का प्रसार नर्मदा के दक्षिण के अनेक प्रदेशों में हुआ।
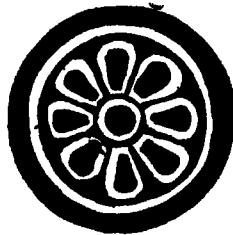
वैदिक प्रार्थनाओं का स्वरूप

धीरेंद्र वर्मा

किसी भी देश के निवासियों की धार्मिक प्रार्थनाओं से वह कि लोगों के जीवन-संबंधी आदर्शों का पता चल सकता है। भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों में भी प्रार्थनाओं का रूप भिन्न-भिन्न प्रकार का मिलता है। यहाँ अपने केवल वैदिक कालीन पूर्वजों की प्रार्थनाओं के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

वैदिक कालीन प्रार्थनाओं की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उनका दृष्टिकोण पारलौकिक न होकर इस लोक से संबंध रखना है। उनमें मृत्यु के बाद मोक्ष, स्वर्ग, बैकुंठ, निर्वाण आदि की प्राप्ति की इच्छा प्रकट नहीं की गई है, बल्कि इस लोक में जीवनकाल में सुख देनेवाली वस्तुओं की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है।

इस लोक की सामग्री में भौतिक पदार्थों का स्थान प्रमुख है। अनेक वैदिक मंत्रों में गौ, अश्व, सुवर्ण, अन्न, धन, जौ, तेल, घृत आदि के संबंध में प्रार्थना की गई है। गौओं से दूध-घी के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी बदले में मिल सकती थीं। सुवर्ण से आभूषण और बर्त्तन आदि बनते थे और अनेक प्रकार की सामग्री खरीदने का काम भी कदाचित् लिया जाता था। घोड़े युद्ध में काम आते थे, रथों में जोते जाते थे तथा उस समय हल चलाने में भी शायद इस्तेमाल होते थे। घर में प्रभूत अन्न, घी, तेल, आदि खाद्य पदार्थों का होना संपन्नता का द्योतक है ही। इस प्रकार की वैदिक प्रार्थनाओं के कुछ रोचक उद्धरण नीचे दिए जाते हैं :—

"हे इन्द्र, मेरा मन जौ, गौ, सुवर्ण अश्व का अभिलाषी होकर तुम्हारे ही पास जाता है।"

"हे इन्द्र तुम हमें गाय, अश्व और तेल दो; साथ ही मनोहर और सोने के अलंकार भी दो।"

"शूर इन्द्र, पुराडश को स्वीकार कर हमें सौ और सहस्र गाएँ दो।" [1]

१. त्वामिद्य वयुर्मम कामो गव्युर्हिरण्ययुः। त्वामश्वयुरेषते॥
आ नो भर व्यञ्जनं गामश्वमभ्यञ्जनम्। सचा मना हिरण्यया॥
पुरोडाशं नो अन्धस इन्द्र सहस्रामा भर। शता च शूर गोनाम्॥
ऋ० ८।६७।९,२,१

"हम स्तोता गौओं की अभिलाषा करते हैं, अश्वों की अभिलाषा करते हैं, अन्न की अभिलाषा करते हैं और स्त्री की अभिलाषा करते हैं।" [२]

"हे उषा, हमें गौ, वीर, और अश्व सहित धन दो। हमें बहुत अन्न दो। पुरुषों के बीच हमारे यज्ञ की निन्दा नहीं करना। तुम हमारा सदा स्वस्ति द्वारा पालन करो।" [३]

"हे उषा, आप अश्वों से युक्त, गौओं से युक्त, वीरपुत्रों से युक्त, सुखकारी मेरे घर को प्रकाशित करें। घी से परिपूर्ण करती हुई सब प्रकार से पुष्ट होकर आप स्वस्तिकारक होकर हमारी रक्षा करें।" [४]

परिवार तथा देश की शक्ति बुद्धिमान, सच्चरित्र स्वथ और बलिष्ठ पुत्रों से होती है, इस कारण से अनेक मंत्रों में पुत्रों की कामना भी की गई है। स्त्री का विशेष महत्व भी वीर-प्रसविनी होने का कारण ही था। इसी दृष्टिकोण से प्रायः स्त्री की भी अभिलाषा की गई है :—

"हे इन्द्र, तुम हमें स्तुतिपरायण, देवताओं में विश्वास करने वाला, महान्, विशाल-मूर्ति, गंभीर, सुप्रतिष्ठित, प्रसिद्ध ज्ञानी, तेजस्वी, शत्रुदमनकर्त्ता, पूज्य और वर्षक पुत्ररूप धन दो।"

"हे इन्द्र, अश्वयुक्त, रथी, वीरसंपन्न, असंख्य गौओं आदि से युक्त, अन्नवान, कल्याण-कारी सेवकों से युक्त, विप्रों से वेष्टित, सब की सेवा करने वाला, पूज्य और वर्षक पुत्र-स्वरूप धन हमें दो।" [५]

"हे अग्नि, हम सूने घर में नहीं रहेंगे, दूसरे के घर में भी नहीं रहेंगे। हम पुत्र रहित और वीर रहित हैं। तुम्हारी परिचर्या करते हुए हम प्रजा से संपन्न घर में रहें।" [६]

---

२. गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः।
जनीयन्तो जनिदामक्षितोतिमा च्यावयामोऽवते न कोशम्॥
ऋ० ४।१७।१६

३. नू नो गोमद्वीरवद्धेहि रत्नमुषो अश्वावत् पुरुभोजो अस्मे।
मा नो बर्हिः पुरुषता निदे कर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥
ऋ० ७।७५।८

४. अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासोवीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥
अ० ३।१६।७

५. सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।
श्रुत ऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
अश्वावन्तं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणं शतिनं वाजमिन्द्र।
भद्रव्रातं विप्रवीरं स्वर्षामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
ऋ० १०।४७।३,५

६. मा शूने अग्ने नि षदाम नृणा माशेषसोऽवीरतापरि त्वा।
प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य॥
ऋ० ७।१।११

किन्तु संसार के समस्त सुख निःसार हैं यदि मनुष्य स्वस्थ, नीरोग और दीर्घजीवी न हो। इसी कारण अनेक मंत्रों में स्वस्थशरीर के साथ लंबी आयु की प्रार्थना की गई है :—

"हे रुद्र, हम तुम्हारी दी हुई सुखकारक औषधि के द्वारा सौ वर्ष जीवित रहें। हमारे शत्रुओं का विनाश करो, हमारा पाप पूर्णरूप से दूर कर दो और सर्वशरीर-व्यापी व्याधि को भी दूर कर दो।" ७

"हे सोम, हमें मृत्यु के हाथ में नहीं देना, हम सूर्य का उदय देखते रहें, हमारी वृद्धावस्था दिन-दिन सुख से बीते, निर्ऋति दूर हो।" ८

"हम सौ वर्ष देखें, सौ वर्ष जिएँ, सौ वर्ष सुनें, सौ वर्ष बोलें, सौ वर्ष दीनता रहित रहें तथा सौ वर्ष से अधिक भी।" ९

"मेरे मुख में बोलने की शक्ति रहे, नासिका में प्राण बराबर चलें, आँखों में देखने की शक्ति रहे, और कानों में सुनने की शक्ति रहे। मेरे बाल सफेद न हों, दाँत न गिरें और मेरी भुजाओं में बल रहे।

"मेरी पिंडलियों में बल रहे, जांघों में वेग रहे, पैरों में खड़े होने की शक्ति रहे। मेरे समस्त अंग कष्टरहित हों और मेरी आत्मा संताप रहित रहे।" १०

निम्नलिखित मंत्रों में उपर्युक्त भाव फुटकर ढंग से बिखरे पड़े हैं किंतु प्रत्येक मंत्र की प्रार्थना का चरम उद्देश्य इस जीवन में सुख, ऐश्वर्य और समृद्धि की प्राप्ति से है :—

"हे इन्द्र, हमें उत्तम धन दो, हमें निपुणता की प्रसिद्धि दो, हमें सौभाग्य दो, हमारा धन बढ़ा दो, हमारे शरीर की रक्षा करो, वाणी में मिठास दो और दिनों को सुदिन करो।११

---

७. त्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः।
व्यस्मद्द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः॥
ऋ० २।३३।२

८. मो षु णः सोम मृत्यवे परा दाः पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।
द्युभिर्हितो जरिमा सू नो अस्तु परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्॥
ऋ० १०।५९।४

९. पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं ॐ शृणुयाम शरदः शतम्।
प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥
य० ३६।२४

१०. वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः॥
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम॥
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मा नि भृष्टः॥
अ० १९।६०

११. इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥
ऋ० २।२१।६

"वरुण, मुझे किसी धनी और अभूत दानशाली व्यक्ति से अपनी दरिद्रता की बात न कहनी पड़े। राजन्, मेरे पास आवश्यक धन का अभाव न हो। हम वीर पुत्र-पौत्रवाले होकर इस यज्ञ में स्तुति करेंगे।" १२

'हे इन्द्र, ऐसा करो कि मैं समकक्ष व्यक्तियों में श्रेष्ठ होऊँ, शत्रुओं को हराऊँ, विपक्षियों को मार डालूँ और सर्वश्रेष्ठ होकर अशेष गोधन का अधिकारी बनूँ।" १३

"हे अग्नि, हमें निःसंतान नहीं करना, बुरे वस्त्र न देना, कुबुद्धि नहीं देना। हमें भूखा न रखना, हमें राक्षस के हाथ में न देना। हे सत्यवान अग्ने, हमें न घर में मारना, न वन में।" १४

"हे ग्रीष्म, हेमंत, शिशिर, वसंत, शरद तथा वर्षा, हमें सुख दो। हमारी गौओं और संतान को सुख प्रदान करो। हम सदा उपद्रवों से रहित इन ऋतुओं के अनुकूल घर में निवास करें।" १५

उपर्युक्त प्रार्थनाएँ वैदिककाल के प्रारंभिक समय की प्रतिनिधि हैं। ऋग्वेद की अधिकांश प्रार्थनाएँ इसी प्रकार की हैं। किंतु संस्कृति के विकास के साथ भौतिक स्तर से मानसिक स्तर की ओर झुकाव मिलने लगता है। सांसारिक सुख और वैभव ने मन और मानसिक अभिलाषाओं को कदाचित कलुषित करना प्रारंभ किया होगा अतः शुभ संकल्पों वाले मन तथा मानसिक शांति के महत्व की ओर हमारे पूर्वजों का ध्यान गया। इस प्रकार की प्रार्थनाओं में यजुर्वेद का निम्नलिखित शिव-संकल्प-सूक्त सब से प्रसिद्ध हैं:—

"जो दिव्य मन जागने पर दूर-दूर भटकता है तथा सोने पर भी उसी प्रकार इधर-उधर जाता है, वह ज्योतियों का भी ज्योति, दूर जाने वाला, मेरा मन शिव-संकल्प वाला हो।

जिसकी सहायता से कर्मण्य, मनस्वी और धीर पुरुष युद्धों तथा यज्ञों में कर्म करते हैं जो समस्त प्राणियों के भीतर अपूर्व यक्ष है, वह मेरा मन शिव-संकल्पवाला हो।

---

१२. माहं मघोनो वरुण प्रियस्य भूरिदाव्न आ विदं शूनमापेः।
मा रायो राजनन्त्सुयमादव स्थां बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥
ऋ० २।२९।७

१३. ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥
ऋ० १०।१६६।१

१४. मा नो अग्नेऽवीरते परा दा दुर्वाससेऽमतये मा नो अस्यै।
मा नः क्षुधे मा रक्षस ऋतावो मा नो दमे मा वन आ जुहूर्थाः॥
ऋ० ७।१।१९

१५. ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम्॥
अ० ६।५५।२

जो ज्ञान साधन, चेतन स्वरूप और स्मरण शक्ति रखनेवाला है। जो प्राणियों के अंदर अमर ज्योति स्वरूप है तथा जिसके बिना कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता है, वह मेरा मन शिव-संकल्प वाला हो।

जिस अमर मन की सहायता से यह भूत, वर्तमान, और भविष्य सब जाना जाता है, जिसकी सहायता से सात होता वाला यज्ञ किया जाता है वह मेरा मन शिव-संकल्पवाला हो।

जिसमें ऋक, यजु, साम उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं जैसे रथ की नाभि में आरे। जिसमें प्राणियों का समस्त ज्ञान पिरोया हुआ है, वह मेरा मन शिव-संकल्पवाला हो।

जैसे अच्छा सारथी रासों से घोड़ों को हाँकता है उसी तरह जो मनुष्यों को चलाता है। हृदय में प्रतिष्ठित, कभी भी वृद्ध न होनेवाला, अत्यंत वेगवान वह मेरा मन शिव-संकल्पवाला हो।" [१६]

अंत में यजुर्वेद से दो वैदिक प्रार्थनाएँ दी जा रही हैं, इनमें प्रथम राष्ट्रीय प्रार्थना, पूर्व वैदिक काल के दृष्टिकोण की द्योतक है, तथा दूसरी उत्तर वैदिककाल की उस नवीन प्रवृत्ति की प्रतिनिधि है जिसका विशेष विकास भारतीय धार्मिक संस्कृति के बौद्ध-सुधार से लेकर भक्ति-सुधारों तक के मध्ययुग में हुआ। पहली में शरीर और मन के सुख का भाव प्रधान है और दूसरी में मन और आत्मा की शांति का। प्रथम प्रार्थना निम्नलिखित है :—

"हे ब्रह्म, इस राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चसी पैदा हों, राजन्य शूरवीर, धनुर्धर, शत्रु को परास्त करनेवाले और महारथी पैदा हों। दुधारी गाएँ, खूब बोझ ढोनेवाले बैल, तेज घोड़े और गृहस्थी चलाने में समर्थ स्त्रियाँ हों। इस यजमान के घर सभा में बैठने के योग्य युवा वीरपुत्र पैदा हो। जब जब हम कामना करें; तब तब मेघ बरसें, हमारी खेती फलवती होकर पके और हमारा योगक्षेम हो अर्थात् नया धन प्राप्त हो और प्राप्त धन सुरक्षित रहे।" [१७]

---

१६. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरञ्जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
य० ३४।१–६

१७. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽति

और दूसरी प्रसिद्ध प्रार्थना इस प्रकार है :—

"द्यौ शांति दे, अंतरिक्ष शांति दे, पृथिवी शांति दे, जल शांति दे, अन्न शांति दे, वनस्पति शांति दे, ब्रह्म शांति दे, सब पदार्थ शांतिप्रद हों, शांति स्वयं शांति दे, ऐसी शांति मुझे प्राप्त हो।"

प्रभूत धनधान्य, गौ, अश्व, सुवर्ण, पुत्र, स्वस्थ शरीर, दीर्घजीवन आदि के स्थान पर केवल मात्र मानसिक और आत्मिक शांति की खोज अपने देश की संस्कृति के इतिहास में एक युग परिवर्तन का परिचायक है।
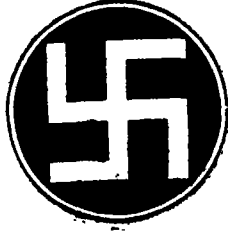
व्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्। य० २२।२२

१८. द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः। सर्वं ँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सामा शान्तिरेधि। य० ३६।१७

पथ-पर

शंभूनाथ सिंह

चल रहा सुनसान पथ पर मैं अकेला,
छोड़ पीछे आ रहा रंगीन मेला !

*

चाँदनी है, रात का पिछला पहर है
गीत मेरा और यह मेरी डगर है,
लग रहा मुझको, युगों के बाद जैसे
आज मुझमें फिर जगी यौवन-लहर है।
छोड़ता मैं जा रहा पथ के किनारे
चाँदनी के चित्र धरती पर सँवारे
चाँद पश्चिम में झुका, प्राची क्षितिज पर,
द्वार तम के खोलता छिप-छिप उजेला !

*

मंद पुरवाई बही, कुछ घिर गये घन,
खेलते हैं, चाँद से, ये मुँदे लोचन,
किंतु चौदस-चाँद ने अब मुँह छिपाया
और क्षण में हो गया सब दृश्य नूतन,
ज्योति तम हैं नीर-क्षीर समान मिलकर
लग रहा आवृत अनावृत, सत्य सुंदर
एक दृश्य रहस्य सा लगता सभी कुछ
देखता मैं भूल सब मन का झमेला !

*

प्रेत-छाया से खड़े ये वृक्ष सारे
रात है अब भी रुकी जिनके सहारे,
लग रहा अब सिंधु सा नीला गगन है
और नीचे सिंधु तल से खेत प्यारे,
ग्राम-पंछी जागरण का स्वर सुनाता
स्वप्न है सुनसान का ज्यों टूट जाता
बढ़ रहा मैं, बढ़ रही है काल की गति
पास ही है नील-लोहित प्रात-बेला!

*

प्राण में अवसाद, पर गति है चरण में,
जा रहा अज्ञात भावी की शरण में,
यह थका जीवन चुनौती दे रहा है
देखना है शक्ति कितनी है मरण में।
किंतु पीछे खींचता कोई निरंतर
याद पर हिम-प्रश्न औ अंगार उत्तर,
चल रहा आगे इसीसे पग बढ़ाता
छोड़ कर पीछे प्रणय का खेल खेला!
चल रहा सुनसान पथ पर मैं अकेला
छोड़ पीछे आ रहा रंगीन मेला!

कवि और काव्य

राजेंद्र नारायण शर्मा

जीवन की अखंड अनंत चेतना काव्य के आनंद और रहस्य को नित्य धारण किए है। उसका शाश्वत उन्मेष कवनीय "स्वयंभू—सत्ता का मूल है।

जो सब का कारण है वह स्वयं अकारण है, क्योंकि उसका तो कोई कारण हो नहीं सकता। जो सब का आधार है, वह स्वयं निराधार है। निरपेक्ष है निरतिशयेन।

निरपेक्ष ऐसे विश्वात्मा की देह से निकलकर उसीकी देह में फैले हुए इस प्रकाश जगत के कारण यदि 'ज्योतिषां ज्योतिः' चिदाकाशमय निरंजन ब्रह्म[1] है, तो काव्य[2] का उत्पाद्य चेतनाधार, बीजरूप से द्यौ तथा पृथ्वी (विश्वस्यधारिणी) के अंतर और उसकी अवांतर दिशाओं में व्याप्त यह महाप्राण जीवन है। जो, (सत्व, रज, तम)—गुणत्रय के अविकल संयोग से बने (एक प्रधान भाव) सत या सत्ताभाव से एकरस है तथा जिसकी चेतना से, जिसके संसर्ग से उत्पन्न चराचर सब जीवित हैं। जो संकल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोहादिकों के द्वारा प्रकृति के असंख्य रूपों में प्रतिरूप होकर फैल रहा है। यह जीवन चिरंतन महाप्राण की, अव्यक्त की वह व्यक्तदशा है जो जन्म और मृत्यु की अवधि और अंतराल से सदा अनवच्छिन्न है। 'जीवनं सर्वभूतेषु'—इस सूक्ति के उद्गायक आत्मा की उसीसे निकलकर फैली हुई यह सनातनी प्रवृत्ति या जीवनधारा[3] अनंत है। अविनाशी भी। नवल-सर्ग में फिर-फिर उगने के लिये जैसे फलाभृत यह लोक-वृक्ष अपने बीज रूपी कारण में संनिविष्ट होकर नष्ट नहीं होता वैसे ही इस महाव्यापी जीवन के गणनातीत भाव (Becomings) अपने भव (Being) में पुनरावर्तन के लिये प्रस्तुत—सुदीप्त पावक में चिनगारी सदृश—केवल कुछ विश्राम कर लेते हैं, नाश को कदापि प्राप्त नहीं होते। विश्ववाङ्मय यह काव्य इसी विस्तीर्ण और

---

१. ब्रह्म—वह परम सत्तावान जो स्वयं सब का बृंहण, प्रसारण और संहरण करता है। 'सर्वेषां बृंहणम्' आदि से।

२. काव्य—विवर्तमान यह साहित्य-सार।

३. Ancient and Infinite Energy of life.

प्रकाशमान जीवन का भास है। सर्वव्यापिनी कल्याणी जीवन सत्ता की सर्वतोमुखी अभिव्यक्ति ही साहित्य सारभूत काव्य की आदि कल्पना और प्रथम विमर्श का आधार रही है। इसीसे प्राण का चिरंतन उद्गीथ काव्य भी जीवन के साथ-साथ अविनश्वर धर्मा हुआ। महर्षियों ने महत तेज की केंद्रित आदि जीवनसत्ता को जायमान साक्षात् हिरण्यगर्भ मानने और कहने में संकोच नहीं किया। द्योतनशील समस्त लोकों के जनिता विश्व के अधिपति ने 'हिरण्यगर्भ[1] जनयामास'—नयनाभिराम सौंदर्य, कल्याण[2] और उज्ज्वलसत्ता (चिति) के अविच्छेद्य समन्वय का अभिजनन किया। जिसका अभिजनन हुआ वही तो जीवन है। सर्व-दिशि-व्यापी इसी भाव (प्रसार) के पहले स्पंद से प्रतिवीचियों सा प्रतिस्पंदित, अनंत काल से तथा अनंत काल तक आगे भी, यह विश्व चिति परिपूरित और तरंगायित रहेगा। जगती की सत्ता-विश्लथ भावनाओं में महाचेतना के अजस्र संचार करनेवाले इस हिरण्यगर्भ—हितं रमणीयमत्युज्ज्वलं ज्ञानं गर्भं अन्तःसारोयस्यतम्—(शंकराचार्य) रमणीय चेतनाशाली जीवन को विश्ववांगमय-काव्य की भूमिका पर अपने को अभिव्यक्त करने के साक्षी-श्रुति साहित्य में अनेक हैं। जन्म से इस प्राणी जीवन का अथ मृत्यु से इति या शेष होता है, ऐसा हम नहीं मानते[3]। हमारे ऋषि इसे अमृत का शाश्वत प्रवहमान निर्झर बताते हैं। शरीरांत की जीर्ण वसन त्याग से उपमा देकर वे इसे अत्यंत सरल और पुनः उज्जीवन का नूतन वस्त्र ग्रहण करने की भावना से निर्बंधन कर अत्यंत सुखमय बना गए हैं। काव्य इसी विश्वजीवन का सामाजिक रागोन्मेष है जो सब में समानभाव से व्याप्त है। सर्वत्र सब ओर गतिशील है। कहीं संकल्प से प्रसुप्त कहीं उन्मेषशील। जीवन की विश्वपट पर यह रसपूर्ण अभिव्यंजना ही प्रसरित होकर कविता सी सुंदर बन जाती है। जीवन महाचेतना की निरंतर अभिव्यक्ति है। यंत्रारूढ़ माया से जीवन को ब्रह्मावर्त में चक्राकार घुमानेवाले जीवन देवता की विशुद्ध वह चेतना ही जीवन है (जीवनं सर्व भूतेषु'।... 'भूतानामस्मिचेतना'—गीता) जो व्यापी विश्वांतःकरण (मनस, बुद्धि और अहंकाररूपी अवयवों की क्रिया से संपन्न) के आश्रयभूत होकर तन्मात्रा के रूपों में स्थिर पड़ी रहती है फिर जो नैसर्गिकी स्वेच्छावश स्वयम् परिस्फुटित (Manifest) होकर स्थूल तत्वों में अनंत आकार ग्रहण करती है।

यह विश्व जिस आदि इच्छाशक्ति (कामना) का अभिव्यक्त रूप है तथा जिसके गुहागर्भ में उसके सर्गावस्था से पूर्व निहित रहने और कल्पांतर में पुनः अंतर्लीन होने की कल्पना श्रुतियों ने की है, अवकाश पटल पर इतस्ततः उसी चिद्भावना के प्रकटीकरण से जीवन परिलक्षित होता है। किसी भी निर्मित आकार की भावना पहले मन में होती है फिर उसके उद्गीरण से बाह्य में रूप ढलता है। जिस प्राणमय से—जातानि जीवंति (तैत्ति० ३।१।) अभिजात सभी जीवित हैं वह भी मन की क्रिया द्वारा ही शरीर में आता है। अथवा वह अंतर बीजरूपी मनोमय ही बाह्य में शरीरमय हो जाता है। * मन के अयन में, संकल्पों के सहारे सारी सृष्टि-रूप धरती है। जब कुम्हार के मन में घट आदि के साँचे की कल्पना पहले से (निर्माण-कर्म से पूर्व) प्रधान (आकृतिमयी) रहती

१. श्वेताश्व० उपनिषद ४॥२॥

२. हितं—शिवं, रमणीयम्, सुन्दरम्।

३. अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव—"गीता"
एक अंग्रेजी सूक्ति भी–*Birth is not the begining of life nor the death its ending.*
Birth and death begin and end only a single chapter in life's story.

* मनोकृतेनायात्यस्मिन्शरीरे।—प्रश्नोपनिषद ३।३।

है तब मिट्टी और जल के संयोग से उसका कलश रूप धारण करना केवल गौण क्रिया वा मूल विषय का अनुवाद मात्र ही कहा जा सकता है। सृष्टि वा अभिरचित प्रत्येक रचना के संबंध में प्रायः यही सिद्धांत सत्य चलता है।

यदि इस जगत का कोई कवि या कर्ता न मानें तो फिर कुम्हार के बिना घड़े और चित्रकार के बिना चित्र की भी असंभव कल्पना करनी पड़ेगी।

जगतां यदि नो कर्त्ता कुलालेन बिना घटः
चित्रकारं बिना चित्रं स्वत एव भवेत् तदा॥

जैसे कुलाल (स्रष्टा) और मिट्टी के बिना घट, चित्रकार और तूलिका के बिना चित्र, साधक और साधन के अभाव में वस्तुसाध्य अथवा ज्ञाता और ज्ञान के बिना पदार्थ ज्ञेय वैसे ही कवि और कवनीय (वर्णनीय) जीवन के बिना काव्य की कल्पना निराधार है।

प्रकृति विकास की तत्व-दृष्टि से कवि सर्वव्यापी जीवन की अविहित (बंद-मुख) चिदवस्था का मूल स्फुरण हेतु है। जिसके अभाव में काव्य का भाव (कवनीयं काव्यं, तस्य भावः काव्यत्वम्) काव्यत्व ही शेष नहीं रह जाता। इसलिये "कवि कौन है?" यह प्रश्न विचार में सब से पहला होगा।

यह नित्य और अनंत गतिशील विश्व जिसके संवेदनों की छाया है। जो चंद्र सूर्य्य में उज्ज्वल प्रभा, अग्नि में तेज, अखिल-निखिल के एकाश्रय आकाश का शब्द-प्रतिमाधर (शब्दः खे–गीता।) व्यापी ब्रह्म है। जिसकी प्रसरणशीला प्रतिभा-विभूति से विवर्तमान समस्त (वाङमय) काव्य गीता-दिक उत्पन्न होकर सनातनी चेतना की भाँति जगत में फैल रहे हैं। जिसके ही प्रतिभासन (चमकने) से विश्व का भासमान प्रत्येक द्रव्य (विद्युत, तारा, ग्रहदीपमाल) प्रतिभासित है। चिरसरस काव्य यह संसृति जिसकी स्निग्ध सुंदर ज्योत्स्ना है वह कलातीत पूर्णप्रतिभामंडल मयंक परमात्मा पहला कवि है। वह श्रुतियों में "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' कहा गया है। यहाँ कवि और मनीषी ज्ञानात्मकतया अभिन्न कर्मा होने से एक ही आसन पर या 'पदमेक संस्थ' हैं।

कवि शब्द 'कुङ' धातु से बना है जिसका अर्थ है—कू (कूजन) या शब्द (सृष्टि) करने-वाला :—कवते कुङ शब्दे 'अचइः' इत्यनेन इः कौति इतिवा—) सि० कौ०। कु शब्द व्यापार है। फिर आकाश में शब्द वही है जो जल में रस है, रवि में तेज है। शब्द वियद्व्यापी सत्ता है। जिसका व्यापार ध्वनन है। आत्मा से आकाश की सत्ता है, उसका प्रादुर्भाव है। जैसे सुवर्ण से बना पदार्थ शाश्वत सुवर्ण ही रहता है, उसमें अविराम सुवर्ण की व्यापकता होती है, वैसे ही इस महाकाश में आत्मा Subjective Brahman (ब्रह्म का अनभिव्यक्त स्वरूप) शब्द गुण से सर्वत्र ओत-प्रोत है। आत्मा का निरुपाधिक मूलतत्व जब ब्रह्म होकर विश्व का वृहंण और प्रसारण करता है तो उसे भी महदाकाश में क्रम से अपनी अभिव्यंजना के लिये ईश्वर-हिरण्यगर्भ—या सूत्रात्मा और विराट होकर आकाश, अनिल और तेज का रूप धारण करना पड़ता है। किंतु यह सब व्यापार सोपाधिक आकार ग्रहण करने पर ही संभव है। और सूत्रात्मा या रचनाकार के वाचक उस चित्-आकाश तत्व की प्रतिमा या आकृति ही तो यह विश्व है। कुछ विद्वान 'कुङ' (Sound made manifest) से गति का अर्थ भी लगाते हैं। किंतु उससे भी हम उसी अभिप्राय पर पहुँचते हैं। गति महाचेतना है। प्राणात्मा निस्पंद रहकर अपने को प्रगट नहीं कर सकता। उसमें गति, स्पंद का समुदय ही विश्व के

प्रत्यालीढ़पदस्था बौद्ध देवी मारीचि (ऊषा) की मूर्ति
उत्तर मध्यकाल (ई० ९वीं—१०वीं शती)
मगध-कला
गया से प्राप्त

—लखनऊ संग्रहालय

उद्‌भव का कारण है। 'यदिदं किंच जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ॥" आकाश में शब्द के अनुरणन स्पंद से ही अमूर्त मूर्तिधर होता है। यही रचना के प्रपंच का रहस्य है। अपनी माया समावृत अवस्था से अपने ही अवकाश पटल पर उसी आत्मा कवि का प्राकट्य ब्रह्म है। ऐसा भारतीय दर्शन ज्ञान की वंदनीय पुस्तकों का मत है। यही कारण है कि वेदों में उसे (परमात्मा) कवि कहकर संबोधित किया गया है। उसी आधार पर लौकिक कवि का व्यापार भी उन्मेष या गति और ध्वनि (ध्वनन) से संबंध रखता है, आत्मा अपने को ध्वनि के बिना प्रगट कर ही कैसे सकता है। किसी को भी अपने भावों का मूल-रस-अभिव्यक्त करने के लिये शब्दों का सहारा लेना पड़ता है, जिसका प्राण है ध्वनि। अंतरंग में रस भरा रहने से ही कोई कवि या स्रष्टा पद का अधिकारी नहीं हो सकता, चाहे वह परम रसमय परमात्मा हो, चाहे लौकिक रचनाकार कवि। सहृदयता और उन्मेष-मयी प्रतिभा, सरस्वती की दो सहोदर शक्तियाँ हैं। प्रथम केवल भावमयी है दूसरी उन्मेषशील भी। एक से केवल रस प्रतीति हो सकती है। पर दूसरी से रसाभिव्यंजन और उसकी सृष्टि भी। किंतु यह अभिसृजन बाह्य उपादानों से नहीं होता। जैसे आत्मा का कवि अपने ही अविच्छेद्य अंश में विश्व की रचना करता है वैसे ही सच्चा कवि भी अपनी आत्मा का विस्तार—जो विश्व है, अतः जो विश्व की आत्मा है, उसीसे करता है। अपने अंतरंग की सूक्ष्म कला को बहि-रंग में स्थूल आकार देता है। कवि के मानस में अनुभूति से जो विश्व प्रतिक्षण प्रतिबिंबित और स्पंदित है उसीके प्रकटीकरण के लिये शब्द शक्ति के सहारे उसकी वाणी की अविराम साधना कविता होती है। यही उसका कूजन है।

निरुक्तिकार× ने कवि की व्याख्या करते हुए कहा है—'कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा'*— अर्थात् कवि क्रान्तदर्शी—उस पार देखनेवाला—होता है काल के आवरण के उस पार देखनेवाला सर्व-तेज-स्वरूप अथवा 'कवन' वर्णन (विस्तारण) करता है। भासमान ऐसा 'ज्योत्स्ना-निर्झर, ठहरती ही नहीं यह आँख'—वह भुवन को प्रकाशित करनेवाला है। यह भुवन-प्रत्यक्ष जगत उससे (दीपा-दिवत्) प्रकाशित है, वह भुवन से नहीं। इसीलिये जगत् की दृष्टि, कारण रूप दृक्‌तेजोमण्डल पर ठहरती नहीं। यदि जगत उनको जलाता या भासित करता तो उन्हें सरलता से देख भी सकता। ऐसे ही विशुद्ध प्रज्ञा और प्रांजल प्रतिभा का पुंजीभूत स्वयं भासमान (अप्रकाशांतरापेक्षी) तत्व कवि भी जगत से प्रकाश ग्रहण नहीं करता किंतु जगत उससे प्रकाश ग्रहण करता है। वह विश्व को उसका दुर्गम पथ दिखलानेवाला चेतना भरित आलोक स्तंभ है। उसे जगत्-भावना का सूर्य्य कह सकते हैं। संसार सूर्य्य से या कवि से यह कहने का अधिकारी नहीं कि तुम्हारा मार्ग यह है, वह है। उसके पथ निर्धारण का अधिकार केवल उसी—

÷येनावृतं खं च दिवं च येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च
यमन्तः समुद्रे कवयोऽवयन्ति यदक्षरे परमे प्रजाः॥

१. दुर्गम पथस्तत् कवयो वदन्ति।' कठोपनिषत्।

÷. १।१ ना० उपनिषद्।

×. यास्क मुनि।

*. कवि क्रान्तदर्शी होता है। क्रान्त—अतीत ... क्रान्तदर्शी—अतीतदर्शी। अर्थात् वह वर्तमान का पण्डित, प्रज्ञा से भविष्य का ज्ञाता ही नहीं त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ होता है।
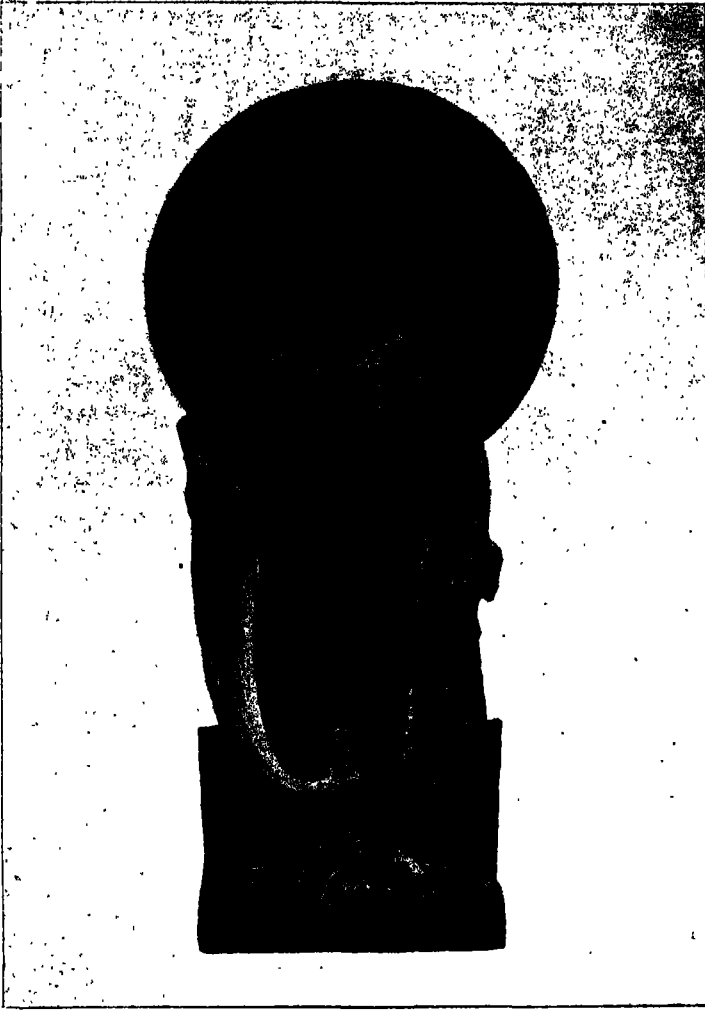
भगवान् बुद्ध की अभय मुद्रा
गुप्तकाल; (ई० ५वीं शती)
मथुरा से प्राप्त

—लखनऊ संग्रहालय

यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान्व्यससर्ज भूम्याम्।
यदोषधीभिः पुरुषान्पशूंश्च विवेश भूतानि चराचराणि।।
अतः परं नान्यदणीयसं हि परात्परम् यन्महतो महान्तम्।

एक की है। जो स्वयं 'महान' कवि है। सब का प्रेरक है। एक मत है'—कवि शब्द 'कव्' धातु से बना है। जिसका यौगिक अर्थ है—विस्तार करनेवाला, वर्णनकर्ता आदि। किसी भी पदार्थ का विस्तार या वर्णन करने के लिये क्षमता या शक्ति की अपेक्षा होती है। वर्णन भी, विस्तार भी दो प्रकार का होता है। एक तो संमुख, देखी हुई प्रत्यक्ष वस्तु का और दूसरा न देखी हुई, अप्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तु का। प्रत्यक्ष वस्तु का विस्तार करने, समझाने या बोध कराने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। योग्यता और न शक्ति विशेष के व्यय की ही आवश्यकता पड़ती है। अप्रत्यक्ष वस्तु के संबंध में कुछ जानने के लिये कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। यहीं कवि की कल्पना और साधारण मनुष्य (अकवि) की कल्पना का अंतर लक्षित होता है। साधारण पुरुष की कल्पित वस्तु की भाँति, कवि द्वारा कल्पित वस्तु निरी कल्पित न प्रतीत होकर तात्विक जान पड़ती है। ऐसी प्रखर कल्पना होती है प्रतिभा से। और प्रतिभा उत्पन्न होती है (मूल) शक्ति से। जिससे ही उचित (सत्), अनुचित के विवेक स्वरूप व्युत्पत्ति की भी उत्पत्ति लोक प्रसिद्ध है। यह शक्ति वही कवित्व-बीज-रूप संस्कार विशेष है जिसके बिना प्रकाशकार (मम्मट) ने काव्य के तीन मुख्य उत्पादक हेतु* (शक्ति, काव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् निपुणता, और काव्यज्ञान विषयक शिक्षा का अभ्यास) वा कारणों में पहला स्थान दिया है। कवि की इसी उपनिषत् (रहस्य) शक्ति से प्रादुर्भूत प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों मिलकर काव्य का अविरल विकास करती हैं। यह शक्ति सब में नहीं पायी जाती, कवित्व की सहज प्राप्ति हो जाने पर भी। 'कवित्वं दुर्लभं लोके शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।'

बुद्धिमत्ता और काव्यांग का अभ्यास भले ही हो पर वहीं इस मौलिक शक्ति के समन्वय से पदार्थ त्रय का एक स्थल पर संयोग विरल ही होता है।[1]

कवि की यही रहस्यशक्ति वह विशुद्ध उन्मीलन कला है जो प्रतिपल विराट के निसर्ग-संपुट से एक विश्व का उन्मीलन किया करती है। यह जगत का सदा श्रेय संपादन करनेवाली, जड़ता का अंधकार हरनेवाली, चेतना की, ज्ञान की, विमलबुद्धि (प्रज्ञा) की वह शाश्वत धारा है जो जीवन और मन का संस्कार करती न जाने कब से अपनी पावनी राग-रस की छलकती प्रवाहिका से जगती का अपुण्य प्रक्षालन करती चली आ रही है।

शक्ति की जिस कला के द्वारा कवि, काव्य-कर्म करता है वही प्रतिभा है। इसे 'नव नव उन्मेषशालिनी प्रज्ञा' भी कहते हैं। शब्द प्रति और भा हैं। प्रति का अर्थ है मुख्य के समान, प्रतिनिधि और '—भा'[2] के अर्थ हो सकते हैं[3] छवि, दीप्ति (चमक) भास अथवा व्यक्ति। जिससे

* शक्तिर्निपुणता लोके काव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतु स्तदुद्भवे।।—मम्मट

१. बुद्धिमत्वं च काव्यांग विद्यास्वभ्यास कर्मच, कवेश्चोप निषच्छक्ति स्त्रयमेकत्र दुर्लभा। —का० प्र०

२. भा—'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भा भाश्छवि द्युतिदीप्तयः'—अमरकोश।

३. भा, दीप्तौ—पाणिनि।

प्रतिभा का अर्थ होगा मुख्य या मूल का सदृश भास या अभिव्यक्ति (Light or its manifestation) करानेवाली। जिससे नित्य नये नये विषय (शब्दार्थालंकारोक्त्यादयः) हृदय में भासित, प्रतिभासित हों। और उनके पदार्थों के वास्तविक सत्य का प्रकाशन[1], समुदय जिसके द्वारा हो, वह अपूर्व वस्तु सृजन-सामर्थ्यवाली[2] प्रज्ञा प्रतिभा[3] कही जाती है। प्रज्ञा[4] वह तृतीय बुद्धि है जिसके द्वारा हमें भव्य की, भविष्य की आनेवाली बातों और विषयों का रूप-गोचर हो। ज्ञान हो। ज्ञातव्य अथवा ज्ञेय का (प्रकर्षेण, स्तूयते, ज्ञाप्यते ज्ञेयं अनेन इति) ठीक परिज्ञान हो। नयी जो गहन आवरण के कारण पहले देखने में न आयी हों ऐसी—बातों का अनुसंधान या पता लगाने में प्रवीणा बुद्धि या उपमा के सहारे वह सदा नूतन आकार निर्मित करने की, नूतन विकास करने की चेष्टा में प्रयत्नशील रहती है। उसे उच्छिष्ट या गायी हुई रागिनी प्रिय नहीं। जिन गुलाबी आखों की उपमा सहस्रों बार कवियों ने उत्फुल्ल अरुण जलज से दी उन्हें पुनः बारबार उन्हीं सरसिजदृग, पद्मलोचन —कहकर उपमीत करना प्रतिभा को सह्य नहीं। वह तो रस प्रतीति की नयी अभिव्यंजना द्वारा संसार को काव्य-जगत की एक अनूठी उक्ति देने को उत्सुक होती है। प्रतिभा सदा नव-नव कांति से विश्व का परिचय कराती है। वह तो नानाभाव या बहुधा शक्तियोग से फैले हुए व्यापी (एक, अविभक्त सत्य को समझाने, लोक को अवगत कराने के लिये नित्य अभिनव सिद्धांत सूत्रों का आविष्कार (अथवा अविहित का उन्मीलन) किया करती है। हमारे पूर्ववर्ती ज्ञानियों ने जिस एक सत्य विशेष को जिस प्रकार समझाया उसकी आवृत्ति करने अर्थात् उसी प्राचीन ढंग से संसार को उसका ज्ञान कराने में कोई नवीन कला नहीं, कोई अपूर्व सौंदर्य नहीं, कोई अभिनव आकर्षण नहीं। अतः अच्छी से अच्छी नकल की क्रिया, प्रतिभा का कार्य नहीं। धी (बुद्धि) की इसी लोकत्रयी दर्शिका तृतीया धारा विश्व-चित् प्रज्ञा की प्रदीप्ति के लिये तथा सत्ता के उज्ज्वल उच्चतम-लोक (सत्यलोक) से ऊँचे उठ कर अपने मूल (Source) प्रकाश-निधि में इसके निमज्जन के लिये आर्य्य ऋषियों ने कितने सहस्र वर्ष पहले सर्वव्यापी चैतन्य और ज्योति के अधिष्ठाता से वह प्रार्थना की थी जिससे अधिक मंगल-सार-गर्भित एवं सुंदर विनय विश्व—वाङमय में आज भी दुर्लभ है। तथा जिसे बिना समझे बूझे शुकवत् कितने जन निरंतर प्रातः सायं दुहराते हैं।

'भूर्भुवःस्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।' *

वह 'भूर्भुवः स्वः' ऊपर नीचे मध्यांतरिक्ष सर्वत्र व्याप्त, विश्व के एक 'सविता' (प्रसविता) उत्पन्नकर्ता 'देव' (द्योतनशील) भगवान का वरेण्यंभर्गः' सर्वोत्कृष्ट (श्रेष्ठ) आलोक अपनी अनंत उज्ज्वलता में 'नः धियो' हम सब की महा-मेधा प्रतिभा या स्फुरणशालिनी शुभ प्रज्ञा को 'प्रचोदयात्' प्रेरित करे। या मिला दे (उसीमें) एक कर दे।

---

१. Exhibition

२. 'अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा प्रतिभा'—अभिनव गुप्त।

३. अंगरेजी में—Intuitive faculty; Poetic sense; Genious; Imagination कहते हैं।

४. बुद्धि: स्मृति—जिससे अतीत (वस्तु) का ज्ञान हो।
मति—जिससे वर्तमान का ज्ञान हो।
प्रज्ञा—जिससे आगामी-भविष्य का ज्ञान हो।

*"We meditate on the Glory of That Being Who has produced this Universe let Him illumine our understanding"—विवेकानन्द।

जान पड़ता है स्रष्टा, महान कवि की इसी प्रतिभा को कहीं कहीं चिति के नाम से पुकारा गया है। यद्यपि चिति का अनुमित अर्थ अत्यंत व्यापक और विराट मिलता है। ऋषि तो इसे ज्ञान की अधिष्ठात्री विश्व रूपी देवी बताते हैं। विश्वरूपी अर्थात् अग्नि (दाह, ऊष्मा) सदृश भुवन में प्रविष्ट होकर प्रत्येक वस्तु में उसी उसी विशेष आकृति से भीतर बाहर समायी और भरी हुई स्फूर्तिकला देवी। अन्तःकरण स्थिता (आराध्या) अथवा स्वांत परिधि में निवास करनेवाली, शब्द (तैजस) अंश-संभूता जगद्-मंगल-कारिणी यह वही शक्ति-कला है जो अपनी उन्मीलन शक्ति से क्षण भर में विश्व का उन्मीलन करती है। जिसकी वंदना, कवि कल्याण के लिये करता है।

यदुन्मीलन शक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रांतां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥

'प्रत्यऽभिज्ञा हृदय' के आदि सूत्रद्वय द्वारा इसके (प्रतिभा-शक्ति के) स्वरूप की व्यंजना और स्पष्ट हो जाती है। शब्द प्रबंध में भी साम्य है। देखिये—

चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धि हेतुः॥ १॥
स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। प्र० हृ०

अविकल आत्मशक्ति या चेतना[1] यहाँ प्रतिभा रूप से निर्विशेष-मुक्त है। वह आनंद-स्पंद-स्वयं आत्मा की निर्मुक्त ज्योत्स्ना है। मुक्ति-किरण है। अन्यदीय इच्छा के द्वारा उसका संचालन नहीं होता। वहाँ कर्म की परतंत्रता नहीं है। वह (तो) अपनी विशद भाव-भूमिका पर इस विपुल रहस्यमयी विश्व-कलिका को (उदग्र) विकसित करने की प्रेरणा करती है। फिर विच्छिन्न बंधन हुई जीवन-सुरभि विदिशाओं में व्याप्त होने को चल पड़ती है। महा-प्रतिभा (मनीषा[2]) वाले, सब प्रकार की प्रज्ञा के प्रथम उत्स (स्रष्टा) उस महान कवि की जगद्व्यापिनी जीवन-कविता की, अप्रगल्भमति वाले जो तत्वदर्शी इस स्वरूप में वंदना करते हैं वे स्वयं मनीषी, कवि होते हैं। क्योंकि ज्ञानी (ज्ञानबीज रूप संस्कार वाला) उपासक अपने इष्टदेव या उपास्य की जिस रूप में (तन्मय भाव से) सानुराग उपासना करता है वह उसी रूप को निश्चय प्राप्त होता है। वही हो जाता है।

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान भवति। तन्मन इत्यु-इत्युपासीत। मानवान् भवति॥ ९। ३। तैत्तिरीय उपनिषद्।

प्रज्ञा चेतना है। मनीषा है। इसीलिये काव्य-कवि और मनीषी में भेद नहीं माना गया। क्योंकि दोनों में प्रतिभा उभयनिष्ठ है। रस प्रतीति एक है। वह आध्यात्मिक प्रज्ञा, भाव जगत की प्रतिभा (शास्त्रानुसार) दो प्रकार की मानी गयी है। एक भावयित्री दूसरी कारयित्री। कारयित्री प्रतिभा काव्य करानेवाली और भावयित्री उसका आस्वादन करानेवाली होती है। इससे रस-चर्वणा और आनंद ग्रहण करने, उसका भाव धारण करने की क्षमता 'धीर्धारणावती मेधा' मनुष्यों में उत्पन्न

---

१. अपनी स्वतंत्र-क्रिया या सुलभ, निसर्ग-कल्पना द्वारा

२. बुद्धिर्मनीषाधिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः।
प्रेक्षोपलब्धि चित् संवित् प्रतिपज्ज्ञप्ति चेतनाः॥

अमरकोश।

होती है। कारयित्री प्रतिभा सत्शिक्षा के सहयोग से रचना प्रवीण भावना की सृष्टि करती है। जिससे कवि का सत् (रचना) संबंधी प्रधान कर्म संपादित होता है। शास्त्रीय विचार से आगे चलकर इसके[1] (प्रतिभा) भी तीन[2] भेद माने गये हैं। सहजा, आहार्य्या, औपदेशिकी। स्वाभाविकी, जन्मांतर[3] के संस्कार से प्राकृतिक-रूपेण हृदय में वर्तमान प्रतिभा सहजा है। इस जन्म के संस्कार, प्रयत्न आदि से अर्जिता आहार्य्या और मंत्र शास्त्रादि के उपदेश द्वारा प्राप्त उपदेशिकी। इनमें सहजा सर्वोत्तम है।

जिन प्रतिभाओं के सहारे (सत्[4]) साहित्य (सहितयो[5] भावः, शब्दार्थयोः) की सृष्टि या रचना होती है उनके विचार से कवि भी तीन प्रकार के होते हैं। सारस्वत, आभ्यासिक तथा औपदेशिक।

प्रतिभा, विमलबुद्धि प्रज्ञा की देवी (या साक्षात्) सरस्वती है। मनीषी या प्रतिभावान के लिये अब भी रीत्यानुसार 'जिह्वा पर सरस्वती' जैसे विशेषण का स्वच्छंदता पूर्वक व्यवहार होता है। आनंदवर्धन ने भी 'महतां कवीनाम् सरस्वती। अलोक सामान्यमभिव्यनक्ति प्रतिस्फुरन्तम्' इत्यादि के द्वारा वाणी रूपी ऐश्वर्य में अपने को प्रगट कर विस्तीर्ण करनेवाली उसी विशिष्ट प्रतिभा की ओर संकेत किया है जिसको लक्ष्य कर विद्वानों से भरी हुई महती सभा में चकित पंडितों के राजा[6] के संमुख सुकुमार वय वाले एक छोटे से कवि और मनीषी[7] ने, बलपूर्वक कहा था—'बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती।'' (शंकराचार्य्य)।

प्रतिभा स्वयंभूता सरस्वती है। (प्रकर्षेण भातीति) फिर, जन्मांतर संस्कार से प्रबुद्ध सरस्वती जिनकी ऐसे, नैसर्गिकी, सहजा प्रतिभा से संपन्न कवि सारस्वत कहलाते हैं। इस जन्म के विद्याभ्यास मननादि निरंतर प्रयत्न से अस्वयं जिनकी सरस्वती उद्भासित हुई हो वे अर्जित या आहार्य्य प्रज्ञावाले आभ्यासिक कवि होते हैं। तृतीय श्रेणी के निकृष्ट, जिन्हें कवि कहना भी धृष्टता है, औपदेशिक होते हैं। प्रथम ही सच्ची कवि पदवी का अधिकारी है। शेष केवल नाम के लिये हैं। अथवा शब्द अर्थ, अलंकार, उक्ति, रस शास्त्रादि गुणों या चमत्कारों में एक या दो के द्वारा वैचित्र्य भरा पाण्डित्य प्रदर्शन मात्र ही उनका (कवि-कर्म) कर्म अवशिष्ट रह जाता है जो अचिरस्थायी अश्रेयोपयोगी होने से वस्तु-तत्व का प्रतिपादन नहीं करता। फलतः उपेक्षित और सहृदय-श्लाघ्य न होकर स्वल्प काल में ही वे अपनी कृति समेत विलुप्त हो जाते हैं।

कवि शब्द के दो सम और सम्पृक्त अर्थ-विभाग शाश्वत रीति से किये जा सकते हैं। प्रथम और साधारण अर्थ में वह ऋषि सर्वज्ञ, द्रष्टा पण्डित (महा-मनीषी) और सूर्य है। उसीसे सायुज्य द्वितीय अर्थ में उसका वास्तविक और विशिष्ट स्वरूप है स्रष्टा (सृष्टिकर्ता); प्रकृति या मूल में

---

१. कारयित्री।
२. उत्तम, मध्यम, निकृष्ट। क्रम से सहजा, आहार्य्या और उपदेशिकी।
३. By-birth—'प्रकर्षेण भातीति—प्रतिभा।' एक यह भी मत है।
४. काव्य और शास्त्र भेदद्वय सहित।
५. शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव।
६. महा-पण्डित मण्डन मिश्र, काश्मीर। 'वे श्राद्ध-कर्म-रत थे।'
. महा-मनीषी श्री शंकराचार्य्य। 'दिग्विजय के लिये प्रस्थित।'

रचयिता। वह (कवि) ऋषि (ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः) होकर श्रुति के मंत्र द्वारा प्रार्थना करता है त्रिभुवन ज्योनि के पितामह से कहता है—'सत्य का द्वार, उसके (मुझ) अन्वेषक के लिये खोल दो।

हिरण्यमयेण पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥

हे जगत्रय के भरण-पोषण करनेवाले देवता! कल्याण और सौंदर्य के स्वर्णिम अंतराल में झिलमिल करते हुए विश्व सत्य के दीप्त मुख-मंडल को दर्शन के हेतु मेरे लिए अनावृत कर दो। ज्ञानी ही ऐसे आत्मदर्शन का प्रकृत अधिकारी होता है। सच्चा कवि केवल कलाकार ही नहीं कुछ और भी होता है। वह कुछ और, उसका ज्ञानात्मक अवयव[१] है। जो उसकी आत्मा को—कलाकार गायक, चित्रकार आदि की कक्षा से ऊपर बहुत ऊँचे ले जाकर उस पद पर बिठाता है जहाँ मस्तिष्क, बुद्धि और कला के चमत्कार पहुँच ही नहीं सकते। गायक गाता है—कवि के हृदय का राग। कवि की स्फुट हृदय-वेदना की पुकार पर चलने में कवि ने जिस प्रेरणा की सृष्टि की उसका संदेश लोक-को सुनाने में उसके (गायक के) कर्मों की सार्थकता है। चित्रकार भी कुछ क्षण के लिये कवि का अनुवर्तन कर कल्पना के सहारे चित्र अंकित करता है। तीनों अपनी अपनी प्राणात्मा स्वर, शब्द और रेखाओं में भर उसके उद्‌गीरण से जगत को तृप्त करते, हृदय को राग और रूप या रस से सींचते और मन का, चित्त का प्रसादन करते हैं। किंतु कवि तो विश्व की प्रकृति और प्रकृतिमय की, प्राण प्राणमय की, प्राणी-प्राणी की—अंतरात्मा के सारभूत (ज्ञान) भावों का प्रतिनिधित्व करने से विशिष्ट और महान है। "कवि तु विशिष्यते।" उसकी दृष्टि पैनी ही नहीं—प्राणमयी अतिपेशल—भावुक होती है। कलाविदों और गायकों के सदृश उसकी कला के द्वारा जगत का केवल मनोरंजन ही नहीं होता। वह तो लोकमंगल के प्रसाधन करनेवाले प्राणधर छंदों का निर्माता—जिनसे इहलोक और परलोक की चिंताओं से मानव को मुक्ति मिले—ऐसे सुंदर मंत्रों[२] का कवि और द्रष्टा है।

वह पूर्णज्ञान की साक्षात् प्रतिमा (रूप-धर) है। उसका स्वरूप ज्ञान है और वह भी केवल ज्ञान का स्वरूप है। इसीलिये विमलतम, निर्धूत अंतःचेतनावाला होते हुए भी, पतंजलि के शब्दों म, विश्वदर्शन करनेवाला (द्रष्टा) कहा गया है।—'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोपि प्रत्ययानुपश्यः।" [३]—योग-सूत्र। किंतु वही द्रष्टा भी है दृश्य भी। दृश्य में ही द्रष्टा है। ज्ञान और ज्ञाता भिन्न नहीं है ठीक उसी प्रकार जैसे भास्कर भास या प्रकाश से भिन्न नहीं कहा जा ससकता है।

प्रकाशमानो न पृथक प्रकाशात्
स च प्रकाशो न पृथक विमर्शात्।

आत्मदर्शन प्रकृत कवित्व की प्राप्ति के लिये अनिवार्य है। जिसने प्रकृति मे आत्मदर्शन नहीं किया वह विश्व की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाला या सच्चा कवि (श्रेष्ठ-मनीषी) कदापि हो नहीं सकता। आत्मदर्शन साधना का विषय है। और साधना का तात्पर्य यहाँ मानव-मन की उस अविराम श्रेय-चिंतना या ज्ञानात्मक प्रयत्न से है जिसमें न विकल्पादि की क्रिया है और न

१. Function या क्रिया।

२. मननात् त्रायते इति मन्त्रः।

३. द्रष्टा The seen is intelligence only and puna, sees through the colouring of intellect.

तर्क-बुद्धि का बहु-व्यापार। वह वितर्क और निर्लक्ष्य अनुसंधान के क्षेत्र से परे होती है। क्योंकि साधना के द्वारा साधक उस रमणीय सत्य की खोज करता है जो कभी 'अनेक' नहीं 'एक' है। गुणन और विभाजन के योग्य नहीं अविभक्त है। जो किसी भी दिशा[1] से किसी भी दशा में परिवर्तन के, रूपातंर के योग्य नहीं जिसमें[2] कुछ निकाल लेने[3] ग्रहण करने की कल्पना या क्रिया के द्वारा न कोई उसे तिलभर घटा सकता है और न कुछ उसमें मिलाकर कोई उसे बढ़ा ही सकता है। जो अपने में जिसका स्व यह विश्व है अतः जो विश्व में—निज सहज व्याप्ति से भरा हुआ इतना पूर्ण है कि प्रचुर गुणन, विभाजन योजन और वियोजन के बाद भी वह, वही रह जाता है। उसमें कमी नहीं होती।

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते।

ब्रह्म कहो चाहे सत्य कहो, है वह एक ही क्योंकि उसकी सत्ता की व्याप्ति के बाहर कोई अतिरिक्त स्थान ही शेष नहीं, जहाँ कोई अन्य किसी के होने की कल्पना भी कर सके। ऐसे आपूर्यमाण और अचल प्रतिष्ठ सत्य को, श्रेय के लिये, आत्म समक्ष करने की निरंतर चेष्टा साधक कवि की साधना है। जो ही कवि की मूल-प्रवृत्ति है।

प्रत्येक साधक द्वारा साधित क्रिया[4] की परिणति किसी स्थायी (सत्तात्मक) रमणीय मंगल की सृष्टि में होती है। जहाँ आत्मदर्शी साधक की क्रिया फलवती होकर, विचार स्फुट और पूत भावनाएँ प्रगट आकारवती होकर अपने आप कुछ सृष्टि-विधान की ओर अग्रसर होती हैं। तब साधक निरा साधक ही न रहकर रचनाकार का भी पदग्रहण करता है। नित्य सृष्टि और विलय-चक्र के विधानानुसार निखिल कर्म कामनाओं में और कामनाएँ (मानव-पक्ष में रस वर्जनाएँ) अंतर्मुखी हो ज्ञान-सिंधु में गल पचकर अपनी पृथक स्थिति का रूप मिटा देती हैं[5]। फिर सर्गकाल में उसी विश्व चक्र के प्रत्यावर्तन से अनुत्तरंग स्थिर-जलनिधि में संस्कार मात्र से वर्तमान उर्मियों के समीरणास्फालित पुनरुत्थान की भाँति—वे सब (क्रिया कामनाएँ) प्रतिवर्तित क्रम से शनैः शनैः प्रगट होती हैं। प्रगट होनेवाली वस्तु या द्रव्य की ये सत्ताएँ केवल बीज रूप संस्कार से पदार्थज्ञान की छाया बनकर कर्ता के संकल्पामक विराट मन में विश्राम करती हैं। जो प्रसुप्त होकर सूक्ष्म भावनाओं में अवशिष्ट रह गई, नवल विकास का कारण रचती हैं। साधक श्रेयमयी सौंदर्य-निर्माण पटुता के पदावरोहण से नवल सर्ग की कल्पना करता है। हृदय का संचित ज्ञान शुभेच्छा में और शुभेच्छा[6] क्रिया भाव में परिणत होकर मध्य चिति केंद्र से अपनी कला का विस्तार करती है। धीरे-धीरे प्रबुद्ध चेतनाशाली मनीषी या द्रष्टा, स्रष्टा का व्यापार-संपादन करने लगता है उसकी मौलिक (मूलकी) अंतर्दशा में क्रांति भले ही लक्षित न हो, जहाँ परिवर्तन होता

---

१. दिशा—Sides
२. जो अतिशय निरुपाधिक है।
३. निकाल लेने की—Substraction.
४. शुभक्रिया।
५. 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'।—गीता
६. शुभेच्छा—धर्माविरुद्ध काम या कामना।

भी नहीं—पर उसके द्वितीय अवयव,—सत्य के आवरण पटल की ग्रंथि के उद्ग्रथन द्वारा आत्माभिव्यक्ति का क्षेत्र वीस्तीर्ण होकर निर्विशेष रूप से नित्य नूतनता (प्राचीनता या जड़ता के कंचुक विसर्जन का) का उज्ज्वल संदेश वहन करता है। वह कला और पात्र के सहयोग में अपनी शक्ति के संचार द्वारा रचना प्रपंच फैलाता है। तब हम अपने 'कवि' को रचयिता के रूप में देखते हैं जिसकी परिक्रिया अथवा इतिहास-कथा की गति[1] का समारंभ (आदि) सर्वप्रथम सृष्टिकार से माना गया है।

आदि स्रष्टा या रचयिताओं की गणना के प्रसंग में सब से पहले सृष्टि-कर्त्ता (परमात्मा) का नाम आता है। उसने सब से पहले इस आलोकपुंज ब्रह्मांड की रचना की। जिसके पहले न अस्तित्व का पता था और न अनस्तित्व का। न शक्ति रही और न तरंग (न मैटर था और न 'एनर्जी') एक आवरण था रहस्यमय[2] घने कुहासों का। जिसके भीतर न स्पष्ट मृत्यु का ही चिह्न था और न अमरता की छाया। दिन और रात्रि की, दिशा और काल की कल्पना भी अगोचर थी।

> नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजोनो व्योमाऽपरोयत्
> किमावरीवः ? कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।—नासदीय सूक्त ।

तब रहा क्या ? किंचित और अकिंचित के अवकाश में उस, रहस्यों के सीपी संपुट में, प्रम का चमकता हुआ मोती—ज्योतिः सार समुद्र का अनंत रमणीय रत्न, वह श्रुतियों का 'सः अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूपः'—था। जिस भाव के द्वारा उसकी सत्ता और आकृति का भान होता ह वह अकथनीय महाकामना या 'प्रेम' रहा। जिसके लिये वैदिक काल में 'काम'[3] शब्द का प्रयोग आर्य्य-ऋषियों द्वारा होता था।

"कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" साधारण प्रसंग में स्वामी-सखा स्त्री-पुरुष के लिये सीमित और संकीर्ण अर्थ से प्रयुक्त आजकल का प्रेम (शब्द) नहीं किंतु वह अनादि की सत्ता मध्यांत विहीन एक अनिर्वच प्रेम, जो उसकी, अभीप्सा या आत्मा—महान की दिव्य-सत्ता का सार, प्रतिनिधि और स्वरूप है, उस समय था वह प्रेम, जिसका स्वयं परमात्मा प्रतिमा-धर देव है। प्रतिमा से अर्थ उस प्रतोक से है जिसके द्वारा वस्तु अभीष्ट के मान-महत्व की हृदय में प्रतीति है (प्रतीयते विधीयते अनया इति) वैदिक काल में सर्वत्र 'काम' शब्द से अभिहित भगवान के मूल तदाभास उस प्रेम की छाया—प्रतिमा के पूर्वातिपूर्व में होने का पता ऋषियों को चला जो विश्व-रूप अनादि कामना बनकर उस, प्रथम कवि के द्वारा, अभिसृजन का आधार हुई।

---

१. परिक्रिया पुराकल्प इतिहास गतिर्द्विधा
स्यादेक नायका पूर्वा द्वितीया बहु नायका।—इतिहास।

२. It was all rapped in mistry.—(VIVEKANAND)

३. प्रेम जिस वैदिक 'काम' शब्द का पर्याय है यद्यपि उसकी व्यापक अर्थभावना का समावेश अपने अभिधेयार्थ में नहीं कर सकता तथापि कुछ विद्वान भाष्यकारों के द्वारा इसके निरंतर परिवर्तित प्रयोग की परंपरा से, अप्रयुक्त काम शब्द की महत्ता और लाक्षणिकता धीरे-धीरे कम हो गई। तथा इसका (प्रेम) प्रचार God is Love और Love is God के नये अनुवाद के साहित्य में दीख पड़ता है। इसका ही व्यवहार साहित्यक चलन के उपयुक्त प्रतीत होता है।

असृजित सर्गावस्था की स्पंदनविहीन, विकल्प रहित मुद्रा में स्थित उस प्रथम सृष्टिकार में, तपस् की महान शक्ति से वह 'एक' प्रगट दिखाई पड़ा, आत्मदर्शी में अपने 'स्व' के प्रत्यक्ष देखने और जानने की अभीप्सा का प्रादुर्भाव हुआ। मैं—सब भावों का समन्वय व्यवधान (यह)—मैं क्या हूँ इसी कामना से सृष्टि-निर्माण की प्रवृत्ति या लीला-विग्रह की कामना का उदय हुआ। 'मैं' क्या 'यह' हूँ इस भावना से उस कवियों के कवि ने अपनी रचना (कविता) में अपने को व्यक्त किया। तब से नाना रूपों और रंगों में अब तक अभिव्यक्त करता चला आ रहा है। अगणित बार उसने अपनी ही लालित्य-व्याख्या की। प्रेम मीमांसा की सुंदर से सुंदर अपने नवल संस्करण—अणोरणीयान्महतो महीयान—निकाले। फिर भी उसे अपने मंगलकारी अथ (सत्यस्वरूप) की इति (सौंदर्यपरिणति) न मिली। न कभी मिल सकती है। क्योंकि वह तो स्वयं सीमाविहीन है। सृष्टि क्रम के पूर्व कदाचित् वह भी इस भेद को अलग से जान सकने की दशा में था यह भी संदिग्ध है। क्योंकि निर्गुण में ज्ञान, इच्छा या क्रिया के भाव का आरोप हो नहीं सकता। आनंद मूल सौंदय की चेतना से स्पंदित स्वयं प्रेम का प्रवर्तक, आदि कवि बनकर, गुहाशय स्थित इस रहस्य को जान सका। रहस्य का ज्ञान हो जाना ही उसका पुट भेद है। तब निर्विकल्प-मुद्रा (सर्गावसर की) अनुवृत्ति से अर्ध-निमीलित संकल्प-चक्षु की दशा में ही उस महान स्रष्टा ने निसर्ग-उद्भूत सिसृक्षा के द्वारा ऐसा 'ईक्षण' किया।[१] स्वभावतः (सानंद-निष्प्रयास) ऐसी सहज कल्पना की—"मैं कुछ सृजन करूँ"[२] [३]और उस अनंत ज्ञानमय और सब ओर से प्रकाशित परम-चैतन्यकी शक्ति के तेज से चिरंतन-ज्ञान (काव्य) वेद और स्थूल और सूक्ष्म जगत की कारण रूप प्रकृति (बाह्य-सत्ता) स्वयं उत्पन्न हुई स्पंदन से आवरण-मुक्त-महाप्रलय-परमाणु-स्वरूप भूमिस्थ-समुद्र और ऊर्ध्व में (हेतु) आकाशस्थ मेघ रूप जलसागर उत्पन्न हुए।[४] अखिल विश्व को सहज (ईषत्) ही स्ववश में रखनेवाले उस अनंत रमणीय ने अधः उपरिस्थ उन निर्मल जल और ज्योति पुंजों का सृजन किया। फिर दिशा-काल के विभाग दिवसरात्रि[५] तथा वर्ष आदि उत्पन्न करनेवाली गति को प्रेरित किया। उसे आगे बढ़ाया।" —इस भाँति उस कलाकार ने बाह्य में अपने अंतस्थ का प्रकटीकरण किया। सृष्टि रहस्य-पुट सी स्तर प्रतिस्तर खुलने लगी। विराट अपनी रचना में स्वयं उतर पड़ा। श्रुति के 'आत्मानं स्वयं अकुरुत' और कृष्ण के 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' से यह स्पष्ट है कि अन्यदीय उपकरण या तत्व से वह सृजन नहीं करता प्रत्युत स्वकीय (निजस्व)[६] अंश के अंशांश से निर्माण क्रिया का परिशीलन करता है। उसकी आनंद अभिकंपन प्रेरणा से सर्वभूत गुहा-शयी लीला विग्रही (मायामयी) अंतः सत्ता ("भूलप्रेम" सत्ता) स्वयं अपनी अभिव्यक्ति करती है। यही उस कवियों के कवि की काव्य लीला है

इति प्रथम खंड

---

१. प्रजाकामो वै प्रजापति ....।"—. Was desirous of creation or कल्प"

२. स [Supreme Soul] इक्षत लोकान्न सृजा इति। ऐतरेय १।१ "स इक्षां चक्रे"

३ एक सादृश्य And God said : Let there be Light : and there was Light."—BIBLE.

४. "ऋतं च सत्यं चा भीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत समुद्रो अर्णवः। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधत् विश्वस्यमिषतो वशी।"—ऋ० ०।१०।२०२॥

५. BIBLE में भी—And God divided Light from the darkness [Day from Night]

६. 'He creates out of Himself.'—Upnisad.

'रसलीन'

गोपाल चंद्र सिनहा

उपोद्घात

'रसलीन' के नाम व उनके दोहों के रस-माधुर्य से हिंदी-संसार भली-भाँति परिचित है; पर उनके विषय में मुख्य-मुख्य बातों की भी जानकारी अभी तक शायद ही किसी को हो।

'रसलीन' का वास्तविक नाम सैयद गुलाम नबी था और ये हरदोई जिले के बिलग्राम नामक कस्बे के रहनेवाले थे। इन्होंने मुसलमान होते हुए हिंदी में बहुत ही सुंदर और सरस कविता की है और इनके 'अंगदर्पण' तथा 'रसप्रबोध' नामक ग्रंथ हिंदी के रीति-ग्रन्थों में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनमें से 'अंगदर्पण' तो सूक्तियों के चमत्कार के लिये सदा से ही काव्य रसिकों में विख्यात रहा है।

वंश-परिचय

मोहम्मद साहेब के दौहित्र और हजरत अली के पुत्र हसन और हुसेन में से हुसेन के पौत्र जैद का विवाह हसन की पौत्री रुकैया के साथ हुआ था। उन्ही जैद और रुकैया के ही वंश में बहुत आगे चलकर हमारे सैयद गुलाम नबी महोदय का जन्म हुआ था। मुसलमानों में जैद के वंशज जदी कहलाते हैं और अपनी धमनियों में हसन तथा हुसेन दोनों ही का रुधिर वहन करने के कारण वे अपने को हसनी-उल-हुसेनी भी कहते हैं।[1] इस प्रकार हमारे 'रसलीन' मुसलमानों में जैदी हसनी-उल-हुसेनी थे।

जैद से लेकर जैद की १४वीं पीढ़ी में सैयद अबुल फरह नामक एक अत्यंत विद्वान और पहुँचे हुए महात्मा ने जन्म लिया। सैयद अबुल फरह पहले मदीने में ही रहते थे, पर बाद में वहाँ के शासकों के अत्याचारों से तंग आकर उन्हें अपना पैत्रिक अधिवास छोड़ इराक के वास्त नामक

१. खाँ साहेब सैयद वसीउल् हसन बिलग्रामी : रोजतुल्‌कराम, पृ० १०।

नगर में जा बसना पड़ा। थोड़े दिनों बाद इराक के अमीर से कुछ अनबन हो जाने के कारण आपको वास्त भी छोड़ देना पड़ा। वास्त छोड़ आप पहले खुरासान और फिर खुरासान से गजनी गए और अंत में गजनी से भारत चले आए। सैयद अबुल फरह के चार पुत्र थे। उनमें से एक थे सैयद अबुल फारस। बिलग्राम के सैयद उन्हीं सैयद अबुल फारस के ही वंशज[1] हैं। वास्त के निवासी होने के कारण सैयद अबुल फरह और उनके पुत्र 'अलवास्ती' कहलाते थे। उन्होंने भारत चले आने पर भी उस अल्ल को नहीं छोड़ा और बाद में उनके वंश का नाम ही 'वास्ती' पड़ गया। हमारे रसलीन का भी जन्म इसी 'वास्ती' ही वंश में हुआ था।

भारत आने पर सैयद अबुल फरह के चारो पुत्रों को दिल्ली सम्राट से अलग-अलग चार गाँव मिले। उनमें से सैयद अबुल फारस को जाजनेर मिला और जाजनेर को ही उन्होंने अपना निवास-स्थान बनाया। अबुल फारस के पुत्र अबुल फरह द्वितीय हुए। अबुल फरह द्वितीय के प्रपौत्र सैयद मोहम्मद से और दिल्ली सम्राट शमसुद्दीन अल्तमश से बड़ी घनिष्ठता थी और उनपर सम्राट् की विशेष कृपा भी रहती थी। सैयद मोहम्मद ने विक्रम संवत् १२७४ में सुल्तान से आज्ञा लेकर बिलग्राम पर, जो उस समय श्रीनगर के नाम से विख्यात था, चढ़ाई कर दी और वहाँ के तत्कालीन राजा को परास्त करके बिलग्राम पर अधिकार कर लिया।[2] 'रसप्रबोध' में 'रसलीन' कहते हैं :

"प्रगट हुसेनी वास्ती, बंस जो सकल जहान।
तामें सैयद अबुल फ़ह, आए मध हिंदुआन॥
तिनके अबुल्फरास सुत, जग जानत यह बात।
पुनि सैयद अब्बुल फरह, तिनके सुत अवदात॥
पुनि भये, सयद हुसेन सुत, तिनके सबल सरूप।
तिनके सुत सैयद अली, बिदित भये जगभूप॥
सैयद मोहमद प्रगट में, तिनके अति बलवान।
बिलग्राम श्रीनगर में, जिन कीन्हों निज थान॥"

(रस प्रबोध के कविकुलकथन से)।

सैयद मोहम्मद के सैयद उमर, सैयद उमर के सैयद हुसेन द्वितीय, सैयद हुसेन द्वितीय के सैयद नसीरुद्दीन, सैयद नसीरुद्दीन के सैयद हुसेन तृतीय, सैयद हुसेन तृतीय के सैयद सालार, सैयद सालार के सैयद लुत्फुल्ला उपनाम लद्धा, लद्धा के खुदादाद उपनाम दादन और दादन के सैयद महमूद प्रथम हुए।[3] यही बात स्वयं रसलीन ने इस प्रकार कही है :

"तिनके सयद उमर भये, तिन सुत सयद हुसेन।
तिनते सयद नसीरुदीं, यह जानत सब ऐन॥
पुनि भे सयद हुसेन अरु, पुनि सैयद सालार।
लुत्फुल्ला लद्धा भये, तिनकी बुद्धि अपार॥

---

१. वही, पृ० ११५–११८।
२. रोजतुल कराम, पृ० ११६–१२०।
३. वही, पृ० ६८–६९।

पुनि सैयद दादन भये, खुदादाद जिन्ह नाम।
पुनि सैयद महमूद जो भये सिद्ध अभिराम॥"
(रसप्रबोध में कविकुलकथन से)

सैयद महमूद बड़े ही विद्वान और सिद्ध महात्मा थे। बिलग्राम में इनका एक आमों का बाग अब भी विद्यमान है और उसीमें इनकी समाधि है। कहा जाता है कि एक बार बिलग्राम के तत्कालीन शासक के कुछ कर्मचारी उस बाग में गए और सैयद महमूद साहेब की अनुज्ञा प्राप्त किए बिना आम तोड़ने लगे। माली ने मना किया पर शासन के मद में मतवाले कर्मचारियों ने सुनी अनसुनी कर दी। इतने ही में ऐसा ईश्वर का कोप हुआ कि इस जोर के पत्थर (ओले) पड़ने लगे कि शासक के कर्मचारी बुरी तरह घायल हो गए और उनका आम तोड़ना असंभव हो गया। तब से वह बाग 'भुतहा' बाग कहलाने लगा और कुछ दिन पीछे सैयद महमूद प्रथम के वंशज ही 'भुतहा' नाम से पुकारे जाने लगे।[1] हमारे 'रसलीन' इसी 'भुतहा' वंश के एक उज्ज्वल रत्न थे।

सैयद महमूद प्रथम के दो पुत्र हुए: सैयद नूह और सैयद खान मोहम्मद।[2] 'रसलीन' पिता की ओर से सैयद खान मोहम्मद की और माता की ओर से सैयद नूह की शाखा में थे।[3] सैयद महमूद प्रथम से रसलीन तक वंशावली इस प्रकार है—
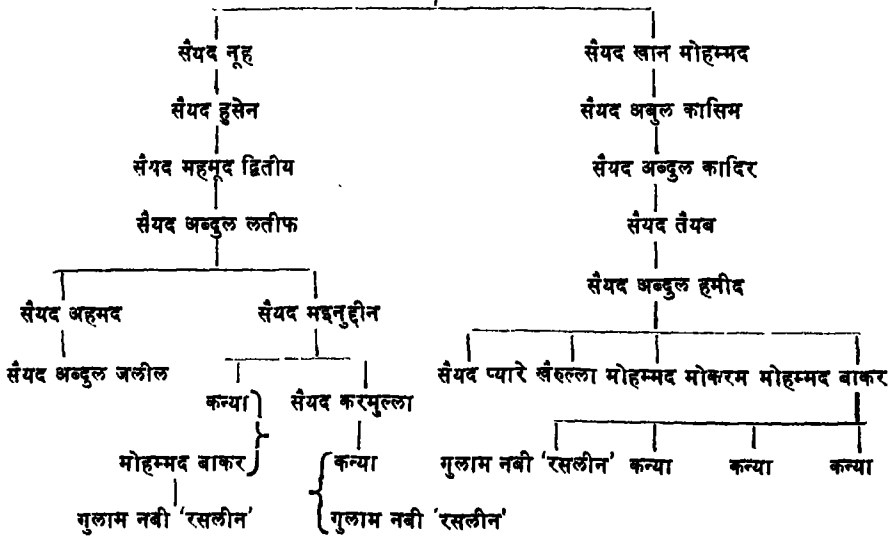
१. रोजतुल्कराम, पृ० ६९.
२. वही, पृ० ६९।
३. वही, पृ० ६९–७०; ७६, ८०।

इस प्रकार सैयद अब्दुल हमीद के कनिष्ठ पुत्र सैयद बाकर तो रसलीन के पिता और सैयद मुईनुद्दीन की कन्या उनकी माता थीं। सैयद महमूद (प्रथम) के आगे के अपने पैत्रिक के संबंध में 'रसलीन' स्वयं कहते हैं कि—

"सैयद खान मोहम्मद भये, तिनके सुत जग आइ।
फिर अब्दुल कासिम भये, तिनके अति सुखदाइ॥
सैयद अब्दुल कादिर भये, पुनि तैयब सुरज्ञान।
तिनके सैयद हमीद सुत, जानत सकल जहान॥
पुनि सैयद बाकर भये, तिनके तनुज प्रसिद्ध।
सब लोगन में सिद्धता, जिनकी प्रगटी सिद्ध॥
भयो गुलाम नबी प्रगट, तिनको सुत जग आइ।
नाम कर्यो रसलीन जिन, कबिताई में ल्याइ॥"

(रसप्रबोध)

जन्म

सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' का जन्म कवियों की खानि बिलग्राम में २ मोहर्रम सन् ११११ हिजरी, अर्थात् २० जून, सन् १६९९ ई० (सं० १७५६ वि०) को हुआ था।

जैसे संस्कृत और हिंदी में संख्या व्यक्त करने के लिये कुछ निर्धारित शब्दों का प्रयोग होता है वैसे ही फारसी और उर्दू में वही काम अक्षरों या अक्षर समूहों से लिया जाता है। फारसी वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर का कोई न कोई अंक नियत है, जैसे अलिफ का १, बे का २, ये का १०, काफ का १००, ग़ैन का १०००, आदि। जब किसी छंद में किसी सन् या संवत् का उल्लेख करना होता है तो उसमें एक ऐसे शब्द या पद का प्रयोग कर देते हैं जिसके अक्षरों के अंकों का जोड़ उस सन् या संवत् की संख्या के बराबर हो। इस प्रकार छंद में किसी के जन्म या मरण अथवा अन्य किसी घटना का वर्णन करने को फारसी और उर्दू में तारीख कहना कहते हैं। तारीख कहना फारसी और उर्दू छंद रचना की एक विशेष कला समझी जाती है और उसका प्रयोग फारसी लिपि में रचना करनेवाले कई एक हिंदी कवियों ने भी किया है।

रसलीन के चचेरे मामा, मीर अब्दुल जलील बिलग्रामी, हिंदी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, तुरकी तथा अरबी के प्रकांड पंडित और कवि थे और रसलीन के परिवार पर उनका विशेष स्नेह था। जिस समय रसलीन का जन्म हुआ उस समय मीर अब्दुल जलील महोदय दक्षिण में सम्राट औरंगजेब के साथ गढ़ सतारा के निकट डेरा डाले पड़े थे। रसलीन के जन्म का शुभ समाचार उन्हें वहीं मिला। कहा जाता है कि उक्त समाचार को पा उन्हें इच्छा हुई कि नवजात शिशु के जन्म की तारीख (तारीख तवल्लुद) कहें और उस दिन उसी इच्छा को ले वे सो गए। सोते में उन्होंने स्वप्न में नवजात शिशु को देखा और सुना उसे कहते हुए "नूरचश्मे बाकरे अब्दुल हमीदम" अर्थात् मैं अब्दुल हमीद के पुत्र बाकर के नयनों की ज्योति (पुत्र) हूँ। पीछे जगने पर जब उन्होंने 'नूरचश्मे बाकरे अब्दुल हमीदम" (نورچشم باقرے عبدالحمیدم) के अक्षरों की अंक गणना की तो पता चला कि

१. सर्वे आजाद, पृ० ३१२।

इसमें तो नवजात भागिनेय के जन्म की तारीख छिपी है। अतः उन्होंने उसीमें तीन और चरण जोड़कर इस प्रकार छंद पूरा कर दिया :

"नूरचश्मे मीर बाकर गुफ्त बामन
चूं गुले खुरशीद दर आलम दमीदम
साल तारीखे तवल्लुद खुद बगुफ्तम
नूरचश्मे बाकरे अब्दुल हमीदम।"[1]

अर्थात् मीर बाकर के पुत्र ने मुझ से कहा कि मैं संसार में सूर्य के फूल (अर्थात् सूरजमुखी फूल) के समान खिला हूँ और अपने जन्म की तारीख में ने खुद कही है जो यह है "नूरचश्मे बाकरे अब्दुल हमीदम"। "नूरचश्मे बाकरे अब्दुल हमीदम" को फारसी लिपि में लिखने में उस वर्णमाला के जो जो अक्षर प्रयुक्त होते हैं उनके अंकों को यदि जोड़ा जाय तो कुल योग ११११ आवेगा और ११११ हिजरी ही रसलीन के जन्म का वर्ष है।

मीर अब्दुल जलील की भविष्यवाणी

रसलीन के जन्म का समाचार पाने के उपरांत मीर अब्दुल जलील महोदय ने दक्खिन से जो पत्र बिलग्राम भेजे थे उनमें यह लिखा था कि यह लड़का अत्यंत विख्यात और कुशल कवि होगा और आगे चलकर हुआ भी ऐसा ही।[2] उस समय के हिंदी कवियों, विशेषकर हिंदी के मुसलमान कवियों, में जितनी ख्याति रसलीन ने पाई उतनी शायद ही किसी ने पाई हो।

रसलीन की सामयिक ख्याति

मिर्जा मोहम्मद अमीन उन दिनों तत्कालीन बहुत बड़े विद्वानों में समझे जाते थे। उन्होंने जब मीर गुलाम अली 'आजाद' से अरबी के और मीर गुलाम नबी 'रसलीन' से हिंदी के छंद सुने तब अत्यंत प्रसन्न हुए और तत्काल उनकी प्रशंसा में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिख डालीं :

'दरीं जमाना कि अर्बाबे फज़्ल कमयाब अस्त
ज़े बिलग्राम दो शख्स अंद दर सखुन उस्ताद
यके इमामे ज़मां सैयदे गुलाम अली
कशे बेह शैर अरब मिस्ल ओ नदारद याद
दिगर जहाने हुनर सैयदे गुलाम नबी
रसानद फितरते ओ शैर हिंद रा बमुराद।"[3]

अर्थात् "इस युग में जब विद्वान लोग दुर्लभ हैं बिलग्राम में दो व्यक्ति काव्य के आचार्य हैं। एक तो इस युग के अग्रणी सैयद गुलाम अली, जिनसे बढ़कर अरब की कविता कंठस्थ रखनेवाला कोई दूसरा नहीं है, और दूसरे, गुणों के संसार, सैयद गुलाम नबी, जिनकी बुद्धि हिंदी कविता में इष्टसिद्धि को पहुँच गई है।

---

१. सर्वे आजाद, पृ० ३१२।
२. „ „ पृ० ३१३।
३. „ „ पृ० ३७२।

रसलीन के विद्यागुरु

'रसलीन' के विद्यागुरु थे मीर तुफैल मोहम्मद बिलग्रामी।[1] इनकी जन्मभूमि और मूल निवासस्थान तो था अतरौली, जिला आगरा में, पर ये जब १५ ही वर्ष के थे तभी बिलग्राम चले गए थे, वहीं विद्योपार्जन किया और वहीं बस गए तथा अंतकाल तक वहीं रहे। मीर तुफैल मोहम्मद हिंदी, फारसी और अरबी तीनों ही के बहुत बड़े विद्वान और कवि थे और उनके पास दूर दूर से लोग विद्योपार्जन करने आया करते थे।[2] इन्हें रसलीन ही क्या बिलग्राम के न जाने कितने व्यक्तियों को विविध-विद्या-विशारद बनाने का श्रेय प्राप्त था। रसलीन ने इनके विषय में स्वयं लिखा है:

"देस बिदेस के सब पंडित सेवत हैं पग शिष्य कहाई।
आयो है ज्ञान सिखावन को सुर को गुरु मानुस रूप बनाई।
बालक वृद्ध सुबद्धि जहाँ लगि बोलत हैं यह बात बनाई।
को मन मेल कहै सुभ केल तुफैल तुफैल मोहम्मद पाई।[3]"।

रसलीन पर मीर अब्दुल जलील का प्रभाव

रसलीन के चचेरे मामा, मीर अब्दुल जलील बिलग्रामी, अरबी, तुर्की और फारसी के तो पंडित और कवि थे ही, हिंदी में भी बड़ी सुंदर और उच्च कोटि की कविता करते थे। हिंदी में उनका 'सिखनख' नामक ग्रंथ बहुत ही सरस और सुंदर है। उन्हीं के विषय में हरबंस मिश्र बिलग्रामी के पुत्र 'दिवाकर मिश्र' ने जो स्वयं हिंदी के बहुत अच्छे कवियों में थे, कह गए हैं कि—

"हुआ न है औ होयगा ऐसो गुनी सुशील।
जैसो अहमदनंद जग हुय गयो मीर जलील।"[4]

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मीर अब्दुल जलील का रसलीन के परिवार और विशेषकर रसलीन पर असाधारण स्नेह था। मीर तुफैल मोहम्मद तो रसलीन के विद्यागुरु ही थे, पर जान पड़ता है रसलीन को हिंदी साहित्य के अध्ययन और हिंदी भाषा में काव्य रचना की प्रेरणा मुख्यतया अपने मामा मीर अब्दुल जलील ही से मिली थी।

रसलीन पर मीर गुलाम अली आजाद का प्रभाव

सर्वे आजाद आदि ग्रंथों के रचयिता तथा मीर अब्दुल जलील के दौहित्र, मीर गुलाम अली आजाद, जिन्हें यदि बिलग्राम के विद्वानों में विद्वत्ता की दृष्टि से अद्वितीय कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी, रसलीन के समकालीन और लगभग समवयस्क ही थे। रसलीन का जन्म जून सन् १६९९ ई० का है और आजाद का जून सन् १७०४ ई० का। रसलीन और आजाद का साथ बिलग्राम

---

१. सर्वे आजाद, पृ० ३१२

२. वही, पृ० २५१

३. "कबित्त मुत्फरिका सैयद गुलाम नबी रसलीन" नामक ग्रंथ से, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति लेखक के पास और दूसरी रामपुर के राजकीय पुस्तकालय में है।

४. सर्वे आजाद, पृ० ३७०

के अतिरिक्त अन्य कई स्थानों में भी रहा था।[1] अतः यह असंभव है कि दोनों की विद्वत्ता और विद्याव्यसनी तथा साहित्यसेवी स्वभाव ने एक दूसरे को प्रभावित न किया हो।

रसलीन का भाषा ज्ञान

हमारे रसलीन हिंदी, फारसी और अरबी तीनों ही के पंडित थे[2] और कदाचित् संस्कृत भी जानते थे क्योंकि उनकी कविताओं में संस्कृत के तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

रसलीन का लिपि-ज्ञान और लिपि-प्रयोग

रसलीन की रचनाओं से ही प्रकट है कि उन्होंने हिंदी साहित्य का बड़ा व्यापक और गंभीर अध्ययन किया होगा और बहुत संभव है उन्होंने कम से कम रस और नायिका भेद के संस्कृत ग्रंथ भी पढ़े हों। अतः उन्हें न केवल देवनागरी लिपि का सम्यक् ज्ञान ही रहा होगा अपितु वे उसे भली भाँति लिख भी लेते रहे होंगे। किंतु ऐसा होते हुए भी यह एक प्रकार से निर्विवाद ही है कि वे उस काल के अनेक मुसलमान और हिंदू लेखकों की भाँति हिंदी भी फारसी लिपि में ही लिखा करते थे उनके ग्रंथों की उपलब्ध प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियाँ फारसी लिपि में ही हैं। फारसी में हिंदी और उर्दू की भाँति टवर्ग नहीं है इसीसे शुद्ध फारसी लिपि में ट, ड और ड़ की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिये अक्षरों का अभाव है। उर्दू में यह काम अधिकतर 'ते' (ت), 'दाल' (د) और 'रे' (ر), पर (इस प्रकार ٹ ڈ ڑ) 'तो' (ط) का चिह्न बनाकर लिया जाता है, पर ढले हुए टाइपों से मुद्रित ग्रंथों में, जिनका प्रारंभ कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज द्वारा प्रकाशित उर्दू ग्रंथों से होता है, यही काम उक्त अक्षरों पर (इस प्रकार ت̄ د̄ ر̄) एक बेंड़ी लकीर बनाकर लिया जाता है। पर रसलीन और मीर अब्दुल जलील ने हिंदी लिखने के लिये इस संबंध में अपने ही चिह्न बना रक्खे थे और उन्हींका प्रयोग करते थे। बिंदुरहित 'ते', 'दाल' और 'रे' पर रसलीन (इस प्रकार ٿ ڎ ڗ) तीन तीन बिंदु और मीर अब्दुल जलील (इस प्रकार ٿ ڎ ڗ) चार चार बिंदु लिखकर टवर्ग के उपर्युक्त अल्पप्राण अक्षरों का काम लेते थे। यही बात गुलाम मोहम्मद खाँ 'वासिल' बिलग्रामी ने अपने फारसी ग्रंथ 'मुफ्ताहुल्हिंद'[3] में कही है और चारो लिखावटों में अंतर व्यक्त करने के लिये निम्नलिखित चित्र भी दे दिया है :

नाम मुरज्जिद कायदा	एख्तिलाफ जबान	सूरत ताय फूकानी	सूरत दाल मोहमिला	सूरत राय मोहमिला
ला तालीम	उर्दू	ٹ	ڈ	ڑ
कारगुजारान मुताबा कलकत्ता	उर्दू	ت̄	د̄	ر̄
सैयद गुलाम नबी रसलीन	हिंदी	ٿ	ڎ	ڗ
मीर अब्दुल जलील	हिंदी	ت∷	∷	ر∷

१. सर्वे आज़ाद, पृ० ३१३।
२. सर्वे आज़ाद, पृ० ३१२.
३. इस ग्रन्थ की वासिल के ही हाथ की लिखी प्रति लेखक के पास है।

हिंदी लिखने के लिये फारसी-लिपि का इस प्रकार अनुकलन करने के कारण यदि रसलीन और मीर अब्दुल जलील को हिंदीवाले फारसी-लिपि के सुधारक की उपाधि से विभूषित करना चाहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

संगीत में प्रवीणता

साहित्यज्ञ और साहित्य-स्रष्टा होने के साथ ही साथ रसलीन कुशल संगीतज्ञ भी थे। रसलीन और उनके समकालीन बिलग्रामी विद्वान 'साहित्य संगीत कला विहीन:' वाली उक्ति को पूर्णतया सत्य मानते थे और वैयक्तिक संस्कृति के लिये भाषा और साहित्य के ज्ञान के साथ ही साथ संगीतकला में भी दक्षता प्राप्त करना आवश्यक समझते थे। इसीलिये बिलग्राम में जितने निपुण और कुशल तथा प्राप्तख्याति गवइए हुए हैं, उतने अन्यत्र कदाचित् ही हुए होंगे। फोर्ट विलियम कालेज के प्रोफेसर, मीर शेर अली अफसोस, 'आराइश महफिल' नामक अपने भारतवर्ष के इतिहास में लिखते हैं कि 'कस्बा बिलग्राम में एक कुंआं है, जो कोई चालीस दिन मुसलसल उसका पानी पिये गाने लगे।" यही बात 'गैजिटियर आफ दि प्राविंस आफ अवध' प्रथम खंड में भी लिखी है[१]। इसी प्रकार की एक किवदंती तानसेन के विषय में भी प्रचलित है। ग्वालियर में जहाँ पर तानसेन की समाधि है उसीके सन्निकट एक वृहत इमली का वृक्ष है। कहा जाता है कि उस वृक्ष की पत्ती जो एक बार भी चबा लेता है उसका स्वर अत्यंत सुंदर और मधुर हो जाता है। इस प्रकार की किंवदंतियाँ चाहे वास्तविकता की दृष्टि से सत्य न हों पर वे कम से कम यह तो व्यक्त करती ही हैं कि उनसे संबद्ध स्थान का या तो किसी अत्यंत विख्यात संगीतज्ञ से घनिष्ट संबंध रहा है या वहाँ के लोगों में किसी न किसी समय संगीतविद्या और संगीतकला का पर्याप्त प्रचार रहा है। बिलग्राम के सब से कुशल और विख्यात संगीतकलाविद् हुए हैं हिंदी में 'नादचंद्रिका' और 'मधनायकशृंगार' के रचयिता सैयद निजामुद्दीन मधनायक'।[२] रसलीन के समकालीन थे और इनका भी प्रभाव रसलीन पर अवश्य पड़ा होगा।

शूरवीरता और रणकुशलता

रसलीन के समय की एक यह भी विशेषता थी कि उन दिनों सभ्य समाज में कोई तब तक पूर्णतया सभ्य और सुसंस्कृत नहीं समझा जाता था जब तक वह लेखिनी और खंग दोनों ही का समान उपासक न हो। रसलीन अत्यंत शूरवीर और साहसी तथा रणकुशल थे और, जैसा मीर गु-लाम अली आजाद ने[३], सर्वे आजाद नामक अपने ग्रंथ में कहा है: धनुर्विद्या में तो ये अद्वितीय (बेनजीर) ही थे। जैसा आगे कहा जायगा रसलीन रणक्षेत्र में लड़ते २ ही वीरगति को प्राप्त हुए थे। यह सौभाग्य हिंदी के बिरले ही कवियों को प्राप्त हुआ होगा।

---

१. मकबूल समदनी: हयाते जलील, पृ० १५७
२. सर्वे आजाद, पृ० ३५६
३. वही, पृ० ३१३

रसलीन का धर्म

रसलीन शिया मुसलमान थे और मोहम्मद साहेब, हजरत अली, इमाम हुसेन, इमाम हसन आदि की वंदना और स्तुति में श्रद्धा तथा भक्ति से समन्वित कई सुंदर छंद लिख गए हैं। उदाहरणार्थ क्रमात् मोहम्मद साहेब और हजरत अली की बंदना में कहे गए निम्नलिखित छंद देखिए:

"जीभ चखे तुह नाम को अमृत औरन नाम को पावत फीको।
खाटी मही कह क्यों मुख भावत जाको गयो पन खातहिं घी को।।
चाह्यो न आज लौं काहू सों काज को आवत लाज यहै नित जी को।
तूं बिनती करै औरन पास कहाइ कै आप गुलाम नबी को।।"[1]
"भूप ब्रस बाहक हौ जग के निबाहक हौ जाचक के ठाहक हौ जस निधान जो।
भवसिंधु थाहक हौ पापन के दाहक बिघन बिगाहक हौ साहब सुजान जो।।
दीनन के गाहक हौ सेवक के चाहक हौ दया के बलाहक बरसै दान जो।
धरम अवगाहक हौ नबी के सलाहक हौ फातमान के ब्याहक हौ शाह मरदान जो।।"[2]

रसलीन की धार्मिक सहिष्णुता

रसलीन पक्के मुसलमान होते हुए भी धर्मांधता और असहनशीलता से बहुत दूर, दूसरे धर्मों के प्रति सहानुभूति रखनेवाले तथा अत्यंत उदारचित्त थे। भागीरथी गंगा की स्तुति में नीचे लिखा छंद इस बात का साक्षी है—

'बिष्नु जू के पग तें निकसि संभु सीस बसि भगीरथ तपतें कृपा करी जहान पैं।
पतितन तारिबे की रीति तेरी एरी गंग पाई रसलीन इंह तेरिऐं प्रमान पैं।।
कालिमां कलिंदी सरसुती अरुनाई दोउ मेटि कीन्हें सेत आपने विधान पैं।
त्यों हीं तमोगुन रजोगुन सब जगत के करिकै सतोगुन चढ़ावत विमान पैं।।'[3]

रसलीन का शाहजहानाबाद और इलाहाबाद में रहना

आजाद ने अपने "सर्वे आजाद" नामक ग्रंथ में लिखा है कि हमसे और मीर गुलाम नबी से आपस में घनिष्ठ प्रेम था और हमारा व उनका साथ वर्षों बिलग्राम, शाहजहानाबाद और इलाहाबाद में रहा[4]। उसी ग्रंथ में उन्होंने यह भी लिखा है कि मीर गुलाम नबी दिल्ली सम्राट् के प्रधान मंत्री (वजीरे इंतिजाम) नवाब सफदरजंग के अभिन्न मित्रों में थे[5]। अतः हमारे रसलीन बिलग्राम के अतिरिक्त शाहजहानाबाद और इलाहाबाद में आजाद के साथ तो रहे ही, बहुत संभव है वे उसके बाद भी कुछ दिनों नवाब सफदरजंग के पास शाहजहानाबाद (दिल्ली) में रहे हों।

---

१. "कबित्त मुर्फरिक सैयद गुलाम नबी रसलीन" नामक ग्रंथ से, जिसकी एक हस्तलिखित प्रति लेखक के पास और दूसरी रामपुर राजकीय पुस्तकालय में है।

२. वहीं।

३. वहीं।

४. सर्वे आजाद, पृ० ३१३।

५. सर्वे आजाद पृ० ३१३।

आजाद सन् ११३४ हिजरी (सन् १७२१ ई०) में शाहजहानाबाद गए और वहाँ दो वर्ष रहे। तदनंतर ११३७ हिजरी (१७२४ ई०) में बिलग्राम वापस जाकर वहाँ उसी वर्ष शाह लद्धा बिलग्रामी से दीक्षा ली। सन् ११४२ (सन् १७२९ ई०) में वे सविस्तान चले गए और वहाँ ४ वर्ष रहकर सन् ११४७ हिजरी में बिलग्राम वापस आ गए। सन् ११४७ से सन् ११५० तक वे बिलग्राम ही में रहे और सन् ११५० हिजरी में हज के लिये रवाना होकर फिर बिलग्राम वापस नहीं गए।[१] हज से लौटने के उपरांत जीवन पर्यंत वे हैदराबाद दक्खिन ही में रहते रहे। इससे प्रकट है कि आजाद शाहजहानाबाद में सन् १७२१ ई० और सन् १७२३ ई० के बीच तथा इलाहाबाद में सन् १७२४ और १७२९ के बीच ही रहे होंगे। रसलीन इन दोनों स्थानों को, संभव है, आजाद के साथ ही गए हों और वहाँ से साथ ही बिलग्राम लौटे भी हों या उनसे कुछ आगे पीछे लौटे हों। या यह भी संभव है कि आजाद के उत्तरी भारत छोड़ देने के पश्चात् भी रसलीन कई बार इलाहाबाद और दिल्ली गए आए हों और वहाँ वर्षों रहे हों। ऊपर लिखा त्रिवेणी-स्तुति का छंद बहुत संभव है इलाहाबाद ही में लिखा गया हो। शाहजहानाबाद के प्रथम निवासकाल में रसलीन की अवस्था २३ और २५ वर्ष के बीच तथा इलाहाबाद के निवासकाल में २५ और ३१ के बीच रही होगी।

रामचेतौनी का युद्ध और रसलीन का स्वर्गारोहण

यह पहले ही कहा जा चुका है कि रसलीन का प्राणांत युद्धक्षेत्र में लड़ते लड़ते हुआ था। अतः यहाँ पर उक्त युद्ध का कुछ संक्षिप्त परिचय दे देना अनुपयुक्त न होगा। दिसंबर, १७४३ ई० में फर्रुखाबाद राजघराने के संस्थापक, मोहम्मद खाँ बंगश, के देहांत पर उनके पुत्र कायम खाँ उनकी गद्दी पर बैठे। सन् १७४९ ई० में कायम खाँ एक युद्ध में रुहेलों के हाथ मारे गए; और उधर उनका मरना था कि इधर अवध के सूबेदार और दिल्ली सम्राट् के प्रधान मंत्री, सफदर जंग, तथा अवध के नायब सूबेदार, राजा नवल राय ने पूरे बंगश-राज्य पर अधिकार कर लिया, कायम खाँ की माता, बीबी साहेबा, को नजरबंद कर दिया और मोहम्मद खाँ के लड़कों में से पाँच को पकड़ कर ओल रूप में इलाहाबाद भेज दिया। किंतु शीघ्र ही बीबी साहेबा किसी न किसी प्रकार नवल राय के चंगुल से निकल भागीं और जाकर पठानों को इतना उत्तेजित किया कि वे दिल्ली सम्राट् के प्रति खुले विद्रोह पर कटिबद्ध हो गए। उन्होंने मोहम्मद खाँ बंगश के एक दूसरे पुत्र, अहमद खाँ, को अपना नेता और अग्रणी बनाकर तुरंत राजा नवल राय पर चढ़ाई कर दी। युद्ध में नवल राय मारे गए और पठानों ने कन्नौज और फर्रुखाबाद दोनों ही पर कब्जा कर लिया। सफदरजंग एक बड़ी सेना के साथ, जिसमें हमारे रसलीन भी थे, राजा नवल राय की सहायता को जा रहे थे और एटा जिले में मारहरा तक पहुँच चुके थे। राजा नवल राय को मारने और कन्नौज तथा फर्रुखाबाद पर अधिकार कर लेने के बाद अहमद खाँ अविलंब सफदरजंग की सेना की ओर बढ़ गया और दोनों सेनाएँ १३ सितंबर १७५० ई० को रामचेतौनी के मैदान पर एक दूसरे से भिड़ गईं। 'राम चतौनी' डंडवारगंज रेलवे स्टेशन के पास एक तीर्थ-स्थान है। वहाँ से मारहरा २२ मील

---

१. मकबूल समदनी का "हयाते जलील", भाग २, पृ० १६४ (राम नारायण लाल द्वारा प्रकाशित)

पश्चिम, सहावर ७ मील पश्चिम, एटा १८ मील दक्षिण और पटियाला ५ मील पूर्व है। सफदरजंग की सहायता को अन्य कई राजाओं के अतिरिक्त अपने ५० हजार सैनिकों के साथ सूरजमल जाट भी उपस्थित था। दोनों सेनाएँ प्रातःकाल लगभग ९ बजे युद्धक्षेत्र में जा डटीं। पहले सफदरजंग के प्रधान सेनापति, इस्माइलखाँ, तथा सूरजमल ने अपनी सेनाओं सहित पठान सेना पर आक्रमण किया। यह आक्रमण सफल रहा। बंगश सेना का सेनापति, रुस्तम खाँ मारा गया और उसकी सेना भागती हुई कई मील पीछे हट गई। रुस्तम खाँ की मृत्यु और पराजय का समाचार पा अहमद खाँ तनिक भी विचलित या हतोत्साह नहीं हुआ। उसने अपनी सेना का एक बड़ा अंश युद्धक्षेत्र ही के एक कोने में जंगलों की आड़ में छिपा रखा था। उक्त सेना के सैनिकों से उसने कहा कि रुस्तम खाँ ने विपक्षियों को हरा दिया है किंतु यदि आप लोग आगे न बढ़ेंगे तो असंभव नहीं कि आप की जय पराजय में परिवर्तित हो जाय। इस युद्ध में रुहेले बंगशों की ओर थे। अहमद खाँ ने परमल खाँ के नेतृत्व में पहले उन्हीं को आगे भेजा। रुहेलों के पहले ही धावे पर शाही सेना के अनेक सेनानी, जो शत्रु से मिले हुए थे, भाग खड़े हुए। अंत में सफदर जंग ने बची हुई शाही सेना की सहायता के लिये नूरुलसहन खाँ बिलग्रामी और मोहम्मद अली खाँ से आगे बढ़ने को कहा। ये लोग ३०० अत्यंत वीर सैनिकों को ले, जिनमें हमारे रसलीन भी थे, बड़ी कठिनता, साहस और परिश्रम से मनुष्यों और हाथियों के झुंडों को चीरते हुए आगे जा पहुँचे पर तब तक मुगल सैनिक इतने भयभीत और हतोत्साह हो चुके थे कि उन्हें युद्ध के लिये फिर उद्यत कर सकना असंभव हो गया। इसी बीच इनके ऊपर ३०० रुहेलों की एक दूसरी टुकड़ी ने पीछे से धावा कर दिया। रसलीन आदि बड़ी वीरता से लड़े। पर फिर भी जयश्री रुहेलों और बंगशों के ही हाथ रही। रसलीन के स्वागत के लिये स्वर्ग का द्वार पहले ही से खुला हुआ था। वे लड़ते लड़ते उसीमें प्रवेश कर गए। उनके भौतिक शरीर का कहीं पता तक न चला।'[1]

मरण-तिथि

उपर्युक्त युद्ध का दिनांक ऐतिहासिकों ने २५ शव्वाल सन् ११६३ हिजरी अर्थात् १३ सितंबर सन् १७५० ई० दिया है और यही दिनांक रसलीन के स्वार्गारोहण का भी दिनांक है।[2] आजाद ने रसलीन के भौतिक जीवन की इतिश्री की तारीख इस प्रकार कही है :—

"बहोदे जमां सैयदे ख़ुश सख़ुन,
ब फ़िर्दोस मी ज़द ज जामे नबी
क़लम गर य सर क़र्दा तारीख़ ओ
रक़म कर्द "हय हय ग़ुलामे नबी।"[3]

---

१. आशिर्वादी लाल श्रीवास्तव : द फर्स्ट टू नवाब्स आव अवध पृष्ठ १४५–१४७, १४८–१६१
सर यदुनाथ सरकार : "फाल आव द मुगल एंपायर" खंड १, पृ० ३७३–३९५
सैयद मोहम्मद बिलग्रामी : तबसीरतुल् नाजिरीन (अप्रकाशित एक हस्तलिखित प्रति रायल' एशियाटिक सोसाइटी आफ बेंगाल' में सुरक्षित है)
सियारुल् मुताखिरीन, भाग ३, पृ० ८७८ (नवल किशोर प्रेस, लखनऊ)
२. सर्वे आजाद, पृ० ३१३
३. सर्वे आजाद, पृष्ठ ३१३

अर्थात्, अपने समय के सैयदों में जो अद्वितीय सुकवि था उसने स्वर्ग में नबी के पानपात्र से मदिरा का पान किया; रोती हुई लेखनी से उसकी मृत्यु की यह तारीख लिखी है "हय हय, गुलामे नबी।" "हय हय गुलामे नबी" को फारसी-लिपि में लिखने में उस वर्णमाला के जो जो अक्षर प्रयुक्त होते हैं उनके अंकों को यदि जोड़ा जाय तो कुल योग ११६३ आवेगा। रसलीन के देहावसान के इस सन् को सैयद मोहम्मद आरिफ बिलग्रामी, उपनाम 'जान', ने, जो स्वयं हिंदी के एक अच्छे कवि थे, भारतीय ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया है:

"मीर गुलाम नबी हतो, सकल गुनन को धाम।
बहुरि धर्‌यो, रसलीन निज, कबिताई मों नाम॥
गयो जो वह सुरलोक कों, प्रभु सासन आधीन।
जान कह्यो रसलीन मुन भव सर में लीन॥"[1]

विवाह और संतति

रसलीन का विवाह उनके सगे मामा सैयद करमुल्ला की कन्या के साथ हुआ था।[2] सैयद स्वयं एक अत्यंत बुद्धिमान्, चतुर और विद्यासंपन्न व्यक्ति थे।[3] करमुल्ला की कन्या से रसलीन की तीन संतानें थीं, दो पुत्र और एक कन्या। रसलीन से नीचे रसलीन की वंशावली इस प्रकार है[4]—
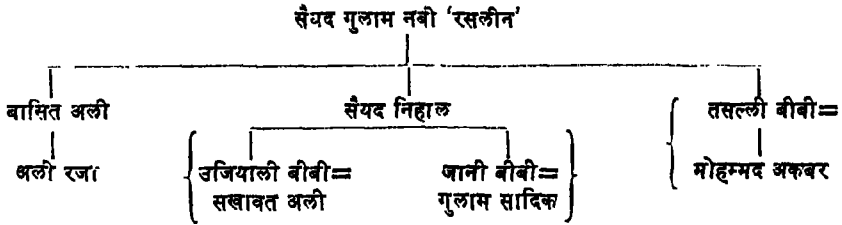
बिलग्राम से ही मुझे रसलीन के ग्रंथों की फारसी लिपि में लिखी एक प्रति मिली है जिस पर दो स्थानों पर सखावत हुसेन खाँ की मोहर की छाप है और जिल्द के अंदर मुखपृष्ठ पर एक कोने में कलम से भी उनका नाम लिखा है। मोहर के भीतर नाम के साथ १२२७ भी अंकित है जो संभवत: मोहर बनने और लगने के समय का हिजरी सन् है। इस प्रति में रसलीन के तीन के तीनों ही ग्रंथ संग्रहीत हैं, पर उनमें से पुष्पिका किसी के भी अंत में नहीं है और टवर्ग के अक्षर अधिकतर रसलीन द्वारा आविष्कृत रीति से ही लिखे हैं। बहुत संभव है यह प्रति स्वयं रसलीन के ही हाथ की लिखी हो, उनसे ही उनके पुत्र, सैयद निहाल, के पास आई हो और सैयद निहाल से उनके जामाता, सखावत अली को मिल गई हो तथा सखावत अली ही का नाम सखावत हुसेन खाँ भी रहा हो।

---

१. गुलाम मोहम्मद खाँ 'वासिल' बिलग्रामी रचित "मुफ्ताहुल् हिन्द" नामक फारसी ग्रंथ से।
२. खाँ साहेब सैयद वसीउल हसन बिलग्रामी: "रोजतुल कराम" भाग १, पृष्ठ ७०।
३. वही, भाग २, पृष्ठ १९७।
   हयाते जलील, भाग १, पृ० २४०
४. 'रोजतुल कराम' पृ० ८०

रसलीन के शिष्य

मीरजा जाने जाना, उपनाम 'मजहर' देहलवी, उर्दू और फारसी के विख्यात कवि हो गए हैं। 'सर्वे आजाद' में लिखा है कि इन्होंने हिंदी काव्य रचना मीर गुलाम नबी से ही सीखी थी।[1] पहले के फारसी लेखक अधिकतर 'हिंदी' शब्द का प्रयोग उर्दू और हिंदी दोनों ही के लिये किया करते थे, पर सर्वे आजाद में, इस शब्द का प्रयोग, जान पड़ता है, केवल हिंदी के ही लिये हुआ है। दूसरे, रसलीन तो उर्दू कवि थे नहीं, उन्होंने यदि मजहर देहलवी को काव्य-रचना की शिक्षा दी होगी तो वह हिंदी ही काव्य-रचना के संबंध में रही होगी। मजहर देहलवी का कोई हिंदी छंद अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है, पर बहुत संभव है खोज करने पर आगे चलकर प्राप्त हो जाय।

ग्रंथ

रसलीन फारसी और हिंदी दोनों ही में कविता करते थे, पर थे वे कवि मुख्यतया हिंदी ही के। फारसी में उनका कोई ग्रंथ देखने या सुनने में नहीं आता, केवल कुछ स्फुट ही छंद पाए जाते हैं जो सर्वे आजाद में दिए हैं। हिंदी में रसलीन के कुल तीन ही ग्रंथों का अब तक पता चल पाया है—अंगदर्पण, रसप्रबोध, और उन्हीं के कुछ फुटकर कवित्त, सवैयों आदि का एक संग्रह।

उनका सब से पहले पूरा होनेवाला ग्रंथ है, "अंगदर्पण" या "शिखनख"। कवि के ही अनुसार इसका रचना काल विक्रम संवत् १७९४ है। वे कहते हैं—

'ब्रज बानीं सिख नख रची, यह रसलीन रसाल।
गुन सुबरन नग अरथ लहि, हिय धरो जीवन माल।।
अंग अंग को रूप सब, यामें परत लखाय।
नाम 'अंग दर्पन' धर्‌यो, याही गुन ते ल्याय।।
सत्रह से चौरानवे, संबत में अभिराम।
यह सिख नख पूरन कियो, लै मुख प्रभु को नाम।'[2]

रसलीन का जन्म विक्रम संवत् १७५६ का है। अतः इस ग्रंथ की रचना के समय वे ३८ वर्ष के रहे होंगे।

अंगदर्पण के विषय में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिंदी का सुविख्यात "अमी हलाहल मद भरे" वाला दोहा पहले समझा जाता था कि बिहारी का है। बाद में जब से काशी के भारत जीवन प्रेस ने रसलीन का 'अंगदर्पण' प्रकाशित किया तब से यह सर्वमान्य सा हो गया कि उक्त दोहा बिहारी का नहीं प्रत्युत रसलीन का ही है। पर, यह दोहा बिहारी का हो चाहे न हो, उसके रसलीन-रचित होने में पर्याप्त संदेह है और अंगदर्पण का तो वह नहीं है। भारत जीवन प्रेस द्वारा प्रकाशित अंगदर्पण में 'अमी हलाहल' वाले दोहे को मिलाकर कुल १८० दोहे हैं पर मीर गुलाम

---

१. सर्वे आजाद, पृ० ३१३, ३७२
२. अंगदर्पण

अली आजाद के अनुसार अंगदर्पण केवल १७७ ही दोहों का ग्रंथ है। 'सर्वे आजाद'' में वे लिखते हैं—''अज नतायज फिक्र ओ' सिख नख' सद व हफ्ताद व हफ्त दोहा अस्त कि आंरा 'अंग दर्पण' नाम गुजाश्ता।''[1] अंगदर्पण की जितनी उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियाँ हैं उनमें भी १७७ ही दोहे हैं और उन १७७ दोहों में ''अमी हलाहल'' वाला दोहा नहीं है। अतः इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि उक्त दोहा अंगदर्पण का नहीं है। उक्त दोहे की भाषा और शैली रसलीन की अपेक्षा बिहारी के ही अधिक निकट है। अतः बहुत संभव है कि उसके संबंध में लोगों की पहले ही वाली धारणा अधिक ठीक हो।

रसलीन का दूसरा ग्रंथ 'नायिका वर्णन' या 'रसप्रबोध' रसलीन ही के अनुसार हिजरी सन् ११५४ में निर्मित हुआ। वे कहते हैं :—

''ग्यारह सै चौवन सकल, हिजरी संवत् पाय।
सब ग्यारह सै चौवनें, दोहा राखे ल्याय।''[3]

हिजरी सन् ११५४ में रसलीन लगभग ४२ वर्ष के रहे होंगे।

तीसरा ग्रंथ किसी एक समय नहीं बना और इसीसे उसमें उसका निर्माणकाल भी नहीं दिया है। रसलीन ने समय समय पर जितने कवित्त सवैये आदि लिखे थे वही सब इसमें एक सुव्यवस्थित ढंग से संग्रहीत हैं। स्वरचित कवित्त और सवैयों को एकत्र और सुव्यवस्थित करके उन्हें एक पुस्तक का रूप देने का कार्य जान पड़ता है रसलीन ने स्वयं किया था। कब किया ? यह पता नहीं पर कई बातों को देखते जान पड़ता है कि यह कार्य हुआ होगा अंगदर्पण और रसप्रबोध दोनों की रचना के बाद ही। इस ग्रंथ में कुल ९८ छंद हैं और सब एक क्रमविशेष में आबद्ध हैं। इस ग्रंथ की अब तक केवल दो ही प्रतियाँ मिली हैं। उनमें से एक मेरे पास है और दूसरी रामपुर के राजकीय पुस्तकालय में। दोनों में छंदों का क्रम और उनकी संख्या समान है। अब तक लोगों की धारणा थी कि रसलीन ने दोहे ही दोहे लिखे हैं पर अब इस ग्रंथ के प्रकाश में आने से यह भ्रम दूर हो जायगा। इस ग्रंथ के कुछ छंद तो इसी लेख में ऊपर आ चुके हैं और कुछ नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं :—

शांत रस कवित्त

तेरेई मनोरथ को होत है सपन लोक
तूंहीं ह्वै अकास करै नखत उदोत है।
तूंहीं पाँचो तत्व सैल नर पसु पंछी होत
तूंहीं ह्वै मनुख पूजै गोन ओ अगोन है।
तूंहीं बन नारी फिर ताके रसलीन होत
तूंहीं ह्वै कै सत्रु लेत आपन तें पोत है।
जाग परें झूठहु ज्यों सपन लोक होत
त्यौं हीं आत्मा-विचार लोक जागत को होत है ॥

१. सर्वे आजाद, पृ० ३७२

२. रसप्रबोध

शरद ऋतु मध्य चाँदनी वर्णन

उज्ज्वल बसन तन मंजुल सुबास जुत
मोतिन के भूखन नारि अति छबि पाई है।
चंद सों बदन दृग सोहैं रसलीन मृग
हंस दर्सन की मरीचिका दिखाई है।
ओस के समान झरत स्रम-स्वेद कन
मंद मंद सीत बात लावत सुहाई है।
सारद समय की निसि चंद्रिका न होय यह
धरा को छलन कोउ छरा चलि आई है।।

दूती को बचन

आवै कहूं सुरबानी जबै तब भाखा कहा मुख तें कोउ भाखै[1]।
छावै मधुब्रत मालती फूल तौ कंद की चोंप न कैसेहुं राखै।
खावै निरंतर पान को आन सो काहे को दाँतन लावै रि लाखै।
पावै जो ऊ मुखचंद की जोत चकोर तो चंद्रिका भूल न चाखै।।

प्रोषितपतिका

अवधि गई हरि की रसलीन सो बनितान हियें घन आग तई है।
ताहि समय पिय आए अचानक देखत हीं सियराइ गई है।
भोरहिं फेरि चले तन की अबतो गति ऐसी बिचारि लई है।
मानों मसान बुझे बरके फिर नेह में बोरि जराइ दई है।।

1. इससे रसलीन की देववाणी संस्कृत के प्रति आस्था दर्शित होती है।

भिक्षापात्र लिए ध्यानस्थ भगवान् बुद्ध की मूर्ति
भारतीय चीनी कला
ई० ६ठीं शती

—लखनऊ संग्रहालय

एको रसः

बलदेव उपाध्याय

रस सुखमय या दुःखमय

काव्य तथा नाट्य का सर्वस्व रसोन्मेष ही है। वर्णन तथा अभिनय के द्वारा सामाजिक के हृदय में रस का उन्मीलन करना सहृदय के चित्त में रागात्मिका वृत्ति का उदय करना कवि का प्रधान कर्तव्य होता है। परंतु रस के स्वरूप के विषय में अर्वाचीन आलोचकों तथा प्राचीन आलंकारिकों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है। रस का आस्वाद किं रूप हैं। इस प्रश्न के उत्तर में सभी आलोचकों का उत्तर एकरूप नहीं है। रस आनंदरूप है, सुखात्मक है, आलोचकों का बहुमत इसीके पक्ष में है, परंतु कतिपय आलोचकों की दृष्टि में अनेक रसों की सुखानुभूति में तारतम्य है। एक ही प्रकार की सुखात्मिका अनुभूति प्रत्येक रस के आस्वाद में उत्पन्न नहीं होती। किसी में इस अनुभूति की मात्रा तीव्र होती है और किसी में नितांत सौम्य। अनेक आलोचक सब रसों में इस अनुभूति को सुखात्मक भी नहीं अंगीकार करते। उनकी दृष्टि में रस की अनुभूति निश्चित रूप से सुखात्मक है, परंतु करुण, भयानक, वीभत्स तथा रौद्र रसों की अनुभूति दुःखात्मक है।

हमारे प्राचीन काश्मीरी आलंकारिकों की संमति में तथा तदनुयायी अन्य मान्य आलोचकों की दृष्टि में रस आनंदात्मक ही होता है, परंतु मध्ययुगी कतिपय आलोचक रस को दुःखात्मक मानने के पक्षपाती हैं। 'नाट्यदर्पण' के रचयिता रामचंद्र और गुणचंद्र (१२ शतक) ने विस्तार से इस मत का प्रतिपादन किया है। उनका सिद्धांत है सुखदुःखात्मको रसः (कारिका १०९)। इस वाक्य की व्याख्या से उनके मत का पूरा परिचय मिलता है। भयानक, बीभत्स, रौद्र तथा करुण रस के वर्णनों के श्रवण से अथवा दर्शन से श्रोता तथा दर्शक के चित्त में एक विचित्र प्रकार की क्लेशदशा उत्पन्न होती है। इन रसों के अभिनय से इसीलिये समाज उद्विग्न होता है। सुखास्वाद से कथमपि उद्वेग उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः उद्वेग का उदय होना इसका स्पष्ट प्रमाण है कि इन रसों की अनुभूति सुखात्मिका नहीं है। दुःखात्मक अनुभूति होने पर भी सामाजिक की प्रवृत्ति इसीलिये होती है कि कवि की शक्ति और नट के कौशल से वस्तु के प्रदर्शन में विचित्र चमत्कार का उदय होता है।[1]

---

१. भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादाद् उद्वेगो घटते। यत् पुनरेभिरपि

इसी चमत्कार से विप्रलब्ध दर्शक दुःखात्मक दृश्यों के देखने के लिये व्याकुल रहता है। दर्शक की प्रवृत्ति का यही कारण है। कवि की प्रवृत्ति का भी रहस्य है। लोकवृत्त का अनुकरण ही नाट्य ठहरा। जगत् की घटनाओं में ही सुख तथा दुःख का संमिश्रण इतनी विचित्रता से उपलब्ध होता है कि यथार्थता का पक्षपाती कवि अपने काव्य में दुःख के चित्रण की उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि कहा जाय कि अनुकरण के समय दुःखात्मक दृश्य सुखात्मकरूप से प्रतीयमान किए जाते हैं, तो ऐसी दशा में क्या वह अनुकरण के सम्यक् तथा शोभन माना जायगा। लोकवृत्त के सम्यक् अनुकरण के ऊपर ही तो कवि की कला आश्रित रहती है। जिस प्रकार शरबत में तीखे स्वाद वाले पदार्थों की सत्ता होने पर भी विचित्र आस्वाद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार काव्य में दुःखास्वाद की सत्ता होने पर भी उससे विरति नहीं होती, प्रत्युत विचित्र आस्वाद के कारण प्रवृत्ति ही होती है।[2]

'रसकलिका' के लेखक रुद्रभट्ट इसी मत से सहमत हैं। वे भी करुण रस की अनुभूति को दुःखात्मक मानने तथा रस को सुखदुःख उभय रूपात्मक स्वीकार करने के पक्षपाती हैं[3]। प्रसिद्ध अद्वैतवादी वेदांती मधुसूदन सरस्वती को इस मत का आंशिक समर्थन करते हुए देखकर आश्चर्य होता है। उन्होंने सांख्य तथा वेदांत पक्ष का अवलंबन कर रस निष्पत्ति की द्विविध प्रक्रिया प्रदर्शित की है। सांख्य मतानुयायी व्याख्या में रस की अनुभूति के अवसर पर आनंद में तारतम्य दिखलाया है। मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार सत्व के उद्रेक कहाँ? क्रोध में रजोगुण का प्राबल्य रहता है और शोक में तमोगुण का। परंतु सत्व की इतनी मात्रा उनमें अवश्य विद्यमान रहती है जिससे वे स्थायी भाव की कोटि पर पहुँच जाते हैं। स्वभावतः रज तथा तम के द्वारा मिश्रित होने के कारण तद्गत सत्व विशुद्ध तथा प्रबल नहीं माना जा सकता। क्रोधमूलक रौद्र रस में तथा शोकमूलक करुण-रस में विशुद्ध आनंद की सत्ता नहीं होती, प्रत्युत रज तथा तम के मिश्रण के अनुसार उनके आनंद में तारतम्य बना रहता है। इसीसे सब रसों में एक ही प्रकार के समान सुख का अनुभव नहीं होता।

द्रवीभावस्य च सत्त्वधर्मत्वात् तं बिना च स्थायिभावासम्भवात् सत्त्व गुण सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेपि रजस्तमोमिश्रणात् तारतम्यम् अवगन्तव्यम् । अतो न सर्वेसुरसेषु तुल्यसुखानुभवः।
भक्तिरसायन, पृ० २२।

यह रसानुभूति का एकांगी पक्ष है जो युक्तिहीन होने से न तो माननीय है और न आदर-णीय। लोक में वस्तुओं में नाना प्रकार की विषमता दृष्टिगोचर होती है। यह स्वरूपगत वैषम्य ही पूर्वोक्त आपत्ति का निदान है। लोक में सिंह के जिस गर्जन को सुनकर वीरपुरुषों के भी हृदय

चमत्कारो दृश्यते, स रसास्वाद विरामे सति यथावस्थित वस्तुप्रदर्शकेन कविनट शक्ति कौशलेन। अनेनैव च सर्वांगह्लादरेन कविनटशक्ति जन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। नाट्यदर्पण पृ० १५९।

२. कवयस्तु सुखदुःखात्मक संसारानुरूपेण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकर सानुविद्ध-मेव ग्रथ्नन्ति। पानरसमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते। नाट्यदर्पण, वहीं।

३. करुणाभयानामपि उपादेयत्वं समाजिकानाम् रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणेन उपपद्यते। अतएव तदुभयजनकत्वम्। रसकलिका।

में प्रबल भय का संचार होता है उसीका काव्यगत चित्रण आनंद के उदय का कारण कैसे बन सकता है। लोक तथा काव्य में साम्य दीखता है लोक में भयजनक वस्तु काव्य में विन्यस्त होने पर भय जनक ही होनी चाहिए। भय तथा सुख में भूयसी विषमता है। भयोत्पादक पदार्थ कथमपि सुखात्मक नहीं हो सकता। इस मत का यही युक्तिवाद है। यह कथमपि आश्रयणीय तथा आदरणीय नहीं है।

मत की समीक्षा

अखिल विश्व में व्यापक ब्रह्म को लक्ष्य कर तैत्तिरीय श्रुति कहती है—रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनंदी भवति[1]। वह रसरूप है। रस ही को पाकर संसार का प्राणी आनंदित होता है। यह रसात्मक ब्रह्म जगत् के प्रत्येक पदार्थ में जब रम रहा है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि इन पदार्थों में रस के उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। सुख उत्पन्न करने की योग्यता नहीं है। तथ्य बात है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ रसात्मक है, सुखात्मक है, काव्य में ग्रहीत होने पर आनंद-दायक है। इसीलिये आनंदवर्धन कवि की गरिमा तथा उत्तरदायिता का उद्घोष कर रहे हैं।[2]

न सा विद्या न सा कला
जायते यत्र काव्यांगमहो भारो महान् कवेः।

ब्रह्म सच्चिदानंद रूप है। ब्रह्मानंद संसार में समस्त आनंदों का चरम अवसान है। आनंदमय ब्रह्म से व्याप्त वस्तुओं में आनंददायिनी शक्ति विद्यमान रहती है। अतः स्वभावतः नानाप्रकृतिवाले पदार्थों में आनंद के उन्मीलन की क्षमता मानना नितांत युक्तियुक्त है।

भाव दो प्रकार का होता है। बोध्यनिष्ठ तथा बोद्धृनिष्ठ। वर्णनीय विषय में रहनेवाला तथा बोद्धा सामाजिक के हृदय में रहनेवाला। इन दोनों में बोध्यनिष्ठ स्थायीभाव अपने स्वाभावानुसार सुख, दुःख तथा मोह की उत्पत्ति का कारण बनता है, परंतु बोद्धा सामाजिक के चित्त में रहनेवाले समस्त भाव केवल सुख के ही कारण होते हैं।

बोध्यनिष्ठा यथास्वं ते सुखदुःखादिहेतवः।
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेपि सुखमात्रैक हेतवः॥
भक्तिरसायन ३।५

इस पार्थक्य के मूल में कारण है भावों की लौकिकता तथा अलौकिकता। लौकिक भाव अर्थात् संसार-गत भाव नाना प्रकार के परिणाम उत्पन्न करते हैं परंतु अलौकिक भाव अर्थात् काव्यगत भाव केवल आनंद की ही अनुभूति कराते हैं। संसार के भाव वैयक्तिक होते हैं काव्य के भाव साधारणीकृत होते हैं। वैयक्तिक संबंध के कारण ही अपनी वस्तु से प्रेम उत्पन्न होता है। शत्रु की वस्तु से द्वेष उत्पन्न होता है और तटस्थ की वस्तु से उदासीनता उपजती है। काव्य की दशा इससे सर्वथा भिन्न है। शब्द के द्वारा निबद्ध होते ही भावों से वैयक्तिकता व्यापार का उदय हो जाता है। श्रोता भावों से वैयक्तिकता का अपसरण कर देता है और उन्हें साधारण प्राणीमात्र के भाव के रूप में

१. तैत्तिरीय उपनिषद् २।८।
२. ध्वन्यालोक।

ग्रहण करता है। उपवन के बीच मलयानिल के झोके से झूमने वाला गुलाब का फूल कलाकार के लिये कोई विशिष्ट पुष्प नहीं होता प्रत्युत वह आनंद का एक सामान्य प्रतीक होता है। रंगमंच के ऊपर अभिनीत शकुन्तला किसी अतीत युग की विस्मृतप्राय सुंदरी नहीं होती, प्रत्युत एक हृदयावर्जक कमनीय नायिका की प्रतिनिधि बन कर ही प्रस्तुत होती है। इसी साधारणीकरण व्यापार के द्वारा काव्य में निबद्ध प्रत्येक पदार्थ तथा भाव में रस के उन्मीलन की अपूर्व क्षमता उत्पन्न हो जाती है। भावों को आनंददायक बनाने के लिए आवश्यकता है शोधन की। शोधन के द्वारा क्षुद्र लोहा ताँबा आदि धातुओं से बहुमूल्य सुवर्ण बनाया जा सकता है। उसी प्रकार शोधन के द्वारा भावों की भी परिणति आनंदरूप में संपन्न की जा सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान इसी प्रक्रिया को 'भावों' का शोधन या उदात्तीकरण 'सब्लीमेशन आफ इमोशन्स' के नाम से पुकारता है। भावों की परिणति यदि भोग में ही होती है, तो इस अधोगामी मार्ग से नानाप्रकार के सुखदुःखादि परिणाम उपजते हैं, परंतु उनका निरोधकर ऊर्ध्वगामी पंथ का आश्रय लेने पर वे ही भाव उदात्त बन जाते हैं तथा आनंद की ही सृष्टि करते हैं। इसीलिये रस की अनुभूति सुखात्मिका ही मानी गई है, दुःखात्मिका नहीं। अग्निपुराण की यह उक्ति इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है। वेदांत में जिस परब्रह्म को अक्षर, सनातन, अज विभु, चैतन्य तथा ज्योति आदि अभिधानों से पुकारते हैं उसका सहज स्वभाव है आनंद। उसी आनंद की प्रभा अभिव्यक्ति काव्य नाटक में 'चैतन्य' 'चमत्कार' या 'रस' के द्वारा निर्दिष्ट की जाती है। अतः परमब्रह्म के आनंद की अभिव्यक्ति होने के कारण रस सर्वदा आनंद दायक होता है, इसमें संदेह का लेश भी नहीं है :

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभु।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसाह्वया।।

अग्निपुराण, अ० ३३९,१ श्लोक १,२।

तथ्य बात यह है कि जगत् में कोई भी वस्तु कुरूप नहीं है, रसहीन नहीं है। 'रसो वै सः०'' यदि सच्चा है, तो प्रत्येक पादार्थ में रस है, सौंदर्य है तथा आनंद देने की शक्ति है। कुरूप कोई है तो हमारी ही दृष्टि है, जगत की वस्तु नहीं। कविवर रवीन्द्रनाथ ने अपने 'सौंदर्य बोध' नामक सुंदर लेख में दिखलाया है कि वास्तव सौंदर्य जगत् के पदार्थों से ऊपर उठकर किसी आदर्श संसार की वस्तु नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक पदार्थ में पूर्ण सौंदर्य स्वयं विद्यमान है। इसके ग्रहण के लिये हमारी दृष्टि विशुद्ध होनी चाहिए। अतः संसार का प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह कितना भी अशोभन या वीभत्स क्यों न हो, सुखात्मक अनुभूति का उपकरण अवश्य बन सकता है।

२.

रस पर दार्शनिक दृष्टि

द्रष्टा होने पर ही रस का अनुभव होता है। प्रकृति में लीन हो जाने पर रस का अनुभव नहीं होता। 'द्रष्टा' का अर्थ है तटस्थरूप से दर्शन करनेवाला व्यक्ति। प्रकृति के पदार्थ में लीन न

होकर पृथक् रूप से वस्तु के रूप का द्रष्टा ही प्रकृत पक्ष में रस की अनुभूति कर सकता है। जो व्यक्ति प्रकृति की वस्तुओं में आसक्तभाव से लीन हो जाता है वह केवल राग 'द्वेष' का ही अनुभव करता है, रस का नहीं। रसानुभूति के निमित्त ताटस्थ्य, तटस्थता, अनासक्तिभाव की नितांत आवश्यकता होती है। यह केवल काव्य जगत का ही मौलिक सिद्धांत नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक कला के विषय में एकांत तथ्य है। सौंदर्य की अनुभूति सर्वत्र ताटस्थ्य पर आश्रित रहती है। बगीचे में खिले हुए गुलाब फूल से उत्पन्न सौंदर्य भावना पर दृष्टिपात कीजिए। सौंदर्य की अनुभूति के अवसर पर द्रष्टा को स्वत्व या अधिकार की भावना कभी उदित नहीं होगी। उस बगीचे का स्वामी भी यदि स्वत्व की भावना से प्रेरित होता है, तो उसे आनंद का उदय नहीं हो सकता। "यह मेरा है" यह समझकर न तो कोई उसे तोड़कर अपने कानों के ऊपर रखता है और न तो उसे नाक के पास सूंघने के लिये ले जाता है। प्रत्युत वह उसे यथास्थान रहने देता है और द्रष्टा रूप से उससे आनंद ही लेता है। भगवान की लीला के अवसर पर भी यही बात होती है। प्रकृति के समग्र पदार्थों में आसक्त रहकर भी भगवान् अपने को पृथक् रखकर उन्हें देखता है, तभी उसे आनंद आता है। इस प्रकार भागवती लीला आसक्तरूप से नहीं होती, ताटस्थ्यरूप से ही होती है। इससे रस की दार्शनिक दृष्टि न तो एकांत भेदवाद की है और न नितांत अभेदवाद की, प्रत्युत 'अभेदेपि भेदः' अथवा 'भेदे प्यभेदः' ही रसोन्मीलन का दार्शनिक दृष्टिबिंदु है । यदि रसावस्था में नितांत अभेद मान लिया जाय, तो इस ऐक्यभाव में आनंद का उदय नहीं हो सकता। यदि भेद स्वीकार किया जाय, तो इस भिन्नता में भी आनंद का उद्गम संभव नहीं। सहृदय के हृदय में सहानुभूति होने पर ही भाव का उदय हो सकता है। सहानुभूति तभी उत्पन्न होती है जब व्यक्ति अपने को पृथक् रखते हुए भी वस्तु के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। यह अवस्था न पूर्णभेद की है और न पूर्ण अभेद की, प्रत्युत 'अभेदेपिभेदः' की है। रसानुभूति का यही वैशिष्ट्य है जो विख्यात दार्शनिक संप्रदायों से उसका पार्थक्य स्पष्ट ही उद्घोषित कर रहा है।

रस और न्याय दर्शन

न्यायदर्शन द्वैतवादी तत्वज्ञान है। उसका अंतिम लक्ष्य है दुःखों की अत्यंत निवृत्ति। इसके अनुसार मुक्तावस्था में जीव अपने विशिष्ट गुणों से रहित हो जाता है। इन गुणों में दुःख के साथ सुख की भी गणना है। नैयायिकों का आग्रहपूर्वक कथन है कि मुक्त आत्मा में आनंद की उपलब्धि नहीं होती। सुख के साथ राग का संबंध लगा हुआ है। और यह राग बंधन का कारण है। अतः मोक्ष को सुखात्मक मानने में राग की सत्ता सिद्ध होने से बंधन की निवृत्ति कथमपि नहीं हो सकती। 'आनंद ब्रह्म' आदि ब्रह्म को आनंदमय बतलाने वाली श्रुतियों का तात्पर्य सत्तात्मक न होकर निषेधात्मक है। उसका अभिप्राय दुःखापाय बोधन में है। लोक व्यवहार में भी तो यही बात दीख पड़ती है। सिर की पीड़ा से कराहते हुए या ज्वर के दुःखद संताप से व्याकुल हुए पुरुष का अनुभव इसी सिद्धांत को पुष्ट करता है। शिरः पीड़ा की अथवा ज्वर की निवृत्ति होने पर रोगी अपने को सुखी मानने लगता है। यहाँ हुआ केवल दुःख का अपनयन, निषेधात्मक व्यापार, परंतु माना जाता है सुख का उदयरूप सत्तात्मक व्यापार। मोक्ष की भी यही अवस्था है।

न्याय की इस प्रक्रिया में आनंदमय रस के लिये स्थान कहाँ है। दुःख बहुल संसारदशा में न उसका स्थान है और न दुःखसुखविहीन मोक्ष दशा में उसका आश्रय है। इसीलिये नैयायिकों का

वेदांतियों तथा वैष्णवों ने बड़ा ही उपहास किया है। नैयायिक मुक्ति की पूर्वोक्त कल्पना अन्य दार्शनिकों के कौतुकावह कटाक्ष का विषय है। मुक्तावस्था में समग्र अज्ञानावरणों से विमुक्त आत्मा में आनंद अंगीकार करनेवाले वेदांती श्रीहर्ष का यह उपहास जितना साहित्य की दृष्टि से रोचक है उतना ही दार्शनिक दृष्टि से युक्तियुक्त है। उनका कहना है कि जिस सूत्रकार ने सचेता पुरुषों के[१] लिये ज्ञान सुखादि विरहित शिलारूप प्राप्ति को जीवन का परम लक्ष्य बतला कर उपदेश दिया है उनका "गौतम" यह अभिधान शब्दत: ही यथार्थ नहीं है, अपितु अर्थत: भी समुचित है। वह केवल गो बैल न होकर 'गोतम' पक्का बैल, अतिशयेन गौ: गोतम: है। मुक्तावस्था में आनंदधाम गोलोक तथा नित्य वृन्दावन में सरस बिहार की व्यवस्था माननेवाले वैष्णवजन इस निरानंद मुक्ति की नीरस कल्पना से घबरा उठते हैं और भावुक हृदय से पुकार उठते हैं कि वृन्दावन के सरस निकुंजों में शृगाल बनकर जीवन बिताना हमें मंजूर है, पर नैयायिकों की मुक्ति पाना हमें कथमपि पसंद नहीं है।

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्॥

ऐसे नैनायिकों के तर्कों से आनंदरूप रस की निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। न्यायपक्ष के रसिक श्री शंकुक का यह निराधार कथन है कि अभिनय के कौशल से नट में, तदुपरांत सामाजिक में रस की निष्पत्ति अनुमान से होती है। उनका 'अनुकरणात्मको रस:' सिद्धांत केवल खंडन रस की चरितार्थता के लिये ही हमारे आलोचना ग्रंथों में निर्दिष्ट किया गया है, कोई भी आलोचक उसका मंडन तथा पोषण करने के लिये आगे नहीं आता।

सांख्य और रस

रस की व्याख्या के अवसर पर आलोचकों ने सांख्य दर्शन के तत्वों का बहुश: उपयोग किया है। मुक्तिवादी भट्टनायक सांख्यमतानुयायी रस व्याख्यान के पक्षपाती बतलाये जाते हैं। आदि रस को 'अभिमान' रूप मानने वाले भोजराज भी निश्चय ही सांख्य के ऋणी हैं, परंतु सांख्य के मौलिक मत से रस की अभिव्यक्ति का कथमपि सामंजस नहीं पटता। भट्टनायक ने अपने भोग व्यापार को 'सत्वोद्रेक प्रकाशानंदमय संविद्विश्रान्ति' रूप स्वीकार किया है। इसका अभिप्राय यही है कि रस की मुक्ति में जिस आनंदमयी संवित् का उदय होता है वह सत्य के उद्रेक से ही होती है। तीनों गुणों में सत्व ही सुखात्मक होता है। अत: उसके आधिक्य के अवसर पर आनंद का उद्गम मानना नितांत सयुक्तिक है। और इस सिद्धांत को अभिनवगुप्त आदि व्यक्तिवादी आचार्यों ने भी अंगीकार किया है। इतना मानने के लिये हम भी तैयार हैं, परंतु इसके आगे बढ़कर दोनों की समता दिखलाने में अनेक विपत्तियाँ प्रस्तुत हो जाती हैं।

---

१. मुक्तये य: शिलात्वाय शास्त्रसूत्रे सचेतसाम्
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथावित्थ तथैव स:। (नैषध चरित १७।७५)

१. सर्वसिद्धान्त संग्रह, पृ० २८

२. श्रीशंकक के मत का दारुण खंडन अभिनवगुप्त के नाट्यगुरु भट्ट तौत ने विस्तार से किया है। द्रष्टव्य अभिनव भारती खंड १

रस की अनुभूति के लिये दो वस्तुओं की विशेष आवश्यकता होती है। पहिली है पार्थक्य और दूसरी है संयोग। प्रथमतः वियोग, तदनंतर संयोग। प्रथमतः विरह, अनंतर मिलन। विरहावस्था रसानुभूति की प्रक्रिया में एक अत्यंत आवश्यक शृंखला है। विरह मिलन की माधुरी का जनक है। बिना विरह हुए क्या मिलन कभी आनंददायक हो सकता है। विप्रलंभ के ऊपर कविजनों के आग्रह का यही रहस्य है। अलकापुरी से यक्ष को बिना निर्वासित किये उसका अपनी प्रेयसी से मिलन क्या आनंदमय माना जा सकता है। इसीलिये कालिदास ने विरह में आनंदानुभूति की महिमा गाते हुए कहा है :—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगाद्।
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति॥
उत्तरमेघ, ५१ श्लोक।

विरह की दशा में स्नेह अंतर्हित हो जाता है, सचमुच रसानभिज्ञ मूर्खों की ही यह कल्पना है। वे निरे सीधे कवि यह ठीक नहीं जानते कि विरह में भोग न होने के कारण इष्ट वस्तु के विषय में स्नेह कम नहीं होता, प्रत्युत उसका आनंद वृद्धिगत होकर वह प्रेम का महनीय भंडार बन जाता है। अतः विरह के अनंतर संयोग की पुष्टता तथा प्रौढ़ता कविजन मान्य है। कालिदास का यह स्नेहविषयक कथन रस के मौलिक तथ्य का परिचायक है।

रस का यह वैशिष्ट्य सांख्यमत में कथमपि सिद्ध नहीं होता। सांख्य मत में आरंभ से ही पुरुष प्रकृति के साथ संयुक्तावस्था में वर्तमान रहता है। परंतु इस दशा में रस का उदय नहीं हो सकता, क्योंकि यह है अज्ञान दशा। पुरुष अपने शुद्ध रूप को कथमपि जानता ही नहीं। पुरुष स्वभावतः असंग तथा मुक्त है, परंतु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग आरंभ से ही निष्पन्न हो गया है। तत्वज्ञान से विवेक ख्याति उत्पन्न होती है। तब पुरुष प्रकृति से अपने को पृथक् कर लेता है। अतः रस का प्रथम पक्ष पार्थक्य तो संपन्न हो गया, परंतु संयोगरूप द्वितीय पक्ष अभी तक उदित नहीं हुआ। ज्ञानी पुरुष के सामने प्रकृति की समस्त लीलायें स्वतः बंद हो जाती हैं। इस विषय में सांख्याचार्य प्रकृति की तुलना उस अभिनयशीला नटी के साथ करते हैं[1] जो रंगस्थल में उपस्थित दर्शकों के सामने अपनी कलाबाजी दिखलाकर कृतकार्य होकर नर्तन व्यापार से स्वतः निवृत्त हो जाती है। वस्तुतः प्रकृति से सुकुमारतर व्यक्ति दूसरा है ही नहीं। वह इतनी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के द्वारा अनुभूत हो जाने पर उसके सामने उपस्थित ही नहीं होती।[2]

विवेकी व्यक्ति के सामने प्रकृति का कोई व्यापार ही नहीं होता। उस प्रयोजन की सिद्धि होने पर प्रकृति का व्यापार स्वयं विराम को प्राप्त कर लेता है। यही है सांख्यानुसार मोक्ष की

१. रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥
सांख्य कारिका, ५९।

२. प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति पुनर्नदर्शनमुपैति पुरुषस्य॥
सांख्यकारिका, ६१ का०।

कल्पना। सांख्यसूत्र ३।६५ के अनुसार अपवर्ग है दोनों प्रकृति पुरुष का परस्पर वियोग होना या एकाकी होना अथवा पुरुष की प्रकृति से पृथक् स्थिति केवल रूप में रहना। मुक्तावस्था में पुरुष को यह निश्चित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है[1] कि 'नास्मि' में स्वभावतः निष्क्रिय हूं, क्योंकि मुझ में किसी प्रकार की क्रिया का संबंध नहीं है। 'नाहम्' क्रिया के निषेध होने से मुझ में किसी प्रकार का कर्तृत्व नहीं है। 'न में' असंग होने के कारण किसी के साथ मेरा स्वस्वामिभाव संबंध नहीं है। इस प्रकार क्रियाहीनता, संगहीनता तथा कर्तृत्वहीनता का उदय मुक्त पुरुष में प्रकृति के व्यापार विरत होते ही होने लगता है।

यही है सांख्यानुयायी अपवर्ग की कल्पना। इस प्रक्रिया में रस के लिए कहीं स्थान नहीं है। रस के लिये पार्थक्य तो यहाँ विद्यमान है, परंतु तदनंतर संयोग की सत्ता कैवल्य संपन्न पुरुष में कहाँ। प्रकृति की लीला का ही जब अवसान हो गया है, तब पुरुष आनंद का अनुभव ही किस प्रकार कर सकता है। रस के लिये उपयोगी विरहानंतर मिलन की कल्पना यहाँ नितांत असंभव है। रस के लिए चाहिए प्रकृति पुरुष का ज्ञानपूर्वक ६३ का संबंध, परंतु सांख्य मुक्ति में विद्यमान रहता है पुरुष प्रकृति का ज्ञानपूर्वक ३६ का संबंध। अतः सांख्य सिद्धांत के अनुसार रस की यथार्थ निष्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती।

वेदांत और रस—

जगत् में आनंद तीन प्रकार का होता है। १. विषयानंद, २. ब्रह्मानंद तथा ३. रसानंद ब्रह्म सच्चिदानंद रूप है। वह स्वयं आनंद रूप है। उसी आनंदमय ब्रह्म से प्राणी उत्पन्न होते हैं, जीते और अंत में उसीमें लीन हो जाते हैं[1]

आनंदाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनंदेन जातानि जीवन्ति।
आनंदे प्रयंत्यमिसंविशन्तीति।
आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात् तैत्तिरीय उपनिषद्॥ ३।६।१।

आनंद की उच्चतम कोटि ब्रह्मानंद है जिसके अंतर्गत जगत् के समस्त आनंद सिमिटकर एकत्र हो जाते हैं। इस आनंदमय ब्रह्म से ही आनंद की मात्रा ग्रहण कर जगत् की वस्तुओं में आनंद उपलब्धि होती है। एतस्यैव आनंदस्य अन्य आनंदा मात्रामुपजीवंति। इन तीनों में विषयानंद हेय है तथा अन्य दोनों आनंद उपादेय हैं। इन तीनों की स्थिति वासना या काम के ऊपर निर्भर है। विषयानंद की अपेक्षा रसानंद नितांत विलक्षण तथा उदात्त है, विषयानंद लौकिक है, रसानंद अलौकिक। अशुद्ध वासना तथा सम भाव की सत्ता रहने पर ऐश्वर्य की प्राप्ति हो सकती है, परंतु रस-उपलब्धि नहीं हो सकती।

---

१. एवं तत्वाभ्यासान नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥
सांख्य कारिका, ६४ का०।

ब्रह्मानंद और रस

अब ब्रह्मानंद तथा रसानंद के परस्पर वैलक्षण्य की मीमांसा आवश्यक है। भट्टनायक ने रस को 'ब्रह्मानंद सचिव:' तथा विश्वनाथ कविराज ने 'ब्रह्मानंद सहोदर:' कहा है, 'ब्रह्मानंदरूप:' नहीं कहा। तथ्य बात यह है कि ब्रह्मानंद तथा रसानंद में आकाश पाताल का अंतर विद्यमान है। ब्रह्मानंद वासना या कामना के उच्छेद से उत्पन्न होता है। परंतु रसानंद वासना के विशोधन से साध्य होता है। सकाम भाव में वासना अवश्यमेव रहती है, परंतु यह वासना होती है अशुद्ध जो विषय की ओर ही प्राणियों को ले जाती है। ब्रह्म प्राप्ति के अवसर पर इस वासना का सर्वथा उन्मूलन आवश्यक होता है, क्योंकि वासना की कणिका के शेष रहते आत्मा कभी बंधन से उन्मुक्त नहीं हो सकता, अत: वासनाक्षय वेदांत में मुक्ति के लिये नितांत आवश्यक उपकरण होता है, साहित्यशास्त्र के अनुसार स्थायीभाव की ही तो रस रूप में परिणति होती है, परंतु वेदांतमत में वासनारूपी स्थायिभाव ही अविद्यमान रहता है तब रस का उन्मीलन किस प्रकार हो सकता है। वह भित्ति ही नहीं है जिस पर प्रासाद खड़ा किया जाय। वह बीज ही नहीं है जो वृक्ष के रूप में परिणत होकर आनंद और छाया प्रदान करे। काम का सर्वथा उन्मूलन वेदांतमत में वह प्रबल साधन है जो रसोन्मेष का नितांत विरोधी है। रस की निष्पत्ति के लिये काम का उन्मूलन अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत विशोधन आवश्यक है। वासना का विषम विषदंत है सकाम भावना। इस विषदंत को बिना उखाड़े वासना का शोधन नहीं होता। रस की उपलब्धि के हेतु सकाम भाव को निष्काम भाव में परिणत होना ही होगा। इसी भावशुद्धि को बौद्ध लोग 'परावृत्ति' के नाम से तथा आधुनिक मनोवैज्ञानिक सब्लीमेशन आव इंस्टिंक्टस् के अभिधान से पुकारते हैं। आलोचना-शास्त्र साधारणीकरण व्यापार को भाव विशोधन का एकमात्र साधन अंगीकार करता है। वैयक्तिक संबंध की कल्पना ही भावों की अशुद्धि का कारण होता है। 'ममेयं रति:' यह मेरा प्रेम है कहनेवाला व्यक्ति व्यक्तिगत संबंध की स्थापना कर अपने भाव को कलुषित तथा मलिन बना देता है। विभावादि व्यापार के द्वारा वैयक्तिक संबंध के अपसारण से ही मलापनयन होता है और भाव अपने विशुद्ध रूप में चमक उठते हैं। इसका आशय यही है कि वासनाक्षय के ऊपर आश्रित ब्रह्मानंद से वासना शुद्धि पर आधारित रसानंद की तुलना कथमपि नहीं की जा सकती।

वेदांत के अनुसार लोक दशा में त्रिपुटी विद्यमान रहती है, पर ब्रह्मानंद की दशा में त्रिपुटी का सर्वथा भंग हो जाता है। यह त्रिपुटी है, ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान। "आत्मा विषय को जानता है" यहाँ व्यवहारदशा में इन तीनों की सत्ता विद्यमान रहती है। तीनों वस्तुओं की सत्ता संसार दशा में पृथक् रूप से रहती है, परंतु मोक्षदशा में यह त्रिपुटी सिमिटकर ब्रह्म में ही लीन हो जाती है। एक सच्चिदानंद, अखंड न ज्ञेय की और न ज्ञान की ही सत्ता पार्थक्येन सिद्ध होती है। परंतु रसोन्मेष की दशा में त्रिपुटी का "भंग नहीं होता, त्रिपुटी की सत्ता सिद्ध ही रहती है। इस प्रसंग में मम्मट तथा विश्वनाथ के शब्द ध्यान से अवधारणीय हैं। उनका कथन "तत् काल विगलित परिमितप्रमातृभाववशोन्मिषित वेद्यान्तरसम्पर्क शून्यापरिमिति भावेन प्रमाणा वेद्यान्तरस्पर्श शून्य:" अर्थात् रसदशा में अन्यवेद्य पदार्थ का स्पर्श तक नहीं रहता। 'वेद्यान्तर' शब्द इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि दूसरी वेद्य वस्तु रसदशा में नहीं होती, वेद्यरूप रस ही विद्यमान रहता है। 'अपरप्रमाता' 'परप्रमाता' के रूप में केवल बदल जाता है, परंतु उसके प्रमातृत्व का उपशम नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि रस की उन्मीलन अवस्था में प्रमाता सामाजिक विद्यमान रहता है, प्रमेय रस विद्यमान रहता है तथा तत्संबंधी प्रमा भी विद्यमान रहती है। अतः त्रिपुटी के सद्भाव के कारण इसे ब्रह्मानंद, प्रपंचातीत आनंद होता है जिसे मुक्त पुरुष ही अपनी अनुभूति में लाते हैं, परंतु रसानंद प्रपंचगत आनंद है जिसके आस्वाद का अधिकार मुक्त पुरुष के समान बद्ध पुरुष को भी सर्व प्रकारेण सिद्ध है। इसी वैषम्य को लक्ष्य कर वेदांत के परम मर्मज्ञ महाकवि श्री हर्ष ने दमयंती की रूपमाधुरी के वर्णनप्रसंग में बड़ी ही सुंदर उक्ति कही है :

ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत् प्रमोदं रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽस्याः ।
यायौचितीत्थं तदशेषदृष्टावथ स्मराद्वैत मुदं तथासौ ॥
नैषध ७।३

राजा नल ने दमयंती के रोम के अग्रभाग को ही प्रथमतः देखकर ब्रह्माद्वैत के आनंद का अनुभव किया। अतः उचित ही था कि दमयंती के समग्र शरीर के अवलोकन से वह कामाद्वैत के आनंद का अनुभव करता। श्री हर्ष की दृष्टि में रसानंद, ब्रह्मानंद की अपेक्षा बड़ी ही उत्कट कोटि की वस्तु ठहरता है। दमयंती के विशेष अंग का नहीं बल्कि अंग के बिल्कुल ही छोटे अंश के स्वल्प भाग का अवलोकन नल के हृदय में ब्रह्मानंद का उद्गम करता है, तो संपूर्ण शरीर का साक्षात्कार उससे कितनी अधिक मात्रा में आनंद उत्पन्न करेगा। अद्वैत वेदांती जो केवल ब्रह्माद्वैत से ही परिचित हैं, बिल्कुल ही नहीं जानते कि साहित्य जगत का सर्वस्वभूत रसाद्वैत कितना सरस, आनंदमय तथा रुचिरतम पदार्थ है। ब्रह्मानंद रसानंद की तुलना में एक नगण्य वस्तु है जिसकी अभिलाषा जगत् के कोमल कलित भावों से परांमुख विरक्तजनों के ही हृदय को उद्वेलित किया करती है। भावशोधन के ऊपर आश्रित रसानंद संसार के कमनीय पदार्थों में अनुरक्त अथ च अनासक्त व्यक्तियों के चित्त को आकृष्ट करनेवाला अलौकिक पदार्थ है। इस प्रकार रागात्मिका अनुभूति का स्थान शुष्क ज्ञानात्मिका अनुभूति की अपेक्षा कहीं उच्चतर होता है। इसीलिये रस 'ब्रह्मानंद सहोदर' माना जाता है, ब्रह्मानंद रूप नहीं।

आनंदः परमो रसः

विषय की सूक्ष्म समीक्षा करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। पंडितराज जगन्नाथ का रस विवेचन नितांत मार्मिक और तलस्पर्शी है। उनका कथन है कि जिस प्रकार सविकल्पक समाधि में, ज्ञाता ज्ञेय के पृथक् अनुसंधान वाली समाधि में, योगी की चित्तवृत्ति आनंदमयी हो जाती है, उसी प्रकार रसास्वादन के अवसर पर सहृदय की चित्तवृत्ति स्थायीभाव से संवलित स्वस्वरूपानंदात्मिका हो जाती है अर्थात् उसकी चित्तवृत्तिको उस समय स्थायी भाव से युक्त आत्मानंद के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का बोध नहीं होता[1]। समाधिस्थित योगी की उपमा सहृदय के अनुभव को निर्विकल्पक

---

१. विभावादिचर्वणमहिम्ना सहृदयस्य निज सहृदयतावशोन्मिलितेन तत्तत् स्थाय्युपहित स्वस्वरूपानंदाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्ति रुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।
रस गंगाधर पृ० २२।
समाधौ सविकल्पक समाधौ, निर्विकल्पके तदनंगीकारादिति बोध्यम्—नागेशकृत व्याख्या।

समाधि में रमनेवाले योगी की अनुभूति से पृथक् सिद्ध करने के लिये यहाँ दी गई है। निर्विकल्पक समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय का पृथक् पृथक् अनुसंधान नहीं रहता, वहाँ किसी प्रकार का विकल्प रहता ही नहीं, योगी ब्रह्मानंद में लीन हो जाता है। यह रसानंद की अवस्था नहीं है। अतः सहृदय की तुलना 'सविकल्पक योगी' के साथ निष्पन्न कर पंडितराज पूर्वोक्त विवेचन की पुष्टि कर रहे हैं।[1] यह रसानंद अन्य लौकिक सुखों के समान नहीं है, क्योंकि वे सब सुख अन्तःकरण से युक्त चैतन्यरूप होते हैं अर्थात् इनकी अनुभूति के समय चैतन्य का और अन्तःकरण की वृत्तियों का योग रहता है, परंतु रस का आनंद शुद्ध चैतन्य रूप, अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्य नहीं होता। इस अनुभव के समय चित्तवृत्ति आनंदमयी हो जाती है और यह आनंद अनवच्छिन्न रहता है। अन्तःकरण की वृत्तियों के द्वारा इसका अवच्छेद नहीं होता। अतः लौकिक आनंद से रसानंद की विशिष्टता दार्शनिक दृष्टि से स्फुटतर है।[2] पंडितराज जगन्नाथ के शब्दों में रस का रूप है भग्नावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रसः। चैतन्य के ऊपर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है जिसका अपनयन विभावादि व्यापार के द्वारा सिद्ध होता है। उस दशा में अज्ञानरूप आवरण से रहित जो चैतन्य है उससे युक्त स्थायीभाव को 'रस' कहते हैं। अथवा 'रसो वै सः' आदि ब्रह्म को रसरूप बतलानेवाली श्रुतियों के सारस्य से स्थायीभाव से युक्त तथा अज्ञान आवरण से विरहित चैतन्य का ही नाम 'रस' है। "रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिद् एव रसः"। रस कोई इतर पदार्थ नहीं है, प्रत्युत वह चैतन्यरूप ही है जिसके ऊपर से अज्ञान का आवरण हट गया है तथा जिसमें रति आदि स्थायीभाव विशेषतया भासित होते हैं।

पंडितराज ने अभिनवगुप्त आदि व्यक्तिवादियों की ही रस व्याख्या का दर्शन दृष्टि से परिष्कार किया है। अभिनवगुप्त की स्पष्ट उक्ति है "रसना च बोधरूपैव, किंतु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणा, उपायानां विभावादीनां लौकिक वैलक्षण्यात्" अभिनव भारती (पृ० २८६) रसना आस्वाद ज्ञानरूप ही होता है, परंतु अन्य लौकिक ज्ञानों से यह विलक्षण होता है, क्योंकि इसके उत्पादक साधन विभाव आदि स्वतः लौकिक साधनों की अपेक्षा विलक्षण होते हैं। अविनवगुप्त के इसी वाक्य की व्याख्या पंडितराज ने दार्शनिक पद्धति से की है।

वस्तुतः आनंद ही रस है। रस एक है, अनेक नहीं। रस रस ही है। उसके लिये किसी पर्याय शब्द की आवश्यकता नहीं होती। रस ब्रह्म के समान है। रस स्फोट के सदृश है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। नानात्मक विकृतियाँ असत्य हैं। उसी प्रकार शृंगार हास्य आदि रस की अनेकता तथा पार्थक्य वस्तुतः असत्य है। रस ही एकमात्र सत्य है। रस अंशी है। शृंगारादि रस उसके अंशमात्र है। अभिनवगुप्त के प्रामाण्य तथा भाष्य के अनुसार भरतमुनि का यही मत है। उन्होंने मूलस्थानीय रस के लिये 'महारस' शब्द का प्रयोग किया है तथा अंशभूत रसों को केवल 'रस' शब्द से अभिहित किया है। रस की एक रूपता की सिद्धि के हेतु भरत ने इस विख्यात वाक्य में एकवचन का ही प्रयोग किया है।

---

१. इयं च परमब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा। विभावादिविषय संवलितचिदानंदालम्बनत्वात्। वही, पृ० २३।

२. आनन्दोह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः। अंतःकरणवृत्तिरूपत्वात्। रसगंगाधर पृ० २२,२३

न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।

नाट्यशास्त्र पृ० २७३,७४।

अभिनव की व्याख्या

एकएव तावत् परमार्थतो रसः सूत्र स्थानत्वेन रूपके प्रतिभाति।

तस्यैव पुनर्भागदशाविभागः। अभिनवभारती। पृ० २७३।

तथा च 'रसादृते' ६।३३ इत्यत्र एकवचनोपपत्तिः। ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोटदृशीव असत्यानि वा, अन्विताभिधानदृशीव उभयात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वयदृशीव तत् समुदायरूपाणि वा, रसान्तराणि भागाभिनिवेश दृष्टानि रूप्यन्ते। अभिनवभारती, पृ० २६९।

कवि कर्णपूर ने अपने 'अलंकार कौस्तुभ' में इस मत की बड़े परिष्कार के साथ व्याख्या की है। इन्होंने महारस के निमित्त एक विलक्षण स्थायीभाव ही की कल्पना की है। इस स्थायी भाव का नाम है *आस्वादांकुरकंद, जो रसावस्था में आस्वाद का अंकुर उपजता है उसका यह भाव कंद* अर्थात् बीज है। जब चित्त रज तथा तम से हीन होकर शुद्ध सत्व में प्रतिष्ठित होता है तब उसका जो विशिष्ट धर्म या स्वभाव होता है उसीका नाम है आस्वादांकुर कंद। यह चित्त का ही गुण है। जब रज तथा तम गुणों की सत्ता से चित्त लुब्ध नहीं होता, प्रत्युत सत्वगुण के प्राचुर्य के कारण नितांत शांत रहता है और विश्रांति का अनुभव करता है, तब उसकी आनंदमयी तथा शांत स्थिति 'आस्वादांकुरकंद' के अभिधान से पुकारी जाती है।

आस्वादांकुरकंदोस्ति धर्मः कश्चन् चेतसः।
रसस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्ध सत्त्वतया सतः॥

अलंकार कौस्तुभ, का० ६३।

यह रसानंद के उदय होने की पूर्वावस्था है। *यह सब रसों की साम्यावस्था है।* यही स्थायी विभावादि के *साहाय्य से रसरूप में परिणत हो जाता है। 'आस्वादांकुर कंदोसौ भावः स्थायी रसायते'* कारिका ६२। आनंदधर्म होने से रस एक ही होता है। भाव उपाधिस्थानीय होते हैं। जिस प्रकार जपाकुसुम आदि उपाधि के सन्निधि में शुद्धवर्ण स्फटिक नानावर्ण का प्रतीयमान होता है अथवा सूर्य का प्रतिबिंब एक होने पर भी जलगत् उपाधि भेद से नाना प्रतीत होता है उसी प्रकार यह स्थायी भाव रति, उत्साह, *भय आदि भावों के कारण शृंगार, वीर, भयानक* आदि रस के रूप में भासित होता है। रसगत समस्त भेद उपाधिजन्य है, स्वगत जन्य कोई भी भेद नहीं है,

रसस्य आनन्दधर्मात् एकध्यं भाव एव हि।
उपाधिभेदान्नानात्वं रत्यादय उपाधयः॥[1]

अलंकार कौस्तुभ, कारिका ७१।

अतः आनंदमय रस ही 'महा रस' है। अन्य रस उस मूल महारस के केवल विकार मात्र हैं। इसलिये रस वस्तुतः एक रूप ही है। भारतीय साहित्यशास्त्र का सर्वस्वभूत सिद्धांत है...एको रसः।

---

१. रत्यादयः स्थायिनः यथा नानाविधशराव सलिल तारतम्येपि तरणि बिम्बप्रतिबिम्ब एक एव। तथा उपाधिगत एवभेदो नानंदकतो रसस्य। आनंदधर्मत्वात् परमानंदरूपत्वात् एकध्यम् एक विधत्वंरसस्य। वृत्ति, पृ० १३०।

जय हो उन जलनेवालों की

रामऋषि

जय हो उन जलनेवालों की

लहरों में कम्पन भरने का किसके उन्मद आदेश लिये
प्राणों के पंकज के जग में खिलने के नव संदेश लिये
शुचि रश्मिकला के प्रतिनिधि वे वसुधा पर नवल चरण धरते
मानव के अभिहित मंगल का केवल मग एक वरण करते
अभिशाप-गरल पी जाने को निर्व्याज मचलनेवालों की

उनके अभिनंदन में झुकता आकुल यह विश्व गरलवाला
चितवन से अविरल चल पड़ती सद्यः मनुहार किरनमाला
संकेत नयन के कोरों के जड़ता-हिमखण्ड गला देते
वे सम्मोहक संवेदन से प्रति उर के दुख सहला देते
आलोक-दान के व्रत अभिनव मृदु मोम पिघलनेवालों की

सब में आह्लाद जगा देती उनकी भोली मुस्कान मदिर
वे अपनी वाणी में कहते अब श्रेय देख लें मूक बधिर
उनके नयनों के पानी से संसृति के कन-कन स्नात हुए
करुणा की धारा में कल्मष बह गए धवल शुभगात हुए
तन्मयता के साधक अपनी मधुगति में चलनेवालों की

वे रागातीत हृदय जिनमें करते सुतृप्ति-सद्काम शयन
जीवन की समतल वेदी पर होता कल्याण-कला, प्रणयन
दीपित सुविचारों के मख में झरते इच्छा के कुसुम-चयन
प्राणों में प्राणों के करते अस्तित्व व्याज से महायजन
निष्कम्प दीप की लौ अपने प्रसाद में बलनेवालों की
जय हो उन जलनेवालों की

मथुरा-कला में ब्रह्मा

कृष्णदत्त वाजपेयी

हिंदू देवताओं में ब्रह्मा का स्थान बहुत ऊँचा है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीनों महान देवता 'त्रिदेव' या 'त्रिमूर्ति' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वेदों में ब्रह्मा की संज्ञा 'प्रजापति' मिलती है। वे यज्ञ या कर्मकांड के अधिष्ठातृ देवता माने गए हैं। वैदिक साहित्य, पुराणों और आगम ग्रंथों में ब्रह्मा के आविर्भाव का तथा फिर उनके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन मिलता है। संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार—इन तीन कार्यों में से पहले के नियंता ब्रह्मा हैं, दूसरे के विष्णु और तीसरे के शिव। इस कार्य-विभाजन से ही ब्रह्मा के महत्त्व का पता चल सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभ में ब्रह्मा की पूजा का काफी प्रचार था और उनका गौरव विष्णु और शिव की अपेक्षा किसी प्रकार कम न था। परंतु धीरे-धीरे इन त्रिदेवों में ब्रह्मा का महत्त्व कम होने लगा। इसके जो कारण मिलते हैं उनमें एक तो ब्रह्मा और शिव के बीच प्रतिस्पर्धा का बढ़ना और दूसरे ब्रह्मा का चरित्र-दौर्बल्य मुख्य हैं। वैष्णव और शैव मतों के पारस्परिक सहयोग ने ब्रह्मा के प्रभाव को कम कर दिया। भारत में या उसके बाहर ब्रह्मा की जो प्राचीन मूर्तियाँ मिलती हैं उनकी संख्या विष्णु या शिव की मूर्तियों की अपेक्षा बहुत कम है। ब्रह्मा के मंदिर तो इने-गिने ही मिलते हैं। त्रिदेवों में ब्रह्मा की परवर्ती स्थिति का पता उन त्रिमूर्ति प्रतिमाओं से चलता है जिनमें मध्यवर्ती स्थान या तो शिव को दिया गया है या विष्णु को, परंतु ब्रह्मा को नहीं। ऐसी प्रतिमाएँ दक्षिण भारत से बड़ी संख्या में मिली हैं। इनमें शेष दो देव (ब्रह्मा और शिव अथवा ब्रह्मा और विष्णु) मध्यस्थ देवता के अगल-बगल से निकलते हुए दिखाए जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूर्तिकला में विष्णु और शिव—इन दोनों को तो प्रधानता दी गई पर ब्रह्मा को नहीं।

ब्रह्मा की मूर्ति-रचना के संबंध में विष्णुपुराण, रूपमंडन, सुप्रभेदागम, शिल्परत्न आदि ग्रंथों से विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।[१] इन ग्रंथों के अनुसार ब्रह्मा को चार मुखवाला[२] बनाना चाहिए।

---

१. देखिए गोपीनाथ राव कृत हिंदू आइकॉनोग्राफी, जिल्द २, भाग२, पृ० ५०३–६।

२. पहले ब्रह्मा पाँच मुख वाले थे। पाँचवाँ मुख, जो बिलकुल ऊपर था, शिव के द्वारा काट

ये चार मुख चारो वेद, चारो युग एवं चारो वर्ण के सूचक हैं। प्रत्येक दिशा की ओर एक एक सिर होना चाहिए। ब्रह्मा के चार हाथ बनाने चाहिए। उन्हें या तो खड़ा हुआ या पद्मासन पर अथवा हंस के ऊपर बैठा हुआ अंकित करना चाहिए। उनके सिरों के ऊपर जटामुकुट होना चाहिए
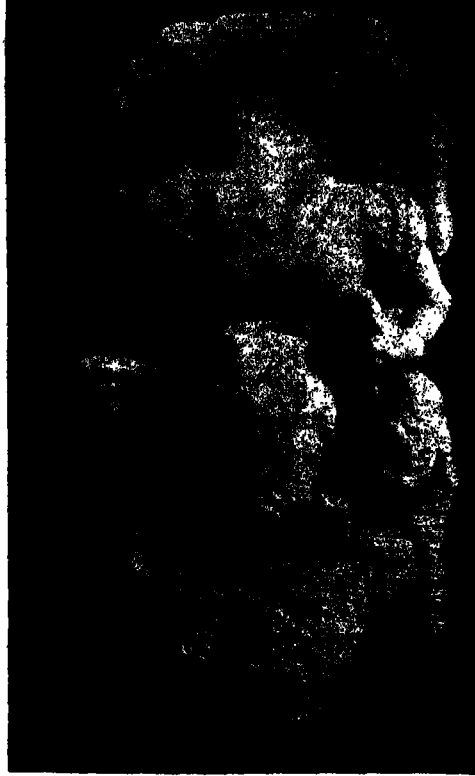
मथुरा कला में ब्रह्मा फलक १

कुषाण-कालीन ब्रह्मा की चतुर्मुखी मूर्ति

—मथुरा संग्रहालय

डाला गया। तब से चतुर्मुख ही रह गये। संभवतः शिव की इस विजय के उपलक्ष्य में तथा ब्रह्मा के ऊपर उनका उत्कर्ष जताने के लिये ही शिव की पंचमुखी प्रतिमाएँ बनाई गईं। ऐसी प्रतिमाओं की संख्या कम अवश्य है। इस प्रकार की सब से प्राचीन शिव की मूर्ति भीटा (जि० इलाहाबाद) से प्राप्त ई० पूर्व द्वितीय शती की है। (देखिए चित्र ८)।

और अंगों पर विविध आभूषण तथा वस्त्र। हाथों में अक्षमाला, कमंडलु, श्रुवा, पुस्तक (वेद) तथा कूर्च (कुशा) होना चाहिए। रूपमंडन में ब्रह्मा के दाढ़ी दिखाना आवश्यक बताया गया है। विष्णुपुराण में ब्रह्मा को सात हंसों के द्वारा खींचे जानेवाले रथ पर बैठाया जाना कहा गया है। अधिकतर उनके बाईं ओर उनकी स्त्री सावित्री की प्रतिमा का बनाया जाना लिखा मिलता है, परंतु कहीं-कहीं ब्रह्मा के अगल-बगल सरस्वती या सावित्री की प्रतिमा बनाने का उल्लेख मिलता है।

मथुरा-कला में ब्रह्मा फलक २

कुषाणकालीन ब्रह्म-मूर्ति का पृष्ठभाग

——मथुरा संग्रहालय

जिस प्रकार ब्राह्मणधर्म संबंधी अन्य अनेक देवी देवताओं की प्रतिमाओं का सर्वप्रथम निर्माण मथुरा में हुआ उसी प्रकार ब्रह्मा की भी सब से प्राचीन प्रतिमाएँ मथुरा कला में ही मिली हैं।

ब्रह्मा की गुप्त तथा मध्यकालीन मूर्तियाँ तो अन्य स्थानों में भी मिलती हैं परंतु कुषाण कालीन प्रतिमाएँ अन्यत्र नहीं मिली हैं। मथुरा में कुषाणकाल से लेकर मध्यकाल तक की ब्रह्मा की अनेक मूर्तियाँ अब तक प्राप्त हो चुकी हैं। प्रायः सभी वहाँ के चित्तीदार लाल पत्थर की या मँजीठी पत्थर
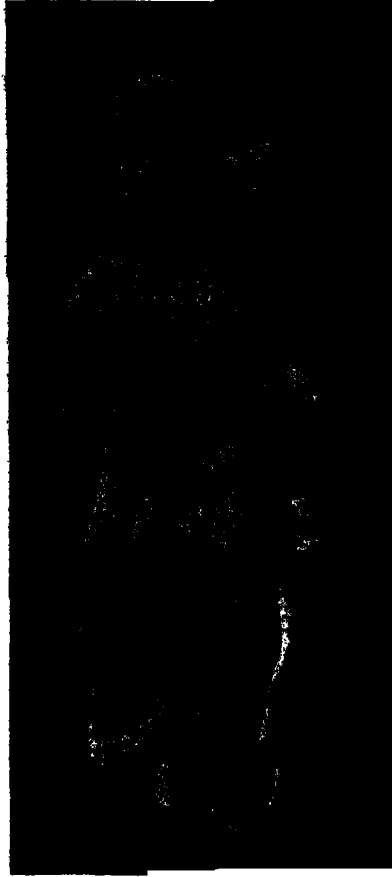
मथुरा कला में ब्रह्मा फलक ३

ब्रह्मा की खड़ी हुई मूर्ति, जिसके अब केवल दो सिर अवशिष्ट हैं, (कुषाण काल)

—मथुरा संग्रहालय

की बनी हुई हैं और मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनमें से कुछ उल्लेखनीय मूर्तियों की चर्चा यहाँ की जाती है।

मथुरा-कला में ब्रह्मा की सब से प्राचीन मूर्ति संग्रहालय की ३८२ संख्यक मूर्ति है (चित्र १)। यह मूर्ति आरंभिक कुषाणकाल की है। इसमें ब्रह्मा के तीन मुखों को तो एक सीध में दिखाया गया है और चौथा मुख बीच वाले सिर के ऊपर अर्धमूर्ति के रूप में प्रदर्शित किया गया है। बीचवाले सिरमें कुंडल तथा एकावली दिखाई गई है। धड़ का कुछ भाग अवशिष्ट है; दोनों हाथ टूट गए हैं। बाएँ कंधे पर पड़ा हुआ उत्तरीय का कुछ भाग दिखाई पड़ रहा है। ऊपरवाले चौथे सिर के चारो ओर एक प्रभामंडल है, जैसा कि मथुरा से मिली हुई कुषाणकालीन बुद्ध एवं बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं में मिलता है। अभयमुद्रा में उठा हुआ दाहिना हाथ तथा बाएँ कंधे पर पड़ा हुआ वस्त्र भी उक्त मूर्तियों की याद दिलाता है।
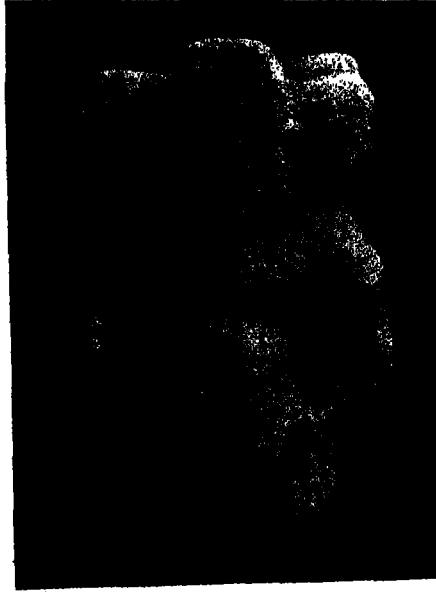
मथुरा कला में ब्रह्मा फलक ४

गुप्तकालीन ब्रह्मा; बीचवाले मुख की दाढ़ी दर्शनीय है।

—मथुरा संग्रहालय

मूर्ति के पिछले भाग (चित्र ३) पर एक पुष्पित अशोक वृक्ष दिखाया गया है। रक्ताशोक का वृक्ष प्राचीन मथुरा में बहुत होता था, परंतु अब इसके दर्शन भी यहाँ दुर्लभ हैं। अशोक का वृक्ष इस मूर्ति में शोभा के लिये प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार के अलंकरण मथुरा से प्राप्त अन्य कितनी ही मूर्तियों पर भी मिले हैं। ब्रह्मा की यह मूर्ति अपने ढंग की अनोखी कृति है। इस

प्रकार की प्रतिमा का लक्षण, जिसमें चौथा सिर इस ढंग से ऊपर प्रदर्शित किया जाय[३], उपर्युक्त ग्रंथों में नहीं मिलता।

मथुरा कला में ब्रह्मा फलक ५

पद्मासन पर खड़े हुए ब्रह्मा
उत्तर मध्यकाल
—मथुरा संग्रहालय

---

३. खजुराहो से मिली हुई कार्तिकेय की एक प्रतिमा में इसी प्रकार तीन सिरों को एक पंक्ति में दिखाया गया है और उनके ऊपर शेष तीन सिर दूसरी पंक्ति में दिखाए गए हैं। देखिए श्री बी० एल० धामा कृत "खजुराहो", फलक १२, चित्र स।

इसी प्रकार की एक दूसरी ब्रह्मा की मूर्ति भी मथुरा से मिली है (संग्रहालय सं० २१३४)। यह पहलीवाली मूर्ति से छोटी है। इसमें भी सिर उसी प्रकार दिखाए गए हैं, परंतु इसमें विशेषता यह है कि नीचे के तीनों मुख दाढ़ीयुक्त हैं तथा उनपर के जटाजूट भी अधिक अलंकृत हैं। यह मूर्ति चित्र १ वाली मूर्ति से बाद की बनी हुई है। इसका रचना-काल तृतीय शती का अंतिम भाग कहा

मथुरा कला में ब्रह्मा फलक ६
ब्रह्मा और सावित्री
पूर्व मध्यकाल

—मथुरा संग्रहालय

जा सकता है। हाल में ही लेखक को ब्रह्मा की दो नवीन मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इनमें से एक (संग्र० सं० ३३७६) वृंदावन के मदनमोहन मंदिर के समीप से मिली है और दूसरी (सं० ३४२३) मथुरा

शहर में चौबों की एक बगीची से। इन दोनों मूर्तियों का केवल ऊपरी भाग बचा है। दोनों में ब्रह्मा के तीन ही सिर दिखाए गए हैं, चार नहीं । तीनों सिर-दाढ़ी तथा जटाजूट से युक्त हैं। इन दोनों मूर्तियों की रचना, लगभग चौथी शती के प्रारंभ में हुई होगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग ई० तीसरी शती के अंत से ब्रह्मा की मूर्तियों में दाढ़ी का दिखाना प्रचलित हो गया।[४] उनका चौथा सिर, जो कुषाण प्रतिमाओं में पाया जाता है, गुप्त तथा मध्यकालीन कला में बहुत कम मिलता है, क्योंकि उन प्रतिमाओं में जिन्हें चारों ओर से कोर कर नहीं बनाया जाता था चौथा सिर नहीं प्रदर्शित किया जा सकता था। उसके अस्तित्व की कल्पना मात्र कर ली जाती थी। कोर कर उत्कीर्ण की जाने वाली प्रतिमाओं में चौथा सिर भी मिलता है। ऐसी मूर्तियां जैन तीर्थंकरों की सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओं के समान हैं, जिनमें किसी भी ओर से दर्शन किया जा सकता है।

मथुरा से ब्रह्मा की कुषाणकालीन एक अन्य महत्त्वपूर्ण मूर्ति उपलब्ध हुई है (चित्र ३)। यह मूर्ति यद्यपि कोर कर बनाई गई है पर इसमें विशेषता यह है कि पीछे की ओर सिर नहीं बनाया गया। इस प्रकार इसमें केवल तीन ही सिर दिखाए गए । तीसरा सिर (मूर्ति के दाईं ओर का) टूट गया है। बीचवाले सिर पर वैसा ही मुकुट है जैसा कि कुषाण कालीन बोधिसत्त्व प्रतिमाओंमें मिलता है। वस्त्रों का ढंग भी वैसा ही है। धोती तथा कटि पर रखा हुआ बायां हाथ बोधिसत्त्व मूर्त्तियों से बिलकुल मिलता-जुलता है। कान और गले के आभूषण भी वैसे ही हैं। दाहिना हाथ, जो टूट गया है, संभवतः अभयमुद्रा में था। मूर्ति का पिछला भाग बुरी तरह खराब हो गया है। इस मूर्ति का निर्माण काल ई० पहली या दूसरी शती है।

गुप्तकाल में निर्मित ब्रह्मा की कई मूर्तियां मथुरा से प्राप्त हो चुकी हैं। चित्र ४ में प्रदर्शित मूर्ति (संग्र० सं० २४८१) में ब्रह्मा को तीन मुख तथा दो हाथों वाला दिखाया गया है। चौथा मुख पीछे नहीं दिखाया जा सका। बीचवाले मुख में पतली नोकदार दाढ़ी है। दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में उठा है। मूर्ति के पीछे प्रभामंडल का कुछ अंश अब भी दिखाई पड़ता है। यह मूर्ति प्रारं-भिक गुप्तकाल की है और इस बात को सूचित करती है कि कुषाणकालीन बोधिसत्त्व प्रतिमाओं की रचना-शैली का प्रभाव गुप्तकाल में भी जीवित रहा। कुषाण और गुप्तकाल में निर्मित अनेक हिंदू देवी-देवताओं की प्रतिमाओं में यह प्रभाव परिलक्षित होता है।

ब्रह्मा की गुप्तकालीन प्रतिमाएँ दूसरे स्थानों से बहुत कम मिली हैं। परंतु मध्यकाल में उनकी मूर्तियां उत्तर तथा दक्षिण भारत में बड़ी संख्या में निर्मित हुईं। मथुरा-कला में ब्रह्मा की मध्य-

---

४. परंतु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि गुप्त तथा मध्यकालीन ब्रह्मा की सभी प्रतिमा-ओं में दाढ़ी का दिखाना अनिवार्य हो गया। उक्त कालों की अनेक ऐसी मूर्तियां मिली हैं जिनमें दाढ़ी बिलकुल नहीं है। परंतु अधिकांश मूर्तियां ऐसी मिलती हैं जिनमें अगला मध्य का सिर दढ़ियल होता है और कभी-कभी तीनों या चारों सिर। उदाहरणार्थ मद्रास संग्रहालय की मध्यकालीन एक प्रतिमा में ब्रह्मा के चारों मुख दाढ़ीयुक्त हैं (देखिए गोपीनाथ राव—वही, फलक १४५)।

कालीन अनेक सुंदर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मथुरा संग्रहालय की १०९८ संख्यक मूर्ति में ब्रह्मा ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए प्रदर्शित किए गए हैं। उनके तीनों प्रत्यक्ष मुख दाढ़ीदार हैं। इस मूर्ति में ब्रह्मा को चार हाथोंवाला दिखाया गया है। डी० २० संख्या मूर्ति (चित्र ५) में ब्रह्मा कमलासन पर खड़े हुए हैं। इस मूर्ति में उनके तीन मुख और चार हाथ हैं। अंगों का निर्माण तथा उसपर का अलंकरण बड़ी सुंदरता के साथ प्रदर्शित किया गया है। जटाजूट का प्रदर्शन विशेष दर्शनीय है। हाथों के टूट जाने के कारण यह बताना असंभव है कि उनमें क्या वस्तुएँ थीं। यह प्रतिमा उत्तर मध्य-काल की है। इसी प्रकार की एक दूसरी मूर्ति (सं० २८५) है। परंतु उसमें बीचवाला मुख दाढ़ी संयुक्त है, जब कि डी० २० संख्यक मूर्ति के किसी भी मुख में दाढ़ी नहीं दिखाई गई है।

मथुरा कला में ब्रह्मा फलक ७

ब्रह्मा और शिव के द्वारा स्वामि कार्तिकेय का अभिषेक (गुप्तकाल)

—मथुरा संग्रहालय

चित्र सं० ६ में ब्रह्मा की एक अत्यंत कलापूर्ण मूर्ति प्रदर्शित है। यह मूर्ति (सं० डी० २२) मथुरानगर से ६ मील दूर महावन (प्राचीन गोकुल) से मिली थी। इसमें ब्रह्मा अपनी अर्धांगिनी सावित्री के साथ पद्मासन पर विराजमान हैं। ब्रह्मा का (टूटा हुआ) दाहिना पैर तथा सावित्री का बायाँ पैर हंसों की पीठ पर रखा हुआ है। ब्रह्मा का जटाजूट, दाढ़ी, ग्रैवेयक, हार, यज्ञोपवीत तथा अन्य आभूषण बड़ी सुंदरता के साथ अंकित किए गए हैं। उनके तीन हाथों में वेद, कमल और

स्रुवा है तथा चौथे से वे सावित्री का आलिंगन कर रहे ह। सावित्री के विविध आभूषण तथा उनकी मुख-मुद्रा दर्शनीय है। मूर्ति के दोनों कानों पर माला लिए हुए विद्याधर युगल चित्रित किए गए हैं। यह मूर्ति लगभग ई० आठवीं शती की है। सावित्री के साथ ब्रह्मा की पूर्व-मध्यकालीन मूर्तियाँ बहुत कम मिली हैं। इसके अतिरिक्त कला-सौष्ठव की दृष्टि से भी यह प्रतिमा महत्त्वपूर्ण है।

उपर्युक्त सभी मूर्तियाँ पत्थर की हैं। मिट्टी या धातु की बनी हुई ब्रह्मा की कोई प्राचीन मूर्ति अभी तक मथुरा से नहीं मिली है। धातु की मूर्तियों में सब से अधिक उल्लेखनीय ब्रह्मा की मूर्ति सिंध में मीरपुरखास नामक स्थान से मिली थी।[5] यह कांस्य प्रतिमा अब इस समय कराची के संग्रहालय में है। इसमें ब्रह्मा खड़ी हुई मुद्रा में दिखाए गए हैं। उनके केवल दो हाथ हैं। दाहिना हाथ ऊपर उठा है परंतु उसकी हथेली भीतर की ओर मुड़ी हुई है। बाएँ हाथ में एक (टूटा) कमंडलु है। सिरों के ऊपर जटामुकुट बड़े अलंकृत ढंग से दिखाए गए हैं। यह प्रतिमा अपने ढंग की उत्कृष्ट कृति है और अब तक मिली हुई ब्रह्मा की धातु-प्रतिमाओं में सब से अधिक प्राचीन है।

ब्रह्मा की पूजा केवल भारत तक ही सीमित नहीं थी। उनकी अनेक प्रतिमाएँ बर्मा, हिंद, चीन और हिंदेशिया से प्राप्त हुई हैं। इनमें मध्यकालीन मूर्तियों की ही संख्या अधिक है।[6]

ब्रह्मा की स्वतंत्र प्रतिमाओं के अतिरिक्त उनकी ऐसी भी मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें वे अन्य देवी-देवताओं के सहायक के रूप में चित्रित किए गए हैं। मथुरा, सारनाथ तथा गांधार से ऐसे अनेक शिलापट्ट प्राप्त हुए हैं जिन पर ब्रह्मा तथा इंद्र आदि देवों को बुद्ध के अनुयोक्ता के रूप में दिखाया गया है। इसी प्रकार हिंदू प्रतिमाओं में भी ब्रह्मा का ऐसा ही चित्रण मिलता है, विशेषकर शिव तथा विष्णु की मूर्तियों में। कहीं-कहीं अलंकरण के रूप में नवग्रहों तथा अन्य देवों के साथ ब्रह्मा भी बिठा दिए गए हैं। शिव की परिणय संबंधी प्रायः सभी मूर्तियों में ब्रह्मा को प्रदर्शित किया गया है। मथुरा संग्रहालय में शिव-पार्वती के विवाह की एक मध्यकालीन मूर्ति (सं० ३४३५) है, जिसमें पुरोहित के रूप में ब्रह्मा बैठे हैं। भारतकला भवन, काशी में इस प्रकार की एक अत्यंत सुंदर मूर्ति है, जिसमें ब्रह्मा जी शिव-पार्वती के बीच में बैठे हुए दिखाए गए हैं।[7]

मथुरा संग्रहालय में स्वामि कार्तिकेय की एक गुप्तकालीन प्रतिमा है (सं० ४६६; चित्र ७)। इसमें वे अपने वाहन मयूर पर बैठे हुए दिखाए गए हैं। उनके अगल-बगल ब्रह्मा और शिव खड़े हैं और उनका अभिषेक कर रहे हैं। यह प्रसिद्ध मूर्त्ति भी महावन से प्राप्त हुई थी।

अन्य स्थानों की तरह मथुरा की कला में भी ब्रह्मा का चित्रण उतना अधिक नहीं मिलता जितना विष्णु और शिव का। यह स्थान ब्रह्मा की पूजा का कभी केंद्र नहीं रहा। हो सकता है कि मथुरा में ब्रह्मा के कुछ मंदिर पहले रहे हों, पर उनकी संख्या बहुत ही कम रही होगी। जैन, बौद्ध

---

५. देखिए कुमारस्वामी—हिस्ट्री ऑफ इंडियन ऐंड इंडोनेशियन आर्ट, चित्र १६८, तथा राव वही, फलक १४८।

६. देखिए निहार रंजन रे—ब्रह्मैनिकल गाड्स इन बर्मा, पृ० ६६, चित्र २९-३०; तथा कुमारस्वामी—वही, पृ० २०२।

७. रायकृष्ण दास—भारतीय मूर्तिकला, फलक २३।

एवं वैष्णव धर्म के आगे यहाँ अन्य मतावलंबियों की नहीं चल सकी। शैव तथा शाक्त मत के मानने वाले भी प्राचीन मथुरा में नाममात्र को ही थे।

तो भी मथुरा की यह विशेषता है कि अन्य अनेक हिंदू देवी-देवताओं के साथ ब्रह्मा की प्रतिमाओं का निर्माण सर्वप्रथम यहीं हुआ। यहाँ से प्राप्त ब्रह्मा की कुषाण कालीन मूर्तियाँ हिंदू
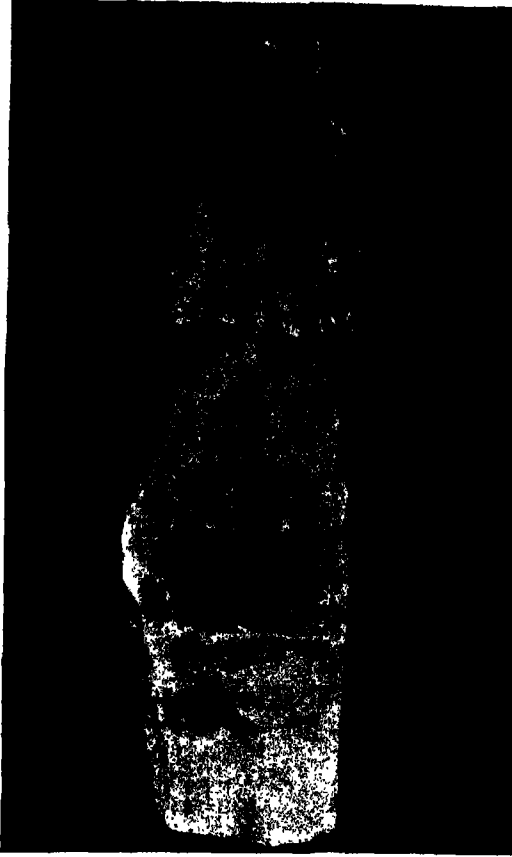
मथुरा कला में ब्रह्मा फलक ८

भीटा (इलाहाबाद) से प्राप्त पंचमुख शिवलिंग, शेष दो मुख पीछे की ओर बने हैं (ई० पू० द्वितीयशती)
—मथुरा संग्रहालय

मूर्तिकला में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, और मूर्ति-विज्ञान के अन्वेषणात्मक अध्ययन के लिये अनिवार्य हैं। यहाँ से प्राप्त गुप्त तथा मध्यकालीन ब्रह्मा की मूर्तियाँ भी इस दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं।

पुराणों का चातुर्द्वीपिक भूगोल और आर्यों की आदि भूमि

राय कृष्णदास

१. निम्नलिखित ग्यारह पुराणों में पृथ्वी का भौगोलिक वर्णन आता है जिसे भुवन-विन्यास या भुवन-कोष भी कहते हैं—ब्रह्मा, विष्णु, भागवत, वायु, शिव, अग्नि, मारकंडेय, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और लिंग। इनमें से इस लेख में वायु, मत्स्य, कूर्म तथा विष्णु—इन चार प्राचीनतर पुराणों से सहायता ली जायगी। वायु का वर्णन सब से विस्तृत एवं सर्वांगपूर्ण है। वह है भी सब पुराणों से प्राचीन। इसी कारण उसके विवरण को आधार बनाया गया है। ब्रह्मांडपुराण इसी वायु की एक दूसरी शाखा है, किंतु खेद है कि उसमें यह भूगोल वाला अंश अत्यधिक खंडित है। मत्स्य का वर्णन वायु का अनुसारी है, परंतु वह बहुत ही थोड़ा है, तो भी उससे कई महत्वपूर्ण पाठांतर उपलब्ध हो जाते हैं। कूर्म के वर्णन में कुछ अधिक विस्तार है और उसमें वायु-संप्रदाय से कुछ अंतर भी है, अतएव उससे भी काम की बातें मिलती हैं। विष्णु का वर्णन कूर्म-संप्रदाय का अनुयायी है—वह उसीका संक्षिप्त संस्करण है। अन्य पुराणों के वर्णन अपेक्षाकृत बहुत थोड़े और पीछे के हैं, साथ ही वे इन्हीं दोनों—वायु और कूर्म-संप्रदायों पर अवलंबित हैं; अतः ऐतिहासिक दृष्टि से उक्त चारो पुराणों का वर्णन पर्याप्त एवं उपादेय है।

२. उक्त पुराणों में जो भौगोलिक वर्णन आया है उसके बहुतेरे श्लोक समान हैं, अर्थात् वह एक ही मूल पर अवलंबित है। इस प्रकार का मसाला बहुत पुराना होता है और इसी कारण उसके अनेक पाठ-भेद हो जाते हैं। वस्तुतः ये दो वर्णन थे—एक चतुर्द्वीपा पृथ्वी का दूसरा सप्तद्वीपा पृथ्वी का। वर्तमान रूप में ये दोनों वर्णन मिल गए हैं; इस कारण उनकी अद्भुत खिचड़ी पक गई है।

३. इन दो भूगोलों में से चार महाद्वीप वाला प्राचीन है और वह केवल वायु में बच रहा है। उसका अस्तित्व संभवतः ऋग्वेद काल से है, क्योंकि ऋग्वेद में चार समुद्रों का उल्लेख है। उन समुद्रों को लेकर यद्यपि आजकल कितने ही ऊहापोह किए जा रहे हैं, परंतु वस्तुतः ऋग्वेद के उक्त स्थलों में इन्हीं—चार द्वीपों से संबंधित, चार दिशाओं के—चार समुद्रों का तात्पर्य है।[1] यदि ऐसा न होता तो चार द्वीपवाले भूगोल की परंपरा न प्राप्त होती। प्राचीन बौद्ध साहित्य में

---

१. ज्योतिष में भी 'समुद्र' से चार ही समुद्र लिए जाते हैं।—जैन सिद्धांत भास्कर, जून '४०

इसी चतुर्द्वीपी, भूगोल की मान्यता है, और इसीसे उन ग्रंथों में जंबुद्वीप सुनिश्चित रूप से भारतवर्ष का पर्याय है; क्योंकि इसी चतुर्द्वीपी भूगोल में जंबुद्वीप भारतवर्ष का नाम है। पिछले सप्तद्वीपवाले भूगोल में तो भारतवर्ष जंबुद्वीप के नौ 'वर्षों' में से एक 'वर्ष' मात्र है। ऐसा अनुमान होता है कि मेगास्थिने के समय में भी यही चार द्वीपवाला भूगोल चलता था, क्योंकि वह लिखता है कि "भारतीय तत्त्वज्ञ और पदार्थ-विज्ञानवेत्ता भारत के सीमांत पर तीन और देश मानते हैं।... ये तीन देश सीदिया, बैक्ट्रिया तथा एरियाना हैं" जो मोटे तौर पर चतुर्द्वीपी भूगोल के जंबु द्वीपेतर अन्य तीन द्वीपों से मिल जाते हैं। अर्थात् सीदिया से उसके भद्राश्व तथा उत्तर कुरु एवं बैक्ट्रिया तथा एरियाना से केतुमाल द्वीप अभिप्रेत है। अशोक के समय तक प्राचीन परंपरा के अनुसार चतुर्द्वीप भूगोल ही चलता था, क्योंकि उनके शिलालेखों में जंबुद्वीप भारतवर्ष की संज्ञा है।

४. किंतु महाभाष्य में सप्तद्वीपा पृथ्वी की चर्चा है[२]। अतः सप्तद्वीप भूगोल अशोक तथा महाभाष्य काल के बीच की कल्पना जान पड़ती है। इसी काल के बीच अशोक प्रचारित धर्म-विजय के अभियानों के कारण भारतीयों का विदेशी जातियों से अधिक संपर्क हुआ। अतः भौमिक विस्तार के संबंध में भी उनको एक धुंधला परिचय मिला। ऐसा अनुमान होता है कि चार द्वीप के बाद वाले भूभागों की जो अधूरी और धुंधली सुनी-सुनाई, झूठी-सच्ची जानकारी उस समय थी उसीको काल्पनिक रूप देकर यह सप्तद्वीपा वसुंधरा का भूगोल पल्लवित किया गया है।

५. पुराणों के वर्तमान रूप ने इसी सप्तद्वीप भूगोल को प्रधानता दी है और चतुर्द्वीपी भूगोल को इसका अंग बना डालने की चेष्टा की है एवं उसे सप्तद्वीपांतर्गत जंबुद्वीप के 'वर्षों' के वर्णन में किसी प्रकार खपा देना चाहा है[३]। यद्यपि ऐसा करने में सफलता नहीं मिली है—क्योंकि चतुर्द्वीपी भूगोल का रूप इतना भिन्न है कि उसका अस्तित्व नष्ट नहीं किया जा सकता—तो भी उसे उन्होंने सप्तद्वीप में के जंबुद्वीप के वर्णन में इतना मसल डाला है कि यदि वायु पुराण में उस (चतुर्द्वीप भूगोल) का विस्तृत वर्णन न बच रहा होता तो यह समझ में न आता कि जंबुद्वीप के नौ 'वर्षों' के वर्णन में ये अप्रासंगिक बातें क्यों और कैसे आ रही हैं। वर्तमान निबंध तैयार करते समय भी, जब तक वायु वाले वर्णन का अध्ययन नहीं किया गया था, इन गुत्थियों ने लेखक को बहुत छकाया था। बारबार चेष्टा करने पर भी वे सुलझती ही न थीं।

---

१. चातुर्द्वीपिक वृष्टि—बुद्धचर्या, राहुल; उम्मगजातक

२. सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोकाः—महाभाष्य पस्पशाह्निक

३. अर्थात् उक्त चारों द्वीपों में से दो—भारत तथा उत्तर कुरु के एवं मेरु के अवांतर भेदों को अलग अलग 'वर्ष' बनाकर और इस तरह उनकी संख्या सात करके तथा बाकी दो भद्राश्व एवं केतुमाल को भी दो 'वर्ष' कायम करके, इन नौ 'वर्षों' की एक इकाई नियत कर दी गई। यह इकाई चतुर्द्वीपी भूगोल में के भारत के अपर नाम जंबुद्वीप को सात द्वीपों में का एक द्वीप बना के उसमें भर दी गई है

महाभारत में भी यह सप्तद्वीप भूगोल दिया है और उसमें बड़ी सतर्कता से चार द्वीप की बातें निकाल डाली गई हैं। अतएव वह सप्तद्वीप भूगोल का सब से पिछला संस्करण ठहरता है

६. सप्तद्वीप भूगोल में कल्पना का प्राधान्य है, यह बात उसके प्रारंभ में कह भी दी गई है—

तेषां मनुष्यास्तर्केण प्रमाणानि प्रचक्षते ॥ ५ ॥
अचिन्त्याः खलु ये भावास्तांस्तु तर्केण साधयेत् ॥ ६ ॥
—मत्स्य, ११३।[१]

कल्पना की इस भूल-भुलैया में से भूगोल की वास्तविक बातों की, जिनका संबंध जंबुद्वीपेतर अन्य छः द्वीपों से है और जो बहुत ही थोड़ी हैं—यथा, शाकद्वीप (फारस), कुशद्वीप (मिस्र), मग (मीडिया) आदि की चर्चा—निकाल लेना जरा टेढ़ी खीर है। इसके विपरीत चार द्वीपवाले भूगोल का आधार प्रायः वास्तविक है, अतएव उसका सामंजस्य आधुनिक भूगोल से हो जाता है। यीकों ने जो लिखा है कि भारतीयों को अपने देश के भूगोल का बड़ा स्पष्ट ज्ञान है वह अवांतर ब्योरों सहित चतुर्द्वीप-भू-वर्णन पर ही घटता है, फिसानों की भरमार वाले इस सप्तद्वीप भूगोल पर नहीं।

७. इन दोनों भूगोलों का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है—

चातुर्द्वीपिक भूगोल

पृथ्वी चार महाद्वीपों वा वर्षों से बनी है और एक पद्म की तरह है। मेरु उसके मध्य उसकी ढोंड़ी है जो इलावृत से परिमंडित है और चारों महाद्वीप उसकी चार पंखड़ियाँ हैं; यथा—पूर्व में भद्राश्व; दक्षिण में जंबुद्वीप वा भारतवर्ष; पश्चिम में केतुमाल और उत्तर में उत्तर कुरु। इन चारों का एक एक छोर मेरु से संबद्ध है, दूसरी ओर ये पूर्व, दक्षिण और उत्तर समुद्रों तक पहुँचते हैं।

इन चारों महाद्वीपों के अपने क्रीड़ा-कानन, केतु वृक्ष, सरोवर महाशैल तथा अन्य पर्वत हैं और इनमें से प्रत्येक में बहती हुई एक एक नदी अपनी अपनी दिशा के समुद्र में गिरती है—केवल उत्तरवाली नदी उत्तर समुद्र में न गिर कर पश्चिम समुद्र में गिरती है (द्रष्टव्य—भूचित्र १)। इन नदियों की करद नदियाँ भी हैं।

सप्तद्वीप भूगोल

८. भूमंडल के ठीक मध्य जंबुद्वीप है जो चारों ओर लवण समुद्र से घिरा है। इस समुद्र के चारों ओर पृथ्वी का एक और बेठन है जिसका नाम प्लक्ष द्वीप है। यह इक्षुरस समुद्र से

यह वर्षों का विकास कैसे हुआ, उसका एक नमूना लीजिए। मत्स्य में हैमवतवर्ष भारत का ही एक नाम है—

इमं हैमवतं वर्षं भारतं नाम विश्रुतम्।—मत्स्य०, ११२।२८

वही सप्तद्वीप भूगोल में एक अलग वर्ष बन गया—

इदं तु भारतं वर्षं ततो हैमवतं परम्। —भारत, भीष्म० ६।७

१. वायु, ब्रह्मांड और कूर्म, पुराणों में भी इसके अपपाठ हैं।

परिमंडित है। यों ही क्रमशः सुरा, घृत, क्षीर, दधि और शुद्ध समुद्रों के घेरे तथा शाल्मली, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर द्वीप हैं। इस प्रकार पृथ्वी में कुल सात द्वीप तथा सात समुद्र हैं।

उक्त मध्यवर्ती जंबुद्वीप के बीचोबीच मेरु पर्वत है जिसके चारों ओर इलावृत वर्ष है।[1] मेरु के दक्षिण तीन 'वर्ष' हैं। इनमें से सब से दक्षिणी भारतवर्ष है, इसका वर्ष-पर्वत हिमवान् है। इसके बाद किम्पुरुष वर्ष है, इसका वर्ष-पर्वत हिमकूट है। इसके उपरांत हरिवर्ष है, इसका वर्ष-पर्वत निषध है। इसी प्रकार मेरु के उत्तर भी तीन वर्ष हैं जिनका क्रम उत्तरोत्तर यों है—पहले रम्यक् वर्ष जिसका वर्ष-पर्वत नील है, फिर हिरण्मय वर्ष जिसका वर्ष-पर्वत श्वेत, उसके उपरांत सब से उतरी वर्ष उत्तर कुरु है जिसका वर्ष-पर्वत शृंगवान् है। सब से दक्षिणी और उत्तरी वर्ष धनुषाकार हैं, इनके बाद के चार वर्ष लंबे हैं। इनके वर्ष-पर्वत जंबुद्वीप के विस्तार के बराबर, पूर्व से पश्चिम समुद्र तक पहुँच गए हैं। बीच का इलावृत चौकोर है। इसके पूर्व माल्यवान् वर्ष-पर्वत और भद्राश्व वर्ष है, तथा पश्चिम में गंधमादन वर्ष-पर्वत और केतुमाल वर्ष है। ये दोनों वर्ष-पर्वत निषध से नील तक दंडायमान हैं और इस प्रकार इलावृत चतस्र की रचना करते हैं। शेष छः वर्ष-पर्वत पूर्व से पश्चिम तक दंडायमान हैं और दोनों ओर समुद्र में अवगाहन करते हैं। मध्यवर्ती इलावृत का पर्वत मेरु है। इस प्रकार जंबुद्वीप इन नौ वर्षों से संघटित है[1] (द्रष्ट०—भूचित्र २)। भारतवर्ष में तो मनुष्य बसते ही हैं, शेष आठ वर्षों के वासी भी मनुष्य ही हैं।

९. चतुर्द्वीप भूगोल में जंबुद्वीप पृथ्वी के चार महाद्वीपों में से एक है और भारतवर्ष का ही दूसरा नाम है। सप्तद्वीप भूगोल में वही एक इतना बड़ा द्वीप बन जाता है कि चतुर्द्वीप भूगोल में के उसीके बराबरी वाले अन्य तीन द्वीप—भद्राश्व, केतुमाल और उत्तर कुरु—उसके वर्ष होकर उसके अंतर्गत हो जाते हैं, और भारतवर्ष नाम से वह स्वयं, अपना ही एक वर्ष मात्र रह जाता है। तथापि यह जंबुद्वीप का वर्णन इस दृष्टि से बड़े काम का है कि इसमें चतुर्द्वीप के संबंध में बहुत से काम के ब्योरे मिल जाते हैं; क्योंकि वस्तुतः सप्तद्वीपवाला जंबुद्वीप चतुर्द्वीपा पृथ्वी के ही अवांतर खंडों को प्रधानता देकर रचा गया है। यथा—चतुर्द्वीपी भूगोल का भारत-जंबुद्वीप जो मेरु तक पहुँचता है, सप्तद्वीप भूगोल में के जंबुद्वीप में तीन वर्षों में बँट गया है। अर्थात् 'देस' के लिये भारत-वर्ष, जिसका वर्ष-पर्वत हिमालय है; उसके उपरांत हिमालय के उस भाग के लिये जिसमें पीले रंग वाले मंगोलों की बस्ती है, किम्पुरुषवर्ष[2]—जिसमें का प्लक्ष खंड पुरूरवा-आख्यान की प्लक्ष पुष्करिणी तथा वेदों का प्लक्ष प्रस्रवण है, जहाँ से सरस्वती का उद्गम है। तथा जिस वर्ष का नाम आज भी कनौर में अवशिष्ट है। यह वर्ष तिब्बत तक पहुँचता था क्योंकि वहाँ तक मंगोलों की बस्ती है तथा उसका वर्ष-पर्वत हेमकूट ही, जो कतिपय स्थानों में हिमालयांतर्गत वर्णित हुआ है, तिब्बत है जहाँ आज भी बहुतायत से सोना निकलता है। यही भारत (सभापर्व) के अर्जुनकृत उत्तर-दिग्विजय का हाटक प्रदेश है। हरिवर्ष से हिरात का तात्पर्य है जिसका पर्वत महामेरु शृंखला के अंतर्गत निषध (अर्थात्, हिंदूकुश, जैसा कि हम आगे देखेंगे) है जो मेरु तक पहुँच जाता है। इसी हरिवर्ष का नाम अवेस्ता में 'हरिवरजी' मिलता है जो उसमें आर्यों के बीजस्थान के मध्य माना गया है। वह एक प्रकार

---

१. वायु०, ३४।९–३५

२. तथा किम्पुरुषे विप्रा! मानवा हेमसन्निभाः
दसवर्षसहस्राणि जिवन्ति प्लक्ष भोजनाः ॥ ८ ॥ कूर्म, ४६

चतुर्द्वीपा पृथिवी

सप्तद्वीपा पृथिवी
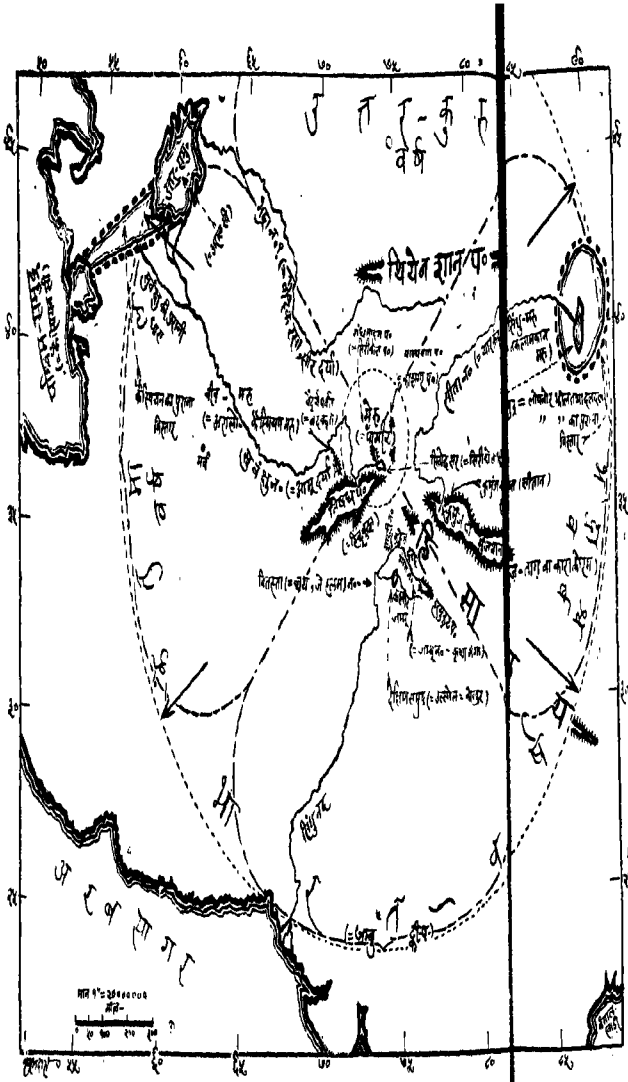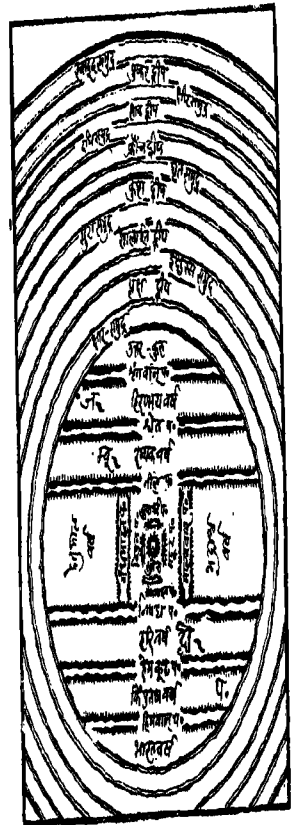
से अपने यहाँ की कल्पना से मिल जाता है, क्योंकि यह स्थान अपने यहाँ के भू-केंद्र सुमेरु के चरण-तल में ही है। यों जिस प्रकार चतुर्द्वीप का भारत-जंबुद्वीप तीन भागों में बँटकर महत्तर जंबुद्वीप के तीन 'वर्ष' बन गए, उसी प्रकार रम्यक, हिरण्मय तथा उत्तर कुरु नामक वर्षों में विभक्त होकर चतुर्द्वीप भूगोल वाले उत्तर कुरु महाद्वीप के तीन वर्ष बन गए हैं। किंतु पूर्व और पश्चिम के द्वीप भद्राश्व और केतुमाल यथापूर्व दो के दो ही रह गए हैं। अंतर केवल इतना है कि यहाँ वे दो महाद्वीप-नहीं एक महाद्वीप के अंतर्गत दो वर्ष हैं। साथ ही इन सब के केंद्रीय मेरु को मेखलित करनेवाला इलावृत भी एक स्वतंत्र वर्ष बन गया है। यों उक्त चार द्वीपों से पल्लवित तीन उत्तरी, तीन दक्षिणी दो पूर्वी-पश्चिमी तथा एक केंद्रीय वर्ष इस जंबुद्वीप के नौ वर्षों की रचना कर रहा है।

१०. पिछले समय में तो इस जंबुद्वीप का विस्तार इतना बढ़ा कि भास्कराचार्य ने सारे पूर्वी गोलार्ध को जंबुद्वीप कहा, किंतु जंबुद्वीप का विकसित रूप बहुत इधर तक भी सार्वभौम रूप से गृहीत नहीं हुआ था। पाल काल तक के एक शिलालेख में वह भारत का ही पर्याय है। वस्तुतः जिस प्रकार भारत के मानव द्वीप,[१] कुमारी द्वीप आदि और कई नाम थे उसी प्रकार इसका एक नाम जंबुद्वीप भी था। यह नाम अभी तक जम्मू (काश्मीर राज्य) के रूप में बच रहा है, जैसे कुमारी द्वीप आधुनिक कन्याकुमारी के नाम में। भारत का नामकरण जंबुद्वीप इसके उत्तरी सीमांत को लेकर किया गया जान पड़ता है, क्योंकि जंबू नद (वा नदी?) जिसके कारण यह नाम है, पामीर के दक्षिण तथा हिंदूकुश के उत्तर से निकलनेवाला अर्थात् भारत के ठेठ उत्तरी छोर का नद है,[२] जिसका सोना जंबूनद[३] कहलाता था। इसी प्रकार कुमारी द्वीप भारत के दक्षिणी सीमांत (वर्तमान कन्याकुमारी) को लेकर किया गया नामकरण जान पड़ता है।

मेरु आदि आर्य भूमि

१०. जहाँ तक मेरु का संबंध है, दोनों ही भूगोलों के अनुसार उसका वर्णन तथा भौमिक स्थिति एक ही है, क्योंकि चातुर्द्वीपिक भूगोल के द्वीप सप्तद्वीप भूगोल में जंबुद्वीप के चार वर्ष बनकर अपने अवांतर भेदों सहित उसके चारों ओर यथास्थान बने रह जाते हैं, जैसा हम अभी देख चुके हैं (९)। किंतु मेरु के वर्णन में जो सब से मार्के की बात आती है वह यह है कि उसमें बड़े जोरदार और असंदिग्ध शब्दों में बारबार कहा गया है कि इस मेरु की स्थिति भौमिक है, किंतु यही स्वर्ग है। इतना ही नहीं, स्वर्ग की पार्थिव स्थिति के संबंध में एक शंका-समाधान के रूप में यही स्थिर किया गया है कि मेरु ही स्वर्ग है और वह इसी पृथ्वी पर है। जनमेजय व्यास से पूछते हैं कि आप बार बार राजाओं का मानुष शरीर से स्वर्ग जाना कहते हैं, किंतु सभी शास्त्रों से यह बात सुनिर्णीत है

१. मत्स्य, ११३।९–१७। वायु. ४६।२३—

२. यह नद चित्राल दरदिस्तान में बहनेवाला होना चाहिए, क्योंकि उसी प्रदेश में नदी का बलुआ सोना निकलता था और उक्त पौराणिक इंगित के अनुसार जंबूनद का वही ठिकाना पड़ता है।

३. इस सोने को निकालने वाले जंबु (—सम्मूर, जो जंबू शब्द का ही ईरानी रूप है) की खाल ओढ़ कर काम करते थे, अतः यूनानियों ने उन्हें लोमड़ी समझा भी था। हो सकता है कि जंबुद्वीप तथा जंबुनद के नामों का इससे कुछ संबंध हो, जिस पर पीछे से गण-प्रमाण जामुनों की रंगत चढ़ा दी गई।

कि स्वर्ग बिना मरे नहीं मिलता। फिर भला मनुष्य देह से स्वर्गगमन कैसा? व्यास उसके उत्तर में कहते हैं कि राजन्! मेरु के शिखर पर सब लोक स्थित हैं—इंद्रलोक, वह्निलोक, यमलोक इत्यादि। जिस प्रकार अर्जुन मनुष्य शरीर से इंद्रलोक गए थे और वहाँ पाँच वर्ष सुरराज के पास रहे थे उसी प्रकार ककुस्थ आदि अन्य राजा भी वहाँ जा चुके हैं। दैत्यों ने भी इंद्रलोक को जीतकर वहाँ निवास किया है।[1]

११. जैसा उक्त संवाद के आरंभ ही में कहा गया है, स्वर्ग के संबंध में धार्मिक धारणा यही थी कि वह पृथ्वी से अन्यत्र है और पार्थिव शरीर का त्याग करके ही मनुष्य उस लोक में पहुँच सकता है। जिस देश और काल में ऐसा धार्मिक विश्वास बद्धमूल हो वहाँ उन्हीं शास्त्रों में स्वर्ग का पृथ्वी पर ही प्रतिपादन किसी बड़े ही महत्वपूर्ण कारण बिना असंभव है।

वह कारण क्या हो सकता है? ऐतिहासिक दृष्टि से तो इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यही है कि आर्यों का आदि निवास, आर्यों का मूलस्थान यह मेरु ही था, तभी वह इतना पवित्र और सर्वोत्कृष्ट लोक नियत किया गया। उसके संबंध में यह परंपरा इतनी प्रबल और चिरंतन थी कि अ-भौम स्वर्ग की कल्पना हो जाने पर भी उसका पद अक्षुण्ण बना रहा। मेरु को ब्रह्मा की पुरी कहने से भी यही ध्वनित होता है कि सृष्टि का आरंभ वहीं से माना जाता था।

१२. अब यह देखना चाहिए कि पौराणिक भूगोल के अनुसार उस पुरातन पुण्य प्रदेश—इस स्वर्गमहिम मेरु—का भौमिक ठिकाना कहाँ पड़ता है। इतना तो ध्रुव है कि पौराणिक मेरु उत्तरी ध्रुव नहीं है, चाहे और जो कुछ हो। मेरु के वर्णन में उसकी चार दिशाओं की नदियों और उनके उद्गम का उल्लेख हुआ है। नदियों का उद्गम एक ऐसी वस्तु है जिसकी भौमिक स्थिति में अधिक हेरफेर नहीं हुआ करता। अतएव उनके द्वारा मेरु की स्थिति का पता ठीक ठीक लग सकता है। यह पकड़ पर्वतों से भी अधिक अचल और अटल है; क्योंकि पर्वतों के सीमांत के संबंध में भिन्न-भिन्न काल में भिन्न भिन्न धारणाएँ हो भी सकती हैं, किंतु नदी का संभव तो ऐसी घटना है जिसके स्थान में विशेष अंतर नहीं पड़ा करता।

---

१. जनमेजय उवाच—

मृतः स्वर्गमवाप्नोति सर्वशास्त्रे मुनिर्णयः।
मानुषेन तु देहेन ब्रह्मलोके गतिःकथम्॥ ४॥

व्यास उवाच—

मेरोस्तु शिखरे राजन् सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
इन्द्रलोको वह्निलोका या च संयमिनी पुरी॥ ६॥
यथाऽर्जुनः शक्रलोके गतः पार्थो धनुर्धरः।
पञ्चवर्षाणि कौन्तेयः स्थितः तत्र सुरालये॥ ८॥
मानुषेनैव देहेन वासवस्य च सन्निधौ।
तथैवान्येऽपि भूपालाः ककुत्स्थप्रमुखाः किल॥ ९॥
स्वर्लोकगतयः पश्चाद्दैत्याश्चापि महाबलाः।
जित्वेन्द्रसदनं प्राप्य संस्थितास्तत्र कागतः॥ १०॥—देवी० ७।८

१३. पौराणिक मेरु-वर्णन के अनुसार मेरु के पूर्व में सीता नदी है। इस सीता नदी के उद्‌गम का जो काल्पनिक बर्णन है उसके उपरांत उसका निकास शीतांत और कुमुंज पर्वत से बताया गया है। यह वर्णन बिल्कुल यथार्थ है, क्योंकि सीता यारकंद नदी का नाम है "जिसे चीनी लोग उसके प्राचीन संस्कृत नाम सीता के अनुसार अब तक सी-तो कहते हैं"; यह काराकोरम के शीतान नामक स्कंध से निकल कर पामीर के पूर्व की ओर चीनी तुर्किस्तान में चली गई है। उक्त शीतान पुराणों का शीतांत है एवं काराकोरम पुराणों का कुमुंज वा मुंजवान, जिसका वैदिक नाम मूजवान था। आज भी उसीके अनुसार उसे मूज-ताग (ताग (तुर्की)—पर्वत) अर्थात् मूज पर्वत कहते हैं।

१४. सीता यारकंद नदी ही है, इस संबंध में पुराणों में कुछ और प्रमाण भी मिलते हैं। सीता मेरु के पूर्ववर्ती महाद्वीप भद्राश्व की नदी है। वायु में इस भद्राश्व के वर्णन में उसमें बसनेवाली जातियों की सूची भी दी है। खेद है कि इन नामों के रूप बहुत ही विकृत हो गए हैं; तो भी इनमें का एक नाम—शाकमुंड हमारे बहुत काम का है। यह नाम शाकमुरुंड का अपरूप है। शाकमुरुंड उस जाति का नाम है जिसे आजकल के ऐतिहासिक कुषाण कहते हैं। प्रसिद्ध बौद्ध सम्राट् कनिष्क इसी जाति का था। पहले तो पुरातत्वज्ञ इन्हें मंगोल मानते थे, किंतु अब यह कल्पना मिथ्या सिद्ध हो चुकी है । वास्तव में शाकमुरुंड आर्य थे,[1] जो शाद्वलिक दशा में इसी सीता नदी के अनु-कूल चीनी तुर्किस्तान में रहा करते थे। वहीं से निकल कर कनिष्क ने उत्तरी भारत पर अपना अधिकार जमाया था।

भद्राश्व के प्रकरण में वायु उसकी अन्य नदियों के नाम भी देता है। इनमें से एक है हिरण्य-वारि। यह हिरण्यवार चीनी तुर्किस्तान की ज़रअफ़्शां नदी प्रतीत होती है। ज़रअफ़्शां (सोना छीटनेवाली) हिरण्यवारि (सोना वहन करनेवाली) का अनुवाद ही सा है। यह नदी सीता की करद है और इसका नाम जरअफ़्शां इसमें सोने की रेत होने के कारण है।

१५. सीता नदी तकलामकान की विस्तीर्ण मरुभूमि में से होती हुई, एक आध और नदियों के मिल जाने के कारण तारीम नाम धारण करके लोपनूर नामक खारी झील में, पहले जिसका विस्तार आज से कहीं अधिक था, जा गिरती है। इसका वर्णन भी वायु में मिलता है—

कृत्वा द्विधा सिन्धु मरून् सीताऽगात् पश्चिमोदधिम्[2]।

अर्थात् सिंधु मरु को दो भागों में बांटती हुई सीता पश्चिमोदधि को चली गई है। सिंधु मरु तक-लामकान के लिये बहुत ही उपयुक्त नाम है क्योंकि इस मरुभूमि की एक विशेषता यह है कि इसका बालू देखने में ठीक समुद्र (सिंधु) जैसा जान पड़ता है। पश्चिमोदधि से लोपनूर झील का तात्पर्य है। इसमें पश्चिम शब्द देखकर चौंकना नहीं चाहिए। सीता के पूर्व समुद्र में जाने का इतना स्पष्ट उल्लेख है और उसकी भौमिक स्थिति भी ऐसी है कि वह पश्चिम ओर जा ही नहीं सकती। अतः यहाँ पश्चिम शब्द अवश्य किसी अन्य शब्द का अपपाठ है जो लोपनूर की नामवाचक संज्ञा रहा होगा[3]।

---

१. 'भारत भूमि और उसके निवासी' पृ० १७७, २८०

२. वायु० ४७।२३

३. तुलनीय—ब्रह्मांड० २।१८, ४१-४९; मत्स्य० १२०।४०-५०

इन सब बातों का निष्कर्ष यही है कि मेरु के पूर्व से निकलनेवाली सीता यारकंद के सिवा दूसरी नदी नहीं हो सकती।

१६. जिस प्रकार सीता मेरु के पूर्व की नदी है उसी प्रकार सुवंक्षु मेरु के पश्चिम की नदी है। इस नाम के कई रूप मिलते हैं; यथा—सुचक्षु, सुपक्षु एवं सुवक्षु। इसकी उत्पत्ति मेरु के पश्चिमी सर सितोद से कही गई है, जहाँ से निकल कर 'नाना म्लेच्छगणैर्युक्त' केतुमाल महाद्वीप से बहती हुई यह पश्चिम समुद्र में चली गई है[1]। वर्तमान आमू दरिया वा आक्सस ही सुवक्षु है, यह निर्विवाद है। इस नदी के मंगोलियन नाम अक्सू और बक्शू, तिब्बती नाम पक्शू तथा चीनी नाम पो-त्सू वा फो-त्सू तथा आधुनिक स्थानिक नाम वखिश,[2] बखश, और बखी उक्त संस्कृत नामों से निकले हैं।

वंक्षु-आमू का समीकरण इतना निर्विवाद है कि इसके अधिक ब्योरे में जाना व्यर्थ है। जायसवाल ने इस विषय का बड़ा इदमित्थं वर्णन किया है। उसमें के दो तीन हवाले यहाँ पर्याप्त होंगे। इस नदी की अनुकूल बस्तियों में पुराणों में 'चीन' वा 'वीर'-मरु तथा तुषारों एवं अंध्रकों का नाम भी आता है। वीर-चीन मरु से आमूकाँठे के उस मरु प्रदेश का अभिप्राय है जिसे आजकल तुर्कोमान 'टर्कोमन डिजर्ट' कहते हैं। ई० पू० पहली शती में वह चीन के अधिकार में था, अतः उसका नाम चीन मरु पड़ा जान पड़ता है। तुषार, तुखार शब्द का दूसरा रूप है। यह जाति भी वंक्षु के काँठे में बसती थी। अंध्रकों की बस्ती का नाम आज भी वंक्षु तटवर्ती अंधकुई में बना हुआ है।

प्राचीन काल से अभी थोड़े दिन पहले तक पामीर के पश्चिमी भागवाली सिरीकोल झील (विक्टोरिया लेक) इसका उद्गम मानी जाती थी, जो पौराणिक सितोद सर हुई। इन दिनों यह अराल में गिरती है किंतु पहले कैस्पियन सागर में गिरती थी[3]। यही चतुर्द्वीपी भूगोल का पश्चिम समुद्र हुआ। उन दिनों अराल और कैस्पियन मिले हुए थे। दोनों ही दशाओं में यह अपने निकास से पश्चिम में गिरनेवाली नदी है।

१७. मेरु की दक्षिणी नदी के संबंध में कुछ उलझन है। यह उलझन उसके नाम के कारण पैदा हुई जान पड़ती है। उसका नाम गंगा है, अतः पुराणों में ही उसका समीकरण अलकनंदा, अर्थात् हमारी भागीरथी से कर दिया गया है। किंतु गंगा पहले और भी नदियों का नाम था जिनसे भिन्न करने के लिये अपनी गंगा को 'भागीरथी गंगा' कहा है। वस्तुतः मेरु के दक्षिणवाली गंगा भी एक दूसरी नदी है जैसा उसके उपकंठ के निवासियों में "दरदांश्च सकाश्मीरान्" के आने से असंदिग्ध है। ये नाम वायु में मेरु की चारों दिशाओं की नदियों के एक वर्णन में आते हैं। यह वर्णन उसी पुराण में आए हुए इन नदियों के उस पल्लवित वर्णन से जिसका इंगित ऊपर किया गया है, अर्थात् जिसमें इस गंगा का अलकनंदा से समीकरण है, अपेक्षाकृत छोटा एवं वास्तविक है। फलतः यह अधिक पुराना, अतएव विशेष प्रामाणिक है।

---

१. वायु०, ४२।५७,७४
२. विश्वकोष, २६।९१०
३. भुवनकोषांक, पृ० ४३

१८. इस गंगा के कांठे में दरद एवं कश्मीर की गिनती होने के कारण यह कश्मीर के उत्तर की कृष्णगंगा के सिवा दूसरी नदी नहीं हो सकती। यह हरमुकुट पर्वत की प्रसिद्ध गंगाबल झील से निकलती है जिसे वहाँ के लोग आज भी गंगा का उद्गम मानते हैं। इससे जान पड़ता है कि किसी समय कृष्णगंगा गंगा की गिनती में थी। उक्त लोक-प्रवाद से मेरु के दक्षिणवाली गंगा का स्पष्टीकरण हो जाता है। इसी गंगा की रेत में सोना भी पाया जाता है जिसके कारण उसका नाम गांगेय है। यह भी इस विषय में एक प्रमाण है। इसी नदी का नाम जंबू भी है, क्योंकि जंबू नदी को गंगा के भेदों में गिना है—सोने का नाम गांगेय के साथ साथ जांबूनद भी है। पौराणिक भूगोल में उसकी भौमिक स्थिति यही है। यही कारण है कि सप्तद्वीप भूगोल में जंबुद्वीप की नदी गंगा के बदले जंबु है।

कालिदास के रघु-दिग्विजय की, कांबोज की दक्षिणवर्तिनी गंगा भी यही है जिसे चीन्हने के लिये विद्वानों को कई प्रकार के अनुमान करने पड़े हैं। उसकी इस अभिज्ञा से कांबोज के दक्षिण, गंगा के संबंध में सब शंकाएँ निवृत्त हो जाती हैं। इतना ही नहीं, इससे हमारे इस निरूपण को बल मिलता है कि चतुर्द्वीप भूगोल की दक्षिणी नदी गंगा (जंबू) आधुनिक कृष्णगंगा ही है।

१९. मेरु की उत्तरी नदी भद्रा का समीकरण आपाततः उसके निकास की पहिचान—अपेक्षाकृत कठिन है; किंतु उसके उत्तरी द्वीप उत्तर कुरु के चीन्हने में वैसी अड़चन नहीं है। अतएव हम उसे ही लेंगे।

ई० दूसरी शती के प्रसिद्ध रोमन इतिहासवेत्ता टालमी ने उत्तर कुरु की अवस्थिति पामीर प्रदेश में बतलाई है[1]। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उत्तर कुरु हिमवान् के परे था। हिमवान् बृहत्तर हिमालय का नाम है। इस प्रकार टालमी और ऐतरेय दोनों के हिसाब से उत्तर कुरु का प्रदेश एक ठहरता है। बौद्ध साहित्य तथा भारत (सभा०) से इसका अनुमोदन होता है। इंडियन ऐंटिक्वेरी (१९१९, पृ० ६५ तथा आगे) के एक गवेषणापूर्ण निबंध में प्रतिपादित किया गया है कि उत्तर कुरु शकों और हूणों के सीमांत पर थियानशान[2] पर्वत के तले था। इस मत का भी उक्त प्रमाणों से सामंजस्य है। अतएव उत्तर कुरु की यह भौमिक स्थिति स्वीकार्य है।

'वायु के निम्नांकित वचन से भी उत्तर कुरु सबंधी हमारे मत की पुष्टि होती है—

उत्तराणां कुरूणां तु पार्श्वे ज्ञेयन्तु दक्षिणे।
समुद्रमूर्मिमालाढ्यं नाना स्वर विभूषितम्'[3]॥

---

१. इंडियन ऐंटिक्वेरी, जुलाई १९३३, पृ० १२२, नोट ९

२. थियानशान की प्रधान शाखा कुरुक-ताग़ अर्थात् कुरुक पर्वत का कुरुक शब्द कुरु का ही रूप लक्षित होता है; क्योंकि जैसा हम ऊपर देखते आए हैं, उधर के कितने ही नामों में हमारे यहाँ के प्राचीन रूप चले आते हैं। यथा—अक्शू इत्यादि वंक्षु; सी-तो=सीता; मुंजवान=मुज (ताग़) एवं शीतान=शीतांत। अतः इस सूची में पाँचवाँ कुरुक=कुरु भी बिना किसी संशय के जोड़ा जा सकता है।

३. वायु०, ४५।५१।

अर्थात् उत्तर कुरुओं के दाहिने पार्श्व में समुद्र लहराता था। भौमिक स्थिति के अनुसार यह बिलकुल यथार्थ है, क्योंकि हमारी स्थापना के अनुसार उत्तरकुरु पश्चिमी तुर्किस्तान ठहरता है। उसका समुद्र अरल सागर जो प्राचीन काल में कैस्पियन से मिला हुआ था, वस्तुतः प्रकृत प्रदेश के दाहिने पार्श्व में पड़ता है।

२०. जैसा हमने ऊपर कहा है, उत्तर कुरु की नदी भद्रा के चीन्हने का कोई ठीक साधन नहीं है। किंतु उसके संबंध में एक विलक्षण बात यह है कि उत्तर समुद्र के बदले पश्चिम समुद्र में गिरनेवाली लिखी गई है। यदि हम भद्रा को वर्तमान सीर दरिया मानें—क्योंकि वही उस प्रदेश की प्रधान नदी है और वह अंततः उत्तराभिमुख बहती भी है—तो उक्त पौराणिक वर्णन उस पर सोलहो आने घट जाता है, क्योंकि वह उत्तर में न गिर कर पश्चिम ओर अरल सागर में गिरती है।

२१. यदि मेरु की उत्तरी नदी की भौमिक स्थिति निर्णीत नहीं हो सकी तो क्या, उत्तर कुरु के स्थान-निर्देश से उसकी पूर्ति हो जाती है। अब लगे हाथ मेरु-संबंधी एक-आध पर्वतों की भौमिक स्थिति पर विचार कर लेना उपादेय होगा। इनमें से मुख्य निषध है जो कहीं मेरु का पश्चिमी और कहीं दक्षिणी पर्वत लिखा गया है।

२२. निषध-पर्वत से हिंदूकुश श्रृंखला का तात्पर्य है। हिंदूकुश का विस्तार वर्तमान भूगोल के अनुसार पामीर प्रदेश से, जहाँ से इसका मूल है, काबुल के पश्चिम कोहे-बाबा तक माना जाता है।[१] "कोहेबाबा और बंदे बाबा की परंपरा ने पहाड़ों की उस ऊँची श्रृंखला को हेरात तक पहुँचा दिया है। पामीर से हेरात तक मानो एक ही श्रृंखला है।"[२] अपने प्रारंभ से ही यह दक्षिण दाबे हुए पश्चिम की ओर बढ़ता है।[३] यही पहाड़ ग्रीकों का परोपानिसस है।[४] और इसका पार्श्ववर्ती प्रदेश काबुल उनका परोपानिसदाय।[५] ये दोनों ही शब्द स्पष्टतः 'पर्वत निषध' के ग्रीक रूप हैं, जैसा कि जायसवाल ने प्रतिपादित किया है।[६] इसके पहले संभवतः सर्वप्रथम परोपानिसस का निषध से समीकरण प्रसाद जी कर चुके थे[७]।

---

१. "थ्रू आउट इट्स लेंग्थ, फ्रॉम इट्स रूट्स इन द पामीर रीजन्स टिल इट फेड्स इनटु द कोहेबाबा, टु द वेस्ट ऑव काबुल....द हिंदूकुश स्ट्राइक्स वेस्टवर्ड्स....।"—इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, १३, ५१३।

२. पृ० १२७।

३. देखिए ऊपर टि० १।

४. "द रेंज ऑव द हिंदूकुश माउंटेन्स नोन टु द ग्रीक्स ऐज परोपानिसस....।" विं० स्मिथ०, पृ०११९–२०।

इस शब्द के रूप परोपामिसस इत्यादि भी मिलते हैं जिनमें एन् के स्थान पर एम् है; किंतु विंसेंट स्मिथ के शब्दों में—द स्पेलिंग परोपानिसस इज मोर करेक्ट दैन द फॉर्म्स विद एम —वही, पृ० १८९।

५. वही, पृष्ठ ११६

६. इंडियन ऐंटिक्वेरी, सितंबर, '३३, पृ० १६९

७. कोशोत्सवस्मारक संग्रह, पृ० १६५

२३. इसी प्रांत की कुनार शृंखला का, जो हिंदूकुश का एक बढ़ाव है, प्रसिद्ध शिखर कोहेमोर बाजोर[1] में है जिसे इसके आदिम निवासी कामदेश-काफिर जो अब निचले बशगोल में जा बसे हैं, 'गिर निसा' (अर्थात् गिरिनिसा) कहते हैं[2]। सिकंदर के समय में भी इसका ही नाम था और संयोगवश ग्रीस में भी निसा नामक एक पवित्र पर्वत होने के कारण यहाँ के निवासियों ने उस पवित्र पहाड़ से अपना काल्पनिक संबंध जोड़ कर सम्राट् से प्राणदान पाया था[3]। इसी प्रसंग में इसका उल्लेख सिकंदर-कालीन ग्रीक ऐतिहासिक साहित्य में भी आया है। अस्तु, यह गिर निसा तीन शिखरवाली चोटी है। इन तीन शिखरों का उल्लेख ग्रीकों ने भी किया है[4] और वे आज भी पेशावर के दून से दिखाई देती हैं[5]। कहना न होगा कि यह 'गिर निसा' भी गिरि निषध का ही रूप है। इसमें का गिरि शब्द एक अर्थ रखता है। पौराणिक भूगोल में पहाड़ की शृंखला को 'पर्वत' और एक पहाड़ को 'गिरि' कहते हैं[6]। अर्थात् अंग्रेजी में क्रमशः माउंटन और हिल जिन अर्थों में आते हैं, ठीक उन्हीं अर्थों में ये शब्द आते थे। इस भाँति गिरि निषध का अर्थ हुआ निषध शृंखला का एक पहाड़, और बात भी यही है। लोकपद्म के पश्चिमी पर्वत निषध के 'केशरायलों' में त्रिशृंग नाम का भी एक पहाड़ आता है[7]। वह त्रिशृंग अन्य नहीं, यही तीन शृंगवाला 'गिर निसा' अर्थात् कोहेमोर है।

२४. इन प्रमाणों से निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि हिंदूकुश ही अपने यहाँ का निषध पर्वत है; हाँ, उसके प्राचीन और वर्तमान सिवानों में थोड़ा बहुत अंतर हो सकता है। वेंदिदाद में जो 'निशय' आता है वह भी यही निषध होना चाहिए, क्योंकि वहाँ इसके बाद ही मौरु (मेरु) का उल्लेख है[8]। अस्तु, पौराणिक वर्णनों में कहीं तो इस निषध को मेरु के पश्चिम और कहीं दक्षिण कहने का अर्थ यह होता है कि इसकी स्थिति मेरु के पश्चिम-दक्षिण में है; वस्तुतः ऐसा है भी।

---

१. ऐन इन्टरेस्टिंग फीचर इन बाजोर टोपोग्राफी इज ए माउंटन स्पर फ्राम द कुनार रेंज, व्हिच वर्किंग ईस्टवर्ड्स् कल्मिनेट्स इन् द वेल नोन पीक आँव कोहेमोर। ब्रिटैनिका, ३,२२६।

२. इट इज आलसो इन्टरेस्टिंग टु फाइंड दैट ए सेक्शन आँव द काफरी कम्यूनिटी आँव कामदेश स्टिल चैट्‌स हिम्स टु द गॉश हू स्प्रेंग फ्रॉम गिर निसा (द माउंटेन आँव निसा); व्हाइल्स्ट दे मेनटेन दैट दे ओरिजिनली मायग्रेटेड फ्रॉम द स्वात कंट्री टु द प्रेजेंट हैबिटैट इन द लोअर बशगोल।
—वही।

३. ए फैन्सीड कनेक्शन विद डायोनिसस ऐंड द सैक्रेड माउंट निसा आँव द ग्रीक लिजेंड गेव स्पेशल इंटरेस्ट टु द टाउन ऐंड हिल स्टेट काल्ड निसा, व्हिच वाज अमंग द प्लेसेज नेक्स्ट अटैक्ड.....। द इनहैबिटंट्स...अलेज्ड टु हैव क्लेम्ड देअर क्लिमेंसी आँन द ग्रउंड दैट दे वर ऐकिन टु डायोनिसस ऐंड द ग्रीक्स....ऐंड द ट्राइप्ल-पीक्ड माँउंटन व्हिच ओवर शैडोड देअर टॉउन वाज अदर दैन माउंट मेरस।—विंसेंट स्मिथ, पृ० ५२-३।

४. द कोहेमोर हैज बीन आयडेंटिफाइड ऐज मेरस आँव ऐरियन्स हिस्ट्री—द थ्री-पीक्ड माउंटन....। —ब्रिटेनिका, ३,२२६।

५. द थ्री पीक्स आर विजिब्ल फ्रॉम पेशावर।—विंसेंट स्मिथ, पृ० ५४।

६. अपर्वाणस्तु गिरयः पर्वभिः पर्वताः स्मृताः।—वायु० ४९।१३२।

७. वायु० ३६।२२

८. वेंदिदाद, ५

इसी प्रकार मेरु के पश्चिमी पर्वतों में एक का नाम वैदूर्य पर्वत है। यह, जैसा कि श्री जयचंद्र ने स्थिर किया है[1], बदख्शाँ है जहाँ का वैदूर्य आज लाल बदख्शानी कहा जाता है।

२५. इस प्रकार, जिस मेरु के पूर्व से यारकंद नदी (—सीता) निकली हो, पश्चिमी अंश में आमू (—सुवंक्षु) का उद्गम हो, उत्तर में कोई ऐसी नदी हो जो पश्चिमी समुद्र में गिरती हो तथा दक्षिण में दरद-कश्मीर में बहनेवाली कृष्णगंगा नदी हो; जिसके उत्तर में थियानशान के अंचल में बसा हुआ देश हो, जिसके पूर्व में मूज-ताग (मुंज) एवं शीतान (शीतांत) पर्वत हों, जिसके पश्चिम में बदख्शाँ (वैदूर्य पर्वत) हो और पश्चिम-दक्षिण में हिंदूकुश (निषध पर्वत) हो, उसके पहिचानने में अड़चन न पड़नी चाहिए।

२६. इन स्थानों के घिराव के कारण पुराणों की मेरु-विषयक यह कल्पना बड़ी यथार्थ और मार्मिक ठहरती है कि लोकपद्म की इस ढोंढी में उसके ये पार्श्ववर्ती स्थान पंखड़ियों और केशर की भाँति लगे हुए हैं। सचमुच मेरु को इन स्थानों ने ऐसा थाम रखा है जिसत रह किसी नगीने को उसके जड़ाव के काँटे पकड़े रहते हैं। फलतः यह डंके की चोट कहा जा सकता है कि पौराणिक मेरु वर्तमान भूगोल का 'पामीर' है। पामीर के सिवा वह दूसरा स्थान हो ही नहीं सकता।

२७. मेरु का जो भौमिक स्वरूप पुराणों में वर्णित है वह भी वर्तमान भूगोल के पामीर के चित्र से सर्वथा मिल जाता है। पुराणों के अनुसार इलावृत चतुरस्र है और मेरु शरावाकृति (सकोरे की आकृति का) है। इधर वर्तमान भूगोल में पामीर प्रदेश का मान १५०×१५० मील है[2], अर्थात् वह चतुरस्र है। इसी प्रकार वह चारों ओर हिंदूकुश, कराकोरम, काशगर और अल्ताई पहाड़ों की ऊँची ऊँची चोटियों की पट्टी से परिमंडित है—यह ठीक सकोरे की आकृति हो गई, ऊँची चोटियों की शृंखला जिसकी दीवार हुई और बीच का चतुरस्र पेंदा हुआ। यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि मेरु के इस आधुनिक नाम पामीर में हम मेरु शब्द को आश्लिष्ट पाते हैं, यह शब्द सपाद-मेरु का जन्य है। मेरु के संबंध में सपादमेरु एवं मेरु के महापाद का व्यवहार प्रायः हुआ है, अतः यह व्युत्पत्ति अशंकनीय है। इसी प्रकार कश्मीर शब्द भी मेरु का एक अंग जान पड़ता है। जैसा विद्वानों का अनुमान है, अवश्य यह शब्द कश्यपमेरु का अपभ्रंश है। नीलमत पुराण के अनुसार भी कश्मीर कश्यप का क्षेत्र है। साथ ही तैत्तिरीय आरण्यक (१।७) में कहा गया है कि महामेरु को कश्यप नहीं छोड़ता। यद्यपि यह आरण्यक ई० पहली शती के लगभग का है किंतु इसमें उक्त उल्लेख का यह तात्पर्य हुआ कि उस समय यह बात इतनी मान्य और बद्धमूल थी कि उसे ऐसे प्रतिष्ठित वाङ्मय में स्थान मिल सकता था। निदान तैत्तिरीय आरण्यक का महामेरु कश्यप की प्रियता के कारण यही काश्मीर जान पड़ता है।

२८. पुराणों ने जिस युग में अपना वर्तमान रूप पाया उस युग में मेरु-मंडल (पामीर प्रदेश) का नाम कांबोज था। उस नाम की कहीं भनक तक न देकर पुराणों का मेरु भूगोल का

१. भारत भूमि और उसके निवासी, पृ० १६३

२. द टोटल एरिया आँव द पामीर कंट्री में बी एस्टिमेटेड एज अबाउट १५० एम—१५० एम।—ब्रिटैनिका २०।६५७

घोष करना और उसके इतने ब्योरे में जाना इस बात का एकांत प्रमाण है कि उसकी परंपरा बहुत प्राचीन थी, एवं सर्वलोक सम्मत तथा समादृत थी।

२९. अस्तु। ऊपर दिए गए प्रमाणों से यह पूर्णतया निश्चित है कि आर्यों की आदिभूमि पुराण वर्णित मेरु (स्वर्ग) ही है, उत्तरी ध्रुव या कोई अन्य प्रदेश नहीं; तथा वर्तमान भूगोल के अनुसार उसकी भौमिक स्थिति असंदिग्ध है। मेरु पामीर के अतिरिक्त अन्य कोई प्रदेश नहीं हो सकता।

सूर्य का निर्माण, विकास तथा विनाश

उदित नारायण सिंह.

यह तो ठीक ठीक माल्म नहीं कि किस आर्य ऋषि के पुलकित कंठ से सूर्य का अमर महिमा-गान 'गायत्री' मंत्र के पावन स्वरों में उच्छ्वसित हो उठा, पर इसमें संदेह नही कि सूर्य की जिस अक्षय ऊर्जा-स्रोत तथा प्राणदायिनी रश्मियों के दिव्य प्रभाव को दृष्टि में रख सविता स्तवन के इस महामंत्र की रचना हुई उनका इसी प्रकार उदार-विकिरण 'सूर्य-देव' *आर्य-संस्कृति* के आविर्भाव के युगों पहले से करते आ रहे हैं। वैदिककाल से आज तक सूर्य के प्रकाश चमक तथा आकार प्रकार में किसी तरह का ऐसा परिवर्त्तन नहीं हुआ है जो देखने पर आसानी से स्पष्ट हो जाय और इसलिये यह सोचना कि सूर्य पृथ्वी के प्राणियों के प्रति चिरकाल तक इसी प्रकार सदय और उदार बना रहेगा सर्वथा स्वाभाविक है। आर्यों ने सूर्य के महत्व को पहचाना और यह भली भाँति समझ लिया था कि सूर्य के बिना पृथ्वी पर किसी प्रकार जीवन संभव नहीं, अतः सूर्य को बहुत बड़ा देवता मानकर उन्होंने इसकी उपासना की। अब तो यह सर्व साधारण को माल्म है कि सूर्य के प्रकाश के ही कारण दिनरात होते है, ऋतुएँ बदलती है तथा ग्रह और उपग्रह चमकते रहते हैं। पर सभी को शायद इस तथ्य का पता नहीं है कि सूर्य के विकिरण में उर्जा का एक अजस्र स्रोत निरंतर प्रवाहित होता रहता है, और सत्य तो यह है कि इस भूतल पर शायद ही ऐसा कोई वृत्त घटित होता हो जिसके मूल में सूर्य के इस ऊर्जा-विकिरण का प्रभाव न हो। प्रकृति के जिन उप-करणों का शक्ति के रूप में मानव-समाज ने उपयोग किया है उन सब के निर्माण में सूर्य-रश्मियों का विकिरण सहायक रहा है। पृथ्वी पर शक्ति के उद्गम प्रधानतः अग्नि, जल तथा वायु हैं और इन तीनों को शक्ति प्रदान करना सूर्य का काम है। लकड़ी, कोयला और तेल जलाकर हम तरह तरह की शक्तियाँ उत्पन्न करते हैं तथा उनके द्वारा कल कारखाने और इंजन आदि चलाते हैं। पर लकड़ी कोयला अथवा तेल को जलाने के क्रम में हम केवल उनके भीतर सूर्य-रश्मियों द्वारा केंद्रीभूत ऊर्जा का ही उपयोग करते हैं। पेड़ों की हरी पत्तियों के ऊपर सूर्य की किरणें पड़ने से हवा की कार्बन-डाई-अक्साइड दो तत्वों—कार्बन और ऑक्सिजन—में बँट जाती है। ऑक्सिजन तो हवा में मिल जाती है और कार्बन पेड़ों के शरीर में जमा होता रहता है। लकड़ी के सूख जाने पर यही कार्बन ऑक्सिजन के साथ संयोग होने से जलता है। कोयला और तेल के जलने का भी यही कारण है।

तो जिस सूर्य के ऊर्जा-विकिरण के ऊपर मानव-संसार के सभी सुख-साधन तथा समस्त प्राणी-जगत का जीवन निर्भर है उसके विषय में जानने का कुतूहल मानव-हृदय में होना बहुत स्वाभाविक है। सूर्य की उत्पत्ति कैसे हुई, उसमें इतनी गर्मी कहाँ से आई, उसके भीतर कौन-सा अलौकिक ईंधन युगों से जल रहा है, ऊर्जा का यह अक्षय भांडार उसे कहाँ से मिला और भविष्य में उसका जीवन कैसा रहेगा, ये बहुत ही महत्वपूर्ण और मनोरंजक प्रश्न हैं। शताब्दियों से मानव मस्तिष्क इन प्रश्नों के उचित उत्तर की अनवरत खोज करता रहा है, और प्रायः उसके प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए हैं। परंतु अंतिम बीस पचीस वर्षों से भौतिक-विज्ञान का जो मार्मिक विकास हुआ है उसके आधार पर आज हम इन प्रश्नों के सम्यक् समाधान की दृढ़तापूर्वक आशा कर सकते हैं। इसके पहले कि इन प्रश्नों की मीमांसा की जाय यह अच्छा होगा कि हम सूर्य के आकार प्रकार तथा उसके बाह्यरूप का थोड़ा विवरण दे दें।

सूर्य का तापक्रम

हमारा सूर्य एक अत्यंत गरम गैस का भीमाकार गोला है, वह इतना गरम है कि हम आसानी से सोच नहीं सकते। यह कहना कि सूर्य के भीतर एक प्रचंड अग्नि जल रही है, गलत होगा, क्योंकि जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, सूर्य के भीतर की गर्मी किसी प्रकार के ईंधन के जलने अथवा रासायनिक ज्वाला के कारण नहीं है। सूर्य की किरणों से पृथ्वी पर जो गर्मी मिलती है उसके आधार पर हिसाब लगाने से ज्ञात हुआ है कि सूर्य की सतह का तापक्रम करीब ६००० सें० (सेंटीग्रेड) है। किसी भी प्रकार के रासायनिक अग्निकांड द्वारा पृथ्वी के ऊपर या वैज्ञानिक प्रयोग-शालाओं में इतनी प्रचंड गर्मी उत्पन्न करना असंभव है। बिजली द्वारा परिचालित भट्ठियों में अधिक से अधिक जो तापक्रम होता है वह सूर्य की सतह के तापक्रम से बहुत कम होता है। वस्तुतः इतने अधिक तापक्रम में पृथ्वी पर उपलब्ध कोई भी पदार्थ (जिसकी सहायता से किसी भट्ठी का निर्माण किया जा सकता है—ऐसे भी ऊष्म-सह पदार्थ जैसे प्लैटिनम, कार्बन आदि) गलकर केवल द्रव ही नहीं बनेगा अपितु भाप बनकर उड़ जायगा। कोई भी पदार्थ इतने अधिक ताप में केवल गैस के ही रूप में रह सकता है और सूर्य के भीतर की द्रव्य-राशि गैस के ही रूप में है। सूर्य की सतह पर जब इतना प्रचंड तापक्रम है तो सूर्य के भीतरी भाग की गर्मी तो और भी अधिक होनी चाहिए; क्योंकि भीतर अधिक गर्मी होने के कारण ही भीतर से बाहर की ओर ताप का प्रवाह होगा और सूर्य के बाहर गर्मी बिखरती जायगी। सूर्य की सतह से केंद्र की ओर गर्मी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और सूर्य की आंतरिक-स्थिति का अध्ययन करने से पता चलता है कि कि केंद्रीय भाग का ताप-क्रम २ करोड़ अंश सेंटीग्रेड है। इस तापक्रम की प्रचंडता का अनुमान हम इस बात से कर सकते हैं कि यदि साधारण आकार वाले किसी स्टोव में इतनी गर्मी किसी प्रकार उत्पन्न की जा सके (और यदि स्टोव ऐसे पदार्थ का बना हो जो ऐसी गर्मी सह सके) तो उसके ताप के कारण सैकड़ों मील की दूरी तक सभी वस्तुएँ जल कर भस्म हो जायँगी।

सूर्य का घनत्व

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अत्यंत अधिक गर्मी के कारण सूर्य की सतह पर अथवा उसके भीतर की वस्तुएँ केवल गैस रूप में हैं। लेकिन गैस से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सूर्य के भीतर पृथ्वी की हवा की तरह हल्की गैस भरी हुई है। गैस और ठोस अथवा द्रव में मौलिक अंतर

इस बात का है कि गैस का आयतन दवाव डालकर जितना चाहें उतना कम किया जा सकता है, और यदि बाहरी दबाव न हो तो गैस अपने आप बाहर की ओर अबाध फैलती जायगी। परंतु दबाव डालने से ठोस अथवा द्रव के आकार-प्रकार में किसी प्रकार का अंतर नहीं किया जा सकता। पृथ्वी के ऊपर पाई जानेवाली गैसें प्रायः बहुत विरल होती हैं और उनका घनत्व ठोस और द्रव की अपेक्षा बहुत कम होता है। पर सूर्य के भीतर की गैस बाहरी दबाव के कारण बहुत घनीभूत हो जाती है। ज्यों-ज्यों सूर्य के केंद्र की ओर बढ़ते जाँय, गैस का दबाव बढ़ता जाता है और फलस्वरूप उसका घनत्व भी बढ़ता जाता है। सूर्य का औसत घनत्व पानी से १.४ गुना अधिक है और सूर्य के केंद्रीय भाग का घनत्व तो उसके औसत घनत्व से ५० गुना अधिक है, अर्थात् सूर्य का केंद्रीय भाग पारा की अपेक्षा छः गुना अधिक सघन है। केंद्रीय भाग का घनत्व इतना अधिक इसलिये है कि वहाँ गैस का दबाव पृथ्वी के वायुमंडल के दबाव से १० अरब गुना अधिक है। इसके विपरीत सूर्य का बाह्य-प्रदेश इतना विरल है कि वहाँ का दबाव हमारे वायुमंडल के दबाव का हजारवाँ भाग है। क्योंकि सूर्य का औसत घनत्व पृथ्वी की अपेक्षा काफी कम है, इसीलिये सूर्य का आयतन पृथ्वी के आयतन से करीब १३ लाख गुना होते हुए भी उसका द्रव्य-पुंज (मास) पृथ्वी के द्रव्यपुंज से केवल ३,३३,४३४ गुना अधिक है।

सूर्य का आकार और दूरी

सूर्य का व्यास ८६४००० मील है और यह पृथ्वी के व्यास से करीब १०९ गुना अधिक है। चूँकि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक दीर्घ-वृत्त में घूमती रहती है, इस लिये सूर्य से उसकी दूरी प्रतिक्षण बदलती रहती है, लेकिन सूर्य से उसकी औसत दूरी करीब ९३० लाख मील है। यह दूरी कितनी अधिक है इसका अनुमान हम आसानी से इस बात से लगा सकते हैं कि यदि कोई हवाई जहाज प्रतिघंटा १८० मील की चाल से दिन-रात निरंतर उड़ता रहे तो उसे पृथ्वी से उड़कर सूर्य के पास पहुँचने में करीब ६० वर्ष लगेंगे। विश्व में प्रकाश-रश्मियाँ सब से अधिक वेग से चलती हैं। उनकी गति एक सेकेंड में १,८६,२७१ मील है। इतने प्रचंड वेग से चलने पर भी सूर्य की किरणों को पृथ्वी तक पहुँचने में ८ मिनट लगते हैं। इस लिये हम सूर्य को आकाश में जब देखते हैं तो उस समय वह ठीक उसी स्थान पर नहीं रहता जहाँ दिखाई पड़ता है। वह तो हमें वहाँ दिखाई पड़ता है जहाँ वस्तुतः ८ मिनट पहले था।

सूर्य के विकिरण की ऊर्जा

यह जानने के लिये कि सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा प्रतिक्षण कितनी ऊर्जा का विकिरण किया करता है यह आवश्यक है कि ऊर्जा के माप करने की विधि हम अच्छी तरह समझ लें। यह तो साधारणतः सभी जानते हैं कि गर्मी प्रकाश बिजली आदि ऊर्जा के विभिन्न रूप हैं। पर शायद सब को यह नहीं मालूम है कि सापेक्षवाद के सिद्धांत ने यह सिद्ध कर दिया है कि द्रव्य-पुंज और ऊर्जा में कोई मौलिक विभेद नहीं है।

भौतिक विज्ञान में ऊर्जा के नापने की इकाई 'अर्ग' है। वस्तुतः यह बड़ी छोटी इकाई है। एक ग्राम कोयला जलाने से जितनी ऊर्जा निकलेगी उसका परिमाण ३०० अरब अर्ग है। एक बिजली का बल्व प्रति सेकंड करीव २५ अरब अर्ग ऊर्जा खर्च करता है। पृथ्वी के धरातल के एक

सेंटीमीटर लम्बे तथा एक सेंटीमीटर चौड़े भाग पर लंबवत् पड़नेवाली सूर्य की किरणें प्रति सेकंड १३ लाख ५० हजार अर्ग ऊर्जा का विकिरण करती रहती हैं। इस प्रकार यदि हिसाब लगाया जाय तो मानव संसार में प्रति वर्ष कोयला तथा अन्य प्रकार के ईंधन जलाकर हम जितनी ऊर्जा उत्पन्न करते हैं उससे अरबों करोड़ों गुनी अधिक ऊर्जा प्रति वर्ष सूर्य द्वारा हमारी पृथ्वी को मिलती है। और सूर्य प्रतिक्षण अपने भीतर से जितनी ऊर्जा विकिरण द्वारा बाहर बिखेरता है उसका बहुत ही थोड़ा अंश हमारी पृथ्वी को मिलता है। विकिरण की ऊर्जा का अधिकांश तो शून्य में निरंतर व्यर्थ बिखरता रहता है। गणित द्वारा देखा गया है कि सूर्य की सतह का एक वर्ग सेंटीमीटर प्रति सेकंड ६२ अरब अर्ग ऊर्जा बाहर प्रवाहित करता रहता है।

सूर्य का बाह्य रूप--सूर्य-कलंक

दूरबीन से देखने पर (और कभी-कभी रंगीन शीशे द्वारा केवल आँखों से भी देखने पर) सूर्य की सतह पर काले काले धब्बे दिखाई देते हैं। इन धब्बों को 'सूर्य-कलंक' कहा जाता है। इन धब्बों का वास्तविक परिमाण बहुत अधिक होता है। कभी-कभी तो इनके व्यास ५०,००० मील लम्बाई के होते है। वास्तव में ये काले नहीं होते हैं, और हम को काले इसलिये दिखाई पड़ते हैं कि उनकी पृष्ठभूमि में सूर्य का अधिक प्रभापूर्ण भाग रहता है तथा ये धब्बे अपने आसपास के भाग से अपेक्षाकृत कम चमकीले होते हैं।

सूर्य का शरीर तो गैस का बना हुआ है, और उसके भीतर की गैस निरंतर घूमती रहती हैं। सूर्य के बाहरी भाग के भिन्न-भिन्न प्रांतों में इनके घूमने की गति एक ही न होने के कारण स्थान-स्थान पर गैस-पुंज भँवर और आवर्त्त का रूप धारण कर लेते हैं--ठीक उसी प्रकार जैसे वर्षाकाल की तीव्रगामी नदियों में जगह-जगह धाराओं की गति-भिन्नता के कारण आवर्त्त और भँवर बन जाते हैं। इन आवर्त्तों के बीच से चक्कर खाता हुआ गैस-पुंज ऊपर उठता है तथा ऊपर उठने पर बाहर की ओर फैलता है। यही गैस-आवर्त्त सूर्य-कलंक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। फैलने के कारण गैस का तापक्रम कम हो जाता है, इसलिये देखने पर ये आवर्त्त काले धब्बे की तरह मालूम पड़ते हैं। ये धब्बे सूर्य के मध्यभाग में ही अधिक दिखाई पड़ते है। तथा कभी अधिक संख्या में रहते हैं और कभी कम। इन धब्बों के विषय में एक मनोरंजक बात जिसका अभीतक कोई समाधान नहीं मिल सका है, यह है कि अधिकतम संख्या में ये प्राय: एक नियंत्रित अवधि के बाद ही दिखाई पड़ते हैं। अधिक से अधिक संख्या में उनके प्रकट होने की यह चक्रीय अवधि करीब-करीब ११।। वर्ष की होती है।

सूर्य-कलंक के इस अवधि-क्रम का कुछ प्रभाव हमारी पृथ्वी के जीवन पर भी कई प्रकार से पड़ता है। जैसे अधिक सूर्य-कलंक के साथ-साथ पृथ्वी पर चुम्बकीय उत्पात होते है। ध्रुव प्रदेश में 'अरोरा बोरियालिस' का चमत्कारपूर्ण दृश्य दिखाई पड़ता है, और औसत वार्षिक तापक्रम तथा वर्षा-परिमाण भी बढ़ जाया करते हैं। ए० ई० डगलस महोदय ने पुराने वृक्षों के तनों पर पड़ी हुई गोली धारियों का अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि सूर्य-कलंक की इस ११ वर्षीय चक्रीय अवधि का प्रभाव वृक्षों के विकास पर भी पड़ता है। इन घटनाओं के अतिरिक्त कुछ लोग मानव-संसार में होनेवाली राजनीतिक तथा सामाजिक क्रांतियों का संबंध भी सूर्य-कलंक की

अधिकतम संख्या के साथ जोड़ते हैं[1], परंतु ऐसे निष्कर्षों के लिये कोई वैज्ञानिक कारण नहीं दीखता। ये धब्बे सूर्य की सतह पर चारों ओर घूमते रहते हैं जिससे पता चलता है कि सूर्य अपनी धुरी पर चक्कर काटता है। धुरी के चारों ओर सूर्य के घूमने की अवधि इन धब्बों की गति का निरीक्षण कर निकाली गई है। सूर्य का मध्यवर्ती भाग धुरी के चारों ओर २५ दिन के भीतर एक चक्कर काटता है पर सूर्य के ध्रुव प्रदेश करीब ३४ दिन में एक चक्कर पूरा करते हैं। सूर्य के भीतर गैस होने के कारण विभिन्न भागों के चक्कर काटने की अवधि में अंतर हो गया है।

सूर्य का निर्माणकाल

सूर्य के संबंध में महत्वपूर्ण प्रश्नों का उचित उत्तर पाने के लिये उसका निर्माणकाल जानना आवश्यक है। इतना तो निश्चित है कि सूर्य का निर्माण पृथ्वी के निर्माण के पहले हुआ होगा, क्योंकि पृथ्वी आदि ग्रह सूर्य से निकल कर बने हैं। लेकिन पृथ्वी का निर्माणकाल भी अभी तक निश्चयपूर्वक नहीं निर्धारित किया जा सका है। भारत के प्रथम आर्य ने जब सूर्य को देखा और उसकी स्तुति की तब भी सूर्य अपने उसी रूप में था जैसा आजकल है। तब से लेकर आजतक जितना समय बीता है वह सूर्य के जीवनकाल का एक क्षण मात्र है। पृथ्वी के ऊपर मानवता का जन्म होने के बहुत पहले से सूर्य अपने इसी रूप में इस विराट् विश्व के भीतर गर्मी तथा प्रकाश बिखेरता चला आ रहा है। इस बात का अत्यंत मान्य प्रमाण हमें भूगर्भ में स्थित चट्टानों तथा अन्य द्रव्यों द्वारा मिलता है। पृथ्वी के भीतर से जो कोयला निकलता है उसकी रचना से यह स्पष्ट मालूम होता है कि पृथ्वी को आजकल जिस परिमाण में गर्मी तथा प्रकाश मिल रहे हैं, ठीक उसी मात्रा में उस समय भी गर्मी और प्रकाश मिलते थे जब इन कोयलों का निर्माण हुआ। इसी तरह भूगर्भ में मिलनेवाले फॉसिल्स के अध्ययन से विश्वसनीय प्रमाण मिलता है। प्राणि-जगत के क्रमिक विकास में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं हुआ है। यदि सूर्य की गर्मी तथा उसके प्रकाश में किसी प्रकार का उपगण्य अंतर हुआ होता तो निश्चय ही प्राणिजगत के विकास में व्यवधान उपस्थित होते, क्योंकि यदि सूर्य की विकिरण-ऊर्जा इस समय ही आधी ही रह जाय तो पृथ्वी जमकर बरफ हो जायगी और यदि विकिरण ऊर्जा आज से चौगुनी हो जाय तो पृथ्वी के समुद्र उबलने लग जायँगे। तो इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने हैं कि करोड़ों वर्ष पूर्व से, जब पृथ्वी पर जीवन का उद्भव हुआ, सूर्य के आकार-प्रकार में किसी प्रकार का अंतर नहीं हुआ है।

पर पृथ्वी पर जीवन प्रारंभ होने के बहुत पहले से ही हमारी पृथ्वी बनी है। और पृथ्वी कम से कम कितने वर्ष पूर्व बनी होगी इस प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर हमें भूगर्भ स्थित चट्टानों की पर्पटी में पड़े हुए यूरेनियम थोरियम आदि तेजोद्गर (रेडियो ऐक्टिव) तत्वों द्वारा मिलता है।

---

[1] सूर्य-कलंक की अधिकतम संख्या निम्नलिखित वर्षों में रही है। सन् १७७८ ई०, १७८८, १८०४, १८१६, १८३०, १८३७, १८४८ १८६०, १८७१, १८८३, १८९४, १९०५, १९१७, १९२८ और १९३८–३९। संयोग से अमेरिका की क्रांति, फ्रांस की क्रांति, पेरिस-कम्यून, रूस की दोनों क्रांतियाँ, भारत का आंदोलन, द्वितीय महायुद्ध, आदि घटनाएँ इन्हीं वर्षों के आसपास घटित हुई हैं।

इन तेजोद्गार तत्वों के कुछ अंश अपने आप ही विघटित होते रहते हैं। पर इन तत्वों का ह्रास इतना धीरे-धीरे होता है कि अरबों वर्ष बाद ये बदलकर कुछ-कुछ सीसा के ढंग के हो जाते हैं। पृथ्वी के भीतर-पुरानी चट्टानों की पर्त्त में पड़े हुए इन द्रव्यों के विघटन के आधार पर गणना करने से पता चलता है कि पृथ्वी के—पिघले हुए लावा से—ठोस रूप में परिवर्तित होने का क्रम कम से कम १·६ अरब वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ होगा। पर पृथ्वी सूर्य के शरीर से निकलने के बाद शीघ्र ही ठोसरूप में बदलने लगी होगी। अतः हमें इस प्रकार पृथ्वी के निर्माणकाल का काफी विश्वसनीय अनुमान हो जाता है। और सूर्य तो पृथ्वी के पहले ही बना होगा, अतः हम कह सकते हैं कि सूर्य का निर्माण कम से कम १·६ अरब वर्ष पूर्व तो हुआ ही होगा। विश्व में फैले हुए तारों और तारक-समूहों की गति का अध्ययन करने के बाद वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि तारों का निर्माण आज से अधिक से अधिक २ अरब वर्ष पूर्व हुआ होगा तो हमारा सूर्य भी इसी अवधि के भीतर बना होगा। इस तरह सूर्य का निर्माण आज से पूर्व १॥ और २ अरब वर्षों के बीच में हुआ होगा। यदि हम यह मान लें कि सूर्य का निर्माण दो अरब वर्ष पूर्व हुआ है तो अपने जन्मकाल से आजतक सूर्य अपने विकिरण द्वारा करीब-करीब २४×१०^{४०} (२४ के आगे ४० शून्य) अर्ग ऊर्जा विश्व में बिखेर चुका है। अब प्रश्न उठता है कि सूर्य के भीतर इतनी प्रचंड शक्ति कहाँ से आई? और इस प्रश्न के उत्तर में हम दूसरा प्रश्न पूछते हैं कि सूर्य के भीतर यह भयंकर गर्मी कैसे उत्पन्न हुई और वह इतना खर्च होने पर भी किस प्रकार वर्तमान रूप में बनी हुई है?

सूर्य के भीतर क्या 'जलता' है?

प्रारंभ में मनुष्य के मस्तिष्क ने यह सोचा कि सूर्य के भीतर कोई वस्तु जल रही है। और यह धारणा निकट अतीत तक बनी रही है। इसी विश्वास के आधार पर प्रामीथियस की कहानी बनाई गई कि उसने मनुष्यता के लाभ के लिये सूर्य के भीतर से आग चुराई थी। यदि वस्तुतः सूर्य के भीतर कुछ जलता है तो स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि कौन-सी वस्तु जल रही है, और इस प्रश्न के समाधान के क्रम में हमें ज्ञान हो जायगा कि सूर्य के भीतर कोई अग्नि नहीं जल रही है। क्योंकि यदि हम यह मान लें कि सूर्य का सारा शरीर कोयले का बना था और जब आर्यों ने पहले पहल सूर्य का स्तवन किया तभी से यह कोयला जलना प्रारंभ किया तो अबतक सारे के सारे सूर्य को जलकर राख हो जाना चाहिए था। इसके विपरीत हम ऊपर देख आए हैं कि मानव-संस्कृति के उन्मेष के बहुत पहले से ही सूर्य इसी प्रकार चमकता चला आ रहा है। यदि सूर्य के भीतर कोयले के अतिरिक्त और किसी प्रकार का रासायनिक ईंधन जलता होता तो वह भी सूर्य के जीवन के लाखवें भाग के लिये पर्याप्त न होता।

सत्य तो यह है कि सूर्य इतना अधिक गरम है कि उसके भीतर जलने की क्रिया अथवा इस प्रकार की कोई और रासायनिक प्रतिक्रिया हो ही नहीं सकती। कोई वस्तु आक्सिजन के साथ संयोग होने पर जलती है। लकड़ी का कार्बन कुछ ताप में जब हवा की ऑक्सिजन से मिलता है तो लकड़ी जलने लगती है। जलने की क्रिया को प्रश्रय देनेवाले जितने भी मिश्र रासायनिक द्रव्य हैं वे सब सूर्य के भीतर के प्रचंड ताप के कारण अपने मौलिक तत्वों में छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सूर्य के भीतर की गैस इन्हीं मौलिक तत्वों का एक अद्भुत मिश्रण मात्र है। सूर्य के भीतर का तापक्रम ६००० से० ग्रे० से अधिक है। इतनी अधिक गर्मी में सभी संयुत् द्रव्य (कम्पलेक्स कम्पाउंड्स)

छिन्नभिन्न हो अपने मौलिक अणुओं म बिखर जाते हैं और रासायनिक अग्नि-ज्वाल को प्रश्रय देने की उनकी क्षमता सर्वथा विनष्ट हो जाती है।

तो फिर सूर्य के भीतर इतनी प्रचंड गर्मी आई कहाँ से और वह इस रूप में किस प्रकार बनी हुई है?

संकोचन का सिद्धांत

करीब एक शताब्दी पूर्व हेल्महोल्त्स नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने इस प्रश्न के समाधान का प्रयत्न किया कि सूर्य की गर्मी का क्या कारण है। उसने यह कल्पना की कि, प्रारंभ में हमारा सूर्य एक ठंढी गैस का वृहदाकार गोला था। उस समय इसका व्यास इसके वर्त्तमान व्यास से बहुत बड़ा रहा होगा। गैस का यह विराट गोला अपने ही गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से धीरे-धीरे संकुचित होने लगा। इस संकोचन के कारण भीतर की गैस पर बाहर से दबाव पड़ा और परिणाम स्वरूप भीतर की गैस का तापक्रम बढ़ने लगा। दबाव के कारण गैस का तापक्रम बढ़ता है यह सत्य मोटर अथवा सायकिल में हवा भरनेवाले साधारण पंप के योग के समय देखा जा सकता है। पंप के भीतर की हवा पर दबाव पड़ने के कारण उसका तापक्रम बढ़ जाता है और फलतः पंप गरम हो जाता है साथ ही गरम होने पर गैस बाहर की ओर फैलती है और बाहर से अधिक दबाव पड़ने पर इसकी गर्मी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, तथा भीतर से बाहर की ओर इसका दबाव भी बढ़ता जाता है। ठंढी गैस का गोला जब संकुचित होने लगा, तो भीतर गैस का तापक्रम बढ़ा और गुरुत्वाकर्षण के कारण गोले का संकोचन चलता रहा। इस क्रम से उत्तरोत्तर भीतर की गैस का तापक्रम बढ़ता जायगा और फलस्वरूप उसका दबाव भी बढ़ता जायगा तथा धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आ जायगी कि भीतर की गैस का दबाव बाहर के द्रव्य के भार के बराबर हो जाय और संकोचन का क्रम रुक जाय। पर सूर्य के गोले के साथ एक बात यह थी कि ज्यों-ज्यों संकोचन के क्रम में सूर्य गरम होता गया त्यों-त्यों इसकी गर्मी का कुछ अंश बाहर के शून्य देश में बिखरता गया, अतः भीतर की गैस का उतना दबाव नहीं बढ़ सका कि संकोचन बंद हो जाय। हेल्महोल्त्स के मतानुसार इस समय हमारा सूर्य इसी संकोचन के क्रम में है और उसका विकिरण किसी रासायनिक ज्वाला के कारण नहीं अपितु गुरुत्वाकर्षण द्वारा उन्मुक्त ऊर्जा के कारण है।

हेल्महोल्त्स का यह मत सूर्य के प्रारंभिक विकास के लिये उपयुक्त मालूम होता है पर सूर्य की वर्त्तमान अवस्था और उसकी आजकल की गर्मी के स्रोत के लिये उसने जो समाधान दिया है वह ठीक नहीं जँचता। हेल्महोल्त्स के सिद्धांत के आधार पर यदि सूर्य के ऊर्जा-विकिरण का हिसाब लगाया जाय तो पता चलेगा कि प्रारंभ से सिकुड़ते-सिकुड़ते अपने वर्त्तमान रूप तक आने में सूर्य विश्व में जितना ऊर्जा-विकिरण कर सकता है वह उसके वास्तविक ऊर्जा विकिरण के हजारवें हिस्से से भी कम है। और इस प्रकार सूर्य का निर्माणकाल केवल २ करोड़ वर्ष से थोड़ा अधिक आयेगा। पर हमें भूगर्भ में इस बात का निश्चित प्रमाण मिलता है कि पृथ्वी तथा सूर्य का जन्म-काल इससे कहीं अधिक पूर्व है। अतः यह दुर्निवार निष्कर्ष निकलता है कि सूर्य की वर्त्तमान गर्मी संकोचन के क्रम के कारण नहीं है, वरन् इसका कोई दूसरा स्रोत है।

परमाणु और उसकी शक्ति

यह जानने के लिये कि सूर्य की प्रचंड ऊर्जा का स्रोत क्या है, यह आवश्यक है कि यहाँ संक्षेप में पदार्थ के मौलिक स्वभाव और गुण का विवेचन कर लिया जाय। संसार के सभी पदार्थ छोटे-छोटे कणों से मिलकर बने हैं, ठीक वैसे ही जैसे कोई दीवार छोटी-छोटी ईंटों को जोड़कर खड़ी कर दी जाती है। इन सूक्ष्म कणों को अणु (मोलेक्यूल्स) कहा जाता है और वे इतने छोटे हैं कि आँख से क्या अच्छी से अच्छी खुर्दबीन के सहारे भी नहीं दिखाई पड़ सकते। पानी की एक नन्हीं सी बूँद अरबों करोड़ों अणुओं से मिलकर बनी है। ये अणु निरंतर धुंधुंध दौड़ते रहते हैं। यदि पदार्थ का तापक्रम धीरे-धीरे कम होता जाय तो इन अणुओं के दौड़न की गति भी कम होती जाती है और यदि तापक्रम बढ़ा जाय तो इनके दौड़ने की गति बढ़ने लगती है। अत्यधिक तापक्रम बढ़ जाने से इनकी गति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि इनको एक दूसरे से बाँध कर इकट्ठा रखने वाली शक्तियाँ क्षीण पड़ जाती हैं और ये मनमाना इधर-उधर भटकने लगते हैं। इसीसे यदि हम किसी ठोस द्रव्य को गरम करें तो वह पहले द्रव बन जाता है और उससे भी अधिक गरम करने पर जब उसके अणु बिलकुल स्वतंत्र हो जाते हैं तो वह गैस बनकर उड़ जाता है।

संसार में जितने तरह के रासायनिक द्रव्य हैं उतने ही तरह के अणु भी हैं, पर यदि किसी भी द्रव्य के अणु का विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि सभी अणु कुछ और सूक्ष्मतर कणों द्वारा विनिर्मित हैं। इन सूक्ष्मतर कणों को परमाणु कहा जाता है। प्रत्येक अणु में परमाणुओं की एक सीमित संख्या रहती है, संसार के सभी पदार्थों को बनानेवाले परमाणुओं की अलग-अलग जाति भी होती है। उनकी जाति की संख्या भी सीमित है। विश्व में कुल ९२ प्रकार के परमाणु हैं और ये ९२ परमाणु ९२ तत्वों के द्योतक हैं। इन्ही ९२ तत्वों के अथवा ९२ प्रकार के परमाणुओं के विभिन्न मिश्रण से संसार के सभी पदार्थ बने हैं।

परमाणु भी केवल एक सूक्ष्म कण मात्र नहीं है, वरन् परमाणु के भीतर एक बहुत ही रहस्यमय संसार है। परमाणु की प्रायः सभी द्रव्य-मात्रा उसके केंद्र में निहित रहती है और उस स्थान को केंद्रक कहा जाता है। केंद्रक के चारों ओर कुछ विद्युत्-कण जिन्हें विद्युदणु (एलेक्ट्रोन) कहा जाता है, निरंतर प्रचंड वेग से घूमते रहते हैं। इन विद्युदणुओं को एक प्रकार की विद्युत् शक्ति परमाणु के भीतर केंद्रक से बाँधे रहती है।

रासायनिक प्रयोगों द्वारा भिन्न-भिन्न तत्वों की सहायता से तरह-तरह के द्रव्य बनाये जा सकते हैं। पर सन् १९१९ ई० तक यह प्रायः असंभव समझा जाने लगा था कि एक तत्व का रूपांतर दूसरे तत्व में किया जा सकता है। १९१९ में जब इंगलैंड के प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानवेत्ता लार्ड रदरफोर्ड नाइट्रोजन के परमाणु को अल्फा-कणों की भयंकर बम-वर्षा से पहले पहल तोड़ने में सफल हुए तो इस संभावना को प्रश्रय मिला कि एक तत्व को दूसरे तत्व में बदला जा सकता है। सन् १९१९ के बाद से परमाणु-विज्ञान का बहुत ही तीव्र विकास हुआ है। एक तत्व के परमाणु के केंद्रक को तोड़कर दूसरे तत्व के परमाणु के रूप में बदलने के संबंध में दो प्रमुख बातें हैं पहले तो तत्वों के रूपांतर के क्रम में केंद्रक के भीतर से प्रचंड ऊर्जा-स्रोत फूट पड़ता है। परमाणु

बम के भयंकर विस्फोट के मूल में केंद्रक का यही विकराल ऊर्जा-स्रोत है। दूसरे, परमाणु के केंद्रक का तोड़ना बहुत ही दुष्कर कार्य है। युरेनियम और थोरियम दो ऐसे तत्व हैं जिनके केंद्रक के कुछ विशेष गुण हैं। इनके केंद्रकों के भीतर से अपने आप तेजोद्गार रश्मियाँ प्रवाहित होती रहती हैं, और ये अपेक्षाकृत सरलता से तोड़े जा सकते हैं। पर ये तत्व पृथ्वी पर बहुत कम परिमाण में पाये जाते हैं। हाँ, यदि किसी प्रकार कोई ऐसी भट्ठी बनाई जा सके जिसके भीतर बहुत प्रचंड गर्मी उत्पन्न करने के साधन हों तो उस भट्ठी में सभी तत्वों के परमाणु अपने आप विघटित होने लगते हैं।

सूर्य की गर्मी और ऊर्जा का कारण

अंतिम २५–३० वर्षों में परमाणु-विज्ञान का जो तीव्र विकास हुआ है उससे हमें सूर्य के भीतर के प्रचंड ऊर्जा-स्रोत का रहस्य समझने में बड़ी सहायता मिली है अब हम चेम यह प्रायः निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि हमने उस रहस्य का समाधान पा लिया है। सूर्य के केंद्र के समीप तापक्रम २ करोड़ सेंटीग्रेड है और इतने अधिक तापक्रम में सभी तत्वों के केंद्रक विघटित हो जाते हैं तथा तत्वों का रूपांतर होने लगता है। इसी रूपांतर के क्रम में केंद्रक के भीतर छिपी हुई ऊर्जा मुक्त होती है। सूर्य की विकिरण ऊर्जा तथा उसकी प्रचंड गर्मी इसी विघटन के परिणाम-स्वरूप है। हम यहाँ संक्षिप्त रूप से इस विघटन क्रम का विवरण दे देते हैं।

सूर्य के भीतर हाइड्रोजन, हीलियम, कार्बन तथा नाइट्रोजन आदि तत्व हैं, पर इनमें हाइड्रो-जन की मात्रा सब से अधिक है। सूर्य के द्रव्य-पुंज का करीब ३५ प्रतिशत केवल हाइड्रोजन है। अत्यधिक तापक्रम के कारण इन सभी तत्वों के परमाणु छिन्न-भिन्न हो अपने मौलिक कणों के रूप में इधर-उधर अंधा-धुंध दौड़ रहे हैं। हाइड्रोजन के केंद्रकों पर कोटि-कोटि विद्युत्कणों के निरंतर प्रहार होने के कारण उनका विघटन प्रारंभ हो जाता है। इस प्रकार लगातार विघटित होकर हाइड्रोजन धीरे-धीरे हीलियम में रूपांतरित हो रही है। हाइड्रोजन के इस रूपांतर में कार्बन और नाइट्रोजन एक प्रकार से 'आवेजक' का काम करते हैं। यहाँ आवेजक' शब्द का अर्थ स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। कुछ ऐसी रासायनिक प्रतिक्रियाएँ हैं जो द्रव्य-विशेष के सहयोग से सुगमतापूर्वक हो जाती हैं; जैसे यदि पोटैशियम क्लोरेट को गरम किया जाय तो ऑक्सिजन बनने लगती है, पर यदि पोटैशियम क्लोरेट थोड़ी मैंगनीज डाइ-अक्साइड मिलाकर गरम किया जाय तो अपेक्षाकृत कम तापक्रम में ही आक्सिजन बनने लगती है। मैंगनीज डाइ-अक्साइड यहाँ 'आवेजक' का काम करता है इसी प्रकार कार्बन और नाइट्रोजन के परमाणु 'आवेजक' बनकर सूर्य के प्रचंड ताप में हाइड्रोजन के परमाणुओं को हीलियम के परमाणुओं में रूपांतरित होने में सहायता करते हैं। हाइ-ड्रोजन एक चक्र-क्रम से हीलियम में परिवर्तित हो रही है और परिवर्तन के इस क्रम में ऊर्जा का एक अखंड स्रोत विकिरण के रूप में फूट पड़ता है। सूर्य के भीतर हाइड्रोजन की इतनी मात्रा है और साथ ही कार्बन और नाइट्रोजन के परिमाण भी इतने हैं कि यह रूपांतर अरबों वर्ष तक इसी प्रकार चल सकता है।

हाइड्रोजन के इस रूपांतरण में एक मजेदार बात यह है कि ज्यों-ज्यों हाइड्रोजन हीलियम में परिवर्तित होती जाती है तथा हाइड्रोजन की मात्रा कम होती जाती है, त्यों-त्यों सूर्य के भीतर का तापक्रम बढ़ता जाता है; और परिणामस्वरूप ऊर्जा-उत्पादन भी अधिक होने लगता है। बात दरअसल

यह है कि हाइड्रोजन और हीलियम की पर्त्त सूर्य के भीतर होनेवाली विकिरण को बाहर जानेसे रोकती रहती हैं, और हाइड्रोजन की अपेक्षा हीलियम विकिरण के मार्ग में अधिक अवरोध उपस्थित करती है। हीलियम हाइड्रोजन से अधिक पारांध होती है और विकिरण को अधिक आत्मसात कर लेती है। पृथ्वी के ऊपर तो हाइड्रोजन और हीलियम दोनों बहुत पारदर्शी होती हैं पर सूर्य के भीतर बाहरी दबाव के कारण इनका घनत्व बढ़ जाता है और हीलियम काफी पारांध हो जाती है। तत्वों के रूपांतर के क्रम में जो ऊर्जा मुक्त होती है उसे बाहर सूर्य की सतह की ओर जाने में हीलियम की मोटी पर्त्त के कारण बहुत कठिनाई होती है। जितनी ही अधिक हीलियम बनती जाती है, उतना ही अधिक अवरोध ऊर्जा-विकिरण के मार्ग में होता है, फलस्वरूप सूर्य के भीतर का तापक्रम बढ़ता जाता है और गर्मी के बढ़ने से ऊर्जा-उत्पादन में भी वृद्धि होती है।

सूर्य का भविष्य

अभीतक साधारण जनों में यह विश्वास फैला हुआ था कि सूर्य धीरे-धीरे ठंढा हो रहा है और एक दिन उसके अधिक ठंडा हो जाने पर पृथ्वी के ऊपर बर्फ ही बर्फ जम जायगी तथा सारा मानव-संसार इसी बर्फ की शीत में जमकर प्राणहीन हो जायगा। पर ऊपर के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि धीरे-धीरे सूर्य के भीतर की हाइड्रोजन खर्च होती जा रही है तथा उसके क्रमिक उपयोग के साथ ही सूर्य का तापक्रम भी बढ़ता जा रहा है। अमेरिका के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद जार्ज गैमो ने यह हिसाब लगाया है कि जब हाइड्रोजन का भांडार समाप्त होने को आएगा तब सूर्य के विकिरण की गर्मी आज की अपेक्षा १०० गुना अधिक हो जायगी। साथ ही हाइड्रोजन के क्षय के साथ-साथ सूर्य का व्यास भी बढ़ता जायगा। आज से करीब १० अरब वर्ष बाद सूर्य का तापक्रम इतना अधिक हो जायगा कि पृथ्वी के समुद्र उबलने लगेंगे और उनका पानी भाप में बदलने लगेगा। ऐसी दशा में यह पूर्णतः असंभव है कि पृथ्वी पर आजकल जैसा प्राणि-संसार विद्यमान रहे। सूर्य का ताप ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा त्यों-त्यों एक एक कर पृथ्वी के जीव समुदाय विनष्ट होते जायेंगे। अधिक तापक्रम में केवल कुछ जीवाणु ही रह जायंगे और जब समुद्र का पानी खौलने लगेगा तब ये जीवाणु भी भस्म हो जायेंगे। इस प्रकार पृथ्वी पर प्रथम-प्रलय के, शीत के कारण नहीं वरन् उत्कट गर्मी के कारण घटित होने की अधिक आशंका है। जो भी हो आज के मानव-संसार को इस संभावना से त्रस्त और विचलित नहीं होना चाहिए। पहले तो यह दुर्घटना अरबों वर्ष बाद घटेगी दूसरे हो सकता है मनुष्य का प्रकांड मस्तिष्क किसी उपाय द्वारा सूर्य से बहुत दूर स्थित नेप्च्यून आदि ग्रहों में जाकर नये उपनिवेश बनाए और सूर्य की विकट गर्मी से निरापद हो मानव-संसार वहीं निवास करे। यहाँ मनुष्य की विपत्ति भूलकर हम यह सोचें कि इतनी प्रचंड गर्मी का विकिरण करने के बाद सूर्य के ऊपर क्या बीतेगी।

हाइड्रोजन का भांडार जब पूर्णतया समाप्त हो जायगा तब सूर्य के पास ऊर्जा-उत्पादन का कोई अन्य साधन नहीं रह जायगा; क्योंकि हीलियम पुनः हाइड्रोजन में नहीं बदल सकती। तब सूर्य फिर संकुचित होने लगेगा और अपेक्षाकृत अधिक द्रुतगति से इसका प्रकाश तथा इसका व्यास कम होने लगेगा। सूर्य की गर्मी धीरे-धीरे कम होती जायगी और फिर एक बार ऐसा अवसर आएगा कि पृथ्वी का ताप आजकल जैसा हो जाय। उस दशा में पृथ्वी के ऊपर फिर प्राणि-जीवन प्रारंभ हो सकता है। यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह प्राणि-संसार ठीक आज जैसा होगा

और उसके विकास का क्रम भी हमलोगों की ही तरह होगा। पर एकबार फिर जली हुई पृथ्वी के ऊपर जीवन-लीला प्रारंभ होगी और इस बार के प्राणि-संसार के ऊपर प्रलय शीत के रूप में टूटेगा गुरुत्वाकर्षण की ऊर्जा तो बहुत दिनों तक चल नहीं सकती इसलिये सूर्य क्रमशः शीघ्रतापूर्वक ठंढा होने लगेगा और उसके नितांत गौरवपूर्ण जीवन का करुण अवसान प्रारंभ हो जायगा।

सूर्य ठंढा हो जायगा, जमकर बरफ बन जायगा। उसका व्यास अत्यधिक संकुचित हो जायगा तथा उसकी सारी द्रव्यमात्रा उसके अल्प-कलेवर में केंद्रीभूत हो जायगी। उसके साथ ही साथ पृथ्वी भी ठंढी होगी तथा अंत में जमकर बर्फ का एक पिंड हो जायगी।

आज की पृथ्वी के ऊपर मानव-समाज का अबाध कोलाहल एक दिन सूर्य की अजस्र अग्नि-वर्षा में विलीन हो जायगा—उसके बाद कालांतर में झुलसी हुई पृथ्वी पर फिर जब जीवन प्रारंभ होगा तब उसका विनाश भयंकर शीत के कारण घटित होगा। और उसके बाद मनुष्य की यह अनंत शोभाशालिनी पृथ्वी शीत से जमकर स्तब्ध हो जायगी। सूर्य के साथ-साथ पृथ्वी भी नीरव और निश्शब्द अपने अतीत गौरव की प्रेतात्मा सी शून्य में खोई सी तिरती रहेगी।

वर्णभेद तथा जातिभेद का परस्पर संबंध

मंगलदेव

भारतवर्ष में हिंदू-समाज की सब से बड़ी विशेषता जाति-भेद और वर्ण-भेद है। एक ओर हिंदू-समाज सैकड़ों विभिन्न जातियों में बँटा हुआ है, जो व्यवहार में एक दूसरे से बहुत करके बिलकुल असंबद्ध हैं। दूसरी ओर शास्त्री लोग उन सैकड़ों जातियों के चार वर्णों में वर्गीकरण करने की असफल चेष्टा चिरकाल से करते आए हैं। जाति-भेद और वर्ण-भेद का परस्पर क्या संबंध है, इसीका विचार हम ऐतिहासिक दृष्टि से इस लेख में करना चाहते हैं।

इस पर विचार करने से पहले यह बतला देना आवश्यक है कि वर्ण-व्यवस्था का विचार वैज्ञानिक (या शास्त्रीय) और व्यावहारिक, दोनों दृष्टियों से किया जा सकता है। वैज्ञानिक विचार तो समस्त सभ्य जातियों पर लागू हो सकता है; क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार तब तक किसी सभ्य जाति का काम चल ही नहीं सकता, जब तक उसमें चारो वर्णों के मनुष्य उचित संख्या में न हों। वास्तव में जो जाति जितनी ही सभ्य और उन्नत होगी, उसमें उतने ही उन्नत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होंगे। इस प्रकार की वास्तविक तथा अकृत्रिम वर्ण-व्यवस्था बहुत अंशों में, उदाहरणार्थ, आजकल योरप के इंगलैंड आदि देशों में पाई जाती है। इसीलिये वे देश रूढ़िमूलक वर्ण-व्यवस्थावाले देशों की अपेक्षा अधिक ज्ञान, बल, धन और शिल्प से भरपूर हैं। जितने ज्ञानी (—ब्राह्मण), बली (—क्षत्रिय), धनी (—वैश्य) और शिल्पी (—शूद्र) उन देशों में हैं, उतने हमारे जैसे देशों में नहीं। पुराणों में जहाँ तत्तद् वर्ष (—महाद्वीप) के भेद से भिन्न-भिन्न चार नामों से चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का वर्णन किया है वहाँ इसी प्रकार की वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्था से अभिप्राय है।

परंतु भारतवर्ष की आधुनिक वर्ण-व्यवस्था का विचार वैज्ञानिक दृष्टि के स्थान में व्यावहारिक दृष्टि से ही किया जा सकता है। यहाँ वर्ण-व्यवस्था का विचार यही कह देने से समाप्त नहीं हो जाता कि ज्ञान-प्रधान, कर्म-प्रधान और इच्छा-प्रधान व्यक्तियों को क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और जिनमें ज्ञान, क्रिया, इच्छा का समुचित विकास न हुआ हो, उनको शूद्र समझना चाहिए। यहाँ तो वैज्ञानिक दृष्टि से सांकर्य, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों के रहने पर भी, रूढ़ि या व्यवहार के अनुसार ही वर्ण-भेद माना जा सकता है। यहाँ "शास्त्राद्रूढिर्बलीयसी", यह न्याय बिलकुल

घट जाता है। इसी कारण रूढ़ि-मूलक वर्ण-भेद के पोषकों ने, भिन्न-भिन्न वर्णों को देखते ही उनका भेद प्रतीत हो जाय, इस उद्देश्य से भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उन उन वर्णों के लिये भिन्न-भिन्न बाह्य या कृत्रिम चिह्नों के रखने का विधान[1] किया है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के ब्रह्मचारियों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के दंड, मेखला आदि का विधान मनुस्मृति आदि में है।

इतनी उपक्रमणिका के पश्चात् अब हमें यह विचार करना चाहिए कि भारतीय आधुनिक वर्ण-भेद और जाति-भेद में परस्पर क्या संबंध है। इस संबंध के विषय में कई मत हो सकते हैं। प्रथम तो उन लोगों का मत है, जो चिरकाल से भारतवर्ष में वैज्ञानिक (या वास्तविक) वर्ण-व्यवस्था को रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का रूप देने का प्रयत्न करते रहे हैं। उनका मत यही है कि सृष्टि के प्रारंभ से ही चारो वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख आदि से पृथक् पृथक् हुई। "एक एव वर्णः कर्मणा भिन्नतां गतः" "कृतयुग. . . .वर्णाश्रम व्यवस्थाश्च न तदासन्न संकरः" इस प्रकार के वचनों के महाभारत तथा पुराणों आदि में स्पष्ट पाए जाने पर भी वे लोग "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः. . . ." जैसे वाक्यों का यही अर्थ करते हैं।

इस मत की प्रत्यक्ष दुर्बलता तथा अनैतिहासिकता के विषय में यहाँ कुछ न कहकर हम उसके केवल इस अभिप्राय को लेकर ही विचार करेंगे कि उपर्युक्त चारो भेद सृष्टि के प्रारंभ से ही हैं। इस मत के मान लेने पर यह प्रश्न होता है कि ऐसी दशा में आजकल की अनेकानेक जातियाँ कहाँ से आ गईं? इसका उत्तर उक्त मतवादियों की तरफ से यही दिया जाता है कि इन जातियों में से कुछ तो उपर्युक्त वर्णों की ही भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं, और कुछ की उत्पत्ति चारो वर्णों के परस्पर संकर से हुई है। मनुस्मृति आदि ग्रंथों में इसी प्रकार से अनेक (मागध, सूत, चर्मकार आदि) जातियों की उत्पत्ति बतलाई गई है। दूसरे शब्दों में, इस मत के अनुसार रूढ़ वर्ण-व्यवस्था पहले से है, और जातियों का भेद उसके बाद का है। इसीलिये इस मत के अनुसार जाति-भेद का वर्ण-भेद से घनिष्ठ मौलिक संबंध है। इस मत के आधार पर वर्णों को भी जाति-भेद मानकर जातियों को अवांतर जातियों का नाम दिया जाता है।

दूसरा मत आजकल के अनेक सुधारकों का है। प्राचीन समय में अनेकानेक जातियाँ नहीं थीं। गुण-कर्मानुसार उपर्युक्त वैज्ञानिक अर्थ में केवल चार वर्ण थे। उसके पश्चात् आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय आदि अनेक कारणों से अनेकानेक जातियाँ हो गईं। संकरज कहलानेवाली जातियों के विषय में इनका क्या मत है, यह हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते। कदाचित् ये लोग संकरज जातियाँ नहीं मानते।

कई विशेष अंशों में उक्त मतों से समानता रखने पर भी सामान्य रूप से हमारा विचार उनसे भिन्न है। हमारे विचार में अनेकानेक वर्तमान जातियों का वर्ण-भेद से कोई मौलिक संबंध नहीं है। जाति-भेद का कारण वर्ण-संकरता बहुत ही कम है। वास्तविक कारण आर्थिक और सामाजिक तथा मनुष्य-जाति-विज्ञान आदि से संबंध रखने वाले हैं। बहुत अंशों में अनेक जातियाँ वर्ण-विभाग से पूर्व की भी हो सकती हैं। इसलिये जातियों को वर्णों का विकृत या परिणत रूप न मानकर

---

१. इस नीति के इतिहास पर हम फिर कभी लिखेंगे।

यही कहना ठीक होगा कि अनेक भिन्न-भिन्न कारणों से स्वतंत्रतया सिद्ध और कई अंशों में वर्ण-व्यवस्था से पूर्ववर्ती जातियों पर बाहरी रूढ़ वर्ण-व्यवस्था का आरोप कर दिया गया है।

सभ्यता के इतिहास में एक समय ऐसा आता है, जब अनेक कारणों से अनेक बिरादरियाँ या जातियाँ बन जाती हैं। अनेक कारणों में से एक कारण आर्थिक होता है। सभ्यता की उस अवस्था में, जब कि मनुष्यों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक न होकर नियत होती हैं, साथ ही दूर देशों के साथ गमनागमन भी कम होता है, भिन्न-भिन्न पेशों के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्य-समूह अपना पृथक् समाज बना लेते हैं। उनको इसमें बड़ी सहूलियत होती है कि आपस में ही विवाहादि संबंध करें। उदाहरणार्थ, एक कुम्हार के लड़के को कुम्हार ही की लड़की से शादी करने में बड़ी सुविधा होती है। वह अपने बाल्यकाल में ही अपने पेशे में निपुण हो जाती है, और पति के घर आते ही उसको उसके काम में सहायता देने लगती है। यही दशा चर्मकार आदि दूसरे पेशों के लोगों की है। जातियों का एक कारण वंश-मूलक भी हो सकता है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की जातियों का रूढ़ि-मूलक वर्ण-भेद से कोई मौलिक संबंध नहीं है।

जाति-भेद का कारण वर्ण-सांकर्य बहुत कम है, इसका एक प्रमाण यजुर्वेद (माध्यंदिन-संहिता) अध्याय ३०) से मिलता है। इसमें सूत, रथकार, मागध, चर्मकार, चांडाल आदि अनेक ऐसी जातियों का वर्णन है, जो मनुस्मृति आदि के अनुसार वर्णसंकरता से ही उत्पन्न हुई हैं। मनुस्मृति आदि के कथन को माननेवाले लोगों से पूछना चाहिए कि जब वेद, वर्णों की तरह, सृष्टि के प्रारंभ में ही उत्पन्न हुए, तो उसी समय ये वर्ण-सांकर्य से उत्पन्न जातियाँ कहाँ से आ गईं।

महाभाष्य, अष्टाध्यायी आदि से भी मनुस्मृति आदि ग्रंथों के वर्णसंकरमूलक सिद्धांत का विरोध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ मनुस्मृति आदि के अनुसार आंबष्ठ्य, और मागध संकरमूलक जातियाँ हैं, परंतु पाणिनीय अष्टाध्यायी (देखो अध्याय ४, पाद ९, सूत्र १६९–१७१) के तथा महाभाष्य के अनुसार ये क्षत्रियों की विशेष जातियाँ थीं।

इस विरोध का कारण हमें निम्नलिखित प्रतीत होता है। प्रारंभ में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णवाची शब्द यौगिक समझे जाते थे। इसी कारण आर्यावर्त के अंदर तथा आसपास रहनेवाली अनेक आर्य तथा अनार्य जातियों को अनेक कर्म के अनुसार आर्य लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि शब्दों से पुकारते थे। पीछे से जब ये शब्द आर्यावर्त में रूढ़ार्थक हो गए, तब उन आर्य या अनार्य जातियों को जिनमें आर्यावर्त्तीय आर्य-संस्कृति ठीक रूप में नहीं पाई जाती थी, यहाँ के शास्त्री लोग संकरज या शूद्र कहने लगे। यही कारण है कि जहाँ एक ओर अष्टाध्यायी (देखो काशिका ४।१। १७५–१७८) १७८) आदि के अनुसार कंबोज, चोल, केरल, शक आदि आर्य या अनार्य जातियाँ क्षत्रिय कही गई हैं, वहाँ दूसरी ओर मनुस्मृति (देखो १०।४३।४५) आदि के अनुसार ये या तो शूद्र कही गई हैं या संकरज बतलाई गई हैं। चीनी आदि अनार्य जातियोंके विषय में मनुस्मृति का यह कहना कि ये 'ब्राह्मणानामदर्शनात्' अर्थात् पूर्ववर्ती आर्य-संस्कृति के छोड़ देने से शूद्रता को प्राप्त हो गई हैं, केवल उपहासास्पद ही है।

ऊपर के उदाहरणों से प्रतीत होता है कि सृष्टि के प्रारंभ से ही चार पृथक् पृथक् रूढ़िपरक वर्णों की स्थिति के सिद्धांत को माननवालों ने जब अनेकानेक जातियाँ देखीं विशेषकर भारतवर्ष

के उन प्रांतों में जहाँ रूढ़िपरक वर्ण-व्यवस्था प्रचलित नहीं हुई थी, तो उनको संकरमूलक कहना प्रारंभ कर दिया। वास्तव में उनका वर्ण-भेद-व्यवस्था से कोई संबंध उस समय तक नहीं हो पाया था, और वे स्वतंत्रतया सिद्ध जातियाँ थीं।

जाति-भेद और वर्ण-भेद के संबंध को समझाने के लिये हम शूद्रों का उदाहरण लेते हैं। शूद्र कहलानेवाले लोगों के लिये जाति-भेद तो वास्तविक है। वे शूद्र हैं, इसको न तो वे कहते हैं, न जानते ही हैं। शूद्र शब्द उनकी बोली या भाषा में है ही नहीं। वास्तव में देखा जाय, तो यही कहना होगा कि शूद्र शब्द शास्त्री लोगों ने उनके ऊपर इसी तरह लाद (सुपरइंपोज़्ड) दिया है, जैसे 'नेटिव' शब्द का समारोप कुछ दिनों पूर्व हमारे ऊपर विदेशी लोग करने लगे थे।

हिंदू समाज में इस समय भी अनेकानेक ऐसी जातियाँ हैं, जिनके विषय में एक मत से यह नहीं कहा जा सकता कि उनका किस वर्ण से संबंध है। उदाहरणार्थ, कायस्थों, जाटों, कुर्मियों आदि को लीजिए। इनके उदाहरण से यह स्पष्ट है कि वर्ण-भेद जाति-भेद से वस्तुतः असंबद्ध है, और कई अंशों में उससे बाद का भी हो सकता है।

रूढ़िमूलक वर्ण-व्यवस्था को माननेवाले यह देखकर बहुत चिढ़ते हैं कि आजकल अनेक जातियाँ कल्पित ऋषि या आदिपुरुष की कल्पना करके अपने को तत्तद्वर्ण का कहना चाहती हैं। आजकल बंगाल के वैद्य जाति के लोग अपने नाम के साथ 'सेन', 'गुप्त', आदि उपनामों को रखते हुए भी 'शर्मा' लगाते हैं। हमारे विचार से तो रूढ़ि की दृष्टि से अनिश्चित-वर्ण किसी जाति के लोगों का भिन्न-भिन्न वर्णों में घुसने का प्रयत्न बिलकुल व्यर्थ है। इससे उनमें आत्मसम्मान की मात्रा की कमी और उनकी रूढ़ि के प्रति दास्य-बुद्धि ही द्योतित होती है।

वर्ण-भेद और जाति-भेद के परस्पर संबंध के विषय में परपंरागत विचार ही उक्त प्रकार के प्रयत्न का कारण है। इस संबंध का यदि वास्तविक स्वरूप और इतिहास लिया जाय तब तो यही कहना ठीक होगा कि उन लोगों का रूढ़िपरक वर्णव्यवस्था से कोई संबंध नहीं है। परंतु वायुमंडल में फैले हुए विचार उनको विवश करते हैं। जो दशा आज है, वही प्राचीन समय में रही होगी। अनेक भारतीय जातियाँ, जिनका रूढ़ वर्ण-भेद से कोई संबंध नहीं था, वर्ण-भेद को मानने वाली तथा राजनीतिक आदि कारणों से अपने से प्रबल जातियों की देखा-देखी अपने को भी उस उस वर्ण में प्रवेश कर लेती होंगी। मुसलमानों में वर्ण-भेद के लगभग समानार्थक 'शेख', 'पठान' और 'सैयद', शब्दों की भी यही गति है। हिंदुओं की अनेक जातियाँ धर्म-परिवर्तन के बाद अपने को इन्हीं नामों से पुकारने लगी हैं।

जाति-भेद और वर्ण-भेद के इतिहास का वास्तव में परस्पर कोई मौलिक संबंध नहीं है। बहुत अंशों में जातियाँ, किसी न किसी रूप में, वर्ण-भेद से पूर्व भी रही होंगी। हाँ, प्राचीन समय में वे आजकल के समान पक्की तौर पर एक दूसरे से बिलकुल असंबद्ध न रही होंगी। वैदिक 'पंचजनाः' शब्द का अर्थ विद्वान यह समझते हैं कि उस समय में आर्यों में मुख्य पाँच कुल या जातियाँ थीं। इसी प्रकार स्काटलैंड आदि दूसरे देशों में भी प्राचीन समय में लोगों में अनेकानेक गण होते थे। जाति-भेद का एक बड़ा अच्छा उदाहरण अमेरिका के संयुक्तप्रदेश से मिलता है। वहाँ योरप

के भिन्न-भिन्न देशों के लोग आकर बसे हैं। उनके इटलियन, रशियन, जर्मन आदि गण बन गये यद्यपि वे ऐसे परस्पर संबद्ध नहीं हैं, जैसी आजकल की भारतवर्ष की बिरादरियाँ।

साधारण रीति से यह कहा जा सकता है कि बहुत अंशों में जाति-भेद और वर्ण-भेद का इतिहास पृथक पृथक् है। ये दो स्वतंत्र धाराएँ हैं। जाति-भेद की धारा को यदि ऐतिहासिक कहा जाय, तो वर्ण-भेद की धारा को रूढ़ या सांकेतिक कह सकते हैं। प्रथम का कारण यदि ऐतिहासिक या वस्तुगत (औब्जेक्टिव) है, तो दूसरी का काल्पनिक या केवल विचार मूलक (सब्जेक्टिव)

यदि यह सिद्धांत ठीक है, तब तो यही कहना होगा कि सामान्य रूप से चार वर्णों से विकृत या परिणत होकर ये आजकल की अनेकानेक जातियाँ नहीं बनी हैं, किंतु इसके विपरीत अनेक अन्य कारणों से स्वतंत्रतया सिद्ध अनेक जातियों को ही प्रथम आर्यभाषा के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार शब्दों के द्वारा, इनके यौगिक अर्थ में, चार विभागों में बाँटा गया। पीछे से ये शब्द रूढ़ि-परक होकर प्रयुक्त होने लगेगा इसका समय वह ज्ञात होता है, जब कि आर्य लोग पंजाब से आगे बढ़कर मध्यदेश में बस चुके थे। उसी समय प्रथम यौगिक और पीछे से रूढ़ि-मूलक वर्ण-व्यवस्था का प्रचार हुआ। रूढ़िमूलक वर्ण-व्यवस्था के स्थिर हो जाने पर यह माना जाने लगा कि सृष्टि के प्रारंभ से ही चारो वर्ण एक दूसरे से पृथक् हैं। उस समय के पीछे जब आज पंडितों ने दूसरी अनार्य या आर्य होते हुए भी रूढ़ि-वर्ण-व्यवस्था को न माननेवाली जातियों को देखा, तब अपने उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार विवशतया उन्हें संकर के सिद्धांत की कल्पना करनी पड़ी। तब भी आर्यों के प्रभाव और भारतवर्ष में विस्तार बढ़ने के साथ-साथ वे जातियाँ भी अपने को उस-उस वर्ण के साथ संबद्ध करने का प्रयत्न करती रहीं। अनेक जातियों में अपने-अपने वर्ण के विषय में झगड़ा पाया जाता है, वह बहुत करके इसी प्रयत्न का लक्षण है। ऐसी जातियों में से अनेक, जिनका प्रभाव अधिक था, अपने पेशे आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न उच्च वर्णों की बन गईं। परंतु अनेक जातियों को शास्त्रीय पंडित अब तक संकरज या शूद्र ही कहते हैं।

इस प्रकार की अनेक अनार्य या अनार्य-बहुल जातियाँ आजकल के प्रत्येक वर्ण में मौजूद हैं। इसका प्रमाण, मनुष्य-जाति-विज्ञान की सहायता के बिना भी, प्राचीन पुस्तकों में पाया जाता है। अष्टाध्यायी में एक सूत्र है "आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः" (६।२।५८)। इसके उदाहरण और प्रत्युदा-हरण हैं—(आर्यब्राह्मणः' और 'आर्यक्षत्रियः' दोनों में कर्मधारय समास है। दोनों जगह 'आर्य' शब्द मूलतः मानव-जाति-परक या (रेशियल सेन्स) में ही हो सकता है; क्योंकि उस समय के साहित्य में 'आर्य' शब्द, 'शूद्र' या 'दस्यु' शब्द के मुकाबले में प्रयुक्त होने से, यही अर्थ रख सकता है। इन उदाहरणों से अर्थापत्ति से यही सिद्ध होता है कि उस समय भी अनेक जातियाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों आदि की ऐसी रही होंगी, जो वास्तव में अनार्य थीं। शतपथ ब्राह्मण (१।१।४।१४) में 'असुर ब्राह्मणों' के वर्णन से भी यही सिद्ध होता है। धर्मशास्त्र के ग्रंथों में श्राद्ध में जो द्राविड़ादि ब्राह्मणों के निमंत्रण का निषेध पाया जाता है, उसके भी मूल में यही कारण प्रतीत होता है।

यदि यह ठीक है कि आजकल के रूढ़ार्थक ब्राह्मण आदि वर्णों में अनेक अनार्य जातियाँ भी संमिलित हैं, तब तो यही कहना होगा कि पंजाब का एक ब्राह्मण, ऐतिहासिक दृष्टि से, पंजाब के खत्री से जितना घनिष्ठ संबंध रखता है, उतना मद्रास के अनेक ब्राह्मणों से नहीं। यही बात दूसरे वर्णों के विषय में भी ठीक है।

कोपिया

मदन मोहन नागर

संयुक्त प्रांत का वह प्रदेश जो आजकल तराई कहलाता है और जिसके अंतर्गत गोंडा, बस्ती, गोरखपुर, आदि जिले हैं, प्राचीन काल में एक विशेष सभ्यता का केंद्र रहा। यह वही भूभाग है जहाँ शाक्य, मल्ल, कोलीय आदि राजाओं का साम्राज्य था। यह वही प्रदेश है जो गौतम बुद्ध, अनुरूद्ध, महानामन्, उपालि, आदि अनेक महान् विभूतियों की संचार भूमि थी, जिन्होंने सहस्रों वर्ष तक हमारे देश के निवासियों के जीवन को प्रभावित किया। भारतवर्ष का यह भूभाग अति प्राचीनकाल से उस महान् सभ्यता का केंद्र रहा, जिसने हमारे सांस्कृतिक जीवन को उन्नत करने में बहुत सहायता दी। इस बात के प्रमाण वे प्राचीन ढूह हैं जिनसे यह प्रदेश भरा पड़ा है और जिनके गर्भ में तत्कालीन प्राचीन कला, सभ्यता और संस्कृति के अवशेष पड़े हैं। इन्हीं ढूहों में से एक ढूह अनोमा नदी के किनारे पर कोपिया नामक गाँव में है। यह ढूह बस्ती जिले की खलीलाबाद तहसील की खलीलाबाद-मेंहदावल सड़क के सातवें मील पर स्थित है। बस्ती शहर से यह स्थान लगभग ३१ मील की दूरी पर है। यहाँ पहुँचने का रास्ता सुगम है और लगभग दो घंटे में मोटर से यहाँ आसानी से पहुँचा जा सकता है।

प्राचीनकाल में कोपिया जिसका पुराना नाम अनुपिया था एक अत्यंत समृद्धशाली नगर था। यह मल्ल राज्य की राजधानी थी। और अपने आम्रवनों के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध थी। कहा जाता है कि अभिनिष्क्रमण के पश्चात् भगवान् बुद्ध सर्वप्रथम इसी स्थान पर ठहरे थे और यहीं पर उन्होंने अपने राजकीय ऐश्वर्य के चिह्नों का परित्याग करके भिक्षु के वस्त्र स्वीकार किए थे। तत्पश्चात् जैसा हमें बुद्धचर्या से पता चलता है महाश्रमण गौतम ने लगभग एक सप्ताह कोपिया के आम्रवन में विश्राम कर के बिताया था।

कोपिया का महत्व आज भी वहाँ के खंडहरों से भली-भाँति जाना जा सकता है। इसके ढूह का क्षेत्रफल लगभग ३.४ वर्गमील है। और इसकी ऊँचाई आसपास की सतह से लगभग ६० फुट होगी। सारा का सारा टीला ईंटों और उसके टुकड़ों से छाया पड़ा है। इनमें सब से बड़ी ईंट आकार में २४"×१८"×३" है। अन्य स्थानों की खुदाई से ज्ञात हुआ है कि इस नाप की ईंटें

मौर्यकालीन प्रासादों और घरों में लगाई जाती थीं। इससे अनुमान किया जाता है कि इस स्थान पर भी निश्चय ही मौर्यकाल की कुछ इमारतें रही होंगी। डूह के बीचोबीच में एक मार्ग के चिह्न मिलते हैं जो कम से कम २० फुट चौड़ा है। पश्चिम की ओर एक वर्तुलाकार स्मारक दिखलाई पड़ता है जो संभवतः स्तूप का अवशेष है। मकानों आदि के चिह्न भी स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होते हैं। डूह से प्रतिवर्ष बहुत से सिक्के मिट्टी की मूर्तियाँ आदि वस्तुएँ प्राप्त होती रहती हैं। सब से प्राचीन सिक्के जो यहाँ से मिले हैं वे चाँदी की आहत मुद्राएँ हैं। यह भारत की सब से प्राचीन मुद्राएँ हैं और ईस्वी पूर्व की तीसरी शताब्दी तक प्रचलित थीं। इनके अतिरिक्त अयोध्या, कोसल, पांचाल, आदि प्रदेशों के और कुशाण राजाओं के सिक्के भी बहुतायत से मिलते हैं (चित्र १)। इस स्थान से प्राप्त मिट्टी की मूर्त्तियाँ सिक्कों की समकालीन हैं। अर्थात् ई० पू० की तीसरी शताब्दी से ई० सन् की चौथी पाँचवीं शताब्दी की हैं। ये दोनों प्रकार से बनाई हुई अर्थात् हाथ से गढ़ी हुई तथा ठप्पों में ढाली हुई मिलती हैं। मथुरा की भांति के भी कुम्हार शुंग और कुशाण काल में वहाँ आकर बसे हुए विदेशियों की मूर्त्तियाँ बनाने में पटु थे। कारण इस प्रकार के विदेशियों के बहुत से सिर हमें यहाँ से मिलते हैं। (चित्र २ से ७)।

डूह के पूर्व की ओर एक आयताकार मैदान है जो आसपास की सतह से लगभग २० फुट ऊँचा है। यह अनेक रंग के छोटे-बड़े शीशे के टुकड़ों, शीशे की गुरियों, क्वार्टस् के टुकड़ों से (चित्र ८) आच्छादित है। इन सब वस्तुओं को देखकर अनुमान होता है कि इस स्थान पर प्राचीनकाल में शीशे का कारखाना था जहाँ शीशे की वस्तुएँ बनाई जाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के लोग क्वार्टस को गलाकर और नदी के रेत से उसे छान कर शीशा बनाते थे। मिट्टी के बर्तनों में जो घड़ियाँ नुमा होते थे, शीशा गलाया जाता था। इन बर्तनों के ऐसे बहुत से टुकड़े प्राप्त हुए हैं जिनके साथ उनमें गलाया हुआ अनेक रंग तथा अवस्था का शीशा भी (चित्र ९) चिपका हुआ है। शीशे के गल जानेपर उसमें रंग मिलाया जाता था। कई टुकड़ों के निरीक्षण से पता चला है कि कभी-कभी यह रंग सब जगह एक-सा नहीं मिल पाता था जिसके कारण कहीं तो हलका और कहीं गहरा हो जाता था। कुछ ऐसे शीशे के पदक या लटकन भी मिले हैं जिनमें रंग बाद में भरा गया है, अर्थात् बनाने के समय उनपर खांचेदार नक्काशी की गई थी और बाद में वे सब ऊपरी रंगों से (चित्र १०) अलंकृत किए गए थे। थोड़ा-थोड़ा शीशा जमाकर झांवे का पुट देकर यहाँ के लोग शीशे की मोटी-मोटी सिल्लियाँ भी तैयार करते थे। इस प्रकार की एक सिल्ली जो उस स्थान से प्राप्त हुई है, वजन में लगभग १॥ मन है। इसकी नाप लगठग १८"×१२"×१२" है। उसे सुंदर रूप देने के लिये शीशे से अस्तर बट्टी (पालिश) कर दी गई है।

किंतु इन सारी वस्तुओं से भी अत्यधिक विचित्र वस्तु जो कोपिया के शीशा ढालनेवाले कारीगरों ने बनाई थी, वह एक प्रकार की अत्यंत छोटी-छोटी गुरियाँ हैं (चित्र नं० ११)। ये रंग-बिरंगी हैं और इनमें पिरोनों के लिये छेद होता है। कभी-कभी यह छेद इतना छोटा होता है कि सरलता से दिखाई नहीं पड़ता। इनकी चमक-दमक, सुडौलपन, सुंदर बनावट, आदि अवर्णनीय हैं। इनमें से बहुत सी तो ऐसी हैं जो जापान और जर्मनी से इस देश में आनेवाले पोत से भी अधिक छोटी और सुंदर हैं। उनकी सुंदरता के अतिरिक्त इन झीनी गुरियों का विशेष महत्व इस बात में है कि इनसे हमको यहाँ से प्राप्त शीशे की सामग्री के काल का पता चलता है। सन् १९४८ में

बस्ती जिले में ही कोपिया से ४० मील दूर पिपरहवा नामके गाँव में श्री देवी ने एक स्तूप खोज निकाला और उसकी खुदाई की। इस स्तूप की सतह से उनको एक बड़ी सी पत्थर की मंजूषा मिली थी। इस में एक छोटा सेदाखड़ी का बर्तन रखा था जिसके भीतर मोती, चाँदी, सोने के अनेक प्रकार के छोटे-छोटे आभूषण तथा भगवान् बुद्ध के अस्थ्यवशेष रखे हुए थे। उन्हीं वस्तुओं के साथ कुछ थोड़ी सी बिल्कुल ऐसी बनी हुई झीनी गुरियाँ भी मिली थीं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। सेदाखड़ी बर्तन के ऊपर पाली भाषा में तथा ब्राह्मी लिपि में एक लेख उत्कीर्ण है जो विद्वानों के अनुसार भारतीय भाषा का प्राचीनतम लेख है और जिसका काल लगभग ई० पू० ५वीं शती है। पिपरहवा के स्तूप के तह से प्राप्त झीनी गुरियों को कोपिया से प्राप्त गुरियों से मिलान करने पर हमें दोनों के रूप-रंग, बनावट, आकार-प्रकर, आदि की अकथनीय समानता मिलती हैं, जिसके कारण हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ये दोनों एक ही काल की होंगी और इनके बनाने-वाले भी एक रहे होंगे। पिपरहवा से प्राप्त गुरियाँ उक्त लेख के अनुसार २५०० वर्ष प्राचीन हैं अतः उनकी समकालीन होने के नाते कोपिया की गुरियाँ भी उस काल की होनी चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि पिपरहवा की गुरियाँ भी कोपिया में ही बनी थीं तथा उस काल और स्थान की अत्यंत प्रसिद्ध वस्तु होने के कारण श्रद्धालु भक्तों ने उन्हें यहाँ से ले जाकर उसी प्रदेश में केवल ४० मील की ही दूरी पर स्थित पिपरहवा के स्तूप में भगवान् बुद्ध के शरीर-धातु के साथ स्थापित किया था। भारतवर्ष में अनेक प्राचीन स्थानों से हमें शीशे की गुरियाँ मिलती हैं किंतु अभी तक उनका काल किसी प्रकार निश्चित नहीं किया जा सकता है। कोपिया से प्राप्त शीशे की वस्तुओं की महत्ता इसी काल में है कि हम इनके निर्माण का काल निश्चयपूर्वक निर्धारित कर सकते हैं। इसके अति-रिक्त भारतवर्ष में इतनी प्राचीन शीशे की उद्योगशाला के अस्तित्व का प्रमाण भी पहली बार इन्हीं वस्तुओं द्वारा हमें मिला है।
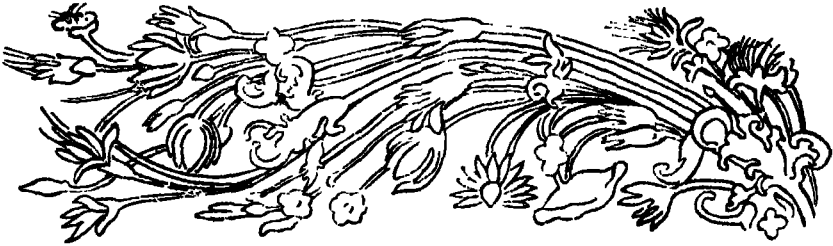
फलक ४

फलक ५

फलक ६-क

फलक ६-ख

कोपिया

फलक ७

कोपिया

फलक ८

फलक २

कोपिया

फलक १०

फलक ११

श्री संपूर्णानंद जी का चिद्विलास

रामेश्वर सहाय

यों तो श्री संपूर्णानंद जी राजनीतिज्ञ, साहित्यकार, पत्रकार, ज्योतिर्विद्, विज्ञानवेत्ता, अध्यापक तथा लेखक प्रभृति न जाने क्या-क्या हैं, पर हमारी दृष्टि में प्रकृत्या वे दार्शनिक हैं। उनकी रचनाओं के अध्ययन से पता चलता है कि उनका मन जितना दार्शनिक विषयों में रमता है, उतना अन्य विषयों में नहीं। दार्शनिक विषयों का विश्लेषण करते समय उनकी लेखनी अपने समृद्ध स्वाध्याय की समर्थ शक्तिमत्ता से पाठक के मन-मस्तिष्क पर छा जाती है। उनके निबंधों में प्रतीच्य दर्शन, बड़े स्वारस्य के साथ आर्य दर्शनों के मत का समर्थन करते हैं। अन्य शब्दों में यह बात ऐसे कही जा सकती है कि उनके दार्शनिक निबंध एवं ग्रंथ प्रतीच्य दर्शनों के सहयोग से लाभ उठाते हुए आर्य दर्शन विशेषतया शांकर मत को जीवन की निखिल समस्याओं का समाधान करनेवाला समर्थतम एवं पूर्णतम साधन सिद्ध करते हैं। यह है उनकी विशेषता। समीक्ष्य ग्रंथ पर कुछ लिखने के पूर्व हमें यह देखना है कि लोग सामान्यतः प्राच्य एवं प्रतीच्य दर्शनों का अध्ययन किस प्रवृत्ति से करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में यह बात बिना 'ननु' 'नच' के कही जा सकती है कि प्राच्य दर्शन विशेषतया भारतीय दर्शन का अध्ययन तो मोक्ष, पुरुषार्थ, शाश्वत शांति इत्यादि की उपलब्धि की प्रवृत्ति से किया जाता है और प्रतीच्य दर्शन का अध्ययन बुद्धि-परिमार्जन के लिये। यह उत्तर प्राच्य और प्रतीच्य दर्शनों के अध्येताओं की सामान्य अध्ययन-प्रणाली को दृष्टि में रखकर दिया गया है। यदि कोई विशेष प्रवृत्ति लेकर उक्त दर्शनों का अध्ययन करता हो, तो यह बात अपवाद-कोटि में ही ग्रहण की जायगी।

इस एकांगी अध्ययन-प्रणाली का श्री संपूर्णानंद जी ने घोर विरोध किया है। उनका कहना है कि दर्शनों के इसी एकांगी अध्ययन ने उनके पवित्र नाम को कलंकित किया है और डाल दिया है उनकी शुभ्र यशः-कीर्ति पर अकर्मण्यता का आविल आवरण! "चिद्विलास" के पूर्व-पीठिका स्वरूप अपने "जीवन और दर्शन" नामक ग्रंथ के संबंध में वे कहते हैं:—"विचारशील मनुष्य के सामने ऐसी बहुत-सी समस्याएँ आती हैं, जिनको सुलझाए बिना वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का ठीक ठीक निर्वाह नहीं हो सकता। समस्याएँ नयी नहीं हैं इसलिये इनके संबंध में प्राचीन काल से लेकर इस समय तक बहुत-से मत प्रतिपादित किए गए हैं। उपर्युक्त पुस्तक में इनमें से मुख्य-मुख्य मतों का

दिग्दर्शन करा दिया गया था। इनम से कौन-सा समीचीन है अर्थात व्यापक रूप से हमारे सब प्रश्नों का उत्तर दे सकता है इसका निर्णय पाठक पर छोड़ दिया गया था। यद्यपि कोई भी पाठक पुस्तक देखकर मेरे स्वारस्य का कुछ-कुछ अनुभव कर सकता है । ("चिद्विलास" की भूमिका पृष्ठ १)"।

इस उदाहरण को पढ़कर जैसा विद्वान् लेखक ने स्वयं लिखा है, प्रत्येक समझदार व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के यह अवश्य अनुमान कर सकता है कि उक्त ग्रंथ का उद्देश्य जीवन और दर्शन में सामंजस्य स्थापित करना है। इन पंक्तियों के लेखक को यह बात अच्छी तरह ज्ञात है कि साधारण लोग ही नहीं, बड़े-बड़े लोग, असाधारण विद्वान् तक दर्शनों को जीवन से असंपृक्त मानते हैं। लाख समझाने पर भी उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि जीवन और दर्शन सहचर हैं।

हर्ष है, श्री संपूर्णानंद जी ने अपनी प्रौढ़ लेखनी से इस भ्रम के मूल को एकदम उखाड़ फेंका है। इसी उद्देश्य को लेकर "चिद्विलास" की रचना हुई है। इस बात को स्पष्ट करते हुए श्री संपूर्णानंद जी उक्त ग्रंथ की भूमिका में लिखते हैं:—"दर्शन का यह महत्त्व है कि वह ज्ञान और जीवन के सभी अंगों पर प्रकाश डालता है। उसका संबंध विचार के ऊँचे से ऊँचे और व्यवहार के नीचे से नीचे स्तर से है। यह थोड़े से पंडितों के वाग्युद्ध की सामग्री नहीं है। दर्शन, जगत को समझने और उसको उन्नत बनाने का श्रेष्ठतम साधन है।"

इन वाक्यों पर थोड़ा विमर्श करना चाहिए। सभी विचारशील व्यक्ति इस बात को जानते है कि मानव-मस्तिष्क की सूक्ष्म गवेषणा के फलस्वरूप ही दर्शन का आविर्भाव हुआ है। यहाँ प्रश्न उठता है कि मानव-मस्तिष्क ने यह गवेषणा क्यों की? क्या बुद्धि के विनोद अथवा व्यायाम के लिये कदापि नहीं । यह कौन नहीं जानता कि जीवन विविध जटिल ग्रंथियों से जकड़ा हुआ है। जटिल ग्रंथियों की कोई इयत्ता नहीं। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि न जाने कितनी जटिल ग्रंथियाँ हैं, जो समष्टि एवं व्यक्ति-जीवन के अभ्युदय-पथ में पग-पग पर रोड़ा अटकाती हैं। कहना न होगा कि जीवन को यह तनिक भी प्रिय नहीं। अत: यह उनसे मुक्ति पाने के लिये चिरकाल से प्रयत्न करता आ रहा है। यही दर्शनों की उत्पत्ति का कारण है। जब जीवन के जटिल ग्रंथि-जाल को छिन्न-भिन्न करने के लिये ही दर्शनों का आविर्भाव हुआ है, तब उससे असंपृक्त कैसे हैं? यह बात कुछ और स्पष्ट रूप में ऐसे समझी जा सकती है कि जो जीवन के गर्भ से संभूत हुआ, उसकी गोद में जिसका पालन-पोषण हुआ और अंत में उसीकी विस्तृत कर्म-भूमि में जिसने तारुण्य पाया, वह उससे (जीवन से) पृथक् रह भी कैसे सकता है?

जो समाज, दर्शन को जीवन से पृथक् मानता है उसे उपालंभ देते हुए श्री संपूर्णानंद जी अपने "जीवन और दर्शन" नामक ग्रंथ में बहुत ही ओजस्वी शब्दों में कहते हैं:—

"यदि कोई समाज दर्शन को केवल परीक्षार्थियों और श्मशान की ओर एक पाँव बढ़ाए हुए बुड्ढों का पाठ्य विषय बना देगा और वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन को राग, द्वेष और हित-संघर्ष के आधार पर चलने देगा, तो उसे एक दिन इसका दंड भोगना पड़ेगा। भारत को दर्शन ने नहीं गिराया—भारत के गिरने का कारण यह हुआ कि उसका दर्शन थोड़े-से पंडितों और

साधु-संन्यासियों के पढ़ने-पढ़ाने का विषय रह गया। उसका देश के जीवन से कोई संबंध नहीं रह गया। इसलिये देश निष्प्राण शरीर की भाँति विदेशी रीति-नीति और संस्कृति के सामने गिर गया और दर्शन भी हास्यास्पद बन गया। जो दार्शनिक विचार स्फूर्ति नहीं दे सकता, जो अकर्मण्यता को संतोष का नाम देकर अपनी इतिकर्तव्यता मानता है, वह शब्द-जाल मात्र है जो पैसों या प्राणों के लोभ से धर्म-द्वेषियों के सामने सिर झुकाए खड़ा रहता है उसके मुंह में "अभयं ब्रह्म" शोभा नहीं देता। जीवन को सुदृढ़ दार्शनिक आधारों पर न खड़ा करने का भीषण परिणाम आज पाश्चात्य जगत् में देख पड़ रहा है।

उपरलिखित पंक्तियाँ दर्शन और जीवन के संबंध को अच्छी तरह स्पष्ट कर देती हैं। अतः एतत्संबंध में अब और अधिक लिखना अनावश्यक है। यहाँ तक तो आलोच्य ग्रंथ के उपोद्घात-स्वरूप उसकी बहिरंग चर्चा हुई, अब उसका कुछ अंतरंग परीक्षण करना चाहिए।

आलोच्य पुस्तक तीन खंडों में विभक्त है :—आधारखंड, ज्ञानखंड और धर्मखंड।

आधारखंड में दर्शन शास्त्र का विषय, ज्ञान और सत्य, प्रमाण, ज्ञान में तर्क का स्थान, दार्शनिक पद्धति, निदिध्यासन, दिक् और काल शीर्षकों के अंतर्गत बड़ी ही विद्वत्ता के साथ अपेक्षित विषयों का विवेचन किया गया है। द्वितीय खंड अर्थात् ज्ञान खंड, ग्रंथ की आत्मा है। इसमें विकल्प-जाल, मनःप्रसूति, आत्मा, नानात्व का सूत्रपात, नानात्व का प्रसार, नानात्व का संकोच, शीर्षकों में बहुश्रुत विद्वान ने अपने गंभीर पांडित्य का जो परिचय दिया है, वह दर्शन-जगत् की अमूल्य निधि है। भगवान् शंकराचार्य ने निखिल प्रपंच को मायिक सिद्ध किया है। उनके विचार के अनुसार सारा प्रपंच मनःप्रसूति है। हम जिन वस्तुओं को नेत्रों से देखते हैं, वे सब मनःप्रसूति हैं—मन की कल्पना हैं। यही नहीं, स्वयं मन ही मायिक एवं अनृत है। उसके मिटते ही उसकी सारी सृष्टि स्वतः ध्वस्त हो जाती है। इस बात को विद्वान् ग्रंथ-प्रणेता ने आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों से लाभ उठाते हुए ऐसे सिद्ध किया, जैसे कदाचित् पहले किसी भी विवेचक ने नहीं।

कहना न होगा कि आज का युग वैज्ञानिक है। अतः यदि आज कोई बात प्राचीन पद्धति से समझाई जाती है, तो वह व्यर्थ-सी समझी जाती है। अत्यंत प्रसन्नता के साथ यह बात कहनी पड़ती है कि आज के विज्ञान-प्रिय मस्तिष्क को श्री संपूर्णानंद जी ने अपने तर्कों से पूर्ण आप्यायित कर दिया है। प्रांजल शैली में शांकर मत को विज्ञान-संमत बनाने का श्रेय, निस्संदेह श्री संपूर्णानंद जी को प्राप्त है, इसे दार्शनिक जगत् कदापि-कदापि विस्मृत नहीं कर सकता।

आलोच्य ग्रंथ में श्री संपूर्णानंद जी ने शांकर मत के समस्त अंगों का ऐसा व्यावहारिक और वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया है, जिसकी उपादेयता की ओर कोई भी विचारशील व्यक्ति आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता।

जगत् में जितनी भी, क्रियाएँ ईक्षण की जाती हैं, उनका एक कर्त्ता होता है। इस सर्व-स्वीकृत सत्य के अनुसार हमारे मानस में जो वासना, आकांक्षा एवं संवित्-संबंधी प्रचेष्टाएँ स्फुरित होती हैं, उनका एक कर्त्ता होना चाहिए। वह कौन हो सकता है? विवेक उत्तर देता है :—"मैं"। इसी प्रकार शरीर प्रभृति वस्तुओं को "मेरा" कहनेवाला कौन है? "मैं"। यही आत्मा है।

इस संबंध में श्री संपूर्णानंद जी कहते हैं :—"आत्मा" मैं है, और सब कुछ वासना, संकल्प, संवित, प्रत्यक्ष, शरीर "मेरा" है। "मेरा" घटता-बढ़ता रहता है। शरीर छोटे से बड़ा होता है, उसका कभी-कभी अंगच्छेद हो जाता है। जगत् में व्यवहार से, शिक्षा से, मनन से, ज्ञान में वृद्धि होती है वयो-भेद तथा बाहरी परिस्थितियों के भेद से वासनाओं के रूप बदलते रहते हैं, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में शरीर और चित्त की अवस्था एक सी नहीं रहती, परंतु इन सब परिवर्तनों के बीच में "मैं" ज्यों-का-त्यों रहता है, इसमें कोई वृद्धि-ह्रास या परिवर्तन नहीं होता।"

विश्व के अनेक दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से आत्म-स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया है, किंतु मेरी समझ में श्री संपूर्णानंद जी का ढंग सरलतम एवं सुगमतम है। प्रायः देखा गया है कि बड़े-बड़े दार्शनिक भी गूढ़ विषयों का प्रतिपादन करते समय उलझ जाते हैं, किंतु चिद्विलासकार में यह बात नहीं। उसके शब्द-प्रति-शब्द सुलझे हुए हैं।

हमारी समझ में "चिद्विलास" की सब से बड़ी विलक्षणता है, कला और सौंदर्य का दार्शनिक विश्लेषण। वैसे तो, जैसा हमने पहले कहा है, आलोच्य ग्रंथ नव्य शैली में शांकर मत की सुबोध व्याख्या करता है। पर इस बात में वह उससे भी आगे जाता है। शंकराचार्य ने ही नहीं, विश्व के दूसरे दार्शनिकों ने भी कला और सौंदर्य को दर्शन से पृथक् माना है, किंतु तत्त्वतः बात ऐसी नहीं है। कला अंतर की सरस अभिव्यंजना है। सौंदर्यानुभूति का यह तादात्म्य स्थायी नहीं होता, पर जितने समय तक रहता है उतने समय तक वह आध्यात्मिक साधना-जनित तादात्म्य का सवर्णी-सा रहता है। "सवर्णी-सा" कहने का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि पूर्ण सवर्णी तो नहीं होता, किंतु प्रभूतांश में उससे मिलता-जुलता है।

विज्ञान-जगत् में अभिनव आविष्कारों के आविष्कर्ताओं का तादात्म्य भी सौंदर्यानुभूति की कोटि का ही है। वे भी बहिरनुभूति से अपने को पृथक् करके ही 'अंतर-सागर' में डूबते हैं, और फलस्वरूप कोई रत्न साथ लाते हैं। इस प्रकार कलाकार, दार्शनिक एवं विज्ञानवेत्ता तीनों ही तादात्म्यानुभूति करते हैं। इस दृष्टि से तीनों की क्रियाओं में सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

विद्वान् ग्रंथकार ने सौंदर्यानुभूति पर अपना विचार व्यक्त करते हुए इस प्रकार लिखा है :—

"यहाँ तो सौंदर्यानुभूति के विषय में केवल इस बात पर जोर देना है कि उस अवस्था में मनुष्य अपने को भूल जाता है। द्रष्टा की दृश्य के साथ तन्मयता हो जाती है और दर्शन मात्र रह जाता है। जितनी तन्मयता होती है, उतनी ही गहरी सौंदर्यानुभूति होती है। सौंदर्य की यही कसौटी है कि वह चित्त को एकाग्र कर सके। अनुभूति कुछ तो द्रष्टा पर निर्भर करती है, कुछ दृश्य पर। द्रष्टा अपने को जितना वासना-शून्य करता है उतनी ही उसको सौंदर्य की अनुभूति होती है।"

सच्चे कवि और कलाकार की व्याख्या करते हुए विद्वान लेखक ने सौंदर्यानुभूति के प्रकरण में ही आगे जो अधोलिखित वाक्य लिखे हैं, वे विशेष मननीय हैं—

"देखने वाला अपने साधारण जीवन से ऊपर उठ जाता है, भौतिक जगत् का कुछ अंश पीछे छोड़ देता है, उसको ऋत और सत्य की कुछ झलक मिल जाती है, नानात्व का कुछ उपराम

हो जाता है, उस एक पदार्थ से थोड़ा-बहुत तादात्म्य प्राप्त हो जाता है जो सब का मूल है। वह लोग भाग्यवान् हैं जिनको यह अनुभव प्राप्त होता है। एकाध बार स्यात् सब को ही ऐसा हो जाता है परंतु किसी-किसी का जन्मना यह सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा अनुभव बहुत देर तक नहीं रहता, परंतु जब तक रहता है, तबतक चित्त एक अपूर्व उल्लासमय अवस्था में रहता है। जो लोग अपने इस अनुभव को दूसरों तक पहुँचाने की क्षमता रखते हैं, वही कवि, और कलाकार कहलाने के पात्र हैं।"

हमने ऊपर जो विचार व्यक्त किया है, उद्धृत पंक्तियाँ उसका स्पष्ट भाष्य करती हैं। प्रस्तुत सौंदर्यानुभूति के प्रसंग में हमें स्वभावतः गीता के विभूतियोग की स्मृति आती है। उस प्रसंग में भगवान् ने कहा है :—

"यद्यदाभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वंमम तेजोंऽशसम्भवम् ॥"
(गीता० अ० १० श्लोक ४१)।

अर्जुन, जो वस्तुएँ वैभव-विशिष्ट श्री-युक्त या ओजःपूर्ण हैं, उन्हें तुम मेरे तेज के अंश से उत्पन्न समझो। यह श्लोक "असाधारण सौंदर्य" की ओर ध्यान आकृष्ट करके सौंदर्य-स्रष्टा की स्मृति दिलाता है। हमारी समझ में गीता के विभूति-योग का कोई दूसरा तात्पर्य नहीं है, केवल सौंदर्यानुभूति द्वारा सौंदर्य-स्रष्टा का साक्षात्कार कराना है। इस संबंध में मननशील ग्रंथकार की निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेष ध्यातव्य हैं :—

"जो किसी भी वस्तु के प्रति अपने को उस अवस्था में डाल देता है उसको उस वस्तु का यथावत् अनुभव तो होता ही है अर्थात् उसे वह सब संवित् तो प्राप्त होते ही हैं, जो अन्यथा त्यक्त रहते हैं, बुद्धि को उसमें वह शक्तियाँ मूर्तिमती देख पड़ती है जो जगत् को परिचालित करती प्रतीत हो रही हैं।"

इस प्रकार कला और सौंदर्य के दार्शनिक विश्लेषण के पश्चात् श्री संपूर्णानंद जीने धर्म और शिक्षा के विषय में भी सारगर्भित विचार व्यक्त किए हैं। यथास्थान उनका उल्लेख नीचे दिया जायगा।

आज का शिक्षित धर्म को समाज के ह्रास एवं अधोगति का प्रमुख कारण मानता है उसकी दृष्टि में धर्म, भ्रम में फँसाने वाला एक जाल है। विद्वान् दार्शनिक ने इस भ्रांत धारणा का पूर्ण निराकरण कर दिया है। धर्म का लक्षण बतलाते हुए श्री संपूर्णानंद जी कहते हैं :—"जो कर्म, निष्काम होकर यज्ञ-भावना से किया जाय, जिस कर्म से जीव-जीव में अभेद की वृद्धि हो, वह धर्म है।" इसी प्रकार वे धर्म के अंग पर प्रकाश डालते हुए आगे कहते हैं :—"पार्थक्य, विषमता, शोषण, उत्पीड़न का निरंतर विरोध करना और सौहार्द, सहयोग, विश्व-संस्कृति तथा ऐक्य-मूलक सदिच्छा के लिये उद्योग करना धर्म का अंग है।"

ये पंक्तियाँ इतनी स्पष्ट है कि स्वतः अपनी व्याख्या कर रही हैं। यदि कोई भी विचारशील व्यक्ति इन पर शांत मन से विचार करेगा, तो वह इनकी तात्विकता एवं उपादेयता से अवश्य प्रभावा-

न्वित होगा। शिक्षा के सबंध में प्रज्ञ लेखक ने ऐसी महत्त्वपूर्ण बात कही है, जो सर्वदा स्मरण रखने योग्य है। नानात्व और पार्थक्य को मिटाकर जो ज्ञान, एकत्व की ओर ले जाय, वस्तुतः वही शिक्षा है। इस सारगर्भित लक्षण के अनुसार धर्म और शिक्षा का जो उदार एवं अनाविल रूप श्री संपूर्णानंद जी ने हमारे समक्ष रक्खा है, उस पर हमें विशेष विचार करना चाहिए। क्या ही अच्छा हो कि शिक्षा-शास्त्री श्री संपूर्णानंद जी के एतत्विषयक विचारों को लक्ष्य में रखकर शिक्षा-साहित्य की रचना करें।

"चिद्विलास" में योग का अनुपम स्थान है। विद्वान् ग्रंथ-प्रणेता का यह ध्रुव मत है कि योग के बिना आत्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। वस्तुतः है भी बात ऐसी ही। बिना अविद्यावरण के हो किसी प्रकार भी आत्म-साक्षात्कार संभव नहीं और अविद्यावरण तब हट सकता है, जब चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाता है। महान् साधक महर्षि पतंजलि ने अपने "योग दर्शन" में "योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः" अर्थात् चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग कहा है। उन्होंने वृत्तियाँ, पाँच बतलाई हैं। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। इन्हीं वृत्तियों का निरोध योग है।

जब स्थूल कार्यों के संपादन में भी चित्त की एकाग्रता की नितांत आवश्यकता होती है तब सूक्ष्मतम आत्म-स्वरूप के साक्षात्कार के लिये तो वह अनिवार्यतः अपेक्षित है ही। योगियों ने चित्त की पाँच अवस्थाएँ बतलाई हैं:—क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र, निरुद्ध।

साधक को चित्त की इन पाँचों अवस्थाओं के पथ से होकर गमन करना पड़ता है।

वेदांत शास्त्र-प्रणेता महर्षि व्यास ने भी "तत्त्व-दर्शनाभ्युपायो योगः" अर्थात् 'तत्त्व-दर्शन' के उपाय को योग कहा है। कुछ विवेचकों का विचार है कि सांख्य मार्ग अर्थात् ज्ञान-मार्ग में योग की आवश्यकता नहीं है; केवल अविद्या को दूर करने की आवश्यकता है। किंतु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अंततः अविद्या दूर कैसे होगी ? बिना किसी प्रयत्न, साधन अथवा अभ्यास के तो वह दूर होने से रही। इसी प्रयत्न या प्रक्रिया का ही नाम तो योग है। महर्षि पतंजलि ने चित्त-निरोध के प्रकरण में स्वयं कई उपाय बतलाए हैं। अतः यह बात निर्विवाद है कि अविद्या-आवरण हटाने के लिये जो भी क्रिया की जायगी, वह योग की व्यापक परिभाषा के अंतर्गत अवश्य आ जायगी। कारण, उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार चित्त-वृत्तियों के निरोध का ही नाम तो योग है। एक बात अवश्य है, "योग-दर्शन" में चित्त-वृत्तियों के निरोध के जो उपाय बतलाए गए हैं, वे अत्यंत उपादेय एवं विधि-विशिष्ट हैं।

महर्षि शांडिल्य ने अपने प्रख्यात ग्रंथ "भक्ति दर्शन" में भक्ति एवं ज्ञान दोनों ही साधनों में योग की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई है।

कापिल सांख्य शास्त्र में भी "अभ्यासाच्च वैराग्याच्च" अर्थात् "अभ्यास" और "वैराग्य" के द्वारा दुःखत्रय की "अत्यंत निवृत्ति" मानी गई है।

यदि सांख्य दर्शन के उपरिलिखित सूत्र पर ध्यान दिया जाय, तो उसमें प्रयुक्त "अभ्यास" एवं "वैराग्य" दोनों ही योग-प्रक्रिया की व्यापक परिधि में अंतर्भूत हो जायँगे।

इस प्रकार योग की महत्ता प्रशस्यतम है।

योग के संबंध में ग्रंथकार ने अधोलिखित वाक्यों में जो विचार व्यक्त किया है, वह विशेष ध्यातव्य है :—

"नानात्व का प्रसार जगत् का प्रसव-क्रम है, योगाभ्यास उसका प्रति प्रसव-क्रम है। शुद्ध ब्रह्म पर अविद्या के कारण जो पर्दे पड़ गए हैं, उनको उत्तरोत्तर हटाकर पुनः स्वरूप-प्रतिष्ठित होना ही योगी का उद्देश्य है।"

इन वाक्यों-द्वारा योगाभ्यास और योगी के उद्देश्य पर जो प्रकाश डाला गया है, वह आज के तर्क-प्रिय व्यक्ति के अंतर के ध्वांत को मिटाने में पूर्ण क्षम है। किमधिकमतः परम्।

निबंध, विस्तृत होता जा रहा है; अतः अब हम इसका उपसंहार करते हुए इतना और कहना चाहते हैं कि "चिद्विलास" एक अमर दार्शनिक कृति है। वह जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही पक्षों पर देदीप्यमान प्रकाश डालता है। उसका अंतरंग श्री संपूर्णानंद जी के चिरकालीन गंभीर एवं व्यापक शास्त्रालोड़न का अमृतोपम नवनीत है!

एक बात और। ग्रंथ के उपोद्घात में श्री संपूर्णानंद जी ने एक अनुच्छेद लिखा है :—"लोग दार्शनिक से वैयक्तिक और सामूहिक धर्म्म, सदाचार का स्वरूप पूछते हैं। वह जानना चाहते हैं कि सत्कर्म क्या है? कर्म की अच्छाई की क्या परख है? धार्मिक आचरण के पक्ष पे हेतु क्या है? आज दार्शनिक को राजनीति और अर्थनीति, दंड-विधान और शिक्षा के संबध में संमति देनी होगी और मार्ग दिखलाना होगा।" हम निस्संकोच यह कह सकते हैं कि "चिद्विलास" में इस बात का पूर्ण निर्वाह किया गया है। हमारी समझ में दर्शन-वाङमय में श्री संपूर्णानंद जी की यह अन्यतम देन है। "चिद्विलास" के पढ़ने के पश्चात् अंत में मुख से यह बरबस निःसृत हो जाता है :—

"फिलासफी इज नाट ऐन इंटेलेक्चुअल परसूट बट डेडिकेटेड लाइफ"

विश्वात्मा

राधाकमल मुकर्जी

मानव-समाज में नैतिक नियमों की व्यवस्था तथा मर्यादा की स्थापना के लिये संकेतों और प्रतीकों का अवलंबन अनिवार्य है। भाषा, तर्क और संकेतों के अभाव में, मनुष्य इतनी नैतिक और बौद्धिक उन्नति कभी न कर सकता जितनी आज कर सका है। सूक्ष्म विचार तथा रचनात्मक कल्पना से उत्पन्न सामाजिक आदर्शों और प्रतीकों से मनुष्य की जो विवेकवृत्ति बनती है उसीके द्वारा उसका नैतिक जीवन ढलता और नियंत्रित होता है और वही उसे समाज की मर्यादा के अनुसार अपनी परिस्थितियों पर नियंत्रण रखने में समर्थ बनाती है। सभ्यता की आदिम अवस्था में मनुष्य ने ऐसे आदर्शों और प्रतीकों की सृष्टि की थी जिन्हें वह स्वतःपूर्ण मानकर उनमें श्रद्धा रखता था। वह भाग्य या नियति, अनंत कारण-परंपरा तथा कर्मफल में विश्वास करता था जिससे सामाजिक वैषम्य एवं अत्याचार से उत्पन्न आंतरिक द्वंद्वों से उसे मुक्ति मिलती थी। इसी प्रकार दैव-दया तथा ईश्वरीय अवतारों में विश्वास करने के कारण व्यापक सामाजिक उथल-पुथल के समय उसे वांछित नैतिक अवलंब प्राप्त होता था। आदर्श, रूढ़ि और धर्म की बाह्य कठोर सत्ता ही मनुष्य के हृदय में अंतःचेतना बनकर बैठ जाती है, किंतु पुनः जब अंतःचेतना से इनका विकास होता है तब लोग उसे दिव्यदर्शन अथवा अंतःप्रेरणा से प्रादुर्भूत मानते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी जाति में संतों या पैगंबरों पर उतरी हुई मानवनीति या धर्म की इलहामी किताब अथवा स्वर्गीय विधान, भयानक परिस्थितियों में भय, चिंता आदि के बीच उस जाति को दृढ़ नैतिक अवलंब देता और उसका बौद्धिक परितोष भी करता है।

यह सत्य है कि फ्रायड का कहना था कि धर्म विज्ञानयुग के पूर्व का एक भारी भ्रम है और जब मनुष्य प्रकृति की शक्तियों और जीवन की परिस्थितियों को ठीक-ठीक समझकर जीवन को भय और चिंता से मुक्त बनाने में समर्थ होगा तब यह भ्रम दूर हो जायगा। परंतु पीछे, उसके मानसिक क्रियाओं के एकमात्र नियामक के रूप में सुखदुःख के सिद्धांत के त्याग तथा मृत्यु-भावना के सिद्धांत के पोषण से, मानसोपचार पद्धति में धर्म और नीति की पुनः प्रतिष्ठा हो गई। मानस-चिकित्सा में मनुष्य के आंतरिक विरोधों पर विजय पाना आवश्यक है और इसलिये सुखदुःख की भावना

से आगे बढ़कर उसकी मृत्यु भावना को प्रभावित करना पड़ता है। यह एक नैतिक आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी रोगी की अहंवृत्ति की सबलता के कारण चतुर से चतुर मानस-चिकित्सक भी उसे प्रभावित करने में असमर्थ हो जाता है। तब उसे प्रभावित करने के लिये उसकी उन्मत्त सुखलालसा को मंद करना, उसके अहंकार को नत करना---उसकी धर्मबुद्धि को जगाना पड़ता है। इस प्रकार मानस-चिकित्सा में प्रतीक, आदर्श तथा धार्मिक और नैतिक प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं और वे रोगी के स्वास्थ्यलाभ के लिये अनिवार्य हैं। धार्मिक और नैतिक आदर्शों तथा उनके द्वारा बने हुए संस्कारों से प्रत्येक कार्यक्षेत्र में मनुष्य का दैनिक जीवन अधिक अर्थपूर्ण एवं अनुभव की दृष्टि से अधिक समृद्ध हो जाता है। परंतु आदर्शों और नियमों को सर्वथा निरपेक्ष एवं पूर्ण मान लेने के कारण शीघ्र ही नैतिक भावना संकीर्ण हो जाती है। तब मनुष्य का विचारशील तार्किक मन केवल धार्मिक आदर्शों अथवा धर्म के दार्शनिक ढाँचे पर ही आक्रमण करके चुप नहीं बैठता, प्रत्युत वह इच्छा तृप्तिमय पूर्ण समृद्ध जीवन की कामना के साथ-साथ एक नवीन नैतिकता तथा उच्चतर गुणों एवं अनुभवों की आकांक्षा करने लगता है।

मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्य होता जाता है त्यों-त्यों व्यक्तियों तथा भिन्न-भिन्न वर्गों का वैशिष्ट्य और महत्त्व बढ़ता जाता है और उनके भिन्न-भिन्न उद्देश्यों और आदर्शों को अपना लेने के कारण पीढ़ियों से आध्यात्मिक संस्कार के रूप में चले आते हुए पुराने सामाजिक आदर्श और प्रतीक छिन्न-भिन्न होकर भिन्न-भिन्न अनेक आदर्शों और प्रतीकों का रूप धारण कर लेते हैं। आधुनिक सभ्य संसार का मनुष्य देखता है कि न केवल उसके परंपरागत वर्ग और संस्थाएँ तथा उनके उद्देश्य और मान-तुलाएँ निरंतर बदलती जा रही हैं, प्रत्युत उसके वे सामाजिक आदर्श और परंपराएं भी टूटती जा रही हैं जिन्हें वह पूर्ण, शाश्वत तथा विधि का विधान मानता था। इस प्रकार आधुनिक सभ्य मानव अपने व्यक्तिवाद और सामर्थ्य-वैशिष्ट्य तथा जीवन के उच्चतर तत्त्वों के लिये अपनी आकुलता के बावजूद अपने परिवर्तनशील समाज में किसी नैतिक अवलंब से सर्वथा वंचित है।

कई प्रकार की सामाजिक प्रवृत्तियों ने आधुनिक सभ्य मनुष्य की नैतिक निरवलंबता को बढ़ा दिया है। एक दूसरे से निकट संबंध रखनेवाले प्रारंभिक वर्गों और संस्थाओं का स्थान अब ऐसे मिश्र और परोक्ष वर्गों और संस्थाओं ने ले लिया है, जिनमें व्यक्तिगत संबंध दूर पड़ जाते हे। जीवन की क्षिप्र गति ने प्राचीन आदर्श, प्रतीक, सदसद्विवेक तथा नैतिक भावना को नष्ट कर दिया है, परंतु इनके स्थान पर अभीतक नए आदर्शों, प्रतीकों आदि का विकास नहीं हो पाया है। दूसरे, यांत्रिक, औद्योगिक और राजनीतिक क्रांतियों के कारण व्यापारादि का विस्तार जगद्व्यापक हो गया है। एक महाद्वीप में दुर्भिक्ष, महामारी या राजनीतिक उथल-पुथल का प्रभाव दूसरे महाद्वीपों पर भी अनेक प्रकार के संकटों के रूप में पड़ता है। विश्व में खाद्य, खनिज और कच्चे माल की कमी तथा यातायात में वायुयान और रेडियो द्वारा होनेवाली क्रांति के कारण राष्ट्रों में अश्रुतपूर्व अन्योन्यापेक्षिता आ गई है। मिश्र वर्गों का आकार विश्वविस्तृत हो गया है। फिर भी मनुष्य न अब तक सार्वभौम आर्थिक नियंत्रण अथवा विश्व-शासन-तंत्र का निर्माण कर पाया है और न उस विश्व-चेतना का विकास कर सका है जिसके बिना संपूर्ण विज्ञान-शक्ति के होते हुए भी सभ्यता नष्ट हो जायगी। इस कारण पुनर्व्यवस्था के लिये आकुल मानव अपने उन मिश्र समूहों---आर्थिक या राजनीतिक दलों या स्वतंत्र राज्यों---से अधिकाधिक चिपकता जाता है जिनका निर्माण औद्योगिक क्रांति की प्रारं-

भिक अवस्था में हुआ था और जो आज की विस्तृत तथा अन्योन्याश्रित अर्थ-व्यवस्था एवं राजनीति में उतने ही बेकार हैं जितने प्रारंभिक मौलिक-वर्ग। वह अपनी पूर्वकालीन वर्ग-वृत्तियों एवं सामाजिक महत्त्वाकांक्षाओं को इतना कसकर पकड़े हुए हैं कि सामाजिक आदर्शों और प्रतीकों में कोई इस प्रकार का बड़ा परिवर्तन संभव ही नहीं होता जो किसी विश्व-व्यवस्था में व्यक्तिगत तथा सामाजिक शांति के लिये आवश्यक है।

एक ओर तो, मनुष्य में अभूतपूर्व व्यक्तिवैशिष्ट्य प्रकट हुआ है। आज के औसत श्रेणी के मनुष्य तथा गेटे, गांधी या अइंस्टीना के बीच का अंतर उससे कहीं अधिक है जितना विगत युगों में औसत मनुष्य तथा सामत या मुखिया के बीच होता था। आधुनिक मनुष्य के विकास का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत एवं सर्वथा उन्मुक्त है। परंतु प्रतिकूल सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ प्रायः उसके विशिष्ट गुणों और शक्तियों को कुचल देतीं, या फिर उसे समाजविरोधी अनुचित मार्गोपर लगा देती हैं। चाहे सदसद्विवेक हो या व्यापक प्रेम और दया की भावना अथवा सौंदर्य या पवित्रता की दृष्टि—मनुष्य के सभी विशिष्ट गुणों और शक्तियों का पोषण, पल्लवन और विकास समूह या समाज के ही द्वारा, हुआ करता है। परंतु आज के युग में, प्रतिभावानों की बात छोड़िए, औसत से कुछ ही ऊँचे मनुष्य को भी, अपनी व्यक्तिगत शांति और सफलता की उपलब्धि में अपने वर्ग या समूह की सहायता नहीं मिलती। दूसरी ओर ऐसे मिश्र और परोक्ष वर्गों द्वारा जिनमें वैयक्तिक संबंध छिन्न हो गए हैं, मानवीय वृत्तियों की केवल आंशिक तुष्टि होती है। तिसपर भी वे वर्ग मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन पर भी आघात करते हैं और अनेक के मनं-स्वातंत्र्य को भी नष्ट कर देते हैं जो मानवता के लिये आधुनिक विज्ञान तथा जनतंत्र की विशेष देन है।

वर्तमान सभ्यता का यह विश्वास प्रतीत होता है कि व्यक्ति के नैतिक आचरण की उपेक्षा कर के भी आदर्श समाज की रचना की जा सकती है। आज के समष्टि समाज में व्यक्ति की स्थिति केवल यंत्र के पुर्जे की-सी रह गई है। व्यक्ति केवल विचारहीन, विश्वासप्रवण एवं कलहप्रिय, समूह का प्राणिमात्र रह गया है। उसकी समझ में उसका समूह या वर्ग ही उसके आहार, मैथुन, आरोग्य, मुक्ति—उसकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। आधुनिक पाश्चात्य बहु-जनतंत्र और सर्व-जनतंत्र दोनों ही व्यक्ति के अधिकारों की उपेक्षा करते हैं और व्यक्ति का स्थान बड़े बड़े वर्गों, दलों और संस्थाओं को देते हैं। बरद्याव कहता है—"उन्नीसवीं और बीसवीं शती में मनुष्य का आदर्श अत्यंत अस्पष्ट, प्रायः लुप्त हो गया है। जब यह मान लिया गया कि मनुष्य सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है, तब समाज का ही आदर्श उसका आदर्श हो गया।"

इधर प्राच्य संसार विचारशील, मुक्त और सामान्य विश्व-मानव का आदर्श उपस्थित करता है। भारत का आदर्श कर्मयोगी मुक्त पुरुष (जीवन्मुक्त और बोधिसत्व) है। मुक्त पुरुष अपने को विश्व के सुख, शांति और सौंदर्य के सूक्ष्म प्रतिरूप या प्रतिबिंब के रूप में अनुभव करता है। उसका स्वपूर्णता का आदर्श वह पुरुषोत्तम है जिसे गीता में भगवान का विश्वरूप कहा है और जो संपूर्ण व्यक्त विश्व में व्यापक, सब जीवों की अंतःचेतना है। यह रूपक मात्र नहीं है। मनुष्य विश्व के चराचर समाज में अपना आत्मविस्तार करके, प्रेम और सेवा द्वारा समस्त प्राणियों में आत्मवत् अनुभूति कर के ही सच्चा आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है। प्रेम, दया, सहानुभूति, विनय

इत्यादि श्रेष्ठ गुण चिंतनशील मनुष्य में अनायास और अहेतुक आते हैं। जीवन्मुक्त या बोधिसत्व संसार-त्यागी नहीं होता। वह प्राय: कर्त्तृत्वाहंकार एवं जयाजय की भावना से रहित होकर ही कर्म में प्रवृत्त होता है। अत: जीवन और समाज के प्रति उसका भाव सर्वग्राही, पूर्ण और समरस होता है। जीवन्मुक्त गीता में कहा है—"मुक्त वही है जो अपने को जगत् के समस्त प्राणियों के भीतर देखनेवाला, अहिंसापर तथा सब जीवों के हित में रत है।" इसी प्रकार अरब का प्रसिद्ध दार्शनिक रहस्यवादी अलगजाली ईश्वर तथा सब जीवों की एकता पर जोर देर हुए लिखता है—"ईश्वर ने कहा है कि मेरा सेवक इसलिये मेरे निकट आना चाहता है कि मैं उसे अपना मित्र बनाऊँ, और जब मैं उसे अपना मित्र बना लेता हूँ तब मैं उसका कान, नाक और जीभ बन जाता हूँ।" यह ऋग्वेद के एक मंत्र की याद दिलाता है जो उपनिषदों और गीता में अनेकबार दोहराया गया है।

पूर्वीय जातियों में जीव-मुक्त विश्वपुरुष का आदर्श अहंकार के जाड्य को दूरकर मनुष्य की चेतना तथा भावसीमा के विस्तार में सहायक होता है। महायानी दार्शनिक कवि आसंग का कथन है—"प्राणियों के प्रति बोधिसत्व का प्रेम विश्व का एक महान् आश्चर्य है। अथवा, यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि बोधिसत्व के लिये तो आत्म और पर अभिन्न हैं, सब जीव उसीके रूप हैं।" विश्व के संपूर्ण साहित्य में विश्वव्यापिनी करुणा का वैसा स्तुतिगान कहीं न मिलेगा जैसा महायानी कवि संसारत्यागी राजकुमार शांतिदेव की उक्तियों में मिलता है—"जिसके द्वारा हमारे भीतर बुद्ध के गुणों का उदय होता है वह तत्त्वकण प्रत्येक प्राणी के हृदय में विद्यमान है। इस कारण प्रत्येक प्राणी आदर का पात्र है। बुद्ध जीवों के हेतु अपने शरीर को यातना देते और नरक में भी जाते हैं। इस हेतु हमें अपने बुरे से बुरे शत्रु का भी हित ही करना चाहिए। बुद्धों के प्रसादार्थ आज से ही मैं सर्वभावेन विश्व का सेवक बनता हूँ। यदि विश्वरक्षक को इसीमें प्रसन्नता हो तो जनसमुदाय अपने पैरों से मेरा सिर कुचल कर मेरा अंत कर डाले।" इस प्रकार करुणावान पुरुष का आदर्श प्राच्य देशों में कई शताब्दियों से त्याग तथा दान-दया की भावना जगाता रहा है। चीन में आज दिन तक प्रतिवर्ष बीसों नव-दीक्षित भिक्षु बोधिसत्व होने की प्रतिज्ञा करते हैं और उसके बाद से उनके शिष्य उन्हें 'ता-पुर' या महाबोधिसत्व कहकर संबोधित करते हैं।

यूरोपीय सभ्यता कई भिन्न-भिन्न सभ्यताओं के मिश्रण से बनी है। यूनानी-रोमी समाज में विवेकशील राजनीतिक पुरुष के आदर्श का प्राधान्य था। ईसाई मत ने मध्यकाल में वहाँ आश्रमवासी संत पुरुष तथा राज दरबारी वीर 'नाइट' का आदर्श प्रस्तुत किया, जिनमें से एक का प्रभाव मठों और गिर्जाघरों में था और दूसरे का जनता पर। नव-जागरण-काल में सुरुचि और सुबुद्धि-संपन्न मनुष्य का आदर्श सामने आया जिसका जीवन यूनानी संस्कृति, तथा एशिया से व्यापार द्वारा प्राप्त धन, दोनों से संपन्न था। फिर उन्नीसवीं शती में पूंजीवादी उद्योगवाद की प्रथम अवस्था में अर्थवादी मनुष्य का आदर्श प्रस्तुत हुआ। हाकिंग के शब्दों में इसके दो रूप हुए—एक तो स्वाधीन, स्वतंत्र-विचारशील अर्थवादी भद्रपुरुष जो मिल के दर्शन का सार तत्व है; और दूसरा पराधीन, विचार-स्वातंत्र्य-रहित अर्थवादी श्रमिक, जो मार्क्स के दर्शन का सार है। हाकिंग के ही मतानुसार पूर्ण मनुष्य के रूप में ये दोनों ही असफल हैं। इसके पश्चात् बीसवीं शती में पूंजीवादी उद्योगवाद की द्वितीय अवस्था में आर्थिक भद्रपुरुष के आदर्श को पीछे हटना पड़ा और श्रमिक को समूहपुरुष या वर्गपुरुष के रूप में

विशेष महत्त्व प्रदान किया गया। यह समाज के लिये एक नया जीव है जिसने अपनी परंपरागत प्रकृति को त्याग दिया है तथा जो समाज और संसार की शांति के लिये बहुत भयावह है।

यह लक्ष्य करने योग्य है कि बहुत बड़े मानवतावादी डॉस्टाएफ्स्की ने अपने "शिगालोविज्म" में समूह-मानव तथा समष्टि-(वर्गरहित) समाज के अत्याचार और भ्रष्टाचार का अनुमान इस प्रकार पहले ही कर लिया था कि "इसमें बुद्धि, विज्ञान और शिक्षा का स्तर नीचा कर दिया गया है। महान मस्तिष्कों की इसमें कोई आवश्यकता न रहेगी। या तो वे निर्वासित कर दिए जायेंगे या मार डाले जायेंगे। गुलामों में समानता होनी अनिवार्य है। एकतंत्र में स्वतंत्रता और समानता कभी नहीं रही, परंतु इस समूहतंत्र में तो समानता निश्चय रहेगी। यही "शिगालोविज्म" है। संसार में जिस एक वस्तु का अभाव है वह है अनुशासन।" फासिज्म और नाजिज्म की पराजय के बाद भी इस शिगालोविज्म का आदर्श अभी जीवित है। इसका कारण यह है कि समूह-मानव संघर्ष, क्रांति, अधिकार और अधिनायकत्व के आदर्श में ही उल्लास का अनुभव करता है।

जैसा समाज होता है वैसे ही उसके आदर्श होते हैं। श्रेणीरहित समूहबद्ध समाज के आदर्श सदा चिंता, भय, घृणा और आक्रमण की ही मूलबद्ध वृत्तियों को अभिव्यक्त करते हैं। धार्मिक तथा परंपरागत आदर्श इनसे भिन्न हैं। वे आदिम प्रवृत्तियों की नहीं, वरन् प्राकृतिक एवं स्थायी भावों तथा एक जटिल प्रकार के भावविकास और भावतुष्टि की अभिव्यक्ति हैं, जिनका लक्ष्य शक्ति और अधिकार नहीं वरन् मानव-पूर्णता है। परंतु अब ये आदर्श अनुदिन वर्धमान बृहद् मानव-समुदायों की कल्पना तथा कर्मभावना को जगाने में असमर्थ हो गए हैं।

यदि मानवजाति तथा उसकी संस्कृतियाँ ऐसे प्रतीकों और आदर्शों का आधार लेकर जीती हैं जो केवल काव्यगत रूपक नहीं वरन् सर्वश्रेष्ठ नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों से निर्मित होते हैं, तो आज के समूह-मानव का सामाजिक आदर्श निश्चय ही पूर्णपुरुष—नैतिक, आध्यात्मिक, दिव्य या विश्वपुरुष—का आदर्श होगा। आधुनिक मानव ने अपूर्ण प्रतीकों और आदर्शों के अवलंबन के फल स्वरूप जितना पतन देखा है उसका ध्यान कर वह आज अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण आदर्श की खोज में है। पूर्णमानव के आदर्श में केवल अर्थपर मानव की स्वतंत्रता और कर्मोत्साह के अथवा समूह-मानव की सहयोग-भावना तथा दृढ़-संघटन-शक्ति के ही तत्त्वों का होना आवश्यक नहीं है; उसमें श्रेष्ठ नैतिक और आध्यात्मिक गुण भी होना चाहिए। प्राचीन ऋषि-मुनि या विश्वपुरुष या बुद्ध के आदर्श में ये गुण निहित थे। परंतु आज तो महासमाज या बृहत-समाज के प्रभाव, माया और आकर्षण ने पूर्ण-पुरुष के आदर्श को नष्ट कर दिया है।

आज यंत्र तथा संघटन की वेदीपर समूह-मानव के व्यक्तित्व तथा श्रेष्ठ गुणों का जो बलि-दान हो रहा है उसे रोकने का एक ही उपाय है। वह यह कि मनुष्य का नित्य का आर्थिक जीवन और अनुभव, उसका नैतिक कार्यक्रम, शिक्षा और अनुशासन, सब उसके व्यक्तित्व को पूर्ण बनाएँ। उसका जटिल सामाजिक जीवन जो कृत्रिमवर्गों में पृथक्-पृथक् विभक्त है उसे संयुक्त एवं संतुलित कर उसको गतिशील आध्यात्मिक पूर्णता एवं स्वतंत्रता प्रदान की जाय। व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन की कठोर और यांत्रिक जड़ता और तदुत्पन्न भय, घृणा, चिंता और निराशा—ये

पूर्ण नैतिक जीवन के विकास के मार्ग में सब से बड़ी बाधाएँ हैं। इस कारण समूह-मानव का उद्धार उसके सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—घर, पड़ोस, मंदिर, सभा, संस्था, राजनीतिक दल—में उसके संपूर्ण अंतःकरण के शोधन या पुनःशिक्षण द्वारा प्रारंभ करना होगा। परंतु ऐसा होना तबतक संभव नहीं है जबतक इसके अनुकूल समूह या वर्गों का पुनस्संगठन न हो, साथ ही जबतक समूह अपनी सामाजिक दृढ़ता के लिये एकरूपता, विशिष्टता और व्यक्ति के कठोर नियंत्रण जैसे उपायों का अवलंबन करने के बदले प्रेम और सेवा का मार्ग न अपनाए। समूह-मानव का आर्थिक और सामाजिक संघटन आकार तथा शक्ति में दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता ही जा रहा है; परंतु ध्यान रहे कि संकीर्ण दिशा में यह वृद्धि मानव के सर्वश्रेष्ठ गुणों का विनाश करने वाली है। समूहरूपी यंत्र का उद्देश्य राजनीतिक और आर्थिक शक्ति-संग्रह होने के कारण उसके द्वारा केवल सशक्त पुरुष का निर्माण हो सकता है, सत्पुरुष का नहीं। आज अनेक उच्च-गुण-संपन्न व्यक्ति समाज में सहयोग-पूर्ण संमिलित जीवन अथवा सदाचार एवं सद्गुणों के उत्कर्ष का अनुभव करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। वे अपने ही नैतिक और आध्यात्मिक बल के सहारे एकाकी सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। दूसरी ओर जो लोग समूहों और संस्थाओं के पुनस्संगठन के कार्य का भार उठाते हैं वे स्वयं किसी प्रकार के नैतिक या मानसिक परिवर्तन का अनुभव करने में असमर्थ रहे हैं। वे केवल इच्छा-तृप्तिमय समूह-मानव के ही विवर्धित प्रतिरूप या प्रतिबिंब मात्र हैं।

तो, समूहमानव के उद्धार के लिये, उसे पूर्ण, नैतिक, आध्यात्मिक या विश्वमानव के रूप में परिवर्तित करना होगा और स्वार्थवर्गों को सर्वांगपूर्ण समाज के स्तर तक उठना होगा। दोनों का यह विकास एक दूसरे का साधक होगा। परंतु चारित्रिक दृढ़ता, एवं नैतिक विकास की अविलंब सिद्धि के लिये संस्थाओं और समूहों के संघटन में अत्यधिक परिवर्तन अपेक्षित हैं।

इस प्रकार दो दिशाओं में विकास की आवश्यकता है। एक तो स्वार्थवर्गों का पूर्ण समाज के रूप में परिणति, अर्थात् शक्तिसंघर्ष त्यागकर संस्कृति, सामाजिकता, आत्मपूर्णता और मानवता की ओर विकास। यह लक्ष्य हिंदू और ईसाई विश्व-मानव के आदर्श में, जो आज के समूह-मानव का बिल्कुल उल्टा है, अत्युत्तम रीति से चरितार्थ होना है। दूसरे, व्यक्तियों और वर्गों के परस्पर प्रेम, सामाजिकता और उत्तरदायित्व की भावना पर अवलंबित प्राकृतिक श्रेणी-विभाग की ओर प्रगति। वर्ग-चेतना समाज की एकता और दृढ़ता को भंग करनेवाली है परंतु प्राकृतिक श्रेणी-विभाग की व्यवस्था वर्गों और समूहों को परस्पर आबद्ध करती है।

कर्मानुसार प्राकृतिक श्रेणी-विभाग वह नैतिक या सामाजिक आदर्श है जिसमें भिन्न-भिन्न वर्ग अपनी संस्कृति और सामाजिक कर्मों के महत्त्व के अनुसार समाज के नियंत्रण और प्रबंध में सहभागी होते हैं। इस प्रकार की कर्मानुसारी स्वाभाविक वर्ग-व्यवस्था (या वर्ण-विभाग) का नियं-त्रण करनेवाले होंगे—शिक्षक, उपदेशक, कलाकार, वैज्ञानिक, तत्त्वज्ञ। ये सभी सेवा और त्यागमय जीवन व्यतीत करेंगे। धर्म, दर्शन और समाजशास्त्र का समाज में सब से अधिक महत्त्व होना चाहिए और शिक्षक, कलाकार, दार्शनिक, न्यायाधीश वकील आदि का स्थान शासनाधिकारियों से ऊँचा होना चाहिए। इनके बाद दूसरा स्थान होगा विशेषज्ञों, यंत्रविदों, शासकों आदि का। बर्ट्रांड रसेल का विचार है कि दैनिक जीवन में विज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ भविष्य में विशेषज्ञों का महत्त्व

ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा त्यों-त्यों प्रजातंत्र शासन का स्थान विशेषज्ञों का शासन लेता जायगा—भले ही प्रजातंत्र का बाह्यरूप अखंड बना रहे। ऐसे नेता और विशेषज्ञ जो प्रेम, सौजन्य और न्याय की मूर्ति हों और व्यक्तिगत सुखों के लिये लालायित न हों, समाज के शासन और संघटन के लिये तथा लोक को सामाजिक जीवन और कर्तव्य की शिक्षा देने के लिये सब से अधिक योग्य हैं। नित्शे के मतानुसार भी समाज के शिखरस्थ व्यक्तियों को कठोर तपस्यामय जीवन बिताना चाहिए। इसका एक सुपरिणाम यह होगा कि सभी श्रेणियों के लोग ऊपर की ओर चढ़ना पसंद नहीं करेंगे। ऐसी व्यवस्था में, उच्च वर्गों में जीवन के उच्चस्तर की वेदी पर संतानों के बलिदान के कारण उत्पन्न होनेवाली कुल ह्रास की समस्या भी नहीं उठेगी। प्रत्युत, प्राकृतिक श्रेणी-विभाग में उच्च वर्गों के विशिष्ट कुलाचार के कारण कृत्रिम जन्मनिरोध के बदले ब्रह्मचर्य द्वारा जनसंख्या आर्थिक स्थिति के अनुकूल होगी।

उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के नीचे दो और श्रेणियाँ होंगी, एक व्यापारियों की, दूसरी श्रमिकों की। पंचमश्रेणी में अर्ध-सामाजिक या समाजविरोधी अपराधी, गुंडे, वेश्याएँ आदि होंगी।

यूरप में प्लेटो और अरस्तू द्वारा भावित स्वाभाविक वर्ग-व्यवस्था के संपूर्ण सिद्धांत का, जो कि ईरानी और भारतीय चतुर्वर्ण-व्यवस्था में भी निहित है, मूल स्वाभाविक वर्ग-निर्माण तथा कर्म-व्यवस्था में है। उसमें नैतिक दायित्व के अनुसार भिन्न नैतिक स्तरों की योजना है।

सर्वांगपूर्ण समाज में न तो शक्ति, अधिकार और प्रतिष्ठा के लिये वर्ग-संघर्ष हुआ करता है और न समूहों या वर्गों के पारस्परिक स्वार्थमय उद्देश्यों और कर्मों संबंधी दुर्व्यवस्था ही होती है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपना उचित कर्म और स्थान प्राप्त करता है। प्रत्येक वर्ग या समूह को शांति और स्थिरता प्राप्त होती है, क्योंकि उसकी शक्ति और उसके अधिकार उसके सामाजिक कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व के अनुसार होते हैं। व्यक्ति अपने ही कर्मों के द्वारा आत्मपूर्णता प्राप्त करता है। यदि वह अपने वर्ग और कर्म को त्याग कर दूसरे वर्ग के कर्म को अपनाना चाहता है तो अपने ही नैतिक प्रतिष्ठा खोता है। उच्च वर्गों के व्यक्तियों की सामाजिक चेतना उन्हें निम्नवर्गों की सेवा में तत्पर रखती है। स्वाभाविक वर्ग-व्यवस्था में प्रत्येक वर्ग के कर्मों का विभाग व्यक्तियों के गुण और स्वभाव के अनुसार होता है। प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग का स्थान या मर्यादा नियत होती है। व्यक्तियों के स्वभावानुसार उनके कर्म द्वारा उनका वर्ण निश्चित होता है, न कि जाति या रंग द्वारा। चतुर्वर्ण का सिद्धांत ऋग्वेद जितना प्राचीन है और उसका संबंध विश्वपुरुष तथा विश्व-व्यवस्था (ऋत या धर्म) से है। ब्राह्मण ग्रंथों में वर्ण को एक देव कहा गया है "जो अपने स्वार्थ के लिये नहीं दूसरों के निमित्त कर्म करता है।" महाभारत में भी कहा है कि वर्ण-व्यवस्था का कारण जन्म नहीं; प्रत्युत सत्कर्म है। अस्तु। स्वाभाविक वर्ण-विभाग में प्रत्येक वर्ण संपूर्ण समाज के एक अंग के रूप में अन्य अंगों का पूरक होता है और उसमें अधिकार से अधिक महत्व कर्तव्य का, भोग से अधिक सेवा का और पुरस्कार से अधिक त्याग का होता है।

वर्तमान सभ्यता में शांति और व्यवस्था को भंग करनेवाला सब से बड़ा कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सब से ऊपर की चोटी पर पहुँचने का प्रयास करता है, और प्रत्येक वर्ग भी उस शक्ति और अधिकार के लिये अन्य वर्गों से संघर्ष करता है जो ऊपर की चोटी पर ही सुलभ है।

वर्तमान मानव के नैतिक पतन का कारण यही अशांति तथा जीवन-पथ में बेतहाशा दौड़ है। सर्वांग-पूर्ण समाज की दृष्टि वैज्ञानिक दृष्टि है, जिसमें वर्गों का भी स्वाभाविक विभाग होता है और व्यक्तियों के कर्म और मर्यादा का भी संविभाग होता है। उसमें कर्म के द्वारा ही व्यक्ति और समाज का पूर्ण विकास होता है। व्यक्ति अपने विशिष्ट गुण-स्वभाव के अनुसार अपने कर्म द्वारा ही सर्वोत्तम रीति से मानवता का हित कर सकता है। भगवद्गीता के अनुसार गुण-स्वाभावानुसार नियत अपने-अपने कर्म को अनासक्त होकर करना ही पूर्णता का मार्ग है। ब्रैडले, मैक्सशीलर तथा रूमानियन विचारक डाक्टर सी० नार्ले के विचार भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। यह वास्तविक तथ्य है कि प्रकृति द्वारा प्रस्तुत विश्व में कर्मों और लक्ष्यों की प्रभूत राशि में से मनुष्य केवल कुछ को ही अपना सकता है; और यदि वह बारी-बारी से सब को आवश्यक समझकर अपनाने का प्रयत्न करता है तो न केवल उसे असफलता मिलती है वरन् उसके जीवन में ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है कि उसके अनेक मौलिक गुण नष्ट हो जाते हैं। अतः यह निर्धारित करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है कि समाज के एक प्राणी के रूप में अपने परिमित सामर्थ्य के अनुसार तथा समाज में अपनी नियत मर्यादा के अनुसार उसका लक्ष्य क्या हो। कर्म के प्रेम का महत्व आर्थिक उपयोगिता से कहीं बढ़कर होता है। कर्म एक प्रतीक बन जाता है जिसके अवलंब से योग्य और पूर्ण जीवन व्यतीत किया जा सकता है।

क्या वर्तमान उत्पादन-पद्धति में, जब अधिकार और स्वामित्व का उत्पादन से और उत्पादन का मनुष्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों से कोई संबंध ही नहीं रह गया है, उक्त प्रकार की नैतिक व्यवस्था हो सकना संभव है? ऐसे नैतिक परिवर्तन के पहिले संभवतः एक प्रकार की औद्योगिक क्रांति तथा विकेंद्रीकरण की आवश्यकता होगी। कर्मों और लक्ष्यों के व्यक्तिगत स्वाभाविक चुनाव की अपेक्षा वर्गों की परिस्थिति में परिवर्तन अधिक वांछनीय और आवश्यक होगा। क्या बड़े-बड़े आर्थिक वर्ग और राजनीतिक दल जो शक्ति और अधिकार के लिए परस्पर संघर्ष कर रहे हैं, अपने को एक ऐसे सुसंघटित समाज के रूप में परिवर्तित कर सकते हैं जिसमें प्रत्येक वर्ग का अधिकार उसकी सामाजिक उपयोगिता और उत्तरदायित्व पर निर्भर हो, और प्रत्येक व्यक्ति अपने उचित कर्म और स्थान पर आरूढ़ हो।

उन्नीसवीं शती के आर्थिक पुरुष का सामाजिक आदर्श लुप्त हुआ, तब उसका स्थान समूह-मानव के आदर्श ने लिया, यह हम पहिले देख चुके हैं। अब वर्तमान युग में धीरे-धीरे सुसंघटित, संतुलित और विकसित व्यक्तित्व के नैतिक आदर्श पर जोर देनेवाला पूर्ण विश्वमानव का आदर्श उत्पन्न हो रहा है। इस विकासात्मक प्रगति में इसके बाद दूसरा कदम होगा—पूर्ण व्यक्तित्वपर आधृत मानव मात्र की हार्दिक और नैतिक एकता का दर्शन। विकासवादी, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीति सभी इसी आदर्श को दृढ़ कर रहे हैं। अब स्वाभाविक वर्ग व्यवस्था के रूप में परिणत एक पूर्ण मानव-समाज की तात्विक एकता को भी स्वीकार किया जा रहा है।

समाज तथा कर्मानुसार चतुर्वर्ण की उत्पत्ति संबंधी प्राचीन हिंदू उपाख्यान के अनुसार आदि में प्रजापति ने यज्ञ द्वारा अपने को अनेक प्रजाओं के रूप में विभक्त किया। मनुष्य की सृष्टि के साथ-साथ उसने वर्णों और उनके उचित कर्मों को भी नियत कर दिया। समाज तथा वर्णों की

उत्पत्ति यज्ञ से हुई। इस प्रकार प्रजापति के यज्ञ द्वारा ही सृष्टि चक्र चलता है। यज्ञ वास्तव में एक प्रतीक है। "अपने कर्ता की ही तरह मनुष्य को यूप बद्ध यज्ञ-पशु की भाँति जीवन और मृत्यु को स्वीकार करना पड़ता है। उसे नाना संबंधों में बँधना पड़ता है और अपने भीतर के पशु को आत्मसंयम के यूप में बाँधकर जीवन-यज्ञ में उसकी बलि देनी पड़ती है।" व्यक्ति का यज्ञ उसके तप स्वाध्याय आदि कर्मों का पालन है। ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि मनुष्य देवऋण पितृऋण और गुरुऋण इन तीन ऋणों के साथ जन्म लेता है। इन ऋणों का शोधन यज्ञ, संतानोत्पत्ति और स्वाध्याय द्वारा होता है। यज्ञहीन मनुष्य संपूर्ण विश्व-व्यवस्था को भंग करनेवाला होता है। वास्तव में वह चोर है, क्योंकि बदले में बिना कुछ दिए ही विश्व के पदार्थों का उपभोग करता है। यह तो ब्राह्मण धर्म हुआ। सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने तथा संसार के दुख दूर करने के निमित्त निरंतर कर्मारूढ़ रहना—यह महायान पंथ का बोधिसत्व को यज्ञ का आदर्श है। सर्वश्रेष्ठ महायान ग्रंथ 'सद्धर्म पुंडरीक' में बुद्ध को विश्व के पद्म के रूप में माना गया है। विश्व में अनासक्त होकर भी बुद्ध उसके सेवक हैं और वे प्रत्येक हृदय में उस पद्म को विकसित करते हैं।

संसार में मनुष्य सत्य, दया, और धर्म के पालन की प्रतिज्ञा करता और निर्वाण प्राप्त करने के बाद वह उसके फल का त्याग कर विज्ञानी के रूप में पृथ्वी पर रहता है। जो धर्म में दीक्षित नहीं हैं वे उसे नहीं देख पाते। परंतु वह उन्हें देखता और उनकी रक्षा करता है। इस महायान महाकाव्य ने भारत, चीन, जापान और तिब्बत में असंख्य कला-कृतियों को जन्म दिया जिनमें बुद्ध और बोधिसत्व की अद्भुत मूर्ति अंकित है। यह है उस आदर्श की प्रेरणाशक्ति जिसने जन-साधारण के बीच मे अनेक त्यागी और दयावान उत्पन्न किए।

भारत और यूरप के अतिरिक्त सर्वांगपूर्ण आध्यात्मिक वर्ण-व्यवस्था का दूसरा उदाहरण चीन में मिलता है, जहाँ छः श्रेणियाँ या छः कर्म-विभाग हैं—शिक्षक, विद्यार्थी, सैनिक, किसान, शिल्पी, व्यापारी, अभिनेता-दूत-दास इत्यादि। इनको परस्पर आबद्ध करनेवाला मिंगफेन का कनफ्यूशियन आदर्श है जिसके अनुसार यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना अन्य से संबंध-सूचक नाम जान ले तो वह तदनुसार कर्म करता है और समाज-व्यवस्था दृढ़ बनी रहती है। मिंगफेन नैतिक व्यवस्था द्वारा समाज को एक सूत्र में बाँधता है। वह सम्राट् को दया और जनसाधारण को विनय सिखलाता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना ही कर्म करना चाहिए। प्रत्येक के लिये समाज में अपना नाम या पद जानना आवश्यक है जिसके अनुसार न केवल उसके अधिकार और कर्तव्य निश्चित होते हैं, वरन आचार और व्यवहार भी। चीनी नीति-सिद्धांत में जेन अर्थात् पारस्परिक सद्व्यवहार का भारी महत्व है। पिता-पुत्र, राजा-प्रजा, अग्रज-अनुज सभी के लिये जेन का पालन अनिवार्य धर्म है। चीनी नीति-सिद्धांत सामाजिक व्यवहार को विशेष नैतिक नियम का रूप देने का सर्वोत्तम उदाहरण है। परंतु उसमें पारिवारिक सत् संबंध पर जोर अधिक है। भारत में कुटुम्ब की अपेक्षा विश्व-परिवार पर जोर देने का एक विशेष कारण है। यह है दिव्य या ईश्वरीय यज्ञ का तथा प्रत्येक प्राणी में स्थिति विश्वात्मा का आदर्श और प्रतीक, जिनके लिये जनता ने अनेक बार महान त्याग किए हैं। इनकी प्रतिष्ठा आश्रम-धर्म के रूप में हुई—अर्थात् वर्ण या कर्म चाहे जो हो पर वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति धारण करने की व्यवस्था की गई, जिसमें समस्त कर्मों का लय सामान्य विश्वधर्म में होता है। तथापि चीनी नीति-विधान में भी नाम के परिवर्तन के साथ नामी और उसके

संबंधों में भी परिवर्तन के सिद्धांत द्वारा विश्ववाद के लिये मार्ग खुला रखा गया है। वस्तुतः उसमें समाज और विश्व एक दूसरे से पृथक नहीं हैं।

चीनी नीतिशास्त्र को अधार्मिक भी कहा जाता है परंतु उपर्युक्त आदर्श के द्वारा वह हिंदू ऋत या धर्म अथवा ईरानी अषा की श्रेणी में आ जाता है। ईरानी अषा भी ऋत या धर्म (विश्व-व्यवस्था) ही है। संस्कृत शब्द ऋत अर् (नियमन) धातु से निकला है। लैटिन रितस् या ओर्दो इसीसे संबंधित तथा विश्व-व्यवस्था के नियामक दिव्य यज्ञ के सूचक हैं।

भारतीय सृष्टि-व्यवस्था में विकास, पशु से मनुष्य और मनुष्य से अवतार, अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर होता है और प्रत्येक अवस्था में जीवन और मन पर दिव्य यज्ञ की नियामक शक्ति काम करती है। वैदिक कर्म-कांड साहित्य में ऐसे यज्ञ-दर्शन का विकास हुआ जिसमें यज्ञ को आदि कारण तथा संपूर्ण विश्व-व्यवस्था का प्रतीक माना गया। बाद के धार्मिक सिद्धांतों में कर्म की अपेक्षा नीतिपर अधिक जोर दिया गया। हिंदू विचारों के अनुसार धर्म केवल विश्व-व्यवस्था ही नहीं सामाजिक और नैतिक व्यवस्था का भी प्रतिष्ठापक है। वह वर्ण, कर्म और आश्रम को मर्यादित रखने वाली शक्ति तथा जन्म-जमांतर में भटकते हुए जीव के लिये न्याय और शांति का सिद्धांत है। जबतक मनुष्य को कोई ऐसे साभिप्राय तथा परिपक्व ऐतिहासिक प्रतीक न प्राप्त हों जिनमें वह बुद्धि वा अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्त किया जा सके—जबतक उसकी जीवन, सत्य, प्रेम आदि की धारणा में एतत् संबंधी कोई ज्ञात या अज्ञात प्रतीक न संमिलित हों, तबतक उसके सभी व्यक्तिगत कर्म और सामाजिक व्यवहार निरर्थक होंगे। उद्योग-धंधों के बीच पड़नेवाले आधुनिक मनुष्य का किसी मानस प्रतीक या आदर्श के अभाव में कोई नैतिक जीवन ही नहीं है जो उसे निरंतर होनेवाली चिंता, निराशा और पराजय से उसकी रक्षा करे।

क्या विश्वकर्ता या विश्वपुरुष के यज्ञ का प्राचीन हिंदू प्रतीक या दिव्य यज्ञ का ईसाई प्रतीक विज्ञान धर्म और कला में, जो कि आज परस्पर विरुद्ध हो रहे हैं,फिर से एकता और समन्वय स्थापित कर सकते हैं? क्या कर्मों के संविभाग की व्यवस्था द्वारा वह परस्पर विरोधी वर्गों और जातियों में एक सूत्रता ला सकता है? और क्या वह पिछड़ी जातियों से हाथ मिलाकर चलने के इच्छुक देशों के नेतृत्व के आधार पर विश्व-शासन और विश्व-सहयोग की स्थापना में सहायक हो सकता है? प्राकृतिक वर्ग-व्यवस्था के विरोधी अत्याचारी रावण प्रत्येक युग और समाज में हुआ करते हैं। परंतु किसी भी युग में प्राकृतिक वर्ण-व्यवस्था पर मानव-चरित्र को भ्रष्ट करनेवाली और सामाजिक सुख-शांति को नष्ट करनेवाली आज की-सी विपत्ति नहीं आई। समूह-मानव की उछृंखलता और अबुद्धि तथा समाज का समष्टिगत अहंकार, ये संस्कृति को पशु की अवस्था में लिए जा रहे हैं। केवल सामूहिक धर्म या विश्वास ही इतिहास और समाज में परिवर्तन कर सकता है। हृदय को उद्बुद्धि करनेवाले धार्मिक प्रतीक या आदर्श इतिहास की अपेक्षा अधिक सत्य होते हैं। ये हृदय में ऐसी सबल प्रवृत्तियों और अद्भुत शक्तियों को जगा देते हैं, जो जीवन से हताश असहाय मानव-बुद्धि का पथ प्रदर्शन करती हैं।

मानव-समाज की दृढ़ता के आदर्श के रूप में वर्गरहित समूह-समाज उतना ही असफल है

जितना समूह-मानव का आदर्श, जो व्यक्ति को नीचे की ओर घसीटता है। आज के मनुष्य को त्याग-मय पूर्ण समाज के आदर्श तक ऊपर उठना है जिसमें वर्ग या समूह प्राकृतिक कर्म-विभाग के आश्रित हों और जिसमें शक्ति और अधिकार का वितरण प्रेम और सेवा के अनुसार हो। आध्यात्मिक वर्ण-विभाग में "सब से बड़ा पद सेवक का होता है; उसीका सब से बड़ा कर्तव्य और उत्तरदायित्व भी होता है।" वर्गरहित समाज के साम्यवादी आदर्श में सर्वश्रेष्ठ की लोक के प्रति सेवाभावना का वैसा निश्चय कदापि नहीं, जैसा यज्ञ के हिंदू प्रतीक या बोधिसत्व के बौद्ध आदर्श अथवा दान के ईसाई आदर्श में। प्राकृतिक वर्ण-व्यवस्था में त्याग और सेवा का आधार नर में नारायण की भावना है। मनुष्य कर्मयज्ञ करता है, अर्थात् वह समाज की सेवा द्वारा अपने भीतर की ईश्वर प्रदत्त शक्तियों की ही पूर्णता को चरितार्थ करता है। उसमें वर्णों की मर्यादा उनके समाजिक या नैतिक उत्तरदायित्व के अनुसार होती है। इस प्रकार वर्ग अपने स्वार्थों के लिये परस्पर संघर्ष नहीं करते, वरन् अपने कर्मों की पूर्णता के लिये यत्नशील होते और इस प्रकार रामराज्य-सुलभ व्यक्तिगत और सामाजिक शांति स्थापित करते हैं। प्राचीन हिंदू, बौद्ध, ईरानी और ईसाई, सब के प्रेम और त्याग के आदर्श ऐसे ही है।

नीति और धर्मशास्त्र का कर्तव्य है कि मनुष्य और समाज के भाग्य-निर्माण के लिये प्रतीकों का उपयोग रचनात्मक मार्गों में करें। आज जब विज्ञान और मनो-विज्ञान प्रतीकों का त्याग कर रहे हैं, यही उपयुक्त अवसर है कि नीतिशास्त्र मानव के कल्याण तथा सभ्यता की रक्षा के लिये विश्व-पुरुष और उसके विराट् यज्ञ का महत्व स्थापित करे। भाषा, धर्म, नीति, कला आदर्श और प्रतीक ये सब संस्कृति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। ये ही वे साधन हैं जिनके द्वारा मानव-समाज मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य और विश्व के बीच निरंतर बढ़नेवाली एकता स्थापित करता है। गंभीर और व्यापक प्रेम और सहयोग की भावना के लिये मनुष्य का प्रथम साधन प्रतीकों और उपाख्यानों की रचना है। ये मनुष्य-जीवन का संबंध अतीत तथा भविष्य से जोड़ते हैं। यह मानी हुई बात है कि मस्तिष्क वाले प्राणी केवल भविष्य का ज्ञान ही नहीं रखते, भविष्य का निर्माण भी कर सकते हैं। समस्त देहधारियों में मनुष्य को भविष्य का सब से अधिक स्पष्ट ज्ञान होता है और यह ज्ञान उसे भावी पीढ़ियों के हित के लिये त्याग में प्रवृत्त करता है, जैसा अन्य प्राणियों में नहीं पाया जाता।

अपनी प्रतीक और आदर्श निर्माण करनेवाली शक्ति के ही कारण मनुष्य अतीत और भविष्य दोनों की ओर अपनी दृष्टि पसार सकता है। अपनी इस शक्ति द्वारा वह भविष्य द्रष्टा बन जाता और अपनी देश-काल-विशिष्ट प्राणिसुलभ त्रुटियों पर विजय प्राप्त करता है। जब हिंदू 'ओम् नमो नारायणाय' मंत्र का जप करता है या बौद्ध 'बुद्धं धम्मं संघं शरणं गच्छामि' का उच्चारण करता है तब इस जप और उच्चारण के द्वारा वह केवल एक मंत्र या मत का अंगीकार नहीं करता, वरन् मनसा और कर्मणा सत्य, सौजन्य दया और विश्व प्रेम के प्रति आत्मसमर्पण के पथ पर अग्रसर होता है। मनुष्य आत्मशरण (आत्त सरण) तथा आत्म-प्रकाश (आत्त दीप) के लिये ही बुद्ध की शरण जाता है। वास्तव में वह किसी अन्य की शरण न जाकर आत्म पौरुष द्वारा आत्मोद्धार के लिये यत्नशील होता है।

यदि मनुष्य की सामाजिक स्थिति उसे अपने मौलिक गुणों के विकास तथा आदर्शों की की उपलब्धि का अवसर नहीं देती तो वह स्वभावतः धर्म, दर्शन, कला आदर्श और प्रतीकों का आश्रय लेता है, और अपने प्रेम, सौजन्य और दया द्वारा अपनी संकीर्ण और अव्यवस्थित परिस्थितियों का पुनर्निर्माण करता है। पूर्ण आत्म-विस्मृत होकर विश्वात्मा से युक्त होना ही परम शांति तथा चरम सत्य है। यह योग बुद्धि, प्रेम तथा कर्म के ऐक्य या समन्वय के आश्रित है। विश्वपुरुष या विश्वात्मा के ज्ञान, भक्ति और कर्म के मार्ग विश्व की ही एकता के—एक में अनेक और अनेक में एक के लय के—मार्ग हैं। व्यक्तिगत तथा सामाजिक संस्कृति के समन्वय का यह चरम उत्कर्ष है।

"शांत और स्थिर भाव से पथिक निर्वाण के पथ पर बढ़ता जाता है। वह जानता है जितना ही अधिक उसके चरण क्षत-विक्षत होंगे उतना ही अधिक उसका आत्मा शुद्ध होगा।

"उसकी सुख-लालसा सदा के लिये नष्ट हो जाती है। इच्छाएँ निर्मूल हो जाती है। परंतु ठहरो शिष्य, अभी एक बात और है। क्या तुम दिव्य करुणा को नष्ट कर सकते हो? करुणा गुण नहीं है। वह सब विधानों का विधान तथा शाश्वत शांति है। वह अनंत विश्वात्मा, समस्त पदार्थों के नित्य धर्म का प्रकाश तथा शाश्वत प्रेम का विधान है।

"जितना ही अधिक तुम उसमें अपने अस्तित्व का लय कर उससे एकात्म होगे उतना ही अधिक शुद्ध करुणारूप बनोगे।

"यही है आर्य मार्ग, पूर्ण बुद्धों का मार्ग।"
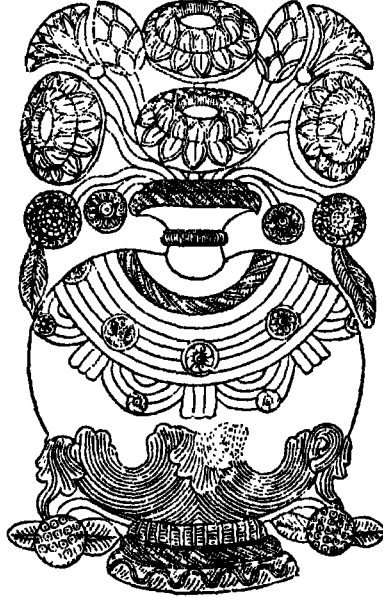
काल तथा कालमान

अवधेश नारायण सिंह

काल की प्रकृति

देश और काल को लक्ष्य करने की शक्ति प्रत्येक मानव में है। यद्यपि हम सभी लोग काल के अतिक्रमण तथा देश के प्रसार से परिचित हैं तथापि अभीतक न तो काल और न देश ही का कोई ऐसी परिभाषा की गई है जो सामान्य रूप से स्वीकार हो। सभी युगों के दार्शनिकों ने इनकी प्रकृति के संबंध में विचार किया है, किंतु उनमें मतैक्य नहीं है। सूर्यसिद्धांत हिंदुओं के प्राचीनतम ज्योतिष ग्रंथों में से एक है; उसके अनुसार काल के दो भेद हैं—

लोकानामन्तकृत्कालः कालोन्यः कलनात्मकः।

अर्थात् "काल लोगों का अंत करनेवाला है; दूसरा काल कलनात्मक है।" वेदांतियों की दृष्टि से काल चैतन्य का ही एक रूप है। शब्दरूप में उसका व्यवहार एक भूमिका के अर्थ में होता है जो हमारे अन्य पदार्थों के ज्ञान का आधार है। उनके मत से चैतन्य से अतिरिक्त काल की कोई पृथक् सत्ता नहीं है।

आइंस्टीन ने यह मत उपस्थित किया है कि काल उसी अर्थ में 'मान' है जिस अर्थ में लंबाई, चौड़ाई और मोटाई। भौतिक विश्व में, जब किसी घटना या तथ्य का देश (स्थान) और काल (उससे संबद्ध समय) दोनों दिए हों तो वह घटना या तथ्य पूर्णतया विनिर्दिष्ट हो जाता है। देश और काल के इस परस्पर संबंध के विषय में आइंस्टीन के पहले के चिंतकों के विचार बहुत अस्पष्ट हैं। केवल देश ही सत्य का रूप उपस्थित करने के लिये पर्याप्त नहीं है, इस तथ्य को क्लार्क मैक्सवेल ने बहुत पहले स्वीकार किया था जब उसने कहा था—"देश (स्थान) में विभाजक चिह्न नहीं हैं। देश का कोई भी एक भाग किसी भी दूसरे भाग के ठीक समान है, जिसके कारण हम यह नहीं जान सकते कि हम कहाँ हैं।"

आइंस्टीन को प्रधान श्रेय केवल इस बात का नहीं कि उन्होंने काल में मान का गुण होने का अनुभव किया, वरन इस बात का भी है कि उन्होंने एक पूर्ण या निरपेक्ष मान—प्रकाश की गति—की स्थापना की, जो उनके अनुसार सभी परिस्थितियों में अप्रभावित रहता है और जो इस

परिवर्तनशील विश्व में अपरिवर्त्य है। उन्होंने अपने विचार गणित के द्वारा व्यक्त किए और सूत्र निकाले, जिनकी सत्यता की पिछले दशक में काफी परख हो चुकी है। आज के भौतिक-विज्ञान-वादियों का यह सामान्य मत है कि आइंस्टीन की स्थापना पूर्ण सत्य न हो, तो भी उसके अति निकट अवश्य है।

परंतु आधुनिक दर्शनवेत्ता आइंस्टीन के विचारों से सहमत नहीं हैं। हेनरी बर्गसन का कथन है कि "देश केवल वर्णन और व्याख्या का साधन है जो स्वयं अज्ञेय है और जगत का भी ज्ञान कराने में असमर्थ है। दूसरी ओर, काल न केवल सत्य है, प्रत्युत केवल काल ही सत्य है।" अलेक्जंडर का विचार है कि देश और काल दोनों ही सत्य के रूप हैं जिनमें देश का स्थान गौण है।" उनके मत से "देश-काल का शरीर देश और आत्मा काल है।" देश को काल में काल के द्वारा उत्पन्न मानना चाहिए। काल चतुर्थमान नहीं वरन् अन्य तीनों की ही पुनरावृत्ति है।" बर्ट्रेंड रसल का उक्त विचारों से तीव्र मतभेद है। उनका कहना है कि "दार्शनिक विचारों के लिये एक निश्चित हद तक काल के बंधन से मुक्त होना आवश्यक है। विचार तथा भाव में काल की तुच्छता का अनुभव करना ज्ञान का द्वार है।" इस प्रकार हम देखते है कि समय (काल) की प्रकृति के विषय म दार्शनिकों का मतैक्य नहीं है, यद्यपि इसके लिये उनके पास पर्याप्त समय था।

कालमान

व्यावहारिक दृष्टि से काल-मापन करने और शुद्धकाल का ज्ञान रखने की रीति जानना अतीव आवश्यक है। परिवर्तन, स्थिति, स्थायित्व, वरंच अस्तित्व के भी संबंध में हमारे विचारों में काल का अतिक्रमण पूर्वकल्पित रहता है। इन सब के संबंध में हमारी धारणाएँ अनुभव की पुनरावृत्ति की संभावना पर आवृत होती हैं। आकाशचारी पिंडों की गति के विषय में यह अनुभव की पुनरावृत्ति होती है। यथा सूर्य उदित होता है, अस्त होता है, फिर उदित होता है और यह क्रम चलता रहता है। सूर्य के दो उदयों के मध्य के काल को हिंदू ज्योतिषियों ने सावन दिन कहा है। दो सूर्योदयों के मध्य का काल सदा समान नहीं रहता; दिन प्रति दिन उसमें थोड़ा अंतर पड़ता है। आज हम जिस २४ घंटे के दिन का व्यवहार करते हैं वह एक वर्ष भर के सावन दिनों का निकाला हुआ मध्यमान है।

काल का दूसरा मान ऋतुचक्र द्वारा प्राप्त होता है। जब हम 'सोलह ग्रीष्म की कन्या' कहें तो उसका अर्थ होगा 'सोलह वर्ष की कन्या'। उत्तरभारत में वर्ष वसंत ऋतु के आगमन के साथ आरंभ होता है। दाक्षिणात्य के कुछ भागों में वह वर्षा के अंत से आरंभ होता है। इस वर्ष को अयन (ट्रापिकल) वर्ष कहते हैं।

हम सभी ने लक्ष्य किया है कि सूर्य वर्ष भर में एकबार उत्तर से दक्षिण, फिर दक्षिण से उत्तर को जाता हुआ मालूम होता है। सूर्य की इसी गति के कारण ऋतुएँ होती है? इस उत्तरायण और दक्षिणायन गति का एक चक्र पूरा करने में सूर्य को जो समय लगता है वही अयन वर्ष है और ज्योतिर्विद्या द्वारा उसका शुद्ध मान निकाला जा सकता है। दूसरा वर्ष, जिसका ज्योतिषी लोग प्रायः व्यवहार करते हैं, सौर (साइडीरियल) वर्ष है। यह स्थिर नक्षत्रों के योग में पृथ्वी द्वारा सूर्य की एक पूर्ण परिक्रमा में लगा हुआ काल है।

काल एक पूर्ण मात्रा अथवा निरपेक्ष मान माना गया है और पृथ्वी तथा अन्य आकाशीय पिंडों की गति से उसकी माप की गई है। परंतु अभीतक इन गतियों के संबंध में जो ज्ञान प्राप्त है उसके अनुसार ये पूर्णतः समान या एकरूप नहीं हैं। सौरवर्ष धीरे धीरे यद्यपि बहुत अल्प परिमाण में, बड़ा होता जा रहा है। पृथ्वी के आकार में ह्रास तथा ज्वार-भाटा की क्रिया के कारण पृथ्वी के अपनी धुरी पर एकबार घूमने के काल में, अर्थात् दिन की लंबाई में, थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ पाया गया है। ई० १८९७ में दिन .००४ सेकंड बढ़ गया था और १९१८ में यकायक इतना ही छोटा हो गया था। इससे हम यह निष्कर्ष निकालने को बाध्य हैं कि समान या एकरूप स्थिति केवल बौद्ध पदार्थ है,। ज्योतिर्विद्या हमें कोई ऐसा समय-सूचक नहीं प्रदान कर सकती जो सर्वथा पूर्ण अथवा कम से कम समान स्थिति वाला हो।

यूरोपीय पंचांग

काल के, दिन से छोटे मान के लिये हम घंटे, मिनट और सेकंड का उपयोग करते हैं। काल की इन इकाइयों के लिये हम चाल्डियावालों के ऋणी हैं जिनसे यूरप वालों ने पंचांग ज्ञान लिया। जब जुलियस सीजर रोम का अधिनायक हुआ तो उसने चाल्डियावालों के पंचांग में सुधार किया। उसने बारह महीनों का फिर से नामकरण किया और यह निश्चित कर दिया कि विषम संख्यावाले महीनों में ३१ दिन रहें और शेष में—फरवरी को छोड़कर, जिसमें केवल प्रति चौथे वर्ष ३० दिन हों,—३० दिन हुआ करें। उसके उत्तराधिकारी आगस्टस ने यह निश्चित किया कि अगस्त में, जिसका नाम उसीके नाम पर पड़ा, ३१ दिन रहें। अतः फरवरी में से एक दिन निकाल कर अगस्त में जोड़ दिया गया। उसके बाद के सितंबर और नवंबर महीनों में ३० दिन कर दिए गए और अक्टूबर और दिसंबर में ३१ दिन। यह वर्ष ई० १५८२ तक उद्योग में रहा जब कि यह पाया गया कि जुलियन वर्ष वास्तविक वर्ष से ११ मिनट १४ सेकंड बड़ा है। पोप बारहवें ग्रेगरी ने उसमें आवश्यक सुधार किए और यह व्यवस्था दी कि शताब्दी का अंतिम वर्ष उसी अवस्था में 'लीप' वर्ष माना जाय जब उसकी संख्या ४०० से विभाज्य हो। इस समय यूरप तथा उससे प्रभावित सभी देशों में ग्रेगरी पंचांग का ही सामान्यतया उपयोग होता है।

हिंदू पंचांग

हम देख चुके हैं कि यूरप में प्रचलित वर्ष में १५८२ ई० तक ११ मिनट से अधिक का अंतर पड़ता था। हिंदू ज्योतिषियों को ई० पाँचवीं शती में ही वर्षगणना की अधिक शुद्ध रीति ज्ञात थी। उनका पंचांग सूर्य और चंद्रमा की वास्तविक स्थितियों पर आधृत था। हिंदू पंचांग के अनुसार मास की गणना शुक्ल प्रतिपदा अथवा पूर्णिमा से होती है। मास के दिनों को 'तिथि' कहते हैं और वे हिंदू मध्याह्न-रेखा पर सूर्योदय के समय चंद्रमा की वास्तविक स्थिति के अनुसार होते हैं। आकाश में सूर्य का पथ बारह भागों में विभाजित है। इनमें से एक को पार करने में सूर्य का जितना समय लगता है उसे सौर-मास कहते हैं। जिस समय सूर्य एक भाग से दूसरे भाग में संक्रमण करता है उसे संक्रांति कहते हैं। इस प्रकार वर्ष में बारह संक्रांतियाँ होती हैं। प्रत्येक चांद्र मास का नाम उस मास में पड़ी हुई संक्रांति के नामपर होता है। कभी-कभी किसी मास में संक्रांति पड़ती ही नहीं, तब उस मास को अधिमास कहते हैं। सौर-मास तथा सौर-पंचांग का उपयोग बंगाल में होता है। भारत के अन्य भागों में चांद्र-सौर पद्धति का प्रयोग होता है। लगभग प्रति

२।। वर्ष के बाद वर्ष में एक चांद्र-मास जोड़ दिया जाता है जिससे ऋतुएँ प्रतिवर्ष लगभग एक ही चांद्र-मास में पड़ा करें। कभी-कभी एक ही मास में दो संक्रांतियाँ हो जाती हैं, तब वर्ष में से एक मास निकाल दिया जाता है और ग्यारह ही चांद्र महीनों का एक वर्ष होता है। परंतु ऐसा बहुत कम होता था। सूर्य-सिद्धांत के अनुसार अगला क्षयमास शक संवत् १८८५ अर्थात् ई० १९८३ में पड़ेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदू पंचांग इस अर्थ में अधिक वैज्ञानिक है कि उसमें तिथि, मास और वर्ष की गणना सूर्य और चंद्रमा की वास्तविक स्थितियों के अनुसार होती है। उससे हमें चंद्रमा की वास्तविक स्थितियों के अतिरिक्त दिनमान, सूर्योदय-काल तथा योग का भी ज्ञान होता है। ग्रेगरी पंचांग इसकी अपेक्षा कहीं सरल है किंतु उससे हमें कोई ग्रह-नक्षत्रादि संबंधी ज्ञान नहीं होता।

घड़ियाँ

हिंदू पंचांग में व्यवहृत काल की छोटी इकाइयाँ घटी, पल और विपल हैं। घटी दिन का साठवाँ भाग है, पल घटी का साठवाँ भाग और विपल पल का साठवाँ भाग। घंटा, मिनट, सेकंड की अपेक्षा ये इकाइयाँ अधिक स्वाभाविक और वैज्ञानिक हैं, क्योंकि विपल ठीक उतना समय है जितना पृथ्वी को चाप का साठवाँ भाग घूमने में लगता है।

मनुष्य द्वारा सर्वप्रथम प्रयुक्त कालमापक यंत्र धूपघड़ी है। ईसा के जन्म के बहुत पहले सभी प्राचीन देशों में इसका सामान्य रूप से उपयोग होता था। इसका सब से सरल रूप वह है जिसमें एक छड़ धरती में लंबरूप गाड़ दिया जाता है। उसकी छाया की लंबाई से दिन के समय का निश्चय होता है। संस्कृत में धूपघड़ी को शंकु कहते हैं। रात में या बदली के दिन धूपघड़ी का कोई उपयोग नहीं हो सकता। धूपघड़ी के बाद व्यवहार में आनेवाले कालमापक यंत्र संभवतः जलघड़ी और बालू-घड़ी थे। जलघड़ी का सरलतम रूप है—एक घड़ा जिसकी पेंदी में एक छोटा-सा छिद्र हो। घड़े को पानी से भर देते हैं जो छिद्र द्वारा धीरे धीरे बाहर निकल जाता है। घड़े में पानी के तल से समय की सूचना मिलती है। बालूघड़ी में दो घड़े होते हैं। ऊपरवाले घड़े में बालू रहती है जो एक छोटे छिद्र द्वारा धीरे धीरे नीचेवाले घड़े में गिरती है। बालू इस हिसाब से रखा जाता है कि ऊपर के घड़े से नीचे के घड़े में संपूर्ण बालू एक घंटे में गिर जाय। भारत में अंग्रेजों द्वारा आधुनिक घड़ियों के प्रचार के पहले इन्हीं आदिम यंत्रों का उपयोग होता था।

मध्यकाल में भार अथवा कमानी द्वारा चलनेवाली यांत्रिक घड़ियाँ बनाने का प्रयत्न किया गया। इनमें सब से प्रसिद्ध घड़ी वह थी जिसे फ्रांस के राजा पंचम चार्ल्स के लिये वर्टेम्बर्ग के हेनरी-डि-विक ने बनाया था। १३७९ ई० में बनी हुई यह घड़ी १८५० ई० तक, अर्थात् लगभग ५०० वर्षों तक बराबर काम करती रही। डि-विक की घड़ी यांत्रिक थी और आजकल की श्रेष्ठ घड़ियों की तुलना में अच्छी समय-सूचक नहीं थी।

१५१८ ई० में गोलिलियो द्वारा लोलक (पेंडुलम) का आविष्कार हो जाने से घड़ी-निर्माण के सिद्धांत में बहुत परिवर्तन हो गया। पहली लोलक घड़ी १६६५ में डच ज्योतिषी ह्यूगेंस ने बनाई। लोलक घड़ियाँ जलघड़ी अथवा यंत्रघड़ी की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध समयसूचक पाई गईं। परंतु उनपर तापमान के परिवर्तन का प्रभाव पड़ता था और वे लोलक के तार के संकोच

और प्रसार के कारण जाड़ों में तेज और गर्मियों में धीमी चलती थीं। इस दोष के परिहार के लिये उनमें पीतल और लोहे के तार इस प्रकार से लगाए गए कि पीतल के तार के फैलने से लोलक का चक्का ऊपर उठ जाय और लोहे के तार के फैलने से वह नीचा हो जाय। इस प्रकार लोलक का चक्का, जहाँ से वह लटकता है उस जगह से एक ही अंतर पर रहता है, सर्दी गर्मी के असर से वह घटता बढ़ता नहीं। इस प्रकार का लोलक, जिसे 'ग्रिड्-आयर्न' लोलक कहते हैं, सभी उत्तम घड़ियों में लगा रहता है।

बड़ी घड़ी के साथ ही साथ जेब घड़ी का निर्माण भी होने लगा। छोटी घड़ी के निर्माण-क्षेत्र में स्विस लोग सर्वप्रथम थे और आज भी वे इस क्षेत्र में संसार में सब से आगे हैं।

१७२५ ई० में जब जॉन हरिसन नामक अंग्रेज अपना पहला 'कालमापक' (क्रानोमीटर) बनाने में सफल हो गया तब तो शुद्ध घड़ियों के निर्माण का कार्य बहुत आगे बढ़ा। कालमापक एक प्रकार की घड़ी है। जो इस युक्ति के साथ बनाई जाती है कि तापमान के परिवर्तन या हिलने-डुलने से उसकी चाल में अंतर नहीं पड़ता।

खुले समुद्र में जहाज की ठीक स्थिति का पता लगाने के लिये देशांतर का ज्ञान, अतः शुद्ध ग्रीनविच काल का ज्ञान होना आवश्यक है। १७१४ ई० में ब्रिटेन की सरकार ने आधे अंश के भीतर देशांतर का निश्चय करने की रीति निकालने के लिये २५००० पौं० का पुरस्कार घोषित किया। ई० १७२५ में एक युद्धपोत के अधिकारियों ने हरिसन के कालमापक की जाँच की। वापसी यात्रा में कप्तान को भूमि दिखाई पड़ी जिसे उसने वही स्थान समझा जहाँ से जहाज चला था। किंतु हरि-सन ने कालमापक द्वारा हिसाब करके बतलाया कि वह 'लिजार्ड' है। उसकी बात ठीक निकली। कप्तान के हिसाब में ९० मील का अंतर था।

हरिसन के यंत्र की शुद्धता की इस प्रकार जाँच हो जाने के बाद भी उसे २५००० पौंड का पुरस्कार नहीं मिला। उससे दूसरा यंत्र बनाने को कहा गया जिसे उसने १० वर्ष में तैयार किया। इस नए कालमापक को जाँच के लिये उसने रायल सोसाइटी को दिया। पूरी जाँच हो जाने के बाद रायल सोसाइटी ने हरिसन को अपना स्वर्णपदक दिया जो उसका सब से बड़ा पुरस्कार था। इसपर भी अंग्रेज बनियों की देशांतर परिषद् ने उसे उक्त घोषित पुरस्कार नहीं दिया हरिसन ने तब पार्लमेंट में आवेदनपत्र दिया; फलतः आविष्कर्ता को २५००० पौं० दिलाने के लिये एक विधान स्वीकृत हुआ। यद्यपि परिषद् ने १७६४ में एक निश्चय द्वारा स्वीकार किया था कि वह पूरा पुरस्कार पाने का अधिकारी है; तथापि वह पुरस्कार उसे १७७३ ई० तक अर्थात् उसकी मृत्यु के तीन वर्ष पूर्व तक नहीं दिया गया, जब कि न उसे धन की आवश्यकता थी और न संभवतः पुरस्कार की परवाह।

हरिसन के नमूने पर बने हुए हमारे आजकल के कालमापक इतने निर्दोष बनाए गए हैं कि वे वर्षों तक बिना एक सेकंड के घट-बढ़ के शुद्ध समय देते रहते हैं। घड़ियों को चलाने तथा रेडियो द्वारा समय की सूचना देने के लिये विद्युत् के उपयोग से शुद्ध समय रखने की समस्या कार्यतः

सुलझ गई हैं। सभी कालमापक, चाहे वे जहाज में हों या स्थल पर, संसार की बड़ी-बड़ी वेधशालाओं से रेडियो द्वारा दी गई समय-सूचना से मिलाकर शुद्ध रखे जाते हैं।

हाल में अणुघड़ी नाम की एक नए प्रकार की घड़ी बनाई गई है। कहा जाता है कि यह घड़ी सर्वथा निर्दोष होगी और पूर्णतः शुद्ध समय देगी। अभीतक यह प्रयोगावस्था में है, किंतु इसके विषय में जो कुछ ज्ञात है उससे अनुमान होता है कि कुछ ही वर्षों में कालमान की समस्या पूर्ण संतोषजनक रीति से हल हो जायगी।

हमारा विस्मृत संगीत

प्रह्लाद शास्त्री जोशी

महाकाल की कृपा से हमने कई चीजें पाईं वैसी कई चीजें खोई भी। उन्हीं में एक हमारा संगीत भी है। वर्तमान भारतीय संगीत, प्राचीन संगीत का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता, न उसका परिष्कृत या विकसित रूप ही। वर्तमान संगीत के प्रचार या प्रयोग का उद्देश किसी न किसी रूप में क्षुद्र अर्थ-प्राप्ति से अधिक महान् है ऐसा कहना सत्य-संगत नहीं होगा।

प्राचीन संगीत के उपलब्ध ग्रंथों में नाद या संगीत के उद्देश संबंध में विस्तार से कहा गया है। उसका सार थोड़े शब्दों में कहें तो संगीत चतुर्विध पुरुषार्थ-प्राप्ति का और अंत में मुक्ति का प्रधान साधन है। आज के सौ दोसौ वर्षों से प्रचारित संगीत में, उसके हेतु के संबंध में, तीन पुरुषार्थ या मुक्ति का प्रश्न ही नहीं। बादशाही जमाने से तो संगीत का प्रयोग मनोरंजन में और वह भी हीन मनोरंजन में होता आया है। यह बड़े खेद का विषय है।

संगीत से चार पुरुषार्थ कैसे प्राप्त हो सकते हैं इसके उदाहरण भी प्राचीन संगीत के ग्रंथों में मिलते हैं। जैसे:—

धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां साधनं गीतमुच्यते।
यतस्ततः प्रयत्नेन गेयं श्रोतव्यमेव च॥

धर्म :—

गुरुदेवद्विजातीनां यत्पुरो गीयते नरैः।
तद्धर्माय भवेत्तेषां पूर्णाय विजयाय च॥

अर्थ :—

भूमिपार्थं च यद्गीतं तदर्थं जनयेत्स्फुटम्।
सन्मानं भोगसंप्राप्ति प्रसिद्धिं च धरातले॥

काम :—

यद्गीतं रमणीकर्णं मधुरं याति कृत्स्नशः।
तेन काममवाप्नोति यद्यपि स्याद्विरूपकः॥

मोक्ष :—

निष्कलं वर्द्धमानादि गीयते यच्च शक्तितः।
तन्मोक्षाय भवेत्पुंसां निष्कामानामसंशयम् ॥

उदाहरण :—

वेणुराज :—

कृत्वा पापसहस्राणि वेणुर्नामा महीपतिः।
धर्म्मगीताद्विपाप्मासौ संप्राप्तस्त्रिदशालयम्।

रावण :—

रावणो भर्गमाराध्य गीतेनैश्वर्यतां गतः।

केवलाश्वतरनाग :—केवलाश्वतरौ नागौ विभूतिं परमां गतौ ॥

वृक शूद्र :—

कुष्ठी शूद्रो वृको नाम वर्द्धमाने पुरे पुरा।
हृत्वा कान्तं स्वरूपाढ्यं गतिलौल्यात्स्त्रियावृतः ॥

नारद पर्वत रैभ्य
हाहाहूहू जनक आदि :—

नारदः पर्व्वतो रैभ्यो गंधर्वो च हाहाहूहू।
एते गीताद्गता मोक्षं तथान्ये जनकादयः ॥
—(गीतालङ्कार)

हमलोग ऊपर के इतिहास को हँसी में उड़ा सकते हैं। अतिशयोक्तिपूर्ण की छाप भी मार सकते हैं। पर प्राचीन पुरुषों को शुद्ध संगीत के प्रभाव में पूर्ण विश्वास था इसमें संदेह नहीं। वर्तमान युगमें भाव-प्रधान हल्के गीतों को छोड़कर जनता में शास्त्रशुद्ध संगीत का आकर्षण नहीं के बराबर ही है। प्राचीन ग्रंथकार संगीत की मोहिनी से भलीभाँति परिचित थे। देखिये :—

नृणादोऽपि पशुर्मूर्खो वनवृद्धोऽपि यः पशुः।
सोऽपि गीताद्वशं याति मृगो भूपेषु का कथा ॥

आज की दशा तो ऐसी है कि जबतक मादक गीत चालू है तबतक महफिल जमा रहती है और जैसे ही कहीं से शास्त्रीय गीत की लकीर या तान आती है गड़बड़ी मच जाती है। इस प्रकार संगीत के स्वरूप के साथ उसके आकर्षण से हम वंचित हो गए हैं।

वैदिक वाङ्मय के तंत्रवाङ्मय तक में संगीतगेय को उदात्त-विज्ञान के प्रचार में सहयोगी माना जाता था इसके प्रमाण मिलते हैं। वैदिक छंद-प्रस्तार एवं प्रातःसवन, माध्यंदिनसवन और सायं-सवन आदि के द्वारा वेद मंत्रों के गंभीर भावों को श्रुतिमधुर बनाने में भी यही दृष्टि थी। इससे अधिक विचार इस लेख में होना संभव नहीं है।

तंत्रयुग में सप्त-स्वरों से षट्चक्र (योग) एवं कुंडलिनी जागरण में सहयोग लिया जाता था। नाभि, क्रोड़ हृदय, दोनों पार्श्व, मस्तक से षड्ज—का संबंध कहा गया और वर्ण-कमल के समान। नाभिमूल कुक्षिमध्य से ऋषभ—राका; और वर्ण हरित माना गया।

नाभिमूल, नासिका, श्रोत्र से गांधार— ग् का संबंध और वर्ण सुनहला
मध्यस्थान से गंभीर एवं किंचित्‌तार मध्यम—म का संबंध और वर्ण काला
प्राणादि पंचप्राणों से पञ्चम—प की उत्पत्ति का संबंध और वर्ण काला
नाभि के अधोभाग से कंठदेश से—धैवत— ध का संबंध और वर्ण पीला
सभी स्वरों के आश्रय से निषाद—नि का संबंध और वर्ण सभी वर्ण वाला तात्पर्य

योगानुभूति अर्थात् नादानुसंधान में भी संगीत का अटूट संबंध था। ऋषियों की यही धारणा थी कि संसार में जितनी ध्वनि है सब में संगीत के सप्तस्वरों का तारतम्य है और यह अखिल विश्व ही संगीतमय है। सप्तस्वरों को निश्चित करते समय प्रकृति (सृष्टी) के विविध जीवों के स्वरों का ही अनुकरण किया गया था।

मयूरः षड्जमाख्याति गावो रंभति चर्षभम्।
आजाविके तु गांधारं क्रौंचो वदति मध्यमम्॥
वसंते किल संप्राप्ते पंचमः कोकिलोऽब्रवीत्।
अश्वस्तु धैवतं प्राह निषादं कुंजरः स्वरम्॥
एते सप्तस्वराः प्रोक्ता यैर्व्याप्तं सकलं जगत्।
विज्ञातव्या बुधैः सम्यग्गीतशास्त्रविशारदैः॥

मोर के शब्द से सा, गाय के शब्द से रे, बकरी से ग,
क्रौंच के शब्द से म, वसंत ऋतु में कोयल के शब्द से प,
घोड़े के शब्द से ध, हाथी के चिंघाड़ने से नि लिए गए हैं।

यह स्पष्ट हो गया कि प्रकृति से संगीत का कितना अभिन्न संबंध पूर्वकाल से माना गया है।

अबतक के विवेचन से ऋषिकाल की विचारधारा से कुछ परिचित कराने का प्रयास किया गया। इस विचारधारा से अपरिचित रहने के कारण आधुनिक संगीत अन्यान्य शारीरिक एक्सरसाइज् की तरह कंठ की एक्सरसाइज् मात्र हो गया और क्रमशः हम उस उदात्त संगीत को विस्मृति के गर्त में अनजाने ढकेल चुके। आज के अच्छे मार्मिक संगीतज्ञ भी खानदानी गायन को छोड़कर प्राचीन भारतीय संगीत की ओर दृष्टि डालने अथवा अनुशीलन करने का प्रयास नहीं करते, अतः आज के युग में यह आवश्यक है कि संशोधक प्राचीन संगीत के ग्रंथोक्त स्वरूप को ही कम से कम समाज के सामने प्रस्तुत करें। इस लेख को लिखने में भी यही प्रधान हेतु है। इस कार्य में कई प्राचीन उपलब्ध ग्रंथों का सहयोग लिया गया है।

प्राचीन-संगीत के हस्तलिखित ग्रंथ मुख्यतः तंजौर मैसूर, त्रिवेंद्रम् और बीकानेर के प्राच्य पुस्तकालयों में संगृहीत हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उनके दो विभाग किए जाते हैं। प्रथम कालखण्ड को हम प्राचीन कह सकते हैं और दूसरे को मध्ययुगीन। उन्हींका यहां संक्षेप में परिचय कराना कई दृष्टि से आवश्यक प्रतीत होता है।

मध्यकालीन ग्रंथों में प्राचीन (कालीन) ग्रंथ के ग्राम, मूर्च्छना, जाति आदि विषयों का विशेष आभास नहीं मिलता। इन ग्रंथों में राग एवं रागिनियों का ही विशेष विचार मिलता है। इस काल को थाट-राग (जन्य-जनक) व्यवस्था एवं राग-रागिनियों की व्यवस्था का काल कह सकते हैं।

यद्यपि आज के प्रचलित रागों का मध्यकालीन ग्रंथोक्त रागों से क्या संबंध है यह निश्चित नहीं हो सका है तथापि मध्यकाल के शुद्धस्वर ही कर्नाटक के 'कनकांगी' अथवा "सैंधवी" अर्थात् काफी नाम से आज प्रचार में है। इससे यह आशा है कि अन्य रागों की श्रृंखला बाँधने में हम समर्थ हो सकेंगे।

आधुनिक ग्रंथ			ग्रंथकार		विषय
अभिनवराग-मञ्जरी	...	...	श्रीनिवास	...	... १२५ रागों की संक्षेप में।
लक्ष्य सङ्गीतम् ...	...	...	... श्री चतुर	...	... पर व्यवस्थित व्यवस्था।

उपर्युक्त दो ही ग्रंथ आज के राग-रागिनियों के प्रमाण ग्रंथ कहे जाते हैं।

तीनों कालखंडों के ग्रंथों में प्रत्येक कालखंड के अपने अलग विषय और विशेष हैं। उन सब का परामर्श इस छोटे लेख में करना संभव नहीं। कालमहिमा ही नवनिर्माण की जनयित्री होती है। मौलिक सिद्धांतों में परिवर्तन संभव न होने पर भी बाह्यतः रूप परिवर्तन होता गया और एक समय ऐसा आया कि हमारा संगीत अक्षरशत्रु अपढ़ व्यक्तियों के हाथ में चला गया। इससे जो हानि हुई वह सब के सामने है।

भारतीय संगीत ग्रंथोंकी लेखन-शैली

प्राचीन एवं मध्यकालीन ग्रंथकार प्रायः एक ही सुनिश्चित एवं सुदृढ़ शैली में ग्रंथ-निर्माण करते आए हैं। जो कुछ दोनों कालखंडों में भेद है वह केवल काल निदर्शक नवीन विषयों के चयन और संकलन में है।

यहाँतक कि अभिनव रागमंजरी, जो आधुनिकतम संगीत ग्रंथ है, विषय, परिभाषा और अनुक्रम में प्राचीन परंपरा का ही पक्षपाती है। जैसे :—

संगीतं ध्वनिसंभूतिः श्रुतयस्तद्व्यवस्थितिः।
शुद्धाः स्वरा विकाराद्याः स्वरस्थानानि तत्त्वतः॥
संवाद्यादि स्वराणां च लक्षणानि सविस्तरम्।
वर्णालंकार-गमका यथोक्ताः पूर्वसूरिभिः॥
ग्रामस्य लक्षणं तद्वन्मूर्च्छनालक्षणं तथा।
रागमेलाश्च सर्वेऽपि संपूर्णत्वादिभेदतः॥
तत्तन्मेलस्थरागाणां भेदकारणलक्षणम्।
आलापलक्षणं गातुर्गुणदोषानुदर्शनम्॥
ताना उद्ग्राहभूताश्च स्वयं रागांगदर्शकाः।
एतावंति च वस्तूनि ग्रंथेऽस्मिन्कथितानि हि॥

श्रुतिस्वर आदि का विस्तार से वर्णन करने के उपरांत मेल एवं राग आदि वर्णन करना ही पूर्व-सूरि-प्रयुक्त मार्ग है। और यह सर्वथा युक्तिसंगत भी है।

भरताचार्य से आरंभ कर आजतक के संगीतशास्त्र के विवेचन करनेवाले प्रायः ध्वनि के बाद ही श्रुति का विवेचन करते हैं। श्रुतिशब्द श्रु श्रवणे धातु से बना है और सप्तस्वरों के अति-

सूक्ष्म नाद का व्यंजक है। उसका श्रूयते इति श्रुतिः यही स्पष्ट व्याख्या है। संगीतोपयोगी प्रत्येक नाद श्रुति के अंदर आ जाता है। इन नादों की संख्या एकमुख से २२ मानी गई है। इन अतिसूक्ष्म नादों का उच्चारण कंठ से उतना स्पष्ट नहीं हो सकता जैसे किसी तंतवाद्य से (वीणा आदि से) "वीणायामेव संग्रहः" ऐसा भरत का मत है। रत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ पंडित भी "शरीरे उक्त संख्याकनाडीसंनिवेशस्य प्रतिस्थानं तल्लब्ध्या नादस्य परोक्षत्वात्तत्सद्भावे संदेहः स्यादिति तन्निरासार्थं प्रत्यक्षतः संपादयितुं प्रतिज्ञाय निर्दिशति।' सिंह भूपाल कहते हैं :—तदुक्तं संगतिसमयसारे ते तु द्वाविंशतिर्नादा न कंठेन परिस्फुटाः शक्या दर्शयितुं तस्मात्सद्वीणायां तन्निदर्शनम्। पहिले ही लिख चुके हैं कि श्रुतियों की २२ संख्या सर्वसंमत है। इन बाईस श्रुतियोंमें ही शुद्ध एवं विकृत स्वरों की स्थापना की जाती थी। सप्तस्वरों को २२ संख्या में बाँटने में दो मत अवश्य थे। भरत और शार्ङ्गधर जैसे प्राचीन ग्रंथकार श्रुति की एक निश्चित मर्यादा को मानकर, २२ श्रुतियों को सप्त स्वरों में समसंख्या में विभाजित करते थे। मध्यकाल के ग्रंथकार इस नियम को न मानकर एक दूसरे ही मत को स्वीकार करते थे और उसे अधिक विज्ञान संमत मानते थे। उनका कहना था कि श्रुतियों को विषम संख्या में ही विभाजित करना युक्तिसंगत है, जैसे :—

उत्तरोत्तरसंकोचस्त्वाकाशे भवति ध्रुवम्।
समभागप्रकल्पोऽत्र न साधु मन्यते बुधैः॥
तस्माद्भागास्तु विषमाः कल्पिता भरतादिभिः।

—भावभट्ट

उक्त श्लोक में जिस भरत का उल्लेख किया गया है उसे नाट्यशास्त्रकार भरत से भिन्न होना चाहिए। क्योंकि, जैसा पहिले कहा गया है, नाट्यशास्त्रकार भरत समविभाग के ही माननेवालों में हैं। अधिक सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो श्रुतियों को बाईस संख्या में ही विभाजित करने का हेतु केवल व्यवहार ही हो सकता है। अन्यथा :—

आनन्त्यं हि श्रुतीनां तु सूचयन्ति विपश्चितः।
यथा ध्वनिविशेषाणाममानं गगनोदरे॥

—गीतालंकार

ध्वनि या शब्द आकाश का गुण है और वह आकाश अनंत अपरिमेय माना गया है। श्रुतियों को विषम संख्या में विभाजित करनेवाले एक नियम बड़े आदर से स्वीकारते थे।

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः॥
द्वे द्वे निषाद गांधारौ त्रिस्त्री ऋषभ धैवतौ॥

भावार्थः—षड्ज—सा, मध्यम—म, पंचम—प के मध्य में ४।४ श्रुतियाँ है। गांधार—ग, निषाद—नि में दो-दो श्रुतियाँ और ऋषभ—रे, धैवत—ध में तीन-तीन श्रुतियाँ होती हैं। यह प्राचीन नियम आज भी मान्य है। एक भेद है और वह है श्रुतियों पर शुद्ध या विकृत स्वरों के निवेश में प्राचीन (मध्ययुग) मतः—

स्वर :—सा, रे, ग, म, प, ध, नि,
श्रुति :—४, ७, ९, १३, १७, २०, २२,
वर्तमान मत स्वर :—सा, रे, ग, म, प, ध, नि,
श्रुति :—१, ५, ८, १०, १४, १८, २१,

इन मतभेदों का यहाँ विवेचन अस्थान में होनेपर भी प्राचीन व मध्ययुगीन विवेचन शैली की पद्धति के परिचय के लिये एक उदाहरण के रूप में रखा है। ग्राम, मूर्च्छना आदि विषयों का परिशीलन यहाँ आवश्यक होनेपर भी संभव न होने से पाठकों को इसके लिये प्राचीन ग्रंथों के ही देखने का अनुरोध करते हैं। प्राचीन-संगीत ग्रंथों का परिशीलन एक अन्य दृष्टि से भी अत्यंत आवश्यक है। लेखक के मन में यह मत रखते हुए तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती, क्योंकि वर्तमान संगीत की दशा को सुधारने में उसको सुव्यवस्थित रूप देने से प्राचीन मेल और तज्जन्य राग विवेचन वाली प्राचीन पंडितों की पद्धति का अनुकरण करना ही श्रेयस्कर होगा।

आगे चलकर संगीत का १२ स्वरों पर ही आश्रित रहना अनिवार्य है। अन्य श्रुतियों का विचार-विमर्ष अनावश्यक होता गया।

आजकल के शास्त्रीय संगीत (क्लैसिकल) में १००, २०० राग ही गाए जाते हैं। पर हमारा विस्मृत-संगीत इससे अधिक समृद्ध था। अनंत-श्रुति-भेदों से अगणित मूर्च्छना या मेलों का सर्जन करके असंख्य रंजक राग गाना प्राचीन संगीत का मूलाधार था। राग क्या है, किसे कहते हैं, उसकी व्याख्या तो एकसी ही कायम है।

योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।
रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथ्यते बुधैः॥

१५वीं शताब्दी के ग्रंथकार अहोबल पंडित ने प्रथम २९ स्वरों का विचार करते हुए एक-एक के श्रुतिभेद से असंख्य मूर्च्छना और कूटतानों का विचार किया है। पर रागाध्याय में घटाते-घटाते १२ स्वरों पर ही राग-रागिनियों को सुस्थिर बना लिया। इसका कारण 'अनुपयोगित्वात्' बतलाया है। एक समय जो चीज उपयोगी होती है, कालक्रम से वही चीज अनुपयुक्त होती जाती है। इसका कारण एकमात्र व्यवहार होता है। जो चीज व्यवहार में किसी कारण नहीं रहती। वह क्रमशः अनुपयुक्त बनती जाती है। यही दशा संगीत के विस्तार में हुई। अहोबल के समय से ही संभवतः—विस्तृत संगीत-संकोच में पड़ गया। उसके बाद के ५०० वर्ष हमारी दृष्टि में अनंत संगीत सांत बनने के हैं। गायन-सीमित, गेय-सीमित, गान-परिभाषा-सीमित, जाननेवाले-सीमित, प्रचार-सीमित, दृष्टि-सीमित यहाँतक कि स्वर और वर्ग भी सीमित बनते गए। आज की दशा में गान और सीमित का नाता-सा जुड़ गया है। कुछ गायकों को छोड़कर सैंया और पैयाँ के पीछे पड़नेवाले गायक गली-गली में अवश्य दिखने लगे हैं।

विस्मृत संगीत के विशेष

उपवेदों में गाँधर्व वेद भी एक है। गंधर्वों से गायन का संबंध क्या था इसके लिये यहाँ विशेष न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त है कि, गंधर्व और किन्नर की जीवनलीलाएँ संगीत से ही आरंभ होती थीं और संगीत में समाप्त होती थीं। पुराणों में यक्ष, गंधर्व किन्नर आदि जातियाँ गायनशास्त्र उपासिकाएँ मानी गई हैं। विद्यमान भारत में जब कि जन्मजात प्रवृत्ति और कर्म का मूल्य कुछ भी आँका नहीं जाता तब भी कई ऐसी जातियाँ वर्तामान हैं जिनका जीवन, जन्म से, और परंपरा से संगीत, नृत्य आदि कलाओं की उपासना में ही सर्वात्मभाव से समर्पित होता आया है। युगों ने करवटें बदलीं, आँधी और तूफानों ने संसार को कुछ का कुछ कर दिया। फिर भी ये

भारतमाता के लाडले सपूत कलाओं की मूकसेवा में बलि चढ़ने में ही अपने को कृतार्थ मानते आए हैं। फिर भी उनको हम अशिक्षित अपढ़ आदि कोटियों में समाविष्ट करने में ही व्यवहार की सार्थकता मानते हैं। क्या इस मुक्तिकाल में भी इन कलाकारों की मूककरुणा को निहारा जायगा। हाँ, तो आजकल की इन जातियों से प्राचीन गंधर्वों आदि का कुछ नाता जुड़ सकता है, आदि प्रश्न वंशतिहास या मानव इतिहास के विद्वानों को सौंपकर प्रस्तुत विषय पर ही कुछ कहना उपयुक्त होगा।

गीत के प्राचीनकाल में दो प्रमुख भेद :—

रंजकः स्वरसंदर्भो गीतमित्यभिधीयते।
गांधर्वगानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम् ॥

आकर्षक स्वर-संदर्भ का नाम गीत है। उसके गांधर्व और गान, इस प्रकार दो प्रमुख भेद होते हैं।

गांधर्व गीत :—

अनादिसंप्रदायं यद्गंधर्वैः संप्रयुज्यते।
नियतं श्रेयसो हेतुस्तद्गांधर्वं जगुर्बुधाः ॥

रत्नाकर

अनादिकाल और परंपरा से चला आया और श्रेयम् अर्थात् परम कल्याण को देनेवाला गीत गांधर्व कहलाता है। गान :—

यत्तुवाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्।
देशी रागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरंजनम् ॥

वाग्गेयकारमें (२८ गुणों से युक्त इन गुणों की चर्चा आगे होगी) बनाया हुआ, लक्षणों से युक्त, जनता का रंजन करनेवाला रागादि में प्रयुक्त होने योग्य गीत, गान नाम से व्यवहृत होता था। गाँधर्व, श्रेयस् अर्थात् मुक्ति के उद्देश से गाया जाता था और गान जनता के मनोरंजन को महत्व देते हुए भुक्ति या ऐश्वर्य आदि पदार्थों को प्राप्त करानेवाला होता था। टीकाकार कल्लिनाथ ने अपनी तरफ से गाँधर्व को मार्ग और गान को देशी नाम से कहा है। गाँधर्व या मार्ग संगीत क्या था, उसका स्वरूप किस प्रकार का था। उसमें स्वरों का किस प्रकार प्रयोग होता था कि जिससे श्रोताओं के मन में भौतिक पर अतिप्रिय बंधनों को लगाने की असंभव प्रवृत्ति जाग उठती थी। अनंत अथवा नादब्रह्म को लक्षित करनेवाला यह संगीत हमारे दुर्भाग्य के प्रचार से हट गया। उसको हम सर्वथा विस्मृत कर चुके हैं।

सर्वेषामेव लोकानां दुःखशोक विनाशनम्।
यस्मात्संदृश्यते गीतं सुखदं व्यसनेष्वपि ॥

—भरतः

संगीत दुःखशोक का नाशक आपत्तिकाल में भी सुख देनेवाला होता है।

गान :—

देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरंजकम्।
गानं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते ॥

—रत्नाकर

अलग-अलग देश की जनता को प्रसन्न करनेवाले गान, वादन और नृत्य को गान या देशी कहा जाता था। गान के भेद :—(निबद्ध और अनिबद्ध)।

निबद्धमनिबद्धं तद्द्वेधा निगदितं बुधैः।
बद्धं धातुभिरङ्गैश्च निबद्धमभि धीयते॥
आलप्तिबंधहीनत्वादीनबद्धमितीरितम्।
संज्ञात्रयं निबद्धस्य प्रबन्धो वस्तुरूपकम्॥

गान के निबद्ध और अनिबद्ध इस प्रकार के दो प्रमुख भेद होते थे।

(अ) निबद्ध गान :—(प्रबंध गान)।

धातु और अंगों से सधा हुआ गीत निबद्ध कहलाता था। प्राचीनकाल में गायकों की विभिन्न श्रेणियाँ गुणानुरूप बताई जाती थीं। उनमें ही प्रबंधगान निष्णातों की भी एक श्रेणी होती थी। ये लोग वाग्गेयकार होते थे। किसी भी कथा-वस्तु या घोषणा आदि को अनेक भागों में (जिनका पारिभाषिक शब्द धातु होता था) विभाजित कर गाते थे। इन खंडों के अथवा धातुओं के उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव, अतरा और आभोग आदि नाम प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं। यह अनेक विस्मृत अंगों में से एक है। आज इसका स्वरूप बतलानेवाला भी कोई प्राप्त नहीं।

जाति :—

यह भी निबद्ध गान का ही एक रूप था। रागगान की उत्पत्ति इन जाति-गान के कुछ अंशों को लेकर हुई है। जातिगान का ध्वनिरूप भी आज विस्मृत ही है। प्राचीन ग्रंथों से जानने में भी एक बड़ी अड़चन सामने आती है, क्योंकि प्राचीन ग्रंथों से उसकी शुद्ध स्वरमेल-सिद्धि प्रत्यक्ष करानेवाला कोई भी गायक आज संसार के सामने उपलब्ध नहीं। इस कारण यह भंडार हमारे लिये किसी प्रकार भी खुला नहीं है। जाति-रचना-तत्त्व और अन्यान्य ग्रंथों के जाति-संबंधी उदाहरणों से थोड़ी-सी 'जाति' के परिचय की कल्पना होती है। इससे इतना तो अवश्य ही कह सकते हैं कि जाति भी निबद्ध गीत (बंधे हुए गीत) ही थे। प्रत्येक जाति-गीत ग्रह, अंश, न्यास, मंद्रतारों की मर्यादाएँ, बल्कि मात्राताल आदि के द्वारा पूर्ण नियंत्रित और व्यवस्थित होते थे। गायक इसको गाते समय किसी भी प्रकार बहकने का अधिकारी नहीं होता था। इसी जातिगान से कई लोक रागों की उत्पत्ति मानते हैं।

आक्षिप्तिका:—

यह भी निबद्ध गान का ही एक स्वरूप है। ताल, स्वर, मात्रा आदि के पूर्ण सहयोग से जो गीत गाया जाता था उसको आक्षिप्तिका कहते थे। निबद्ध गान के अन्यान्य कई विशेष आज हमारे लिये पूर्णतः विस्मृत हो गए। इतना तो हम आज अवश्य ही सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए कह सकते हैं कि, आज के ऊँचे से ऊँचे गान से भी यह निबद्ध गान उत्तम स्वरज्ञान और रागज्ञान रखनेवाले गायक को ही साध्य था।

अनिबद्ध गान :—(आलप्ति गान)।

प्राचीनकाल के संगीतज्ञों में विविधालप्तितत्त्वविद् का बहुत ऊँचा स्थान था। थोड़े-से भेद को छोड़कर आलप्ति और आलाप में विशेष अंतर नहीं था। यह भेद भी स्वर-संबंध में ही

होता था। निबद्धगान में गायक को तनिक भी स्वतंत्रता नहीं थी तो अनिबद्ध गान में इसके विप-रीत शास्त्रीय मर्यादा को मानते हुए गाने में गायक पूर्ण स्वतंत्र होता था।

रूपक और रागालाप :—

यह आलप्तिगान के ही प्रकार हैं। कल्लिनाथ पंडित ने इन दोनों के भेद को पृथग्भुत विदारिकम् से कहा है। पृथक्भूता विच्छिन्न विच्छिन्न प्रयुक्तविदार्यो गीतखण्डानि यस्मिन्निति अपन्यासेषु अविरम्य एकाकारेण प्रवृत्त आलापः स एव अपन्यासेषु विरम्य विरम्य प्रवृत्तं रूपकम्। रूपकालाप में प्रत्यक्ष प्रबंध के समान ही श्रोताओं को भान होता था पर शब्द एवं ताल आदि का उसमें संभवतः अभाव होता था। रागालाप से रूपकालाप अधिक विस्तृत होता था। रूपका-लाप रागालाप का ही परिष्कृत रूप होता था।

आलप्ति :—

आलप्ति गान में रागों के संपूर्ण स्वरूप का आविर्भाव किया जाता था, केवल आविर्भाव ही नहीं अपितु तिरोभाव भी बतलाया जाता था। इससे श्रोताओं के मन के रागविषयक संशय को दूर करना आसान होता था। राग के गान के समय छिपने के रूप को तिरोधन कहते थे। राग पुनः स्पष्ट दिखने लगा कि, राग का आविर्भाव हुआ ऐसा कहते थे। यह भाव बड़े ही मनोरंजक होते थे—स्तोकस्तोकैस्ततः स्थायैः प्रसन्नैर्बहुभंगिभिः। जीवस्वल्याप्तिमुख्यैश्च रागस्य स्थापना भवेत्।

रागालाप :—इसके बारे में विशेष क्या कहें।

ग्रह-मोक्ष-विचक्षण भी एक विशेषण मिलता है। इसी प्रकार रागों द्वारा रोग दूर करना, उचित वातावरण निर्माण करना, जीवन-उपयोगी सिद्धांतों का प्रचार करना आदि पर पुनः कभी प्रकाश डालने के लिये विश्रांति लेते हैं।

शुक्ल जी के निबंध

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

प्रधानतया शुक्लजी आलोचक हैं इसलिये उनकी रचनाओं में विचार-वितर्क और विश्लेषण-विवेचन ही मुख्य है। उनके लिखे हुए विचारात्मक निबंधों में भी इसी सूक्ष्मेक्षिका का प्रसार दिखाई पड़ता है। विषय के आग्रह से मनो-वैज्ञानिक चिंतन-पद्धति का प्रयोग सर्वत्र मिलता रहता है। इस पद्धति का मूल रहस्य न समझनेवाले पाठक प्रायः शुक्ल जी के इन निबंधों को निबंध रूप में स्वीकार करने में कुछ हिचिकते हैं, पर इस हिचिक अथवा संकोच का कोई बुद्धिसंगत कारण नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि यथार्थ में ये विचारात्मक निबंध मनोविज्ञान के तात्विक अनुशीलन अथवा शास्त्रीय स्वरूप बोध के परिचायक नहीं हैं। उनमें अनुभूतिमूलक कथन ही विशेष रूप में पाए जाते हैं। किसी मनोविकार के जो परिस्थिति जन्य अनेक प्रकार के भेद-वर्ग और अवांतर अवस्थाएँ गिनाई या समझाई गई हैं उनमें मनस्तत्व संबंधी विवेचना उतनी नहीं की गई मिलती जितनी लोकगत व्यवहार की चर्चा। ऐसी अवस्था में इनकी निर्धारित संज्ञा निबंध ही इनके लिये उपयुक्त है।

शुक्लजी ने निबंध के विषय में स्वयं कहा है कि—

'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जानबूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिये ऐसी अर्थयोजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य स्वरूप से कोई संबंध ही न रखे अथवा भाषा से सरकसवालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराए जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।

संसार की हरएक बात और सब बातों से संबद्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध सूत्रपर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये संबंधसूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्ते के भीतर नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी कुछ संबंध सूत्रों को पकड़-

कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है।[1]

'विचारों की वह गूढ़ गुंफित परंपरा उनमें (पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी) नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गए हों और एक एक वाक्य किसी संबद्ध विचार खंड को लिए हों।[2]

शुक्ल जी द्वारा स्थापित उक्त मान्यता पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट तथा स्फुट है। इसमें उन्होंने दो विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है। निबंध में व्यक्तित्व की पूरी झलक हो और वह सुगठित हो—आदि से अंत तक। अब जिन्हें शुक्लजी के अध्ययन-अध्यापन की पद्धति और प्रकृति का ज्ञान होगा उन्हें तो इन मान्यताओं का यथार्थ परिचय मिल जायगा। अन्य मीमांसकों को इस क्षेत्र की जानकारी प्राप्त करनी पड़ेगी। उनके लिगे यह कहना पड़ेगा कि शुक्लजी के अध्ययन की परिपाटी ही निराली थी, व्यक्तिगत थी—व्यक्तित्व से भरी थी। शुक्लजी पढ़ते कम थे पर अध्ययन और चिंतन अधिक करते थे। वे किसी की रचना अथवा विचार-विमर्शपर स्वयं बहुत तर्क-वितर्क करते रहते थे और अपनी व्यक्तिगत विचार परंपरा में अपने ढंग से या तो उसका समाहार कर लेते थे अथवा स्थिर रूप से शुद्ध अलग्योझा ही स्वीकार कर लेते थे। उनकी अपनी विचार परंपरा में शास्त्र, जीवन और जगत् का समन्वय रहता था। अपने शास्त्रीय ज्ञान अथवा प्राप्ति को कहीं तो वे जीवन और जगत् के व्यावहारिक रूपों में ढालकर उसकी सच्ची प्रकृति को समझने की चेष्टा करते थे या सूक्ष्म विश्लेषण के द्वारा संधि ढूंढ़कर जीवन के अनुरूप शास्त्र की हो व्यवस्था कर लेते थे। इसी तरह विवेचना-क्रम को शास्त्रों से लेकर अपनी विचारमयी अनुभूतियों की पूरी छानबीन करते थे। विचार, प्रवृत्ति और भावनाओं की सैद्धांतिक सत्ता को समझकर काव्य, पुराण और इतिहास के साक्ष्यपर उसका शोधन करने के पश्चात् जीवन के साथ उसका संतुलन करते थे। इस प्रकार सार्वदेशिक सुस्पष्टता के वे बहुत कायल थे।

यह अर्जित और अनुभूतिमूलक बोधवृत्ति शुक्लजी की समस्त रचनाओं में दिखाई पड़ती है। निबंधों और अन्य स्थलों पर उनके बात कहने में जो एक प्रकार की सफाई मिलती है उसका रहस्य यही है। उनके सिद्धांत प्रतिपादन अथवा अनुभूति प्रकाशन में भी कोई अंधकार नहीं मिलेगा भले ही कोई उस सिद्धांत अथवा उसकी विवेचना से सहमत न हो, पर कोई उनकी कही अथवा लिखी हुई बात को अन्यथा रूप में समझे ऐसा नहीं हो सकता। इसी विभ्रांत विचार-परिष्कार का सीधा प्रभाव उनकी भाषाशैली पर लक्षित होता है। विषय जितना स्पष्ट उनके अंतःकरण में रहता था उतना ही उनकी लेखनी से निकलकर भी दिखाई पड़ता था। ठीक इसी अर्थ में भाषाशैली अंतःकरण की प्रतिच्छाया कही जाती है।

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास, १९९७ संस्करण, पृ० ६०५–६।

२. वही, पृ० ६०९–१०।

स्वच्छ चिंतन और व्यवहारमूलक परख के कारण शुक्लजी की रुचि-अरुचि सुनिश्चित आधार-पर खड़ी दिखाई पड़ती थी। इसीलिये निबंध लिखते समय जहाँ उनकी रुचि के अनुकूल विषय एवं प्रसंग मिल जाता था वहाँ की सारी विचार-योजना और विवेचना-पद्धति में भावुकता का पर्याप्त योग प्राप्त होता था। इसी तरह जहाँ विषय की लपेट में ऐसा प्रसंग आ जाता था जिसके लिये उनके मन में अरुचि रहती थी वहाँ आक्षेप, व्यंग और आक्रोश का भी रूप स्पष्ट प्रकट हो जाता था। यह वैयक्तिक विशेषता उनकी सब प्रकार की कृतियों में समान रूप से दिखाई पड़ती थी। इस रुचि-अरुचि संबंधी कठोर ऋजुता के अतिरिक्त शुक्ल जी स्वभाव से ही गंभीर थे, पर विनोद परिहास के भी पूरे पंडित थे। उनका संपूर्ण बाल्य और यौवनकाल खेत-खलिहानों तथा प्राकृतिक सुषमा के बीच व्यतीत हुआ था। इसलिये सर्वत्र सार्वदेशिक गांभीर्य के बीच उनकी प्रकृति-प्रियता और विनोदशीलता मुखरित मिलती है।

अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में शुक्लजी के निबंधों का प्रचार उनके जीवनकाल में ही हो गया था। उनके संबंध में भिन्न-भिन्न प्रकार की आलोचनाएँ भी होती थीं और उनके कानों तक पहुँचती थीं। कुछ लोग ऐसे भी मिले जो यह समझते थे कि उनके निबंध प्रायः विषय प्रधान थे। उनमें व्यक्ति की प्रधानता न होने से वे अपनी परिभाषा-परिधि के बाहर हो गए हैं। इसपर शुक्लजी ने अपनी ओर से आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा है—

'इस पुस्तक में मेरी अंतर्यात्रा में पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिये निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं भी मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धिपथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।

'बस, इतना ही निवेदन कर के इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबंध विषय प्रधान हैं या व्यक्ति प्रधान।'[१]

आमुख रूप में इतना कह चुकने पर अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि निबंध की जो परिभाषा स्वयं शुक्लजी ने उपस्थित की है और अपने आलोचकों को जो उन्होंने उत्तर दिया है उसके विचार से उनके निबंधों की परीक्षा करने पर क्या परिणाम निकलता है? इसके लिये साक्षी-रूप म एक निबंध लेकर विवेचना की जा सकती है। 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबंध स्वयं लेखक को पसंद था और अन्य आलोचकों को भी प्रिय है। उसमें कृतिकार की सभी प्रवृत्तियाँ स्फुट हैं और सरलता से उनका दिग्दर्शन संभव है। विचार-विमर्श के लिये लक्ष्य केवल एक है निबंध की उक्त परिभाषा के अनुरूप रचना में क्या विशेषताएँ मिलती हैं, कहाँतक वह विषय-प्रधान है और कहाँ कितनी लेखक के व्यक्तित्व की छाप है।

जहाँतक वस्तु अथवा विषय की प्रधानता का प्रश्न है इतना तो आरंभ में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि शुक्लजी के निबंध विचारात्मक अवश्य हैं पर विषय-प्रधान किसी भी अर्थ

१. चिंतामणि, प्रथम भाग, 'निवेदन'।

में नहीं है। मनोविकारों अथवा विभिन्न भावों की, जिस ढंग से तद्विषयक शास्त्रीय ग्रंथों में विवेचना की जाती है वह परिपाटी किसी भी निबंध में गृहीत नहीं हुई है। मनस्तत्व अथवा मनो-विज्ञान के ग्रंथों की योजना ही भिन्न आधार पर होती है। वहाँ विचार-योजना का क्रम मूल आधार को आद्यंत इस प्रकार पकड़े रहता है कि विकास का उतार-चढ़ाव सुसंबद्ध तो बना ही रहता है पर उसकी एकोन्मुखता तर्कमयी दिखाई पड़ती है। विषय का प्रसार सर्वत्र शास्त्र की मान्य गतिविधि के अनुसार नियंत्रित होता है और अंगांगी सभी छोरों की व्यवस्था में एकसूत्रता सदैव परिव्याप्त रहती है। सैद्धांतिक विषय की विवेचना में विवेचक सर्वथा तटस्थ एवं रूक्ष ढंग से बुद्धि-प्रधान रूप धारण किए रहता है। यहाँ उसका रागात्मक तत्व मुखर नहीं होने पाता। अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि के अनुरूप वह न तो कहीं मात्रा से अधिक रम सकता और न वैधानिक अथवा आवश्यक अंश की उपेक्षा कर शीघ्रता से आगे बढ़ जा सकता है। शुद्ध विषय-प्रधान मीमांसा में मीमांसक का स्वरूप जितना अधिक प्रच्छन्न अथवा ऊपरी भूमि से दूर रहेगा वस्तु अथवा विषय का बोध उतना ही अधिक स्फुट एवं शास्त्रीय सिद्ध होगा। उसके दृष्टांत भी विषय की प्रकृति के ही मेल में रहते हैं। उनमें भी मीमांसक का व्यक्तित्व खुलता नहीं।

इस प्रकार की कोई बात शुक्ल जी के किसी निबंध में कहीं नहीं प्राप्त होती—विशेषकर 'लोभ-और प्रीति' में। जहाँतक सामान्य रूप से लिखने-पढ़ने में देखा गया है सिद्धांत की दृष्टि से इस प्रकार लोभ और प्रीति का निवेदन ही नहीं किया गया है। जहाँ किसी मनोविकार का आरंभिक परिचय शुक्लजी उपस्थित करते हैं वहीं वे मनस्तत्व के रूक्ष स्तर को छोड़कर अनुभूतिमूलक व्यवहार भूमिपर खड़े दिखाई पड़ते हैं। फिर दो असमान लक्षित होनेवाले भावों के मूल में बैठी हुई एक ही मनोवृत्ति, परिस्थिति और दृष्टिभेद से कैसे दो भिन्न स्वरूप धारण कर व्यवहार जगत् और जीवन में विभिन्न रंगरूप प्रगट करती है इसको भी जिस प्रकार व्यावहारिक उदाहरणों से शुक्लजी ने समझाया है वह भी सिद्धांत-विवेचना की पद्धति पर नहीं है। यदि विषय के प्रसार-क्रम को देखा जाय तो वह भी न तो वैज्ञानिक ढंग से सजाया गया है न उसके भीतर आनेवाले विविध अवांतर भेदों का मनस्तत्व संबंधी स्वरूप स्थिर किया गया है। ऐसी दशा में विषय-प्रधान रचनाओं अथवा ग्रंथों में प्राप्त होनेवाले कोई लक्षण इस निबंध में नहीं दिखाई पड़ते। तर्काश्रयी तत्व-चिंतन अथवा शुष्क वस्तु-प्रधान कथन में निम्नलिखित पदावली कहीं भी व्यवहृत नहीं मिलेगी, और न व्यक्तिगत आक्रोश एवं उद्वेग ही इतनी छूट के साथ व्यक्त होंगे।

'बेचारा बहुत अच्छा था' प्रिय के मुख से इस प्रकार के कुछ शब्दों की संभावना पर ही आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनंद से किया करते हैं।

'जब एक ही को चाहनेवाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँतक पसंद करते। लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए। धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं वह भी रुपए पैसे की दृष्टि से होने लगीं। आजकल तो बहुत सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। पैसे से राजसंमान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिनके पास कुछ रुपया है, बड़े-बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकदमें

दाखिल कर सकते हैं और महंगे वकील बैरिस्टर कर के बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यंत भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं। राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म, सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से, ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया, केवल वणिकधर्म रह गया।'

इसी प्रकार की भाषाशैली में आगे-पीछे लेखक ने बहुत कुछ लिखा है। आजकल के जीवन पर पैसे का प्रभाव कितना छाया हुआ है इस विषयांतर पर इतना जमकर, और वह भी ऐसी पद्धति से, अपने हृदय की संचित भावनाओं को आक्षेपयुक्त ढंग से प्रकट करना इस बात को प्रमाणित करता है कि कृतिकार के लिये विषय का उतना आकर्षण नहीं है जितना वैयक्तिक विचार अनुभूति के प्रकाशन का। मनस्तत्व संबंधी शास्त्रीय विवेचना में ऐसे प्रासंगिक अंगों का इतना उग्र कथन अथवा विस्तार से प्रतिपादन नहीं हो सकता। पैसे का मुंह ताकनेवाले समाज से लेखक कितना क्षुब्ध और असंतुष्ट है इसकी विस्तृत व्यंजना उसके व्यक्तित्व का ही उद्घोष कर रही है। किसी विषय का सामान्य एवं व्यावहारिक वर्गीकरण करके तुरंत अपनी रुचि-अरुचि के अनुरूप क्षेत्र चुनकर उसी ओर झुक पड़ना विषय की प्रधानता नहीं है; वह तो कृतिकार के व्यक्तित्व का प्रकाशन है। इसी प्रणाली को लक्ष्य करके शुक्लजी ने कहा था—'निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है।' आगे चलकर प्रेम की विविधता के प्रसंग में आए हुए देशप्रेम का उल्लेख करते-करते लेखक रुक जाता है और अपने को देशप्रेमी कहनेवालों के सत्यार्थ की आलोचना करने लगता है। तबतक के लिये विवेचना-क्रम में अवरोध पड़ जाता है।

'जन्मभूमि का प्रेम, स्वदेश-प्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देशप्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिये गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, बन, पर्वत, नदी, निर्झर सब से प्रेम होगा, सब को वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सब की सुध कर के वह विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झांकते कि औसत आमदनी का परता बताकर देशप्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि, भाइयो! बिना परिचय के यह प्रेम कैसा। जिनके सुखदुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े, या खड़े-खड़े तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करनेवाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करनेवाले नहीं।' रसखान तो किसी की लकुटी अरु कामरिया पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देशप्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके मांदे भाई के फटे पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की

फर्श भी मैली होने देंगे। मोटे आदमियो ! तुम जरा दुबले हो जाते।—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।'

इस प्रकार की व्यक्तिमूलक और अनुभूतिमयी व्यंजना देखकर भी और प्रासंगिक सूत्र पकड़कर विषयांतर की ओर खिंचाव पाकर भी जो शुक्लजी के निबंधों को विषय प्रधान कहें उनकी अक्ल मारी गई है, यही स्वीकार करना पड़ेगा। किसी भी तत्त्वमूलक विषय के प्रसार में इस प्रकार बीच के ब्योरों को लेकर अपनी रुचि-अरुचि के अनुसार रुककर उग्र रूप में आक्षेप और व्यंग-कथन, सिद्धांत निदर्शन की पद्धति नहीं है। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण भी है। 'लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इंद्रियनिग्रह, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है, तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है ! एक किसी पक्के लोभी के सच्चे रूप का यही यथार्थ निर्णय है, पर इस प्रसंग में जो कुछ भी कहा गया है वह उसके व्यावहारिक क्रिया-कलाप का स्थूल निवेदन है न कि उसके विभिन्न व्यक्त कर्मों के भीतर बैठी मनःस्थिति की सूक्ष्म विवेचना। ऐसे स्थल अनेक हैं, और इनमें कृतिकार का व्यक्तित्व जितना अधिक स्फुट है उतना बुद्धिपरक विश्लेषण नहीं।

उदाहरण एवं दृष्टांत भी शास्त्रीय गांभीर्य के साथ नहीं उपस्थित किए गए हैं। उनमें या तो विचार-क्रम को अधिक सुबोध और व्यापक बनाने की आकांक्षा प्रकट होती है अथवा अवसर एवं संधि पाकर लेखक की अपनी परिहास-प्रियता झलकती है। ऐसे उदाहरणों के कारण विवेचना भी व्यक्ति प्रधान बनी दिखाई पड़ती है। उसकी विषयगत रुक्षता भी बच गई हैं और अभिव्यंजना शैली भी सरल हो सकी है,—'भूखे रहने पर सब को पेड़ा अच्छा लगता है पर चौबेजी पेटभर भोजन के ऊपर भी पेड़ेपर हाथ फेरते हैं।' 'रुपए के रूप, रस, गंध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता पर जिस वेग से मनुष्य उसपर टूटते हैं उस वेग से भौंरे कमलपर और कौए मांस पर न टूटते होंगे।' 'सीता-हरण होनेपर राम का जो वियोग सामने आता है वह भी चारपाई पर करवटें बदलानेवाला नहीं है, समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतरवानेवाला है।' इस प्रकार के स्थलों के अतिरिक्त जहाँ लेखक आप-बीती निवेदन करने लगता है वहाँ तो खुलकर उसका व्यक्तित्व सामने आ जाता है। सभी निबंधों में शुक्लजी अपने और पाठकों के बीच ऐसी आत्मीयता स्थापित करते मिलते हैं। अपनी निजी अनुभूति प्रकट करने से कथन को बल मिल जाता है। यह प्रणाली अधिक नहीं प्रयुक्त हुई है फिर भी उसकी रूपरेखा एक ही प्रमाण से स्पष्ट हो जायगी।

'पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय बन रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत-से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्व विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हमलोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सबेरे देखने का विचार कर के नीचे उतर रहे थे। बसंत का समय था। महुए चारों तरफ टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—'महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।' इसपर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा यहाँ महुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे। मैं चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।

उदाहरण उपस्थित करने का एक दूसरा रूप भी है। उसमें भी शुक्लजी की व्यक्तिगत अभिरुचि ही अधिक स्पष्ट होती है। तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने आवश्यकतानुसार बड़े विस्तार के साथ प्रचलित काव्य-ग्रंथों में प्राप्त प्रसंगों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। लोभ के तारतम्य में प्रेम के विविध स्वरूपों और प्रभावों का विचार करते समय विस्तार के साथ कहीं उर्दू की शायरी या प्रेम-काव्यों का, कहीं सूर की गोपियों अथवा बंकिमबाबू की आयशा और जगतसिंह का कहीं साहित्य के अपने पुराने आचार्यों या योरपीय साहित्य के युद्ध और प्रेमवाले युग का, कहीं भारतीय प्रबंध-काव्यों या तुलसी और ठाकुर की कविताओं का विवरण और साक्षी देकर अपनी इच्छा के अनुरूप विषय का विचार किया है। ऐसे स्थलों पर विचार तो अवश्य ही बहुत स्पष्ट हो गए हैं पर विवेचना की पद्धति विषयोन्मुख न होकर व्यक्तिप्रधान हो गई है।

इतना होते हुए भी शुक्लजी के निबंध हैं विचार-प्रधान। शास्त्रीय अर्थ में नहीं, व्यवहार की दृष्टि से। लौकिक क्षेत्र में प्रमुख मनोविकारों का क्या रूप प्राप्त होता है और विविध परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में पड़कर वे किस प्रकार रूपांतरित हो उठते हैं अथवा मनुष्य को भिन्न-भिन्न क्रिया-व्यापारों की ओर प्रेरित करने में सहायक होते हैं इसीका विचार इनमें मिलता है। आवश्यकता-नुसार इन मनोवेगों की उत्पत्ति, विकास और परिणाम का विचार करके उनके भेद-प्रभेद भी निरूपित हुए हैं। इस आधारपर वर्गीकरण करते समय उन्हें विचार प्रधान ही कहा जायगा इसमें दो मत हो ही नहीं सकते। यही विवेचनाक्रम और परिणाम उन निबंधों का भी समझना चाहिए जिनका संबंध सैद्धांतिक अथवा व्यावहारिक समालोचना से है।

पाणिनि के समय की शिष्ट-भाषा

राधारमण

सौभाग्य से भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी उद्घोषित हुई है। उसकी सर्वांगीण उन्नति के लिये कुछ अवधि भी निर्धारित की गई है। किसी भी भाषा की उन्नति के लिये उसके शब्द-भांडार को आवश्यकतानुसार निरंतर परिवर्द्धित होते रहना चाहिए। अतः प्रत्येक उदयोन्मुखी भाषा के लिये एक न एक धात्री अथवा पोषिका भाषा अपेक्षित रहती है। इस प्रकार हमारी भाषा को उस दिशा में सहायता पहुँचाने में समर्थ केवल संस्कृत ही उपयुक्त हो सकती है। इसके अनेक कारण हैं। सर्वप्रथम हमारी राष्ट्रभाषा की अथच भारतीय अनेक भाषाओं की जन्मदात्री संस्कृत ही है, भारतीय भाषाओं में प्राचीनतम है, इसका शब्द-भांडार अगाध है तथा इसमें नवीनतम भावाभिव्यंजन के लिये शब्द-निर्माण की अद्भुत क्षमता है। इसके द्वारा जो पोषकतत्व हमारी भाषा को उपलब्ध होंगे वे सर्वथा इसकी प्रकृति के अनुकूल होंगे।

प्राचीनकाल में अथवा तथाकथित प्रागैतिहासिक-काल में भारत की मातृ-भाषा संस्कृत थी। यद्यपि कतिपय पाश्चात्य भाषा-शास्त्री तथा कुछ उन्हीं के अनुयायी लब्ध-प्रतिष्ठ भारतीय विद्वान कहते हैं कि संस्कृत भारत की प्रचलित मातृभाषा कभी नहीं थी। यह केवल परिमित ब्राह्मणवर्ग द्वारा साहित्य में प्रयुक्त की जानेवाली कृत्रिम भाषा रही—इस विषय का विवेचन इस लेख में नहीं किया जा सकता, तथापि संस्कृत वाङ्मय के मर्मज्ञ इस विषय को अच्छी तरह जानते हैं कि संस्कृत का इस देश तथा समाज में क्या स्थान था। पाणिनि के अष्टाध्यायी पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय शिष्टवर्ग में व्यवहृत होनेवाली भाषा संस्कृत ही थी। आखिर शिक्षा का माध्यम, राष्ट्रसंसद् में प्रयुक्त तथा लौकिक व्यवहार में सहायिका कोई न कोई भाषा तो रही ही होगी। तो वह संस्कृत के अतिरिक्त क्या हो सकती है क्योंकि उस समय प्राकृत, पाली तथा अप-भ्रंश के प्रचार का कोई आधार अनुपलब्ध है।

उस युग में भारतवर्ष प्राच्य तथा उदीच्य (दक्षिण-पूर्व तथा पश्चिमोत्तर) भागों में विभक्त था। दोनों भागों में एक प्रकार की शुद्ध संस्कृत का प्रयोग किया जाता था। पतंजलि के महाभाष्य से विदित होता है कि शिष्टवर्ग की भाषा बड़ी परिमार्जित तथा ओजस्विनी थी। यह ध्यान रखना

चाहिए कि पाणिनि का काल ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तथा पतंजलि का काल ईसा पूर्व पहिली अथवा दूसरी शताब्दी माना जाता है। पतंजलि के समय पाली तथा प्राकृत का प्रचार द्रुतगति से हो रहा था। फिर भी उनके समय में भी शिष्टजगत् की मातृभाषा संस्कृत ही थी। उनके शिष्य आर्यावर्त के निवासी थे। उन्होंने आर्यावर्त्त आदर्श (सरस्वती का विनशन स्थान, राजपूताना) के पूर्व, *कालकवन (विन्ध्यवन का पूर्वोत्तरीय भाग गया)* से पश्चिम, हिमालय के दक्षिण तथा *परियात्र* (विन्ध्य पर्वत का पश्चिमोत्तरीय भाग) के उत्तर के भूभाग को स्वीकृत किया है। प्रागादर्शात्प्रत्यक्कालक-वनाद्दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम् आर्यावर्तः'। ६-३-१०९ महाभाष्य। यदि भारत की प्रचलित मातृभाषा संस्कृत न होती तो पाणिनि को क्या आवश्यकता थी कि वह (दूराद्धूते च ८।२।८४) लिखते। अर्थात् सम्बोधन सूचक वाक्य का अंतिम स्वर प्लुत हो जाता है—सक्तून् पिब देवदत्त ३। देवदत्त का अंतिम अकार ह्रस्व है परंतु उपर्युक्त वाक्य में प्लुत हो गया है। दूसरे सूत्र ८।२।८६ में उन्होंने कहा है कि संबोधन सूचक वाक्य के अंत में यदि गुरु अक्षर न हो तो भी वह लुप्त हो ही जाता है। व्यवहार में भी यदि हम राम नामके किसी व्यक्ति को पुकारते हैं तो राम का अंतिम अकार स्वतः प्लुत ही उच्चरित होता है।

एक पाश्चात्य भाषाशास्त्री श्री सेनार्त का संस्कृत की कृत्रिमता का यह भी एक प्रमाण है कि इस भाषा में स्वर (एकसेंट) है ही नहीं। यदि यह व्यवहृत भाषा रही होती तो इसमें स्वरों का अस्तित्व अनिवार्य होता। परंतु खेद है कि ऐसे संमानित व्यक्ति होते हुए भी उन्होंने अष्टाध्यायी देखने का कष्ट नहीं किया। वैदिक वाङ्मय में तो प्रत्यक्षर सस्वर होते ही हैं। पाणिनि ने उसके अतिरिक्त लौकिक भाषा के लिये भी अनेक सूत्रों में भाषायाम्, अन्यतरस्याम् विभाषा आदि (६।१।२१६, ६।१।११७, ६।१।१८७, ६।१।१८१, ६।१।१८४) लगाकर स्वर नियमों का स्पष्टतः उल्लेख किया है। यदि संस्कृत बोलचाल की भाषा न होती तो उसके लिये स्वर नियमों की क्या आवश्यकता थी।

संस्कृत में धातुओं के दो रूप होते हैं, परस्मैपदी और आत्मनेपदी। कुछ धातु परस्मैपदी कुछ आत्मनेपदी तथा कुछ उभयपदी निश्चित हैं। परंतु बोलचाल में कुछ निश्चित रूपवाली धातुओं के रूप भी विशेष अर्थों में भिन्न-भिन्न हो जाते थे। इसके लिये पाणिनि के बहुसंख्यक नियम हैं।

गम् धातु परस्मैपदी है परंतु सम् उपसर्ग के साथ अकर्मक प्रयोग होने पर यह आत्मनेपदी हो जाती है। *'वाक्यं सङ्गच्छते'*—वाक्य संगत होता है। *'सखीभिःसङ्गच्छते'*—सखियों से मिलती है। (१।३।२९)।

ह्वे धातु उभयपदी है परंतु आ उपसर्ग के साथ पुकारने अर्थ में परस्मैपदी तथा ललकारने अर्थ में आत्मनेपदी रूप होता है। जननी पुत्रम् आह्वयति—माता पुत्र को पुकारती है। आह्वयेती चेदिराण्मुरारिम् (शिशु०) २१।१० शिशुपालने श्रीकृष्ण को ललकारा।

स्था धातु परस्मैपदी है परंतु आशय प्रकट करने के अर्थ में यह आत्मनेपदी हो जाती है। *गोपी कृष्णाय तिष्ठते*—गोपी कृष्ण से अपना आशय प्रकट करती है। *'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः'* (किरात ३।१४) दुर्योधन संदेह होने पर कर्णादि पर भरोसा करता था। उद् उपसर्ग के साथ उठना अथवा अधिकार द्वारा प्राप्त करना अर्थ से भिन्न अर्थों में इसका रूप आत्मनेपदी होता था। ऋतावुद-

स्थित (शिशु० १४।१७।) युधिष्ठिर यज्ञ करने के लिये उत्सुक हुए। परंतु पीठादुत्तिष्ठति—आसन से उठता है। ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति—ग्राम से सौ रुपए उठते हैं अर्थात् कर रूपमें प्राप्त होते हैं।

प्रेरणार्थक गृध् धातु धोखा देने के अर्थ में आत्मनेपदी तथा ललचाने के अर्थ में परस्मैपदी होता है। शिशुम् गर्द्धयते—बच्चे को धोखा देता है। श्वानं गर्द्धयति—कुत्ते को ललचाता है।

प्रेरणार्थक वञ्च् धातु धोखा देने के अर्थ में आत्मनेपदी तथा अन्य अर्थों में परस्मैपदी होता है। बालकम् वञ्चयते—बालक को धोखा देता है। सर्पम् वञ्चयति साँप को बचाता है अर्थात् साँप से बचता है।

दा धातु उभयपदी है, परंतु आ उपसर्ग के साथ जब इसका प्रयोग मुँह खोलने के अर्थ में न हो तब केवल परस्मैपदी रूप होता है। धनम् आदत्ते, विद्याम् आदत्ते—धन स्वीकार करता है, विद्या ग्रहण करता है। जलाभिलाषी जलमाददानाम् (रघु: २।१६)नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् (अभि० शा०।) मुखम् व्याददाति—अपना मुँह खोलता है। विपादिकां व्याददाति शल्य-चिकित्सकः—डाक्टर बिवाई को चीरता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्टतया विदित होता है कि यदि संस्कृत बोलचाल की भाषा न रही होती तो एक ही धातु के भिन्न-भिन्न अर्थों में भिन्न-भिन्न रूप न होते और पाणिनि अनावश्यक नियम ही क्यों बनाते। उन्होंने तो प्रचलित रूपों के आधार पर ही नियम बनाए होंगे। ये उदाहरण तो क्रियाओं के हुए, अब भिन्न-भिन्न सांसारिक कार्यों के लिये प्रयुक्त होनेवाले धातुओं पर भी जरा विचार कीजिए।

कृषि—साधारण जुताई के लिये कृष् धातु तो है ही। कृषकवर्ग खेतों को प्रायः सीधे-सीधे कई बार जोतता है जिसको वह बाँह करना कहता है। जिस खेत में जितने अधिक बाँह किए जाते हैं उसमें उतनी ही अच्छी फसल होती है। समर्थ कृषक अपने खेतों में यथाशक्ति दो, चार या और भी अधिक बाँह करता है, इसके लिये द्वितीया करोति, तृतीया करोति, द्वितीयाकरण, तृतीयाकरण (दुबहीं, तिबहीं) शब्द प्रचलित थे। प्रति बाँह के अंत में खेत को किसी कोने की ओर से जोता जाता है जिसे कोन करना कहते हैं। कोन के लिये शम्बा करोति—शम्बाकरण (कोन) शब्द प्रचलित था। बोने के लिये साधारणतया वप् धातु प्रयुक्त होता था ही। परंतु जब किसी जलाशय के समीप के खेत जलाधिक्य के कारण कच्चे (अधिक आर्द्र) रहते हैं और उन्हें जोत कर बोने का अवसर नहीं रहता तब कृषक बिना जोते ही उसमें बीज डालकर हलकी जुताई कर देता है। कुछ बीज पर्ती (बिना जुते) खेतों में ही बोए जाते हैं। इस प्रक्रिया को बिदहना कहते हैं। पाणिनि-काल में इसको बीजाकरण कहते थे। सहबीजेन विलेखनं करोति (५।४।४९।)

खेतों का नामकरण भी कृषकों में प्रचलित है। जिस खेत में प्रायः जो अन्न अधिक उत्पन्न होता है उसके आधार पर उसका नामकरण हो जाता है। जैसे धनहाँ, उखाव आदि। प्राचीन काल में मूंग के खेतों को मौद्गीन (५।२।१) साधारण तथा उत्तम प्रकार के धान के खेतों को व्रैहेय, शालेय (५।२।२) जौ तथा धड़जई के खेतों को यव्य तथा यवक्य (५।२।३) और तिल, उड़द, अलसी, सरसई और

चीना के खेतों को क्रमशः तिल्य, तैलीन, माष्य, माषीण, उम्य, औमीन, मङ्गय, माङ्गीन, तथा अणव्य अणवीन (५।२।४) कहते थे।

कृषि के उपयोगी उपकरणों को देखिए। हल के मुख्यतः तीन भाग होते हैं। (१) बीचवाली सीधी लंबी लकड़ी को ईषा, हलीषा, लांगलीषा (हरिस), (२) जिसे हाथ से पकड़कर हल चलाया जाता है उसे पोत्र (नगरा) तथा (३) जिसमें फाल या लोहे का फल लगा रहता है उसे अयस्कुशा (चौभी २।३।४८) कहते हैं। जुते हुए खेत को समतल करने के लिये हेंगा चलाया जाता है उसके लिये जित्या (३।१।११७) का प्रयोग होता था। कुदाल तथा फावड़े के लिये खनित्र (३।३।१२५) शब्द था। फसल काटने के लिये दाति तथा दात्र (३।२।१८२) और लवित्र का प्रयोग किया जाता था। खलिहान कोखल्या (४।२।५९) कहते थे। जिस मैदान में गाँवभर का खलिहान होता है उसको खलिनी (४।२।५१) कहते थे। डंठल को चूर्ण कर भूसा और अन्न पृथक् करने के लिये उसपर कई बैल एक साथ निरंतर चलाए जाते हैं। इस प्रक्रिया को निष्पाव (३।३।२८) शब्द से प्रकट करते थे। डंठल को नीचे ऊपर करने के लिये उस समय भी अखान या आखन (३।३।१८४) (अखइन) काम में लाया जाता था। भूसे को हटाने-बढ़ाने के लिये पंचांगुल (पाँचा) (५।४।११४) भी था।

जिस कृषक के पास निजी हल नहीं रहता ऐसे अहल, अथवा अहलि (५।४।१२१) कृषक भी थे ही। जुते हुए खेत केदार कहे जाते थे। अन्न दो प्रकार के होते थे, कृष्टपच्य (बोने से पैदा होनेवाले) तथा अकृष्टपच्य (बिना बोए पैदा होनेवाले—जंगली अन्न)।

उस समय भी भिन्न भिन्न गुण तथा वयवाले पशुओं के वाचक शब्द व्यवहृत होते थे। हाल की ब्याई गाय गोधेनु, एक ब्यान की गाय, गोगृष्टि, वंध्या गाय गोवशा, गर्भपातिनी गाय गोबेहत् (बहिला), अधिक दिन की ब्याई गाय गोवष्कयणी (बकेना) (२।१।६५) कही जाती थी। बहुत बड़े थनवाली गाएँ (कुण्डोध्नी) (४।१।२५) भी होती थीं। जबतक बछड़ा बड़ा नहीं हो जाता था अर्थात् उसकी पीठपर डिल नहीं निकल आता था तबतक वह अजातककुत् और युवा हो जाने पर पूर्णककुत् (५।४।१४६) कहलाता था। बछड़े के लिये जातोक्ष, युवा के लिये महोक्ष तथा बुड्ढे बैल के लिये वृद्धोक्ष (५।४।७७) शब्द प्रचलित थे। छः दाँतवाले बैल को षोड़न् (५।४।१४४), घास खाने योग्य बछिया को तृणजंभा (५।४।१२४), सींग निकले हुए बछड़े को उद्गतशृंग तथा दो अंगुल सींगवाले को द्व्यंगुलशृंग (६।२।११५) कहते थे।

शाबर भाष्य के तिर्यगधिकरण में चर्चा है कि कुछ कुत्ते (कौलेयक) प्रतिमास की कृष्ण-चतुर्दशी को उपवास करते हैं। वर्तमानकाल में भी यत्र तत्र इस प्रकार के कुत्ते सुने गए हैं जो उक्त तिथि को कुछ नहीं खाते। उस तिथि के लिये श्वनिश तथा श्वनिशा (२।४।२५) शब्द प्रचलित थे। जो सूकर अपनी द्रुतगति से कुत्तों को बहुत पीछे छोड़ देते थे वे अतिश्व (२।४।१२७) पदवी के अधिकारी होते थे। सर्वश्रेष्ठ घोड़ा अश्वोरस कहा जाता था। घोड़े और घोड़ियाँ प्रायः दो रस्सियों से बाँधे जाते हैं। दो रस्सियों से बँधी हुई घोड़ी द्विदामा तथा खुली हुई घोड़ी उद्दामा कही जाती थी।

भिन्न-भिन्न पशुओं के समूह के लिये एक शब्द व्यवहृत होता था। बैलों के झुण्ड के लिये औक्षक, ऊँटों के लिये औष्ट्रक, भेड़ों के लिये औरभ्रक, (४।२।३९) हाथियों के झुंड के लिये हास्तिक,

गायों के लिये धैनुक, (४।२।४७) गव्य।, (४।२।५०) गोत्र (४।२।५१) और घोड़ों के लिये आश्व (४।२।४८) शब्द प्रचलित थे।

व्यापार के लिये अनेक मुहाविरे प्रचलित थे। खरीदने तथा बेंचने के लिये क्रय और विक्रय तो थे ही। किराये पर किसी वस्तु के लेने की प्रथा भी थी। शतेन शताय वा परिक्रीतोऽयं गृहः—यह घर सौ रुपए किराए पर लिया गया है (१।४।१४४।) ऋण लेने वाला अधमर्ण तथा ऋण देनेवाला उत्तमर्ण कहा जाता था (१।४।३५।) देवदत्ताय शतं धारयति यज्ञदत्तः—यज्ञदत्त देवदत्त का सौ रुपए का देनदार है। शताद्बद्ध यज्ञदत्तः—यज्ञदत्त सौ रुपये ऋण के कारण बँधा है। आजकल भी कृषक-वर्ग में ऋण लेने की एक यह प्रथा प्रचलित है कि ऋण लेने के समय वह निश्चित समय पर ऋण चुकाने के लिये बचन-बद्ध हो जाता है। कोई ऋण एक मास में, कोई फसल तैयार होनेपर, कोई सालभर में, कोई दो साल में चुकाना पड़ता है। एकमास में चुकाया जानेवाला ऋण मासिक (४।३-४७।) पीपल में फल लगने के समय अदा किया जानेवाला अश्वत्थक, मयूरों के गर्भाधान-काल में चुकाया जानेवाला कलापक, फसल तैयार होनेपर चुकाया जानेवाला यवबुस, ग्रीष्मकाल में चुकाया जानेवाला ग्रैष्मिक, वर्षभर में चुकाया जानेवाला साम्वत्सरिक, साम्वत्सरक, अगले वर्ष चुकाया जाने-वाला आवरसमिक और अगहन में चुकाया जानेवाला ऋण आग्रहायणिक तथा अग्रहायणक (४।३।४८, ४९, ५०) कहा जाता था।

श्रमिकवर्ग में भी संस्कृत प्रचलित थी। घरेलू काम करनेवाले भृत्यों को बहुधा आंशिक भोजन दिया जाता था। जिन भृत्यों को केवल भाजी दी जाती थी उसे श्राणिक, माँस पानेवाले को मांसिक केवल भात पानेवाले को ओदनिक तथा माँस और भात पानेवाले को मांसौदनिक कहते थे।

भोज्य पदार्थों के लिये भी पाणिनि की अष्टाध्यायी में बहुसंख्यक शब्द उपलब्ध होते हैं। भोजनोपयोगी पात्र अमत्र कहे जाते थे (४।२।१४), मिट्टी की तश्तरी या सकोरा (शराव) भी था ही। हलुआ खाने की भी प्रथा रही। नखम्पचा (३।२।३४) उसी के लिये प्रचलित था। मध्यमवर्ग यवागू (४।२।१३६ लप्सी) भी खाता था। इसी का दूसरा नाम उष्णिका (५।२।७१) था। गेहूँ अथवा जौ के आँटे में घी, दूध, और गुड़ डालकर संयाव (३।३।२३) बनाते थे। संभवतः आजकल हमलोग उसीको चूरमा कहते हैं। किसी भी अन्न के आँटे को पिष्ट (४।३।१४६) कहते थे। पिष्ट से पिष्टक (पूआ या मालपूआ ४।३।१४७) प्रस्तुत किया जाता था। गेहूँ अथवा जौ के आँटे की बाटी (कुल्माष ५।२।८३) भी बनाई जाती थी— चक्रपाणि ने चरक सूत्र स्थान (२७।२६०) में लिखा है कि यव-पिष्टम् उष्णोदकसिक्तम् ईषत्स्विन्नम् अपूपीकृतम् कुल्माषमाहुः। आज भी कुछ प्रांतों में कुल्माषी नाम का पर्व मनाया जाता है। इसीको कहीं कहीं बटकिनी पर्व कहते हैं। काशी प्रांत में यह लोटा-भंटा के नाम से मार्गशीर्ष में मनाया जाता है। अन्य प्रांतों में कार्तिक अथवा चैत्र में। रुग्ण अथवा शक्तिहीन व्यक्ति को निस्तुष जौ अथवा गेहूँ को कुचलकर जल अथवा दूध में पकाकर नमक या शक्कर डालकर यवक (दलिया ५।४।९) बनाकर खिलाया जाता था। माँस दो प्रकार से पकाया जाता था। कड़ाही में पके माँस को उख्य तथा काँटपर पके माँस को शूल्य (कबाब), (४।२।१७) कहते थे। धान के लावे को गुड़ में पागकर गुड़धान (२।१।३४) बना लिया जाता था। ये सब पदार्थ भ्राष्ट्र (चूल्हा या भट्टी) पर प्रस्तुत किए जाते थे।

यदि प्राचीन भारत की मातृभाषा संस्कृत न होती तो बच्चे "उद्दालकपुष्पभञ्जिका" में लिसोड़े का फूल तोड़ा या कुचला जाता है, कैसे समझते। दूसरे खेल "वीरणपुष्पप्रचायिका" में गाँडर के फूल कैसे इकट्ठे किए जाते। "जीवपुत्रप्रचायिका" में जीआपूता (इंगुदी) के फल को कोई बच्चा कैसे समझ सकता। गिल्ली दंडा के लिये दांडा तथा गणेश थोपी के लिय मौष्टा (४।२।५७) शब्द प्रचलित थे।

पतंजलि के समय प्राकृत, पाली आदि भाषाओं का प्रादुर्भाव हो चला था फिर भी संस्कृत बोलचाल की भाषा बनी रही। पाणिनि के अजेर्व्यघञपोः (२।४।५६) के भाष्य में पतंजलि ने एक वैयाकरण तथा कोचवान के वार्तालाप का उल्लेख किया है। किसी वैयाकरण ने रथ देखकर पूछा कि इस रथ का प्रवेता (कोचवान) कौन है। कोचवान ने उत्तर दिया कि भगवन् इस रथ का प्राजिता (कोचवान) मैं ही हूँ। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि पाणिनि के व्याकरण के अनुसार कोचवान के लिये प्रवेता का प्रयोग समीचीन है, परंतु बोलचाल में प्राजिता का पर्याप्त प्रचलन था। कोचवान के उत्तर-वाक्य में प्रयुक्त प्राजिता को देखकर वैयाकरण ने कहा कि यह अप-शब्द है, इसपर कोचवान ने उत्तर दिया कि महाराज, आप व्याकरण के सूत्र की प्राप्ति पर ध्यान दे रहे हैं, बोलचाल में यह शब्द प्रयुक्त होता है अथवा नहीं, इस पर नहीं। कोचवान की पांडित्य-पूर्ण उक्ति से अप्रसन्न होकर वैयाकरण गालीगलौज पर उतारू हो गया। उसने कहा कि इस दुरुत (दुष्टसूत) से मुझको बड़ा कष्ट हुआ। फिर भी चूक गए। कोचवान ने कहा कि भगवन् यदि आप-का अभिप्राय मुझको दुष्टसूत कहने का हो तो दुःसूत (बुरा कोचवान) कहिए दुरुत नहीं। बोलचाल में यह प्रचलित नहीं है। इस प्रत्युत्तर से अवाक् होकर वैयाकरण चला गया।

एओङ्, एऔच् (१।१।३,४) के भाष्य में भाष्यकार ने एक प्रसंग में प्रश्न किया है कि सात्य-मुग्रिराणायनीय लोग ह्रस्व एकार तथा ओकार का उच्चारण करते हैं। इससे विदित होता है कि एकार तथा ओकार ह्रस्व भी होते हैं। इसका समाधान भी उन्होंने ही किया है कि आदरणीय सात्यमुग्रिराणायनीय संगीत में ह्रस्व एकार तथा ओकार का उच्चारण करते हैं। वास्तव में ह्रस्व एकार तथा ओकार का प्रयोग न तो लोक में (लौकिक संस्कृत में, अर्थात् बोलचाल की संस्कृत में और न किसी वेद में ही उपलब्ध होता है।

व्याकरण-शास्त्र-रचना के आवश्यकता-निरूपण-प्रकरण में उन्होंने ही लिखा है कि कंबोज देश (हिंदुकुश के उत्तर बदख्शा से पामीरतक का गल्चाभाषी प्रदेश) में शव् धातु गत्यर्थ में बोला जाता है आर्य लोग इसका प्रयोग विकार अर्थ (मरना शव-मृतक शरीर) में करते हैं। इसी प्रकार गति के अर्थ में सुराष्ट्र देश (गुजरात काठियावाड़) में हम्म् धातु, प्राच्य भारत के मध्यदेश में रंह् धातु तथा आर्यों में गम् धातु प्रयुक्त होता है। हँसिया के लिये प्राच्य भारत में दाति तथा उदीच्य भारत में दात्र का प्रयोग किया जाता है। क्या उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि किसी समय समस्त भारत में बोलचाल तथा व्यवहार्य भाषा संस्कृत ही थी।

———

साहित्य की सामाजिकता

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

रस-प्रक्रिया में 'सामाजिक' शब्द का प्रयोग बारंबार हुआ है। अभिनव गुप्त 'नाट्यशास्त्र' की टीका में लिखते हैं—

यो मूलबीजस्थानीयात् कविगतो रसः। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। ततो वृत्तस्थानीयं काव्यम्। तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः। तत्र फलस्थानीय सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।

—अभिनवभारती, पृष्ठ २९५।

दशरूपकार धनंजय लिखते हैं—

भावाननुभावयन्तः सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः।

—दशरूपक, ४—३।

अन्यत्र, नाट्यशास्त्र ही नहीं काव्यशास्त्र के आचार्य भी कहते हैं—

स्थायिव्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकजनः अनुभवन् अनुभाव्यते साक्षात्कार्यंते यैः ते अनुभावाः।

—काव्यानुशासन, २

सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात्। न च तज्ज्ञानमेव चमत्कारहेतुः।

—काव्यप्रदीप।

लक्षण-ग्रंथों में ही नहीं, लक्ष्य-ग्रंथों में भी इसकी चर्चा है—

तेन हि तत्प्रयोगादेवात्रभवतः सामाजिकानुपास्महे।

—मालतीमाधव १ इत्यादि।

संप्रति रस-प्रक्रिया की आधुनिक मीमांसा होने लगी है, पर 'सामाजिक' की ओर किसी की दृष्टि नहीं गई, समाजवादियों की भी नहीं। अच्छा तो 'सामाजिक' कौन! रस का आस्वाद लेने-वाला। ऊपर अभिनव गुप्तपादाचार्य ने 'रसमयं विश्वम्' कहते हुए फल-रूप में रस का आस्वाद लेने-

वाले को 'सामाजिक' नाम से अभिहित किया है। यही क्यों! उन्होंने 'कविर्हि सामाजिकतुल्य एव' कहकर कवि और सामाजिक की भी एकवाक्यता कर दी है, उन्हें समानधर्मा कह दिया है। कवि में 'रस' बीज-रूप में रहता है, सामाजिक के पास वह फलवत् आता है। रस की सफलता सामाजिक के कारण है, यह भी कहा जा सकता है। रस सफल होता है सामाजिक के निकट। रस-प्रक्रिया को आचार्यपाद ने सर्वत्र व्याप्त तो कह दिया, पर उसकी परिपूर्णता सामाजिक में ही होती है। उसके विकास या परिपाक का चरम अधिष्ठान सामाजिक का हृदय है। अस्तु। यह 'सामाजिक' पद बना कैसे ? 'समाज' ही से न? 'समाज' क्या है। अमरकोश कहता है—

> वृन्दभेदाः समैर्वर्गः संघसार्थौ तु जन्तुभिः।
> सजातीयैः कुलं यूथं तिरश्चां पुंनपुंसकम्॥
> पशूनां समजः अन्येषां समाजः अथ सधर्मिणाम्।
> स्यान्निकायः ....॥

जंतुओं के वृंद का नाम संघ-सार्थ, तिर्यक्वृंद का नाम यूथ, पशुओं का समाज और अन्यों का समाज होता है। अन्यों में मनुष्य आदि हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य का समूह 'समाज' कहलाता है। इस समूह का ही, इस समाज का ही अंग 'सामाजिक' है। रस का आस्वाद लेनेवाला, समाज का प्राणी सामाजिक है। जो समाज का न होगा वह सामाजिक नहीं हो सकता। समाज की भावना से जो ओतप्रोत न हो, वह सामाजिक कैसा।

इस सामाजिक के लिये ग्रंथों में एक शब्द और आता है—सहृदय।

> इत्युपदेशं कवेः सहृदयस्य च करोति।
>
> —काव्यप्रकाश, १
>
> परिष्कुर्वन्त्यन्ये सहृदयधुरीणाः कतिपये।
>
> —रसगंगाधर।
>
> इत्यादिकाव्येषु सहृदयहृदयमागरममुचलद्राकामृगाङ्कप्रतिबिम्बेषु।
>
> —अभिनवभारती, पृ० २२३, आदि आदि।

अच्छा तो यह 'सहृदय' कौन है? श्रीभानुजी दीक्षित लिखते हैं—

'सहृदयः सह हृदयेन।' जो हृदय के साथ हो। हृदय तो प्राणिमात्र में होता है अतः वे फिर लिखते हैं 'प्राणिमात्रस्य तथात्वादत्र प्रशस्तहृदयपरत्वं हृदयशब्दस्य'। 'सहृदय' शब्द की व्याख्या में यह प्राशस्त्य या तो कामचलाऊ है अथवा प्राशस्त्य का अर्थ समानहृदयता से है। 'प्रशस्तहृदयपरत्व' के बदले 'समानहृदयत्व' क्यों न माना जाय और 'प्रशस्तहृदयमस्य' के बदले 'समानं हृदयमस्य' कहा जाय। सहृदय वही न होगा जो कवि के हृदय से अपना हृदय मिला ले! जो आश्रय के हृदय से अपना हृदय मिला सके। जो अपने हृदय को दूसरे के हृदय से मिला सके। उसके हृदय की समानुभूति कर सके। समानुभूति के बिना सहृदयता किस काम की? इस प्रकार रस का आस्वाद लेनेवाले, फल चखनेवाले के दो नाम हुए—सामाजिक और सहृदय। समाज की भावना के अनुरूप आस्वाद

लेनेवाला। दूसरे के हृदय में अपना हृदय डालकर समानुभूति करनेवाला। एक नाम बाह्यविषयत्व के कारण है, दूसरा आभ्यंतरिक गुण के कारण। दोनों की विशेषताएँ दो भिन्न दृष्टियों से हैं और दोनों के अर्थ एक दूसरे के पूरक हैं। 'सामाजिक' को 'सहृदय' होना चाहिए और 'सहृदय' को 'सामाजिक' होना चाहिए। कहाँ? रसचर्वणा में। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाजगत भावना का तथा हृदयगत भावना का ग्राहक ही सहृदय-सामाजिक है। इसको विश्लिष्ट करके यों भी कह सकते हैं कि यदि काव्य में समाजगत अनुभूति की अभिव्यक्ति न हो, सर्वसामान्य अनुभूति की व्यंजना न हो तो सामाजिक के लिये वह अग्राह्य हो सकती है, उद्वेगजनक चाहे न हो। 'अग्राह्य' कहने में भी बाधा हो तो कह सकते हैं कि पूर्णतया ग्राह्य नहीं हो सकती। व्यक्तिगत अनुभूति सामाजिक के आस्वाद में विघ्न नहीं तो अपरिपूर्णता तो ला ही सकती है। काव्य में कुछ ऐसे प्रसंग भी आया करते हैं जिन्हें 'रसाभास' कहा गया है। यह रसाभास और कुछ नहीं है, जहाँ सामाजिक अनुभूति के विपरीत या अननुकूल वैयक्तिक अनुभूति काव्य में आ जाती है वहाँ रसाभास हो जाता है। जैसे समाज की मर्यादा के अनुसार किसी का पिता या गुरु आदर का भाजन होता है। यदि कहीं पिता या गुरु के प्रति अनादरव्यंजक आचरण हो तो वह रसाभास का हेतु होगा। यदि कोई पुत्र अपने पिता को पीट रहा हो और कवि इसका वर्णन करके पुत्र के क्रोध से रौद्र रस की व्यंजना कराना चाहे तो उसे सफलता न होगी। यहाँ रौद्र रस न होगा, उसका 'आभास' हो सकता है। इस बाधा का कारण क्या है? यही न कि पिता के प्रति पुत्र का क्रोध उचित नहीं है! क्रोध के औचित्य में हेतु क्या है? समाज की मर्यादा। 'समाज' ही वस्तुतः रस-विधान का, उसके औचित्य का साधक है। रस-भंग का कारण अनौचित्य होता है, असामाजिकता होती है। इसीसे सामाजिक रस का पूर्ण या ठीक अनुभव नहीं कर पाता। तो यह क्यों न कहा जाय कि रस-प्रक्रिया में सामाजिकता ही प्रमुख है। 'औचित्यविचार' का दूसरा नाम 'सामाजिकता-विचार' है। केवल किसी की चित्तवृत्ति का प्रतिपादन ही काव्य नहीं है, वस्तुतः काव्य में सामाजिकता-विधायक निर्माण अपेक्षित है। यदि यह न माना जायगा तो सभी वक्ता कवि हो जायंगे। अभिनवगुप्त पादाचार्य कहते हैं—

न तु सर्वो वक्ता कविरित्यतिप्रसंगलक्ष्यमाणप्रबन्धबन्धुरं काव्यनिर्मातृत्वं हि कवित्वं, न चित्तवृत्तिप्रतिपादकत्वम्।

—अभिनवभारती, २, पृ० २२।

औचित्यानौचित्य का सारा विचार उन्होंने सामाजिकता की ही दृष्टि से किया है। रीति-बद्ध कविता रचनेवाले कितने ही कृतियों ने औचित्य का विचार किए बिना ही अलंकारों की योजना कर दी है। यदि कोई करुण प्रसंग में यमक की कारीगरी दिखाने बैठे तो क्या कहा जायगा? यही न कि कविजी सामाजिकता से कोसों दूर हैं! 'यम' के प्रसंग में 'यमक' न लाना ही बुद्धिमानी है; यथार्थ से, सामाजिक व्यवहार से, इसका मेल नहीं। इसी से अभिनवगुप्त जी कहते हैं—

अनौचित्यनिबन्धस्तु करुणविप्रलम्भादौ यमकस्य।

—अभिनवभारती, २, २९९।

कोई अद्यतन समाजसेवी यदि कहे—'माना कि रस में सामाजिकता है, पर संप्रति समाज-सेवा का जो उदात्त भाव चारो ओर फैला है, क्या उसकी भी समाई रस-प्रक्रिया में है? शृंगारादि

के साथ शांत की चर्चा कर के जगद्विरागविषयक शांत की स्थापना तो रसाचार्यों ने कर दी, पर इस उदात्त सामाजिकता, राष्ट्रीयता आदि का भी कोई विचार हुआ या हो सकता है?' तो उसे भी निराश न होना चाहिए। महामहिम आचार्यों ने उसकी भी चर्चा की है। रसतरंगिणीकार भानुदत्त बड़े ही तार्किक और स्वच्छदृष्टि-संपन्न रसविमर्शक हो गए हैं। उन्होंने शांत की प्रतिद्वंद्विता में एक रस की विलक्षण कल्पना की है, उसमें अद्यतन सामाजिक व्यवहार की पूरी समाई हो सकती है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार निवृत्तिमूलक शांतरस होता है उसी प्रकार प्रवृत्तिमूलक रस भी हो सकता है—

चित्तवृत्तिर्द्वेधा प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रति भाति। एकत्र रसोत्पत्तिरपरत्र न इति वक्तुमशक्यत्वात्।

यदि कोई कहे कि अन्य रसों में ही इसका अंतर्भाव क्यों नहीं कर देते, तो उसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं—

न च स रतिरेव। तर्हि स कस्यास्तु व्यभिचारी।
न शृंगारस्य। तद्वैरिणो बीभत्सस्यापि।

न हास्यस्य। तद्वैरिणः करुणस्यापि तत्र सत्वात्। अतएव न करुण स्यापि। न भयानकस्यापि रौद्रस्य। तद्वैरिणोऽद्भुतस्यापि तत्र सत्वात्। अतएव नाद्भुतस्यापि। न वीरस्य। तद्वैरिणो तत्र सत्वात्। अतएव न भयानकस्यापि। नापि शान्तस्य तद्विरोधित्वात्।

यदि यह कहा जाय कि रस सामान्य नाम है, शृंगार आदि उसके विशेष रूप हैं। तो वे कहते हैं कि यह भी ठीक नहीं—

न च सामान्य एव रसस्तद्विशेषा इतरे भवन्तीति। शान्तरसस्य तर्हि रसाभासत्वापत्तेः। किंतु विकृत एव। रतिहासशोकक्रोधोत्साह भयजुगुप्साविस्मयास्तत्रोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च। तेन तत्र ते व्यभिचारिभावा इति।

मायारस का पेटा बहुत बड़ा है, शृंगारादि रसों के स्थायीभाव उसमें संचारी का काम करते हैं। वस्तुतः शृंगारादि अन्य रसों में विभावादि व्यक्तिरूप में रहते हैं। आश्रय का आलंबन व्यक्ति बद्ध भूमिपर स्थिर रहता है, पर माया रस में सारा समाज आलंबन हो जाता है, अतः उसकी परिसीमा बृहत् है। इसके अन्य अंगों का भी उन्होंने उल्लेख किया है—

लक्षणं च प्रबुद्धमिथ्याज्ञानवासना मायारस इति। मिथ्याज्ञानमस्य स्थायिभावः। विभावाः सांसारिकभोगार्जक धर्माधर्माः। अनुभावाः पुत्र कलत्रविजयसाम्राज्यादयः।

इसमें 'विजयसाम्राज्यादयः' विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे 'मायारस' की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। संप्रति दल, संप्रदायादि के रूप में जो समाज-सेवापर लोकसंघ चल रहे हैं वे 'मायारस' की सीमा के भीतर आते हैं। आधुनिक समाज-सेवियों को इसमें दो बातें अच्छी न लगेंगी। एक तो इस रस को 'माया' कहना तथा इसके 'स्थायिभाव' को मिथ्याज्ञान मानना। यह नाम किसी को न

रचे तो वह रस का नाम 'समाज-रस' रख ले। स्थायी भाव 'लोकज्ञान' कह ले। समझना तो यह है कि पुराने आचार्यों ने समाज और लोक-भावनात्मक अनुभूति को भी रस की सीमातक आनेवाला माना है, उसकी महत्ता, उसकी व्याप्ति स्वीकार की है।

शृंगारादि रसों का आस्वाद लेनेवाला 'सामाजिक' ही था, साथ ही सामाजिक प्रवृत्ति की अनुभूति भी रसात्मक मानी गई। प्रगतिवादी-बंधु आलोचना के क्षेत्र में चाहें तो 'समाज-रस' की घोषणा करके नूतन आलोचना को रस की पुरानी दृष्टि से भी पोषित कर सकते हैं। भारतीय आचार्यों की परंपरा नवीनोद्भावना, नवीन स्थापना में साहसपूर्वक अग्रसर होती रही है। उसमें सांप्रतिक समाजोन्मुखी वृत्ति के बीज आरंभ से ही थे। जनता की दृष्टि से ही साहित्य की अवतारणा हुई। साहित्य-साधना रूढ़ि से बँधकर चलनेवाली न थी। उसे बाँध दिया कुछ रूढ़िप्रेमियों ने। स्वच्छंदता का मार्ग किस प्रकार साहित्य ने पकड़ा या आधुनिक शब्दावली में कहें तो कह सकते हैं कि 'कैसी क्रांति की' इसका संकेत भरत मुनि के नाट्य-वेद की उद्भावना से ही मिल जाता है—

न वेदव्यवहारोऽयं श्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्यात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥

'शूद्रजातिषु' का पक्ष लेकर साहित्य-सर्जना की गई, पर 'सार्ववर्णिक'। साहित्य एकांगदर्शी नहीं माना गया। भारत रूढ़ियों का त्याग सामाजिक-सार्वभौम दृष्टि से निरंतर करता आया, अन्यत्र चाहे जो हो साहित्य न वर्गभेद मानता है, न स्त्रीपुंनपुंसकादि का लिंग-भेद, जहाँ तक उसकी रस-प्रक्रिया का संबंध है; क्योंकि वह सामाजिकता के साधारणीकरण के साम्यभाव पर टिकी है। जो अपने अज्ञान, अशक्ति, आलस्य, स्वार्थ आदि से उसका आलोड़न-मंथन करना ही त्याग दें उनकी 'प्रगति' 'सद्गति' नहीं कही जा सकती। 'नवनव' की पुकार बहुत मच रही है, पर 'प्राचीन' में क्या 'नव' है इसे देखने का साहस भी कोई नहीं करता।

यहाँ एक बात और कह देनी है। साहित्य की सामाजिकता की व्याप्ति कुछ अधिक दूर तक है। समाज में रहनेवाले मानववृंद तक ही नहीं, वह पशुओं के 'समाज' और 'पक्षियों' के 'यूथ' तक जाती है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि का 'शोक' 'श्लोकत्व' में परिणत हुआ क्यों? क्रौंच-वध से। जो अपने 'मद' में केवल व्याध और वाल्मीकि को देख पाते हैं, और अपने अज्ञान से व्याध तथा वाल्मीकि को विभिन्न वर्गों का प्रतीक कह बैठते हैं उन्हें ऐतिह्य का मनन करना चाहिए। वाल्मीकि भी पहले व्याध ही थे। उन्होंने शूद्रक-वध के पूर्व रावण-वध भी कराया था। क्यों? सामाजिकता की साधना के लिये। सीता-त्याग भी इसीलिये। भवभूति का 'आराधनाय लोकस्य' का स्मरण कर लीजिए। वह सामाजिकता किसी को आदर्श न जान पड़े, यह दूसरी बात है। पर हुआ सब सामाजिकता की ही दृष्टि से। 'स्व' के स्थान पर 'पर' का विशेष ध्यान रखनेवाली सामाजिकता की नीति से।

निष्कर्ष यह कि जो रस-प्रक्रिया को आत्मपर्यवसायी मानते हैं उन्हें उसकी विश्वविषयता या सामाजिकता का ध्यान करना चाहिए। जो कहते हैं कि प्राचीन रस-प्रक्रिया समाज के काम की नहीं उन्हें उसको समझने का अभ्यास डालना चाहिए। साहित्य में 'बाल-वचन' नहीं, 'बुध वचन' साधना

कवि-कोटियाँ

भगीरथ मिश्र

भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत काव्यात्मा की खोज से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है और काव्य के विविध रूपों पर भी विचार किया गया है; किंतु कवि-कोटियों पर प्रकाश डालनेवाले ग्रंथों की संख्या अधिक नहीं है। इस संबंध में निश्चित एवं तथ्यपूर्ण विवरण देनेवाले प्रमुखतया दो ही ग्रंथ हैं—राजशेखर-कृत काव्य-मीमांसा और क्षेमेन्द्र कृत कवि-कंठाभरण। कविशिक्षा और सिद्धांतोंपर विवेचना करनेवाले अनेक ग्रंथों, जैसे नाट्यशास्त्र, काव्यालंकार, काव्यादर्श वक्रोक्तिजीवितम्, ध्वन्यालोक, अलंकार-शेखर, काव्य-कल्प-लता वृत्ति, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रस-गंगाधर आदि में इस विषय पर कोई महत्वपूर्ण उल्लेख नहीं। हिंदी में लिखे गए काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में भी कोई उल्लेखनीय सामग्री उपलब्ध नहीं। महत्वपूर्ण ग्रंथों में कवि-कोटियों अर्थात् कवियों के वर्गों, जातियों और प्रकारों पर कोई उल्लेख न होने का एक कारण तो इस प्रकार के वर्गीकरण के आधार की विवादग्रस्तता हो सकती है। एक व्यक्ति यदि किसी एक आधार पर एक प्रकार के कवि को उत्कृष्ट ठहराता है तो दूसरा व्यक्ति दूसरे आधारपर दूसरे प्रकार के कवि को। इस प्रकार प्रत्येक के निर्णय में अंतर हो सकता है।

दूसरा कारण यह भी है कि काव्य की कोटियों के निर्धारण में तो सरलता है, क्योंकि कोई व्यक्तिगत आक्षेप का अवसर नहीं किंतु कवि-कोटियों पर अधिक विचार एवं उनका अधिक प्रचार होने से कवि के प्रति कुछ असंमान का भाव भी जाग्रत हो सकता है। तीसरा कारण यह भी जान पड़ता है कि कवि-कोटियों को निश्चित करने या प्रामाणिक माननेवाले भावक या आलोचक यदि कवित्वशक्ति की उत्कृष्टता से संपन्न न हुए, तो स्वयं अपनी ही कसौटी पर कसे जाकर संमान के भाजन नहीं हो सकते। अतः इस प्रकार का प्रयत्न अधिक श्रेयस्कर नहीं समझा गया। इसके अतिरिक्त चौथा कारण यह भी जान पड़ता है कि यह विषय अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझा गया और काव्य की कोटियों पर प्रकाश डाल देने पर अवांतर रूप से कवि-कोटियों पर भी प्रकाश पड़ ही जाता है। अतः लोगों का अधिक ध्यान इस विषय पर नहीं गया। परंपरागत काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में प्रमुख समस्या दूसरी होने के कारण, परवर्ती आचार्यों ने इस प्रसंग को नए सिरे से अपने ग्रंथों में जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। अतः यह उन ग्रंथों के सामान्य विवेचन का विषय न बन सका।

कारण कुछ भी हो; किंतु पक्षपातहीन एवं निष्पक्ष दृष्टि से कवि-कोटि-निर्धारण काव्य और कवि—दोनों की ही उत्कृष्टता-वृद्धि में सहायक अवश्य हो सकता है। इसी विश्वास को लेकर इस विषय पर कुछ सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयत्न इन पंक्तियों में किया गया है। इस विषयपर सब से महत्वपूर्ण प्रकाश राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' में डाला गया है। राजशेखर ने अनेक प्रसंगों में कवि-कोटियों का निर्देश किया है और विभिन्न आधारों पर उनका निर्धारण किया है।

कवि का उपकार करनेवाली कारयित्री या रचनात्मक प्रतिभा तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। इसीके आधार पर कवियों की तीन कोटियाँ निश्चित की जा सकती हैं—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक[1]।

सारस्वत—कोटि में वे कवि आते हैं जिनकी कवित्वशक्ति सहजा प्रतिभा के द्वारा पूर्वजन्म के संस्कारवश कविकर्म में प्रवृत्त होती है।

आभ्यासिक—कोटि के कवि वे हैं जिनकी कवित्वशक्ति आहार्य बुद्धि के द्वारा इसी जन्म के अभ्यास से जाग्रत होती है।

औपदेशिक—कोटि में वे कवि हैं जिनकी काव्यरचना उपदेश के सहारे होती है।

काव्य-सेवन के आधार पर भावक या समालोचक के चार भेद माने गए हैं—अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्वाभिनिवेशी[2]। ये भेद वास्तव में आलोचक के ही माने जाने चाहिए; किंतु कुछ लोगों ने कवि के भी यही भेद माने हैं। इनमें **अरोचकी** वह है जिसे अन्य किसी का काव्य अच्छा नहीं लगता। **सतृणाभ्यवहारी** वह है जो समस्त कविता कही जानेवाली छंदोबद्ध रचना को पढ़ता है। **मत्सरी**—वह है जो दूसरों के उत्तम काव्य को भी न पढ़ता है और न सुनकर प्रशंसा करता है, केवल दोषों को देखता है। और **तत्वाभिनिवेशी** वह है जो काव्य के तत्व में प्रवेशकर उसे पहिचान लेता है और उसे ही ग्रहण करता है। सूक्ष्मतया यदि हम विचार करें तो ये भेद वास्तव में, आलोचक के ही हो सकते हैं, क्योंकि कविप्रतिभा का इससे संबंध नहीं। इनका संबंध भावयित्री प्रतिभा से विशेष है, कारयित्री से नहीं।

केवल प्रतिभा के आधार पर किए गए वर्गीकरण में उत्तरोत्तर निम्न श्रेणी के वर्ग आए हैं और इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सारस्वत उत्तम कवि हैं, आभ्यासिक मध्यम कवि और औपदेशिक अधम। किंतु इसके उपरांत प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही को आधार मानकर जो वर्गीकरण किया गया है उसमें इसप्रकार ऊँचाई-निचाई के संबंध में मतभेद है। राजशेखर ने इस आधारपर तीन भेद किए हैं—शास्त्र-कवि, काव्य-कवि और उभय-कवि। श्यामदेव के विचार से ये उत्तरोत्तर एक दूसरे से बढ़कर हैं। किंतु राजशेखर का मत भिन्न है। उनकी दृष्टि से प्रत्येक अपने-

---

१. काव्यमीमांसा, चतु० अध्याय, पृ० १३।

२. "ते च द्विधाऽरोचकिनः, सतृणाभ्यवहारिणश्च।" इति मंगलः। "कवयोऽपि भवन्ति" इति वामनीयाः चतुर्थ इति यायावरीयः मत्सरिणस्तत्त्वाभिनिवेशिनश्च।—काव्य मीमांसा, चतु, पृ० १४।

अपने विषय में महत्वपूर्ण है और कोई किसी से घट बढ़कर नहीं। काव्य कवि में कवित्व-अधिक रहता है। अध्ययन और ज्ञान उतना नहीं; शास्त्रकवि में अध्ययन और ज्ञान अधिक रहता है किंतु उसमें रस और भाव की संपत्ति अधिक नहीं रहती और उभय-कवि में दोनों ही बातों का समान महत्व रहता है। यद्यपि राजशेखर का मत भिन्न है; किंतु जब हम कवित्व की दृष्टि से विचार करते हैं, तो वास्तव में सर्वोत्तम कवि उभयकवि है और शास्त्रकवि इन सब में निम्नतम।

राजशेखर की दृष्टि से शास्त्र-कवि तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम जो शास्त्र का निर्माण करता है; द्वितीय जो शास्त्र में काव्य का सन्निवेश करता है और तृतीय जो काव्य में शास्त्रीय अर्थ या शास्त्र के तत्वों को समाविष्ट करता है। इनमें कौन किससे बढ़कर या घटकर है इस संबंध में काव्यमीमांसा के लेखक ने अपना कोई मत प्रकट नहीं किया। किंतु काव्य की कसौटीपर कसने से द्वितीय ही सर्वोत्तम समझा जाना चाहिए; क्योंकि कवि-कर्म का सब से अधिक संबंध उसीसे है। कुछ के मत से तृतीय ही सर्वश्रेष्ठ हो सकता है। वास्तव में इन कोटियों के संबंध में उत्कृष्टता-संबंधी निर्णय देना प्रत्यक्ष काव्य पर ही निर्भर करता है।

काव्य-कवि के प्रभेद काव्य-मीमांसा में आठ कहे गए हैं---रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ-कवि, अलंकार-कवि, उक्ति-कवि, रस-कवि, मार्ग-कवि और शास्त्रार्थ-कवि। ये भेद काव्य की आत्मा या तत्व के आधार पर किए गए हैं। संस्कृत साहित्य में काव्य की आत्मा की खोज में विभिन्न तत्वों के आधार पर अनेक काव्य-सिद्धांत प्रचलित हुए। कुछ विद्वानों ने अलंकार को ही काव्य में सब कुछ माना, जिसके आधार पर **अलंकार**-सिद्धांत चला। **अलंकार-कवि** ऐसे कवि को कहा जाता है जिसकी रचना में अलंकार की ही प्रधानता होती है। इसीप्रकार 'वक्रोक्ति' या उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य में सबकुछ माननेवालों का वक्रोक्ति-सिद्धांत बना। इसीके आधारपर जिसकी रचना में उक्ति चमत्कार ही प्रधान हो उसे **उक्ति-कवि** कहना चाहिए। इसी भाँति रस सिद्धांत के आधार पर रस की अभिव्यक्ति जिसके काव्य में प्रधानतया होती है उसे **रस-कवि** कहा गया। रीति-सिद्धांत के अनुसार रीति, मार्ग या शैली ही काव्य की आत्मा है। अतः इस सिद्धांत के अनुसार जिस कवि की रचना में रीति, मार्ग या शैली की विशेषता हो उसे **'मार्ग-कवि'** कहना चाहिए। ऐसा जान पड़ता है कि राजशेखर के समय तक 'ध्वनि' और 'औचित्य' के सिद्धांत प्रचलित नहीं थे। इसीसे उन्होंने ध्वनि और औचित्य के आधारपर कवियों के नामकरण नहीं किए।

शास्त्रार्थ-कवि वह है जो अपनी रचना में बड़ी सरलतापूर्वक शास्त्र के तत्व का निरूपण करता है। **रचना-कवि** वह है जिसके काव्य में, वाक्य, शब्द या वर्ण के संगुंफदन का चमत्कार हो। **अर्थ-कवि** के काव्य में अर्थ का चमत्कार प्रधानरूप से पाया जाता है और **शब्द-कवि** में शब्द का। शब्द-कवि के राजशेखर ने तीन प्रभेद किए हैं---नाम-कवि, आख्यात-कवि, और नामाख्यात-कवि। **नाम-कवि** वे हैं जिनकी रचना में नाम अर्थात् संज्ञा शब्दों की प्रधानता रहती है। **आख्यात-कवि** की रचना में क्रिया शब्दों की प्रधानता और चमत्कार रहता है और **नामाख्यात-कवि** की रचना में दोनों ही प्रकार के शब्दों का। यहाँपर यदि हम ध्यान से देखें, तो शब्द-कवि के सभी प्रभेद, रचना-कवि के अंतर्गत आ सकते हैं और रचना-कवि स्वयं मार्ग-कवि का एक प्रभेद हो सकता है। इस प्रकार से मुख्यतः छः भेद ही रह जाते हैं। उनमें यदि **ध्वनि-कवि** और **औचित्य-कवि** नाम के दो भेदों को

और जोड़ दिया जाय, तब आठ भेद आज भी माने जा सकते हैं। इस वर्गीकरण के आधार काव्य-सिद्धांत हैं। राजशेखर के मत से उपर्युक्त कवियों के दो-तीन गुण, जिन कवियों की रचना में पाए जाते हैं, वे साधारण हैं, जिनमें पाँच-छः गुण पाए जाते हों, वे मध्यम और जिसकी रचना उपर्युक्त सर्वगुण-संपन्न हो, उसे महाकवि कहना चाहिए।

पूर्वोक्त, प्रतिभा के आधारपर किए गए सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक कवियों में राजशेखर ने दश अवस्थाएँ मानी हैं, उनमें प्रथम दो अर्थात् सारस्वत और आभ्यासिक में सात और औपदेशिक में तीन अवस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओं के अनुसार कवि निम्नलिखित हैं—

१. काव्य-विद्यास्नातक—वह है जो काव्य करने की इच्छा से काव्य की विद्या और अविद्याओं को ग्रहण करने के लिए गुरुकुल में रहता है।

२. हृदय-कवि—वह है जो हृदय में ही कविता करता है, उसे किसी पर प्रकट नहीं करता।

३. अन्यायदेशी-कवि—वह है जो दोषभय के कारण अपनी रचना को दूसरे की कहकर व्यक्त करता है।

४. सेविता—वह है जो काव्य का अभ्यास हो जानेपर किसी प्रचीन उत्तम कवि की छाया के रूप में कविता करता है।

५. घटमान—जो निर्दोष, भावपूर्ण किंतु प्रबंधहीन मुक्तक रचनाएँ करता है, वह घटमान है।

६. महाकवि—वह है जो किसी भी प्रकार की प्रबंध-रचना कर सकता है।

७. कविराज—वह है जो अनेक भाषाओं में अनेक रसों में विविध प्रबंधों की रचना कर सकता है। संसार में ऐसे कवि विरले ही होते हैं।[1]

८. आवेशिक—कवि वह है जो मंत्रादि के बल से काव्य करने की सिद्धि प्राप्तकर आवेश की अवस्था में ही कविता कर सकता है।

९. अविच्छेदी—वह है जो किसी प्रतिबंध के विना, जब इच्छा हो तभी कविता कर सकता है।

१०. संक्रामयिता—वह सिद्धमंत्र कवि है जो अपने मंत्रबल से कुमार-कुमारियों में कवित्व-शक्ति का संचार कर सकता है।

उपर्युक्त अवस्थाओं से यह प्रकट है कि अभ्यास के द्वारा कवि एक अवस्था से दूसरी अवस्था प्राप्त कर सकता है। राजशेखर का भी मत है कि अभ्यास द्वारा सुकवि के वाक्य परिपक्व होते हैं।[2]

चार प्रकार के कवि कविता-काल के विचार से कहे गए हैं।[3] प्रथम असूर्यम्पश्य-कवि है, जो किसी गुफा के भीतर या घर में बैठकर निष्ठापूर्वक काव्य रचना करता है। उसका कविता-

१. यस्तु तत्र तत्र भाषा विशेषे, तेषु तेषु प्रबंधेषु तस्मिस्तस्मिश्च रसे स्वतंत्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपयं।—काव्य०, अ० ५, पृ० १९।

२. सततमभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति—का० मी०, अ० ५, पृ० २०।

३. काव्य० मी०, अ० १०, पृ० ५३।

प्रत्येक समय है। द्वितीय निषण्ण-कवि है जो काव्य-क्रिया के लिये बैठकर रचना करता है। इसमें उतनी निष्ठा नहीं होती। इसकी रचना के वे सभी काल हैं जिनमें वह दत्तचित्त है। तृतीय दत्तावसर-कवि है जो अपना अन्य सेवादि का कार्य समाप्त करके, समय प्राप्त होनेपर कविता करता है। इसके लिये ब्राह्म-मुहूर्त या सारस्वत मुहूर्त उत्तम काल है। चतुर्थ प्रायोजनिक कवि है जो किसी प्रयोजन को लेकर काव्य-रचना करता है। इसके लिए जब कोई ऐसा प्रयोजन प्रस्तुत होता है, वही कविता-काल है।

रचना की मौलिकता के आधारपर कवि के चार भेद हैं--उत्पादक, परिवर्तक, आच्छादक एवं संवर्गक। उत्पादक कवि अपनी नवीन उद्‌भावना के आधारपर मौलिक रचना प्रस्तुत करता है; परिवर्तक दूसरे कवियों की रचना में कुछ उलटफेर और परिवर्तन करके अपनी छाप डाल उसे अपनी रचना बना लेता है; आच्छादक कवि कुछ साधारण हेर-फेर से ही दूसरों की रचना छिपाकर अपनी कह प्रसिद्ध कर देता है और संवर्गक कवि प्रगट रूप से, खुल्लमखुल्ला दूसरे के काव्य को अपना कहकर प्रकाशित करता है। इन कवियों में वास्तव में उत्पादक को ही कवि मानना चाहिए; अन्य तो नकलची, चोर या डाकू हैं, कवि नहीं।

दूसरों की उक्ति हरण करनेवाले कवि चार[1] प्रकार के हैं। इनकी दशा अयस्कांत या चुंबक के समान है। ये कवि दूसरों का आधार तो लेते हैं, पर उनमें अपने गुणों का समावेश कर देते हैं। इन चारों के नाम हैं—भ्रामक, चुंबक, कर्षक और द्रावक।

भ्रामक-कवि—पुराणादि की अप्रसिद्ध अथवा दूसरों के द्वारा अदृष्ट वस्तुओं का वर्णन करके दूसरों को अपनी मौलिकता के भ्रम में डाल देता है।

चुंबक-कवि—वह है जो दूसरों के अर्थ को ग्रहण कर उसको, अपनी मनोहारी उक्तियों द्वारा अपना रंग प्रदान कर देता है।

कर्षक-कवि—वह है जो दूसरों के वाक्यों और अर्थों को उनकी रचना से खींचकर अपनी रचना में स्थान देता है।

द्रावक-कवि—वह है जिसकी रचना में उसके बिना जाने ही दूसरों के अर्थ आकर एक मनोहारी नवता ग्रहण करते हैं।

काव्य-मीमांसाकार ने इन चारों प्रकारों को लौकिक कहा है। इसके साथ ही उन्होंने अदृष्टचरार्थदर्शी 'चिंतामणि' नाम के अलौकिक कवि का भी वर्णन किया है। उनका कथन है—

चिन्ता समं यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः॥[2]

जिसमें एक साथ अर्थ, रस, चित्र आदि की विचित्र प्रभा रहती है जैसी पूर्ववर्ती निपुण कवियों में भी देखने को नहीं मिलती, वह चिंतामणि कवि है।

---

१. का० मी०, १२ अ०, पृ० ६४।
२. का० मी०, १२ अ०, पृ० ६५।

जिनके भाव नवीन हैं उनके विषय-वर्णन के आधार पर लौकिक, अलौकिक और मिश्र तीन भेद हैं। अर्थ-ग्रहण करनेवाले ऊपर वर्णित चार कवि-भेदों की भावापहरण करनेवाली आठ-आठ क्रियाएँ नीचे लिखी जाती हैं—

व्यस्तक—किसी अन्य कवि की उक्ति के पहले और पीछे आनेवाले क्रम को बदलकर ग्रहण करना व्यवस्तक है। किसी विस्तृत उक्ति के किसी एक खंड को ग्रहण कर लेना खंड है। किसी संक्षिप्त उक्ति को खूब बढ़ाकर ग्रहण करना तैलबिंदु कहा गया है। दूसरी भाषा की उक्ति को अपनी भाषा में ग्रहण करना नटनेपथ्य है। किसी काव्य के छंद को बदलकर उसे ग्रहण करना छंदोविनिमय है। किसी उक्ति के कारण को बदल देना हेतुव्यत्यय है। देखी हुई वस्तु को अपने स्थान से दूसरे स्थान में ले जाकर वर्णन करना संक्रांतक है। किसी की उक्ति से वाक्य और अर्थ दोनों ही का ग्रहण संपुट है। इस प्रकार का भावापहरण 'प्रतिबिंब-काव्य' कहा गया है। राजशेखर की दृष्टि से इस प्रकार का परोक्ति-हरण कवि को अकवि बना देता है, अतः इसका त्याग कर देना चाहिए।

राजशेखर ने दूसरे प्रकार के भावापहरण का भी वर्णन किया है जो 'आलेख्य प्रख्य' कहलाता है। यह मार्ग अनुचित नहीं है। इसके प्रकार ये हैं :—समक्रम—किसी उक्ति के समान रचना करना; विभूषण मोष—सालंकार उक्ति को अलंकाररहित बनाकर कहना; व्युत्क्रम—किसी की उक्ति के क्रम को बदल देना; विशेषोक्ति—पूर्ववर्ती सामान्य उक्ति को विशेष रूप में कहना; उत्तंस—गौण भाव से कही उक्ति को प्रधानता देना; नटनेपथ्य—उसी उक्ति को कुछ बदल कर ग्रहण करना; एक परिकार्य—पूर्ववर्ती उक्ति के कारण-भाग को ग्रहण करना किंतु कार्यभाग बदल देना; प्रत्यापत्ति—विकृत रूप से कहे भाग को स्वाभाविक बनाकर कहना। यह हुआ 'आलेख्य अख्य' रीति से भावापहरण। तीसरा 'तुल्यदेहितुल्य' मार्ग है जिसके भेद ये हैं :—

विषय परिवर्त—किसी विषय में विषयांतर का समावेश कर उस विषय को दूसरा रूप दे देना।

द्वंद्वविच्छित्ति—दो प्रकार से वर्णित विषय के एक प्रकार को ग्रहण कर लेना।

रत्नमाला—पूर्ववर्ती काव्य के अर्थों को दूसरे अर्थों में प्रयुक्त करना।

संख्योल्लेख—पूर्वोक्त संख्या को बदल देना।

चूलिका—विषम को सम और सम को विषम रूप में वर्णित करना। इसमें प्रथम संवादिनी और द्वितीय विसंवादिनी रीति कहजाती है।

विधानापहार—विधान को बदल देना अर्थात् निषेध को विधि रूप में कहना।

माणिक्यपुंज—बहुत से अर्थों को एक स्थानपर संगठित करना।

कंद—कंद रूप अर्थात् संहित अर्थ को कंदल (अंकुर) अर्थात् व्यवहित या व्यष्टिगत रूप में व्यक्त करना।

यह मार्ग राजशेखर की दृष्टि से ग्राह्य मार्ग है।

भावापहरण की एक अन्य 'परपुरप्रवेश' नामक रीति है, जिसके भेद निम्नलिखित हैं:—

हुडयुद्धम्—एक प्रकार से निहित अर्थ को युक्तिपूर्वक बदलकर दूसरे प्रकार का कर देना।

प्रतिकंचुक—दूसरे प्रसंग से एक प्रकार की वस्तु को दूसरे प्रकार से प्रगट करना।

वस्तु-संचार—एक उपमान को बदल कर दूसरे उपमान का प्रयोग करना।

धातुवाद—शब्दालंकार को अर्थालंकार में बदल देना।

सत्कार—किसी वस्तु के साधारण वर्णन को उत्कृष्ट रूप में वर्णन करना।

जीवंजीवक—पूर्ववर्ती सादृश्य को असादृश्य रूप में प्रगट करना।

भावमुद्रा—प्राचीन वाक्य के अभिप्राय को लेकर प्रबंध लिखना।

तद्विरोधी—प्राचीन उक्ति की विरोधी उक्ति कहना।

इस प्रकार काव्य-मीमांसा में, भावापहरण करनेवाले कवियों के विविध रूपों का वर्णन किया गया है। इनमें से अधिकांश जैसे तब थे वैसे अब भी हैं।

'कवि-कंठाभरण' में क्षेमेंद्र ने भावापहरण करनेवाले छः प्रकार के कवियों का वर्णन किया है—

छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी।
भवेदथप्राप्तकवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः॥

इनमें से छायोपजीवी कवि वह है जो दूसरे कवियों के काव्य की छायामात्र लेकर काव्य करता है। पदकोपजीवी—दूसरे के एकाध पद को लेकर अपनी रचना सजाता है, पादोपजीवी—छंद का एकाध चरण लेकर अपने छंद की पूर्ति करता है, सकलोपजीवी—समस्त रचना को ग्रहण कर अपनी कह देता है, प्राप्तकवित्वजीवी—कवि शिक्षा को प्राप्त करके कविता करता है और भुवनोपजीवी—अपने उन्मेष, आवेश या प्रतिभा के बलपर समस्त विश्व से अपने विषय को ग्रहण करता है। इनमें अंतिम दो तो वास्तव में कवि हैं, किंतु प्रथम चार तो पराश्रित मात्र हैं। क्षेमेंद्र ने इसके बाद कवि शिक्षापर ही विशेष रूप से अपने ग्रंथ 'कविकंठाभरण' में प्रकाश डाला है, किंतु कवि-कोटियों पर अधिक विवरण उपलब्ध नहीं। अन्य ग्रंथों में यद्यपि अधिक विवरण नहीं मिलता; पर राजशेखर-कृत काव्य-मीमांसा' में जो विस्तृत विवरण कवि-कोटियों का है, वह बड़ा ही पूर्ण है जिसके अंतर्गत लगभग सभी प्रकार के कवि आ जाते हैं।

ज्योतिरीश्वर कवि शेखराचार्य ने अपने ग्रंथ वर्णरत्नाकर[2] के अंतर्गत राज-दरबार के वर्णन-प्रसंग में कवियों का उल्लेख किया है। उसमें कवि, सुकवि, सत्कवि और महाकवि नामों का संकेत

काव्य-मीमांसा, १३ अ०, ७५ पृ०।

१. कविकंठाभरण, द्वितीय संधि, १

२. वर्णरत्नाकर, पृ० १०, (डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी की भूमिका सहित)।

है, किंतु इनके लक्षण नहीं दिए। भाट-वर्णन-प्रसंग में भी कविगुण का उल्लेख मात्र है। अतः इससे कुछ अधिक स्पष्ट नहीं होता।

हिंदी के ग्रंथों में भी कवि-कोटियों पर कोई महत्वपूर्ण विचार नहीं मिलता। एकाध ग्रंथ ही ऐसे हैं जिनमें इस विषयपर प्रकाश डाला गया है। केशवदास की कविप्रिया में, कवि के तीन भेदों का उल्लेख है—उत्तम, मध्यम और अधम। उनका यह वर्गीकरण, वर्ण्यविषय के आधार पर है जैसा हम उनके निम्नांकित दोहे में देख सकते हैं:—

उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम हरि-रस-लीन।
मध्यम बरनत मानुषनि, दोषनि अधम अधीन॥[1]

इस प्रकार केशव की दृष्टि से ईश्वर का गुणगान करनेवाले उत्तम कवि, मनुष्यों का गुण वर्णन करनेवाले मध्यम-कवि और दोषयुक्त रचना करनेवाले या गुणों को छोड़कर दोषों का दिग्दर्शन करानेवाले अधम कवि हैं। तुलसी की दृष्टि से भी यह वर्गीकरण उचित जान पड़ता है। भिखारीदास के काव्य-प्रयोजन या फल के आधार पर किए गए वर्गीकरण का भी उल्लेख यहाँपर किया जा सकता है। उनकी दृष्टि से तीन प्रकार के कवि हैं—एक तो वे हैं जो कि अपने तप और साधना के बल से संसार में पूज्य कवि होते हैं, दूसरे जो अपने काव्य के द्वारा बहुत अधिक धन-संपत्ति और बड़ाई प्राप्त करते हैं और तीसरे वे हैं जो कविरूप में प्रसिद्धि प्राप्तकर केवल यश के भागी होते हैं। इसप्रकार काव्य का सेवन लाभप्रद ही है।

कविजाति और कविभेद पर कुछ सामान्य उल्लेख जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के 'काव्यप्रभाकर' ग्रंथ में भी हुए हैं। रस-रुच्यनुसार कवियों की चार जातियाँ उन्होंने बताई हैं जो हिंदू-समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का आधार लिए हुए हैं। इनमें उनके मनोवैज्ञानिक स्तर, रुचि और प्रवृत्ति की ओर संकेत हैं। 'भानुजी' के अनुसार जिस कवि की रुचि शृंगार, हास्य, अद्भुद और शांत रस पर रहती है, वह ब्राह्मण कवि है, जिसकी रुचि रौद्र, वीर पर रहती है, वह क्षत्री-कवि है, जिसकी रुचि करुण रस पर हो वह वैश्य कवि और जिसकी रुचि वीभत्स और भयानक रस-वर्णन की हो, वह शूद्र-कवि है।[3] इस प्रकार की कवि-जाति-निश्चय से कोई लाभ नहीं, क्योंकि एक तो रस सभी समान महत्व के हैं और इस वर्ण-व्यवस्था से तुलना करने पर विषमता का भाव उत्पन्न होता है, दूसरे रससिद्ध कवि सभी रसों के वर्णन में समर्थ होते हैं और शृंगारादि तो सभी को प्रिय हैं, तीसरे इस वर्गीकरण पर ध्यान देने से फिर करुणा, वीभत्स और भयानक रसों पर लेखनी-

---

१. कविप्रिया, प्रभाव ४, छंद २।

२. एक लहैं तपपुंजन्ह के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं।
एक लहैं बहु संपति केशव भूषन ज्यों बरबीर बड़ाई।
एकन्ह कौं जस ही सों प्रयोजन है रसखानि रहीम की नाईं।
'दास' कवित्तन की रचना बुधिवंतन को सुखदै सब थाईं॥१०॥
—भिखारीदास-कृत काव्य-निर्णय, मंगलाचरण।

३. काव्य-प्रभाकर, पृ० ६९१।

संचालन कर कौन अपने को घटकर सिद्ध करेगा? अधम काव्य लिखनेवाले न हों; तो बात ठीक है; पर इन रसों पर लिखनेवाले कवि न हों, यह ठीक नहीं। अतः यह जातिभेद जिसकी आज समाज में ही अधिक आवश्यकता नहीं' काव्य में कदापि समीचीन नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार 'भानु' जी ने समस्या पूर्ति करनेवाले कवियों के भी भेदों का निर्देश किया है। समस्या पूर्ति करनेवाले कवियों की एक अलग कोटि अवश्य मानी जा सकती है क्योंकि उनकी कल्पनाशक्ति एक निश्चित विषय, पद या छंद की लय का आश्रय लेकर काम करती है, जब स्वच्छंद कवि खुलकर अपने भीतर की अनुभूति का वर्णन करता है। प्रथम में कलात्मकता अधिक है भावात्मकता कम। 'भानु' जी ने इन समस्या पूर्ति करनेवाले कवियों के चार प्रकार माने हैं:— प्रथम वे हैं जो अपने इष्टदेव की सहायता से किसी विषय या समस्या का तथ्य समझकर उसपर लिखते हैं। द्वितीय वे हैं जो किसी सामयिक घटना पर ढालकर छंद की रचना करते हैं। तृतीय वे हैं जो आश्रयदाता की रुचि देखकर उसके अनुसारसमस्या पूर्ति करते हैं और चतुर्थ वे हैं जो समस्या-न्तर्गत अर्थ के अनुकूल अपना छंद ढालते हैं। इसप्रकार प्रबंध-कवि और मनमौजी कवियों के अतिरिक्त इन समस्यापूरक कवियों की भी एक अलग कोटि समझनी चाहिए।

हिंदी-काव्य को सामने रखकर विभिन्न आधारों पर कवि-कोटियाँ निश्चित की जा सकती हैं; जिनका विवरण अति विस्तृत हो सकता है अतः विस्तारभय से यहाँ पर उनका संक्षिप्त निर्देशन किया जाएगा। इनमें से अधिकांश राजशेखर की कवि कोटियों में भी आ सकते हैं, पर हिंदी-काव्य के प्रसंग में उनका अलग ही वर्णन होना अपेक्षित है।

कथासूत्र या बंध के आधार पर काव्य-कोटि के अनुसार कवि की भी दो कोटियाँ हो सकती हैं—एक प्रबंध-कवि और दूसरे मुक्तक कवि। मुक्तक-कवि किसी भी कथासूत्र को नहीं अपनाता, जब प्रबंध-कवि कथा या चरित्र को लेकर ही चलता है। प्रबंध-कवि के दो आधारों पर भेद किए जा सकते हैं। यदि चरित्र या कथानक बहुत विस्तृत और पूर्ण हुआ और कवि उसमें विभिन्न भावों और रसों का वर्णन करने में समर्थ हुआ तो उसे महाकवि कहते हैं और यदि वह कथानक समस्त वृत्त या चरित्र का एक अंश मात्र ही है तो उसे खंड कवि कह सकते हैं। कथानक में यदि लौकिक या प्राकृत चरित्र का वर्णन है तो उसे प्राकृत-कवि और यदि दिव्य या अलौकिक चरित्र का वर्णन है, तो उसे अप्राकृत कवि कहेंगे।

छंदों के आधार पर कवियों के तीन भेद किए जा सकते हैं—छंदकवि, स्वच्छंद-कवि और गीति-कवि। जो अपनी रचना में नियमित छंदों का ही प्रयोग करते हैं वे छंद कवि, जो मुक्त या स्वच्छंद छंदों का प्रयोग करते हैं वे स्वच्छंद कवि और जो गीतों का प्रयोग करते हैं, उन्हें गीतिकवि-कहना चाहिए।

अभिव्यक्ति या प्रकाशन की प्रकृति के आधार पर कवि की दो कोटियाँ हैं—प्रथम मौन कवि, द्वितीय मुखर कवि। मौन कवि की रचना पाठक को केवल लिपिबद्ध रूप में पढ़ने के लिये ही मिलती है; जब मुखरकवि स्वयं ही अपनी वाणी से काव्य का आस्वादन श्रोताओं को कराता है। मुखर-

कवि के दो प्रमुख भेद हैं—एक गोष्ठी कवि और दूसरा संमेलनी कवि। गोष्ठी-कवि—दस-पाँच रसिकों की गोष्ठी में ही अपनी रचना सुनाता है जब संमेलनी कवि—बड़े बड़े समारोहों, समाजों और कवि संमेलनों में अपनी रचना सुनाते हैं। संमेलनी-कवियों के अनेक प्रभेद हैं जिनमें से प्रमुख हैं—समस्यापूरक-कवि, कंठ-कवि, अभिनय-कवि, आशु-कवि, एक-छंदोपजीवी-कवि, भाव-कवि और भाषा-कवि। समस्या-कवि किसी समस्या को लेकर ही अपना चमत्कार दिखा सकता है। कंठकवि वह है जो अपने सुरीले और मधुर कंठ से साधारण कविता इस प्रकार पढ़ता है कि सभी पर प्रभाव पड़ता है, किंतु जब कोई अपने आप एकांत में उसे पढ़ता है तब कोई विशेष सार नहीं मिलता। अभिनय-कवि कवि-संमेलन में पठित कविता के साथ-साथ अपने अंगसंचालन आदि से भावों का अभिनय भी करता जाता है। आशुकवि-वह है जो किसी विषय या समस्या पर किसी समय तुरंत कविता बनाता और कहता चला जाता है। यह राजशेखर के आवेशिक या अविच्छेदी कवि के समान ही है। एक छंदोपजीवी कवि-वह है जो किसी एक छंद को ही प्रत्येक कवि-संमेलन में सुनाया करता है। भाव-कवि-वह है जो अपने किसी विशिष्ट भाव चमत्कार के कारण श्रोताओं पर प्रभाव डालता है। भाषा-कवि-वह है जो अपने भाषा-चमत्कार के द्वारा जन-समुदाय को मुग्ध करता है। इन कवियों में ऐसे भी कवि हो सकते हैं जिनमें एक से अधिक विशेषताएँ विद्यमान हों। जिनमें अधिक विशेषताएँ हों उन्हें ही सिद्ध-कवि कहना चाहिए। इनमें दूसरे और तीसरे प्रभेद को छोड़कर लगभग सभी प्रभेद मौन-कवि के भी हो सकते हैं।

हिंदी कवियों की कोटियों का निर्धारण एक और आधार पर करना आवश्यक है, वह है काव्यगत प्रवृत्तियों का आधार। इस आधारपर कवियों के अनेक भेद-प्रभेद देखे जा सकते हैं जिनमें से प्रमुख भेदों का ही उल्लेख यहाँ किया जाएगा जो ये हैं—भक्त-कवि, नीति-कवि, रीति-कवि, राष्ट्र-कवि, छायावादी-कवि, प्रगतिवादी कवि आदि। भक्त-कवि वे हैं जिनका प्रमुख विषय भक्ति है, इन्हें हम तीन रूपों में देख सकते हैं—संतकवि, अवतारवादी-कवि और रहस्यवादी-कवि संत-कवि निर्गुणोपासक और ज्ञानचर्चा करनेवाले हैं। अवतारवादी—सगुणोपासक और विविध भावों में भक्ति करनेवाले हैं। रहस्यवादी कवि वे हैं जो रहस्यभावना के द्वारा अपने और जगत के भीतर एक दिव्य-रूप और शक्ति का अनुभव करते हैं। नीति-कवि—अपने अनुभव के आधार पर जो लोक-व्यवहार की नीति का वर्णन करते हैं वे ही नीति कवि हैं। रीति-कवि—वे हैं जिन्होंने लक्षण ग्रंथों के उदाहरण-रूप अपनी रचना की है इनके अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के आधार पर अनेक प्रभेद हैं। राष्ट्र-कवि वे हैं जो देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना को लेकर प्रमुखतया कविता करते हैं। छायावादी-कवि नए प्रतीक, उपमान, और लक्ष्यार्थों को लेकर अस्पष्ट आलंबन के प्रति कवित: लिखनेवाले कवि हैं। ये हिंदी की आधुनिक मधुर शैली के प्रयोगवादी कवि माने जा सकते हैं। प्रगतिवादी कवि काव्य-द्वारा लोक की प्रगति का सिद्धांत लेकर रचना करनेवाले कवि हैं। इनके दो भेद हैं—प्रचारवादी और प्रगतिशील। प्रचारवादी-कवि वे हैं जो अपनी रचनाओं द्वारा मार्क्सवाद या साम्यवाद का प्रचार करते हैं और प्रगतिशील कवि अपनी रचनाओं द्वारा हमारी समस्याओंपर प्रकाश डालते और यथार्थ जीवन का चित्रण कर प्रगति का आदर्श समुपस्थित करते हैं। इन्हें भी हम दो वर्गों में देख सकते हैं—एक तो जनकवि हैं जो सामान्य जनता के जीवन और समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं और दूसरे समाजकवि हैं—जो समाज की प्रगति का उद्देश्य रखकर अपनी कविता करते हैं। इनके

भी अनेक भेद-प्रभेद हैं जिनका वर्णन विषय को अति विस्तृत कर देगा अतः यहां उनकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं।

इसप्रकार ऊपर की पंक्तियों में, अति संक्षेप रूप में भारतीय काव्य में प्राप्त कवि-कोटियों का निर्देश किया गया है। इन सब के उदाहरण भी जुटायें जा सकते हैं। यदि कवि-कोटि निश्चय करने के उपरांत हम उनकी रचना के उदाहरण भी देने का प्रयत्न करें, तो अन्य अनेक भेद-प्रभेद ढूढ़े जा सकते हैं। प्रस्तुत लेख के अंतर्गत हिंदी काव्य की कवि-कोटियों में इस संबंध में कुछ नहीं कहा गया कि कौन घटकर और कौन बढ़कर है। उसे संस्कृत के वर्गीकरण के आधार पर ही जानना चाहिए। वैसे इसका निर्णय सभी कर सकते हैं। निष्पक्ष-विवेचन में तो लक्षण मात्र देने का प्रयत्न करना ही अलम् है, क्योंकि तुलसी के शब्दों[1] में कौन बड़ा और कौन छोटा है, इसका निर्णय देना अपराध है।

---

१. को बड़ छोट कहत अपराधू।
गुनि गुन दोष समुझिहिं साधू॥
—रामचरितमानस, बालकांड

आनंदघन की एक हस्तलिखित प्रति

केशरी नारायण शुक्ल

आनंदघन या घन-आनंद का विषय हिंदी काव्य में जितना मनोरंजक और महत्वपूर्ण है उतना ही विवादग्रस्त भी रहा है। अभी थोड़े समय पहले तक इतना भी नहीं निश्चित हो सका था कि आनंदघन और घन-आनंद एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं या दो भिन्न व्यक्तियों के नाम हैं। इसीप्रकार इनका समय, तथा इनके संप्रदाय आदि के विषय में भी कुछ न कुछ शंका बनी हुई है। अभी इस 'ब्रजभाषा प्रवीन'' कवि के सब ग्रंथ भी नहीं उपलब्ध हो सके हैं। लेखक के पास आनंदघन की जो हस्तलिखित प्रति है उसमे उपर्युक्त समस्याओं के सुलझाने में कुछ सहायता मिलेगी ऐसा लेखक का विश्वास है।

आनंदघन की कविता मुझे लंदन में हिंदी के एक हस्तलिखित संग्रह-ग्रंथ में देखने को मिली। इस संग्रह ग्रंथ का इतिहास और उसकी विलायत-यात्रा भी बड़ी रोचक है। यह संग्रह ग्रंथ बहुत बड़ा है (१'५।। इंच ऊँचा—१२ इं० चौड़ा) और इसमें छोटे बड़े उनतालीस हस्तलेख संकलित हैं। इसकी जिल्द लाल मखमल की है जिसपर बड़ी सुंदर कढ़ाई है। एक ओर तो फूल आदि कढ़े हैं और दूसरी ओर (जहाँतक स्मरण है) महावीर हनुमान की मूर्त्ति कढ़ी है। भरतपुर के राजा (दुर्जनसाल) के पुस्तकालय से यह ग्रंथ लार्ड कोम्बरमियर ने ले लिया और बाद में उसे डब्ल्यू विलियम्स विन को भेंट कर दिया। इस प्रकार यह वृहत ग्रंथ भरतपुर के पुस्तकालय से चलकर विलायत पहुँच गया। मैंने इसमें संगृहीत आनंदघन की समस्त कृतियों की "माइक्रोफिल्म" फोटो प्रतिलिपि ले ली है। लंदन में मैंने इस संबंध में जो "नोट" लिये थे उन्हीं के आधारपर और इस 'माइक्रोफिल्म' फोटो प्रतिलिपि के आधारपर प्रस्तुत लेख लिख रहा हूं।

इस संग्रह ग्रंथ में पाए जानेवाले अधिकांश कृतियों का लिपिकाल नहीं दिया है। तीन ग्रंथों का लिपिकाल संवत् १८३९ से लेकर १८४३ तक है। रंग कवि के हिंदी पद्य बद्ध भागवत पुराण के के तृतीय स्कंध के लिपिकर्त्ता भास्कर पंडित है। अंतलेख इसप्रकार है : "लिपिकृतं काश्मीरी पंडित भास्करेण। श्रीमतं श्रीमहाराजाधिराज श्री ब्रजेंद्र श्री रणजीत सिंह पठनार्थ। संवत् १९३९ पौष कृष्णाष्टम्यां लिषितं।" इसीप्रकार अंतलेख संग्राम सार का है। लिपि कर्त्ता भास्कर पंडित हैं। लिपि-

काल संवत् १८३९ फागुन बदो ११ गुरुवार है। सोमनाथ के भागवत प्रदान दशम स्कंध उत्तरार्ध के लिपिकर्त्ता भी वहा काश्मारी पंडित हैं लिपिकाल सं० १८८१ है। तुलसी के रामचरितमानस का अंतलेख नुच गया हैं किंतु लिपिकाल बच गया है : 'सं० १८४३ श्रावण शुक्लेति ४ सनिवासर"

घनानंद की कृतियों में केवल 'ब्रजस्वरूप, का अंतलेख मिलता है। उसमें कोई लिपिकाल नहीं दिया है और उसे आनंद कृत बताया गया है : "इति श्री आनंदकृत व्रज स्वरूप संपूर्ण।"

जिन दो तीन कृतियों का अंतलेख मिलता है उनके आधार पर यदि हम कहना चाहे तो यह कह सकते हैं कि घनानंद की इन कृतियों का लिपिकाल भी इन्हीं ग्रंथों के आस-पास होगा। किंतु किसी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में यह अनुमान मात्र ही होगा।

घनानंद के छोटे बड़े सब मिलाकर कुल तेईस ग्रंथ मिले हैं। इनका अत्यन्त संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है। एक दो प्रासंगिक छंद भी उद्धृत किए जा रहे हैं। उद्धृत छंद संख्या उन्हीं ग्रंथों की है।

(१) प्रिया प्रसाद प्रबंध :—इसमें राधा की वंदना है। आनंदघन की छाप मिलती है। छंद संख्या ८८ है।

या प्रबंध कौ नाम हू पायौ प्रिया प्रसाद ॥८७॥"

(२) व्रज व्यौहार :—कृष्ण की व्रज-क्रीड़ा का वर्णन है। दोहों में आनंदघन' आया है। छंद संख्या २३३।

"आनंदघन व्रज की कथा कहिये कहा बषानि।
मगन होत मन बचन हूं परम प्रेम पहिंचानि ॥७७॥"
चेटक चटक रूप चित चोरत, देषत देषत ही मन भोरत ॥३२॥
कौन भाँति की षगनि षगे हो, जित जित लोचन संग लगे हो ॥२३३॥"

(३) वियोगबेली :—इसमें छाप में 'आनंद' के घन आया है। छंद संख्या ८० है।

"अनौषी पीर प्यारे कौंन पावै, पुकारों मौन में कहिबें न आवै ॥१५॥
रसिक सिर मौर हौ रसराषि लीजे, तनक मन नाम के गुन बीच दीजे ॥७२॥
सदा आनंद के घन स्याम संगी, जियौ ज्यावौ सुधा प्यावौ अभंगी ॥८०॥"

(४) कृपाकंद निबंध—कवित्त, दोहा, सोरठा, सवैया, आदि छंदों का प्रयोग, घन आनंद, आनंदघन, आनंद के घन की छाप मिलती है। छंद संख्या ५७।

"नैंक उर आएँ ही बहुत दुष दूरि जात ताप बिन ताहि आप चंदन कृपा करै।
लगनि दै लागनि दै पाग अनुरागनि दै जागनि जगाइ लै कैं मंद न कृपा करै।
वाँनी के बिलास बर सावैं घनआनंद ह्वै मूढ़ हू प्रगट गूढ़ छंदन कृपा करै।
आरति निकंदन मिलावै नंद नंदन सुं आँनंद न मेरी मति बंदन कृपा करै ॥१॥"

(५) गिरि गाथा :—गोवर्धन पर्वत का वर्णन। छंद संख्या ५४।

"सुष समाज गिरिराज कौ रह्यौ दूगनि दरसाय।
मन तन रस भीजे लसौ आँनँद घन बरसाय ॥५४॥"

(६) भावना प्रकास :—ब्रजरज तथा ब्रजभूमि का महत्त्व। दो एक छंदों में आनंद घन नाम आया है। छंद संख्या २१९।

"ब्रजरस परस प्रसाद हि पाय, रहै महा आनंदघन छाय ॥१००॥
बिबस दस (ा) गति कही न परई, दरस प्यास नैननि जल भरई॥ ९५॥
चटक चौंप चेटक चित चढ़ई, नाम रूप गुन अनुछिन ढरई॥ ९६॥

(७) गोकुल विनोद :—गोकुल में कृष्ण-विनोद का वर्णन। छंद संख्या ६४।

नंद गोकुल बरनि बानी बिसद जोति निवास
जहाँ नित्यानंदघन अद्भुत-अषंड बिलास॥ १॥
रसिक नटवर बेस परम सुदेस रूप अपार।
ब्रजबधू आनंदघन लीला सरस आसार॥२१॥"

(८) ब्रज प्रसाद :—ब्रज की महिमा। छंद संख्या १६०।

"ब्रज की भेट सहेट सुहाय, रह्यौ सदा आनंदघन छाय॥ ३॥
भरयौ पपीहा चौंपनि सो है, ब्रजरस ब्रजमोहन मन मोहै॥२४॥
प्रान पले या ब्रज प्रसाद तैं, गिरा रसवती या सवाद तैं॥४९॥

(९) धाम चमत्कार :—ब्रज की महिमा, छंद संख्या ७०। आनंदघन आया है।

"अति अगाध रस सागर ब्रज बन, नित बरसत प्यासनि आनंदघन॥ ६॥
ब्रज भुरूप कछु मन मैं आयो, सो हठ कै ब्रजनाथ कहायो॥४४॥
बृज बृंदावन सौं हितपन है नितही बरसत आनंदघन है॥७०॥"

(१०) कृष्ण कौमुदी :—कृष्ण के रूप-माधुरी का वर्णन। छंद संख्या ८५। ४१ छंद आधा।

"रसिक पपीहा पन गहैं राधा आनँद कंद।
चाँपतु चौप चकोर की बदन देषि ब्रजचंद॥४०॥
नई चौंप नित ही रहै, सुरस चाह रसरीति।
निपट चटपटी सौं भरी, ब्रज मंडन की प्रीति॥६६॥"
कृष्ण कौमुदी नाम यह मोहन मधुर प्रबंध।
सरस भाव कुमुदावली प्रफुलित परम सुगंध॥८५॥"

(११) नाम माधुरी :—राधा की प्रशंसा, छंद संख्या ४१ या ८३ चरण।

"बृंदाबन रानी श्रीराधा, मोहनमन मांनी श्रीराधा।
श्रीकृष्णा कर्षणि श्रीराधा, आनँदघन वर्षणि श्रीराधा।"

(१२) बृंदावन मुद्रा :—राधा की महत्ता और बृंदावन की महिमा तथा युगलमूर्त्ति की क्रीड़ा। छंद संख्या ५५ के बाद पाँच कवित्त बृंदावन के संबंध में हैं। इन कवित्तों में पहले में 'घनआनंद' आया है। २, ३ में कोई छाप नहीं है। ४ में "आनंद कौ घन' और ५ में 'आनंद के अबुंद' छाप है।

"राधा कौ बृंदावन गाऊँ, गाय गाय बृंदावन पाऊँ॥ १॥
रसनापन चातकी भई है, बृंदावन गुन गोभ छई है॥१३॥
केलि संपदा दरसि बषाँनौं, मौंन धरें अनुपम गुन गाँनौं॥३४॥"

(१३) पदावली—कोई शीर्षक नहीं है। पदों का संग्रह। पंजाबी भाषा के पद भी हैं। आनंद के घन, आनंदघन, आनंद के अंबुद, आनंद पयोद (और एक स्थलपर आनंद मेहु) प्रयुक्त हुआ है। राग का नाम दिया है किंतु विषय का निर्देश नहीं है। अंतिम छंद संख्या १०४४ है किंतु उसका क्रम ठीक नहीं है। कहीं-कहीं एक ही पद के चरणों की संख्या भी इसीमें गिन ली गई है। ९७९ के बाद १००० लिखा है। इसके बाद केवल ४४ छंद और हैं। इस प्रकार अंतिम छंद की संख्या १०४४ लिखी है।

आँषिन गही, अति अनषाँनि।
पीठि दै मोतन नरकि तोरी तिनक लौं काँनि॥४२॥
ह्वै गई औरै किधौं ह्वै चंचल निबहवानि।
मनें सपनैं हूँ कहूँ तन कौ नहीं पहचानि॥४३॥
जरति पुनि जल ढरति धरति न धीर पीर पिराँनि।
दरम अंजन लषि लहैं आँनँदघन सियरानि॥४८॥
हमारी सुरति कब धौं तुम लै हौ।
आनँदघन पिय चातक कूक थकें पछितायौ ई पैहौ॥५२॥
यह सुष जनम जनम ए हो मोहिं देहु।
गुन गाऊँ ब्रजनाथ रावरे ब्रज षरिकनि षोरनि में गेहु।
दीन पपीहा पै ढुरि ढुरि बरसौ कृपा दृष्टि आँनँद मेहु॥१०४३॥

(१४) संग्रह—शीर्षक नहीं दिया है। कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई, छप्पय का संग्रह। छंद संख्या भी कहीं कहीं छूट गई है। आरंभ के ५६ छंदों के बाद संख्या नहीं लिखी गई। ५७ छंद का अंतिम चरण गायब है। छंद संख्या ११३। यमुना आदि का वर्णन।

"आँषिनि कौं जो सुख निहारैं जमुना कैं होतु सो सुब बषानैं न बनतु देषिबैई है।
गौर स्याम रूप-आदरस है दरस जा कौ गुनत प्रगट भावना बिसेषिबै ईहै।
जुग कूल सरम सलाका डीठि परस हीं, अंजन सिंगार रेष, अब रेषिबै ई है।
आनँद के घन माधुरी कौ झरलागि रहै तरल तरंगनि की गति लेष बैई हैं॥

(१५) प्रेमपत्रिका:—विरह वर्णन, छंद संख्या २९ से लेकर ५३ तक। इसके बाद विविध विषय पर सवैये हैं। सवैयों की छंद संख्या ५४ से लेकर १२३ तक है।

"कान्ह तिहारी पाती तुम्हहिं सुनाइ हौं, हाइ हाइ फिर हाइ कहूँ जौ पाइ हौं।
या पाती कौ देस पथिक प्राण लहै, आसा निगड समेत चलन उनयो रहै॥

(१६) रस वसंत—वसंत ऋतु में वृंदावन की शोभा और राधा कृष्ण विहार। छंद संख्या ७७।

"वृंदावन आनंदघन राजित जमुना कूल।
सदा सुषद सुंदर सरस, सब रितु रुचि अनुकूल॥ १॥
षेल चुहल रुचि रचनि मची है, दुरी चोंप अब उघरि नची है॥३१॥

(१७) अनुभव चंद्रिका—ब्रज की महिमा का गान, छंद संख्या ५४। कवि के नाम की छाप बहुत कम है। एक स्थल पर आनंदघन भी आया है और मोदघन भी प्रयुक्त हुआ है।

"अद्‌भुद प्रेमसुधा झर सरसैं कृष्णचंद आनँदघन बरसै ॥ ६ ॥
प्रगटी अनुभव चंद्रिका भ्रम तम गयो बिलाय।
व्रजमंडन की कृपा नैं, रह्यो मोदघन छाय ॥५३॥

(१८) रंगबधाई—कृष्ण जन्मपर बधाई और उनका यशोगान। छंद संख्या ५१।

"आनँद कौम्र घन रस जस बरसौ, हित हरियारी नित ही सरसौं ॥४५॥
लीला ललित गुपाल की, अति अद्‌भुद रस कंद।
आनँदघन बरस्यौ उदै पूरन गोकुल चंद ॥ ३ ॥

(१९) परमहंस बंसावली :—आनंदघन की गुरु परंपरा का वर्णन हरिबंस तक। छंद संख्या ५३।

"नारद हारद रुप धरि भरि आवेस अपार।
संप्रदाय थापन प्रगट निबांदित्य उदार ॥ ८ ॥
तिनके पाट लसे वसे मुनिवर श्री हरिबंस।
अति विवेक विज्ञानघन जसनिधि परम प्रसंस ॥३९॥
बिसे बीस महिमा तिन्हैं ताहि कोस हैं बीस
सदा बसौ नीकैं लसौ कृपा ईस मो सीस ॥४१॥
परम हंस बंसावली रची सची इँहि भाय।
कंठ धारि हैं गुरुमुषी सुषदाई समुदाय ॥४६॥

(२०) मुरलिका मोद—मुरलीधर का वर्णन। छंद संख्या ४८।

"मुरलीधर चिर जियौ प्रानघन, नित सरसै बरसै आनँदघन ॥४४॥
पूरनि मैं सुख-सुखमा पूरैं, चेटक चटक चौंप चित चूरैं ॥ ५ ॥
ढिग तें टरैं न पूरन पनँ की, भई चातकी आँनँद घन की ॥४८॥

(२१) गोकुल गीत :—गोकुल वर्णन। छंद संख्या २३। छंद २१ के बाद दोहों की संख्या नहीं लिखी गई है।

"चहूं ओर अति चुहल चैन की, पोषै चितवनि कमलनैंन की ॥१७॥
आँनँदघन बिनोद झर बरसैं, कान्हि, कान्ही सब कौं दरसैं ॥१८॥"

(२२) व्रजविलास प्रबंध—व्रज का वर्णन। छंद संख्या (५८ से ११८ अर्थात्) ६८।

"रहि न सकै व्रज रस बिनाँ, रसनैं परयो सवाद।
कहि रहि सकै न फिरि बकै, मौंन मह्यौ उन्माद ॥१०३॥
श्रीव्रज मंडल माधुरी रही नैंन मन छाय।
अद्‌भुद रस आँनँदघन प्यासै बढ़ति अघाय ॥११८॥"

(२३) व्रजस्वरूप—व्रज वर्णन। छंद संख्या १२०।

"कहौं कहा धौं व्रजकी मोद, बरसत नित आनंद पयोद ॥ १० ॥
उघरि उघरि बरसैं, आँनँदघन, या रस भीज राजत व्रजजन ॥ ६६ ॥
कही परनि क्यौं इनकी आरनि, वृंदावन घन मीन पुकारनि ॥ ७५ ॥
व्रजभाषा रसनैं अपनावैं, तौ व्रजभाषा तथा कहि आवै ॥१०८॥"

आनंदघन के उपर्युक्त तेईस ग्रंथ इस संग्रह-ग्रंथ में मिले हैं। आनंदघन के ग्रंथों का उल्लेख तो कई विद्वानों और अनुसंधायकों ने किया है किंतु कदाचित् ही किसी को ये सब ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं और (कतिपय ग्रंथों को छोड़कर) इन सब कृतियों का प्रकाशन तो अबतक हुआ ही नहीं है। इन सब कारणों से इस हस्तलेख का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। वैसे तो आनंदघन की इन सभी कृतियों का अपना महत्त्व है---कोई कृति कवि की उपासना पद्धति का संकेत देती है। तो कोई उसके संप्रदाय का, कोई उसकी तन्मयता की झलक दिखाती है तो कोई उसके कवित्व शक्ति और शैली का परिचय देती है। अत: इन सब ग्रंथों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी लेखक दो ग्रंथों की ओर पाठकों का ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट करना चाहता है, क्योंकि उनसे आनंदघन के संबंध में कई बातों का पता चलता है।

पहला ग्रंथ 'मुरलिका मोद' है। इसमें ग्रंथकार ने रचनाकाल दिया है जिससे कम से कम इतना निश्चित हो जाता है कि वह उस समय विद्यमान था। 'मुरलिका मोद' के परिचय में उसकी छंद संख्या ४८ लिखी गई है। छंद ४८ के बाद लिखा है "इति श्री मुरलिका मोद संपूर्ण।---इसके बाद निम्नलिखित छंद बिना संख्या के लिखे हैं---

"श्री वृंदावन श्री यमुनातट, जुगलघाट सब विधि सुष संघट।
गोप मास श्रीकृष्ण पक्षमुचि, संवत्सर अठानवै अतिरुचि।।
मुरली सुरमुष कहत न आवै, सो जानै जो सुनि गुन गावै।।"

उपर्युक्त उद्धरण इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की सूचना दे रहा है कि आनंदघन ('मुरलिकामोद' की रचना के समय) संवत्सर अठानवे में वृंदावन में वर्त्तमान थे। आनंदघन के जन्म तथा निधन की निश्चित सूचना के अभाव में मुरलिका मोद का यह अंतलेख अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि संवत्सर अठानवे संवत् १७९८ है। इससे इस प्रवाद का भी निराकरण हो जाता है कि यह नादिरशाह के आक्रमण में मारे गए। नादिरशाह का आक्रमण संवत् १७९६ में हुआ था, 'मुरलिक मोद' की रचना उसके दो वर्ष बाद हुई।

दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ "परमहंस बंसावली" है। इसमें आनंदघन ने अपनी गुरु परंपरा का वर्णन किया है। और अपने संप्रदाय का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस ग्रंथ में दी हुई गुरु परंपरा इस प्रकार है---

परमगुरु श्री निकेत श्रीनारायण---सनकादिक---नारद---संप्रदायस्थापक---निंबादित्य---आचार्य श्रीनिवास---विश्वाचार्य---पुरुषोत्तम आचार्य---विलासाचार्य---स्वरूपाचार्य---माधवाचार्य---बलभद्र---आचार्य---पद्माचार्य---स्यामाचार्य---गोपालाचार्य---कृपाचार्य---श्री देवाचार्य---सुंदर भट्ट---पद्मनाभ भट्ट---उपेन्द्र भट्ट---रामचंद्र भट्ट---बावन भट्ट---कृष्ण भट्ट---पद्माकर भट्ट---श्रवन भट्ट---भूरि भट्ट---माधवभट्ट---स्याम भट्ट---गोपाल भट्ट---बलभद्र भट्ट (द्वितीय)---गोपीनाथ भट्ट---केशव भट्ट---मंगल भट्ट---श्री केशव (ख्याति काश्मीरी)---श्री भट्ट---हरिव्यास---परमानिधि---हरिबंस।

इस गुरु परंपरा से दो बातें स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती हैं। पहली बात तो यह मालूम हो जाती है कि आनंदघन निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित थे। 'परमहंस बंसावली' के विवरण में जो दोहा आरंभ में (८) ऊपर उद्धृत किया गया है वह कवि के निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित होने का स्पष्ट संकेत दे रहा है। इसी प्रकार अन्य दोहों में भी निंबार्क और उनके संप्रदाय का बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ वर्णन किया गया है। निम्नलिखित दोहा कवि की इस संप्रदाय विषयक आस्था को और भी पुष्ट करता है—

"कासी बासी सेषगन निगमागमनि प्रवीन।
"निंबादित्य अनुगम सबै परम पुनीतकुलीन।।४७।।"

दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि आनंदघन के गुरु का नाम हरिबंस है। यह सूचना भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यों तो हरिबंस नाम के कई महात्मा हुए हैं किंतु यदि निम्बार्क-संप्रदाय के हरिबंस का ृत्त कुछ अधिक विस्तार से ज्ञात हो सके तो आनंदघन का समय और भी निश्चय के साथ स्थिर किया जा सकता है। फिर भी 'परमहंस बंसावली' से जिन ज्ञातव्य बातों का पता मिलता ह उनका महत्त्व कम नहीं है। यहाँपर गुरु की चरण कृपा की प्रशंसा में लिखा आनंदघन के एक पद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

"जिनके मन सुविचार परे।
गुरु पद परम पुनीत प्रसादहि पाइ प्रेम आनंदभरे।
तिनके पद पावन की रज में अषिल लोक उपकार धरे।
तत्वबोध की वलक छलक बस ढकी गाँस ब्योरनि उघरे।
कबधौं मिलैं हाइ हम हूँ वे संत कलपतरु कृपा करे।
आनँदघन अमोघ रसदायक प्राँन रहत अभिलाष अरे।। (पदावृत्ति बृ० २३, ८५-९१)

अब एक प्रश्न यह रह जाता है कि घनआनँद और आनँदघन एक ही व्यक्ति हैं या दो अलग-अलग व्यक्ति। निश्चित प्रमाण के अभाव में अनुमान का सहारा लेना पड़ता है और अनुमान यही होता है कि एक ही व्यक्ति के ये दो उपनाम हैं। आनंदघन के ग्रंथों का विवरण उपस्थित करते हुए यह भी बताया गया है कि किस ग्रंथ में कवि ने अपने नाम की कौन छाप रखी है, और यह भी बताया गया है कि कहीं-कहीं कोई भी छाप नहीं मिलती। इसप्रकार यदि कोई कवि आनंद पयोद, आनंद मोद, आनंद मेदु, मोद घन आनंदमुदीर आदि की छाप डाल सकता है तो क्या वह घनआनंद की छाप अपनी रचनाओं में नही रख सकता। यह हो सकता है कि यौवन का प्रेमी कवि घनानंद अवस्था ढलनेपर भक्तकवि 'आनंदघन' बन गया हो। फिर भी प्रमाण के अभाव में यह भी कोरा अनुमान रहेगा।

दोनों के एक होने का अनुमान दोनों की कृतियों की शैली की विशिष्टता और भावसाम्य से भी पुष्ट होता है। विरोध की प्रवृत्ति, भाषा का लाक्षणिक चमत्कार घनानंद की शैली की विशि-

ष्टता मानी जाती है। आनंदघन की रचनाओं के ऊपर दिए हुए अत्यंत संक्षिप्त उद्धरणों के अवलोकन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विरोधमूलक चमत्कार उनमें भी है। इतना ही नहीं। एक ही प्रकार के रूपक, उपमान, और शब्दावली, भी दोनों की रचनाओं में मिलती है, जैसे अटपटी चाह चटपटी, चेटक चटक, चौंप चाह, ढ़रकौहीं बानि,'कौंध कहूं कहूं झर', मौन में कूक' 'ढके उघरे, 'उजारि बसायो' इस शब्दावली का प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि ऐसा भास होता है कि ये रूपक आदि कवि को इतने प्रिय हैं कि वह इनका प्रयोग सब प्रकार की (शृंगार तथा भक्ति) रचनाओं में करता है चाहे उनमें घनानंद की छाप हो चाहे आनंदघन की, चाहे आनन्द सुदीर की।

अब भावसाम्य के दो एक उदाहरण देखिए। आनंदघन का निम्नलिखित पद विरह को होली खेलनेवाले के रूप में प्रस्तुत कर रहा है :—

"बिरहा होली षेलन आयौ
कहा हौं ब्रजमोहनजू जैसो इन सीस उठायौ।
रंग लियौ अबलानि अंग तैं धीर अबीर उड़ायौ।
प्रान अरगजै राषि रही हैं तुम हित बास बसायौ।
नव बाँनी कीर नाक नचावतु चौंचँद महामचायौ।
चौवाँ चैन न रहन देतु है जतन वाइ चर चायौ
तुम्हरी ठौर ठौर पारीइन कै तुम प्रेरि पठायौ
सुघर स्याम आनंदघन पिय तिन छाए इत यह छायौ॥

अब घनानंद का सवैया पढ़िए और देखिए कि कितना साम्य है,

"रंग लियौ अबलानि के अंग तें च्वाय कियौ चित चैन को चोवा।
और सबै सुख सोधि सकेलि मचाय दियौ घनआनंद ढोवा।
प्रान अबीरहि फेंट भरे अति छाक्यौ फिरै मति की गति खोवा।
स्याम सुजान बिना सजनी ब्रत यौं बिरहा भयौ फाग बिगोवा॥"
"घर ही घर चौचँद चाँचरि बहु भांतिन रंग रचाय रह्यौ।
भरि नैन हियें हरि सूझि सम्हार सबै करि नाक नचाय रह्यौ।
घनआनँद पै ब्रजगोरिन कों नख ते सिख लौं चरचाय रह्यौ।
लखि सूनो सकै कित रावरो ह्वै बिरहा नित फाग मचाय रह्यौ॥"

भावसाम्य का एक दूसरा उदाहरण देखिए—

"हरि चरननि की रज आँषिन आँजौं मोहि यहै अभिलाष रहै नित।
कहा धौं पाऊँ कहा जतन बनाऊँ पाँष बिना तरफौं इत।
को पावै यह परि अटपटी चाह चटपटी चूरि करै चित।
परन बीर तेरे पाइ परत हौं आँनँद घन पिय तन न ढरकि जादु हा हा करि हित॥"
(आनंदघन)

"ऐरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन बीरे
तोसों और कौन, मनैं ढरकौंही बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सों समान
आनँद निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन भारे अंत मोही प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरहि बिथाहि मूरि, आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन को हा हा नेकु आनि दै।। (घनानंद)

इसी प्रकार के दो एक उदाहरण और लीजिए—

"पाथर हियौ, उड़चौहीं डोले हरि के दुसह वियोग
अचरज महा कहा कहियै अब बन्यौ नवल संयोग
निपटै जड पै एक चेतना चिंता चोट सहै।
आनंदघन पिय हिय सियरो परि औरै दहनि दहै।" (आनंदघन)
"जियरा उडयौ सो डोलै हियरा धक्योई करै
पियराई छाई तन, सियराई दौ दहैं" (घनानंद)
"अहो प्यारे कितै गई तिहारी वह ढ़रकौहीं बानि
पहिले चौप चाँड सुधि करि देषौ परेषौ यह अब सब छाड़ पहिचानि" (आनंदघन)
"कित को ढ़रि गौ वह ढार अहो जिहि मोतन आँखिन ढोरत हे
अरसानि गही उहि बानि कछू सरसानि सों आनि निहारति हे।" (घनानंद)

आनंदघन की पदावली में ऐंसे बहुत से स्थल मिलते हैं जहाँ पर उनकी भाव की गूढ़ता और अभिव्यक्ति की बक्रता यह सोचने को बाध्य करती है कि इनका घनानंद की उक्तियों से घनिष्ठ संबंध है। आनंदघन की ऐसी ही दो चार उक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं जिनसे मिलते जुलते भावों की व्यंजना घनानंद में अनेक स्थलों में हुई है।

"म्रग पारधी की गति कहा कीनीं नाद रस प्याइ बान मारयौ तानि।
आनंदघन पन राषि प्रान तजि सनमुष हो रह्यो बडोई लाभ बड़ी हानि।।"
"अंतर में बैंठे कहा दुष देत निकसि क्यौं न आवत, अँषियनि आगें।
ये दुषहाई सुष देषन कौं जागि जागि अनुरागें
इनकी दसा बन गहनिति देषैं ई गहैं पल पल जल त्यागें
आनंदघन पिय चातक चौंपनि प्यास भरी पन पागें।।"
"बिसवासी ह्वै भए बातनि भोरि भोरि मन मेरो।
आँना कानी दै रहे हाइ अब कोऊ कूकनि टेरौ।।"
"कौन देस बसायौ है निरमोही कान्ह हमारी अँषियनि अैसें उजारि
आस बढ़ाइ उदास भए बिसवास कियौ घन आँनँद प्रान पपीहनि प्यासनि मारि।।"

"आय, आइकै निकसि जात हौ मोहन मन की गहतैं।
अति अटपटी चटपटी बातैं बनति नाहि कछु कहतैं।
जोगी की गति गहैं बियोगी सुरति साँस आधार।
जब दरसौ तब की तुम जानौं निरमोही निरधार।।"
"इहिं अभिलाष लाष लाषनि विधि प्राँननाथ गहि मौन पुकारौं।
सुचित उचित आवै सो कीजै आँनँदघन चातक वृत धारौं।।"

"इते ढके अरु उघरे केते।
कैसें कैं कहि सकौं रावरे मनमोहन अगनित गुन जेते।
निकट दूरि लहि परत नहीं कछु आनँद घन रस मगन सचेते।।"

उपर्युक्त उद्धरण स्पष्ट बता रहे हैं कि आनंदघन और घनानंद का भाव प्रवाह और उनमें उठनेवाली तरंगों का रंग ढंग एक-सा है।

आनंद तथा आनंदघन के विषय में भी पहले काफी भ्रम था। पहले आनंद और आनंदघन एक समझे जाते थे। बाद में इसका निराकरण हुआ। बाद में यह भी मालूम हुआ कि आनंदघन भी एक नहीं दो हैं। एक आनंदघन जैनी हैं और दूसरे प्रसिद्ध आनंदघन कृष्ण संप्रदाय के हैं।

लेखक को लंदन में जो सामग्री मिली है उसके आधार पर वह कहना चाहता है कि इन दो के अतिरिक्त एक आनंदघन और हैं। इन्होंने नानक के जप जी की टीका गद्य में लिखी है। यह टीका गुरुमुखी लिपि में है और इसकी भी माइक्रोफिल्म प्रस्तुत लेख के लेखक के पास है। इस टीका के आरंभ और अंत में पद्य हैं जिसमें कवि ने अपने गुरु का नामोल्लेख किया है। ये सिक्खों के दसवें गुरु की शिष्य परंपरा में रामदयाल के शिष्य थे। निम्नलिखित सोरठा यही बता रहा है:

"श्री गुरु रामदयाल चिदानंद करुणा रवण।
ता चरनन उग्यार आनंद घन वरनन करे।।

टीका का विवरण तथा रचनाकाल (संवत् १८५४) निम्नलिखित दोहे दे रहे हैं:—

"गुरु नानक जप जी कीओ निजमत को निरधार।
आनंदघन टीका करै ताको अर्थ विचार।।"
"संमित पुराण सति अर्ध सति युगम अधिक है जसु।
मीन् माम संकु पुरी कीन्ह्यो लिखन बिलासु।।"

इस टीका का गद्य खड़ी बोली है किंतु उसका आधार व्रजभाषा है। इसलिये यदि टीका की भाषा को पछाहीं कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा?

इसप्रकार हिंदी साहित्य में दो नहीं, प्रत्युत तीन आनंदघन हैं। एक जैनी, दूसरे कृष्णभक्त व्रजभाषा प्रेमी, तीसरे सिक्खों में दीक्षित, पंजाबी के (हिंदी में) टीकाकार। इनका सविस्तार वर्णन

यहाँपर अप्रासंगिक होगा, इसलिये इस विषय को संप्रति यहीं पर समाप्त किया जाता है। केवल एक बात कहनी है।

आनंदघन की पदावली में पंजाबी के पद काफी मिलते हैं। इश्क-लता की भाषा भी पंजाबी है। यद्यपि कृष्णभक्त कवियों में सभी भाषा में कृष्ण-लीला के गान की परंपरा और प्रश्न है फिर भी कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि वास्तव में ये पद और 'इश्कलता' पंजाबी आनंदघन के हों किंतु नाम साम्य के कारण लोगों ने इन कृतियों को व्रजभाषा के आनंदघन का समझ लिया और उनकी रचनाओं में संकलित कर दिया।

संगीत की उत्पत्ति

कृष्ण नारायण रतनजानकर

संगीत एवं साहित्य का बीज शब्द में है। शब्द का वास्तविक अर्थ ध्वनि है। परब्रह्म, उसको परमात्मा, परमेश्वर, आदिपुरुष जो कुछ कहिए, शब्द युक्त है। अतएव मंत्रोच्चार की शुद्धता-पर हमारे यहाँ विशेष ध्यान दिया जाता है। मंत्रों के अक्षर एवं ध्वनि में महान् शक्ति होती है। इन अक्षरों और ध्वनियों की उच्चार शुद्धता के ही बल वह शक्ति प्रगट होती है और मनुष्यसामर्थ्यातीत कार्य करती है। वैदिक ऋचाओं के ह्रस्व दीर्घ एवं अल्पप्राण महाप्राण, विवार संवार, बाह्य आभ्यंतर, प्रयत्नादिक अक्षरोच्चारों की एवं उदात्तानुदात्त स्वरितादिक स्वरोच्चारों की शुद्धता कितनी महत्वपूर्ण मानी जाती थी, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण शिक्षा ग्रंथों में मिलता है।

मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

तात्पर्य ध्वनि के यथायोग्य उच्चारण का महत्व हमारे यहाँ प्राचीनकाल से ही माना जाता था। कंठस्वर का उद्गार मुख से द्वारा होता है। हृदयस्थ वायु कंठ अथवा नासिका के द्वारा किसी प्रकार की ध्वनि किए बिना बाहर पड़ता है, तब वह केवल उच्छ्वास होता है। पर यदि उसको कंठ में अथवा मुख में किसी प्रकार की अटक हो कर बाहर पड़ना होता है तब वह बलात् स्फोट करके बाहर आता है और उसीके फलस्वरूप शब्द अर्थात् ध्वनि प्रगट होती है। मुख बंद करके कंठस्वर का उद्गार नासिका के मार्ग से होता है। खुले कंठस्वर का स्वरूप होंठों के बीच की पोलाई की लंबाई चौड़ाई के अनुसार "अ" अथवा "आ" होता है। इसी खुले कंठस्वर के मार्ग में जिह्वा अटकाव करे तो ॲं, ए, ऐ, ई; होंठ अटकाव करें तो ऑ, ओ, औ, ऊ ये स्वर; सामने के दाँतों के ऊपर मसोड़े पर जिह्वाग्र का स्पर्श करते हुए ऋकार; जिह्वा के प्रांत का चारों ओर स्पर्श मसोड़ों से करते हुए लृकार, ये स्वर उत्पन्न होते हैं। मुख को बंद करके नासिका के द्वारा कंठस्वर का उद्गार करने पर "अं" और प्रथम कंठस्वर का उच्चारण करके तुरंत कंठ में की हुई अटक को खोलकर वायु को मुक्त करनेपर "अः"। इन अक्षरों को "स्वर" यह संज्ञा देने का कारण यह है कि इन सब का उच्चारण जब तक श्वास चल सके तब तक दीर्घकाल अटूट चालू रखा जा सकता है, जैसे अऽऽऽऽ, आऽऽऽऽ, ईऽऽऽऽ इत्यादि। ऋकार के दीर्घ

उच्चारण में जिह्वाग्र को मसोड़े से लगातार टकराते हुए स्फूरणात्मक ध्वनि करते हुए कंठस्वर बाहर पड़ता है, जैसे र्र्र्र्। लृकार के दीर्घ उच्चारण में जिह्वा को मसोड़ों से चारों ओर लगाना होता है। इसमें कंठस्वर जिह्वा एवं कंठ के बीच ही बीच गूंजता रहता है, ल् ल् ल् ल्। इसी-प्रकार अनुनासिक भी स्वरों का ही एक प्रकार है क्योंकि इसको भी दीर्घकाल तक चालू रखा जा सकता है। य, व, र, ल ये चार अक्षर, इ, उ, ऋ, लृ, के साथ अकार जोड़कर बनते हैं, जैसे इ×अ=य, उ×अ=व, ऋ×अ=र, लृ×अ=ल। श, ष, स, ह ये चार अक्षर ऐसे हैं कि इनका उच्चारण दीर्घकाल चालू रखनेपर केवल श्वास उन अक्षरों की ध्वनि में बाहर पड़ता है। कंठ स्वर बंद हो जाता है, जैसे श्....., स्........, ष्........, और ह्...........। अनुनासिक अक्षर ङ, ण, ञ, म इनको क्रमशः कंठ, मूर्द्धा, तालू दंत्य एवं ओष्ठ पर ही कंठस्वर को अटकाव करके उच्चारण किया जाता है। कंठस्वर अंदर ही अंदर गूंजता रहता है, जैसे अङ, अम्, अण्, अञ्। "क्ष" यह एक संयुक्त अक्षर है। यह प्राकृत की वर्णमाला में क्यों आया यह एक ऐतिहासिक मनोरंजक प्रश्न होगा। संस्कृत की वर्णमाला में इसको स्थान नहीं है। अस्तु।

शेष अक्षर ऐसे हैं कि कंठस्वर के मार्ग में ये पक्की भित्तियाँ हैं। बिना फोड़ के हटाए कंठस्वर बाहर ही नहीं आ सकता। जैसे, जिह्वा के मूलपर ही कंठस्वर को अटककर क्कार, तालू में जिह्वा लगाकर अटक करनेपर च्कार, जिह्वाग्र को मूर्द्धापर लगाकर अटकानेपर ट्कार, दाँतोंपर जिह्वाग्र लगाकर अटकाने से त्कार एवं होंठों को ही बंद करके अटकाने से प्कार। इनका उच्चार तो बिना किसी स्वर को उनके साथ जोड़े हुए हो ही नहीं सकता। निरे क्कार का, निरे प्कार का उच्चार हो ही नहीं सकता। इसमें कोई स्वर अ, आ, उ में से जोड़ ही लेना होगा। इन्हीं पाँच अक्षरों में हकार मिलानेपर क्रमशः ख्, छ्, ठ्, थ्, फ् बनते हैं। इन्हीं का ढीला उच्चार करने से ग्, ज्, ड्, द्, ब् और इन ढीले अक्षरों में ह्कार मिला देनेपर घ्, झ्, ढ्, ध्, भ् बन जाते हैं।

इस सब विस्तृत वर्णन से यह सिद्ध होता है कि वर्णमाला का बीज कंठस्वर में ही हैं।

वर्णमाला में स्वर तथा व्यंजन ऐसे दो प्रकार हैं। पहले प्रकार में कंठस्वर अपने आप दीर्घकालतक बढ़ाया जा सकता है। व्यंजन कंठस्वर को बंद करनेवाले अक्षर हैं। उनका स्फोट करके कंठस्वर बाहर निकलता है। अ, इ, उ, इत्यादि स्वरों के दो-दो भेद-ह्रस्व एवं दीर्घ-देशी भाषाओं में एवं तीन-तीन भेद-ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत-संस्कृत में होते हैं। ये स्वर अपनी मूल अवस्था में ह्रस्व ही होते हैं। "अ" की दीर्घ अवस्था "आ" करके समझी जाती है। वास्तव में "अ" अपने ही मूल स्वरूप में बढ़ाया जा सकता है। गाने में कभी-कभी यह उच्चार किया जाता है। उदाहरणार्थ, "वक्रनिरोहण" अर्थात् "जिसके आरोह में निषाद स्वर वक्र होता है।" इसमें "व" का "वा" न होगा, उसका "वक्र निरोहण।" अर्थात् व अ क्र नि। रो ओ ह ण" ऐसा उच्चार किया जाता है। भाषा में "अ" को कभी लंबा नहीं किया जाता। वरन् शब्द के अंत में "अ" हो तो कभी-कभी उसको दबाया भी जाता है, जैसे राम, भरत, विचार इत्यादि। अस्तु। शेष सब स्वरों को उनके मूल स्वरूप में ही बढ़ाया जाता है जब उनको दीर्घ या बड़े कहा जाता है। व्यंजनों को ही ये ह्रस्व दीर्घ दोनों प्रकार के स्वर जोड़ कर उनके प्रकार क का की, प पी इत्यादि हो जाते हैं।

संसार में अगणित वस्तु दिखाई देती हैं, अनेक सुनाई देती हैं, कुछ का केवल स्पर्श होता है, इन सब के नाम एवं उनके चरित्र इन्हीं अक्षरों से बने हुए शब्दों से कहे जाते हैं। इनको शब्द इसलिये कहते हैं कि ये ध्वनि की अर्थात् कंठस्वर की ही रचनाएँ होती हैं।

यहाँतक तो उच्छ्वास का कंठ में होते हुए अटकाव के कारण कंठस्वर में परिवर्तन उसका वर्णों के स्वरूप में मुख से उद्गार, एवं उसकी ह्रस्व दीर्घ कालावधि का विचार हुआ।

अब देखना है कि भाषा व्यवहार में कंठस्वर क्या कार्य करता है। भाषा में शब्दों में आते हुए अक्षरों की ह्रस्व दीर्घ कालावधि के अतिरिक्त कंठस्वर के उतार चढ़ाव का भी महत्व बहुत है। कंठस्वर की निरी एक ही एक ऊँचाईपर कोई वाक्य कहा जाय तो उसका परिणाम सुननेवाले पर ऐसा होगा कि कोई पाठ पढ़ रहा है। जबतक वाक्य में आनेवाले महत्वपूर्ण शब्दों के उच्चारण ऊँचे कंठस्वर में एवं जोर से, गौण शब्द नीचे कंठस्वर में और धीरे एवं इतर शब्दों के उच्चारण साधारण ऊँचाई में न किए जायंगे, तबतक भाषा में जान न आएगी। यही नहीं वरन् कंठस्वर के उतार चढ़ाव लगातार जोड़ते हुए उसका प्रवाह, योग्य स्थान के अतिरिक्त अन्यतः, न तोड़ते हुए भाषा बोली जाती है। मेरे विचार में वेदोक्त उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित ये कंठस्वर के चढ़ाव उतार एवं उसके जोड़ के ही विशिष्ट नाम हैं। ऋग्वेद के पाठ में गायन नहीं था। केवल पठण था। अतएव उसमें कंठस्वर की इन तीन अवस्थाओं के स्थूल स्वरूपों के अतिरिक्त गायनोपयोगी स्वरों का नाम निर्देश नहीं है। और, मेरे विचार मे, उदात्तानुदात्त स्वरित केवल उतार चढ़ाव एवं उनके जोड़ के नाम थे। इस उतार चढ़ाव में कोई निश्चित प्रमाण न था। साधारण भाषा व्यवहार में कंठस्वर के उतार चढ़ाव का प्रमाण नहीं होता। उसी प्रकार ऋग्वेद के पठण में उतार चढ़ाव प्रामाणिक न होंगे। प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कंठस्वर के स्वभाव धर्म के अनुसार उतार चढ़ाव करता होगा। हाँ, यह हो सकता है कि प्राचीनकाल से वेद मंत्रों की शिक्षा गुरुमुख से होती थी जिसके कारण उतार चढ़ाव की मर्यादाएँ परंपरागत रूढ़ि के बल स्थूल मान से निश्चित हो गई होंगी। जैसे पूजा, पाठ, जप इत्यादि की एक विशेष गूंज सब के कानों में भरी हुई होती है और हर कोई उसी गूंज के साथ पूजा-पाठ करता रहता है, उसी प्रकार वेद मंत्रों में कंठस्वर के उतार चढ़ाव स्थूल मान से निश्चित हो गए हैं।

प्राचीनकाल में लिपि अस्तित्व मे थी ही नहीं। उसका प्रचार होनेपर भी वैदिक वाङमय जैसा शब्दसागर लिख डालना वर्षों का कार्य था। कागज भी उस समय थे नहीं। लिखी हुई प्रतियां यदि हों तो भी वे सारे देशभर में दस पाँच की अधिक न होंगी। इन्हीं कारणों से सब विद्याएँ गुरुमुख से सुनकर मुखपाठ ही करनी पड़ती थीं।

हमारे वेद प्राचीन समय के बड़े-बड़े विद्वान ऋषि मुनियों के महत्वपूर्ण वाक्यों के भंडार हैं। इंद्र, अग्नि, वायु, उषा, सरस्वती, वरुण इत्यादि देवताओं की स्तुति करते हुए उन्होंने उनके स्वभाव धर्म, उनसे होनेवाले कार्य, और हानियों का स्पष्टीकरण किया है जिससे वैज्ञानिक संशोधन का मार्ग भी दिखाई देता है। केवल वैज्ञानिक ही नहीं, आधिदैविक, आधिभौतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आयुर्वेदिक इत्यादि सब शास्त्र एवं काव्य, नाट्य, संगीत चित्रकलादि शिल्पकलाओं का विचार भी इन

छोटे-छोटे वाक्यों में उन प्राचीन महापुरुषों ने किया है। इन्हीं वाक्यों के संग्रह को संहिता कहते हैं। ये वाक्य शिष्यों को पढ़ाकर उनसे मुखपाठ कराए जाते थे। परंपरागत पठण कराते हुए उनको किसी लय में बांधना आवश्यक हुआ अथवा ऐसा कहिए कि वे वाक्य लय की जिन-जिन रचनाओं में बने उनपर विचार हुआ और वैदिक छंदों की उत्पत्ति हुई। इधर मंत्राक्षरों की कालावधि, अर्थात् लय के साथ-साथ कंठस्वर के उतार चढ़ाव पर भी विचार हुआ और उदात्तानुदात्त स्वरित के द्वारा वे वेदमंत्रों की गूंज भी निश्चित हुई। किसी पाठ को मुखोद्गत करने में लय एवं स्वरों की गूंज की आवश्यकता होती है। क्योंकि ये स्मरणशक्ति को बहुत सहायता देते हैं। लय एवं स्वर मनुष्य में स्वभावतः उपस्थित रहने के कारण उनकी सहायता होती है। साधारण अंक भी पाठ करना हो तो छोटा बच्चा भी स्वभावतः कहि अथवा सुनकर कहिए स्वर एवं लय की गूंज में उसको कहता रहता है। तब वे पाठ होते हैं। वेदमंत्रों के छंद एवं स्वर रचना के मूल-तत्व ये ही हैं।

इस प्रकार वैदिक ऋचाओं से काव्यछंद एवं गेयच्छंद तथा स्वर रचना की उत्पत्ति हुई।

ऋग्वेद के ही मंत्र स्वरालाप में जब गाए जाते हैं तब उसे सामवेद कहते हैं। सामवेद में लगभग सब मंत्र ऋग्वेद के ही हैं। बहुत थोड़े स्वतंत्र हैं। साम का अर्थ ही गाना है। संगीत की उत्पत्ति इसीमें से हुई।
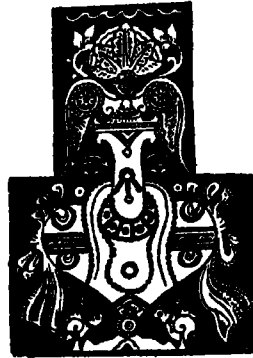
कालिदास और उनका काव्य वैभव

गुर्ती सुब्रह्मण्य

(१)

पुष्पेषु चम्पा नगरीषु लङ्का।
नदीषु गङ्गा च नृपेषु रामः॥
योषित्सु रम्भा पुरुषेषु विष्णुः।
काव्येषु माघः कवि कालिदासः॥

जिस प्रकार फूलों में चंपा, नगरों में लंका, नदियों में गंगा, राजाओं में श्रीरामचंद्र की, पुरुषों में विष्णु, काव्यों में माघ काव्य सब से श्रेष्ठ है उसी प्रकार कवियों में महाकवि कालिदास का स्थान सब से ऊँचा है।

(२)

कुछ वर्ष पूर्व, वाराणसी नगरी में 'कालिदास-जयंती' मनाई गई थी। उसमें समस्त भारतवर्ष के विद्वान् उपस्थित हुए थे। वहाँ के आयोजन में एक 'दीपदान' का भी उत्सव था। उसमें कालिदास का एक दीप स्तंभ रखा गया था जिसके चतुर्दिक् समस्त भारत के अन्य कवियों को अपने अपने दीप प्रज्वलित करने का आदेश मिला। सब सहर्ष उस आयोजन में भाग ले रहे थे। वह बड़ा ही मनोरम दृश्य था। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि कालिदासरूपी प्रचंड सूर्य के संमुख अन्य कविगण जुगनू के समान टिमटिमा रहे हों। इससे बढ़कर कालिदास की महत्ता का द्योतक और कौन-सा दृश्य हो सकता है ?

कालिदास ने भारतीय साहित्य भांडागार को सदियों पूर्व के कविहृदय को जो उच्च कल्पना, जो मधुर भावधारा, जो मनोरम प्राकृतिक चित्र, जो भाषा का प्रसादगुण, जो आख्यानों का प्रवाह, जो रसों का पूर्ण परिपाक, जो उपमाओं की छटा प्रदान की है वह अन्यत्र कहाँ प्राप्य है। क्या कविता में, क्या नाटक में, क्या पद्य, क्या गद्य, क्या भाषा, क्या भावधारा, सभी में कालिदास की इस अमूल्य देन के कारण भारतीय साहित्य ही नहीं वरन् संपूर्ण विश्व का साहित्य शताब्दियों

तक ऋणी रहेगा। यह कालिदास ही के प्रभाव का फल है कि अठारहवीं शताब्दी का सब से महान् कवि गेटे शकुंतला को आदर्श मानकर अपने फास्ट नामक महाकाव्य को सुखांत बनाता है और स्वयं बड़े गर्व के साथ इस बात को स्वीकार करता है। भारतीय साहित्यकारों के लिये कालिदास केवल कवि न रहकर सतत-स्फूर्तिदायिनी शक्ति के रूप में परिणत हो गए। भवभूति और हर्ष के नाटकों की रचना कालिदास के नाट्यसाहित्य को सामने रखकर हुई थी। ऋतुसंहार की देखादेखी कई तुक्कड़ कवियों ने षड्ऋतु वर्णन किए। मेघदूत की शैली को आधार मानकर सैकड़ों दूतकाव्यों का निर्माण हुआ। यहाँ तक कि आज भी प्रियप्रवास में हरिऔध जी अपने 'पवनदूत' वाले अंश के लिये कालिदास के ऋण से वंचित नहीं हैं।

(३)

गत दो सौ वर्षों के अथक परिश्रम और अनुसंधान के पश्चात् भी आज महाकवि कालिदास का व्यक्तिगत चरित्र गाढ़ांधकार में निमग्न है। कालिदास किस शताब्दी में उत्पन्न हुए थे, उनकी प्रारंभिक शिक्षा किस प्रकार की थी, इन सब बातों का अभीतक पूर्णतया अनुसंधान नहीं हो सका है कुछ विद्वानों का मत है कि कालिदास ईसा से छठवीं शताब्दी में हुए थे जो भारतीय पुनर्जागृति का युग था। दूसरे[२] लोग मंदसोर शिलालेख के आधारपर चौथी शताब्दी में उनका समय निश्चित करते हैं। भारतीय संस्कृति के परिपोषक विद्वानों[३] की यह निश्चित धारणा है कि कालिदास प्रथम शताब्दी में हुए थे और विक्रम की सभा को सुशोभित करते थे। संभव है कि कुछ दिनों बाद शेक्सपियर के समान कालिदास के अस्तित्व के संबंध में भी संदेह होने लगे। उनके जन्मस्थान तथा जाति के संबंध में भी काफी विवाद है। 'कालिदास' नामकरण से ही कुछ विद्वानों की धारणा है कि वे काली के दास होने के कारण बंगाली रहे होंगे। अलका और हिमालय के वर्णन पढ़कर कई विद्वान्[४] उन्हें कश्मीर देशस्थ कहते हैं। दूसरे विद्वान्[५] उनको उज्जैन निवासी मानते हैं। उनकी शिक्षा और अध्ययन के संबंध में किंवदंती प्रसिद्ध है कि वे पढ़ेलिखे बिलकुल नहीं थे। निरक्षर भट्टाचार्य थे। यह केवल सरस्वती का प्रसाद था जिसके कारण उनको सारी विद्याएँ अकस्मात् प्राप्त हुईं। अस्तु

कालिदास के वैयक्तिक जीवन के संबंध में कम सामग्री उपलब्ध है। जो है। उसमेंभी विवादास्पद होने के कारण हमें विवश होकर कालिदास का चित्रण उनके काव्य-वैभव को लेकर करना होगा। कालिदास की मृत्यु हुए लगभग पंद्रह सौ वर्ष व्यतीत हुए होंगे। पर महाकवि कालिदास आज भी अमर हैं और सदा रहेंगे। ज्यों-ज्यों उनके इह लौकिक नश्वर शरीर के संबंध में विवाद उत्पन्न होते रहेंगे त्यों-त्यों उनका काव्य शरीर अत्यधिक उन्नति और अमरत्व की ओर अग्रसर होता जायगा। महाकवि का जीवन उसके काव्य में अंतर्हित रहता है। कालिदास का चित्रण

---

१. मैक्समूलर, हरप्रसाद शास्त्री आदि।
२. पाठक, कीथ आदि।
३. आप्टे, एस० के० राय०, सी० वी० वैध आदि।
४. पं० लक्ष्मीधर कल्ला।
५. पं० हरप्रसाद शास्त्री और

उनकी रचनाओं में अवलोकन से ही संभव है। हमारे सामने यह प्रश्न है कि उनमें कौन-कौन से ऐसे गुण थे जिनके कारण उनका प्रभाव चिरस्थायी रहा है। हमें उनके साहित्य भांडागार में उन विश्वव्यापी गुणों की खोज करनी है जिनके कारण उनकी ख्याति उत्तरोत्तर द्विगुणित होती रही है।

(४)

कालिदास के काव्यवैभव के मूलाधार के जो उपकरण हैं उनकी ओर यदि हम ध्यान दें तो हमें उनके बाहुल्य को देखकर अत्यंत आश्चर्य होगा। श्रव्य और दृश्यकाव्य, प्रबंध और मुक्तक सब प्रकार की रचना कालिदास ने की है। ऋतुसंहार कवि का स्फुट मुक्तक काव्य है। मेघदूत खंडकाव्य है। कुमारसंभव और रघुवंश महाकाव्य हैं। विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र और शकुंतला नाटक ह। ये सात कवि की प्रामाणिक कृतियां हैं। इन्हीं को लेकर कवि का ूल्यांकन करना है।

(५)

महाकाव्यों का स्थान विश्वसाहित्य में सदा से ऊँचा रहा है और रहेगा। अन्य काव्यों की अपेक्षा यह कवि की अमर कृति समझी जाती है। महाकाव्य कई सर्गों में होता है। इसमें एक नायक होता है जो देवता हो, उच्च कुल का हो या धीरोदात्त गुणों से युक्त क्षत्रिय हो। अथवा एक ही वंश के कई राजा हो सकते हैं। श्रृंगार, वीर या शांत में एक प्रधान रस होता है। कालिदास ने दोनों प्रकार के महाकाव्य लिखे हैं। कुमारसंभव प्रथम प्रकार का है जिसमें शिव और पार्वती का विवाह, कुमार की उत्पत्ति और उसके द्वारा तारकासुर के वध की रोचक कथा बड़े सुंदर ढंग से कही गई है।

पर कवि की अभिलाषा इस प्रकार की रचना से संतुष्ट न हुई। उसने जगत् के माता पिता शंकर और पार्वती जी की रति-क्रीड़ा कुमारसंभव के आठवें सर्ग में दिखलाकर घोर पाप किया था। उसकी सरस्वती तभी सार्थक हो सकती थी जब कि उसकी वाणी में कोई विशेषता होती। छोटे-छोटे कथानकों को लेकर विश्व साहित्य में असंख्य महाकाव्यों की रचना हुई है। प्रौढ़ कालिदास को कथानकरूपी कृत्रिम आवरण से अपने एक महान् कृति को हटाना था। उसे महकाव्य को वास्तव में एक महाकाव्य बनाना था। उसने महाकाव्य के अनुकूल एक छोटा-सा सुसंगठित कथानक न लेकर रघुवंशियों का पूरा चरित्र लिया और सरस वर्णनों से भरकर उसमें रोचकता ला दी। विश्व-साहित्य में 'टेकनीक' या 'रचना-प्रणाली 'की दृष्टि से यह महाकाव्य अपने टक्कर का एक ही है।

कवि विनम्र होकर कहता है कि "मैं मंद किंतु कवियश का प्रार्थी होने के कारण उपहासास्पद होऊँगा, क्योंकि मेरी दशा उसी प्रकार है जिस प्रकार एक बौना ऊँचे पेड़ से फल तोड़ने की इच्छा करता है। महाकाव्यों के पूर्व में इस प्रकार की विनम्रता ही पूर्ण सफलता का द्योतक है।

कुमारसंभव के निर्माण के पश्चात् रघुवंश की रचना में कवि की वह दशा थी जो नदी से होकर समुद्र में जानेवाले नाविक की होती है। जहाँ कुमारसंभव में कवि एक कथानक को लेकर उसीको सुचारु रूप से सजाकर हमारे सामने रखता है वहाँ रघुवंश में वह कई कथानकों, कई वर्णनों,

कई चरित्रों का भांडार खोल देता है। मेघदूत की रचना में कवि ने अलकापुरी, पर्वत, नदी, महल, तालाब, वृक्ष आदि के वर्णनों में कुशलता प्राप्त की थी। ऋतुसंहार में ऋतुओं के वर्णन का चमत्कार दिखलाया, कुमारसंभव में एक कथानक को लेकर उसका सुंदर ढंग से वर्णन किया। रघुवंश में कथानकों[1] और वर्णनों[2] दोनों का सुंदर संमिश्रण और बाहुल्य है।

(६)

महाकाव्यों के समान दृश्यकाव्यों की रचना प्रणाली में कवि ने नूतनता ला दी है। मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र और मालविका की प्रेम कथा का वर्णन है। दोनों इसी लोक के प्राणी हैं और दोनों का प्रेम भी इहलौकिक है। इस प्रेम में दैवी हस्तक्षेप के लिये कोई स्थान भी नहीं है। राजा की दूसरी राजमहिषी धारिणी और इरावती प्रेम में बाधा डालने के लिये काफी हैं।

विक्रमोर्वशीय में कवि ने विक्रम और उर्वशी नाम की अप्सरा का प्रेम दिखलाया। विक्रम इस लोक का राजा है और उर्वशी स्वर्गलोक की अप्सरा है। दोनों का प्रेम, आकर्षण और अंत में विवाह हो जाता है। इसमें मर्त्य और दैवी व्यक्तियों का इसी लोक में संमिलन होता है।

अभिज्ञान-शाकुंतल में राजा दुष्यंत और शकुंतला दोनों इसी लोक के निवासी होते हुए भी विभिन्न वातावरण में पले हैं। दोनों का प्रेम भी लौकिकता से आरंभ होता है और अंत में अलौकिक हो जाता है। यहीं कलाकार की महत्ता है। मातलि महर्षि के आश्रम में दुष्यंत का, इंद्र के शत्रु को मारकर लौटते हुए, शकुंतला के साथ संमेलन होना क्या ही उक्त लौकिक प्रसंग है! महाकवि गेटे ने ठीक ही कहा है कि यदि कहीं पृथ्वी और स्वर्ग का संमेलन जिसे देखना हो तो वह शकुंतला अवश्य पढ़े।

ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास उत्कृष्ट महाकाव्य और उत्कृष्ट नाटक के निर्माण के लिये और उसमें सार्वभौमता लाने के लिये निरंतर अभ्यास करते रहे और अंत में जाकर उन्हें सफलता मिली रघुवंश और शकुंतला में हमें उसमें टेकनीक का पूर्ण परिपाक मिलता है जिसके निर्माण में कवि को वर्षों बीत गए और जिसका प्रयोग वह डरते डरते अत्यंत विनम्रतापूर्वक करता है।

(७)

टेकनीक के पश्चात् यदि हम चरित्र-चित्रण को लें तो हमें कालिदास के चरित्रों की विभिन्नता देखकर कम आश्चर्य न होगा। शेक्सपियर इसी विभिन्न चरित्र-निर्माण के लिये समस्त यूरोप में पूजा जाता है। कालिदास किसी तरह इस विषय में शेक्सपियर से कम नहीं हैं। कालिदास की चरित्र-सृष्टि में नरपति, राजमहिषी, मुनि-योगी, गुरुपुत्र, देवता, विदूषक कञ्चुकी, देवकन्या, अप्सरा सारथि, योद्धा, मछुआ, गायनाचार्य सभी के लिये स्थान है। इनमें से प्रत्येक वर्ग के भी अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति के अपने विशेष गुण हैं जिनकी समता औरों से नहीं की जा सकती। राजा अग्निमित्र

---

१. दिलीप और सिंह की कथा, रघु और विश्वामित्र की कथा, रामायण की कथा, लवकुश की कथा इत्यादि।

२. रघुवंशियों का वर्णन, समुद्र वर्णन, पर्वत वर्णन, संगम का वर्णन इत्यादि।

धीरोदात्त नायक हैं और मालविका से प्रेम रखते हुए भी सदा अपनी अन्य राजमहिषियों का ध्यान रखते हैं। राजा विक्रम धीर ललित नायक हैं। वे उर्वशी के प्रेम में इतने प्रमत्त हो जाते हैं कि न मालूम क्या-क्या बकने लगते हैं। राजा दुष्यंत आखेटप्रिय किंतु प्रेमोन्मत्त हैं। रघुवंश में तो विभिन्न प्रकार के राजाओं की मानो पंक्ति खड़ी कर दी गई है। रघुवंश के प्रथम सर्ग में स्वयं कवि का कथन है कि मैं जन्म से निषेकादि संस्कारों से शुद्ध, फल की सिद्धिपर्यंत कर्म को करनेवाले, समुद्र पर्यंत पृथ्वी का शासन करनेवाले स्वर्ग तक रथ के मार्गवाले, विधिपूर्वक अग्नि में आहुति देनेवाले, इच्छानुसार याचकों का संमान करनेवाले, अपराध के अनुसार दंड देनेवाले, उचित समयपर सावधान रहनेवाले, सत्पात्र को दान देने के लिये धन को इकट्ठा करनेवाले, यश लिए के विजय चाहनेवाले, संतान के अर्थ विवाह करनेवाले, बालकपन में विद्या सीखनेवाले, युवावस्था में भोग की अभिलाषा रखनेवाले, वृद्धावस्था में मुनियों के समान जीवन व्यतीत करनेवाले, अंत में योग से शरीर त्याग करनेवाले, रघुवंशियों के वंश का वर्णन करने लिये मुझ उन्हीं रघुवंशियों के यशोगानकी प्रसिद्धि के श्रवणने प्रेरित किया है। यद्यपि मेरी वाणीका वैभव, मेरी काव्य-रचना-क्षमता स्वल्प ही है दिलीप की तरह दूसरों के लिये जीनेवाले, रघु के समान दानशील, अज के समान सुंदर, दशरथ के समान दृढ़व्रती, और राम के समान सर्वगुणसंपन्न नृपति, कालिदास-काव्यको छोड़कर कहाँ एकत्र मिलेंगे पार्वती और सीता के समान पतिव्रता पत्नी, शकुंतला की तरह सुंदर अबोध प्रकृतिपुत्री, धारिणी के सदृश दाक्षिण्ययुक्ता राजमहिषी, सुदक्षिणा के समान सेवापरा नारी, कालिदास के काव्य-भांडागार में ही प्राप्त हो सकती हैं।

कालिदास ने केवल वर्गों का वर्णन नहीं किया वरन् प्रत्येक वर्ग के अंतर्गत अपवादों का भी उल्लेख किया है। कण्व, मारीच, दुर्वासा, नारद, वशिष्ठ, विश्वामित्र वाल्मीकि, सभी वीतराग हैं। पर सब में अंतर है। कण्व कुलपति हैं, मारीच योगी हैं, दुर्वासा क्रोध की मूर्ति हैं। नारद बहुधंधी हैं, वशिष्ठ शांतिप्रिय हैं, विश्वामित्र राजर्षि हैं, वाल्मीकि आश्रमवासी हैं। मुनिवर्ग के होते हुए भी सब में अलग-अलग विशेषताएँ हैं। तारकासुर के समान बलशाली असुर, इरावती के समान ईर्ष्यालु रमणी, गणदास के समान गायनाचार्य, भरत (सर्वदमन) के समान बीर बालक कालिदास की सृष्टि को छोड़कर और कहाँ मिलेंगे। कालिदास की चरित्र-सृष्टि में सभी वर्ग के और सभी जाति के लोग हैं।

(८)

यह तो हुई मानव-समाज के चरित्र-चित्रण की कथा। पर कालिदास की कला मानव-समाज के चरित्र-चित्रण तक सीमित न रही। वह प्रकृति-वर्णन की ओर अग्रसर हुई। प्रकृति का वर्णन कवियों ने दो प्रकार से किया है। एक तो प्रकृति का वर्णन प्रसंगवशात् किया जाता है, जैसे वाल्मीकि ने किष्किंधाकांड में शरद् ऋतु का वर्णन किया है। दूसरे प्रकृति का वर्णन प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से ही किया जाता है। कालिदास में दोनों प्रकार के वर्णन मिलते हैं। भारतीय साहित्य में दूसरे प्रकार के प्रकृति-वर्णन का मूलस्रोत कालिदास को ही कहना पड़ेगा।

ऋतुसंहार और मेघदूत की रचना प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से ही हुई है। ऋतुसंहार का प्रारंभिक श्लोक ही ग्रीष्मऋतु का कैसा मूर्तिमान् चित्र सामने लाकर खड़ा कर देता है। "हे प्रिये, यह ग्रीष्म ऋतु आ गई है जिसमें कि सूर्य बड़ा ही प्रचंड रहता है, सदा चंद्रमा की अभिलाषा (शीतलता के लिये) रहती है, जल नित्य-स्नान से कम हो चला है। सायंकाल बड़ा ही रमणीक प्रतीत होता
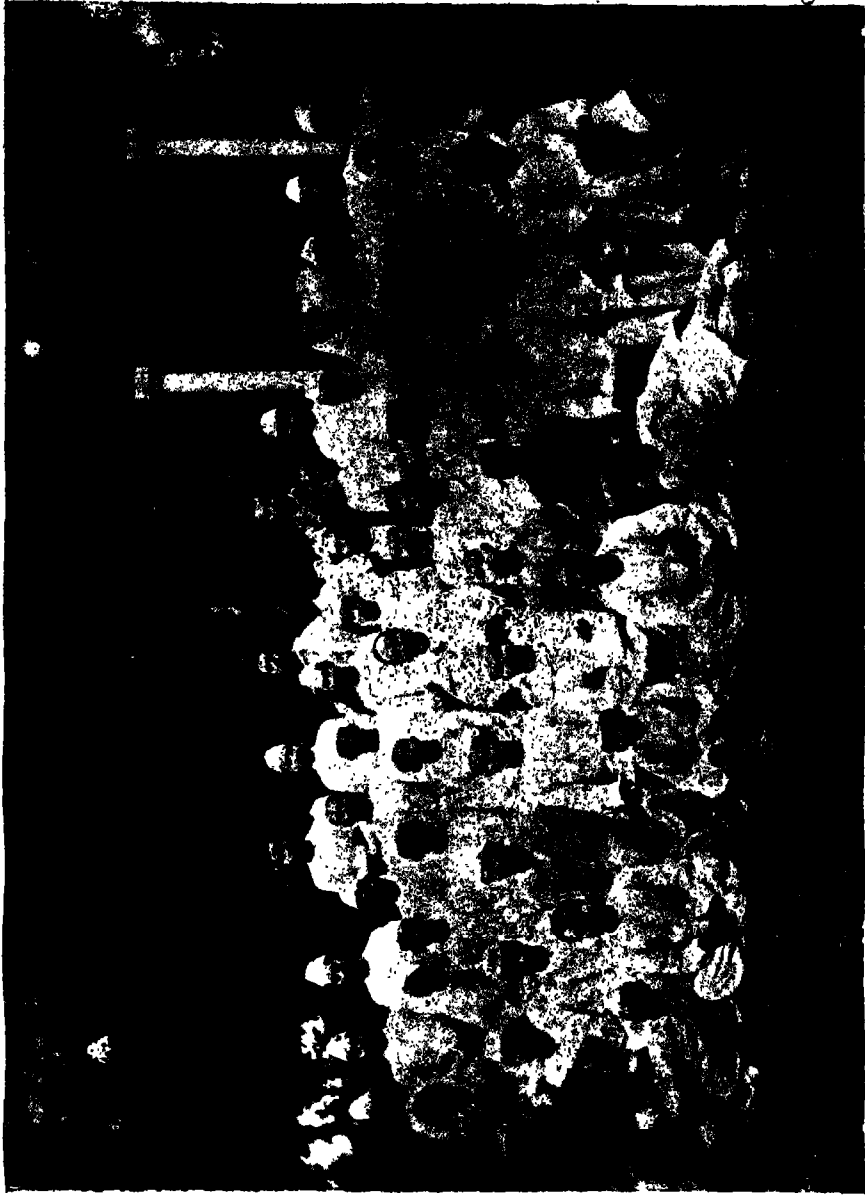
श्रीसंपूर्णानंद जी काशी विद्यापीठ के विद्यापीठ परिवार में सन् १९२६

है और कामदेव का प्रभाव शांत हो चुका है।" एक चित्रकार जिस प्रकार अपनी तूलिका से चित्र को चित्रित करता है उसी प्रकार ग्रीष्मऋतु का बड़ा ही सुंदर चित्र खींचा गया है। कालिदास ने ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर और योद्धा ऋतुराज वसंत—षड्ऋतु का वर्णन प्रिया को संबोधित कर बड़े सुंदर ढंग से किया है।

मेघदूत में प्रकृति-वर्णन के साथ-साथ एक और विशेषता है। एक यक्ष को अपने अधिकार में प्रमत्त होने से अलका से एक वर्ष के लिये मृत्युलोक जाने का दंड मिलता है। वह रामगिरि पर्वतपर एक आश्रम बनाकर रहने लगता है। वह अपनी स्त्री के वियोग से दुखी होकर मेघ से अपना संदेश ले जाने के लिये प्रार्थना करता है। यही इसकी कथा है। यहाँ कवि प्रकृति के जड़ तथा क्रूर रूप को देखना नहीं चाहता वरन् उससे सहानुभूति की अपेक्षा करता है। प्रकृति केवल जड़ नहीं है वरन् चेतन भी है। आर्त और पीड़ितों के लिये वह शरणदायक है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि श्रीरामचंद्रजी को किष्किंधा पर्वत पर प्रियावियोग से इसी मेघ ने दुखित कर दिया था। वाल्मीकि ने उसके कष्टदायक स्वरूप को हमारे सामने रखा था पर कालिदास उसके सहानुभूति-प्रदायक स्वरूप को सामने रखते हैं।

कुमारसंभव के प्रथम सर्ग के प्रारंभ में ही हिमालय का वर्णन सोलह श्लोकों में किया गया है। रघुवंश में प्रकृति-वर्णन के कई प्रसंग हैं। पंचम सर्ग में प्रातःकाल जब बंदीजन अज को जगाना चाहते हैं तब प्रभात का वर्णन, बड़ा ही सुंदर किया गया है। रघुवंश का त्रयोदश सर्ग तो प्रकृति-वर्णन के लिये प्रसिद्ध है ही। समुद्र, गंगा-यमुना का संगम, चित्रकूट आदि के वर्णन, विशेष उल्लेखनीय हैं।

कालिदास की कला ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती गई त्यों-त्यों प्रथम प्रकार का प्रकृति-वर्णन अधिकाधिक पाया जाने लगा। शाकुंतल के छठे अंक में राजा के दुख से दुखी होकर प्रकृति ने अपने साज त्याग दिए थे। "आम्रमंजरी में फलों का लगना बंद हो गया, कुरबक की कली पनपने न पाई, शीतकाल जानेपर भी कामदेव ने डर के मारे अपने तरकस से बाण नहीं निकाले।"[1] विक्रमोर्वशीय में राजा विक्रम, मयूर, कोकिल, हंस चक्रवाक, भ्रमर, गज, पर्वत, नदी और कुरंग, सब से अपनी प्रेयसी के संबंध में पूछता हुआ उनकी सहानुभूति को प्राप्त करता है।"

कालिदास ने प्रकृति-वर्णन में किसी को नहीं छोड़ा। पर्वत, ऋतु, नदी, तालाब, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न,[2] सायंकाल,[3] रात्रि सब का वर्णन किया और जिसका भी वर्णन किया उसका एक चित्र, सफल कलाकार के समान सामने खींच दिया है।

(९)

उपर्युक्त काव्य-वैभव के दिग्दर्शन से जो सारांश निकलता है वह है कालिदास का जीवन-दर्शन। कालिदास का जीवन-दर्शन क्या था? कहा जाता है कि कालिदास ने अपनी रचनाओं में

---

१. विक्रमोर्वशीय अंक ४, श्लोक ११।

२. मालविकाग्निमित्र अंक २, श्लोक १२।

३. शाकुंतल अंक ३, श्लोक २५।

श्रृंगार को अत्यधिक स्थान दिया है। इससे क्या यह निष्कर्ष निकलता है कि कालिदास का उद्देश यही था कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य खाना-पीना, सुख से रहना और मर जाना है।

डा० बिटेडेल कीथ महोदय लिखते हैं[1]—"कालिदास की कृति सुंदर होनेपर भी उसमें जीवन और नियति के ऊँचे विषयोंपर प्रकाश नहीं डाला गया है।.....गेटे और विलियम जोन्स की प्रशंसा मान्य अवश्य है पर हमें इस बात को न भूल जाना चाहिए कि उसका दर्शन ब्राह्मण धर्म से आबद्ध है उसके विचार में मनुष्य नियति से शासित होता है जो उसके कर्मों के परिणाम हैं। पर उसे संसार एक दुख का समुद्र है—इस बात का आभास न था, न उसे जनता की भयंकर दशा से सहानुभूति थी, न वह अन्याय को समझ सकता था।"

कीथ साहब का यह कथन कि कालिदास का दर्शन बहुत संकीर्ण था हमें ठीक नहीं मालूम होता। माना कि कालिदास ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। पर उस समय के ब्राह्मणधर्म के समान आज भी कोई व्यापक धर्म नहीं हैं। 'जन्मना जायते शूद्रः' संस्काराद्विज उच्यते'—जन्म से प्रत्येक पुरुष शूद्र होता है और संस्कार से ब्राह्मण कहलाता है। इससे बढ़कर व्यापक कौन-सा धर्म होगा। संस्कार चाहे पूर्व जन्म के हों या इस जन्म के। कारण और फल—संस्कार और उनके फल—दोनों का संबंध तो आदिकाल से चला आ रहा है।

अब रही बात जनता के दुःख के साथ सहानुभूति प्रदर्शन आक्षेप की। कालिदास कवि थे, इतिहासकार नहीं। कालिदास का कथन था कि भाग्य या दैवी शक्ति के प्रभाव से बड़े-बड़े देवता और राजर्षि तक बचे नहीं हैं तब हम ऐसे लोगों की क्या गिनती है। भगवान् शंकर के नेत्र की ज्वाला से कामदेव भस्म हो गया, दुर्वासा के शाप से शकुंतला को कष्ट झेलने पड़े, और भाग्य का ही खेल था जिसके कारण श्रीरामचंद्रजी को चौदह वर्ष का बनवास सहना पड़ा। सीताजी को दूसरे वनवास की तैयारी करनी पड़ी। अज की स्त्री की मृत्यु जब नारद की माला के पड़ने से हो जाती है तब अज उस दुख में प्रजापालन के आदर्श को सामने रखकर अपने शरीर को जला नहीं देता। इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि संसार में कर्तव्य का महत्व सब से ऊँचा है। मनुष्य जीवन में यदि कहीं संतोष लभ्य है तो वह कर्तव्यपालन में है। यदि वह दुख के भार से आक्रांत होता है तो उसके जीने के लिये कोई जगह न रहेगी। क्या जीवनदर्शन के लिये कालिदास की यह बहुत बड़ी देन नहीं है ?

(१०)

अब हम लेख के उस सोपानपर आते हैं जिसमें कालिदास के कवित्व का निष्कर्ष स्पष्ट प्रकट होता है।

मस्तिष्क और हृदय के विकास की चरम सीमा में ही कवित्व की पराकाष्ठा है। जिसमें दोनों का संतुलित संमिश्रण हो उससे बढ़कर संसार में कौनसा महाकवि हो सकता है। मस्तिष्क का चरम विकास उच्च कल्पना में है और हृदय का चरम विकास हृदयोद्गारों की प्रबलता में। कालिदास

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २६०।

में दोनों का सुंदर संमिश्रण है । रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में गंगा-यमुना के संगम वर्णन में मस्तिष्क के विकास की पराकाष्ठा है। कवि का कथन है :—

"श्री रामचंद्रजी श्री सीताजी को संबोधित करके कहते हैं कि "हे प्रिये, यमुना की लहरों से मिश्रित गंगा के तरंगों को देखो जो कहीं इंद्र नीलमणियों से गुथी हुई मोती की लड़ीके समान हैं, कहीं नील कमलों से युक्त श्वेतपद्मों के समान है, कहीं काले हंसों से मिली हुई मानसरोवर के श्वेत हंसों की पंक्ति सी है, कहीं सफेद चंदन से मिले हुए काले अगरु के सदृश है, कहीं काली छाया से युक्त चंद्रमा की स्वच्छ प्रभाव सदृश हैं। कहीं शरद् ऋतु के सफेद बादलों के समान है जिसके अंतर्गत् नीलाकाश स्पष्ट परिलक्षित होता है, और कहीं काले सर्पों से लिपटे हुए सफेद भस्म के अंगराग से अंजित श्री शंकर के शरीर के सदृश है ।"

यहाँ उपमाओं की लड़ी लगा दी गई है। एक के बाद दूसरी उपमा ऐसी प्रतीत होती है मानों कल्पना रूपी वायुयान में बैठकर कवितारूपी पक्षी स्वर्ग में विहार करने जा रहा हो।

हृदय के भावनाओं क्षेत्र शकुंतला नाटक के उन चार श्लोकों में मिलता है जिसमें महर्षि कण्व शकुंतला की बिदाई के अवसरपर अपने हृदयोद्‌गारों को व्यक्त करते है। कालिदास के मतानुसार जब एक तपस्वी के हृदय को पुत्री का ससुराल जाना इतना पीड़ा देता है, तो गृहस्थों का क्या हाल होता होगा । इस श्लोक चतुष्टय में कालिदास की भाषा भावों की अनुचरी होकर हृदयोद्‌गार के क्षेत्र में विचरण करने लगी ।

क्या भाषा का प्रवाह, क्या भावनाओं की अभिव्यक्ति क्या हृदयोद्‌गार की मार्मिकता प्रत्येक क्षेत्र में कालिदास का काव्य वैभव इतना प्रशस्त है कि उन का स्थान केवल भारतवर्ष के महाकवियों में ही अत्युच्च नहीं है वरन् संसार के महाकवियों की श्रेणी में भी किसी से पीछे नहीं है।
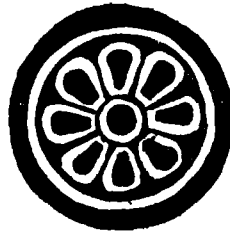
धर्म और दर्शन

शुकदेव चौबे

धार्मिक अनुभवों में दार्शनिक मीमांसा की भी कोई संभावना है यह धर्म के दर्शन के अध्येता के संमुख प्राथमिक प्रश्न उपस्थित होता है। दार्शनिक अनुसंधान न तो अनुभव की प्रसूति करता है और न उसके अभाव का ही निर्देश करता है। उसे तो जीवन किंवा अनुभव की स्थिति मूलतः अपेक्षित है क्योंकि दार्शनिक मीमांसा तो अनुभव का ही युक्ति संगत विश्लेषण है। इसप्रकार दार्शनिक का कार्य अनुभव-विशेष द्वारा व्यक्त नियमों और सिद्धांतों का सम्यक् स्पष्टीकरण है। ऐसा करने में वह अनुभव-मात्र का विश्लेषण और उसमें सन्निहित सिद्धांतों का स्पष्टीकरण कर देता है। निस्संदेह इस व्यापार में उसे अनुभव के विषय में मूल्यांकन करना पड़ता है। यहींपर विचार-कार्य की उपयोगिता और आवश्यकता का प्रश्न उठता है और यह निश्चित किया जाता है कि सत्यासत्य में क्या भेद है, शिव एवं अशिव में क्या अंतर है। इस मूल्यांकन में तर्क-बुद्धि अपने समक्ष एक ऐसा निकष अथवा मापदंड स्थिर कर लेती है जिसके आधारपर मूल्यांकन होता है एवं अनुभवों की एक क्रमिक परंपरा बन जाती है। यह प्रणाली मूलतः मानसिक नहीं, तार्किक है; और यदि तर्क-बुद्धि से प्राप्त (संमत) विश्लेषण किंवा मूल्यांकन का महत्व हम न स्वीकार करें तो धर्मक्षेत्र में अथवा अनुभव के किसी क्षेत्र में दार्शनिक मीमांसा की चर्चा असंगत हो जायगी। तर्क-बुद्धि की क्षमता में संदेह करनेवाला व्यक्ति बड़ा द्रष्टा भले ही हो किंतु वह दार्शनिक नहीं हो सकता।

यहाँ जो दृष्टिकोण लिया गया है वह इतना स्पष्ट है कि सामान्यतः इसका निरूपण अनावश्यक प्रतीत होगा। किंतु दर्शन साहित्य का इतिहास बहुत अंशों में प्रायः तर्कबुद्धि और अनुभव के बीच विरोध की मीमांसा का इतिहास रहा है। सच तो यह है कि तर्कवाद और अनुभववाद में प्रातिभासिक विरोध के कारण धर्मगत क्षेत्रों में दार्शनिक मीमांसा की चर्चा अनर्गल हो जाती है। प्राच्य दार्शनिक प्रणाली एवं पाश्चात्य दार्शनिक विचार धाराओं को देखने से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। बड़े-बड़े दार्शनिक और धर्मविद् भी इस विरोध बुद्धि से अछूते नहीं रहे हैं। अतएव धर्म-शास्त्र (फिलास्फी आफ रिलीजन) के अध्येता के लिये इस विरोध का निराकरण आवश्यक हो जाता है और जबतक इस विरोध का मूल कारण वह व्यामोह जो द्वैतमात्र का आधार है दूर नहीं होता तबतक हमें यथार्थ की झाँकी भी नहीं प्राप्त हो सकती चाहे हम उसे सुंदर और आनंद-

मय समझकर कितना भी लालायित हो उठें। अतएव धर्मशास्त्र की संगति के विरुद्ध आपत्तियों का सामना करना ही है। ये आपत्तियाँ तीन दिशाओं से उद्भूत होती हैं। प्रथमतः ऐसे लोगों की ओर से जो धर्म को अपौरुषेय मानते हैं, दूसरे रहस्यवादियों की ओर से। धर्म और धर्मशास्त्र का अंतर तो स्पष्ट है। एक एक घटना का निर्देश करता है और दूसरा उस घटना के आधारभूत सिद्धांतों का विश्लेषण एवं मूल्यांकन करता है। यदि संसार के रहस्य-साधकों के अनुभवों पर दृष्टि डाली जाय तो दिखाई पड़ता है कि चाहे उनमें देशकाल परंपरा और कर्मकांड संबंधी कितने भी और कैसे भी अंतर क्यों न हों उनकी 'बानियों' (वाणी) एवं सिद्धियों में एक आंतरिक साम्य है जिससे हम चमत्कृत हो जाते हैं और जो इस बात की ओर संकेत करते हैं, कि धर्म न तो कुछ सिद्धांतों का स्वीकरण है और न रूढ़ियों किंवा पूजाविधियों का अनुसरण। यद्यपि इन सब का संसार की विभिन्न धर्म परंपराओं में महत्वपूर्ण स्थान रहा है और इसके द्वारा साधकों को प्रारंभिक अवस्था में प्रेरणा और साहाय्य प्राप्त होता रहा है। धर्म तो जीवन-संबंधी एक जीवन व्यापी अनुभव है— यथार्थ के स्वभाव का दर्शन और उसका अनुभव। प्रत्यक्ष ज्ञान की भांति वह बिना किसी माध्यम के सीधा प्राप्त होता है और इसीलिये हिंदू धर्मशास्त्र में उसे स्वतः सिद्ध माना जाता है जबतक कि वह किसी अपर घटना (अनुभव) के द्वारा बाधित न हो।

आज विज्ञान की अभिवृद्धि ने मानव प्राणी के समक्ष अपनी अनेक देशीय सिद्धियों के द्वारा जो चकाचौंध उपस्थित कर दी है और उस विमूढ़ता के फलस्वरूप उसकी अज्ञात मनःस्थिति, मनोगति और मनोदशा के कारण रहस्यमूलक अनुभवों में विजातीय बातों का जो समावेश संभव हो गया है उसके कारण स्वतः सिद्धि अनुभूतियों का महत्व कम हो गया है। अज्ञात मन की प्रतिक्रियाएँ चेतन-व्यापार की विभिन्न पुकारों के साथ इस तरह संमिश्रित मिलती हैं कि सत्य का असत्य से वास्तविक का मिथ्या से और ऊँच का नीच से पृथक्करण असंभव-सा हो गया है। हमें प्रत्यक्ष साक्षात् से ज्ञान की जो प्रतीति होती है उसे सत्य साक्षात् के रूप में स्वतःसिद्ध मानकर स्वीकार नहीं किया सकता। कहीं भावना-मात्र की वेदीपर सत्य और संगति का बलिदान न हो जाय इस हेतु यह देखना चाहिए कि हमारे अनुभव में किंवा तज्जनित ज्ञान में कहीं किसी प्रकार की त्रुटि की संभावना तो नहीं थी। यह संभावना धर्मगत रहस्यपूर्ण अनुभूतियों के संबंध में अधिक हो जाती है क्योंकि ऐसी दशा में देव-साक्षात् की आनंद भावना ही हमारे लिए आवरण और निम्न कोटि की सामान्य घटनाओं के लिये अवगुंठन बन जायगी। मनोविश्लेषण के प्रसिद्ध प्रवर्तक 'फ्रायड' ने इस प्रसंग में बड़ा चुभता हुआ परिहास किया है। उसने कहा है कि ऐसी स्थिति में साधकों के समक्ष उनके अज्ञात मनःक्षेत्र में से कोई परिदलित ग्रंथि उसी प्रकार प्रस्फुटित हो जाती है जैसे बच्चे अपने मन की बातें बाह्य जगत् में देखने लग जाते हैं। धर्मगत अनुभूतियों के क्षेत्र में इस प्रकार की अनीप्सित संभावना अपेक्षाकृत अधिक संभव होती है। अतएव तर्कबुद्धि के लिये यहाँ सब से आवश्यक क्रिया-क्षेत्र है।

मीमांसा बुद्धि की आवश्यकता के साथ-साथ उसकी महिमा भी प्रतिपादित हो जाती है। धर्मक्षेत्र में प्रयुक्त दृष्टिकोण एक मनःस्थिति है न कि केवल भावमयी स्फुरण किंवा कल्पनागत आनन्दस्थिति। वह तो है हमारी आत्मा, हमारे सच्चे और पुंजीभूत व्यक्तित्व की केंद्रीय सत्ता, यथार्थ के समक्ष उसके साक्षात् से उद्भूत संपूर्ण उत्सर्ग, सबकुछ न्योछावर करती हुई प्रतिक्रिया। व्यक्ति

और यथार्थ के बीच किसी माध्यम के व्यवहृत होने की चर्चा करना ही असंगत कल्पना है। यह सत्य है कि व्यक्ति की यह दशा असाधारण है और इसी हेतु सत्यासत्य के विवेक के लिये इस दशा का परीक्षण आवश्यक है। इस परीक्षण कार्य के लिये तर्क-बुद्धि का माध्यम आवश्यक हो जाता है। स्पष्टतः धर्म और धर्मशास्त्र के दृष्टिकोणों की भिन्नता भी स्थापित हो जाती है। यह भेद मौलिक है और धर्मशास्त्र के अध्येता का दृष्टिकोण यह परीक्षण वाला दृष्टिकोण है। इस विमर्श से यह बात सिद्ध हो जायगी कि जागरूक प्राणी को अपनी भक्ति श्रद्धा और विश्वास में समालोचक बुद्धि को समाविष्ट रखना चाहिए।

धर्म और धर्मशास्त्र के भेद के स्पष्टीकरण के बाद धर्मशास्त्र की उपादेयता प्रतिपादित हो जानेपर धर्मशास्त्र की विरोधी धाराओं का विश्लेषण एवं निराकरण शेष रह जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि विरोध के तीन उद्गम हैं। प्रथम विरोधी धर्म के अपौरुषेय होने के सिद्धांत की शरण लेते हैं। उनका कहना है कि धर्मतत्व स्वयं भगवान् द्वारा प्रतिपादित होते हैं। अतएव उसके विषय में संशयात्मिका बुद्धि के लिये न कोई गुंजाइश है और न कर्तव्य है। ऊपरी तौरपर यह दुर्ग अभेद्य प्रतीत होता है, क्योंकि पूर्वपक्ष की प्रतिज्ञा ही के अनुसार वाणी और बुद्धिपर ताला लग जाता है। किंतु यह दुर्ग परीक्षण के समक्ष नहीं टिक सकता। संसार के विभिन्न धर्मों की आस्थाएँ किंवा आधार (और ये सब अपौरुषेय संवाद रहते हैं) परस्पर विरुद्ध पाए जाते हैं। फिर तो परीक्षण-बुद्धि का कार्यक्षेत्र प्रशस्त हो जाता है और धर्मशास्त्र की उपादेयता के संबंध में दो मत नहीं हो सकते।

जब द्रष्टा (ऋषि) देवत्वसिंधु में अपने को (अपनी सत्ता को) खो बैठता है तब उसका स्वानंद-स्थिति-विषयक जो वाक्-प्रस्फुटन हो पड़ता है वही धर्म के इस अपौरुषेयत्व का आधार होता है। अनंत-सत्य-संबंधी यह अनुभूति जहाँ ऋषि के स्वयं अपने आनन्त्य की बोधिका है वहीं वह व्यवहारिक सीमाओं से परिबद्ध वाणी का आश्रय लेती है जब महात्मा भव-सागर के अन्य प्राणियों के कल्याण के लिये उन्हें अपनी अनुभूति की क्रोड़ में प्रश्रय देना चाहता है। भाषा की संकेतात्मक कोटियाँ ही ये सीमाएँ बन जाती हैं। यहाँ विचारणीय बात यह है कि विभिन्न देशों के विभिन्न द्रष्टाओं ने एक ही सत्य के विषय में विभिन्न प्रकार के संकेतों का प्रयोग किया है। एक तो द्रष्टा स्वयं अपने मनोविकारों के अनुसार ही संकेतों का प्रयोग करेगा, दूसरे उसके श्रोता अपनी-अपनी मनःशक्ति के आधारपर उन संकेतों का अर्थ समझने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार किसी एक सर्वमान्य मापदंड के अभाव में वचनारण्य से त्राण देने के निमित्त बुद्धि और मीमांसा की आवश्यकता प्रायः स्वतःसिद्ध हो जाती है। व्यक्ति की मनःशक्ति सांस्कृतिक परंपरा और सामाजिक वातावरण के उस अंश से पैदा होती है जिसे वह अपना लिए रहता है और उसे अपने अनुभव की बात कहने के लिये जिन संकेतों का आश्रय लेना पड़ता है उनका श्रोता अपनी मनःशक्ति के अनुसार अर्थ लगाता है। जो कुछ "वचनामृत" में महात्माओं से प्राप्त होता है उस पर हमारी मानसिक स्थिति का मुलम्मा अवश्य लग जाया करता है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—'जाकी रही भावना जैसी। हरिमूरति देखी तिन तैसी।' स्वयं भगवान् ने गीता में घोषणा की है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

ऐसी परिस्थिति में हमें इस अन्य-भावना से मुक्ति लेनी है कि धर्म के संबंध में जो अपौरु-

धेय है वह स्वयं प्रकाश है और मानस की पहुंच के परे की बात है। मानव बुद्धि यह स्वीकार ही नहीं कर सकती कि भगवान् कहीं बैठे-बैठे अपने उपासकों को दर्शन देकर उन्हें अभिभूत कर देते हैं और उनका कल्प हो जाने पर विशेष प्रकार की भाषा निस्सरित होती है तथा इस प्रकार के निस्सरणों को संग्रहीत करके जो धर्म-प्रवर्तन किया जाता है वह अंधा होकर मान लेने की चीज है। कि साधक के कल्प की कथा को अमान्य नहीं कहा जा सकता। जैसे हम उसकी बात मानने में स्वतंत्र हैं वैसे ही वह भी हमारे खंडन मंडन की परवाह नहीं करेगा। अनुभूति तो संसार भर के लोगों के तर्कों के समक्ष अडिग रहती है किंतु यह तो सर्वमान्य है कि धर्म के अपौरुषेय होने पर भी उसका ज्ञान कोई स्थिर वस्तु नहीं हो सकता। ऐसा मान लेने पर तो असीम भगवान् के ज्ञान को सीमित मानना पड़ जायगा और इसप्रकार स्वयं भगवान् की अनंतता को ठेस लगेगी। यहाँ पर प्रोफेसर राधाकृष्णन् का एक वाक्य बहुत ही संगत होगा—'यद्यपि अतीत के युगों में ऋषियों की आत्माओं में जो भगवान् की वाणी की प्रतिध्वनियाँ हुई हैं वे अत्यंत बहुमूल्य हैं तथापि हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भगवान् ने कभी अपनी बुद्धिमत्ता (ज्ञान) और प्रेम का संदेश देना समाप्त नहीं किया और इस विचार से उन प्रतिध्वनियों के लिये हमारे आदर की भावना कुछ संयत हो जायगी।'

एक बात और है। हिंदू-धर्म श्रुतियों तक को विशेषणों के साथ मानने का आदेश है। अर्वाचीन युग में भामतीकार श्री वाचस्पति मिश्र ने घोषणा की है—'तात्पर्यवतीश्रुतीप्रत्यक्षात् बलवती न श्रुतिमात्रम्।' तर्क-संगति की महत्ता के प्रतिपादन में इससे बढ़कर साहसपूर्ण उक्ति किसी आस्तिक विद्वान् की लेखनी से कदाचित् ही निकली हो। बात भी सच है। द्रष्टा अपनी अनुभूति के विषय में जो कुछ कहता है उसे सत्य का, जीवन का, प्रतिरूप मात्र समझना चाहिए। इन उक्तियों द्वारा हमें विशिष्ट आत्माओं के विशिष्ट आध्यात्मिक अनुभव मिलते हैं। जिनमें सत्य एवं यथार्थ का पुट अधिक रहता है इस दृष्टिकोण का परिहार असंगत है। अतएव धर्म के विषय में शास्त्रीय बुद्धि धर्मशास्त्र की संभावना ही नहीं उसकी उपादेयता भी सिद्ध हो जाती है।

दूसरी आपत्ति (विरोध) रहस्यवादियों की ओर से उठती है। इनका कहना है कि अनुभव-व्यक्ति का धार्मिक अनुभव—एक अनुपम, अद्वितीय बात है। यथार्थ, जिसका रहस्य साधक को साक्षात् होता है, और जिसके साथ वह अपनी आनंद-स्थिति में तादात्म्य का भान करता है किसी भी प्रकार के विकल्प-संकल्प के परे है। इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, वह अनिर्वचनीय है। "यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्यमनमासह" किंवा 'शान्तोऽयमात्मा'। ये साधक चाहे जो कहें, इनके विषय में यदि मीमांसा को चुप कर दिया जाता है तब तो कुछ भी कहा जा सकता है। तर्कशील बुद्धि को चुप कर देने के लिये इतना ही पर्याप्त हो जायगा कि वहाँ बुद्धि की कोई गति ही नहीं। फिर तो मनमानी उक्तियों के अव्यवस्थित जंगल से त्राण का मार्ग ही नहीं रह जायगा। किंतु लगता तो यह है कि साधक को साक्षात् के अवसर पर उसके पश्चात् जो एक छाया रूप संज्ञा सी रह जाती है उसी को संकेतों द्वारा भाषा-बद्ध कर दिया जाता है और यह दावा किया जाता है कि सत्य की व्याख्या हो गई। इसके अतिरिक्त दूसरी व्याख्या अथवा इस व्याख्या के विषय में किसी प्रकार की छानबीन दोनों ही अनर्गल चर्चाएँ हैं। तथापि धर्म-तत्त्वों के विषय में शास्त्रीय विवेचन के विरुद्ध यह कोई आपत्ति नहीं जंचती। यहाँ जो हेत्वाभास घटित होता है उसे यदि गाड़ी को घोड़े के

आगे रखना कहा जाय तो अनुचित न होगा। यदि यह अनुभव और इसे प्राप्त करनेवाली इंद्रिय-विशेष कोई ऐसे पदार्थ हैं जो परिमित साधन-संपन्न व्यक्ति होने के कारण हमारी ज्ञान-क्षमता के परे हैं तो हम उन्हें स्पष्ट जान ही नहीं सकते और यदि वे जीवनव्यापी नियमों का विरोध करते हैं तो उनकी सत्ता स्वीकार करना स्वयं बाधित स्थिति है। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि रहस्यानुभूति और तज्जनित आनंद–स्थिति की वास्तविकता से आँख नहीं मूंदी जा सकती। ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि अनुभव अपने अधिकरण के लिये अडिग होते हैं। संसार का सारा वाक्चातुर्य अथवा तर्क-विचक्षणता व्यक्ति को उसके अनुभव से विचलित करने के लिये अपर्याप्त सिद्ध होगी। आवश्यक केवल यह है कि यह बात सर्वथा मान्य रहे कि किसी भी दशा में अनुभव, जीवन अथवा ज्ञान के नियमों द्वारा बाधित होने पर, मान्य नहीं हो सकता। स्पष्ट ही है कि यहाँ बुद्धि और उसके नियमों की संगति के अतिरिक्त इसका निरूपण करने के लिये हमारे पास कोई अन्य साधन नहीं है। रहस्य साधक की उक्तियाँ केवल इसलिये मान्य नहीं हो जातीं कि वे रहस्योक्तियाँ हैं। हमें उन्हें मानवीय संपत्तियों में सर्वश्रेष्ठ बुद्धि, की कसौटीपर उतरने पर ही स्वीकार करना चाहिए।

धर्म के अंतर्गत आनेवाले सच्चे अनुभव का मर्म यही है कि हमारे जीवन में एकरूपता स्थापित हो जाय और व्यक्ति की सर्वांगीण एवं सामंजस्य पूर्ण अभिवृद्धि और उसके व्यक्तित्व का सम्यक् विकास हो न कि उसकी किसी शक्ति का ह्रास किंवा परिदलन हो जाय और तब कोई अन्य शक्ति विकसित हो। इस प्रकार तो परस्पर विरोधी दशाओं का प्रादुर्भाव होगा और साधक के जीवन में असामंजस्य और अव्यवस्था हो जायगी। स्वयं रहस्यवादी का दावा होता है कि रहस्यानुभूति पूर्ण शांतिमयी होती है। 'शान्तोऽयमात्मा।' इस 'शांतात्मा' का परिणाम यह कदापि नहीं हो सकता कि साधक की कुछ वृत्तियाँ नष्ट हो जायं। इसका फल तो उसके व्यक्तित्व की सर्वांगीण, सम्यक्, सब ओर से भरपूर अभिव्यक्ति और विकास होगा। इस पक्ष की प्रतिज्ञा तो यह है कि ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर व्यक्ति उपास्यदेव के व्यक्तित्व में समाविष्ट होकर भगवान् के साथ ही पूर्णैश्वर्य का भागी होता है और फिर मानव की बुद्धि का चरम विकास एवं सार्थकता या चरितार्थता भी इस स्थिति के प्राप्त होने पर निष्पन्न होगी। मीमांसा इस स्थिति के प्राप्त होने पर अपने सच्चे से सच्चे रूप में और ऊँचे से ऊँचे पदपर प्रतिष्ठित होगी। उसे अनर्गल कहना अथवा उसकी चर्चा को असंगत बतलाना तो सत्य को बाष्प छाया के मिथ्या आवरण में प्रकोष्ठित करने का व्यर्थ प्रयास है।

तीसरी आपत्ति अज्ञेयवादियों की ओर से उठती है। अज्ञेयवाद का बहुत ही घातक दुरुपयोग हुआ है। ओछी उक्तियाँ देकर मीमांसा-पिशाचों ने बुद्धि को चुप करने के व्यर्थ प्रयास किए हैं। इस प्रकार अनेक अंधविश्वास पैदा हो गए हैं। इतना ही नहीं, तर्कशील बुद्धि ऐसे विचारों के कारण शिथिल हो जाया करती है और प्रायः नीतिवाक्यों की शरण लेना चाहती है। उदाहरण के लिये 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' जैसे वाक्यों की व्यावहारिक उपादेयता पर्याप्त होगी। धर्मतत्व के संबंध में ज्ञान की अपौरुषेयता अथवा धर्म-ज्ञान के रहस्यानुभूतियों से उद्भूत होने के सिद्धांत से भी अज्ञेयवाद को बल प्राप्त होता है क्योंकि इन सिद्धांतों के समक्ष मानवबुद्धि को व्यर्थ कहने का मर्म यह भी होता है कि ईश्वर—वास्तविक सत्य—का ज्ञान हमें अप्राप्य नहीं है। इन विचारों से बुद्धि में एक प्रकार की हीन भावना और आलस्य ही अधिक आता है। उसे अपने से श्रेष्ठ किसी

अन्य साधन का ध्यान नहीं आता। ऐसी स्थिति में एक प्रकार का विचार-कार्पण्य पैदा होता है। परंतु अज्ञेयवाद को केवल इन ओछे विचारवाले लोगों ने ही नहीं प्रतिपादित किया है। अनेक दार्शनिकों ने यही मत निर्धारित किया है कि वास्तविक सत्य जिसे ब्रह्म किंवा ईश्वर की संज्ञा भी दी गई है, हमें अप्राप्य नहीं है। ये लोग अपने सिद्धांत में बड़े से बड़े दार्शनिकों की भाँति ही आदरणीय एवं अटल हैं। इनका दृष्टिकोण मान लेनेपर धर्म-शास्त्र एक विडंबना मात्र प्रतीत होगा। अतएव इन मीमांसा-धुरंधरों के सिद्धांतों का निरूपण और निराकरण आवश्यक हो जाता है।

इस संबंध में आधुनिक दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में जो मनःशास्त्रीय वितंडा प्रचलित है उसे यहाँ बरकाया जायगा। इस झगड़े से हमें कोई प्रयोजन नहीं कि सत्य की प्राप्ति सीधे हो जाती है तो कैसे? अथवा यदि किसी प्रातिनिधिक मानसिक क्रिया द्वारा होता है तो इस व्यापार की क्या प्रणाली घटित होती है? हमारे सामने तो स्पष्ट प्रश्न है। सत्य ऐसा है कि वह किसी प्रकार जाना ही नहीं जा सकता तो उसके विषय में उसके अज्ञेय होने की बात भी निर्विवाद रूप से किस प्रकार मान्य हो सकती है। यदि सत्य किंवा यथार्थ के विषय में हमारे ज्ञान-साधन-अनुभव के विभिन्न प्रकार—नितांत व्यर्थ हैं तो धर्मचर्चा ही अनर्गल हो जाती है, धर्मशास्त्र की चर्चा की तो बात ही क्या! अज्ञेयवाद तो स्वतः बाधित हो जाता है क्योंकि ईश्वर अथवा सत्य को अज्ञेय कहना भी उसके विषय में ज्ञान की ही बात कहना है। साथ ही दार्शनिकों को धर्मशास्त्र की चर्चा करना इतना आवश्यक जचा है कि उन्होंने सगुणरूप ब्रह्म से ईश्वर की प्रतिष्ठापना के प्रयास में कम पसीना नहीं बहाया है। इन दार्शनिकों ने जो गहन विश्लेषण प्रस्तुत किए हैं उनके निरूपण के लिये यह भी निबंध उपयुक्त नहीं है और न तो उन विश्लेषणों की तर्क-संगति की समीक्षा ही अभिप्रेत है। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि अज्ञेयवाद धर्मशास्त्र के विषय में कोई बाधा नहीं उपस्थित करता जो अलंघ्य हो स्वयं उसकी भित्ति ही निराधार है।

धर्मशास्त्र की प्रतिपत्ति कर लेने के बाद एक दो बातों की ओर निर्देश करना आवश्यक हो जाता है। धर्मशास्त्र का सब से बड़ा प्रश्न 'ईश्वर' से संबंध रखता है। 'ईश्वर' शब्द का यहाँ व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। हम सत्य-परमसत्य के लिये इस शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। अतएव 'धर्म का ईश्वर' अथवा 'धर्म-विशेष का ईश्वर' इस संज्ञा के अंतर्गत आ भी सकता है और नहीं भी आ सकता है। भारतीय दर्शन परंपरा में अनेक कल्पनाएँ किंवा सिद्धांत इस प्रश्न को लेकर उठे हैं और उनके प्रवर्तकों द्वारा 'परम सत्य' वाचक ईश्वर की, तथा धर्म के ईश्वर की, कम छीछा लेदर मीमांसा के क्रम में नहीं हुई है। इस संबंध की वितंडा के समक्ष बुद्धि इसलिये भी संकोच में पड़ जाती है कि मनुष्य में उसके दार्शनिक सिद्धांत किंवा अनिश्चय के होते हुए भी ईश्वर के प्रति एक आदर भावना रहती है, जिसे उसके पक्षापक्ष में दिए गए तर्कजाल और विश्व के नियमों के क्रम में उसके महत्त्व अथवा उसके भाग के कार्य के समक्ष एक प्रकार को ठेस लगती है।

साधारणतः धर्म का ईश्वर और दर्शन का परम सत्य पृथक्-पृथक् सत्ताएँ भी समझे गए हैं और यद्यपि धार्मिक व्यक्ति के लिये उसके अपने अनुभव में प्राप्त ईश्वर के अतिरिक्त किंवा उनके परे कोई अन्य सत्ता परम सत्य के रूप में भी ग्राह्य नहीं है तथापि अनेक दार्शनिकों को धर्म के

ईश्वर से संतोष नहीं हो सका है। धर्म के ईश्वर को ये लोग अस्वीकार भी नहीं कर सके हैं और इसके लिये उन्हें ऐसी कल्पनाओं की शरण लेनी पड़ी है जो युक्ति के स्तरपर सर्वथा मान्य नहीं उतर सकीं। साथ ही ऐसे दार्शनिक भी हुए हैं जिन्होंने धर्म के ईश्वर के परे किसी सत्ता के अस्तित्व का विचार भी असंगत समझा। विशिष्टाद्वैत का ईश्वर (सगुण-ब्रह्म और ईसाई धर्मनिष्ठ दार्शनिकों का स्वयं विकास करता हुआ, बढ़ता हुआ (सगुण ब्रह्म) ईश्वर ऐसे दार्शनिकों की पद्धति के उदाहरण हैं। एक ओर भगवत्पाद श्री शंकराचार्य, बैडले और अन्य ब्रह्मवादी दार्शनिकों का वर्ग है तो दूसरी ओर श्रीरामानुजाचार्य, हेनी जोन्स, प्रिंगिलपैटिरक प्रभृति सगुणोपासकों का दल है और इन दोनों के बीच दर्शन किंवा धर्मशास्त्र के अध्येता को झूलना पड़ जाया करता है और प्रायः उसकी बुद्धि विमूढ़ हो जाया करती है। ऐसी परिस्थिति में वह संशय में पड़ जाया करता है और उसे उपर्युक्त प्रश्नों का सामना करना पड़ता है। युक्ति के स्तर से तो उचित यह था कि एक वर्ग धर्म की आवश्यकताओं को छोड़ देता और दूसरा परम सत्य की खोज के फेर में न पड़ता। किंतु इन दोनों ही वर्गों के लोगों को निश्शेष रूप से सब कुछ कह देने की धुन थी। जो प्राप्त किया था *उसकी परिधि इतनी बड़ी जंची और उसके आलोक से सब को प्रकाशित (लाभान्वित) करने की* लिप्सा इतनी बड़ी हो गई कि यह ध्यान हीन रहा कि लोक-कल्याण की उनकी भावना से लाभ उठाने के निमित्त कौन 'अधिकार' की दृष्टि से उपयुक्त है और कौन अपनी तर्क बुद्धि के आगे उनकी सद्भावना की भी अवहेलना कर सकता है। यहाँ जो एक प्रकार के परिहास का प्रकरण छिड़ गया वह अभिप्रेत नहीं था। कम से कम यह तो बता ही देना है लेखक के मन में इन दोनों ही वर्गों के प्रवर्तकों के प्रति (अनुयायियों के प्रति) अपार श्रद्धा है। उसने इन महापुरुषों के समक्ष अपनी लघुता की असलीयत और परिणाम समझने के प्रयास में ही यह निबंध लिखने का साहस किया है।

ईश्वर अथवा ब्रह्म का प्रश्न संस्कृति की महिमा के प्रसंग में ही छिड़ता है। इसके अतिरिक्त वाग्वितंडा में हमें कोई सरोकार नहीं। संसार के विषय में हमारे जो अनुभव हैं चमत्कृत हो जाते हैं। उन्हींके प्रसंग में हमारी मीमांसा का, हमारी धर्म-भावना का, ईश्वर को, भगवान् को, परब्रह्म को, और परम सत्य को भी समझने का प्रयास कर लिया जा सकता है।

ईश्वर अथवा ब्रह्म के विषय में प्रचलित मान्यताओं के अनुसार ही संसृति के संबंध में, उसके महत्त्व के विषय में, दार्शनिकों किंवा उपासकों की आस्थाएँ भी भिन्न हैं। यद्यपि इस संबंध में भी अपरिमेय साहित्य की सृष्टि और अतुल शक्ति का व्यय हुआ है तथापि हम यहाँ केवल भारतीय मान्यता की सिद्धि के लिये कुछ बातों की चर्चा करेंगे। जिन संप्रदायों की द्वैत अथवा इससे अधिक सत्ताओं का अस्तित्व मान्य है उनके विषय में हम केवल इतना ही कहेंगे कि इनका ईश्वर संसार के नियमन में एक ब्रह्म पद का अधिकारी ही रह जाता है। ऐसे ईश्वर से हमारे नैतिक और आध्यात्मिक जीवन अथच अनुभूतियों की पूर्णता की प्रतिष्ठा नहीं होती चाहे वह रामानुज का 'किंचिद शरीरी' भगवान् हो, चाहे हीगेल का संश्लेषक ब्रह्म, चाहे स्पिनोजा का मन और शरीर-रूपधारी सर्वव्यापक ईश्वर (पदार्थ) हो, जो इसी संसार में अपने को खतम कर देता है, चाहे वैशेषिकों के ईश्वर हों जो दुनिया के बाहर उनके सिरपर ही क्यों न हो—सिंहासनासीन ऐसे लगते हैं जैसे अनंत छोटी-छोटी सीकरों के बीच एक विशाल चट्टान। चाहे बादरायणाचार्य के ब्रह्म हों जो संसार में व्यक्त होकर उसमें व्याप्त होकर भी उसके परे रहे हैं अथवा शंकर के ब्रह्म हों जिनमें अविद्योपा-

धिकृत अवस्था में भासित होते हुए भी कोई विकार नहीं होता ('तदेवं सति यत्र तदध्यासक्ततेन गुणेन दोषेण सोऽणुमात्रमपि न सम्बध्यते')। इन सभी संप्रदायों में संसार को ईश्वर के साथ जोड़ने के लिये दार्शनिकों की निरंकुश बुद्धि प्रेरणा में पड़कर, युक्ति समुद्र में पड़कर उसे थपेड़े खाने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ संसार अपनी अडिगता में नित्य ईश्वर के ही समक्ष हो जाता है या इतना क्षण-भंगुर एवं अनित्य या मायिक वह है कि वह है ही नहीं। एक सिद्धांत यदि मीमांसा की दृष्टि से तुच्छ होने के नाते अग्राह्य है तो दूसरा संसार के प्रति कविगत निर्ममता के नाते हमें अभीष्ट तुष्टि नहीं प्रदान करता। किंतु धर्मानुभूति तो मीमांसा की उत्तर वर्तिनी होती है—ऐसा आप्त वचन है। उसे तोषातोष की अपेक्षा स्वभावतः नहीं रहेगी। व्यक्ति के लिये वह भगवत्कृपा से ही प्राप्त है यह सब धर्मों एवं धर्मोपदेशकों, अवतारों, पैगंबरों, साधु एवं साधकों की बानियों का निचोड़ है। प्रश्न केवल यह है कि भगवान्‌की इस कृपा के बाद? अवस्था का क्या होता है? अर्जुन को (निरंतन नर को) जब भगवान् ने (नारायण ने) अपनी करुणा-क्रोड़ में लिया तब उसके मानव ने अपने भगवान् को पा लिया। तब क्या हुआ सो भारतीय अध्यात्म के इतिहास की एक चिरंतन घटना है और है वह नित्य अभिनव। वह अपने को भगवान् के भीतर अपने भीतर भगवान् को, अपने चारों ओर भगवान् को पाता है। भगवान् की अनुभूति उसे होती है और हठात् गीता का एकादश अध्याय प्रस्फुटित हो उठता है—

"नमः पुरस्तादथपृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वतएवसर्व।"

विभु की उदात्त भावना सनातन धर्म का तत्त्व और मेरुदंड है। यह विभु-भावना व्यक्ति का विभव बन जाती है। तब उसकी सारी नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण और हिमाचल की भाँति अचल होकर संसार की मान्यताओं का मानदंड हो जाती है। व्यक्ति का इस अवस्था में जो कल्प होता है उसके फलस्वरूप उसका जीवन अधिकाधिक उदात्त और ऐश्वर्यमय होकर अनंतत्व को प्राप्त हो जाता है। यही होगा वेदांत का तादात्म्य। तब उसे भान होता है—'यदस्तु भेददृष्टि विषयः न स वेद, अहम न्यावसावन्यः इति अविद्याविषयः।' कबीर कह उठता है—'सरिता उमड़ि सिन्धु कह सोखै। व्यक्ति में बाढ़ आई और ब्रह्म उसमें अंतर्हित हो गया क्योंकि अब उसके लिये 'ब्रह्म और अपना' द्वैत मिट गया।

कल्प तो व्यक्ति का हो गया। अब प्रश्न अध्येता के लिए उठता है—क्या दो और दो चार से भिन्न न्यूनाधिक कुछ और हो जाता है? क्या इस कल्प के बाद व्यक्ति की ऐहिक मान्यताओं का भी जो कल्प स्वभावतः होता होगा उसके समक्ष व्यावहारिक मानदंडों में कोई विपर्यय उपस्थित हो जाता है? अथवा ये सारी मान्यताएँ पूर्णता एवं चरितार्थता को प्राप्त हो जाती हैं? एक कवि की उक्ति है—लभ इज फारेस्ट होन सो बाउण्ड।'

कौशांबी की मृन्मूर्तियाँ

सतीश चंद्र काला

प्राचीन कौशांबी के ध्वस्त अवशेष प्रयाग से ४० मील पूर्व यमुना के तट पर स्थित हैं। विभिन्न युगों में इस समृद्धिशाली नगरी के करवट बदलने की विचित्र कहानियाँ निस्तेज होकर आज भी यत्रतत्र साहित्य तथा प्राचीन ग्रंथों में बिखरी पड़ी हैं। कौशांबी के संज्ञाहीन भवन आज उस शारीरिक कंकाल की भाँति गिरे पड़े हैं, जिसमें न तो रक्त है और न प्राण, किंतु जिससे यह अनुमान मात्र लगाया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति का आकार कैसा रहा होगा। धूल में समाधिस्थ सुप्त कौशांबी की प्रगाढ़ निद्रा को आज दिन, केवल हलों की टंकारे ही विचलित करती हैं। इन क्रूर झकझोरों से कठोर मिट्टी, ईंटें तथा तत्कालीन समाज द्वारा व्यवहृत वस्तुएँ प्रायः ऊपर आ जाती हैं। साहित्यिक सामग्री तथा इन वस्तुओं के तुलनात्मक अध्ययन से प्राचीन कौशांबी की सभ्यता एवं संस्कृति पर यथेष्ट प्रकाश पड़ा है।

पुरातत्त्व की दृष्टि से वर्तमान् शताब्दी में मिट्टी के खिलौनों का महत्व विशेष रूप से आँका जाने लगा है। पिछली सदी में तो पुरातत्ववेत्ताओं का ध्यान अधिकतर शिलालेखों, सिक्कों तथा पाषाण की मूर्त्तियों की ही ओर गया। खिलौनों के प्रति उनकी उदासीनता, क्षम्य तो अवश्य है, किंतु संस्कृति-अध्ययन की एक विशिष्ट सामग्री का वर्षों तक इस प्रकार नष्ट होना एक दुखद विषय है। इस महान् देश के कलाकार कागज या पाषाण के माध्यम से ही अपने मनोवेगों एवं अनुभूतियों को साकार रूप देने की क्षमता न रखते थे। सुलभ तथा निःशुल्क प्राप्त, प्रकृति की अपूर्व देन मिट्टी के माध्यम से भी कुंभकार ने प्रशंसनीय कौशल प्रदर्शित किया। भारतीय कुंभकार की कला तो उतनी ही प्राचीन है जितनी इस देश की संस्कृति। प्रारंभ में अवश्य कुंभकारों का ध्यान प्रधानतया, मृत्पात्रों की ओर गया।

मध्यदेश, उत्तर भारत, बंगाल तथा बिहार के कुछ पूर्वी हिस्सों में इस कला ने विशेष उन्नति की। गुप्तकाल में पहाड़पुर (बिहार) अहिछत्रा (बरेली) तथा भीतरगाँव (कानपुर) में

कुछ दर्शनीय इंटों के मंदिर बने। इन ईंटों की चिनाई में, यत्रतत्र फलकों पर चित्ताकर्षक बेलबूटे, अलंकरण तथा देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ निर्मित हुई। निरंतर जलवायु के प्रहारों से इन मूर्त्तियों को गहरी क्षति पहुँची। उनकी वास्तविक रूपरेखा लुप्त हो चुकी है।

भारतीय मृन्मूर्त्तियों का इतिहास मोहेंजोदड़ो काल से प्रारंभ होकर वर्तमान सदी तक बराबर पहुँचा है। मथुरा, अहिच्छत्रा, भीटा, बक्सर, तक्षशिला, हड़प्पा, मीरपुर (सिंध), सहेत, महेत, सारनाथ, राजघाट बक्सर, पाटलिपुत्र, बनगढ़, लौरिया नंदनगढ़, आदि २ प्राचीन स्थानों से गत ५० वर्षों में कई मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यह निर्विवाद है कि कौशांबी प्राचीन भारत में मृत्कला का सर्वोत्कृष्ट केंद्र था। विविधता, अनुपमता, अलौकिकता तथा विशदता में कौन अन्य केंद्र कौशांबी के समक्ष टिकने की सामर्थ्य रखता है? प्रयाग म्यूनिसिपल संग्रहालय में कौशांबी की मृन्मूर्त्तियों का विलक्षण संग्रह है। यह संपूर्ण सामग्री, खनिज शास्त्र या वैज्ञानिक रीति की खुदाई से प्राप्त नहीं हुई है। कौशांबी के धूल-समाधिस्थ कंकाल के ऊपर आज दिन खेती होती है। और इसी के द्वारा प्रायः बहुत वस्तुएँ ऊपर निकल जाया करती हैं।

मातृदेवी की मूर्त्तियाँ

कौशांबी में स्त्रियों की अनेक मृन्मूर्त्तियाँ तथा वक्ष प्राप्त हुए हैं। इनमें अधिकांश को मातृ-देवी की मूर्त्ति माना गया है। परंपरा है कि मातृदेवी की पूजा एकबार भूमध्यसागर से लेकर भारत तक प्रचलित थी। प्रत्येक देश में इस देवी के भिन्न भिन्न नाम रहे। कौशांबी की मातृदेवी की मृन्मूर्तियाँ दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं। इनमें एक प्रकार की तो वह हैं जो कि सीधे हाथ से बनाई गई हैं। दूसरे वर्ग की मूर्त्तियाँ प्रायः ठप्पों से निकाली गई हैं। प्रथम वर्ग में कम से कम १५ शैली के विभिन्न उदाहरण हैं। इनमें कर्णाभूषण, मेखला आदि अलग से चिपकी मिट्टी की पट्टियों से दिखलाई गई हैं। इनमें मथुरा शैली का एक भी उदाहरण नहीं। इस वर्ग में एक मूर्त्ति का उल्लेख करना तो अत्यावश्यक है। कुछ वर्ष पूर्व उत्तर पश्चिम सीमाप्रांत में सरढ़ेरी नामक स्थल पर कर्नल गौरडन को एक ऐसी शैली की मूर्त्तियाँ मिली थीं जिनमें आँखें अलग मिट्टी की पट्टियों से जो बीच में किसी तेज औजार से काटी गई थीं, दिखलाई गई थीं। इस शैली की कोई मूर्त्ति किसी अन्य भारतीय स्थान से नहीं मिली। कौशांबी ने इस शैली का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी वर्ग के अंतर्गत वे मूर्त्तियाँ हैं जिनमें स्त्री दोनों हाथों से स्तनों को दबाती दीख पड़ती हैं। इस शैली की मृन्मूर्त्तियाँ भी कौशांबी के अतिरिक्त अन्य स्थलों में अप्राप्य है। विद्वानों की धारणा है कि इस विषय की मृन्मूर्त्तियों की उत्पत्ति अति प्राचीन है।

हाथ से बनी मूर्त्तियों में ऊँचे स्तन तथा चौड़े नितंब उत्पादन शक्ति के द्योतक हैं। बड़े आकार की मूर्त्तियों में तो कभी कभी एक बालक को गोद में दिखलाने की चेष्टा की गई है।

ढांचों से निकाली गई मृन्मूर्त्तियों, में जिनमें शुंगकालीन प्रधान हैं, कला को प्रधानता दी गई है। स्त्रियों के चेहरे भरे तथा सौंदर्ययुक्त हैं। उनके हाथों, कंठ, वक्ष तथा पैरों में भारी आभूषण पड़े हैं। किंतु इनकी सब से बड़ी विशेषता विचित्र शिरोभूषा में है। बालों को गुच्छा संवार कर उनके ऊपर नाना प्रकार का अलंकरण किया जाता था। शिरोभूषा में एक ओर पाँचपवित्र चिह्न, अंकुश, त्रिशूल, कटार आदि गड़े होते हैं। दूसरी ओर पाँच या छ आम्र बौर दिखलाए गए हैं।

कुछ मूर्तियों में तो सिर के ऊपर आम्रबौरों के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं। इस शैली की मूर्तियों का संबंध निश्चय उपज की देवी से है। कुछ उदाहरणों में शिरोभूषा पर कमल पुष्प भी जड़े हैं।

लक्ष्मी का चित्रण

कौशांबी की जनसंख्या में व्यवसायी तथा बणिकों का एक बहुत बड़ा भाग था। इसलिये यह आश्चर्य नहीं कि इस नगर में लक्ष्मी की घर घर में पूजा होती रही हो। एक उदाहरण में वेदिका से घिरे एक सरोवर में कमल तथा अन्य लतिकाएँ दिखलाई गई हैं। बीच से उत्पन्न पुष्प के ऊपर लक्ष्मी खड़ी है। अन्य एक दूसरे खंडित पट्टक में लक्ष्मी के दोनों ओर चामरग्राहिणी स्त्रियाँ चँवर डुला रही हैं। तीसरी मूर्ति का केवल कमर से नीचे का भाग बच सका है। इसमें देवी एक सुंदर परतोंवाली साड़ी पहिने एक कमल के ऊपर खड़ी है।

यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि कौशांबी से ब्राह्मण-धर्म-संबंधी बहुत थोड़ी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें दो तो एकमुख शिवलिंग हैं और एक गणेश जी की मूर्ति। एकमुख शिवलिंग जिसका एक चित्र इस लेख के साथ है, एक अनूठा उदाहरण है। लिंग वर्तुलाकार में पीछे की ओर बना है। आगे शिवजी का त्रिनयन चेहरा है। इसके ऊपर लाल रंग भी चढ़ा है। स्मरण रहे कि कौशांबी से पत्थर के अनेक एकमुख, त्रिमुख तथा चौमुख शिवलिंग पाषाण में भी प्राप्त हुए हैं।

उक्त देवी-देवताओं के साथ साथ कौशांबी समाज के कुछ व्यक्ति ग्रामीण नाग पूजा में भी विश्वास रखते थे। यहाँ कई नागों के फण बड़े आकारों में प्राप्त हुए हैं। नाग देवी तो स्त्री के रूप में पूजित होती थी। एक पट्टक में नागदेवी बाएँ हाथ को सिर के ऊपर उठाए हुए है। उसके दोनों ओर से नाग ऊपर उठते दिखाए गए हैं।

बौद्ध तथा जैन-धर्म की मृण्मूर्तियाँ तो नहीं के बराबर हैं। ऐसे एक निम्न कला के उदाहरण में धोती पहने पुरुष एक हाथ में एक पात्र लिए है। दूसरा हाथ अभय मुद्रा में उठा है। क्या यह बोधिसत्व मैत्रेय का रूप हो सकता है? दूसरे उदाहरण में भी कुषाण शैली में अंकित बोधिसत्व? है एक हाथ तो अभय मुद्रा में उठाए हैं। दूसरे हाथ में वह बर्छे की तरह एक वस्तु पकड़े हैं। बोधिसत्व का यह चित्रण बड़ा अस्वाभाविक है।

लौकिक दृश्य

मृत्पट्टकों में अनेक ऐसे दृश्य हैं जिनको निश्चित रूप से पहचानना कठिन है। प्रायः सभी खंडितावस्था में है, किंतु अलग-अलग टुकड़ों को मिलाकर कुछ दृश्य तो निकल आए हैं। कुछ पट्टकों में स्त्री व पुरुष (दंपति) खड़े हैं। स्व० श्री राखाल दास बनर्जी, इन्हें शिव पार्वती की मूर्ति मानते हैं किंतु यह मानना सहसा उचित नहीं। एक पट्टक में दंपति खड़े हैं। दायीं ओर पुरुष खड़ा है। उसके हाथ में एक पशु संभवतः बिल्ली? है हाँ! हो सकता है यह दंपति का पालतू पशु हो। शुक-क्रीड़ा के दृश्यों की तो कौशांबी में भरमार है। मथुरा के शिल्प में यक्षणियाँ प्रायः शुक के साथ क्रीड़ा करती दीख पड़ती हैं किंतु विविधता में कौशांबी का स्थान इस दिशा में उच्चतर है। इन मृण्मूर्तियों में कहीं स्त्रियाँ तोते को आम्र फल देती, कहीं कंधे पर और कहीं हाथ पर बैठाए अंकित

की गई हैं। वह मृद्वक्ष तो अति सुंदर है जिसमें अनार के लाल दाने समक्ष, तोता एक स्त्री के ओंठ चूम रहा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कौशांबी के मृत्कार कामसूत्र में वर्णित दृश्यों से भी परिचित थे। मध्यकालीन स्मारकों (खजुराहो, कोणार्क) में काम संबंधी कई दृश्य चित्रित हैं, किंतु ईसा की प्रारंभिक सदियों में ऐसा चित्रण कहीं नहीं दीख पड़ता। कौशांबी से एक ऐसा ठप्पा प्राप्त हुआ है, जिसमें एक विचित्र ढंग के संभोग दृश्य अंकित है। एक दूसरे खंडित पट्टक से भी ज्ञात होता ह कि मृत्कार ऐसे दृश्यों की सूक्ष्मता का विशेष ध्यान रखते थे। उस काल के लोग वन-विहार, सरोवर क्रीड़ा, उद्यान यात्रा आदि से भी रुचि रखते थे। कौशांबी से दो अनूठे पट्टक प्राप्त हुए हैं। इनमें एक में जो इस समय गढ़वाल संग्रहालय में सुरक्षित है, दंपत्ति कमल पुष्प आच्छादित एक सरोवर में क्रीड़ा कर रहे हैं। दूसरा उदाहरण जो कि एक रथ के ऊपरी भाग में चित्रित है विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य है। आजकल भी अवकाश पाकर प्रायः लोग उद्यान यात्रा (पिकनिक्स) करने, नगर से बाहर किसी खुले स्थान में चले जाया करते हैं। इस प्रकार की एक टोली का चित्रण इस पट्टक में हुआ है। इस पट्टक में दोनों दीवारों के सहारे चुंबन-क्रीड़ा में संलग्न दंपति, विदूषक तथा नृत्य करती स्त्री, व वादक चित्रित हैं। बीच में एक थाल जिसमें रोटी मूली, केला, तथा अन्य खाद्य पदार्थ हैं, रक्खी है। ऐसे कई रथ कौशांबी से प्राप्त हुए हैं। इससे ज्ञात होता है कि ई० पू० प्रथम सदी में मृत्कला सार्वजनिक जीवन के कितने निकट आ पहुँची थी।

आसव पान संबंधी केवल एक दृश्य मृत्कला में आया है। इसमें युगल एक मोढ़ेपर बैठे हैं। स्त्री मधुघट तथा पुरुष मधुपात्र लिए है। शायद यह मान मनौवल का कोई दृश्य है। मथुरा के शिल्प में आसव पान में मस्त स्त्रियाँ प्रायः दीख पड़ती हैं। वही परंपरा मृण्कला में भी आई है।

नृत्य तथा संगीत

नृत्य तथा संगीत से भी कुंभकार पूर्णतया परिचित थे। पाषाण में वैसे थोड़े से ही ऐसे दृश्य होंगे। कौशांबी में इन दो कलाओं का विशेष मान रहा होगा, क्योंकि वत्सराज उदयन वीणावादन में दक्ष थे और उनके राजमहल में ५०० नर्तकियाँ रहती थीं। कुछ पट्टकों में स्त्रियाँ ऐसी लुभावनी मुद्रा में खड़ी हैं, जिनसे उनके नर्तकी मानने में कुछ भी संदेह नहीं होता। एक कुषाणकालीन गोटे पट्टक में एक ओर तो स्त्री खड़ी है, दूसरी ओर नृत्य का दृश्य अंकित है, बायीं ओर एक स्त्री नृत्य कर रही है और दाईं ओर मोढ़े पर बैठा एक व्यक्ति सप्ततंत्री बजा रहा है। भूमि पर भी एक व्यक्ति बैठा है।

राजकीय दृश्य

कौशांबी की मृत्कला में राजकीय दृश्यों का अभाव है। इस कमी को हम भारत के प्राचीनतम बौद्ध स्मारकों में भी पाते हैं। किंतु कौशांबी के कलाकार ने उदयन द्वारा वासवदत्ता हरण का चित्रण एक निम्न माध्यम में कर स्वयं अमरत्व प्राप्त किया है। इस दृश्य को पट्टकों में दो भिन्न प्रकार से चित्रित किया गया है। पट्टकों में भद्रावती नामक हथिनी की पीठपर उदयन, वासवदत्ता तथा विदूषक तीव्रगति से अवंती की सीमा को पारकर रहे हैं। महासेन की सेना उनका पीछा कर रही हैं। किंतु विदूषक सिक्कों को बिखेर रहा है। सैनिक इन सिक्कों को उठाने में व्यस्त हैं और इसी बीच में हथिनी वत्स राज्य में प्रविष्ट हो जाती है।

कौशांबी से प्राप्त देवपुत्र, ई० पू० १००

एक विदेशी का सिर, १५० ई०
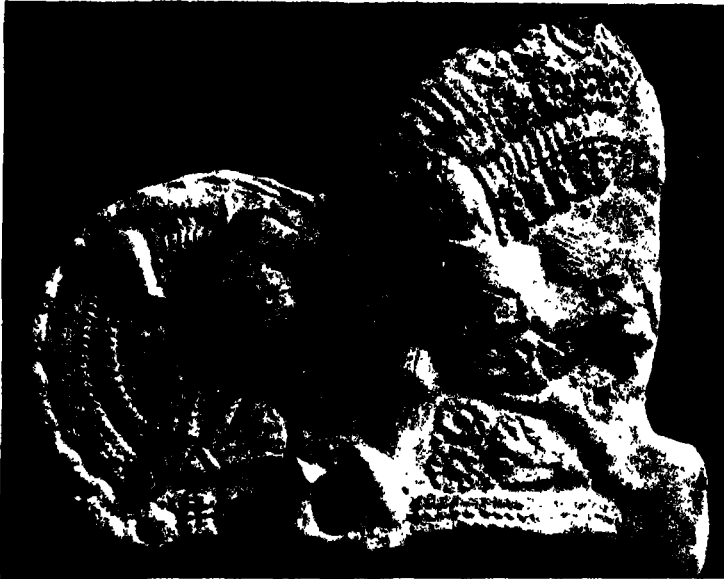
 कौशांबी से प्राप्त मृच्छकटिक का भाग, ई० पू० १०० ई०

लक्ष्मी, ई० पू० १००

कौशांबी से प्राप्त स्त्री की मूर्ति,
ई० पू० १५०

कौशांबी के मृत्कारों ने अवंती के 'नलागिरि'' नामक पागल हाथी का भी चित्रण किया है। इस मस्त हाथी को उदयन ने अपनी वीणा से मुग्ध कर पकड़ा था। कुछ पट्टकों में इसके पैर जंजीरों से बंधे हैं। अन्य पट्टकों में वह बड़े वेग से एक वृक्ष के तने से टक्कर लेकर उखाड़ने का प्रयत्न कर रहा है।

एक ठप्पे में सूक्ष्म परिधान धारण किए, स्त्री पीठिका पर खड़ी है। उसके गले में एकावली है पीछे एक परिचारिका छत्र थामे हैं। संभव है यह स्त्री उदयन की कोई रानी है।

सपक्ष मानव तथा पशु

कौशांबी के कुछ पट्टकों में पुरुष पंख धारण किए हुए हैं। जबसे बसाढ़ (वैशाली) में सपक्ष लक्ष्मी की मृन्मूर्ति प्राप्त हुई तभी से ऐसे अंकन के संबंध में नाना प्रकार की धारणाएँ प्रस्तुत की गई। विद्वानों ने सपक्ष चित्रण को पश्चिमी एशिया की देन घोषित किया है। किंतु हमारे देश में यक्ष, गंधर्व तथा देवपुत्रों की जो परंपरा है, वह भी इसीके निकट आती है।

१९२९ ई० में (अब स्वर्गीय) डा० आनंद कुमार स्वामी ने एक लेख में कहा था कि सपक्ष चित्रण के केवल दो ही उदाहरण उनके ज्ञान में आए हैं। पुरातत्व के पिछले २२ वर्षों में कई क्रांतिकारी परिवर्तन हुए और सुप्त कौशांबी की उच्छ्वासों में भी विद्वानों को कुछ तत्त्व प्राप्त हुए। इन खंडहरों से प्राप्त पट्टकों में दो प्रकार के सपक्ष-मानव दृष्टिगत हुए हैं। एक पट्टक में तो उनके पंख नोक पर घुमा दिए गए हैं। मानव अच्छे आभूषण पहिने तथा हाथों में लतिकाएँ पकड़े हैं। दूसरे उदाहरण में मानव के पंख सीधे ऊपर की ओर दिखलाए गए हैं।

सपक्ष सिंहों का चित्रण भी कौशांबी में हुआ है। ऐसे पशु साँची की वेदिका से प्रमुख द्वार स्तंभों के सिरों पर भी दीख पड़ते हैं। मृत्कला में ऐसा चित्रण मथुरा में भी पाया जाता है। कौशांबी के सपक्ष सिंह पुरुषों के साथ युद्ध करते दीख पड़ते हैं।

यक्ष

भारतीय कला में यक्षों को विशेष महत्व प्राप्त हुआ है। केवल पाषाण शिल्प में ही नहीं। मृत्कला में भी यक्षों का अंकन किया गया। कौशांबी के मृद् यक्षों का काल ई० पू० प्रथम सदी से तृतीय सदी तक है। इनकी वेशभूषा बड़ी विचित्र है और भावमयी विदेशीय लगती है। यक्ष प्रायः घुटनों के बल बैठे हैं। उनके हाथ में पशु या पक्षी प्रायः दीख पड़ता है। एक मूर्त्ति में यक्ष दाढ़ी पहने तथा एक हाथ से अपने भारी पेट को दबाते चित्रित किया गया है। चेहरे से दुख या घृणा का अनुपम भाव प्रत्यक्ष है।

स्त्री पुरुषों के सिर

कौशांबी से सैकड़ों स्त्री-पुरुषों के सिर भी मिले हैं। जान पड़ता है कि इस माध्यम में जीवित प्रतिलिपियाँ उतारने की चेष्टा की गई थी। ईसा के बाद की प्रथम कुछ सदियों में भारत में कई विदेशी जातियों ने उत्तर पश्चिमी सीमाप्रांत के द्वार से प्रवेश किया। इनका प्रभुत्व कालांतर में मध्यदेश तक भी पहुंचा। तत्कालीन कलाकार इनकी अद्भुत वेशभूषा तथा आकृति से प्रभावित हुए। इन सिरों में मोटे ओंठ, उभड़े हुए नेत्र, लंबी नाक, नुकीली टोपी, कई परतों में बंधी पगड़ी

आदि आदि तत्त्व अद्वितीय हैं। विदेशियों के सिरों को पहचाननने में कोई कठिनाई नहीं होती। अन्य सिरों की सुघड़ता तथा सौष्ठव देखते ही बनता है।

मृच्छकटिक

आधुनिक काल की तरह, प्राचीन काल में भी बच्चों को खिलौनों से प्रगाढ़ प्रीति थी। मृच्छ-कटिक (खिलौने के रूप की गाड़ियों) की विशेष माँग जान पड़ती है। इनमें गाड़ी का शरीर पशु (भेंड़ा, हाथी आदि) तथा मानव आकृति का होता था। दोनों ओर सुंदर गोल चक्र (पहिए) लगा दिए जाते थे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी गाड़ियाँ थीं, जिनके तीनों ओर तीन दीवारें थीं, और जिनपर ठप्पे द्वारा पशु आकृतियाँ, पुष्प आदि छपे रहते थे। इनके अतिरिक्त कई खि-लौनों में धड़ तो मनुष्य आकृति का होता था और पूंछ पक्षियों या मछली जैसी।

विदेशी तत्वों से प्रभावित मूर्त्तियों में बाजा बजाती हुई आकृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें कुछ तो बैठकर किसी बाजे को बगल में दबाकर लकड़ी से बजाती दीख पड़ती हैं। इनकी शिरो-भूषा तथा शैली इंडो पारथियन है।

एक उदाहरण में सुंदर पूर्णघट का भी चित्रण है। पाषाण में तो पूर्णघट का प्रयोग साँची से लेकर मध्यकाल तक की कला में हुआ है, किंतु मृत्कला में संभवतः यही एक सर्वप्रथम उदाहरण है।

बक्सर तथा पाटलिपुत्र शैली की मृन्मूर्त्तियाँ भी कौशांबी में प्राप्त हुई हैं। बक्सर की मूर्त्तियों की अपनी विशेषता है और इस शैली की मूर्त्तियाँ भारत में अन्यत्र कहीं नहीं पाई जातीं। किंतु अब बक्सर का प्राचीन नाम तथा इतिहास लुप्त हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में इन दोनों स्थानों का कौशांबी से दृढ़ संपर्क था। आश्चर्य यही है कि कौशांबी शैली की मर्त्तियाँ न तो बक्सर और न पाटलिपुत्र में ही प्राप्त हुई हैं।

इस संक्षिप्त इतिहास से ज्ञात हो सकता है कि कौशांबी मृत्कला के विषय कितने व्यापक थे। अपने सीमित दायरे के अंतर्गत मृत्कार ने तत्कालीन समाज के धर्म, स्त्री-पुरुषों, उनकी वेश-भूषा, आभूषण आदि का निरूपण करने का प्रयत्न किया है। अमूर्त पदार्थ को मूर्त्त संज्ञा देने में ही वह सार्थक हुआ।

भक्ति क्या रस है ?

करुणापति त्रिपाठी

रसों की संख्या

रसों की संख्या के संबंध में अबतक मतभेद बना हुआ है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में 'अष्टौ नाट्यरसाः' द्वारा नाटक में आठ रसों की सत्ता स्थापित की है। आगे चलकर साहित्य-शास्त्र के अन्य आचार्यों ने नाट्य में आठ रसों को मानते हुए भी, काव्य-सामान्य में नव रसों का, शृंगार वीर, करुण, हास्य, अद्भुत, भयानक, बीभत्स और रौद्र के साथ-साथ शांत रस का भी, अस्तित्व स्वीकार किया है। काव्य-प्रकाशकार मंमट ने तो कवि-भारती का अभिनंदन करते हुए, उसे 'नवरस-रुचिर' विशेषण से विशिष्ट स्वीकार किया है।

काव्यरसों की संख्या में निरंतर अभिवृद्धि होती चली। आगे चलकर यह संख्या पंद्रह-सोलह तक पहुँची।

भोजराज ने सरस्वती कंठाभरण में उदात्त, उद्धत, प्रेयस् आदि को रस मानकर रसोंकी संख्या बारह तक पहुँचा दी। इतना ही नहीं, उनके अनुसार व्यभिचारी भाव भी अहंकार-भावना के पूर्ण परिपाक होनेपर स्थायी भाव के समान रसावस्था तक पहुँच सकते हैं—

एतेन रूढाहङ्कारता रसस्य पूर्वा कोटिः। रत्यादीनामेकोनपंचाशतोऽपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हता रसस्यैव मध्यमावस्था (शृंगारप्रकाश—भा० २ पृ० ३०१)

आगे चलकर वे कहते हैं :—

रत्यादयो यदि रसास्स्युरतिप्रकर्षे हर्षादिभिः किमपराद्धमतद्विभिन्नैः।
अस्थायिनस्त इति चेद् भयहासशोकक्रोधादयो वद, कियच्चिरमुल्लसंति।

—वही

रसतरंगिणीकार भानुदत्त ने भी भक्ति आदि को रसों में मानकर शास्त्रीय प्रणाली से उनके विभावानुभावादि की विवेचना की है।

डा० भगवान् दास ने भी 'द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ' में 'रसो वै सः' शीर्षक अपने लेख में रसों की मनोवैज्ञानिक चर्चा की है। इसी प्रसंग में भोजराज के समान ही मनोवैज्ञानिक आधारपर उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सभी भाव प्ररूढ़ और प्रवृद्ध होनेपर—चाहे वे स्थायि-भाव हों, व्यभिचारिभाव हों अथवा अन्य भाव—'रस' हो सकते हैं। हिंदी के भी कुछ आचार्यों ने शांत, भक्ति, वात्सल्य आदि को रस माना है।

एक ओर तो रसों में यह संख्या-वृद्धि है, दूसरी ओर अनेक आचार्यों ने सभी रसों का मूल किसी एक रस को माना है। 'शृंगार' को 'रसराज' कहनेवाले उसे रसों का राजा ही नहीं कहते, वरन् उसीको समस्त रसों का मूल कहते हैं। भोजराज ने अपने शृंगार-प्रकाश में यही दिखाने की चेष्टा की है कि सभी रसों का मूल 'शृंगार' है। अहंकार, अभिमान या शृंगार की भावना ही समस्त रसों का आविर्भावक है।

विरक्तिमार्ग को, मोक्ष को, जीवन का परमपुरुषार्थ, चरम लक्ष्य माननेवाले आचार्यों ने 'शांत' रस को मुख्य रस माना है। उनकी दृष्टि में अन्य सभी रसों का पर्यवसान शांत में ही होता है। वहीं सभी रसों का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है।

भवभूति की घोषणा, 'एको रसः करुण एव' भारतीय काव्य-जगत् में सभी को विदित है। उनके मतानुसार निमित्त-भेद के कारण करुण का ही विवर्त्त—विपरिणाम अन्य रसों के रूप में होता है। पर सभी रस तत्वतः करुण ही हैं। जैसे जल भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण भिन्न-भिन्न रूप धारण करने पर भी, आवर्त्त (भौंरी), बुलबुला और तरंगादि नामों से व्यवहृत होनेपर भी, तत्वतः जल ही है, उसी प्रकार शृंगारादिरूप प्राप्त करनेपर भी सभी रस तत्वतः करुण ही हैं।

इसीप्रकार एक वर्ग उन भक्त आचार्यों का भी है जो 'भक्ति' को ही, प्रेमा भक्ति को ही, मधुरा भक्ति को ही, परम रस, शाश्वत, चिरंतन और नित्य रस मानते हैं।

हमें यहाँ केवल इतना विचार करना है कि भक्तिरस का क्या स्वरूप है और कहाँतक उसमें 'रसत्व', साधारणीकरणता, रहती है।

भक्तिरस

वैष्णव भक्त साहित्याचार्यों ने भक्तिरस का अनेक विशाल ग्रन्थों में सांगोपांग विवेचन किया है। आदरणीय-चरित मधुसूदन सरस्वती ने 'श्रीहरिभक्तिरसामृतसिंधु' तथा 'श्रीभगवद्भक्तिरसायन'' नामक दो ग्रंथों में भक्ति के विविध भेदों की, भुक्ति और मुक्ति की तुलना में भक्ति के महत्व तथा रसत्व की, सांगोपांग विवेचना की है और अति प्रौढ़ प्रेमा अथवा मधुरा भक्ति को सर्वोत्कृष्ट बतलाया है। इसी प्रेमा या मधुरा भक्तिस्वरूपा कृष्णविषयिणी भक्ति को मधुर रस का स्थायिभाव सिद्ध किया है। इन दो ग्रंथों में भक्ति की विवेचना के साथ साथ भक्तिरस की शास्त्रीय स्थापना भी की गई है।

भगवद्भक्तिरसायन में बताया गया है कि भगवान् के गुणों का निरंतर श्रवण, मनन, चिंतन आदि करते रहने से सर्वेश के प्रति जो धारावाहिकी वृत्ति होती है, रागात्मक होकर उसी

वृत्ति का जो भगवदाकार हो जाना है, वही 'भक्ति' या 'मधुरा रति' है और फिर विभावादि के योग से आनंदास्वादरूप उसकी अभिव्यक्ति ही उसका रसत्व है—

> द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
> सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ।
> स्थायिभावगिराऽतोऽसौ वस्त्वाकारोऽभिधीयते ।
> व्यक्तश्च रसतामेति परानन्दतया पुनः ।
> भगवान् परमानंदस्वरूपः स्वयमेव हि ।
> मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम् ।

श्रीहरिभक्तरसामृतसिन्धु में भक्ति के तीन भेदों की, अथवा दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—तीन अवस्थाओंकी—साधन भक्ति, भावभक्ति और प्रेमा भक्ति की चर्चा की गई है तथा इनका विशद परिचय भी दिया गया है।

इस प्रेमा भक्ति अथवा मधुरा भक्ति के विभावानुभावादि का अतिविस्तृत सांगोपांग विवेचन रूपगोस्वामी के 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रंथ में हुआ है। तात्पर्य यह कि कृष्ण की मधुरोपासना करनेवाले वैष्णव भक्त साहित्याचार्यों ने शास्त्रीय विवेचना के द्वारा भक्ति का रसत्व प्रतिष्ठित किया है।

क्या भक्ति में रसत्व है ?

किंतु इस विशद और भव्य विवेचना द्वारा भक्ति का रसत्व प्रतिपादित और निरूपित होनपर भी सभी शंकाओं का समाधान नहीं करता।

किसी भी स्थायिभाव में रसदशा तक पहुँचने के लिये कुछ बातों का होना आवश्यक है।

सब से प्रथम आवश्यकता है, सहृदय सामाजिक के हृदय में स्थायिभाव का वासना रूप में वर्त्तमान होना। जबतक काव्य-भावना-परिकलित सहृदय सामाजिक का हृदय स्थायिभाव की वासना से वासित नहीं होगा तबतक वह भाव, भावमात्र रह जायगा। उस भाव को न तो स्थायिभाव की प्रतिष्ठा ही प्राप्त होगी और न रसरूप में उसका विपरिणाम होगा।

दूसरी बात आवश्यक है उस स्थायिभाव का साधारणीकरण। साधारणीकरण भी तभी हो सकता है जब भाव, स्थायिभावत्व की प्रतिष्ठा के लिये आवश्यक धर्मवाले हों और सहृदय के हृदय में उसकी पूर्ववासना वर्तमान हो।

इसके पश्चात् साहित्यादि के पुनः-पुनः अनुशीलन द्वारा उस भाव का, वासनात्मक सूक्ष्मभाव का उद्बुद्ध होकर, सजग होकर, इतना शक्तिशाली होना भी आवश्यक है जिससे कि समस्त अन्य ज्ञानों को दबाकर तथा रजस्तमोगुणों को अभिभूत करके स्वयंप्रकाश आनंदस्वरूप सत्वगुण के उद्रेचन में वह समर्थ हो।

'भक्ति' रस की रसात्मकता में ये सब आवश्यक बातें दिखाई नहीं पड़ती।

यदि भक्ति को हम रस मानें तो सब से पहले उसका क्षेत्र अत्यंत परिमित हो जाता है।

उस रसानुभूति के योग्य उर्वर हृदय-क्षेत्रवाला सामाजिक मुरली-मनोहर-मधुराकृति गोपाल का सच्चा भक्त अंगुलिगण्य ही हो सकता है।

क्योंकि भक्ति स्वयं ब्रह्मानंद से भी असंख्य गुण महनीय और अभिलषणीय है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि।

वही भक्त रस की अनुभूति के लिये सहृदय सामाजिक हो सकता है जो चारों पुरुषार्थों को तृणवत् माने—

त्वत्कथामृतपाथोधौ विरहन्तो महामुदः।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्।

जबतक भोग अथवा मोक्ष की भी स्पृहा (जिसे पिशाची तुल्य बताया है) हृदय में है, तबतक भक्ति नहीं रह सकती—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्।

और यह तभी हो सकता है जब हृदय में उस परम स्पृहणीय सर्वोत्कृष्ट भक्तिभाव का श्रीकृष्णचरणों की सेवा द्वारा आविर्भाव हो चुका हो।

साधारणतः इस प्रेमा का उदयक्रम यह है—पहले श्रद्धा, तदनंतर सत्संग, तत्पश्चात् भजन, उसके बाद अनर्थ-निवृत्ति, फिर निष्ठा, उसके अनंतर रुचि, तब आसक्ति, उसके पश्चात् भाव और तब अंत में प्रेमा का उदय होता है। साधारण साधकों का यहीं क्रम है, पर पूर्वजन्म के संस्कारी भक्तों के हृदय में अकस्मात् ही प्रेम का स्फुरण हो जाता है। (श्रीहरिभक्ति० पूर्व० वि०, लहरी ४, श्लो० ६–८)।

स्वयमेव श्रीमधुसूदन सरस्वती ने इस रसानुभूति के लिये सामाजिक की विशेषताओं का निर्देश करते हुए बताया है कि जिनका हृदय भक्तिभाव से धौत होकर परमोज्ज्वल हो चुका है, भगवच्चरणों में जिसका मन सदा आसक्त रहता है, उसीको इस रस का आस्वादानुभव संभव है—

एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते।
प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
भक्तिनिर्धूतदोषाणां प्रसन्नोज्वलचेतसाम्।
श्रीभागवतरक्तानां रसिकासङ्गरङ्गिणाम्।
जीवनीभूतगोविन्दपादभक्तिसुखश्रियाम्।

इत्यादि।

अस्तु, ऐसे भक्त आज के विज्ञानयुग में इन-गिने ही मिल सकते हैं। और जबतक ऐसे भक्त न मिलेंगे, जिनके हृदय में भक्ति हो, उसकी वासना हो, तब तक कृष्णविषयक रतिभाव 'स्थायी' न कहा जा सकेगा और न उस स्थायी का बारंबार काव्यानुशीलन द्वारा रज और तम को अभिभूत करनेवाला प्रतिबोधन ही हो सकेगा और न साधारणीकरण ही हो सकेगा।

अतः भक्तिरस को हम साधारणतया रस ही नहीं कह सकते। यदि कहना भी चाहें तो इसका क्षेत्र अत्यंत संकुचित होगा। भुक्ति और मुक्ति को तृणवत् देखनेवाले, कृष्णकी मधुर मूर्ति के उपासक ही इसके आस्वादयिता हो सकते हैं।

अन्य संप्रदायवालों की चर्चा तो बड़ी दूर है। भारतीयों में और कृष्णोपासकों में भी मधुरोपासक ही इसका अनुभव कर सकते हैं। शैव, संत, रामभक्त अथवा अन्य धर्म या संप्रदाय का अनुयायी अनुभव नहीं कर सकता।

अन्यों को जो अनुभूति होगी वह बहुधा 'शृंगार' के समान होगी। क्योंकि विभावानुभावादि बहुत दूरतक शृंगार के ही अनुरूप-से आभासित होते हैं। इसका परिणाम भी वही होगा जिसे बहुधा अनेक शृंगारी कवियों ने कृष्ण के बहाने अपनी रचना में प्रकट किया है।

अतः सामान्यतः हम या तो 'भक्ति' को रस ही नहीं कह सकते और यदि कहना ही चाहें तो सांप्रदायिक रस ही कह सकते हैं। अन्य स्थायिभावों के समान भक्ति के स्थायिभाव की स्थिति सामान्यतः समस्त सहृदयजनों के हृदय में नहीं मानी जा सकती।

इसी कारण प्राचीन आचार्यों ने आठ स्थायिभावों की जो संख्या निर्धारित की है, उसका मनोवैज्ञानिक आधार अत्यंत प्रौढ़ और तर्कपुष्ट है। नवीन रसों की उद्भावना के पूर्व हमें स्थायिभावों के स्थायिभावत्व, सहृदयहृदयमात्रवेद्यत्व, संवेदनीयत्व साधारणीकरणीयत्व आदि का विचार अत्यंत आवश्यक है।
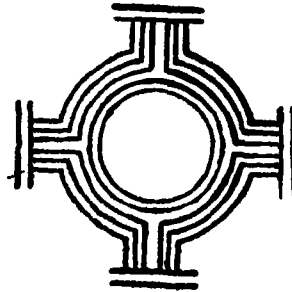
विनोद-विमर्श

कृष्णदेव प्रसाद गौड़

हंसी आती है सब को, किंतु क्यों आती है इसका विश्लेषण प्राचीनकाल में किसी ने नहीं किया। हमारे देश में रसों का वर्णन और उसका निरूपण पहले भरत ने किया। किंतु हास्य का कारण क्या है इसपर उस समय किसी ने ध्यान देने का कष्ट नहीं उठाया। विचित्रता की बात है कि शिशु की मधुर मुसकान, यौवन का उल्लासपूर्ण अट्टहास, जरावस्था की निग्रहीत हंसी अनंत-काल से लोग देखते चले आए हैं किंतु उसका दार्शनिक विवेचन पहले नहीं हुआ। केवल इतनेपर ही संतोष कर लिया गया कि इतने प्रकार की हंसी होती है। इसके आलंबन, युग के अनुसार अमुक होते हैं, इन-इन वस्तुओं से इसे उद्दीपन मिलता है। आश्चर्य की बात है कि व्यक्ति तथा समाज के सूक्ष्म से सूक्ष्म कृत्योंपर विचार करनेवाले महान् विद्वानों ने भी इसकी समीक्षा नहीं की।

विदेशों में पहले-पहल फ्रेंच दार्शनिक वर्गसों ने इसपर नियमित तथा वैज्ञानिक रूप से विचार किया। इसके पहले जो कुछ भी विचार इंगलैंड तथा दूसरे देशों में हुआ वह अव्यवस्थित ढंग से चलता सा, था। इसके पश्चात् क्रोचे तथा और भी सौंदर्य विज्ञान (ऐस्थेटिक्स) के पंडितों ने इसकी मीमांसा की है।

इस बात से तो सभी सहमत हैं कि किसी बात में, वस्तु में, चरित्र में कोई बात उपहास्य हो, हास्यकर हो तभी हंसी आती है। किंतु इस बातपर सब लोगों का मतैक्य न होगा कि अमुक प्रकार की बात अथवा अमुक ढंग की चलन हास्यकर है। मान लीजिए किसीसे पूछा जाय 'आनंद सदैव कहाँ पाया जाता है' और कोई व्यक्ति उत्तर दे—'कोश में'। कुछ लोग इसपर नहीं हंसेंगे, और कुछ लोगों के अधर खुल जायेंगे। कोश शब्द में कोई विनोद नहीं है, सैकड़ों बार आपने देखा होगा किंतु हंसी तो नहीं आती। इसलिये हंसी के लिये पहली आवश्यक बात परिस्थिति है। सिगरेट पीते सबको लोग देखते हैं। सिगरेट भी दूकानोंपर ढेर के ढेर रखे देखते हैं। किंतु यदि घोड़े को सिगरेट पीते आप देखें तो हंसी आ जायगी। एक बात और सोचने की है। अभी एक पत्र में 'डाक्टर सुदर्शन लाल दर्शन के अध्यापक होंगे' के स्थानपर छप गया डाकू सुदर्शन लाल अध्यापक होंगे। पढ़नेवाले को हंसी आई होगी। क्यों हंसी आई। सुदर्शन लाल के व्यक्तित्व में हंसी की कोई बात नहीं है।

डाकू उपहास्य प्राणी नहीं भयद भले ही हो। हंसी आनेका कारण हमारी मन:स्थिति है। इसीप्रकार कोई कविता लीजिए। हास्य रस की दो पंक्तियां हैं :—

"अभिलाषा यह है प्रिये मरने के पश्चात्,
तुम डाइन, हम भूत बन, लूका खेलें रात"

इसके प्रत्येक शब्द पर विचार कीजिए। मरण, डाइन, भूत, लूका, हंसी की वस्तुएँ नहीं हैं; शायद भयानक रस ही का उद्रेक करनेवाली हैं। तब हंसी आने का क्या कारण है। हंसी सुननेवाले की बुद्धि में, मन में होती है, किसी वस्तु में नहीं। यह हंसी का दूसरा कारण है? शेक्सपियर ने लिखा है "विनोद की सफलता सुननेवालों के कान में है, कहनेवालों की जिह्वा पर नहीं[1]" शेक्सपियर आलोचक नहीं था फिर भी उसकी प्रतिभा ने जो कहला दिया वह जन्म-मृत्यु की भांति सत्य है।

एक और दृष्टांत आवश्यक है। कहा जाता है कि एक विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग को एक बहुत धनी सेठ देखने गए। वहाँ पहुँचते ही अध्यक्ष ने परिचय कराया, आप डाक्टर क हैं, आप डाक्टर ख हैं, आप डाक्टर ग हैं—इत्यादि, कई बार सुननेपर उन्होंने अपने विविक्त मंत्री की ओर देखा और कहा—"मैंने विश्वविद्यालय चलने को कहा था, आप अस्पताल में क्यों लाये।' यह घटना सुननेपर उन आध्यापकों को छोड़कर जिनपर यह बीती होगी सभी हंसेंगे। क्यों? असंगति के कारण। जो वस्तु जिस स्थानपर होनी चाहिए, वहाँ न होकर अनुपयुक्त स्थान पर हो जाय तो देखने वाला हंसे बिना नहीं रह सकता। असंगति तीसरा गुण है जो हास्य के लिये आवश्यक है। जितनी हास्य की सामग्री है, कहानी, कविता या नाटक के पात्र, यदि वह साधारण व्यक्तियों की भाँति आचरण करते हैं तो हास्यकर नहीं हैं। साधारण रेखा से परे ही जब कोई जाता है तभी हास्यास्पद बनता है वह अनायास हो अथवा जानबूझकर। एक प्रोफेसर के संबंध में कहा जाता है कि वह सब कार्य वैज्ञानिक ढंग से करते थे। उनका नौकर एकदिन छुट्टीपर था। उन्हें प्रातःकाल जलपान के लिये अंडा उबालना था। वह किसी विचार में निमग्न थे। उन्होंने घड़ी पानी में डाल दी उबलने के लिये और हाथ में अंडा लेकर देखने लगे समय। इस ढंग की एक कविता भी कभी पढ़ी थी कि कृष्णजी राधिका को देखकर इतने आत्मविस्मृत हो गये कि गाय का थन अलग हट गया और राधिका की उंगली पकड़कर दोनों हाथों से दूहने लगे। भक्तों को इसमें जो आनंद आए किंतु है यह असंगत बात और हंसी आए बिना नहीं रह सकती।

एक और बात हास्य के लिये आवश्यक है जिसके बिना और बातें निरर्थक हो जाती हैं। तीक्ष्णमति अथवा तीव्र बुद्धि हास्य समझने के लिये आवश्यक है। जितना ही बढ़िया हास्य होगा उसे समझने के लिये उतनी ही विचक्षणता आवश्यक है। साहित्यिक विनोद की बात तो अलग है। उसके लिये तो अनेक प्रकार के ज्ञान की भी आवश्यकता है किंतु साधारणतः विनोद समझने के लिये भी बुद्धि की आवश्यकता है। विनोद प्रियता जिसे अंग्रेजी में 'सेंस आव ह्यमर' कहते हैं सब लोगों के पास नहीं होता। यह अभ्यास से नहीं आती। इसका संस्कार जन्मजात होता है। अभ्यास वाली विनोदप्रियता कृत्रिम होती है और ठीक वैसी ही मालूम पड़ती है जैसे मेजपर कागज के फूल।

---

१. जेस्ट्स प्रासपेरिटी लाइज इन द इयर आव हिम दैट हियर्स; नेवर इन द टंग आव हिम दैट मेक्स इट।"

संपूर्णानंद का प्रमाण-दर्शन

राजाराम शास्त्री

भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने प्रमाणों की भिन्न-भिन्न संख्या मानी है। हम यहाँपर केवल दो प्रमाणों को अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान को लेते हैं। साधारण भाषा में इन्हें अनुभव और तर्क कहा जाता है और बहुधा तर्क के विरुद्ध अनुभव को खड़ा किया जाता है। दार्शनिक लोग भी प्रत्यक्ष को ही मूल प्रमाण मानते हैं और अनुमान को उसपर आश्रित। किन्तु फिर भी वे इनको अलग-अलग मानसिक वृत्ति मानते हैं और इन्हें एक दूसरे से व्यावृत्त करने का प्रयत्न करते हैं, इनकी ऐसी परिभाषा करना चाहते हैं कि दोनों एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हो जायं। यद्यपि यह चेष्टा व्यावहारिक दृष्टि से अपना मूल्य रखती है, किंतु इससे तात्त्विक वास्तविकता पर पर्दा पड़ जाता है। इस संबंध में संपूर्णानंद के दृष्टिकोण की विशेषता यह है कि वे इनका नितांत पार्थक्य नहीं करते। उनका कहना है कि "प्रमाणों में सब से महत्व का स्थान प्रत्यक्ष का है, शेष प्रमाण इसीपर निर्भर करते हैं। *विषय और इंद्रिय के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है।* प्रमाण का दूसरा साधन अनुमान है। *यदि अनु*-मानपर विश्वास न किया जाय तो जगत् का बहुत-सा व्यवहार बंद हो जाय। पर उसकी सचाई की कसौटी प्रत्यक्ष ही है। अनुमान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है। वह प्रत्यक्षमूलक है।"

बहुधा जिसे तर्क कहते हैं वह अनुमान का ही दूसरा नाम है। दूर पर धुंआ देखकर आग की सत्ता का निश्चय करने का पारिभाषिक नाम अनुमान है; इसको तर्क भी कहा जाता है। यह बुद्धि का धर्म है। "कई प्रत्यक्षज प्रत्यय अध्यवसाय की सामग्री बनते हैं। उनको एक दूसरे से मिलाने से ऐसी बातें निष्पन्न हो सकती हैं जो पहिले ज्ञात नहीं थीं; परंतु अज्ञात होते हुए भी यह बातें पुराने प्रत्ययों के भीतर निहित थीं। अध्यवसाय केवल उनको प्रकट करता है। मेरे सामने एक ज्यामितिक चित्र बना है। इस बात का पता तो मुझको प्रत्यक्ष रूप से होता है कि वह त्रिभुज है। अध्यवसाय या तर्क द्वारा मैं त्रिभुज के कई गुणों को जान सकता हूँ। बिना नापे ही तर्क मुझे यह बतलाता है कि इस त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोणों के बराबर है। यह मेरे लिए नया ज्ञान है। ऐसा ज्ञान तर्क से प्राप्त होता है। मनुष्य के ज्ञान का बहुत बड़ा अंश तर्क के द्वारा ही प्राप्त हुआ है। मनुष्य की यही महत्ता है कि वह तर्क कर सकता है। परंतु तर्क स्वतंत्र प्रमाण नहीं है।

"जिस व्याप्ति के आधारपर अनुमान किया जाता है वह पिछले प्रत्यक्षों का ही निष्कर्ष होगी और इस अनुमान-काल में भी अनुमेय के लिंग का प्रत्यक्ष होना चाहिए। तभी अनुमान हो सकता है। हमने पहले कई बार यह देखा है कि जहाँ धुंआ था वहाँ आग भी थी। यह हमारा अन्वयी प्रत्यक्ष रहा है। यह भी देखा गया कि जहाँ आग नहीं थी वहाँ धुंआ नहीं था। यह व्यतिरेकी अनुभव रहा है। इससे हमने इस व्याप्ति, व्यापक नियम का ग्रहण किया कि जहाँ-जहाँ धुंआँ होता है वहाँ आग अवश्य होती है। हमने सारे जगत् की छानबीन तो की नहीं, दस-पाँच जगहों में ऐसा अनुभव किया। जितनी अधिक संख्या में धुएँ के साथ आग का प्रत्यक्ष हुआ होगा उतनी ही अधिक संभावना व्याप्ति के ठीक होने की होगी। ऐसे कई स्थल हैं जहाँ आग के साथ धुंआँ होता है। परंतु ऐसी व्याप्ति नहीं है कि जहाँ-जहाँ आग हो वहाँ धुआँ भी हो। प्रत्यक्ष के आधारपर कोई भी व्यापक नियम बनाया जाय, इस बात की संभावना बराबर बनी होगी कि स्यात् कोई एसा दृग्विषय मिल जाय जिसमें वह नियम न घटता हो। यदि ऐसा एक भी उदाहरण मिला तो नियम न रह जायगा।

हम तर्क की अवहेलना नहीं कर सकते। बहुत-सा ज्ञान जो अन्यथा अप्रकट रह जाता तर्क द्वारा ही प्रकट होता है। तर्क के अभाव में हमको प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना का पृथक् अनुभव करना पड़ता, सबके लिये अलग-अलग प्रमाण ढूंढ़ना पड़ता। तर्क हमको इस श्रम से बचाता है और ज्ञान को प्रगतिशील बनाता है। 'वह पर्वत धूमयुत है' इस वाक्य में 'वह पर्वत' नाम और 'धूमयुत है' आख्यात है। आख्यातमें नाम के संबंध में जो कहा गया है वह अतर्क्य है। हमको धुएँ का प्रत्यक्ष हो रहा है, ऐसा संवित् हो रहा है। परंतु तर्क के द्वारा हमको यह विदित होता है कि पर्वतपर आग है, क्योंकि जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग होती है। यह ज्ञान हमको वहाँ जानेपर प्राप्त हो सकता था, परंतु तर्क ने इस श्रम से बचा दिया। पुराने आख्यात के भीतर से नया आख्यात निकला और हम यह कह सकते हैं, 'वह पर्वत अग्निमान् है।' ऐसा जानने से हम यह निर्णय कर सकते हैं कि कैसा व्यवहार किया जाय। यदि हमको भोजन पकाना है या सर्दी लग रही है तो हम पर्वत की ओर जायंगे, अन्यथा दूसरे काम में प्रवृत्त होंगे। तर्क के अभाव में केवल धूम-दर्शन व्यवहार के लिये मार्ग-प्रदर्शक नहीं हो सकता था। जो प्रत्यक्ष हो रहा था वह चित्त का विकार मात्र होकर रह जाता। अतः यह स्पष्ट है कि तर्क की सहायता से ही हम अपने ज्ञान का उपयोग कर सकते हैं।" इसके अतिरिक्त कुछ अनुभवों के आधार पर अनुमान एक बार सिद्ध हो जानेपर दूसरे अनुभवों का संशोधन भी करता है।

"हमको सामने एक फूल देख पड़ता है। हम पिछले अनुभवों के आधारपर एतत्कालीन अनुभव के संबंध में यह तर्क तो कर सकते हैं कि ऐसा अनुभव न होना चाहिए—यह युक्तिसगत नहीं है; इस तर्क के फलस्वरूप हमको अपने प्रमाणों (प्रत्यक्ष) के संबंध में शंका उत्पन्न हो सकती है। दोपहर को आकाश में सूर्य देख पड़ता है। यदि किसी दिन किसी को चंद्रमा देख पड़ जाय तो उसको यह शंका होनी चाहिए कि यह भ्रांति-दर्शन है। ज्यौतिष के अमुक-अमुक नियमों के अनुसार इस समय चंद्रमा दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। मेरी आँखों में कोई दोष आ गया है या किसी अन्य कारण से यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है। वह यह सब तर्क कर सकता है। प्रत्येक प्रतीयमान सत्ता अतर्क्य होती है। परंतु यदि उसका हमारे दूसरे अनुभवों से सामंजस्य न हो तो हमको यह शंका करने का स्थल रहता है कि जिस प्रमाण द्वारा उसका ज्ञान हुआ था उसका ठीक प्रयोग नहीं हुआ।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान प्रत्यक्ष का विकास है। वह प्रत्यक्ष का संशोधन और संवर्धन करता है और उसमें निहित संभावनाओं को प्रस्फुटित करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान का पहला कदम है और अनुमान ज्ञान की प्रगति में उससे अगला कदम है। वह ज्ञान को व्यवहारोपयोगी बनाता है।

किंतु ज्ञान की प्रगति यहीं समाप्त नहीं हो जाती। इसमें संदेह नहीं कि अध्यवसाय की परिणति व्यवहार में होती है, किंतु इस व्यवहार के फल का प्रत्यक्ष पुनः इस अध्यवसाय का संशोधन करता है।

"तर्क में यह दोष है कि वह अप्रतिष्ठित है, अर्थात् उसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अंतिम और निर्णायक नहीं होता। तर्क को प्रत्यक्ष से पदे-पदे मिलाना और सुधारना पड़ता है। छोटी बातों में, ऐसी बातों में जो थोड़ी देर या थोड़े क्षेत्र में समाप्त हो जाती हैं, तर्क वस्तुस्थिति के अनुकूल होगा, परंतु बड़ी बातों में वस्तुस्थिति उससे दूर जा पड़ सकती है। प्राणधारियों के संबंध में तर्क बहुत धोखा देता है। यदि १० श्रमिक किसी काम को ८ दिन में करते हैं तो तर्क के अनुसार २० श्रमिक उसे ४ दिन में करेंगे। स्यात् ऐसा हो भी जाय, पर तर्क यह भी कहता है कि १,१५,२०० श्रमिक उसे एक मिनट में पूरा कर देंगे। वस्तुतः ऐसा कदापि नहीं हो सकता। एक सीमा के उपरांत श्रमिकों की बढ़ती हुई संख्या काम में बाधक होने लग जायगी। किसी मनुष्य को सीधा समझकर लोग नित्य चिढ़ाया करते हैं। उसका स्वार्थ भी स्यात् इसीमें है कि चिढ़ानेवालों की बात सहता जाय। परंतु एक दिन न जाने क्या हो जाता है कि वह भड़क उठता है और ऐसे काम कर बैठता है जो हमारे सारे तर्क और उसके सारे हितों को तोड़-फोड़ डालते हैं। ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं है कि कोई दैवी या दानवी शक्ति तर्क को झू ा सिद्ध करनेपर तुली बैठी है। बात यह है कि बुद्धि को जैसी और जितनी सामग्री मिलेगी वैसा ही व्यापक और ग्राहक उसका अध्यवसाय होगा। यदि कोई सर्वज्ञ हो अर्थात् किसी को समस्त विश्व का युगपत् प्रत्यक्ष हो रहा हो तो उसका तर्क भी असंदिग्ध परिणामवाला होगा। साधारणतः हमको किसी भी परिस्थिति के सब पहलुओं का ज्ञान नहीं होता। थोड़ी सामग्री के बलपर अध्यवसाय करते हैं, इसलिए उसका परिणाम भी यथार्थ नहीं निकलता। प्रत्यक्ष द्वारा उसको बराबर ठीक करना पड़ता है। यदि कोई नया अनुभव, नया हेतु मिला तो नया अध्यवसाय करना पड़ता है। सैकड़ों वर्षों तक मंगलादि ग्रहों की नाक्षत्र गतिविधि देखकर विद्वानों ने उनकी चाल के संबंध में नियम बनाये। इन नियमों के आधारपर तर्कसे यह निश्चय किया जा सकता है कि अमुक तिथि को अमुक काल में अमुक ग्रह आकाश में अमुक स्थानपर होगा। देखने पर ग्रह ठीक उसी स्थानपर नहीं मिलता; जितनी ही लंबी अवधि के लिये गणना की जाती है उतनी ही बड़ी भूल मिलती है। कारण स्पष्ट है। यदि किसी समीपस्थ पिंड के आकर्षण या किसी ऐसी ही अन्य बात के संबंध में रत्ती भर भी भूल रह गयी तो वह काल पाकर बढ़ती जाती है। ऐसी भूल को बराबर प्रत्यक्ष से मिलाकर शोधना पड़ता है। एक समय था जब विद्वान् लोग खवर्ती पिंडों की गतिविधि देखकर यह मानते थे कि सूर्यादि पृथिवी की परिक्रमा करते हैं। नये हेतुओं के मिलनेपर यह मत पलट गया और ऐसा माना गया कि पृथिवी आदि ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। आजकल यह कहना अधिक ठीक जँचता है कि प्रत्येक ग्रह सूर्य और अपने संयुक्त गुरुत्व-केंद्र की परिक्रमा करता है, पर यह केंद्र सूर्य के पिंड के भीतर है, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य का परिक्रमण हो रहा है। सब संभव हेतु सामने उपस्थित नहीं होते, इसलिए तर्क पूर्णतया सत्यप्रतिष्ठ नहीं हो सकता।"

अनुमान अथवा तर्क ही के द्वारा अनेक विशेष अनुभवों से सामान्य सिद्धांत (व्याप्तियाँ) निर्णीत होते हैं और सामान्य सिद्धांतों की सहायता से विशेष निर्णय किये जाते हैं। अतएव जब तर्क अप्रतिष्ठित है, जब उसमें ज्ञान की चरम परिणति नहीं है। तो उसके द्वारा प्राप्त सिद्धांत भी कोई चरम सत्य नहीं हो सकते। तर्क व्यवहार में आनेपर उस व्यवहार के परिणामस्वरूप प्राप्त नये अनुभवों से संशोधित और परिवर्धित होता रहता है और सिद्धांत नये व्यवहार के प्रकाश में अधिकाधिक सत्य और संग्राहक होते जाते हैं। अभिसिद्धांतों और सिद्धांतों का संबंध इसी प्रक्रिया का एक उदाहरण है।

"मनुष्य निरंतर दृग्विषयों के बीच रहता है, प्रत्येक भीतरी-बाहरी घटना एक दृग्विषय है। दृग्विषयों का साक्षी मात्र बनकर रहने से उसको तृप्ति नहीं होती। वह दृग्विषयों में, विशषतः ऐसे दृग्विषयों में जो नियतरूप से एक दूसरे के पीछे आते हैं या जो एक दूसरे के सदृश प्रतीत होते हैं, संबंध ढूंढ़ता है। जब संबंध निश्चित रूप से मिल जाता है तब उसे सिद्धांत कहते हैं। सिद्धांत सत्य मानकर प्रतिपादित किया जाता है। जो उसको उपस्थित करता है उसको यह विश्वास होता है कि जगत् में वस्तुतः ऐसा ही हो रहा है। परंतु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दृग्विषयों के संबंध में जो बात समझ में आती है वह निश्चय कोटितक नहीं पहुँची होती। ऐसा विश्वास होता है कि इसके सत्य होने की बहुत संभावना है, फिर भी उसको सिद्धांत मानने के पहिले और परीक्षा करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था में उसको अभिसिद्धांत कहते हैं। विद्या की उन्नति में अभिसिद्धांतों से बहुत सहायता मिलती है। विद्युत् और प्रकाश की गति समझने में इस अभिसिद्धांत से बड़ी सहायता मिली कि दिक् में एक बहुत ही सूक्ष्म गुरुत्वहीन पदार्थ सर्वत्र फैला हुआ है जो विद्युत्, प्रकाश और ताप की तरंगों का माध्यम बन जाता है। इसको आकाश तत्त्व कहा गया। ज्यौतिषियों को सूर्य, चंद्र, मगल, गुरु जैसे खवर्ती पिंडों की गतिविधि समझने में इस अभिसिद्धांत से सहायता मिली कि यह सब पृथिवी की, जो खमध्य में निश्चल खड़ी है, परिक्रमा करते हैं। अभिसिद्धांत को अभ्युपगत करके, उसको सत्य मानकर यह परीक्षा की जाती है कि वह सब सप्रकरण दृग्विषयों को समझाने में कहाँतक समर्थ होता है। यदि वह इस परीक्षण में निर्दोष उतरता है तो सिद्धांत पदवीपर पहुँचता है, अन्यथा उसका परित्याग कर दिया जाता है।

"यहाँतक तो कोई आपत्ति नहीं है। बुराई तब आती है जब प्रमाद के कारण पूरा परीक्षण नहीं किया जाता और अभिसिद्धांत झट से सिद्धांत मान लिया जाता है।"

किंतु इसी विचार से यह भी स्पष्ट है कि समय विशेष की स्वाभाविक सीमाओं का उल्लंघन न कर पाने के कारण मानव-समाज के लिये आज जो सिद्धांत होता है वही कलके विस्तृत अनुभव के प्रकाश में अभिसिद्धांत बन जाता है। प्रगतिशील इतिहास नयी-नयी परिस्थितियाँ और नये-नये अनुभव उत्पन्न करता रहता है और फिर उन सब दृग्विषयों को घेरने के लिये सिद्धांतों के दायरे को बड़ा करना पड़ता है। इसी प्रकार नये सिद्धांतों का निर्माण होता रहता है जो कि अधिकाधिक सत्य और पूर्ण होते जाते हैं। ज्ञान का इसी तरह अपूर्ण सत्य से पूर्ण सत्य की ओर अनवरत विकास होता रहता है और ज्ञान की उन्नति के साथ व्यवहार भी अधिकाधिक उन्नत होता जाता है। साथ ही व्यक्ति अथवा समाज के ज्ञान और कर्म के प्रभाव से उसकी परिस्थिति भी उसके अधिकाधिक अनुकूल परिणत होती जाती है। क्योंकि ज्ञान और कर्म वास्तव में प्रकृतिपर मनुष्य की क्रिया के ही दो अंग हैं। यह क्रिया प्रकृति में यदि नया परिणाम उत्पन्न न करे तो ज्ञान और कर्म के

उन्नति के नये स्तर पर जाने का कोई कारण न रहे। बिना नये-नये दृग्विषयों के, नयी-नयी परिस्थितियों के, नये-नये अनुभव कहाँ से आते ? यदि प्रकृति परिणाम न होती तो हमारे ज्ञान और कर्म एक ही स्थिर चक्र में घूमते रहते, उनमें भी कोई परिवर्तन अथवा उन्नति होने की संभावना न होती। अतएव ज्ञान और कर्म का विकासमान चक्र वास्तव में मानव और प्रकृति की क्रिया और प्रतिक्रिया का चक्र है।

अब यदि हम ज्ञान के विकास की कुल मंजिलों को उपर्युक्त विचार के प्रकाश में चित्रित करना चाहें तो कुछ इस प्रकार कर सकते हैं :—
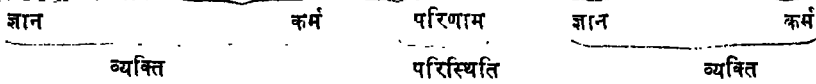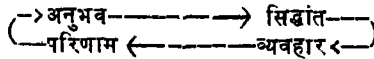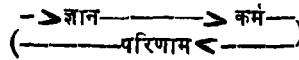
किंतु इन चित्रों से यह भ्रम न हो कि जिस ज्ञान से जो कर्म तथा परिणाम होता है वह कर्म और परिणाम फिर उसी (अपने पूर्ववर्ती) ज्ञान को और वह ज्ञान फिर उसी कर्म और परिणाम को उत्पन्न करता है और इस प्रकार हम बिना आगे बढ़े हुए उसी चक्र में घूमते रहते हैं, इसलिए ज्ञान और कर्म तथा परिणाम के सतत वर्धमान चक्र को इस प्रकार चित्रित करना अच्छा होगा :—
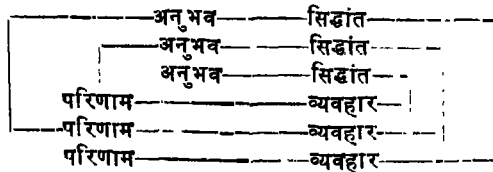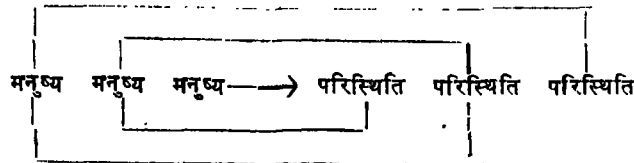
सारांश यह कि संपूर्णानंद प्रत्यक्षादि प्रमाणों को पृथक्-पृथक् स्थिर वस्तुओं के रूप में न देख-कर उन्हें कालक्रम में आगे बढ़ती हुई क्रिया की अनेक मंजिलों के रूप में देखते हैं जिसकी शृंखला आगे बढ़कर क्रिया तक पहुँचती है और क्रिया द्वारा मनुष्य परिस्थिति तक पहुँचता है जिस प्रकार परिस्थिति ज्ञान द्वारा मनुष्य तक पहुँचती है।

इस गत्यात्मक दृष्टि से ज्ञान और कर्म के संबंध की सारी समस्याएँ अत्यंत सहज रूप से सुलझ जाती हैं। उदाहरण के लिये यह प्रश्न बराबर उठता रहा है कि दर्शन का प्रयोजन ज्ञान है या कर्म? किंतु ज्ञान और कर्म को सिद्ध वस्तुओं के रूप में नितांत व्यावृत और पृथक् समझ लेने के स्थान पर यदि इन दोनों को कालक्रम में एक दूसरे के आश्रय से गतिमान प्रवाह के रूप में समझा जाय तो यह प्रश्न ही निरर्थक हो जाता है। फिर तो यह व्यावहारिक सुविधा और व्यक्तिगत रूचि की बात रह जाती है कि कोई व्यक्ति सामाजिक श्रम-विभाजन में अपनी योग्यतानुसार कौन-सी वृत्ति ग्रहण करे और अपने जीवन का लक्ष्य ज्ञान को या कर्म को बनाये। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि यदि किसी कर्मयोगी का लक्ष्य कर्म है तो भी उसके कर्मनिष्ठ जीवन के द्वारा उसके ज्ञान में विकास हुए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार दार्शनिक का लक्ष्य ज्ञान है। किंतु इस ज्ञान से उसके कर्मपर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

इसके अतिरिक्त यह लक्ष्य भी, कालक्रम में विकसित होता है, न कि प्रारंभ से ही किसी व्यक्ति को एक पृथक् लक्ष्य सिद्ध होता है। दर्शनके ज्ञान का लक्ष्य भी विकास की एक विशेष मंजिल पर और वह भी कर्म जिज्ञासा के सहारे ही प्राप्त होता है।

"मनुष्य चाहे अर्थ और काम को ही लक्ष्य मानकर चला हो, परंतु ज्यों-ज्यों उसकी बुद्धि में यह बात बैठती जाती है कि धर्म के बिना अर्थ और काम सिद्ध नहीं हो सकते, त्यों-त्यों उसका ध्यान इनकी ओर से हटकर धर्म की ओर लग जाता है और क्रमशः धर्म साधन न रहकर साध्य बन जाता है। संस्कृत बुद्धि की यह पहचान है। इसी प्रकार जब यह बात समझ में बैठ जाती है कि अज्ञान से छुटकारा पाये बिना धर्म का संपादन संभव नहीं है तो क्रमशः अज्ञान-निवृत्ति स्वयं साध्य हो जाती है। इस स्थिति के उत्पन्न होने में और बातें भी सहायक होती हैं। जिज्ञासा हमारे चित्त का स्वाभाविक धर्म है। मैं क्या हूँ? जगत् क्या है? मेरे सिवाय अन्य भी चेतन व्यक्ति हैं या नहीं? इस प्रकार के प्रश्न चित्त में उठते हैं। इनके उत्तर जानने की उत्कट इच्छा होती है। वैय-क्तिक और सामूहिक धर्म का पालन उसका व्यावहारिक परिणाम है। परंतु अज्ञान-निवृत्ति अर्थात् ज्ञान से जो एक अपूर्व आनंद और शांति की प्राप्ति होती है वह उसका सब से बड़ा फल है। जिस किसी को विज्ञान के अध्ययन के द्वारा कभी जगत् के रहस्य का थोड़ा-सा भी परिचय मिला होगा उसको इस आनंद और शांति की एक झलक देख पड़ी होगी। अतः अज्ञान से छुटकारा पाना और ज्ञान के द्वारा *जगत् के स्वरूप और अपने स्वरूप को पहिचानना मनुष्य का श्रेष्ठतम लक्ष्य होना चाहिए।*

"दार्शनिक ज्ञान—विश्व के सत्य स्वरूप का ज्ञान—धर्मज्ञान का साधन होगा। हमको उससे ज्ञात होगा कि जगत् में हमारा क्या स्थान है, किस-किस के साथ कैसा संबंध है, इस संबंध से हमारे कैसे कर्तव्य उत्पन्न होते हैं और इन कर्तव्यों का किस प्रकार पालन किया जा सकता है।

इसके साथ ही अज्ञान के कारण जो इच्छाभिघात होता है वह नष्ट हो जायगा। कर्तव्य-पालन करने की क्षमता आ जायगी। इस प्रकार का ज्ञान व्यक्ति-विशेष को हो, पर उसका लाभ उस व्यक्तितक ही परिसीमीति नहीं रह सकता। वह जो सत्य घोषित करेगा उसको और लोग भी ग्रहण करेंगे। इतना ऊँचा अनुभव न होने के कारण सब लोगों के लिये वह साक्षात्कृत न हो तब भी स्वीकार्य हो सकता है क्योंकि उसके प्रकाश में वह अपने ज्ञान, अपनी अनुभूतियों, अपने साक्षात्कृत सत्यों के सामंजस्य को देख सकेंगे और अपने धर्मों को न्यूनाधिक पहिचान सकेंगे, उसके आधार पर समाज की व्यवस्था प्रतिष्ठित की जा सकती है जिसमें अधिकाधिक मनुष्य अपने अर्थ और काम का उपभोग कर सकें और अपने धर्म का पालन कर सकें। पूर्ण ज्ञान की नींव पर समाज का जो संघटन होगा वह निर्दोष होगा। काल की गति से जगत् के विस्तार के संबंध में ज्ञान की वृद्धि हो सकती है, प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग के नये प्रकार आविष्कृत हो सकते हैं, इसलिए समुदाय के राजनीतिक या आर्थिक या सामाजिक जीवन की नयी व्यवस्थाएँ आवश्यक प्रतीत हो सकती हैं। यह निस्संदेह आवश्यक है कि देश-काल-पात्र के अनुसार उनकी मीमांसा और उनका प्रयोग करनेवाले भी धर्मज्ञ अर्थात् सच्चे दार्शनिक हों।

"ज्ञान का यह बहुत बड़ा विनियोग है, परंतु ज्ञानी के लिये सब से बड़ा उपयोग अज्ञान की निवृत्ति है।"

विज्ञानवाद

नरेंद्रदेव

(चीनी पर्यटक युआन च्वांग की विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि के अनुसार)

प्रथम शताब्दी के लगभग बौद्ध धर्म में एक गहरा परिवर्तन हुआ। बौद्ध-शासन कई निकायों में विभक्त हो चुका था। शासन के दो प्रधान विभाग महायान और हीनयान के नाम से प्रसिद्ध हैं। बौद्ध धर्म के पूर्वरूप को हीनयान की आख्या दी गयी। हीनयान को श्रावकयान भी कहते हैं। हीनयान के अंतर्गत सर्वास्तिवाद और सौत्रांतिकवाद, यह दो दर्शन हैं। हीनयान बहु-स्वभाव-वादी है। इसके अनुसार विज्ञान और बाह्यार्थ (विज्ञेय) दोनों द्रव्य सत् हैं। महायान का हीनयान से मौलिक भेद है। इसके आगम ग्रंथ, इसकी चर्या, इसका दर्शन, इसका बुद्धवाद, सब कुछ भिन्न है। महायान के अंतर्गत भी दो दर्शन हैं---माध्यमिक (अथवा शून्यवाद) और विज्ञानवाद। महायान दर्शन का पूर्वरूप माध्यमिक है। माध्यमिक के प्रतिष्ठाता नागार्जुन थे। इनका समय द्वितीय शताब्दी है। इनका मुख्य ग्रंथ माध्यमिक शास्त्र है। माध्यमिक के अन्य प्रसिद्ध आचार्य देव या आर्यदेव, बुद्धपालित, चंद्रकीर्ति और शांतिदेव हैं। देव तीसरी शताब्दी के हैं, यह शतशास्त्र और चतुःशतक के रचयिता हैं। चंद्रकीर्ति छठी शताब्दी के हैं और इनके प्रसिद्ध ग्रंथ माध्यमिकावतार और प्रसन्नपदा हैं। शांतिदेव सातवीं शताब्दी के हैं। बोधिचर्यावतार और शिक्षा समुच्चय इनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

माध्यमिक शास्त्र का प्रयोजन शून्यता की प्रतिष्ठा करना है। इस शून्यता का क्या अर्थ है ?

पूर्से इसके लिये 'वैकुइटी' शब्द का प्रयोग करते हैं, शर्वात्स्की इसे 'रिलेटिविटी' बताते हैं और यामागुची इसके लिये 'नान-सब्सटेन्स' शब्द का व्यवहार करते हैं। माध्यमिक मतवाद में विज्ञान और विज्ञेय दोनों का वस्तुतः अभाव है ; दोनों केवल लोकसंवृतिसत् हैं।

महायान के अंतर्गत दूसरा दर्शन विज्ञानवाद है। इसे योगाचार भी कहते हैं। यह दशभूमक शास्त्र को अपना आधार मानता है। दशभूमक में कहा है कि त्रैधातुक चित्तमात्र है अर्थात् चित्त-विज्ञान ही द्रव्यसत् है, विज्ञेय अर्थात् बाह्यार्थ वस्तुसत् नहीं है। तथापि इस वाद का आरंभ वस्तुतः आचार्य असंग से होता है। असंग पेशावर के रहनेवाले थे। अपने जीवन का एक भाग इन्होंने अयोध्या में व्यतीत किया था। इनका समय चौथी या पाँचवीं शती है। असंग के ग्रंथ महायान सूत्रालंकार,

धर्मधर्मता-विभंग, उत्तरतंत्र और महायान-संपरिग्रह-शास्त्र हैं तथा योगाचार-भूमि-शास्त्र भी जिसके रचयिता बोधिसत्व मैत्रेय बताये जाते हैं आचार्य असंग का है। असंग के भाई वसुबंधु भी एक प्रसिद्ध शास्त्रकार थे। पहले वह सौत्रांतिक थे; पीछे से अपने भाई असंग के प्रभाव के कारण विज्ञानवादी हो गये। विज्ञानवाद पर इनके दो प्रसिद्ध ग्रंथ हैं—विंशक-कारिका-प्रकरण और त्रिंशिका। इन दो आचार्यों के दो प्रधान शिष्य दिङ्नाग (या दिग्नाग) और स्थिरमति हुए। स्थिरमति का कार्य-क्षेत्र गुजरात का वलभी था। यह माध्यमिक और विज्ञानवाद के बीच की कड़ी हैं। विज्ञानवाद की दूसरी शाखा के प्रतिष्ठापक दिङ्नाग हैं। इस शाखा का माध्यमिक से सर्वथा विच्छेद हो गया। दिङ्नाग के शिष्य धर्मपाल तथा उनके शिष्य शीलभद्र नालंदा संघाराम में थे। युआन च्वांग शील-भद्र के शिष्य थे। नालंदा ही इस शाखा का केंद्र था। विज्ञानवाद के अन्य आचार्य जयसेन, चंद्र-गोमिन् (सातवीं शती) तथा धर्मकीर्ति (ई० ६७५–७००) थे। इनमें से बहुत से नालंदा में थे। यह असंदिग्ध है कि सातवीं शती में विज्ञानवाद का बड़ा प्रभाव था।

आचार्य असंग का दर्शन समन्वयात्मक था। इसमें सौत्रांतिकों का क्षणिकवाद, सर्वास्तिवादियों का पुद्गल-नैरात्म्य और नागार्जुन की शून्यता का प्रतिपादन है। किंतु असंग इस समन्वय को पार-मार्थिक विज्ञानवाद की परिधि में संपन्न करना चाहते हैं। वस्तुतः असंग का दर्शन विज्ञानवादी अद्वयवाद है जिसमें द्रव्य का अभाव है। यह एक नवीन मतवाद है। धीरे धीरे विज्ञानवाद माध्यमिक से व्यावृत्त होने लगा और अंत में इसका स्वतंत्र आधार हो गया। विज्ञानवाद का यह रूप युआन-च्वांग के चीनी ग्रंथ में पूर्ण रूप से पाया जाता है।

चीनी यात्री युआन च्वांग ने भारत में ई० सन् ६३० से ६४४ तक यात्रा की थी। वह नालंदा के संघाराम में कई बार रहे थे। वह शीलभद्र तथा विज्ञानवाद के अन्य आचार्यों के शिष्य थे। ईसवी सन् ६४५ में वह चीन वापिस गये और विज्ञानवाद पर उन्होंने कई ग्रंथोंकी रचना की। इनमें से सबसे मुख्य ग्रंथ 'सिद्धि' है। इसका फ्रेंच अनुवाद पूसें ने किया है। यह लेख इसी ग्रंथ के आधार पर लिखा गया है।

इस ग्रंथ का महत्व इस दृष्टि से भी है कि यह नालंदा संघाराम के आचार्यों के विचारों से परिचय कराता है। असंग के महायान सूत्रालंकार के विज्ञानवाद का आधार माध्यमिक विचार था और उस ग्रंथ में इस सिद्धांत का विरोध नहीं किया गया। इसके विपरीत सिद्धि के विज्ञानवाद का स्वतंत्र आधार है। यह माध्यमिक सिद्धांत से सर्वथा व्यावृत्त हो गया है और यह अपने को ही महायान का एकमात्र सच्चा प्रतिनिधि मानता है।

जैसा कि ग्रंथ का नाम सूचित करता है, 'सिद्धि' विज्ञप्ति-मात्रता के सिद्धांत का निरूपण है। जो लोग पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य में अप्रतिपन्न या विप्रतिपन्न हैं उनको इनका अविपरीत ज्ञान कराना इस ग्रंथ का उद्देश्य है। इन दो नैरात्म्यों के साक्षात्कार से आत्मग्राह और धर्मग्राह का नाश होता है और इसके फलस्वरूप क्लेशावरण और ज्ञेयावरण (अक्लिष्ट अज्ञान जो ज्ञेय अर्थात् भूततथता के दर्शन में प्रतिबंध है) का प्रहाण होता है। रागादि क्लेश आत्मदृष्टि से प्रभूत होते हैं। पुद्गल-नैरात्म्य का अवबोध सत्काय दृष्टि का प्रतिपक्ष है। इस अवबोध से सर्वक्लेश का प्रहाण होता है। क्लेश-प्रहाण से प्रतिसंधि नहीं होती और मोक्ष का लाभ होता है। धर्मनैरात्म्य के ज्ञान से

ज्ञेयावरण प्रहीण होता है और इससे महाबोधि (सर्वज्ञता) का अधिगम होता है और सर्वाकार-ज्ञेय में ज्ञान असक्त और अप्रतिहत प्रवर्तित होता है।

विज्ञप्तिमात्रता दो प्रकार के एकांतवाद का प्रतिषेध करती है। सर्वास्तिवादी मानते हैं कि विज्ञान के तुल्य विज्ञेय (बाह्यार्थ) भी द्रव्यसत् हैं और दूसरे (भावविवेक) जो शून्यवादी हैं, मानते हैं कि विज्ञेय (बाह्यार्थ) के सदृश विज्ञान का भी परमार्थतः अस्तित्व नहीं है, केवल संवृतितः है। यह दोनों मत अयथार्थ हैं। युआन च्वांग इन दोनों अयथार्थ मतवादों से व्यावृत्त होते हैं और अपने विज्ञानवाद को सिद्ध करते हैं। वह वसुबंधु के इस वचन को उद्धृत करते हैं: "जो विविध आत्मोपचार और धर्मोपचार प्रचलित हैं, वह मुख्य आत्मा और मुख्य धर्मों से संबंध नहीं रखते। वह मिथ्योपचार हैं। विज्ञान का जो परिणाम होता है उसके लिये इन प्रज्ञप्तियों का व्यवहार होता है।" दूसरे शब्दों में आत्मा और धर्म द्रव्यसत् स्वभाव नहीं हैं। वह केवल विकल्प मात्र हैं। परिकल्पित आत्मा और धर्म-विज्ञान और विज्ञप्ति (ज्ञान) के परिणाममात्र हैं। चित्त-चैत्त एकमात्र वस्तुसत् है।

युआन च्वांग इस "विज्ञान परिणाम' का विवेचन विज्ञानवाद के अंतर्गत विविध मतवादों के अनुसार करते हैं। धर्मपाल और स्थिरमति के अनुसार मूल-विज्ञान (विज्ञान-स्वभाव, संवित्ति, संवित्तिभाग) दो भागों के सदृश परिणत होता है। यह आत्मा और धर्म हैं। इन्हें दर्शन भाग और निमित्तभाग कहते हैं। यही ग्राहक और ग्राह्य के आयतन हैं। यह दो भाग संवित्तिभाग का आश्रय लेकर वृषभ के दो शृंगों के तुल्य संभूत होते हैं। नंद और बंधुश्री के अनुसार आध्यात्मिक विज्ञान बाह्यार्थ के सदृश परिणत होता है। धर्मपाल के मत से यह दो भाग संवित्तिभाग के सदृश प्रतीत्यज, परतंत्र हैं, किंतु मूढ़ पुरुष इनमें आत्मा और धर्म का, ग्राहक-ग्राह्य का, उपचार करते हैं। यह दो विकल्प (कल्पना) परिकल्पित हैं। किंतु स्थिरमति के अनुसार यह दो भाग परतंत्र नहीं हैं, क्योंकि विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिषेध किये बिना इनकी वस्तुतः विद्यमानता नहीं होती। अतः यह परिकल्पित हैं। नंद और बंधुश्री केवल दो ही भाग (दर्शन, निमित्त) स्वीकार करते हैं और यह दोनों परतंत्र हैं। निमित्तभाग परतंत्र है किंतु यह दर्शनभाग का परिणाम है। इस नय में विज्ञप्ति-मात्र का सिद्धांत आदृत है। निमित्तभाग विज्ञान से पृथक् नहीं है, किंतु मिथ्या रुचि उसे बहिर्वत् गृहीत करती है। यद्यपि यह परतंत्र है तथापि परिकल्पित के सदृश है। लोक और शास्त्र बाह्यार्थ सदृश इस निमित्तभाग को आत्मा और धर्म प्रज्ञप्त करते हैं। दर्शनभाग ग्राहक के रूप में निमित्तभाग में संगृहीत है।

इस प्रकार स्थिरमति एक ही भाग को परतंत्र मानते हैं। उनके दर्शनभाग और निमित्तभाग परिकल्पित हैं। धर्मपाल, जैसा हम आगे देखेंगे, चार भाग मानते हैं। वह एक स्वसंवित्ति-संवित्ति-भाग भी मानते हैं। उनके चारों भाग परतंत्र हैं। नंद और बंधुश्री के अनुसार दो भाग हैं और दोनों परतंत्र हैं।

इन विविध मतों के बीच जो भेद है वह अति स्वल्प है। युआन च्वांग इन मतों का उल्लेख करके उनमें सामंजस्य स्थापित करते हैं। उनका वाक्य यह है—आत्म-धर्म के विकल्पों से चित्त में जिस वासना का परिपोष होता है उसके बल से विज्ञान उत्पन्न होते ही आत्मधर्माकार में परिणत होता

है। आत्मधर्म के यह निर्भास यद्यपि विज्ञान से अभिन्न हैं तथापि मिथ्या विकल्प के बल से यह बाह्यार्थवत् अवभासित होते हैं। यही कारण है कि अनादिकाल से आत्मोपचार और धर्मोपचार प्रवर्तित हैं। सत्व सदा से आत्मनिर्भास और धर्मनिर्भास को वस्तुसत् आत्मधर्म अवधारित करते हैं। किंतु यह आत्मा और धर्म, जिनमें मूढ़ पुरुष प्रतिपन्न हैं, परमार्थतः नहीं हैं । यह प्रज्ञप्तिमात्र हैं। मिथ्या रुचि (मत) से यह प्रवृत्त होते हैं। अतः यह आत्मधर्म संवृतितः ही हैं। पश्चिम की भाषा में यदि कहें तो कहना होगा कि एक पूर्ववर्ती अभ्यासवश, सहज स्वभाव के फलस्वरूप, विज्ञान अवधारित करता है कि उसका एक भाग ग्राहक है और दूसरा (बाह्यजगत्) ग्राह्य।

किंतु यदि आत्मा और धर्म (ग्राहक और ग्राह्य) केवल संवृति सत्य हैं तो इनका उत्पादक विज्ञान कौन सा सत्य है? युआन च्वांग कहते हैं कि विज्ञान आत्मा और धर्म से अन्यथा है, क्योंकि इसका परिणाम आत्मधर्माकार होता है। विज्ञान का अस्तित्व है क्योंकि यह हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है (यह परतंत्र है) किंतु यह वस्तुतः सर्वदा आत्मधर्मस्वभाव नहीं होता। किंतु इसका निर्भास आत्मधर्म के आकार में होता है। अतः इसको भी संवृति सत्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में बाह्यार्थ केवल प्रज्ञप्ति हैं और इनका प्रवर्तन मिथ्या रुचि से होता है। अतः उनका अस्तित्व विज्ञान सदृश नहीं है। जैसे बाह्यार्थ का अभाव है वैसे विज्ञान का अभाव नहीं है । विज्ञान ही इन प्रज्ञप्तियों का, इन उपचारों का, उपादान है क्योंकि उपचार निराधार नहीं होता। विज्ञान परतंत्र है किंतु द्रव्यतः है।

हम देखते हैं कि प्राचीन माध्यमिक मतवाद में और युआन-च्वांग के काल के विज्ञानवाद में कितना अंतर है। माध्यमिकों के मत में वस्तुतः विज्ञान और विज्ञेय दोनों का समान रूप से अभाव है। यह केवल लोकसंवृतिसत् हैं। विज्ञानवाद के मत में यदि विज्ञेय मृग-मरीचिका हैं तो विज्ञान अपने स्वरूप में पूर्णतः द्रव्यसत् है। यह ऐसी प्रतिज्ञा है जिसके करने का साहस असंग ने भी स्पष्ट रीति से नहीं किया। कम से कम उन्होंने ऐसा संकोच के साथ ही किया। किंतु युआन च्वांग स्पष्ट हैं। "बाह्यार्थ केवल विज्ञान की प्रज्ञप्ति है। यह केवल लोकसंवृतिसत् है । इसके विपरीत विज्ञान, जो इन प्रज्ञप्तियों का उपादान है, परमार्थसत् है।" (पृ० ११)

यह कैसे ज्ञात होता है कि बाह्यार्थ के बिना विज्ञान ही अर्थाकार उत्पन्न होता है? क्योंकि आत्मा और धर्म परिकल्पित हैं। अब युआन च्वांग क्रम से आत्मग्राह और धर्मग्राह की परीक्षा करते हैं।

आत्मग्राह

पहले वह आत्मग्राह को लेते हैं । सांख्य और वैशेषिक के मत में आत्मा नित्य, व्यापक (या सर्वगत) और आकाशवत् अनंत है। युआन च्वांग कहते हैं कि नित्य, व्यापक और अनंत आत्मा सेंद्रियक काय में, जो वेदना से प्रभावित है, परिच्छिन्न नहीं हो सकता। क्या आत्मा, जैसा कि उपनिषद् कहते हैं, सब जीवों में एक है, अथवा जैसा सांख्य-वैशेषिक कहते हैं, अनेक हैं? पहले विकल्प में जब एक जीव कर्म करता है, कर्म-फल भोगता है, मोक्ष का लाभ करता है, तब सब जीव कर्म करते हैं, कर्म-फल का भोग करते हैं, मोक्ष का लाभ करते हैं, इत्यादि । दूसरे विकल्प में (सांख्य) सब सत्वों की व्यापक आत्माएं अन्योन्य-प्रतिवेध करती हैं। अतः आत्मा का स्वभाव मिश्र है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक कर्म अमुक आत्मा का है, अन्य का नहीं है।

जब एक मोक्ष का लाभ करता है तब सब उसका लाभ करेंगे क्योंकि जिन धर्मों की भावना और जिनका साक्षात्कार एक करता है वह सब आत्माओं से संबद्ध हैं।

इसके पश्चात् हमारे ग्रंथकार निर्ग्रंथों के मत का खंडन करते हैं। निर्ग्रंथ आत्मा को नित्यस्थ (कूटस्थ) मानते हैं, किंतु कहते हैं कि इसका परिमाण शरीर के अनुसार दीर्घ या ह्रस्व होता है। यह युक्तिक्षम नहीं है क्योंकि इस कूटस्थ आत्मा का स्व-शरीर के अनुसार विकास-संकोच नहीं हो सकता। यदि वंशी की वायु के समान इसका विकास-संकोच हो तो यह कूटस्थ नहीं है। पुनः शरीरों के बहुत्व से छिन्न होने के कारण इसकी एकता कहाँ है? (पृ० १३)

अब हीनयान के अंतर्गत कतिपय मतवाद रह जाते हैं जिनके अनुसार आत्मा पंचस्कंधात्मक है या स्कंधों से व्यतिरिक्त है (व्यतिरेकी) या न स्कंधों से अन्य है और न अनन्य।

पहले पक्ष में एकता और नित्यता के बिना यह आत्मा क्या है? पुनः आध्यात्मिक रूप अर्थात् पंचेंद्रिय आत्मा नहीं है, क्योंकि यह बाह्यरूप के सदृश परिमाणवाला और सावरण है। चित्त-चैत्त भी आत्मा नहीं हैं। चित्त-चैत्त जो अविच्छिन्न संतान में भी अवस्थित नहीं होते और जो हेतुप्रत्ययाधीन हैं, कैसे आत्मा अवधारित हो सकते हैं? अन्य संस्कृत अर्थात् विप्रयुक्त संस्कार और अविज्ञप्ति-रूप भी आत्मा नहीं हैं क्योंकि वह बोधस्वरूप नहीं हैं।

पुनः आत्मा स्कंधव्यतिरेकी भी नहीं है, क्योंकि स्कंधों से व्यतिरिक्त आत्मा, आकाश के तुल्य, कारक-वेदक नहीं हो सकता।

पुनः वात्सीपुत्रीयों का मत कि पुद्गल न स्कंधों से अन्य है और न अनन्य, युक्तियुक्त नही है। इस कल्पित द्रव्य में—जो स्कंधो का उपादान लेकर (उपादाय) न पंचस्कंध से व्यतिरिक्त है और न पंचस्कंध है, जिस प्रकार घट मृत्तिका से न भिन्न है, न अभिन्न—हम आत्मा को नहीं पाते। आत्मा प्रज्ञप्तिसत् है। (पृ० १४)।

अब केवल विज्ञान का प्रश्न रह जाता है। युआन च्वांग वात्सीपुत्रीयों से पूछते हैं कि क्या यह आत्मा है जो आत्म-प्रत्यय का विषय है? आत्मदृष्टि का आलंबन है? यदि आत्मा आत्मदृष्टि का विषय नहीं है तो आप कैसे जानते हैं कि आत्मा है? यदि यह इसका विषय है तो आत्मदृष्टि को विपर्यास न होना चाहिए, जैसे चित्त जो रूपादि वस्तुसत् को आलंबन बनाता है, विपर्यास में संगृहीत नहीं है। बौद्ध आत्मा के अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकता है? आप्तागम आत्मदृष्टि का प्रतिषेध करता है, नैरात्म्य का आशंस करता है और कहता है कि आत्माभिनिवेश संसार का पोषण करता है। क्या यह माना जा सकता है कि मिथ्यादृष्टि निर्वाण का आवाहक हो सकती है? अथवा सम्यग्दृष्टि ससार में हेतु है?

आत्मदृष्टि का आलंबन निश्चय ही द्रव्यसत् आत्मा नहीं है किंतु स्कंधमात्र हैं जो आध्यात्मिक विज्ञान का परिणाम हैं।

पुनः युआन च्वांग तीर्थिकों से पूछते हैं कि आत्मा सक्रिय है अथवा निष्क्रिय। यदि सक्रिय है तो यह आत्मा नहीं है, धर्म (फेनामेनल) है। यदि निष्क्रिय है तो यह स्पष्ट ही असत्

है। पुनः सांख्यवादी कहते हैं कि आत्मा स्वयं चैतन्यात्मक है और वैशेषिक कहते हैं कि यह अचेतन है, चेतनायोग से चेतन होता है (बोधिचर्यावतार, ९।६०)। पहले विकल्प में यह नित्य नहीं है क्योंकि यह सदा नहीं जानता (यथा जब गुण सक्रिय नहीं हैं)। दूसरे विकल्प में आकाशवत् यह कर्ता, भोक्ता नहीं है।

इस आत्म-ग्राह की उत्पत्ति कैसे होती है ? आत्म-ग्राह सहज या विकल्पित है। प्रथम आत्म-ग्राह आभ्यंतर हेतुवश अनादिकालिक वितथ वासना है जो काय (या आश्रय) के साथ (सह) सदा होती है। यह सहज आत्मग्राह (सत्कायदृष्टि) मिथ्या देशना या मिथ्या विकल्प पर आश्रित नहीं है। मनस् स्वरसेन आलय-विज्ञान (अष्टम विज्ञान) अर्थात् मूल विज्ञान को आलंबन के रूप में ग्रहण करता है (प्रत्येति, आलंबते)। यह स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है और इस निमित्त को द्रव्यतः आत्मा अवधारित करता है। यह निमित्त मनस् का साक्षात् आलंबन है। इसका मूलप्रतिभू (बिम्ब, आर्किटाइप) स्वयं आलय है। मनस् प्रतिबिंब का उत्पाद करता है। आलय के इस निमित्त का उपगम कर मनस् को प्रतीति होती है कि वह अपनी आत्मा को उपगत होता है। अथवा मनोविज्ञान पंच उपादानस्कंधों को (विज्ञान-परिणाम) आलंबन के रूप में गृहीत करता है और स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है जिसको वह आत्मा अवधारित करता है।

दोनों अवस्थाओं में यह चित्त का निमित्तभाग है जिसे चित्त आत्मा के रूप में गृहीत करता है। यह बिंब मायावत् है। किंतु यह अनादिकालिक माया है क्योंकि अनादिकाल से इसकी प्रवृत्ति है।

यह दो प्रकार के आत्मग्राह सूक्ष्म हैं और इसलिये उनका उपच्छेद दुष्कर है। भावनामार्ग में ही पुद्गल-शून्यता की अभीक्ष्ण परम भावना कर बोधिसत्त्व इनका विष्कंभन—प्रहाण करता है।

दूसरा आत्मग्राह विकल्पित है। यह केवल आभ्यंतरहेतुवश प्रवृत्त नहीं होता। यह बाह्य प्रत्ययों पर भी निर्भर है। यह मिथ्या देशना और मिथ्या **विकल्प** से ही उत्पन्न होता है। इसलिये यह **विकल्पित** है। यह केवल मनोविज्ञान से ही संबद्ध है। यह आत्मग्राह भी दो प्रकार का है। एक वह आत्मग्राह है जिसमें आत्मा को स्कंधों के रूप में अवधारित करते हैं। यह सत्कायदृष्टि है। मिथ्यादेशनावश स्कंधों को आलंबन बना मनोविज्ञान स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है, इस निमित्त का वितीरण, निरूपण करता है और उसे द्रव्यतः आत्मा अवधारित करता है। दूसरा वह आत्मग्राह है जिसमें आत्मा को स्कंधव्यतिरेकी अवधारित करते हैं। तीर्थिकों से उपदिष्ट विविध लक्षण के आत्मा को आलंबन बना मनोविज्ञान स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है; इस निमित्त का वितीरण, निरूपण करता है और उसे द्रव्यतः आत्मा अवधारित करता है।

यह दो प्रकार के आत्मग्राह स्थूल हैं। अतएव इनका उपच्छेद सुगम है। दर्शनमार्ग में बोधिसत्व सर्व धर्म की पुद्गलशून्यता-भूततथता की भावना करता है और आत्मग्राह का विष्कंभन और प्रहाण करता है।

पुनः युआन च्वांग आत्मवादी के इस आक्षेप का विचार करते हैं कि 'यदि आत्मा द्रव्यतः नहीं है तो स्मृति और पुद्गल-प्रबंध के अनुपच्छेद का आप क्या विवेचन करते हैं?' (पृ० २०) युआन च्वांग उत्तर में कहते हैं कि यदि आत्मा नित्यस्थ है तो चित्त की विविधावस्था कैसे होगी?

वह यह नहीं स्वीकार करते कि आत्मा का कारित्र विविध है किंतु उसका स्वभाव नित्यस्थ है। कारित्र स्वभाव से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः यह नित्यस्थ है। स्वभाव कारित्र से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः यह विविध है।

अनुभवसिद्ध आध्यात्मिक नित्यत्व (स्पिरिचुअल् कान्स्टेण्ट) का विवेचन करने के लिये युआन च्वांग आत्मा के स्थान में मूल विज्ञान का प्रस्ताव करते हैं जो सब सत्वों में होता है और जो एक अव्याकृत सभाग संतान है। इसमें सब सास्रव और अनास्रव समुदाचरित धर्मों के बीज होते हैं। इस मूलविज्ञान की क्रिया के कारण और बिना किसी आत्मा के संप्रधारण के सब धर्मों की उत्पत्ति पूर्व बीज अर्थात् वासना के बल से होती है। यह धर्म पर्याय से अन्य बीजों को उत्पादित करते हैं और इस प्रकार आध्यात्मिक संतान अनंत काल तक प्रवाहित होता है।

किंतु यह आक्षेप होगा कि आपका लोकधातु केवल सदाकालीन मनस्-कर्म है। कारक कहाँ है ? एक द्रव्यसत् आत्मा के अभाव में कर्म कौन करता है ? कर्म का फल कौन भोगता है ? युआन च्वांग उत्तर देते हैं कि जिसे कारक कहते हैं वह कर्म है, परिवर्तन है। किंतु तीर्थिकों का आत्मा आकाश के तुल्य नित्यस्थ है। अतः यह कारक नहीं हो सकता। चित्त-चैत्त-हेतु-प्रत्ययवश प्रबंध का अनुपच्छेद, कर्म-क्रिया और फलभोग होते हैं। आत्मवादी पुनः कहते हैं, कि आत्मा के बिना, एक आध्यात्मिक नित्य वस्तु के अभाव में, आप बौद्ध जो हमारे सदृश संसार मानते हैं, संसार का निरूपण किस प्रकार करते हैं। यदि आत्मा द्रव्यतः नहीं है तो एक गति से दूसरी गति में कौन संसरण करता है, कौन दुःख का भोग करता है, कौन निर्वाण के लिये प्रयत्नशील होता है और किसका निर्वाण होता है ? युआन च्वांग का उत्तर है कि आप किस प्रकार आत्मा को मानते हुए. संसार का निरूपण करते हैं। जब आत्मा का लक्षण यह है कि यह नित्य और जन्म-मरण से विनिर्मुक्त है तब इसका संसरण कैसे हो सकता है। संसार का निरूपण एकमात्र बौद्धों के संतान' के सिद्धांत से हो सकता है। सत्व चित्त-संतान है और यह क्लेश तथा सास्रव कर्मों के बल से गतियों में संसरण करते हैं। अतः आत्मा द्रव्यसत् स्वभाव नहीं है। केवल विज्ञान का अस्तित्व है। पर विज्ञान पूर्व विज्ञान के तिरोहित होनेपर उत्पन्न होता है और अनादिकाल से इनकी हेतु-फल-परंपरा, इनका संतान होता है।

धर्मग्राह

ब्राह्मणों के आत्मवाद का निराकरण करके युआन च्वांग बहु-पदार्थवादी सांख्य-वैशेषिक तथा हीनयान का खंडन करते हैं। यह मतवाद धर्मों की सत्ता मानते हैं (धर्मग्राह)। युआन च्वांग कहते हैं कि युक्तितः धर्मों का अस्तित्व नहीं है। चित्त-व्यतिरेकी धर्मों की द्रव्यतः उपलब्धि नहीं होती।

सांख्य

पहले वह सांख्य मतवाद का विचार करते हैं। सांख्य के अनुसार पुरुष से पृथक् २३ तत्त्व (या पदार्थ)—महत्-अहंकारादि—हैं। पुरुष चैतन्यस्वरूप है। वह इनका उपभोग करता है। यह धर्म त्रिगुणात्मक हैं, तथापि यह तत्त्व हैं, व्यावहारिक (कल्पित) नहीं हैं। अतः इनका प्रत्यक्ष होता है।

युआन च्वांग उत्तर देते हैं कि जब धर्म अनेकात्मक (गुणत्रय के समुदाय) हैं तब वह द्रव्य-

सत् नहीं हैं, किंतु सेना और वन के तुल्य प्रज्ञप्ति हैं। यह तत्त्व विकृति हैं; अतः नित्य नहीं हैं। पुनः इन तत्त्वों मूल वस्तुओं के (तीन गुणों के) अनेक कारित्र हैं। अतः इनके स्वभाव और लक्षण भिन्न हैं। तब यह समुदाय के रूप में एक तत्त्व कैसे हैं?

वैशेषिक

वैशेषिकवाद का विचार करते हुए युआन च्वांग कहते हैं कि इसके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्मादि पदार्थ द्रव्यसत्स्वभाव हैं और प्रत्यक्षगम्य हैं। इस वाद में पदार्थ या तो नित्य और अविपरिणामी हैं अथवा अनित्य हैं। परमाणु-द्रव्य नित्य हैं और परमाणु-संघात अनित्य हैं।

युआन च्वांग कहते हैं कि यह विचित्र है कि एक ओर परमाणु नित्य हैं और दूसरी ओर उनमें परमाणु-संघात के उत्पादन का सामर्थ्य भी है। यदि परमाणु त्रसरेणु आदि फल का उत्पादन करते हैं तो फल के सदृश वह नित्य नहीं हैं क्योंकि वह कारित्र से समन्वागत हैं। और यदि वह फलोत्पादन नहीं करते तो विज्ञान से व्यतिरिक्त शशशृंगवत् उनका कोई द्रव्यसत्स्वभाव नहीं है।

यदि अनित्य पदार्थ (परमाणु-संघात) **सावरण** हैं तो वह परिमाण वाले हैं। अतः वह सेना और वन के समान विभजनीय हैं। अतः वह द्रव्यसत्स्वभाव नहीं हैं। यदि वह सावरण नहीं हैं तो चित्त-चैत्त से व्यतिरिक्त उनका कोई द्रव्यसत् स्वभाव नहीं है। जो परमाणु के लिये सत्य है वह समुदाय-संघात के लिये भी सत्य है। अतः वैशेषिकों के विविध द्रव्य प्रज्ञप्तिमात्र हैं। गुणों का विज्ञान से पृथक् स्वभाव नहीं है। पृथ्वी-जल-तेज-वायु **सावरण** पदार्थों में संगृहीत नहीं हैं, क्योंकि वह इनके खक्खटत्व....उदीरणत्व गुण के समान कायेंद्रिय से स्पृष्ट होते हैं। इसके विपरीत चार पूर्वोक्त गुण **अनावरण** पदार्थों में संगृहीत नहीं हैं, क्योंकि पृथ्वी-जल-तेज-वायु के समान वह कायेंद्रिय से स्पृष्ट होते हैं।

अतः यह सिद्ध होता है कि खक्खटत्वादि गुणों से व्यतिरिक्त पृथ्वी-जल-तेज-वायु का द्रव्यसत् स्वभाव नहीं है।

इसी प्रकार कर्मादि अन्य पदार्थों का भी विज्ञान से पृथक् स्वभाव नहीं है। वैशेषिक कहते हैं कि पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है जैसा विज्ञान से व्यतिरिक्त द्रव्यसत् स्वभाव का होना चाहिए। किंतु यह यथार्थ नहीं है। यही बात कि द्रव्य ज्ञेय (ज्ञान के विषय) हैं, यह सिद्ध करता है कि यह विज्ञान के आभ्यंतर में हैं।

अतः सिद्धांत यह है कि वैशेषिकों के पदार्थ प्रज्ञप्तिमात्र हैं।

महेश्वर

युआन च्वांग महेश्वर के अस्तित्व का भी प्रतिषेध करते हैं। उनकी युक्ति यह है कि जो लोक का उत्पाद करता है वह नित्य नहीं है, जो नित्य नहीं है वह विभु नहीं है, जो विभु नहीं है वह द्रव्यतः नहीं है। पुनः जो सर्वशक्तिमान् है वह सब धर्मों की सृष्टि सकृत् करेगा, न कि क्रमशः। यदि सृष्टि के कार्य में वह छंद के अधीन है तो वह स्वतंत्र नहीं है और यदि वह हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा करता है तो वह सृष्टि का एकमात्र कारण नहीं है।

युआन च्वांग काल, दिक्, आकाशादि पदार्थों की भी सत्ता नहीं मानते।

लोकायतिक—

तदनंतर वह लोकायतिकों के मत का खंडन करते हैं। इनके अनुसार पृथिवी-सलिल-तेज-वायु इन चार महाभूतों के परमाणु, जो वस्तुओं के सूक्ष्म रूप हैं, कारण रूप हैं, नित्य हैं और इनकी परमार्थ सत्ता है। इनसे पश्चात् स्थूल रूप (कार्यरूप) का उत्पाद होता है। जनित स्थूलरूप का कारण से व्यतिरेक नहीं होता।

युआन च्वांग इस वाद का इस प्रकार खंडन करते हैं। यदि सूक्ष्मरूप (परमाणु) का दिग्विभाग है जैसा पिपीलिका-पंक्ति का होता है तो उनका एकत्व केवल प्रज्ञप्ति है, संज्ञामात्र है। यदि उनका चित्त-चैत्त के सदृश दिग्विभाग नहीं होता तो उनसे स्थूलरूप का उत्पाद नहीं हो सकता। अंततः यदि उनसे कार्य जनित होता है तो वह नित्य और अविपरिणामी नहीं है।

तीर्थिकों के अनेक प्रकार हैं। किंतु इन सब का समावेश चार आकारों में हो सकता है। जहाँतक सद् धर्म का संबंध है, पहला आकार सांख्यादिका है। इनके अनुसार सद्धर्मों का तादात्म्य सत्ता या महासत्ता से है। किंतु इस विकल्प में सत्ता होने के कारण इन सब का परस्पर तादात्म्य होगा, यह एक स्वभाव के होंगे और निर्विशेष होंगे जैसे सत्ता निर्विशेष है। सांख्य में आंतरिक विरोध है, क्योंकि वह प्रकृति के अतिरिक्त तीन गुण और आत्मा को द्रव्यतः मानता है। यदि सर्व रूप रूपता है अर्थात् यदि सब वर्ण वर्ण हैं तो नील और पीत का मिश्रण होता है।

दूसरा आकार वैशेषिकादि का है। इनका मत है कि सद्धर्म सत्ता से भिन्न है। किंतु इस विकल्प में सर्व धर्म की उपलब्धि प्रध्वंसाभाव के सदृश नहीं होती। इससे यह गमित होता है कि वैशेषिक द्रव्यादि पदार्थों का प्रतिषेध करता है। यह लोकविरुद्ध है, क्योंकि लोक प्रत्यक्ष देखता है कि वस्तुओं का अस्तित्व है। यदि वर्ण वर्ण नहीं है तो उनका ग्रहण चक्षु से नहीं होगा, जैसे शब्द का ग्रहण चक्षु से नहीं होता।

तीसरा आकार निर्ग्रंथ आदि का है जो मानते हैं कि सद्धर्म सत्ता से अभिन्न और भिन्न दोनों है। यह मत युक्त नहीं है। पूर्वोक्त दो आकारों के सब दोष इसमें पाए जाते हैं। अभेद-भेद सुख-दुःख के समान परस्परविरुद्ध हैं और एक ही वस्तु में आरोपित नहीं हो सकते। पुनः अभेद और भेद दोनों व्यवस्थापित नहीं हो सकते।

सब धर्म एक ही स्वभाव के होंगे, क्योंकि यह व्यवस्था है कि विरुद्ध धर्म एक स्वभाव के हैं। अथवा आपका धर्म जो सत्ता से अभिन्न और भिन्न दोनों है प्रज्ञप्ति सत् होगा, तात्त्विक न होगा।

चतुर्थ आकार आजीविकादि का है जिनके अनुसार सद्धर्म सत्ता से न अभिन्न है, न भिन्न। किंतु यह वाद पूर्व वर्णित भेदाभेद वाद से मिला-जुला है। क्या यह वाद प्रतिज्ञात्मक है? क्या इस वाद का निषेधद्वय युक्त नहीं है? क्या यह वाद शुद्ध निषेध है? उस अवस्था में वाणी का अभिप्राय विलुप्त हो जाता है। क्या यह प्रतिज्ञात्मक और निषेधात्मक दोनों है? यह विरुद्ध है। क्या यह इनमें से कोई नहीं है? शब्दाडम्बर मात्र है।

अन्य वादों की कठिनाइयों के परिहार के लिये यह वृथा प्रयास है।

हीनयान

इसके पश्चात् युआन च्वांग हीनयान के धर्मों की परीक्षा करते हैं। हीनयान में चार प्रकार के धर्म हैं जो द्रव्य सत् हैं:—चित्त-चैत्त, रूप, विप्रयुक्त, असंस्कृत। युआन च्वांग कहते हैं कि अंत के तीन धर्म विज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं हैं।

रूप

हीनयान में दो प्रकार के रूप हैं—सप्रतिघ (पहले १० आयतन) और अप्रतिघ (यह धर्मायतन का एक प्रदेश है। यह परमाणुमय नहीं है)। सप्रतिघ रूप परमाणुमय है। सौत्रांतिक मत से परमाणु का दिग्विभाग है, किंतु सर्वास्तिवादी और वैभाषिक परमाणु का सूक्ष्म रूप (बिन्दु) मानते हैं। दोनों मानते हैं कि आवरण-प्रतिघातवश परमाणु सप्रतिघ हैं। किंतु दिग्भागभेद के संबंध में इनका मतैक्य न होने से आवरण-प्रतिघात के अर्थ में भी एकमत नहीं है। सौत्रांतिक मानते हैं कि परमाणु स्पृष्ट होते हैं और दिग्देश-भेदवश उनका प्रतिघात होता है। सर्वास्तिवादी नहीं स्वीकार कर सकते कि उनके परमाणु स्पृष्ट होते ह क्योंकि यह सूक्ष्म (बिन्दु) हैं।

युआन च्वांग कहते हैं कि सूक्ष्म परमाणु सांवृत हैं और उनका संघात नहीं हो सकता तथा जिनका दिग्विभाग ह वह विभजनीय हैं और इसलिये वह परमाणु नहीं हैं। यदि परमाणु अति सूक्ष्म, अविभजनीय और वस्तुतः रूपी हैं तो वह परस्पर स्थूल, संहत रूप जनित नहीं करते। दोनों अवस्थाओं में परमाणु की सत्ता नहीं है और इसलिये परमाणुमय रूप भी विलुप्त हो जाता है। किसी युक्ति से भी परमाणु द्रव्य सत् नहीं सिद्ध होता। पुनः हीनयानवादी स्वीकार करते हैं कि पंच विज्ञान काय का आश्रय इंद्रिय हैं और उनका आलंबन बाह्यार्थ हैं तथा इंद्रिय और अर्थ रूप हैं। युआन च्वांग का मत है कि इंद्रिय और अर्थ विज्ञान का परिणाममात्र हैं। इंद्रिय शक्ति हैं। यह 'उपादाय-रूप' नहीं हैं। एक सप्रतिघ रूप जो विज्ञान से बहिरवस्थित है युक्तियुक्त नहीं है। इंद्रिय विज्ञान का परिणाम-निर्भास है। इसी प्रकार आलंबन प्रत्यय भी विज्ञान से बहिर्भूत नहीं है। यह विज्ञान का परिणाम (निमित्तभाग) है। युआन च्वांग सौत्रांतिक और सर्वास्तिवादिन्-वैभाषिक मत का प्रतिषेध करते हैं जिनके अनसार विज्ञान का आलंबन प्रत्यय वह है जो स्वाकार (स्वाभास) विज्ञान का निर्वर्तन करता है। यह कहते हैं कि बाह्य अर्थ स्वाभास विज्ञान का जनक होता है। इसलिये उनको विज्ञान का आलंबन प्रत्यय इष्ट है।

सौत्रांतिकों के अनुसार आलंबन प्रत्यय संचित (संहत) परमाणु है। जब चक्षुर्विज्ञान रूप की उपलब्धि करता ह तब यह परमाणुओं को प्राप्त नहीं होता, किंतु केवल संचित को ही प्राप्त होता है, क्योंकि यह विज्ञान संचिताकार होता है (तदाकारत्वात्: हम संचित नील देखते हैं, नील के परमाणु नहीं देखते)। अतः पंच विज्ञान-काय का आलंबन संचित है।

युआन च्वांग के लिये संघात द्रव्य सत् नहीं है। वह सांवृत है। इस कारण वह विज्ञप्ति का अर्थ नहीं हो सकता और इसलिये वह आलंबन प्रत्यय नहीं है। बाह्यार्थ के बिना ही संचिताकार विज्ञान उत्पन्न होता है। वैभाषिक मत के अनुसार विज्ञान का आलंबन प्रत्यय एक एक परमाणु है। प्रत्येक परमाणु अन्यनिरपेक्ष और अतीन्द्रिय होता है, किंतु बहुत से परस्परापेक्ष और इंद्रिय-ग्राह्य

होते हैं। जब बहु परमाणु एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं तब स्थूल लक्षण की उत्पत्ति होती है जो पंच विज्ञान-काय का विषय है। यह द्रव्य सत् है। अतः यह आलंबन प्रत्यय है।

इसका खंडन करते हुए स्थिरमति कहते हैं कि सापेक्ष और निरपेक्ष अवस्था में परमाणु के आत्मातिशय का अभाव है। इसलिये या तो परमाणु अतीन्द्रिय हैं या इंद्रियग्राह्य हैं। यदि परमाणु परस्पर अपेक्षा कर विज्ञान के विषय होते हैं तो यह जो घटकुड्यादि आकार-भेद होता है वह विज्ञान में न होगा क्योंकि परमाणु तदाकार नहीं हैं। पुनः यह भी युक्त नहीं है कि विज्ञान का अन्य निर्भास हो और विषय का अन्य आकार हो क्योंकि इसमें अतिप्रसंग का दोष होगा।

पुनः परमाणु स्तंभादिवत् परमार्थतः नहीं हैं। उनका अर्वाक्-मध्य-पर भाग होता है। अथवा उसके अनभ्युपगम में पूर्वदक्षिणादि दिग्भेद परमाणु का न होगा। अतः विज्ञानवत् परमाणु का अमूर्तत्व और अदेशस्थत्व होगा। इस प्रकार बाह्यार्थ के अभाव में विज्ञान ही अर्थाकार उत्पन्न होता है। (त्रिंशिका, पृ० १६)।

सर्वास्तिवादिन् के अनुसार एक-एक परमाणु समस्तावस्थामें विज्ञान का आलंबन प्रत्यय है। परमाणु अतीन्द्रिय हैं किंतु समस्तों का प्रत्यक्षत्व है। (कोश, ३। पृ० २१३)।

इसके उत्तर में विज्ञानवादी कहते हैं कि परमाणु का लक्षण या आकार विज्ञान में प्रतिबिंबित नहीं होता। संहत का लक्षण परमाणुओं में नहीं होता, क्योंकि असंहतावस्था में यह लक्षण उनमें नहीं पाया जाता। असंहतावस्था से संहतावस्था में परमाणुओं का कोई आत्मातिशय नहीं होता। दोनों अवस्थाओं में परमाणु पंच विज्ञान के आलंबन नहीं होते। (दिग्नाग)।

इस प्रकार विविध वादों का निराकरण करके युआन च्वाँग परमाणु पर विज्ञानवाद का सिद्धांत वर्णित करते हैं:

योगाचार, शस्त्र से नहीं, किंतु चित्त से, स्थूलरूप का विभाग पुनः पुनः करते हैं, यहाँतक कि वह अविभजनीय हो जाता है। रूप के इस पर्यन्त को जो सांवृत है, वह परमाणु की संज्ञा देते हैं। किंतु यदि हम रूप का विभजन करते रहें तो परमाणु आकाशवत् प्रतीत होगा और रूप न रहेगा। अतः हमारा यह निष्कर्ष है कि रूप विज्ञान का परिणाम है और परमाणुमय नहीं है।

पूर्वोक्त विवेचन **सप्रतिघ**रूप के संबंध में है। जब सप्रतिघ रूप का द्रव्यत्व नहीं है और यह विज्ञान का परिणाम है तो **अप्रतिघ** रूप तो और भी अधिक सद्धर्म नहीं है।

सर्वास्तिवादिन् के **अप्रतिघ** रूप काय विज्ञप्ति-रूप, वाग्-विज्ञप्ति-रूप, और अविज्ञप्ति-रूप हैं। उनका काय विज्ञप्ति-रूप 'संस्थान' है। किंतु 'संस्थान' विभजनीय है और दीर्घादि के परमाणु नहीं होते (कोश, ४। पृ० ४,९)। अतः संस्थान रूप द्रव्यतः नहीं है। वाग्विज्ञप्ति शब्दस्वभाव नहीं है। एक शब्द-क्षण विज्ञापित नहीं करता और शब्द-क्षणों की संतान द्रव्यसत् नहीं है। वस्तुतः विज्ञान शब्द-संतान में परिणत होता है। उपचार से इस संतान को वाग्विज्ञप्ति कहते हैं।

जब विज्ञप्ति द्रव्यसत् नहीं है तो अविज्ञप्ति कैसे द्रव्यसत् होगी ?

चेतना (ध्यानभूमि की) या **प्रणिधि** (प्रातिमोक्षसंवर या असंवर) को उपचार से अविज्ञप्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह या तो एक **चेतना** है जो अकुशल काय-वाग्विज्ञप्ति कर्म का निरोध करती है या यह उत्कर्षावस्था में एक प्रधान चेतना के बीज हैं जो काय-वाक् कर्म के जनक हैं। अतः अविज्ञप्ति प्रज्ञप्तिसत् है।

विप्रयुक्त भी द्रव्यसत् नहीं हैं। प्राप्ति, अप्राप्ति तथा अन्य विप्रयुक्तों की स्वरूपतः उपलब्धि नही होती। पुनः रूप तथा चित्त-चैत्त से पृथक् इनका कोई कारित्र नहीं दीख पड़ता। अतः यह रूप चित्त-चैत्त के अवस्था-विशेष के प्रज्ञप्तिमात्र हैं। **सभागता** भी द्रव्यसत् नहीं है। सर्वास्तिवादी कहते हैं कि सत्वों में सामान्य बुद्धि और प्रज्ञप्ति का कारण **सभागता** नामक द्रव्य है। यह विप्रयुक्त है। यथा कहते हैं :अमुक मनुष्यों की सभागता का प्रतिलाभ करता है; अमुक देवों की सभागता का प्रतिलाभ करता है। युआन च्वांग कहते हैं कि यदि सत्वों की सभागता है तो वृक्षादि की भी सभागता माननी चाहिए। पुनः सभागताओं की भी एक सभागता होनी चाहिए। हम यह भी कह सकते हैं कि समान कर्मांत के मनुष्य और समान छंद के देव सभागता-वश हैं। वस्तुतः सभागता नामक किसी द्रव्य विशेष के कारण सत्वों के विविध प्रकारों में सादृश्य नहीं होता। अमुक अमुक प्रकार के सत्वों को जो कायिक और चैतसिक धर्म सामान्य हैं उनको आगम 'सभागता' संज्ञा से प्रज्ञप्त करता है। **जीवितेन्द्रिय** के संबंध में युआन च्वांग कहते हैं कि यह कर्मजनित शक्ति-विशेष हैं और यह उन बीजोंपर आश्रित हैं जो आलय-विज्ञान के हेतु-प्रत्यय हैं। इस सामर्थ्य-विशेष के कारण भवविशेष के रूप-चित्त-चैत्त एक काल तक अवस्थान करते हैं। आलय विज्ञान एक अविच्छिन्न स्रोत है। एक भव से दूसरे भव में इसका निरंतर प्रवर्तन होता है। हेतु-प्रत्यय-वश इसका परिपोष होता है। उदाहरण के लिये हम नील (प्रत्युत्पन्न धर्म) का चिंतन करते हैं, नील के संबंध में हमारी वाग्-विज्ञप्ति होती है। *यह वाक्, यह चित्त, अर्थात् यह व्यवहार बीजों को उत्पन्न करता है जो नील के अपूर्व चित्तों का उत्पाद करेंगे।* उक्त हेतु-प्रत्यय के अतिरिक्त एक अधिपति प्रत्यय भी है। *यह* **कर्म** *है। यह कर्म जो शुभ या अशुभ है अव्याकृत फल का* जनक होता है अर्थात् दुःख, आलय विज्ञान *का जनक होता है। इसलिये कर्म विपाक-हेतु है। यह विपाक बीज का उत्पाद करता है।* जीवितेन्द्रिय से प्रथम प्रकार के बीज, न कि विपाक-बीज, इष्ट हैं। यह बीज (नाम-वाक्) जो हेतु-प्रत्यय हैं आलय का पोषण करते हैं जब कि दूसरे प्रकार के बीज अर्थात् विपाक-बीज आलय को गति, अवस्था आदि को निर्धारित करते हैं।

युआन च्वांग असंज्ञि समापत्ति, निरोधसमापत्ति (दो समापत्ति) अचित्तक और आसंज्ञिक को *द्रव्यसत् नहीं मानते। वह कहते हैं कि यदि असंज्ञि अवस्था का व्याख्यान करने के लिये इन धर्मों की* व्यवस्था आवश्यक है, जिनके विषय में कहा जाता है कि यह चित्त का प्रतिबन्ध करते हैं तो एक आरूप्य समापत्ति नामक धर्म भी मानना पड़ेगा जो रूप का प्रतिबंधक हो। चित्त का प्रतिबंध करने के लिये *किसी सद्धर्म की कल्पना की आवश्यकता नहीं है। जब योगी इन समापत्तियों की भावना* करता है तब वह औदारिक और चल चित्त-चैत्त की विदूषणा से प्रयोग का आरंभ करता है। इस विदूषणा के योग से वह एक प्रणीत अवधि-प्रणिधान का उत्पाद करता है; वह अपने चित्त-चैत्तों को उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अणु बनाता है। यह प्रयोगावस्था है। जब चित्त सूक्ष्म-सूक्ष्म हो जाता है तब वह आलय विज्ञान को भावित करता है और इस विज्ञान में विदूषणा चित्त के अधिमात्रतम बीज का उत्पाद करता है। इस बीज के योग से जो चित्त-चैत्त का विष्कंभन करता है सब औदारिक और चंचल

चित्त-चैत्त का काल-विशेष के लिये समुदाचार नहीं होता। इस अवस्था को उपचार से समापत्ति कहते हैं। असंज्ञि-समापत्ति में यह बीज सास्रव होता है और निरोध-समापत्ति में अनास्रव होता है। आसंज्ञिक के संबंध में इनका यह मत है कि असंज्ञिदेवों के प्रवृत्ति-विज्ञानों के असमुदाचार को उपचार से आसंज्ञिक कहते हैं।

हीनयानवादी जाति, स्थिति, जरा, निरोध इन संस्कृत धर्मों को भी द्रव्यसत् मानते हैं। यह संस्कृत के संस्कृत लक्षण हैं। युआन च्वांग इसके विरोध में नागार्जुन की दी हुई आलोचना देते हैं। अतीत और अनागत अध्व द्रव्यसत् नहीं हैं। वह अभाव हैं। अतः यह चार लक्षण प्रज्ञप्तिसत् हैं। पूर्वनय के अनुसार अन्य विप्रयुक्तों का भी प्रतिषेध होता है।

संस्कृत धर्मों के अभाव को सिद्धकर युआन च्वांग हीनयान के असंस्कृतों का विचार करते हैं। आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्या, निरोध असंस्कृत प्रत्यक्षज्ञेय नहीं है और न उनके कारित्र तथा व्यापार से उनका अनुमान होता है। पुनः यदि वह व्यापारशील हैं तो वह नित्य नहीं हैं। अतः विज्ञान से व्यतिरिक्त असंस्कृत कोई द्रव्यसत् नहीं है।

आकाश एक है या अनेक? यदि स्वभाव में यह एक है और सब स्थानों में प्रतिवेध करता है तो रूपादि धर्मों को अवकाश प्रदान करने के कारण यह अनेक हो जाता है क्योंकि एक वस्तु से आवृत स्थान वस्तुओं के अन्योन्य प्रतिवेध के बिना दूसरी वस्तु से आवृत नहीं होता।

यदि निरोध एक है तो जब प्रज्ञा से ९ प्रकार में से एक प्रकार का प्रहाण होता है, पाँच संयोजनों में से एक संयोजन का उपच्छेद होता है, तो वह अन्य प्रकार का भी प्रहाण करता है, अन्य संयोजनों का भी उपच्छेद करता है। यदि निरोध अनेक हैं तो वह रूप के सदृश असंस्कृत नहीं हैं। अतः निरोध भी सिद्ध नहीं होते। यह विज्ञान के परिणाम-विशेष हैं। हाँ! यदि आप चाहें तो असंस्कृतों को धर्मता, तथता का प्रज्ञप्तिसत् मान सकते हैं।

हम तथता का पूर्व उल्लेख कर चुके हैं। युआन च्वांग **तथता** की एक नवीन व्याख्या करते हैं: "यह अवाच्य है, यह शून्यता से, नैरात्म्य से अवभासित होती है। यह चित्त और वाक्-पथ के ऊपर है जिनका संचार भाव, अभाव, भावाभाव और न भाव तथा न अभाव में होता है। यह न धर्मों से अनन्य है, न अन्य, न दोनों है और न अनन्य है तथा न अन्य। क्योंकि यह धर्मों का तत्त्व है, इसलिये इसे **धर्मता** कहते हैं। इस धर्मता (वस्तुओं का विशुद्ध स्वभाव) के एक आकार को आकाश कहते हैं और निर्वाण के आकार में योगी इसीका साक्षात्कार, इसीका प्रतिवेध करता है। किंतु यह समझ लेना चाहिए कि तथता स्वतः या अपने इन दो आकारों में वस्तु सत् नहीं है। युआन च्वांग निःसंकोच ही प्रतिज्ञा करते हैं कि यह प्रज्ञप्तिमात्र है। "इस संज्ञा को व्यावृत्त करने के लिये कि यह असत्व है, कहते हैं कि यह है (इस प्रकार शून्यता के विपर्यास और मिथ्यादृष्टि का प्रतिषेध करते हैं)। इस संज्ञा को व्यावृत्त करने के लिये कि यह है, (महीशासक) कहते हैं कि यह शून्य है। इस संज्ञा को व्यावृत्त करने के लिये कि यह मायावत् है, कहते हैं कि यह वस्तुसत् है। किंतु यह न वस्तुसत् है, न अवस्तु। क्योंकि यह न अभूत है (यथापरिकल्पित), न वितथ (यथापरतंत्र), इसलिये इसे भूततथता कहते हैं।" (पृ० ७७)

इस प्रसंग में युआन च्वांग ग्राह्य-ग्राहक का विचार करते हैं।

जिन धर्मों को तीर्थिक और हीनयानवादी चित्त-चैत्त से भिन्न मानते हैं वह द्रव्यसत्स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि वह ग्राह्य हैं, जैसे चित्त-चैत्त हैं, जिनका ग्रहण पर-चित्त-ज्ञान से होता है । बुद्धि जो रूपादि का **ग्रहण** करती है उनको **आलंबन** नहीं बनाती क्योंकि यह **ग्राहक** है, जैसे पर–चित्त-ज्ञान है, जो परचित्त का ग्रहण करता है और उसको आलंबन नहीं बनाता, क्योंकि वह इस चित्त के केवल "ग्राहक"–अनुकृति (सवजेक्टिव इमीटेशन) को आलंबन बनाता है । चित्त-चैत्त भूतद्रव्यसत् नहीं हैं, क्योंकि इनका उद्भव मायावत् परतंत्र है (प्रतीत्य समुत्पन्न) । यहाँ यूआन च्वांग अपने विज्ञान-वाद की आत्मवाद-द्रव्यवाद से रक्षा करने में सतर्क हैं। "इस मिथ्यावाद का प्रतिषेध करने के लिये कि चित्त-चैत्त-व्यतिरेकी बाह्य विषय द्रव्यसत् हैं, यह कहा जाता है कि विज्ञप्तिमात्र है । किंतु इस विज्ञान को और विज्ञान–व्यतिरेकी बाह्य विषयों को परमार्थतः द्रव्यसत्स्वभाव मानना धर्मग्राह है।"

इस धर्मग्राह की उत्पत्ति कैसे होती है, इसकी परीक्षा युआन च्वांग करते हैं। वह कहते हैं कि धर्मग्राह (धर्माभिनिवेश) दो प्रकार का है: सहज और विकल्पित। प्रथम अभूत (–वितथ) वासना से प्रवृत्त होता है। अनादिकाल से धर्माभिनिवेश का जो अभ्यास होता है और इस अभ्यासवश जो बीज विज्ञान में संचित होते हैं, उसे वासना कहते हैं। यह धर्मग्राह सदा आश्रय–सहगत होता है। इसकी उत्पत्ति का परिणाम स्वरसेन होना है। मिथ्या देशना या मिथ्या उपनिध्यान से यह स्वतंत्र है। इसलिये इसे **सहज** कहते हैं।

विकल्पित धर्मग्राह बाह्य प्रत्ययवश उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति के लिये मिथ्या देशना और मिथ्या उपनिध्यान का होना आवश्यक है। अतः यह **विकल्पित** कहलाता है। यह मनोविज्ञान में अवस्थित है।

सर्वधर्मग्राह का विषय धर्माभास हैं जो स्वचित्तनिर्भास हैं। यह धर्माभास हेतुजनित हैं। अतः इनका अस्तित्व है किंतु यह मायावत् परतंत्र हैं । इसीलिये इन्हें हम **धर्माभास** कहते हैं।

भगवत् ने कहा है: हे मैत्रेय! विज्ञान का विषय विज्ञाननिर्भासमात्र है । यह मायादिवत् परतंत्रस्वभाव है।" (सन्धिनिर्मोचन)।

सिद्धांत यह है कि आत्म-धर्म द्रव्यसत् नहीं हैं। अतः चित्त-चैत्त का रूपादि बाह्यधर्म आलंबन-प्रत्यय नहीं हैं। "कोई बाह्यार्थ नहीं है। यह मूढ़ों की कल्पना है। वासनाओं से लुठित चित्त का अर्थाभास में प्रवर्तन होता है।"

उपचार

वैशेषिक आक्षेप करते हैं कि यदि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म नहीं हैं तो विज्ञानपरिणाम में आत्मधर्मोपचार युक्त नहीं है। तीन के होनेपर उपचार होता है। इनमें से किसी एक के अभाव में नहीं होता। यह तीन इस प्रकार हैं—१. मुख्य पदार्थ, २. तत्सदृश अन्य विषय, ३. इन दोनों का सादृश्य। यथा मुख्य अग्नि, तत्सदृश माणवक और इन दोनों के साधारण धर्म कपिलत्व या तीक्ष्णत्व

के होनेपर यह उपचार होता है कि अग्नि माणवक है। किंतु यदि आत्मा और धर्म नहीं हैं तो कौन द्रव्यसत् सादृश्य का आश्रय होगा? जब उसका अभाव है तो उसके नाम का उपचार कैसे हो सकता है? यह कैसे कह सकते हैं कि चित्त बाह्यार्थ के रूप में अवभासित होता है?

यह आक्षेप दुर्बल है, क्योंकि हमने यह सिद्ध किया है कि चित्त से व्यतिरिक्त आत्मधर्म नहीं हैं। आइए हम उपचार की परीक्षा करें। 'अग्नि माणवक है' इसमें जाति या द्रव्य का उपचार होना बताते हैं। माणवक का जाति-अग्नि से सादृश्य दिखाना 'जात्युपचार' है। माणवक का एक द्रव्य से सादृश्य दिखाना 'द्रव्योपचार' है।

दोनों प्रकार से उपचार का अभाव है।

जात्युपचार---कपिलत्व और तीक्ष्णत्व अग्नि-**जाति** के साधारण गुण नहीं हैं। साधारण धर्मों के अभाव में माणवक में जात्युपचार युक्त नहीं है, क्योंकि अतिप्रसंग का दोष होता है। तब तो आप यह भी कह सकेंगे कि उपचार से जल अग्नि है।

किंतु आप कहेंगे कि यद्यपि जाति का तद्धर्मत्व नहीं है तथापि तीक्ष्णत्व और कपिलत्व का का अग्नि-जाति से अविनाभाव है और इसलिये माणवक में जात्युपचार होगा। इसके उत्तर में हमारा यह कथन है कि जाति के अभाव में भी तीक्ष्णत्व और कपिलत्व माणवक में देखा जाता है और इसलिये अविनाभावित्व अयुक्त है। और अविनाभावित्व में उपचार का अभाव है, क्योंकि अग्नि के सदृश माणवक में भी जाति का सद्भाव है। अतः माणवक में जात्युपचार संभव नहीं है।

द्रव्योपचार---द्रव्योपचार भी संभव नहीं है, क्योंकि सामान्य धर्म का अभाव है। अग्नि का जो तीक्ष्ण या कपिल गुण है वही गुण माणवक में नहीं है। विशेष स्वाश्रय में प्रतिबद्ध होता है। अतः अग्नि-गुण के बिना अग्नि का माणवक में उपचार युक्त नहीं है। यदि यह कहो कि अग्नि-गुण के सादृश्य से युक्त है तो इस अवस्था में भी अग्नि-गुण का ही माणवक-गुण में उपचार सादृश्य के कारण युक्त है, किंतु माणवक में अग्नि का नहीं। इसलिये द्रव्योपचार भी युक्त नहीं है।

यह यथार्थ नहीं है कि तीन भूतवस्तु पर उपचार आश्रित है। भूतवस्तु (स्वलक्षण) सांवृत ज्ञान और अभिधान का विषय नहीं है। यह ज्ञान और अभिधान सामान्य लक्षण को आलंबन बनाते हैं।

ज्ञान और अभिधान की प्रधान में प्रवृत्ति गुणरूप में ही होती है, क्योंकि वह प्रधान अर्थात् मुख्य पदार्थ के स्वरूप का संस्पर्श नहीं करते। अन्यथा गुण की व्यर्थता का प्रसंग होगा। किंतु ज्ञान और अभिधान के व्यतिरिक्त पदार्थ-स्वरूप को परिच्छिन्न करने का अन्य उपाय नहीं है। अतः यह मानना होगा कि मुख्य पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार संबंध के अभाव से शब्द में ज्ञान और अभिधान का अभाव है, इसी प्रकार अभिधान और अभिधेय के अभाव से मुख्य पदार्थ नहीं है। अतः सब गौण ही है, मुख्य नहीं है। गौण उसे कहते हैं जो वहाँ अविद्यमान रूप से प्रवृत्त होता है। सब शब्द प्रधान में अविद्यमान गुण-रूप में प्रवृत्त होता है। अतः मुख्य नहीं है। अतः यह अयुक्त है कि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म के न होनेपर उपचार युक्त नहीं है।

भगवत् उपचारवश आत्मा और धम, इन शब्दों का प्रयोग करते हैं। इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए कि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म हैं। वह आत्मधर्म में प्रतिपन्न पुद्गलों को विनीत करना चाहते हैं। अतः वह उन मिथ्या संज्ञाओं का प्रयोग करते हैं जिनसे लोग विज्ञान-परिणाम को प्रज्ञप्त करते हैं।

आलयविज्ञान—

विज्ञान परिणाम तीन प्रकार का है: विपाकाख्य, मननाख्य, विषय-विज्ञप्त्याख्य। अष्टम विज्ञान 'विपाक' कहलाता है। शुभाशुभ कर्म की वासना के परिपाक से जो फल की अभिनिर्वृत्ति होती है वह विपाक है। मनस् (सप्तम विज्ञान) 'मनना' (स्थिरमति का पाठ है किंतु पूसें का पाठ 'मन्यना' है) कहलाता है, क्योंकि क्लिष्ट मनस् नित्य मनन (कोजिटेशन) करता है। (पालि, मञ्ञना, व्युत्पत्ति, २४५, ६७७ में मन्यना है) ६ प्रकार का चक्षुरादिविज्ञान 'विषय-विज्ञप्ति' कहलाता है क्योंकि इनसे विषय का प्रत्यवभास होता है। यह तीन परिणामि-विज्ञान कहलाते हैं।

यह विज्ञान—परिणाम हेतुभाव और फलभाव से होता है। **हेतुपरिणाम** अष्टम विज्ञान की निष्यंदवासना और विपाकवासना है। कुशल, अकुशल, अव्याकृत सात विज्ञानों से बीजों की जो उत्पत्ति और वृद्धि होती है वह '**निष्यंदवासना**' है। सास्रव कुशल और अकुशल छः विज्ञानों से बीजों की जो उत्पत्ति और वृद्धि होती है वह 'विपाक-वासना' है। इन दो वासनाओं के बल से विज्ञानों की उत्पत्ति होती है और उनके विविध लक्षण प्रकट होते हैं। यह **फलपरिणाम** है।

जब निष्यंदवासना हेतु—प्रत्यय होती है तब आठ विज्ञान अपने विविध स्वभाव और लक्षणों में उत्पन्न होते हैं। यह निष्यंद फल हैं क्योंकि फल हेतु के सदृश है। जब विपाकवासना अधिपति प्रत्यय होती है तब अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसे **विपाक** कहते हैं क्योंकि यह आक्षेपक कर्म के अनुसार है और इसका निरंतर संतान है। प्रथम छः विज्ञान जो परिपूरक कर्म के अनुरूप हैं, विपाक से उत्पन्न होते हैं। इन्हें **विपाकज** कहते हैं (विपाक नहीं) क्योंकि इनका उपच्छेद होता है। विपाकज और विपाक **विपाकफल** कहलाते हैं क्योंकि यह स्वहेतु से विसदृश हैं। 'विपाक' 'फल-परिणाम-विज्ञान' इष्ट है। यह प्रत्युत्पन्न अष्टम विज्ञान है। यह आत्म-प्रेम का आस्पद है। यह संक्लेश के बीजों का धारक है। किंतु युआन च्वांग यह कहना नहीं चाहते कि केवल अष्टम विज्ञान विपाक-फल है।

केवल अष्टम विज्ञान 'हेतुपरिणाम' है। यही बीजों का (शक्तियों का) संग्रह करता है। इसलिये इसे 'बीज-विज्ञान', 'आलय-विज्ञान' कहते हैं। यही बीज वासना कहलाते हैं क्योंकि बीजों की उत्पत्ति 'भावना', 'वासना' से होती है। अन्य सात प्रवृत्ति-विज्ञान अष्टम विज्ञान को वासित करते हैं। यह बीजों को उत्पन्न करते हैं। यह नवीन बीजों का आधान करते है या वर्तमान बीजों की वृद्धि करते हैं। बीज दो प्रकार के हैं। १. सात प्रवृत्ति-विज्ञान (कुशल, अकुशल, अव्याकृत, सास्रव, अनास्रव) निष्यंद-बीजों को उत्पन्न करते हैं और उनकी वृद्धि करते हैं। २. सप्तम विज्ञान 'मनस्' को वर्जित कर शेष ६ प्रवृत्ति-विज्ञान (अकुशल, सास्रव-कुशल) बीजों का उत्पाद करते हैं और उनकी वृद्धि करते हैं। इन बीजों को कर्मबीज, विपाकबीज कहते हैं। कर्म-हेतु बीज द्वारा फल की अभिनिवृत्ति करता है। यह फल स्वहेतु से विसदृश होता है। इसलिये इसे **विपाक** (विसदृश पाक) कहते हैं। हेतु, यथा प्राणातिपात की चेतना, स्वर्ग प्राप्ति के लिये दान, व्याकृत है; फल

(नरकोपपत्ति या स्वर्गोपपत्ति) अव्याकृत है। **फलपरिणाम** प्रवृत्ति-विज्ञान और संवित्तिभाग है जो बीजद्वय का फल है अर्थात् बीज-विज्ञान का फल है। इसका परिणाम दर्शन और निमित्त में होता है। प्रथम प्रकार के बीज इस फल के हेतु-प्रत्यय हैं। यह अनेक और विविध हैं। यह आठ विज्ञान, इन आठ के **भागसमुच्चय** और उनके संप्रयुक्त चैत्त को उत्पन्न करते हैं। द्वितीय प्रकार के बीज 'अधिपति-प्रत्यय' हैं। यह मुख्य विपाक अर्थात् अष्टम विज्ञान का निर्वर्तन करते हैं। अष्टम विज्ञान आक्षेपक कर्म से उत्पादित होता है। इसका अविच्छिन्न स्रोत है। यह सदा अव्याकृत होता है। परिपूरक कर्म से प्रथम षड्विज्ञान की प्रवृत्ति होती है। यह विपाक नहीं हैं किंतु विपाकज हैं, क्योंकि इनका उपच्छेद होता है और इनकी उत्पत्ति अष्टम विज्ञान से होती है।

स्थिरमति का मत इस संबंध में भिन्न है। उनके अनुसार हेतु-परिणाम आलय के परिपुष्ट विपाक-बीज और निष्यंद-बीज हैं तथा फल-परिणाम (१) विपाक-बीजों के वृत्तिलाभ से आक्षेपक कर्म की परिसमाप्ति पर अन्य निकायसभाग में आलय-विज्ञान की अभिनिर्वृत्ति है; (२) निष्यंद-बीजों के *वृत्तिलाभ से प्रवृत्ति-विज्ञान और क्लिष्ट मनस् की आलय से अभिनिर्वृत्ति है।*

यहाँ प्रवृत्ति-विज्ञान (कुशल-अकुशल) आलय-विज्ञान में दोनों प्रकार के बीजों का आधान करता है। अव्याकृत प्रवृत्ति-विज्ञान और क्लिष्ट मनस् निष्यंद-बीजों का आधान करता है।

हमने ऊपर त्रिविध परिणाम का उल्लेख किया है। किंतु अभी उनका स्वरूप निर्देश नहीं किया है। स्वरूप-निर्देश के बिना प्रतीति नहीं होती। अतः जिसका जो स्वरूप है उसको यथाक्रम दिखाते हैं। पहले आलयविज्ञान का जो विपाक है उसका स्वरूप निर्दिष्ट करते हैं। यह अष्टम विज्ञान है।

आलय-विज्ञान—

आलय-विज्ञान विज्ञानों का आलय, संग्रह-स्थान है। अथवा यह वह विज्ञान है जो आलय है। आलय का अर्थ 'स्थान' है। यह सर्व सांक्लेशिक बीजों का संग्रह-स्थान है। अथवा सर्व धर्म इसमें कार्यभाव से आलीन होते हैं (आलीयन्ते) अर्थात् उपनिबद्ध होते हैं। अथवा यह सब धर्मों में कारणभाव से आलीन होता है। अतः इसे आलय कहते हैं (स्थिरमति)। इसे मूलविज्ञान भी कहते हैं। युआन च्वांग कहते हैं: "धर्म आलय में बीजों का उत्पाद करते हैं। यह आलय विज्ञान को संग्रह-स्थान बनाते हैं और उसमें संगृहीत होते हैं।" पुनः "मनस् का आलय में अभिनिवेश आत्मतुल्य होता है। सत्वों की कल्पना होती है कि आलय-विज्ञान उनकी आत्मा है।" इसका अर्थ यह है कि विज्ञानवाद में आलय विज्ञान का वही स्थान है जो आत्मा और जीवितेंद्रिय, दोनों का मिलकर अन्य वादों में है। पुनः आलय-विज्ञान कार्यस्वभाव भी है, अतः इसे विपाक-विज्ञान भी कहते हैं। जिन कुशल-अकुशल कर्मों को एक भव धातु-गति-योनि-विशेष में आक्षिप्त करता है उनका यह आलय 'विपाकफल' है। इसके बाहर कोई जीवितेंद्रिय, कोई सभागता नहीं है और न कोई ऐसा धर्म है जो सर्वदा अनुप्रबद्ध हो और वस्तुतः विपाक-फल हो। आलय-विज्ञान कारणस्वभाव भी है। इस दृष्टि से यह सर्वबीजक है। यह बीजों का आदान करता है और उनका परिपाक करता है। यह उनका प्रणाश नहीं होने देता। युआन च्वांग कहते हैं कि इस मूल विज्ञान में शक्तियाँ (सामर्थ्य) होती हैं जो फल का प्रत्यक्ष उत्पाद करती हैं, अर्थात् प्रवृत्ति-धर्म का उत्पाद करती हैं। दूसरे शब्दों में बीज, जो शक्ति की अवस्था में आलय में संगृहीत धर्म हैं, पश्चात् फलवत् साक्षात्कृत धर्मों का

उत्पाद करते हैं। युआन च्वांग बीज के संबंध में विविध आचार्यों के मत का उल्लेख कर अंत में अपना सिद्धांत व्यवस्थापित करते हैं। चंद्रपाल सब बीजों को प्रकृतिस्थ मानते हैं और नंद सब को भावनामय मानते हैं। धर्मपाल का मत है कि सास्रव और अनास्रव बीज अंशतः प्रकृतिस्थ होते हैं और अंशतः कर्मों की वासना से भावित विज्ञान का फल हैं। पहले बीज **प्रकृतिस्थ** और दूसरे **भावनामय** कहलाते हैं। प्रकृतिस्थ बीज विपाक-विज्ञान में धर्मतावश अनादिकाल से पाए जाते हैं। भावनामय बीज अभ्याससिद्ध हैं। भगवद्वचन है कि 'सत्वों का विज्ञान क्लिष्ट और अनास्रव धर्मों से वासित होता है। यह असंख्य बीजों का संचय भी है। इस नय में आलय-विज्ञान और धर्म अन्योन्य का उत्पाद करते हैं और इनका सदा कार्य-कारणभाव है। हम कह सकते हैं कि आलय विज्ञान में धर्मों का निरंतर स्वरूप-विशेष (स्ट्रैटीफिकेशन) होता है और आलय विज्ञान नवीन धर्म आक्षिप्त करता रहता है। यह नित्य व्यापार है। बीज अनादिकाल से प्रकृतिस्थ हैं किन्तु क्लिष्ट और अक्लिष्ट कर्मों से पुनः पुनः भावित हो उनसे वासित होते हैं और मानो उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में द्रव्यसत् एक शक्ति है जो निरंतर जीवन की सृष्टि करती है और इस सृष्टि से अपना पोषण करती है। युआन च्वांग धर्मपाल के मत को स्वीकार करते हैं।

बीजों के इस सिद्धांत के अनुसार युआन च्वांग विविध गोत्रों को व्यवस्थापित करते हैं। प्रत्येक के शुभ-अशुभ बीजों की मात्रा और गुण के अनुसार यह गोत्र व्यवस्थापित होते हैं। जिनमें अनास्रव बीजों का सर्वथा अभाव होता है वह अपरिनिर्वाणधर्मक या अगोत्रक कहलाते हैं। इसके विपरीत जो बोधि के बीज से समन्वागत हैं वह तथागत-गोत्रक हैं। इस प्रकार यह बीज-शक्ति पूर्व से विनियत होती है।

बीज क्षणिक हैं और समुदाचार करनेवाले धर्म या अन्य शक्ति का उत्पाद कर विनष्ट होते हैं। यह सदा अनुप्रबद्ध हैं। बीज प्रत्यय-सामग्री की अपेक्षा करते हैं। बीज और धर्म की अन्योन्य-हेतु-प्रत्ययता है; बीजों का उत्तरोत्तर उत्पाद होता है। बीज आलय-विज्ञान के बल पर धर्मों का उत्पाद करते हैं और धर्म आलय-विज्ञान के गर्भ में बीज का संग्रह करते हैं। अथवा हम प्रबंध का संप्रधारण कर सकते हैं। तीन धर्म हैं: १. जनक बीज; २. विज्ञान, जो समुदाचार करता है और बीज से जनित है; ३. पूर्वोक्त विज्ञान की भावना से संभूत नवीन बीज। यह तीन क्रम से हेतु और फल हैं किंतु यह सहभू हैं। यह नडकलाप के समान अन्योन्याश्रित हैं।

युआन च्वांग आलय के आकार और आलंबन का विचार करते हैं। यदि प्रवृत्ति-विज्ञान से अतिरिक्त आलय-विज्ञान है तो उसका आलंबन और आकार बताना चाहिए। निरालंबन या निराकार विज्ञान युक्त नहीं है। इसलिये आलय-विज्ञान भी निरालंबन या निराकार नहीं हो सकता।

आलय का आकार, यथा सर्वविज्ञान का आकार, विज्ञप्ति (विज्ञप्ति-क्रिया) है। विज्ञप्ति को दर्शनभाग कहते हैं।

आलय का आलंबन द्विविध है: स्थान और उपादि। **स्थान** भाजनलोक है, क्योंकि यह सत्वों का सन्निश्रय है। उपादि (इन्टिरियर आवजेक्ट) बीज और सेंद्रियक काय है। इन्हें 'उपादि' कहते हैं

क्योंकि यह आलय से उपात्त हैं, आलय में परिगृहीत हैं और इनका एक योगक्षेम है। बीज से वासनात्रय इष्ट है: निमित्त, नाम और विकल्प। सेंद्रियक काय, रूपींद्रिय और उनका अधिष्ठान है।

इस सिद्धांत के अनुसार लोक की उत्पत्ति इस प्रकार है:—आलय-विज्ञान या मूलविज्ञान का अध्यात्म परिणाम बीज और सेंद्रियक काय के रूप में (उपादि) होता है और बहिर्धा परिणाम भाजनलोक के रूप में (स्थान) होता है। यह विविध धर्म उसके 'निमित्त भाग' हैं। यह निमित्त भाग उसका आलंबन है। आलंबनवश उसकी विज्ञप्ति क्रिया है। यह उसका आकार है। यह विज्ञप्ति क्रिया आलय-विज्ञान का दर्शनभाग है। इस प्रकार ज्यों ही सर्वसास्रव विज्ञान (जो प्रसाद से निर्मल नहीं हुआ है) उत्पन्न होता है त्यों ही वह आलंबक (सालंबन) और आलंबन इन दो लक्षणों से उपेत होता है। एक दर्शनभाग है, दूसरा निमित्तभाग है। युआन च्वांग कहते हैं कि दर्शनभाग के बिना निमित्तभाग असंभव था।

"यदि चित्त-चैत्त में आलंबन का लक्षण न होता तो वह स्वविषय को आलंबन नहीं बनाते अथवा वह सर्वविषय को—स्वविषय तथा अन्य विषय को—अस्पष्टतया आलंबन बनाते। और यदि उनमें सालंबन (आलंबक) का लक्षण न होता तो वह किसी को आलंबन न बनाते, किसी विषय का ग्रहण न करते। अतः चित्त-चैत्त के दो भाग (मुख) हैं—दर्शन, निमित्त"। किंतु वस्तुतः "सब वेदक-बोधकमात्र है, वेद्य का अस्तित्व नहीं है। अथवा यों कहिए कि वेदकभाग और वेद्यभाग का प्रवर्तन पृथक् स्वयं होता है। यह स्वयंभू हैं क्योंकि यह स्वहेतु-प्रत्यय-सामग्रीवश उत्पन्न होते हैं और चित्त से बहिर्भूत किसी वस्तु पर आश्रित नहीं हैं।

(रेने ग्रूसे, पृ १०० का पाठ इस प्रकार है—अथवा यों कहिए कि 'वेदकभाग और वेद्यभाग का अस्तित्व स्वतः नहीं हैं।)

अतः युआन च्वांग हीनयान के इस वाद का विरोध करते हैं कि विज्ञान के लिये (१) बाह्यार्थ (आलंबन) (२) अध्यात्मनिमित्त (जो हमारा निमित्तभाग है), जो विज्ञान का आकार है, (३) दर्शन, द्रष्टा (हमारा दर्शनभाग), जो स्वयं विज्ञान है, चाहिए। युआन च्वांग के मत में इसके विपरीत चित्त-व्यतिरेकी अर्थों का अस्तित्व नहीं है। उनके अनुसार विज्ञान का आलंबन निमित्तभाग है और विज्ञान का आकार दर्शनभाग है। वह हीनयान के लक्षणों को नहीं स्वीकार करते। इन दो भागों का एक आश्रय चाहिए और यह आश्रय विज्ञान का एक आकार है जिसे स्वसंवित्ति भाग कहते हैं। तीन भाग इस प्रकार हैं:—१. प्रमेय अर्थात् निमित्तभाग; २. प्रमाण अर्थात् विज्ञप्तिक्रिया: यह दर्शनभाग है; ३. प्रमाणफल: यह संवित्तिभाग अथवा स्वाभाविक भाग है।

इनको प्रमाण-समुच्चय में ग्राह्यभाग, ग्राहकभाग, स्वसंवित्तिभाग कहा है। यह तीन विज्ञान से पृथक् नहीं हैं।

युआन च्वांग कहते हैं कि यदि चित्त-चैत्त धर्मों का सूक्ष्म विभजन किया जाय तो चार भाग होते हैं। पूर्वोक्त तीन भागों के अतिरिक्त एक चौथा भाग है। इसे स्वसंवित्ति-संवित्तिभाग कहते हैं।

नील प्रतिबिंब (निमित्तभाग) दर्शन का (दर्शनभाग का) प्रमेय है। दर्शनभाग प्रमाण है। यह विज्ञप्ति-क्रिया है: "यह नील देखता है।" इस दर्शन का फल 'स्वसंवित्ति' कहलाता है। 'यह

जानना कि मैं नील देखता हूँ' 'स्वसंविति' है। स्वसंविति दर्शन का फल है। यह दर्शन को आलंबन के रूप में गृहीत करता है। क्योंकि यह आलंबन को गृहीत करता है इसका एक फल होना चाहिए जिसे 'स्वसंविति-संविति' कहते हैं—"यह जानना कि मैं जानता हूँ कि मैं नील देखता हूँ।" यह स्व-संविति को जानता है, जैसे स्वसंविति दर्शन को जानता है। किंतु यह चार चित्तमात्र हैं। यथा लंकावतार (१०, १०१) में कहा है—"क्योंकि चित्त अपने में अभिनिविष्ट है अतः बाह्यार्थ के सदृश चित्त का प्रवर्तन होता है। दृश्य नहीं है, चित्तमात्र है।"

युआन च्वांग आलंबनवाद का वर्णन करते हैं। आलंबन द्विविध हैं—स्थान और उपादि। १. स्थान—साधारण बीजों के परिपाक के बल से विपाक-विज्ञान भाजनलोक के आभास में अर्थात् महाभूत और भौतिक के आभास में परिणत होता है।" युआन च्वांग स्वयं एक आक्षेप के परिहार की चेष्टा करते हैं। वह कहते हैं कि "प्रत्येक सत्व के विज्ञान का परिणाम उसके लिये इस प्रकार होता है, किंतु इस परिणाम का फल सर्वसाधारण है। इस कारण भाजनलोक सब सत्वों को एक-सा दीखता है। यथा दीपसमूह में प्रत्येक दीप का प्रकाश पृथक् होता है। किंतु दीपसमूह का प्रकाश एक ही प्रकाश प्रतीत होता है।" अतः भिन्न सत्वों के विज्ञान के बीज **साधारण बीज** कहलाते हैं क्योंकि भिन्नसत्व उन वस्तुओं के उत्पादन में सहयोग करते हैं जिनका आभास सब सत्वों को होता है। लोकधातु की सृष्टि का हेतु बहुत कुछ वैशेषिक और जैन-दर्शन से मिलता है।

दूसरी ओर युआन च्वांग कहते हैं कि यदि (साधारण) विज्ञान भाजनलोक में परिणत होता है तो इसका कारण यह है कि भाजनलोक उस सेंद्रियक काय का आश्रय या भोग होगा जिसमें यह विज्ञान परिणत होता है। अतः विज्ञान का परिणाम उस भाजनलोक में होता है जो उस काय के अनुरूप है, जिसमें यह परिणत होता है। यहाँ हमको एक सर्वसाधारण या सार्वभौमिक विज्ञान की झलक मिलती है। यह एक लोकधातु की सृष्टि इसलिये करता है जिसमें प्रत्येक चित्त-संतान काय विशेष का उत्पाद कर सके।

एक आक्षेप यह है कि जो लोकधातु सत्वों का अभी आवास नहीं है या जो निर्जन हो गया है, उसमें विज्ञानवाद कैसे युक्तियुक्त है? किस विज्ञान का यह लोकधातु परिणाम है? युआन च्वांग इस आक्षेप के उत्तर में कहते हैं कि यह अन्य लोकधातुओं में निवास करनेवाले सत्वों का परिणाम है।

हमसे कहा गया है कि लोकधातु सत्वों का साधारण भोग है। किंतु प्रेत, मनुष्य, देव (विंशतिका ३) एक ही वस्तु का दर्शन नहीं करते अर्थात् वस्तुओं को एक ही आकार में नहीं देखते।

युआन च्वांग कहते हैं कि इन्हीं सिद्धांतों के अनुसार इस प्रश्न का भी विवेचन होना चाहिए।

२. उपादि—बीज और सेंद्रियक काय।

बीज—यह सास्रव धर्मों के सर्व बीज हैं जिनका धारक विपाक-विज्ञान है, जो इस विज्ञान के स्वभाव में ही संगृहीत हैं और जो इसलिये उसके आलंबन हैं।

अनास्रव धर्मों के बीज विज्ञान पर संकुचित रूप में आश्रित हैं। किंतु क्योंकि वह उसके स्वभाव में संगृहीत नहीं हैं इसलिये वह उसके आलंबन नहीं हैं। यह नहीं है कि वह विज्ञान से विप्रयुक्त हैं क्योंकि भूततथता के तुल्य वह विज्ञान से पृथक् नहीं हैं। अतः उनके अस्तित्व की प्रतिज्ञा कर हम विज्ञप्ति मात्रता के सिद्धांत का विरोध नहीं करते।

सेंद्रियककाय

मेरा विपाक-विज्ञान अपने बीज-विशेष के बल से (१) रूपीन्द्रिय में परिणत होता है जो हम जानते हैं, सूक्ष्म और अतींद्रिय रूप है; (२) काय में परिणत होता है जो इंद्रियों का आश्रयायतन है। किंतु अन्य सत्वों के बीज—वह सत्व जो मेरे काय को देखते हैं—मेरे काय में उसी समय परिणत होते हैं जब मेरे अपने बीज परिणत होते हैं। यह साधारण बीज (शक्ति) हैं।

साधारण बीज के परिपाक के बल से मेरा विपाक-विज्ञान दूसरों के इंद्रियाश्रयायतन में परिणत होता है। यदि ऐसा न होता तो मुझे दूसरों का दर्शन, दूसरों का भोग न होता। स्थिरमति और दूर जाते हैं। उनका मत है कि किसी सत्व विशेष का विपाक-विज्ञान दूसरों के इंद्रियों में परिणत होता है। उनका कहना है कि यह मत युक्त है, क्योंकि असंग के मध्यांत में कहा है कि विज्ञान स्व-पर-आश्रय के पंचेंद्रियों के सदृश अवभासित होता है।"

एक आश्रय का विज्ञान दूसरे के इंद्रियाश्रयायतन में इसलिये परिणत होता है कि निर्वाण-प्रविष्ट सत्व का शव अथवा अन्य भूमि में संचार करनेवाले सत्व का शव दृश्यमान रहता है। निर्वृत के विज्ञान के तिरोहित होनेपर उसके शव में परिणाम नहीं होगा। अतः यह कुछ काल तक अन्य सत्वों के विज्ञान-परिणाम के रूप में अवस्थान करता है।

हमने देखा है कि विज्ञान का परिणाम सेंद्रियक काय और भाजनलोक (असत्व रूप) में होता है। इनका साधारणतः सर्वदा संतान होता है।

प्रश्न है कि अष्टम विज्ञान का परिणाम चित्त-चैत्त में, विप्रयुक्त में, असंस्कृत में, अभाव धर्मों में क्यों नहीं होता और इन विविध प्रकारों को वह आलंबन क्यों नहीं बनाता।

विज्ञानों का परिणाम दो प्रकार का है।

सास्रव विज्ञान का सामान्यतः द्विविध परिणाम होता है:—(१) हेतु-प्रत्यय-वश परिणाम, (२) विकल्प या मनस्कार के बल से परिणाम। पहले परिणाम के धर्मों में क्रिया और वास्तविकता होती है। दूसरे परिणाम के धर्म केवल ज्ञान के विषय हैं।

किंतु अष्टम विज्ञान का पहला परिणाम ही हो सकता है, दूसरा नहीं। अतः रूपादि धर्मों में, जो अष्टम विज्ञान से प्रवृत्त होते हैं क्रिया होनी चाहिए और उनमें क्रिया होती है।

यह नहीं माना जा सकता कि चित्त-चैत्त इसके परिणाम हैं। इसका कारण यह है कि चित्त-चैत्त, जो अष्टम विज्ञान के केवल निमित्तभाग हैं, आलंबन का ग्रहण न करेंगे और इसलिये उनमें वास्तविक क्रिया न होगी।

आक्षेप—

आप कहते हैं कि चित्त-चैत्त की उत्पत्ति अष्टम विज्ञान से होती है। अतः इसका चित्त-चैत्त में परिणत होना आवश्यक है।

उत्तर—

विज्ञान-सप्तक और उनके संप्रयुक्त की वास्तविक क्रिया की उत्पत्ति अष्टम विज्ञान से होती है, क्योंकि वह उसके निमित्तभाग का उपभोग करते हैं अर्थात् उन अर्थों का उपभोग करते हैं जिनमें इसका परिणाम होता है।

अष्टम का परिणाम असंस्कृतादि में भी नहीं होता, क्योंकि उनका कोई कारित्र नहीं है।

हमने जो कुछ पूर्व कहा है वह सास्रव विज्ञान के लिये है।

जब अष्टम विज्ञान की अनास्रव अवस्था (बुद्धावस्था) होती है तब यह प्रधान प्रज्ञा से संप्रयुक्त होता है। यह अविकल्पक किंतु प्रसन्न होता है। अतः यह असंस्कृत, तथा चित्तादि के इन सब निमित्तों को अवभासित करता है, चाहे यह धर्म क्रिया-वियुक्त हों। विपक्ष में बुद्ध सर्वज्ञ न होंगे।

किंतु जबतक अष्टम विज्ञान सास्रव है तबतक यह कामधातु और रूपधातु में केवल भाजनलोक, सेंद्रियक काय और सास्रव बीजों का आलंबन के रूप में ग्रहण करता है। आरूप्यस्थ विज्ञान केवल सास्रव बीजों का ग्रहण करता है। इस धातु के देव रूप से विरक्त हैं। किंतु समाधिज रूप के आलंबन बनाने में विरोध नहीं है। अष्टम विज्ञान का आकार (दर्शन भाग, विज्ञप्ति) अतिसूक्ष्म, अणु होता है। अतः वह असंविदित है। अथवा अष्टम विज्ञान इसलिये असंविदित है, क्योंकि उसका अध्यात्म-आलंबन अति सूक्ष्म है और उसका बाह्य आलंबन (भाजनलोक) अपने संनिवेश में अपरिच्छिन्न है।

किंतु सौत्रांतिक और सर्वास्तिवादी प्रश्न करते हैं कि यदि अष्टम विज्ञान का आकार असंविदित है अर्थात् उसका प्रति-संवेदन करना अशक्य है तो अष्टम 'विज्ञान' कैसे है? हमारा सौत्रांतिकों को, जो स्थविरवादियों के समान एक सूक्ष्म विज्ञान में प्रतिपन्न हैं, यह उत्तर है कि आप मानते हैं कि निरोध समापत्ति आदि की अवस्था में एक विज्ञान-विशेष होता है जिसका आकार असंविदित है। अतः आप मानते हैं कि अष्टम विज्ञान सदा असंविदित होता है। सर्वास्तिवादियों से जो निरोध-समापत्ति आदि की अवस्था में विज्ञान के अस्तित्व का प्रतिषेध करते हैं हमारा यह कहना है कि उक्त समापत्तियों की अवस्था में विज्ञान अवश्य होता है, क्योंकि जो योगी उसमें समापन्न होता है उसे सत्व मानते हैं। आपके मत में भी सत्व सचित्त होता है।

संप्रयुक्त

यह आलय विज्ञान सदा से आश्रय-परावृत्ति पर्यंत अपनी सब अवस्थाओं में पाँच सर्वग (सर्वत्रग) चैत्तों से संप्रयुक्त होता है। यह पाँच चैत्त इस प्रकार हैं:—स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना।

यह पाँच आकार में आलय-विज्ञान से भिन्न हैं किंतु यह आलय के सहभू हैं—इनका वही आश्रय है जो आलय का है और इनका आलंबन (=निमित्तभाग) तथा द्रव्य (संवित्तिभाग) आलय के आलंबन और द्रव्य के सदृश हैं। अतः यह आलय से संप्रयुक्त हैं।

१. स्पर्श

स्पर्श का लक्षण इस प्रकार है :—स्पर्श त्रिकसंनिपात है जो विकार-परिच्छेद है और जिसके कारण चित्त-चैत्त विषय का स्पर्श करते हैं।

इंद्रिय, विषय और विज्ञान यह तीन 'त्रिक' हैं। इनका समवस्थान 'त्रिक-संनिपात' है। यथा-, चक्षु, नील, चक्षुर्विज्ञान, यह तीन बीजावस्था में पहले से रहते हैं। स्पर्श भी बीजावस्था में पहले से रहता है। अपनी उत्पत्ति के लिये स्पर्श इन तीन पर आश्रित है। इसकी उत्पत्ति होने पर इन तीनका संनिपात होता है। अतः स्पर्श को त्रिक-संनिपात कहते हैं।

संनिपात के पूर्व त्रिक में चित्त-चैत्त के उत्पाद का सामर्थ्य नहीं होता। किंतु संनिपात के क्षण में वह इस सामर्थ्य से समन्वागत होते हैं। इस परिवर्तन, इस प्राप्त सामर्थ्य को **विकार** कहते हैं।

स्पर्श इस विकार के सदृश होता है। अर्थात् चित्त-चैत्तों के उत्पाद के लिये इसमें उस सामर्थ के सदृश सामर्थ्य होता है जिससे त्रिक विकारावस्था में समन्वागत होता है। अतः स्पर्श को विकार-परिच्छेद कहते हैं क्योंकि यह विकार का परिच्छेद[1] (सदृश, कलम) है। स्पर्श-क्षण में त्रिक म विकार होता है। किंतु स्पर्श के उत्पाद में इंद्रिय-विकार की प्रधानता है। इसीलिये स्थिरमति स्पर्श को 'इंद्रियविकार-परिच्छेद' कहते हैं (पृ० २०)।

स्पर्श का स्वभाव है कि यह चित्त-चैत्त का संनिपात इस तरह करता है जिसमें बिना विसरण के वह विषय का स्पर्श करते हैं।

स्थिरमति का व्याख्यान भिन्न है। "त्रिक का कार्यकारणभाव से समवस्थान त्रिक-संनिपात है। जब त्रिक-संनिपात होता है तब उसी समय इंद्रिय में विकार उत्पन्न होता है। यह विकार सुख-दुःखादि वेदना के अनुकूल होता है। इस विकार के सदृश विषय का सुखादि वेदनीयाकार परिच्छेद (ज्ञान) होता है। इस परिच्छेद को स्पर्श कहते हैं। यह 'स्पर्श' इंद्रिय का स्पर्श करता है, क्योंकि यह इंद्रिय विकार के सदृश है। अथवा यों कहिए कि यह इंद्रिय से स्पृष्ट होता है। इसीलिये इसे **स्पर्श** कहते हैं।

'स्पर्श' का कर्म मनस्कारादि अन्य चार चैत्तों का संनिश्रयत्व है। सूत्र में कहा है कि वेदना, संज्ञा, संस्कार का प्रत्यय स्पर्श है । इसीलिये सूत्र में उक्त है कि इंद्रिय-विषय द्विक के संनिपात से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, स्पर्श की उत्पत्ति त्रिक-संनिपात से होती है और अन्य चैत्तों की उत्पत्ति इंद्रिय-विषय-विज्ञान-स्पर्श-चतुष्क से होती है।

अभिधर्मसमुच्चय (स्थिरमति इसका अनुसरण करते हैं) की शिक्षा है कि स्पर्श वेदना का संनिश्रय है। सुखवेदनीय स्पर्श के प्रत्ययवश सुखा वेदना उत्पन्न होती है।

२. मनस्कार

मनस्कार चित्त का आभोग (आभुजन) है। इसका कर्म आलंबन में चित्त का आवर्जन

---

१. यथा, पुत्र पिता का परिच्छेद है।

है। संघभद्र के अनुसार मनस्कार चित्त को आलम्बन के अभिमुख करता है। अभिधर्म-समुच्चय के अनुसार (संघभद्र के भी) मनस्कार आलंबन में चित्त का धारण करता है। युआन च्वांग इन व्याख्यानों को नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि पहले को स्वीकार करने से मनस्कार सर्वग नहीं होगा और दूसरा व्याख्यान मनस्कार और समाधि को मिला देता है।

३. **वेदना**

वेदना का स्वभाव विषय के आह्लादक, परितापक और इन दोनों आकारों से विविध स्वरूप का अनुभव करना है। वेदना का कर्म तृष्णा का उत्पाद करना है क्योंकि यह संयोग, वियोग तथा न संयोग-न वियोग की इच्छा उत्पन्न करती है। संघभद्र के अनुसार वेदना दो प्रकार की है, विषय-वेदना, स्वभाव-वेदना। पहली वेदना स्वालंबन-विषय का अनुभव है, दूसरी वेदना तत्सहगत स्पर्श का अनुभव है। इसीलिये भगवत् सुखवेदनीय स्पर्श आदि का उल्लेख करते हैं। केवल द्वितीय वेदना 'वेदना-स्वलक्षण' है क्योंकि प्रथम सामान्य चैत्तों से विशिष्ट नहीं है। सभी चैत्त विषय निमित्त के अनुभव हैं यह मत अयथार्थ है। १. वेदना सहज स्पर्श को आलंबन नहीं बनाती। २. इस आधार पर कि यह स्पर्शसदृश उत्पन्न होता है, हम नहीं कह सकते कि वेदना स्पर्श का अनुभव करती है क्योंकि उस अवस्था में सर्व निष्यंद फल वेदनास्वभाव होगा। ३. यदि वेदना स्वहेतु अर्थात् स्पर्श का अनुभव करती है तो इसे 'हेतुवेदना' कहना चाहिए, 'स्वभाववेदना' नहीं। ४. आप नहीं कह सकते कि जिस प्रकार राजा अपने राज्य का उपभोग करता है उसी प्रकार वेदना स्पर्शज वेदना के स्वभाव का अनुभव करती है और इसलिये इसे (वेदना) स्वभाववेदना कहते हैं। ऐसा करने से आपको अपने इस सिद्धांत का परित्याग करना पड़ेगा कि स्वसंवेदन नहीं होता। ५. यदि आप उसे इसलिये **स्वभाववेदना** की संज्ञा देते हैं क्योंकि यह कभी अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करती तो सर्व धर्म को स्वभाववेदना कह सकते हैं।

वस्तुतः विषय-वेदना अन्य चैत्तों से पृथक् है। क्योंकि यदि अन्य चैत्त विषय का अनुभव करते हैं तो केवल वेदना विषय का अनुभव आह्लादक, परितापक आकार में करती हैं।

४. **संज्ञा**

संज्ञा का स्वभाव 'विषयनिमित्त का उद्ग्रहण' है। विषय आलंबन है। निमित्त आलंबन का विशेष है, यथा नील-पीतादि। इससे आलंबन की व्यवस्था होती है। 'उद्ग्रहण' का अर्थ निरूपण है, यथा जब हम यह निरूपित करते हैं कि यह नीला है, पीत नहीं है। संज्ञा का कर्म (जब यह **मानसी** है) नाना अभिधान और प्रज्ञप्ति का उत्पाद है। जब विषय के निमित्त व्यवस्थित होते हैं—यथा, यह नील है, नील से अन्य नहीं है—तभी इन निमित्तों के अनुरूप अभिधान का उत्पाद हो सकता है।

५. **चेतना**

चेतना का स्वभाव चित्त का अभिसंस्कार करना है। इसका कर्म चित्त का कुशलादि में नियोजन है। अर्थात् चेतना कुशलादि संबंध में विषय का ग्रहण करती है; विषय के इस निमित्त का ग्रहण कर वह कर्म करती है। वह चित्त का इस प्रकार नियोजन करती है कि चित्त कुशल अकुशल, अव्याकृत का उत्पाद करता है।

आलय विज्ञान की वेदना—

यह आलय विज्ञान स्पष्ट वेदनाओं का न प्रभव है, न आलंबन। वसुबंधु कहते हैं: उपेक्षा वेदना तत्र। यहाँ की वेदना उपेक्षा है। *आलय* उपेक्षा-वेदना से संप्रयुक्त है। आलय विज्ञान और अन्य दो वेदनाओं में अनुकूलता नहीं है। इस विज्ञान का आकार (=दर्शनभाग) अपटुतम है और इसलिये उपेक्षा–वेदना से इसकी अनुकूलता है। यह विज्ञान विषय के अनुकूल-प्रतिकूल निमित्तों का परिच्छेद नहीं करता। यह सूक्ष्म है और अन्य वेदनाएं औदारिक हैं। यह एकजातीय, अविकारी है और अन्य वेदनाएं विकारशील हैं। यह अविच्छिन्न संतान है और अन्य वेदनाओं का विच्छेद होता है।

आलय विज्ञान से संप्रयुक्त वेदना **विपाक** है क्योंकि यह प्रत्यय का आश्रय न लेकर केवल आक्षेपक कर्म से अभिनिर्वृत्त होती है। यह वेदना कुशलाकुशल कर्म के बल से स्वरसवाहिनी है। अतः यह केवल उपेक्षा हो सकती है। अन्य वेदनाएँ **विपाक** नहीं हैं, किंतु विपाकज हैं क्योंकि वह प्रत्यय पर, अनुकूल-प्रतिकूल विषयपर, आश्रित हैं।

आलय की यह वेदना *आत्म-प्रत्यय* का प्रभव है। यदि सत्व अपने आलय को स्वकीय अभ्यंतर आत्मा अवधारित करते हैं तो इसका कारण यह है कि आलय विज्ञान सदाकालीन और सभाग है। यदि यह सुखा और दुःखा वेदनाओं से संप्रयुक्त होता तो यह असभाग होता और इसमें आत्मसंज्ञा का उदय न होता।

यदि आलय उपेक्षा से संप्रयुक्त है तो यह अकुशल कर्म का विपाक कैसे हो सकता है? आप स्वीकार करते हैं कि शुभ कर्म उपेक्षा-वेदना का उत्पाद करते हैं (कोश,४।पृ० १०९)। इसी प्रकार अकुशल कर्म को समझना चाहिए। वस्तुतः यथा अव्याकृत कुशल-अकुशल के विरुद्ध नहीं है (कुशल-अकुशल कर्म अव्याकृत धर्म का उत्पाद करते हैं), उसी प्रकार उपेक्षा-वेदना सुख-दुःख के विरुद्ध नहीं हैं।

आलय–विज्ञान **विनियत चैत्तों** *से संप्रयुक्त नहीं है*। वस्तुतः *'छंद' अभिप्रेत वस्तु की अभिलाषा* है। आलय कर्मबल से स्वरसेन प्रवर्तित होता है और अभिलाष से अपरिचित है। 'अधिमोक्ष' निश्चित वस्तु का अवधारण है। आलय विज्ञान अपटु है और अवधारण से वियुक्त है। 'स्मृति' संस्कृत वस्तु का अभिस्मरण है। आलय दुर्बल है और अभिस्मरण से रहित है। 'समाधि' चित्त का एक अर्थ में आसंग है। आलय का स्वरसेन प्रवर्तन होता है और यह प्रतिक्षण नवीन विषय का ग्रहण करता है। 'प्रज्ञा' वस्तु के गुण आदि का प्रविचय है। आलय सूक्ष्म, अस्पष्ट और प्रविचय में असमर्थ है। विपाक होने से आलय कुशल या क्लिष्ट चैत्तों से संप्रयुक्त नहीं होता। कौकृत्यादि चार अनियत (या अव्याकृत) धर्म विच्छिन्न हैं। यह विपाक नहीं हैं।

आलय और उसके चैत्तों का प्रकार—

वसुबन्धु कहते हैं कि आलय–विज्ञान अनिवृत-अव्याकृत है।

धर्म तीन प्रकार के हैं—कुशल, अकुशल, अव्याकृत। अव्याकृत दो प्रकार का है—निवृत,

अनिवृत। जो मनोभूमिक आगन्तुक उपक्लेशों से आवृत है वह निवृत है। इसका विपर्यय अनिवृत है। अनिवृत के चार प्रकार हैं, जिनमें एक विपाक है। (कोश २। पृ० ३१५)

आलय-विज्ञान एकान्तेन अनिवृताव्याकृत है और इसका प्रकार विपाक है। यदि यह कुशल होता तो प्रवृत्ति (समुदय-दुःख) असंभव होती। यदि यह क्लिष्ट अर्थात् अकुशल या निवृताव्याकृत होता तो निवृत्ति (निरोध-मार्ग) असंभव होती। कुशल या क्लिष्ट होने से यह वासित न हो सकता। अतः आलय अनिवृताव्याकृत है। इसी प्रकार आलय से संप्रयुक्त स्पर्शादि अनिवृताव्याकृत हैं। विपाक से संप्रयुक्त स्पर्शादि भी विपाक हैं। उनके आकार और आलंबन भी आलय के समान अपरिच्छिन्न हैं। अन्य चार और आलय-विज्ञान से यह नित्य अनुगत हैं।

प्रतीत्य समुत्पाद—

क्या यह आलय-विज्ञान एक और अभिन्न आसंसार रहता है? अथवा संतान में इसका प्रवर्तन होता है? क्षणिक होने से यह एक और अभिन्न नहीं है। यह आलय-विज्ञान प्रवाहवत् स्रोत में वर्तमान होता है। वसुबन्धु कहते हैं: 'तच्च वर्तते स्रोतसोघवत्'। अतः यह न शाश्वत है, न उच्छिन्न। अनादिकाल से यह संतान बिना उच्छेद के अव्युपरत प्रवाहित होता है। यह संतान बीजों को धारण करता है और उनको सुरक्षित रखता है। यह प्रतिक्षण उत्पन्न और निरुद्ध होता है। यह पूर्व से अपर में प्रवर्तित होता है। इसका हेतु-फलभाव है। यह उत्पाद और निरोध है। अतः यह आत्मवत् एक नहीं है, प्रधानवत् (सांख्य) शाश्वत नहीं है। 'तच्च वर्तते' इससे शाश्वत संज्ञा व्यावृत्त होती है। 'स्रोत' शब्द से उच्छेद संज्ञा व्यावृत्त होती है।

आलय विज्ञान के संबंध में युआन च्वांग जो कुछ यहाँ कहते हैं, वह प्रतीत्य समुत्पाद को भी लागू होता है। प्रतीत्य समुत्पाद हेतु-फल-भाव की धर्मता है। यह स्रोत के ओघ के तुल्य शाश्वतत्व और उच्छेद से अपरिचित है। आलय-विज्ञान के लिये भी यही दृष्टांत है। यथा स्रोत का प्रवाह बिना शाश्वतत्व या उच्छेद के संतान रूप में सदा प्रवाहित होता है और अपने साथ तृण-काष्ठ-गोमयादि को ले जाता है उसी प्रकार आलय विज्ञान भी सदा उत्पन्न और निरुद्ध हो संतान के रूप में न शाश्वत, न उच्छिन्न हो, क्लेश-कर्म का आवाहन कर सत्व को सुगति या दुर्गति में ले जाता है और उसका संसार से निःसरण नहीं होने देता। और जिस प्रकार एक नदी वायु से विताड़ित हो तरंगों को उत्पन्न करती है किंतु उसका प्रवाह उच्छिन्न नहीं होता उसी प्रकार आलय-विज्ञान हेतु-प्रत्ययवश प्रत्युत्पन्न विज्ञान का उत्पाद करता है, किंतु उसके प्रवाह का विच्छेद नहीं होता। और जिस प्रकार जल के तल पर पत्ते और भीतर मछलियाँ होती हैं और नदी का प्रवाह प्रवर्तित रहता है उसी प्रकार आलय-विज्ञान आभ्यंतर बीज और बाह्य चैत्तों के सहित सदा प्रवाहित होता है। यह दृष्टांत प्रदर्शित करता है कि आलय-विज्ञान हेतु-फल-भाव है जो अनादि, अशाश्वत, अनुच्छिन्न है। स्रोत का यहाँ अर्थ हेतु-फल की निरंतर प्रवृत्ति है। इस विज्ञान की सदा से यह धर्मता रही है कि प्रतिक्षण फलोत्पत्ति होती है और हेतु का विनाश होता है। कोई विच्छेद नहीं है, क्योंकि फल की उत्पत्ति होती है। कोई शाश्वतत्व नहीं है, क्योंकि हेतुका विनाश होता है। अशाश्वत-तत्व, अनुच्छेद प्रतीत्य समुत्पाद का नय है। इसीलिये वसुबंधु कहते हैं कि आलय-विज्ञान स्रोत के रूप में अव्युपरत प्रवर्तित होता है।

मध्यमक (१,१) में प्रतीत्य समुत्पाद का यह लक्षण दिया है :--अनिरोधं अनुत्पादं अनुच्छेदं अशाश्वतम्। नागार्जुन ने प्रतीत्य समुत्पाद को शून्यता का समानार्थक माना है और उनके अनुसार यह प्रकारांतर से निर्वाण का दूसरा मुख (आवर्त्त) है। युआन च्वांग का लक्षण इस प्रकार होगा: सोत्पादं सनिरोधम् अनच्छेदम्... । वह प्रतीत्य समुत्पाद को सस्वभाव मानते हैं क्योंकि वह आलय विज्ञान का स्वभाव बताया गया है। आलय समुत्पाद का स्वभाव अनादिकालिक प्रतीत्य समुत्पाद अर्थात् हेतु-फल की निरंतर प्रवृत्ति है।

जो दृष्टांत हम नीचे देते हैं उससे बढ़कर कौन दृष्टांत होगा जो आलय के विविध आकारों को प्रदर्शित करे? यह दृष्टांत लंकावतार से उद्धृत किया गया है। युआन च्वांग पृ० १७५ में इसका उल्लेख करते हैं—यथा समुद्र पवन-प्रत्यय से अभ्याहत हो तरंग उत्पादित करता है किंतु शक्तियों का (जो तरंग को उत्पन्न करती हैं) प्रवर्तन होता रहता है और विच्छेद नहीं होता उसी प्रकार विषय-पवन से ईरित हो आलयौघ नित्य विचित्र तरंग-विज्ञान (प्रवृत्ति-विज्ञान) उत्पन्न करता है और शक्ति (जो विज्ञान का उत्पाद करती है) प्रवर्तित रहती है। इस दृष्टांत में प्रवृत्ति विज्ञानों की तुलना तरंगों से दी गयी है, जो सार्वलौकिक विज्ञानरूपी नित्य स्रोत के तल पर उदित होते हैं।

यह विचार करने की बात है कि यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो विज्ञानवाद विज्ञानवाद न ठहरेगा किंतु अद्वयवाद हो जायगा। अन्यत्र (पृ० १९७–१९८) युआन च्वांग कहते हैं कि उनका आलय-विज्ञान एक जातीय और सर्वगत सदाकालीन संतान है। संक्षेप में यह एक प्रकार का ब्रह्म है।

एक कठिन प्रश्न यह है कि आलय की व्यावृत्ति होती है या नहीं। निर्वाण के लाभ के लिये, सर्व धर्म का मुखनिरोध करने के लिये, इस अव्युच्छिन्न प्रवाह को व्यावृत्त करना होता है। प्रश्न यह है कि आलय विज्ञान की व्यावृत्ति अर्हत्व में होती है या केवल महाबोधिसत्व में होती है।

वसुबंधु 'अर्हत्व' शब्द का प्रयोग करते हैं (त्रिंशिका, ५)। स्थिरमति के अनुसार क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान के लाभ से अर्हत्व होता है और उस अवस्था में आलयाश्रित दौष्ठुल्य का निरवशेष प्रहाण होता है। इससे आलय-विज्ञान व्यावृत्त होता है। यही अर्हत् की अवस्था है। प्रथम आचार्यों के अनुसार 'अर्हत्' से तीन यानों के उन आर्यों से आशय है जिन्होंने अशैक्ष फलका लाभ किया है। यह आचार्य प्रमाण में योगशास्त्र के इस वाक्य को उद्धृत करते हैं: "अर्हत्, प्रत्येक बुद्ध और तथागत आलय-विज्ञान से और समन्वागत नहीं होते।" यहाँ युआन च्वांग कहते हैं कि योगशास्त्र में इसी स्थल में यह भी कहा है कि अवैवर्तिक बोधिसत्व में भी आलय नहीं होता।

धर्मपाल के अनुसार अचला भूमि से बोधिसत्व की 'अवैवर्तिक' संज्ञा हो जाती है। इस भूमि से उनमें आलय-विज्ञान नहीं होता और वह भी वसुबन्धु के 'अर्हत्' में परिगणित होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन बोधिसत्वों ने विपाक-विज्ञान के क्लेश-बीजों का अभी सर्वथा प्रहाण नहीं किया है। किन्तु इनका समुदाचरित चित्त-सन्तान सर्व विशुद्ध है और इसलिये आत्म दृष्टि आदि मनस् के क्लेश इस विपाक-विज्ञान में आत्मवत् आलीन नहीं होते। अतः इन बोधिसत्वों की गणना अर्हत् में की गयी है।

नंद के अनुसार प्रथम भूमि से ही बोधिसत्व अवैवर्तिक होता है। प्रथम आचार्य और धर्मपाल इससे सहमत नहीं हैं।

जो कुछ हो, बोधिसत्व की ऊर्ध्व भूमियों में सर्व क्लेश-बीज का प्रहाण होता है। विज्ञान-संतान के अनास्रव होने से मनस् का इस विज्ञान में आत्मवत् और अभिनिवेश नहीं होता। अतः बोधिसत्व का विज्ञान आलय-मूल की संज्ञा को खो देता है।

युआन च्वांग कहते हैं कि हम नहीं मानते कि आलय-विज्ञान की व्यावृत्ति से सर्वप्रकार के अष्टम विज्ञान का प्रहाण होता है।

वस्तुतः सब सत्वों में अष्टम विज्ञान होता है। किन्तु भिन्न दृष्टियों के कारण इस अष्टम के भिन्न नाम होते हैं। इसे चित्त ('चि' धातु से) कहते हैं, क्योंकि यह विविध धर्मों से भावित, बीजों से आचित होता है। यह आदान-विज्ञान है। क्योंकि यह बीज तथा रूपींद्रियों का आदान करता है और उनका नाश नहीं होने देता। यह ज्ञेयाश्रय है क्योंकि अष्टम विज्ञान क्लिष्ट और अनास्रव, सब धर्मों को जो ज्ञेय के विषय हैं, आश्रय देता है। यह बीज-विज्ञान है क्योंकि यह सब लौकिक और लोकोत्तर बीजों का वहन करता है। यह नाम तथा अन्य नाम (मूल, भवांग, संसारकोटिनिष्ठस्कन्ध) अष्टम-विज्ञान की सब अवस्थाओं के अनुकूल हैं। किन्तु इसे आलय, विपाक विज्ञान विमलं, विज्ञान भी कहते हैं। इसे आलय इसलिये कहते हैं कि इसमें सर्व सांक्लेशिक-धर्म संगृहीत हैं, और उनको वह निरुद्ध होने से रोकता है, क्योंकि आत्मदृष्टि आदि आत्मवत् इसमें आलीन हैं। केवल पृथग्जन और शैक्षों के अष्टम-विज्ञान के लिये आलय-संज्ञा उपयुक्त है, क्योंकि अर्हत् और अवैवर्तिक बोधिसत्व में सांक्लेशिक धर्म नहीं होते। अष्टम विज्ञान विपाक विज्ञान है क्योंकि संसार के आक्षेपक शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक का यह फल है। यह संज्ञा पृथग्जन, यानद्वय के आर्य तथा सब बोधिसत्वो के लिये उपयुक्त है, क्योंकि इन सब सत्वों में विपाकभूत अव्याकृत धर्म होते हैं। किंतु तथागतभूमि में इस संज्ञा का प्रयोग नहीं होता। अष्टम-विज्ञान विमल-विज्ञान है, क्योंकि यह अति विशुद्ध और अनास्रव धर्मों का आश्रय है। यह नाम केवल तथागत-भूमि के लिये उपयुक्त है।

वसुबंधु केवल आलय की व्यावृत्ति का उल्लेख करते हैं, क्योंकि संक्लेशालय के दोष गुरु होते हैं, क्योंकि दो सास्रव अवस्थाओं में से यह पहली अवस्था है जिसका आर्य प्रहाण करता है। अष्टम-विज्ञान की दो अवस्थाओं में विशेष करना चाहिए। एक सास्रव अवस्था है, दूसरी अनास्रव। सास्रव को आलय या विपाक कहते हैं। इसका व्याख्यान ऊपर हो चुका है। अनास्रव एकांतेन कुशल है। यह ५ सर्वग, ५ प्रतिनियत विषय और ११ कुशलचैत्त से संप्रयुक्त होता है। यह अकुशल और अनियत चैत्तों से संप्रयुक्त नहीं होता। यह सदा उपेक्षा वेदना से सहगत होता है। सर्व धर्म इसका विषय है, क्योंकि आदर्शज्ञान सर्व धर्म को आलंबन बनाता है।

आलय-विज्ञान के प्रवर्तन को व्यावृत्त कर अर्थात् हेतु-फल-भाव और धर्मों के नित्य प्रवाह को व्यावृत्त कर बोधिसत्व हेतु-प्रत्यय और धर्मों की क्रूरता से अपने को स्वतंत्र करते हैं और यह केवल विमल-विज्ञान से होता है।

अष्टम विज्ञान के पक्ष में आगम का प्रमाण और युक्ति—

हीनयान में केवल सात विज्ञान माने गए हैं किंतु हम दोनों यानों के आगम से तथा युक्ति से अष्टम-विज्ञान को सिद्ध करते हैं।

महायान—

महायान के शास्त्रों में आलय की बड़ी महिमा है। महायानाभिधर्मसूत्र में कहा है कि आलय-विज्ञान सूक्ष्म-स्वभाव है और इसकी क्रिया से ही इसकी अभिव्यक्ति होती है। यह अनादिकालिक है, सब धर्मों का समाश्रय है। बीज-विज्ञान होने से यह हेतु (धातु) है। शक्तियों का अविच्छिन्न संतान होने से वह सब धर्मों का उत्पाद करता है। समाश्रय होने से यह आदान-विज्ञान है, क्योंकि यह बीजों का आदान करता है और प्रत्युत्पन्न धर्मों का आश्रय है। इस विज्ञान के होनेपर प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों होती हैं। इस विज्ञान के कारण ही प्रवृत्तिभागीय धर्मों का आदान होता है और इसीके कारण निर्वाण का अधिगम भी होता है। वस्तुतः यही विज्ञान निवृत्ति के अनुकूल धर्मों का, निर्वाण के बीजों का, आदान करता है। संधिनिर्मोचन में कहा है कि आदान-विज्ञान गंभीर और सूक्ष्म है। वह सब बीजों को धारण करता है और ओघ के समान प्रवर्तित होता है। इस भय से कि कहीं मूढ़ पुरुष इसमें आत्मा की कल्पना न करें, मैंने मूढ़ पुरुषों के प्रति इसे प्रकाशित नहीं किया है। लंकावतार में भी आलय को 'ओघ' कहा है, जिसका विच्छेद नहीं है और जो सदा प्रवर्तित होता है।

अन्य निकायों के सूत्रों में भी छिपे तौर से आलयविज्ञान को स्वीकार किया है। महासांघिक निकाय के आगम में इसे मूलविज्ञान कहते हैं। चक्षुर्विज्ञानादि को मूल की संज्ञा नहीं दी जा सकती। आलयविज्ञान ही इन अन्य विज्ञानों का मूल है। स्थविर और विभज्यवादी इसे 'भवांग-विज्ञान' कहते हैं। 'भव' 'धातुत्रय' है; 'अंग' का अर्थ 'हेतु' है। अतः यह विज्ञान धातुत्रय का हेतु है। एक आलयविज्ञान ही जो सर्वगत और अव्युच्छिन्न है, यह विज्ञान हो सकता है। 'बुद्धघोस' के अनुसार यह भवांग ही अंगुत्तर, १, १० का 'प्रभास्वर चित्त' है। (अत्थसालिनी, १४०)। महीशासक आलय को 'संसारकोटिनिष्ठस्कन्ध' (कोश, ६।१२) कहते हैं। यह वह स्कंधधर्म है जो संसार के अपरांत तक अवस्थान करता है। (व्युत्पत्ति में अपरांतकोटिनिष्ठ है) वस्तुतः आलय-विज्ञान का अवस्थान वज्रोपम पर्यंत है। रूप का उपरम आरूप्य में होता है। आलय-विज्ञान के व्यतिरिक्त अन्य सर्व विज्ञान का उपरम असंज्ञिदेवा में तथा अन्यत्र होता है। विप्रयुक्त संस्कार रूप तथा चित्त-चैत्त से पृथक् नहीं हैं। अतः जिस स्कन्ध का उल्लेख महीशासक करते हैं वह आलय विज्ञान के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकता।

सर्वास्तिवादियों के एकोत्तरागम में भी 'आलय' का उल्लेख है। इस सूत्र में कहा है कि सत्व आलय में रत होते हैं। उसमें उनको संमोद होता है (अंगुत्तर, २।१३ आलयारामा भिक्खवे पजा आलयरता आलयस(म्)मुदिता)। इस वचन से स्पष्ट है कि आलय राग का आलंबन है। इसमें सत्वों का तबतक आसंग होता है जबतक वज्रोपम समाधि द्वारा आलय का विच्छेद नहीं होता। इसे वह अपनी आध्यात्मिक आत्मा अवधारित करते हैं।

कामवीतराग योगी और आर्य में भी आत्मस्नेह होता है, यद्यपि वह पंच कामगुणों से विरक्त होते हैं। पृथग्जन और शैक्ष दोनों का अभिष्वंग आलय-विज्ञान में होता है, चाहे अन्य उपादानस्कंधों में उनकी रति हो या न हो। इसलिये एकोत्तरागम को आलय शब्द से 'आलय-विज्ञान' इष्ट है।

आलय-विज्ञान की सिद्धि में युक्ति

१. बीजधारक चित्त---

आलय को सिद्ध करने में युक्ति यह है कि यह चित्त बीजों का धारक है। यदि यह न हो तो कोई अन्य चित्त नहीं है जो सांक्लेशिक और व्यावदानिक धर्मों के बीजों को धारण करे। सौत्रांतिक (मूल) कहते हैं कि स्कंध वासित होते हैं और बीजों को धारण करते हैं। दार्ष्टांतिकों के अनुसार पूर्व क्षण अपर क्षण को वासित करता है। अन्य सौत्रांतिक कहते हैं कि विज्ञानजाति वासित होती है। युआन च्वांग कहते हैं कि यह तीनों मत अयुक्त हैं। पंच-स्कंध बीजों को धारण नहीं करते। प्रवृत्ति विज्ञानों का विच्छेद निरोधसमापत्ति में तथा अन्य चार असंज्ञिक अवस्थाओं (निद्रा, मूर्छा, असंज्ञिसमापत्ति, असंज्ञिदेव) में होता है। अतः वह निरंतर बीजों को धारण नहीं कर सकते। विज्ञानों की उत्पत्ति इंद्रिय-अर्थ-मनस्कार से होती है और यह कुशल-अकुशल-अव्याकृत इन विजातीय स्वभावों के होते हैं। अतः वह एक दूसरे को वासित नहीं कर सकते।

अतः यह स्पष्ट है कि सूत्र का इन प्रवृत्ति विज्ञानों से आशय नहीं है, क्योंकि यह बीजोंका आदान नहीं करते। यह इस अर्थ में चित्त नहीं हैं कि यह धर्मों के बीजों का संचय करते हैं। इसके विपरीत आलय विज्ञान, जो सदा अव्युच्छिन्न रहता है, एक जातीय है और तिलपुष्पवत् है, वासित होता है। एक सर्व-बीजक चित्त के अभाव में क्लिष्ट और अनास्रव चित्त, जो प्रवृत्तिधर्म हैं, बीजों का उत्पाद नहीं करेंगे और पूर्व बीजोंकी वृद्धि न करेंगे। अतः उनका कोई सामर्थ्य न होगा। पुनः यदि प्रवृत्तिधर्मों की उत्पत्ति बीजों से नहीं होती तो फिर उनकी उत्पत्ति कैसे होगी? क्या आप उनको स्वयंभू मानते हैं? रूप और विप्रयुक्त भी सर्वबीजक नहीं हैं। यह चित्तस्वभाव नहीं हैं। यह बीजों का आदान कैसे करेंगे? चैत्त उच्छिन्न होते हैं। इनकी विकल्पोत्पत्ति है। यह स्वतंत्र नहीं हैं। यह चित्तस्वभाव नहीं हैं। अतः यह बीजों को धारण नहीं करते। इसलिये हमको प्रवृत्ति-विज्ञान से भिन्न एक चित्त मानना होगा जो सर्वबीजक है।

एक सौत्रांतिक मानते हैं कि छः प्रवृत्ति-विज्ञानों का सदा उत्तरोत्तर उदय-व्यय होता है और यह इंद्रिय-अर्थादि का संनिश्रय लेते हैं। प्रवृत्ति-विज्ञान के क्षणों को द्रव्यत्व में अन्यथात्व होता है किंतु यह सब क्षण समान रूप से विज्ञप्ति हैं। विज्ञान-जाति का अन्यथात्व नहीं होता। यह अवस्थान करती है। यह वासित होती है। यह जाति सर्वबीजक है। अतः इनके मत में सांक्लेशिक और व्यावदानिक धर्मों के हेतु-फल-भाव का निरूपण करने के लिये अष्टम विज्ञान की कल्पना अनावश्यक है।

इस मत का खंडन करने के लिये युआन च्वांग चार युक्तियां देते हैं:—

१. यदि आपकी विज्ञानजाति एक द्रव्य है तो आप वैशेषिकों के समान 'सामान्य-विशेष' को द्रव्य मानते हैं। यदि यह प्रज्ञप्तिसत् है तो जाति बीजों का धारक नहीं हो सकती, क्योंकि प्रज्ञप्तिसत् होने से यह सामर्थ्य-विशेष से रहित है।

२. आपकी विज्ञानजाति कुशल है या अकुशल? क्योंकि यह अव्याकृत नहीं है इसलिये यह वासित नहीं हो सकती। क्या यह अव्याकृत है? किंतु यदि चित्त कुशल या अकुशल है तो कोई अव्याकृत चित्त नहीं है। आपकी विज्ञानजाति यदि अव्याकृत और स्थिर है तो यह व्युच्छिन्न होगी। वस्तुतः यदि द्रव्य कुशल-अकुशल है तो जाति अव्याकृत नहीं हो सकती। महासत्ता के विपक्ष में विशेष सत्ता का वही स्वभाव होगा जो द्रव्यों का है।

३. आपकी विज्ञान-जाति संज्ञाहीन अवस्थाओं में तिरोहित होती है। यह स्थिर नहीं है। इसका नैरंतर्य नहीं है। अतः यह वासित नहीं हो सकती और सबीजक नहीं है।

४. अंततः जब अर्हत् और पृथग्जन के चित्त की एक ही विज्ञान-जाति है तो क्लिष्ट और अनास्रव धर्म एक दूसरे को वासित करेंगे। क्या आप इस निरर्थक वाद को स्वीकार करते हैं? इसी प्रकार विविध इंद्रियों की एक ही जाति होने से वह एक दूसरे को वासित करेंगी। किंतु इसका आप प्रतिषेध करते हैं। अतः आप यह नहीं कह सकते कि विज्ञान-जाति वासित होती है। दार्ष्टांतिक कहता है कि चाहे हम द्रव्य का विचार करें या जाति का, प्रवृत्ति विज्ञानों के दो समनंतर क्षण सहभू नहीं हैं। अतः यह वासित नहीं हो सकते, क्योंकि वासित करनेवाले और वासित होनेवाले को सहभू होना होगा।

सौत्रांतिक मतों की परीक्षा समाप्त होती है। अब हम अन्य निकायों की परीक्षा करेंगे।

महासांघिक—

महासांघिक विज्ञान-जाति को विचार-कोटि में नहीं लेते। यह मानते हैं कि प्रवृत्ति-विज्ञान सहभू हो सकते हैं। किंतु यह वासना के वाद को नहीं मानते। अतः प्रवृत्ति-विज्ञान सबीजक नहीं हैं।

स्थविर—

यह बीज-द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार रूप या चित्त का पूर्व-क्षण स्वजाति के अनुसार उत्तर क्षण का बीज होता है। इस प्रकार हेतु-फल-परंपरा व्यवस्थापित होती है। यह वाद अयुक्त है क्योंकि—

१. यहाँ वासना का कोई कृत्य नहीं है। पूर्व क्षण वासित नहीं करता अर्थात् बीज की उत्पत्ति नहीं करता। यह उत्तर क्षण का बीज कैसे होगा, क्योंकि यह उसका सहभू नहीं है?

२. एकबार व्युच्छिन्न होनेपर रूप या चित्त की पुनरुत्पत्ति न हो सकेगी। (जब ऊर्ध्व धातु में उपपत्ति होती है तब रूप-संतान व्युच्छिन्न होता है।)

३. दो यानों के अशैक्षों का कोई अंत्य स्कंध न होगा। उनके स्कंधों का संतान निर्वाण में निरुद्ध न होगा क्योंकि मरणासन्न अशैक्ष के रूप और चित्त अनागत रूप और चित्त के बीज हैं।

४. यदि दूसरे आक्षेप के उत्तर में स्थविर कहते हैं कि रूप और चित्त एक दूसरे के बीज हैं, (जिससे ऊर्ध्व धातु के भव के पश्चात् रूप की पुनरुत्पत्ति होनी है) तो हम कहेंगे कि न रूप और न प्रवृत्ति-विज्ञान वासित हो सकते हैं।

सर्वास्तिवादिन्—

त्रैयध्विक धर्मों का अस्तित्व है। हेतु से फल की उत्पत्ति है, जो पर्याय से ०:ी है। फिर क्यों

सबीजक-विज्ञान की कल्पना की जाय? वस्तुतः सूत्र का वचन है कि चित्त बीज है, चित्त क्लिष्ट-शुद्ध धर्मों का उत्पाद करता है। सूत्र ऐसा इसलिये कहता है क्योंकि रूप की अपेक्षा चित्त का सामर्थ्य कहीं अधिक है किंतु इसको यह विवक्षित नहीं है कि चित्त सबीजक है।

यह वाद अयुक्त है क्योंकि अतीत-अनागत धर्म न नित्य हैं और न प्रत्युत्पन्न। आकाश-पुष्प की तरह यह अवस्तु हैं। पुनः इनकी कोई क्रिया नहीं है। अतः यह हेतु नहीं हो सकते।

अतः अष्टम विज्ञान के अभाव में हेतु-फल-भाव नहीं होता।

१. **भावविवेक**–

यह त्रिलक्षणवाद को नहीं मानता। यह लक्षणों का प्रतिषेध करता है। इसलिये इसे अल-क्षण महायान कहते हैं। अनुमानाभास से यह आलय-विज्ञान और अन्य सब धर्मों का प्रतिषेध करता है। यह नय सूत्र का विरोध करता है। चार आर्य सत्यों की सत्ता का प्रतिषेध करना, हेतु-फल का प्रतिषेध करना मिथ्या दृष्टि है।

किंतु भावविवेक कहता है कि हम संवृति-सत्य की दृष्टि से इन सब धर्मों का प्रतिषेध नहीं करते। हम इनके तत्व, सत्य होने का ही प्रतिषेध करते हैं।

युआन च्वांग कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि के तीर्थिक भी ऐसा ही कहते हैं। यदि धर्म वस्तुसत् नहीं हैं तो बोधिसत्व संसार का त्याग करने के लिये बोधिसंभार के लिये क्यों प्रयत्नशील होंगे? कौन बुद्धिमान् पुरुष कल्पित शत्रुओं का (क्लेशों का) उन्मूलन करने के लिये शिलापुत्रक (=कुशल धर्म) को लेने जायगा और उनका उपयोग सेना की भाँति करेगा?

अतः एक सबीजक चित्त है जो सांक्लेशिक-व्यावदानिक धर्मों का और हेतु-फल का समाश्रय है। यह चित्त आलय है।

२. **विपाकचित्त**–

आलय-विज्ञान के सिद्ध करने के लिये हम एक युक्ति दे चुके हैं कि यह बीजों का धारक है। दूसरी युक्ति यह है कि सूत्र के अनुसार एक विपाकचित्त है जो कुशल-अकुशल कर्म से अभि-निर्वृत्त होता है। यदि आलय नहीं है तो इस विपाक-चित्त का अभाव होता है।

१. छः विज्ञान व्युच्छिन्न होते हैं। यह सदा कर्म-फल नहीं होते। यह विपाकचित्त नहीं हैं। हम जानते हैं कि जो धर्म विपाक हैं उनका पुनः प्रतिसंधान एकबार व्युच्छिन्न होनेपर नहीं होता (यथा जीवितेंद्रिय)। जब विज्ञानषट्क कर्म से अभिनिर्वृत्त होता है, यथा शब्द, तब उनका निरंतर संतान नहीं होता। अतः वह विपाकज हैं, विपाक नहीं है।

२. एक विपाक-चित्त मानना होगा जो आक्षेपक कर्म के समकक्ष है, जो धातुत्रय में पाया जाता है, जो सदाकालीन है, जो भाजन लोक और सेंद्रियक काय में परिणत होता है, जो सत्व का समाश्रय है।

वस्तुतः १. चित्त से पृथक् भाजनलोक और सेंद्रियक काय नहीं हैं। २. विप्रयुक्त (विशेषकर जीवितेंद्रिय) द्रव्यसत् नहीं हैं। ३. प्रवृत्ति-विज्ञान सदा नहीं होते। आलय के अभाव में कौन भाजन-लोक और काय में परिणत होगा? अंततः जहाँ चित्त है वहाँ सत्व है; जहाँ चित्त नहीं है वहाँ सत्व नहीं है। यदि आप आलय को नहीं स्वीकार करते तो कौन-सा धर्म—पाँच असंज्ञि-अवस्थाओं में—सत्व का आश्रय होगा?

३. समापत्ति की अवस्था में, यथा असमाहित अवस्था में, चाहे समापत्ति में उपनिध्यान हो या न हो, (निरोध-समापत्ति) में सदा कायिकी वेदना होती है। इसी कारण समाधि से व्युत्थान कर योगी सुख या शारीरिक थकावट का अनुभव करता है। अतः समापत्ति की सब अवस्थाओं में एक विपाक-चित्त निरंतर रहता है।

४. हम उन सत्वों का विचार करें जो बुद्ध नहीं हैं। आप यह स्वीकार करते हैं कि क्षण-विशेष में उनके ६ विज्ञान अव्याकृत और विपाक होते हैं। जिस काल में इन सत्वों के किसी अन्य जाति के विज्ञान (कुशल-अकुशल) होते हैं या जब इस जाति के विज्ञान होते हैं तब उनके एक विपाक चित्त भी होता है, क्योंकि जबतक वह बुद्ध नहीं हैं तबतक वह सत्व है।

३. गति और योनि--

यह तीसरी युक्ति है। सूत्र में उपदिष्ट है कि सत्व पाँच गतियों और चार योनियों में संसरण करते हैं। अष्टम-विज्ञान के अभाव में हम नहीं देखते कि गति और योनि क्या हैं।

१. गति को निरंतर रखनेवाला, सर्वगत, असंकीर्ण द्रव्यसत् होना चाहिए। यदि वह धर्म जो विपाक नहीं हैं, यथा प्रायोगिक कुशल, गति में पर्यापन्न होते तो गति संकीर्ण होती। क्योंकि जब एक सत्व (कामधातु का सत्व) रूपधातु के एक कुशल चित्त का उत्पाद करता तब वह एक ही समय में मनुष्य और देवगति का होता। (कोश, ३ पृष्ठ २१२) विपाकरूप (औपचयिक से अन्यत्र, कोश, १ पृष्ठ ६५) और कर्महेतुक पाँच विज्ञान गति में पर्यापन्न नहीं हैं क्योंकि आरूप्य में रूप और पंच विज्ञान का अभाव है। सब भवों में उपपत्तिलाभिक धर्म और कर्महेतुक मनोविज्ञान होते हैं। इन धर्मों में नैरंतर्य नहीं होता।

विप्रयुक्त द्रव्यसत् नहीं हैं। अतः उनका क्या विचार करना?

२. केवल विपाक-चित्त और संप्रयुक्त चैत्तों में चारों लक्षण होते हैं और यह गति तथा योनि हैं।

तथागत के कोई अव्याकृत, कोई विपाकधर्म नहीं है। अतः वह गति-योनि में संगृहीत नहीं हैं। उनमें कोई सास्रव धर्म नहीं है। अतः वह धातुओं में संगृहीत नहीं हैं। भगवत् के प्रपंच-बीज निरुद्ध हो चुके हैं।

गति-योनि, विपाक चित्त और तत्संप्रयुक्त चैत्त के स्वभाव के ही हैं। यह वस्तुतः विपाक हैं। यह विपाकज नहीं हैं। अतः यह अष्टम विज्ञान है।

४. उपादान—

सूत्र के अनुसार रूपींद्रिय काय उपात्त है। अष्टम-विज्ञान के अभाव में इस काय का उपादाता कौन होगा?

यदि पाँच रूपींद्रिय अपने अधिष्ठान के सहित ('शब्द' को वर्जित कर नौ रूपी आयतन) उपात्त होते हैं तो यह अवश्य एक चित्त के कारण है जो उनको उनको स्वीकृत करता है। छः प्रवृत्ति-विज्ञानों के अतिरिक्त यह चित्त केवल विपाक-चित्त हो सकता है। यह पूर्वकृत कर्म से आक्षिप्त होता है। यह कुशल-क्लिष्टादि नहीं है। यह केवल अव्याकृत है। यह तीनों धातुओं में पाया जाता है, इसका निरंतर संतान है।

सूत्र का यह कहने का आशय है कि प्रवृत्ति-विज्ञान में उपादान की योग्यता नहीं है, क्योंकि वह सभाग नहीं हैं, धातुत्रय में पाए नहीं जाते और इनका निरंतर संतान नहीं होता। सूत्र का यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि केवल विपाक चित्त में यह सामर्थ्य है, क्योंकि इसका यह अर्थ होगा कि बुद्ध का रूपकाय जो कुशल अनास्रव है, बुद्ध के चित्त से उपात्त नहीं है, क्योंकि बुद्ध में कोई विपाक-धर्म नहीं है। यहाँ केवल सास्रव काय की बात है और केवल विपाकचित्त इस काय को उपात्त करता है।

५. जीवित, उष्म और विज्ञान—

सूत्र के अनुसार जीवित, उष्म और विज्ञान अन्योन्य को आश्रय देकर संतान में अवस्थान करते हैं। हमारा कहना है कि अष्टम विज्ञान ही एक विज्ञान है जो जीवित और उष्म का समाश्रय हो सकता है।

१. शब्द, वायु आदि के समान प्रवृत्ति-विज्ञान का नैरंतर्य नहीं है और यह विकारी हैं। यह समाश्रय की निरंतर क्रिया में समर्थ नहीं हैं। अतः यह वह विज्ञान नहीं हैं जिनका सूत्र में उल्लेख है। किंतु विपाक-विज्ञान जीवित और उष्म के तुल्य व्युच्छिन्न नहीं होता और विकारी नहीं है। अतः उसकी यह क्रिया हो सकती है। अतः यही विज्ञान है जो जीवित और उष्म का समाश्रय है।

२. सूत्र में उपदिष्ट है कि यह तीन धर्म एक दूसरे को आश्रय देते हैं और आप मानते हैं कि जीवित और उष्म एकजातीय और अव्युच्छिन्न हैं। तो क्या यह मानना युक्त है कि यह विज्ञान प्रवृत्ति-विज्ञान है जो एक जातीय और अव्युच्छिन्न नहीं है?

३. जीवित और उष्म सास्रव धर्म हैं। अतः जो विज्ञान इनका समाश्रय है, वह अनास्रव नहीं है। यदि आप अष्टम विज्ञान नहीं मानते तो बताइए कि कौन-सा विज्ञान आरूप्य धातु के सत्व के जीवित का आश्रय होगा (आरूप्य में अनास्रव प्रवृत्ति-विज्ञान होता है)।

अतः एक विपाक-विज्ञान है। यह अष्टम विज्ञान है।

६. प्रतिसंधि-चित्त और मरण-चित्त

१. सूत्र-वचन है कि प्रतिसंधि और मरण के समय सत्व अचित्तक नहीं होते। समाहित चित्त नहीं होते, विक्षिप्त चित्त होते हैं। प्रतिसंधि-चित्त और मरण-चित्त केवल अष्टम विज्ञान है। इन दो क्षणों में चित्त तथा काय अस्वप्निका निद्रा या अतिमूर्छा की तरह मंद होते हैं। पटु प्रवृत्ति-विज्ञान उत्थित नहीं हो पाते।

इन दो क्षणों में छः प्रवृत्ति-विज्ञानों की न संविदित विज्ञप्ति-क्रिया होती है, न इनका संविदित आलंबन होता है। अर्थात् उस समय इन विज्ञानों का समुदाचार नहीं होता जैसे अचितन

अवस्था में उनका समुदाचार नहीं होता। क्योंकि यदि प्रतिसंधिचित्त और मरण-चित्त, जैसा कि आपका कहना है, प्रवृत्ति-विज्ञान हैं, तो उनकी विज्ञप्ति-क्रिया और उनका आलंबन संविदित होना चाहिए।

इसके विरुद्ध अष्टम विज्ञान अति सूक्ष्म और असंविदित होता है। यह आक्षेपक कर्म का फल है। अतः यह वस्तुतः विपाक है। एक नियतकाल के लिये यह एक अव्युच्छिन्न और एकजातीय संतान है। इसीको प्रतिसंधि-चित्त और मरण-चित्त कहते हैं। इसीके कारण इन दो क्षणों में सत्व अचित्तक नहीं होता और विक्षिप्त चित्त होता है।

२. स्थविरों के अनुसार इन दो क्षणों में एक सूक्ष्म मनोविज्ञान होता है जिसकी विज्ञप्ति-क्रिया और आलंबन असंविदित है।

यह सूक्ष्म विज्ञान अष्टम विज्ञान ही हो सकता है, क्योंकि कोई परिचित मनोविज्ञान असंविदित नहीं है।

३. मरण के समीप 'शीत' स्प्रष्टव्य काय में ईषत् ईषत् उत्पन्न होता है। यदि कोई अष्टम विज्ञान न हो जो काय को स्वीकृत करता है तो शनैः शनैः शीत का उत्पाद न हो। यह अष्टम विज्ञान काय के सब भागों को उपात्त करता है। जहाँ से यह अपना उपग्रहण छोड़ता है वहाँ शीत उत्पन्न होता है। क्योंकि जीवित, उष्म और विज्ञान असंप्रयुक्त नहीं हैं। जिस भाग में शीतोत्पाद होता है वह सत्वाख्य नहीं रहता।

पहले पाँच विज्ञानों के विशेष आश्रय हैं। यह समस्त काय को उपगृहीत नहीं करते। शेष रहा छठा विज्ञान—मनोविज्ञान। यह काय में सदा नहीं पाया जाता। यह प्रायः व्युच्छिन्न होता है और हम नहीं देखते कि तब शीतोत्पाद होता है। इसका आलंबन स्थिर नहीं है।

अतः अष्टम विज्ञान सिद्ध है।

७. विज्ञान और नामरूप—

सूत्र के अनुसार नामरूप-प्रत्ययवश विज्ञान होता है और विज्ञान प्रत्ययवश नामरूप होता है। यह दो धर्म नड़कलाप के सदृश अन्योन्याश्रित हैं और एकसाथ प्रवर्तित होते हैं।

प्रश्न यह है कि यह कौन-सा विज्ञान है।

इसी सूत्र में नामरूप का व्याख्यान है: "नामन् से चार अरूपी स्कंध और रूपसे कललादि समझना चाहिए। यह द्विक नामरूप (पंचस्कंध) और विज्ञान नड़कलाप के समान अन्योन्याश्रय से अवस्थित हैं। यह एक दूसरे के प्रत्यय हैं; यह सहभू हैं और एक दूसरे से पृथक् नहीं होते।

क्या आपका यह कहना है कि इस नामन् से पंच विज्ञानकाय इष्ट है और जो विज्ञान इस नामन् (और रूप) का आश्रय है वह मनोविज्ञान है? किंतु आप भूल जाते हैं कि कललादि अवस्था में यह पाँच विज्ञान नहीं होते और इसलिये उन्हें नामन् की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

पुनः छः प्रवृत्ति-विज्ञान का नैरंतर्य नहीं है। वह नामरूप के उपादान का सामर्थ्य नहीं रखते। यह नहीं कहा जा सकता कि वह नामरूप के प्रत्यय हैं।

अतः 'विज्ञान' से सूत्र को अष्टम विज्ञान इष्ट है।

८. आहार—

सूत्र-वचन है कि सब सत्व आहार-स्थितिक हैं। सूत्र-वचन है कि आहार चार हैं:— कवडीकार, स्पर्श, मनःसंचेतन और विज्ञान। मनःसंचेतन छंदसहवर्तिनी सास्रव चेतना है जो मनोज्ञ वस्तु की अभिलाषा करती है। यह चेतना विज्ञान-संप्रयुक्त है किन्तु इसे आहार की संज्ञा तभी मिलती है जब यह मनोविज्ञान से प्रयुक्त होती है।

विज्ञानाहार का लक्षण आदान है। यह सास्रव विज्ञान है। पहले तीन आहारों से उपचित होकर यह इंद्रियों के महाभूतों का पोषण करता है।

इसमें आठों विज्ञान संगृहीत हैं, किंतु यह अष्टम है जो आहार की संज्ञा प्राप्त करता है। यह एकजातीय है, यह सदा संतानात्मक है।

इन चारों को 'आहार' इसलिये कहते हैं कि यह सत्वों के काय और जीवित के आधार हैं। कवडीकार केवल कामधातु में होता है, अन्य दो तीन धातुओं में होते हैं। यह तीन चौथेपर आश्रित हैं। चौथे के रहनेपर ही इनका अस्तित्व है।

प्रवृत्ति-विज्ञानों के अतिरिक्त एक और विज्ञान विपाक-विज्ञान है। यह एकजातीय (सदा अव्याकृत), निरंतर, त्रैधातुक है और काय-जीवित का धारक है। भगवत् जब कहते हैं कि सब सत्व आहार-स्थितिक है तब उनका अभिप्राय इस मूल-विज्ञान से है।

९ निरोध-समापत्ति

सूत्र के अनुसार "जो संज्ञा-वेदित-निरोध-समापत्ति में विहार करता है उसके काय-वाक्-चित्त-संस्कार का निरोध होता है किंतु उसका आयु परिक्षीण नहीं होता, उष्म व्युपशांत नहीं होता, इंद्रियाँ परिभिन्न नहीं होतीं और विज्ञान काय का परित्याग नहीं करता।" यह विज्ञान अष्टम विज्ञान ही हो सकता है। अन्य विज्ञान के आकार औदारिक और चंचल हैं। सूत्र को एक सूक्ष्म, अचल, एकजातीय, सर्वगत विज्ञान इष्ट है जो जीवितादि का आदान करता है।

सर्वास्तिवादिन् के अनुसार यदि सूत्र-वचन है कि विज्ञान काय का परित्याग नहीं करता तो इसका यह कारण है कि समापत्ति से व्युत्थान होने पर विज्ञान की पुनरुत्पत्ति होती है। वह नहीं कहते कि चित्त-संस्कारों का इस समापत्ति में निरोध होता है, क्योंकि चित्त या विज्ञान का उत्पाद और निरोध उसके संस्कारों के साथ होता है। या तो संस्कार काय का त्याग नहीं करते या विज्ञान काय का त्याग करता है।

जीवित, उष्म, इंद्रिय का वही हाल होगा जो विज्ञान का। अतः जीवितादि के समान विज्ञान काय का त्याग नही करता।

यदि वह काय का त्याग करता है तो यह और सत्वाख्य नहीं है। कोई कैसे कहेगा कि निरोध-समापत्ति में पुद्गल निवास करता है?

यदि यह काय का त्याग करता है तो कौन इंद्रिय, जीवित, उष्म का आदान करता है? आदान के अभाव में यह धर्म निरुद्ध होंगे।

यदि यह काय का त्याग करता है तो प्रतिसंधान कैसे होगा? व्युत्थान-चित्त कहाँ से आएगा?

वस्तुतः जब विपाक-विज्ञान काय का परित्याग करता है तो इसकी पुनरुत्पत्ति पुनर्भव के लिये ही होती है।

सौत्रांतिक (दार्ष्टांतिक) मानते हैं कि निरोध-समापत्ति में चित्त नहीं होता। वह कहते हैं कि दो धर्म अन्योन्य बीजक हैं—चित्त और सेंद्रियक काय। चित्त उस काय का बीज है जो आरूप्यभव के पश्चात् प्रतिसंधि ग्रहण करता है और काय (रूप) उस चित्त का बीज है जो अचित्तक-समापत्ति के पश्चात् होता है।

यदि समापत्ति की अवस्था में बीजधारक विज्ञान नहीं है तो अबीजक व्युत्थान-चित्त की कैसे उत्पत्ति होगी? हमने यह सिद्ध किया है कि अतीत, अनागत, विप्रयुक्त वस्तुसत् नहीं हैं और रूप वासित नहीं होता तथा बीज का धारक नहीं होता। पुनः विज्ञान अचित्तक अवस्थाओं में रहता है, क्योंकि इन अवस्थाओं में इंद्रिय-जीवित-उष्म होते हैं, क्योंकि यह अवस्थाएँ सत्वाख्य की अवस्थाएँ हैं। अतः एक विज्ञान है जो काय का त्याग करता है।

अन्य सौत्रांतिकों का मत है कि निरोध-समापत्ति में मनोविज्ञान होता है। किंतु इस समापत्ति को अचित्तक कहते हैं। सौत्रांतिक उत्तर देते हैं कि यह इसलिये है, कि पंच-विज्ञान का वहाँ अभाव होता है। हमारा कथन है कि इस दृष्टि से सभी समापत्ति को 'अचित्तक' कहना चाहिए। पुनः मनोविज्ञान एक प्रवृत्ति-विज्ञान है। इसलिये इस समापत्ति में इसका अभाव होता है जैसे अन्य पाँच का होता है।

यदि इसमें मनोविज्ञान है तो तत्संप्रयुक्त चैत्त भी होना चाहिए। यदि वह है तो सूत्र-वचन क्यों है कि वहाँ चित्त-संस्कार (वेदना और संज्ञा) का निरोध होता है? इसे संज्ञा-वेदित-निरोध-समापत्ति क्यों कहते हैं?

जब सौत्रांतिक यह मानते हैं कि निरोध-समापत्ति में चेतना और अन्य चैत्त होते हैं तो उन्हें यह भी मानना पड़ेगा कि इसमें वेदना और संज्ञा भी होती है। किंतु यह सूत्र-वचन के विरुद्ध है। अतः इस समापत्ति में चैत्त नहीं होते।

एक सौत्रांतिक (भदंत वसुमित्र) कहते हैं कि समापत्ति में एक सूक्ष्म चित्त होता है किंतु चैत्त नहीं होते।

यदि चैत्त नही हैं तो चित्त भी नहीं है। यह नियम है कि धर्म नहीं होता जब उसके संस्कारों का अभाव होता है।

यह सौत्रांतिक मानते हैं कि निरोध-समापत्ति में चैत्तों से असहगत मनोविज्ञान होता है। इसके विरोध में हम यह सूत्र उद्धृत करते हैं: "मनस् और धर्मों के प्रत्ययवश मनोविज्ञान उत्पन्न होता है। त्रिक का संनिपात स्पर्श है। स्पर्श के साथ ही वेदना, संज्ञा और चेतना होती है।" यदि

मनोविज्ञान है तो त्रिक-संनिपातवश स्पर्श भी होगा और वेदनादि जो स्पर्श के साथ उत्पन्न होती हैं, वह भी होंगी। हम कैसे कह सकते हैं कि निरोध-समापत्ति में चैत्तों से असहगत मनोविज्ञान होता है? पुनः यदि निरोध-समापत्ति चैत्तों से वियुक्त है तो उसे चैत्त-निरोध-समापत्ति कहना चाहिए।

हमारा सिद्धांत यह है कि निरोध-समापत्ति में प्रवृत्ति-विज्ञान काय का परित्याग करते हैं और जब सूत्र कहता है कि विज्ञान काय का त्याग नहीं करता तो उसका अभिप्राय अष्टम विज्ञान से है। जब योगी निरोध-समापत्ति में समापन्न होता है तब उसका आशय शांत-शिव आदान-विज्ञान को निरुद्ध करने का नहीं होता।

यही युक्तियाँ असंज्ञि-समापत्ति और असंज्ञिदेवों के लिये हैं।

१०. संक्लेश-व्यवदान—

सूत्र में उक्त है कि "चित्त के संक्लेश से सत्व संक्लिष्ट होता है। चित्त के व्यवदान से सत्व विशुद्ध होता है।"

इस लक्षण का चित्त अष्टम-विज्ञान ही हो सकता है।

सांक्लेशिक धर्म तीन प्रकार के हैं: १. त्रैधातुक क्लेश जो दर्शन-हेय और भावना-हेय हैं; २. अकुशल, कुशल सास्रव कर्म; ३. आक्षेपक कर्म का फल, परिपूरक कर्म का फल।

(१) क्लेश-बीजों के धारक अष्टम विज्ञान के अभाव में क्लेशोत्पत्ति असंभव हो जाती है। जब (क) धातु का भूमि-संचार होता है, (ख) जब अक्लिष्ट चित्त की उत्पत्ति होती है।

(२) कर्म और फल के बीजों के धारक अष्टम विज्ञान के अभाव में कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक होगी, चाहे यह धातु-भूमि-संचार के पश्चात् हो या निरुद्ध स्वभाव के धर्म की उत्पत्ति के पश्चात् हो।

हम जानते हैं कि रूप और अन्य धर्म सर्वबीजक नहीं हैं। हम जानते हैं कि अतीत धर्म हेतु नहीं हैं।

किंतु यदि कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक है तो त्रैधातुक कर्म और फल उस योगी के के लिये क्यों न होंगे, जो निरुपधिशेष-निर्वाण में प्रवेश कर गया है? और क्लेश भी हेतु के बिना उत्पन्न होंगे।

प्रवृत्ति (प्रतीत्य समुत्पाद, संस्कार) तभी संभव है जब संस्कार-प्रत्ययवश विज्ञान हो। यदि अष्टम विज्ञान न हो तो यह हेतु-प्रत्ययता संभव नहीं है। यदि संस्कार से उत्पन्न विज्ञान 'नामरूप' में संगृहीत विज्ञान होता तो सूत्र में यह उक्त होता कि संस्कार-प्रत्ययवश नामरूप होता है।

स्थिरमति (पृ० ३७—३८) कहते हैं कि आलय-विज्ञान के बिना संसार-प्रवृत्ति युक्त नहीं है। आलय-विज्ञान से अन्य संस्कार-प्रत्यय-विज्ञान युक्त नहीं है। संस्कार-प्रत्यय-विज्ञान के अभाव में प्रवृत्ति का भी अभाव है। यदि आलय विज्ञान नहीं है तो संस्कार प्रत्यय-प्रतिसंधि-विज्ञान की कल्पना-या संस्कारभावित षड्विज्ञान-काय की कल्पना हो सकती है। किंतु पहले विकल्प में जो संस्कार प्राति-

संधिक-विज्ञान के प्रत्यय इष्ट हैं वह चिरकाल हुआ निरुद्ध हो चुके। जो निरुद्ध हैं वह असत् है और जो असत् है उसका प्रत्ययत्व नहीं है। अतः यह युक्त नहीं है कि संस्कार-प्रत्यय प्रतिसंधि-विज्ञान है। पुनः प्रतिसंधि के समय नामरूप भी होता है, केवल विज्ञान नहीं होता। किंतु सूत्र में है कि संस्कार-प्रत्यय विज्ञान होता है। सूत्र-वचन में 'नामरूप' शब्द नहीं है। इसलिये कहना चाहिए कि संस्कार-प्रत्यय नामरूप है, विज्ञान नहीं। और विज्ञान-प्रत्यय नामरूप कहाँ मिलेगा? क्या आप कहेंगे कि उत्तरकाल का नामरूप इष्ट है? तो प्रातिसंधिक नामरूप से इसमें क्या आत्मातिशय है जो वही विज्ञान-प्रत्यय हो, पूर्व विज्ञान-प्रत्यय न हो, पूर्व संस्कार प्रत्यय हो, उत्तर न हो? अतः संस्कार-प्रत्यय नामरूप ही हो। प्रतिसंधि-विज्ञान की कल्पना से क्या लाभ? अतः संस्कार-प्रत्यय प्रतिसंधि-विज्ञान युक्त नहीं है। संस्कार-परिभावित षड्-विज्ञान भी संस्कार-प्रत्यय विज्ञान नहीं है। इसका कारण यह है कि यह विज्ञान विपाक-वासना या निठ्यंद वासना का अपने में आधान नहीं कर सकते, क्योंकि इनमें कारित्र का निरोध है। यह अनागत में भी नहीं कर सकते क्योंकि उस समय अनागत उत्पन्न नहीं है, और जो अनुत्पन्न है वह असत् है। उत्पन्न पूर्व भी असत् है क्योंकि उस समय वह निरुद्ध हो चुका है। पुनः निरोध-समापत्ति आदि अचित्तक अवस्थाओं में संस्कार-परिभावित चित्त की उत्पत्ति संभव नहीं है। विज्ञान-प्रत्यय नामरूप न हो, षडायतन न हो, एवं यावत् जातिप्रत्यय जरा-मरण न हो। इससे संसार-प्रवृत्ति ही न हो। इसलिये अविद्या-प्रत्यय संस्कार, संस्कार-प्रत्यय आलय-विज्ञान और विज्ञान-प्रत्यय प्रतिसंधि में नामरूप होता है। यह नीति निर्दोष है।

३. व्यवदान—

व्यावदानिक धर्म तीन प्रकार के हैं—लौकिक मार्ग, लोकोत्तर मार्ग, क्लेशच्छेद का फल।

इन दो मार्गों के बीजों का धारण करनेवाले अष्टम विज्ञान के अभाव में इन दो मार्गों का पश्चात् उत्पाद असंभव है। क्या आप कहेंगे कि इनकी उत्पत्ति अहेतुक है? तो आपको मानना होगा कि निर्वाण में वही आश्रय पुनरुत्पन्न हो सकता है। यदि अष्टम विज्ञान न हो, जो सर्वदा लोकोत्तर मार्ग के धर्मता-बीज का धारण करता है, तो हम नहीं समझ सकते कि कैसे दर्शन-मार्ग के प्रथम क्षण की उत्पत्ति संभव है। वस्तुतः सास्रव धर्म (लौकिकाग्रधर्म) भिन्न स्वभाव के हैं और इस मार्ग के हेतु नहीं हो सकते। यह मानना कि प्रथम लोकोत्तर-मार्ग अहेतुक है, बौद्ध-धर्म का प्रत्याख्यान करना है। यदि प्रथम की उत्पत्ति नहीं होती तो अन्य भी उत्पन्न नहीं होंगे। अतः तीन यानों के मार्ग और फल का अभाव होगा।

अष्टम के अभाव में क्लेश-प्रहाण फल असंभव होगा।

स्थिरमति कहते हैं कि आलय-विज्ञान के न होनेपर निवृत्ति भी न होगी। कर्म और क्लेश संसार के कारण हैं। इनमें क्लेश प्रधान हैं। क्लेशों के आधिपत्य से कर्म पुनर्भव के आक्षेप में समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं। इस प्रकार क्लेश ही प्रवृत्ति के प्रधानतः मूल हैं। अतः इनके प्रहीण होनेपर संस्कार का विनिवर्तन होता है, अन्यथा नहीं। किंतु आलय के बिना यह प्रहाण युक्त नहीं है। क्यों युक्त नहीं है? संमुख होनेपर क्लेश का प्रहाण हो सकता है या जब उसकी बीजावस्था होती है। यह इष्ट नहीं है कि संमुख होनेपर क्लेश का प्रहाण हो। प्रहाणमार्ग में स्थित सत्वों का क्लेश, जो बीजावस्था ही में है नहीं प्रहीण होता। क्लेश-बीज अपने प्रतिपक्ष से ही प्रहीण होता है। और प्रतिपक्ष-चित्त भी क्लेश-बीज से अनुषक्त इष्ट है। किंतु क्लेशबीजानुषक्त चित्त क्लेश का प्रतिपक्ष नहीं हो सकता और क्लेश-बीज के प्रहाण के बिना संसार-निवृत्ति संभव नहीं है। अतः यह मानना

होगा कि आलय-विज्ञान अवश्य है जो अन्य विज्ञानों के सहभू क्लेश तथा उपक्लेश से भावित होता है, क्योंकि वह अपने बीज से पुष्टि का आदान करता है। जब वासना वृत्ति का लाभ करती है तब संतति के परिणाम-विशेष से चित्त से ही क्लेश-उपक्लेश प्रवर्तित होते हैं। इनका बीज आलय में व्यवस्थित है। यह तत्सहभू क्लेश-प्रतिपक्ष-मार्ग से अपनीत होता है। इसके अपनीत होनेपर इसके आश्रय से क्लेशों की पुनरुत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार सोपधिशेष निर्वाण का लाभ होता है तथा पूर्व कर्म से आक्षिप्त जन्म के निरुद्ध होने पर जब अन्य जन्म का प्रतिसंधान नहीं होता तब निरुपधिशेष निर्वाण होता है। इस प्रकार आलय-विज्ञान के होनेपर ही प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं।

इन विविध युक्तियों और आगम के वचनों के आधारपर युआन च्वांग सिद्ध करते हैं कि आलय-विज्ञान वस्तुसत् है। बौद्धों के धर्मता-वाद (फेनामनलिज्म) को आत्मा के सदृश किसी वस्तु के आधार की आवश्यकता थी। हम यह भी देखते हैं कि क्षणिक हेतु-फल-भाव का यह अव्युच्छिन्न ओघ प्राचीन प्रतीत्यसमुत्पाद का समुचित रूप था।

युआन च्वांग कहते हैं कि आलय-विज्ञान के अभाव में जो धर्मों के बीजों का धारण करता है, हेतु-फल-भाव असिद्ध हो जायगा। जैसा हमने ऊपर देखा है, क्षणिक होने के कारण विज्ञान निरंतर व्युच्छिन्न होते हैं और इसलिये वह स्वतः मिलने का सामर्थ्य नहीं रखते जिसमें वह सूत्र बन सके जो धर्मों के बीजों का धारण करे और इस प्रकार नैरंतर्य व्यवस्थापित करे। धर्मों को जोड़नेवाली यह कड़ी और यह नैरंतर्य आलय-विज्ञान से ही हो सकता है।

आलय-विज्ञान के बिना कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक होगी। वस्तुतः आलय के बिना धर्म स्वतः बीज के वहन में समर्थ नहीं हैं क्योंकि अतीत धर्म का अस्तित्व नहीं है और वह हेतु नहीं हो सकते। आलय के बिना हेतुप्रत्ययता असंभव है।

यह कहा जायगा कि आलय-विज्ञान का सिद्धांत बौद्धों के मूल धर्मवाद का प्रत्याख्यान है। नागार्जुन ने सर्वप्रथम इसका प्रत्याख्यान किया था। उन्होंने धर्म-नैरात्म्य, धर्मों की निःस्वभावता का वाद प्रतिष्ठापित किया था। उन्होंने धर्मसंज्ञा का विवेचन किया और कालवाद का निराकरण किया। उन्होंने सिद्ध किया कि धर्म शून्य है। युआन च्वांग एक दूसरे विचार से आरंभ करते हैं, किंतु वह भी धर्मवाद के कुछ कम विरुद्ध नहीं है। क्षणिक धर्मों और चैत्तों का निरंतर उत्पाद एक नित्य अधिष्ठान चाहता है। किंतु बौद्ध धर्म के मूल विचार इस कल्पना के विरुद्ध हैं।

युआन च्वांग आलय-विज्ञान की नितांत आवश्यकता मानते हैं, क्योंकि इसके बिना सत्व गति-योनि में संसरण नहीं कर सकते। विज्ञानवाद तथा उपनिषद्-वेदांत-सांख्य-वैशेषिक के विचारों में भेद इतना ही है कि यह मानते हैं कि अधिष्ठान (जिसे यह आत्मा या पुरुष कहते हैं) नित्य और स्थिर द्रव्य है जब कि विज्ञानवादी मानते हैं कि यह आश्रय उन्हीं धर्मों का समुदाय है जो अनादि हैं और जो अनंतकाल तक उत्पन्न होते रहेंगे। एक उसको अचल पर्वत की तरह देखता है, दूसरा जलौघ की तरह। विज्ञानवादी ने द्रव्य को अपना पुराना स्थान देना चाहा, किंतु यह सत्य है कि इस द्रव्य को उन्होंने एक जलौघ के सदृश माना। पुनः इनके अनुसार यह आश्रय स्वयं धर्म है और पूर्व धर्मों की वासनाओं से बना है।

युआन च्वांग कहते हैं कि यह आलय-विज्ञान अत्यंत सूक्ष्म है और विज्ञप्ति-क्रिया तथा आलंबन में यह असंविदित है। यह मरण के उत्तर तथा प्रतिसंधि के पूर्व रहता है। पुनः यह प्रतिसंधि-चित्त और मरण-चित्त है। यह विज्ञान का आलय जो अनियत और असंविदित है, जो प्रतिसंधि-काल से विद्यमान है, जो अस्वप्निका निद्रा में ही प्रकट होता है, यदि आत्मा का रूपान्तर नहीं है तो क्या है?

यहाँ आलय-विज्ञान के वही लक्षण हैं जो आत्मा के हैं और इसके सिद्ध करने के लिये युआन च्वांग ने जो प्रमाण दिए हैं वही प्रमाण कुछ वेदांती ब्रह्मन्-आत्मन् को सिद्ध करने के लिये देंगे। कलल में, सुषुप्ति में, मरणासन्न पुरुष में, नामरूप के अभाव में, जब विज्ञान-विशेष नहीं होते, केवल यह अस्पष्ट, सर्वगत विज्ञान शेष रह जाता है। इसके बिना इन क्षणों में स्थिति नहीं होती। आलय-विज्ञान की सिद्धि इससे भी होती है कि काय-जीवित को धारण करने के लिये विज्ञानाहार की आवश्यकता है। यह आलय एकजातीय, संतानात्मक और निरंतर है। यह काय-जीवित का धारक है। काय के लिये यह जीवितेंद्रिय के समान है। चित्त का यह आवश्यक धारक है। यह सर्व चित्त और जीवन का आधार है। आलय-विज्ञान और धर्म अन्योन्य हेतु-प्रत्यय हैं और सहभू हैं।

विपाक-विज्ञान का सविभंग विवेचन समाप्त हुआ। अब हम मननाख्य द्वितीय परिणाम का विचार करेंगे।

मनस्—

यह द्वितीय परिणाम है। वसुबंधु त्रिंशिका में कहते हैं:—"आलय-विज्ञान का आश्रय लेकर और उसको आलम्बन बनाकर मनस् का प्रवर्तन होता है। यह मन्यनात्मक है।" यह मनोविज्ञान से भिन्न है। यह मनोविज्ञान का आश्रय है। पुसें कहते हैं कि प्राचीन बौद्ध धर्म में ६ विज्ञान माने गए थे : चक्षुर्विज्ञानादि पंच विज्ञान-काय और मनोविज्ञान जो इंद्रियार्थ और अतीतादि धर्म का ग्रहण करता है। यह विज्ञान निरंतर व्युच्छिन्न होते हैं। विज्ञानवाद में एक सातवाँ विज्ञान मनस् और एक आठवाँ आलय अधिक है। मनस् मनोविज्ञान से भिन्न है। मनस् अंतरिंद्रिय, अंतःकरण है, क्योंकि यह केवल आलय को ही आलंबन बनाता है। यह मनस् आलय के समान संतान में उत्पन्न होता है। निद्रादि अचित्तिकावस्था में इसका अवस्थान होता है। विज्ञानवाद कहता है कि यह सूक्ष्म है। यह मनस् आर्य में अनास्रव तथा अन्य सत्वों में सदा क्लिष्ट होता है। मनस् को प्रायः 'क्लिष्ट मनस्' कहते हैं। इसीके कारण पृथग्जन आर्य नहीं होता यद्यपि उसका मनोविज्ञान आर्य का क्यों न हो।

युआन च्वांग कहते हैं कि मनस् का आश्रय आलय विज्ञान है। सब चित्त-चैत्तों के तीन आश्रय हैं। १. हेतु-प्रत्यय आश्रय—यह प्रत्यय बीज है जिसे पूर्व धर्म छोड़ते हैं। २. अधिपति-प्रत्यय आश्रय (इसे सहभू-आश्रय भी कहते हैं)। ३. समनंतर-प्रत्यय आश्रय—यह पूर्व निरुद्ध मनस् है। मनस् में ८ विज्ञान संगृहीत हैं। इसे क्रांत प्रत्यय या इंद्रिय कहते हैं।

हीनयान के लिये यह हेतु-प्रत्ययता पर्याप्त है। प्रत्येक पूर्व धर्म अपर धर्म को उत्पन्न कर निरुद्ध होता है। इसके विपरीत युआन च्वांग का मत है कि ऐसी हेतु-प्रत्ययता धर्मों की गति का

निरूपण करने के लिये अपर्याप्त है। युआन च्वांग यहाँ धर्मपाल को उद्धृत करते हैं जो कहते हैं कि बीजाश्रय में पूर्व चरिम नहीं है। यह सिद्ध नहीं है कि बीज के विनाश के पश्चात् अंकुर की उत्पत्ति होती है। और यह ज्ञात है कि अर्चि और दीप अन्योन्य-हेतु और सहभू-हेतु हैं। हेतु-फल का सहभाव है। इसलिये एक अधिपति-प्रत्यय आश्रय की आवश्यकता है। सब चित्त-चैत्त इस आश्रय के कारण होते हैं और इसके बिना इनका प्रवर्तन नहीं होता। इसे सहभू-आश्रय या सहभू-इंद्रिय भी कहते हैं। इसीलिये मनस् का आश्रय केवल बीज नहीं हैं किंतु आलय-विज्ञान स्वयं है।

आलय-विज्ञान के लिये प्रश्न है कि क्या इसको सहभू-आश्रय की आवश्यकता नहीं है और क्या यह स्वयं अवस्थान करता है? अथवा क्या यह कहना चाहिए कि यह अन्य सब का आश्रय है और पर्याय से अन्य सब इसके आश्रय हैं और यह आश्रय उन बीजों के रूप में है जिन्हें यह दूसरे उसमें संगृहीत करते हैं? युआन च्वांग उत्तर में कहते हैं कि आलय-विज्ञान, जो सब का मूलाश्रय है, स्वयं अपने आश्रित मनस् और तदाश्रित चित्त-चैत्त (प्रवृत्ति-विज्ञान) का आश्रय लेता है। दूसरे शब्दों में जहाँ एक ओर आलय-विज्ञान निरंतर विज्ञप्तियों का प्रवर्तन करता है वहाँ यह सदा विज्ञानों के उच्छेष (बीज) से जो उसमें संगृहीत होते हैं, पुनः निर्मित होता है। यह कहना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना युआन च्वांग का आलय-विज्ञान केवल ब्रह्मन्-आत्मन् होता।

समनंतर प्रत्यय-आश्रय के अभाव में चित्त-चैत्त उत्पन्न नहीं होते। चैत्त प्रत्यय हैं, क्रांत (=क्रम) आश्रय नहीं है। किंतु चित्त आश्रय है। अतः चित्त दोनों है।

मनस् के आश्रय के संबंध में हम यहाँ विविध मतों का उल्लेख करेंगे।

नंद के अनुसार मनस् का आश्रय संभूत अष्टम-विज्ञान नहीं है, किंतु अष्टम-विज्ञान के बीज हैं। यह मनस् के ही बीज हैं जो अष्टम में पाए जाते हैं, क्योंकि मनस् अव्युच्छिन्न है। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि इसकी उत्पत्ति एक संभूत विज्ञान के सहभू-आश्रय से होती है।

धर्मपाल के अनुसार मनस् का आश्रय संभूत अष्टम-विज्ञान और अष्टम के बीज दोनों हैं। यद्यपि यह अव्युच्छिन्न है तथापि यह विकारी है और इसीलिये इसे प्रवृत्ति-विज्ञान कहते हैं। अतः हमको कहना चाहिए कि संभूत अष्टम इसका सहभू-आश्रय है।

हेतु प्रत्यय-आश्रय—

नंद और जिनपुत्र के अनुसार फलोत्पाद के लिये बीज का अवश्य नाश होता है। किंतु धर्मपाल कहते हैं कि यह सिद्ध नहीं है कि बीज के विनाश के पश्चात् अंकुर की उत्पत्ति होती है और हम जानते हैं कि अर्चि और दीप अन्योन्य-हेतु और सहभू-हेतु हैं। वह कहते हैं कि बीज और संभूय धर्म अन्योन्योत्पाद करते हैं और सहभू हैं। इसीलिये योगशास्त्र (५, १२) में हेतु-प्रत्यय का लक्षण इस प्रकार दिया है—अनित्य धर्म (बीज और संभूय धर्म) अन्योन्यहेतु हैं और पूर्व बीज अपर बीज का हेतु है।

इसी प्रकार महायान-संग्रह में कहा है कि 'आलय-विज्ञान और (संभूय) क्लिष्ट धर्म एक दूसरे के हेतु-प्रत्यय हैं, यथा नड़कलाप होते हैं और एक साथ अवस्थान करते हैं। इसी ग्रंथ में (३८५, ३) अन्यत्र कहा है कि बीज और फल सहभू हैं।

अतः बीजाश्रय में पूर्व-चरिम नहीं है । अष्टम-विज्ञान और उसके चैत्तों का आश्रय उनके बीज हैं।

सहभू-आश्रय या अधिपति-आश्रय

नंद का मत—५ विज्ञान (चक्षुर्विज्ञानादि) का एकमात्र सहभू-आश्रय मनोविज्ञान है, क्योंकि जब पंच-विज्ञान काय का समुदाचार होता है तब मनोविज्ञान भी अवश्य होता है। जिन्हें इंद्रिय कहते हैं, वह पंच-विज्ञानों के सहभू-आश्रय नहीं हैं, क्योंकि पंचेंद्रिय बीजमात्र हैं, जैसा कि विंशतिका कारिका (९) में कहा है। इस कारिका का यह अभिप्राय है कि द्वादशायतन की व्यवस्था के लिये और आत्मा में प्रतिपन्न तीर्थिकों का खंडन करने के लिये बुद्ध पांच विज्ञान के बीजों को इंद्रिय संज्ञा देते हैं।

सप्तम और अष्टम विज्ञान का कोई सहभू-आश्रय नहीं है क्योंकि इनका बड़ा सामर्थ्य है और इस कारण यह संतान में उत्पन्न होते हैं।

मनोविज्ञान की उत्पत्ति उसके सहभू-आश्रय मनस् से है।

स्थिरमति का मत—पांच विज्ञानों के सदा दो सहभू-आश्रय होते हैं: पांच रूपींद्रिय और मनोविज्ञान। मनोविज्ञान का सदा एक सहभू-आश्रय होता है और यह मनस् है। जब यह पांच विज्ञानों का सहभू होता है तब इसका रूपींद्रिय भी आश्रय होता है। मनस् का एक ही सहभू-आश्रय है और यह अष्टम विज्ञान है। अष्टम विज्ञान विकारी नहीं है। यह स्वतः धृत होता है। अतः इसका सहभू-आश्रय नहीं है।

स्थिरमति नंद के इस मत को नहीं मानते कि रूपींद्रिय पाँच विज्ञानों के बीजमात्र हैं। वह कहते हैं कि यदि यह बीज हैं तो यह हेतु-प्रत्यय होंगे, अधिपति-प्रत्यय नहीं। पाँच विज्ञान के बीज कुशल-अकुशल होंगे। अतः पाँच इंद्रिय एकांतेन अव्याकृत न होंगी, जैसा शास्त्र कहते हैं। पाँच विज्ञान के बीज 'उपात्त' नहीं हैं। यदि पंचेंद्रिय बीज हैं तो वह उपात्त न होंगी। यदि पाँच इंद्रिय पाँच विज्ञानों के बीज हैं तो मनस् को मनोविज्ञान का बीज मानना पड़ेगा। पुनः योगशास्त्र में चक्षु-विज्ञानादि के तीन आश्रय बताये हैं। यदि चक्षु चक्षुर्विज्ञान का बीज है तो इसके केवल दो आश्रय होंगे।

धर्मपाल इन आक्षेपों को दूर करते हैं। वह कहते हैं कि इंद्रिय बीज हैं। किंतु यह वह बीज नहीं हैं जो हेतु-प्रत्यय हैं, जो प्रत्यक्ष पाँच विज्ञानों को जन्म देते हैं, किन्तु यह कर्मबीज हैं जो अधिपति-प्रत्यय हैं; जो पंचविज्ञान काय को अभिनिवृत्त करते हैं। किंतु स्थिरमति इस निरूपण से संतुष्ट नहीं हैं। वह इसका उत्तर देते हैं ।

शुभचन्द्र का मत—शुभचंद्र प्रायः स्थिरमति से सहमत हैं। किंतु वह कहते हैं कि अष्टम विज्ञान का एक सहभू आश्रय होना चाहिए। वह कहते हैं कि अष्टम विज्ञान भी अन्य विज्ञानों के सदृश एक विज्ञान है। अतः दूसरों की तरह इसका भी एक सहभू-आश्रय होना चाहिए। सप्तम और अष्टम विज्ञान की सदा सहप्रवृत्ति होती है। इसके मानने में क्या आपत्ति है कि यह एक दूसरे का आश्रय हैं?

शुभचंद्र का मत है कि अष्टम विज्ञान (संभूय-विज्ञान) का सहभू आश्रय मनस् है। जब कामधातु और रूपधातु में इसकी उत्पत्ति होती है तो चक्षु आदि रूपींद्रिय इसके द्वितीय आश्रय होते हैं। बीजों का आश्रय संभूय अष्टम या विपाक-विज्ञान है। जिस क्षण में वह इसमें वासित होते हैं तब उनका आश्रय वह विज्ञान भी होता है जो वासित करता है।

धर्मपाल का मत—पाँच विज्ञानों के चार सहभू आश्रय हैं: पंचेंद्रिय, मनोविज्ञान, सप्तम, अष्टम विज्ञान। इन्द्रिय पंच-विज्ञान के समविषय-आश्रय हैं, क्योंकि यह उन्हीं विषयों का ग्रहण करती हैं। मनोविज्ञान विकल्पाश्रय है। मनोविज्ञान सविकल्पक है किंतु अविकल्पक विज्ञानों का आश्रय है। मनस् संक्लेश-व्यवदान-आश्रय है क्योंकि इसपर इनका संक्लेश अथवा व्यवदान आश्रित है। अष्टम विज्ञान मूलाश्रय है। मनोविज्ञान के दो सहभू-आश्रय हैं—सप्तम और अष्टम विज्ञान। जब पंच-विज्ञान इसके आश्रय होते हैं तब यह अधिक पटु होता है, किंतु मनोविज्ञान के अस्तित्व के लिये पंच-विज्ञान आवश्यक नहीं हैं, अतः वह उसके आश्रय नहीं माने जाते। मनस् का केवल एक सहभू-आश्रय है। यह अष्टम-विज्ञान है। यथा लंकावतार (१०,२६९) में कहा है—आलय का आश्रय लेकर मन का प्रवर्तन होता है। अन्य प्रवृत्ति-विज्ञानों का प्रवर्तन चित्त (आलय) और मनस् का आश्रय लेकर होता है।

अष्टम विज्ञान का सहभू-आश्रय सप्तम विज्ञान है। योगशास्त्र में (६३, ११) कहा है कि सदा आलय और मनस् एक साथ प्रवर्तित होते हैं। अन्यत्र कहा है कि आलय सदा क्लिष्ट पर आश्रित होता है। 'क्लिष्ट' से 'मनस्' इष्ट है।

यह सत्य है कि शास्त्र में उपदिष्ट है कि तीन अवस्थाओं में (अर्हत् में, निरोध-समापत्ति-काल में, लोकोत्तर-मार्ग में) मनस् का अभाव होता है। किंतु इसका यह अर्थ है कि इन तीन अवस्थाओं में निवृत्त मनस् का अभाव होता है, सप्तम विज्ञान का नहीं। इसी प्रकार चार अवस्थाओं में (श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, अवैवर्तिक बोधिसत्व, तथागत) आलय की व्यावृत्ति होती है, किंतु अष्टम विज्ञान की नहीं होती।

जब अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति काम-रूप धातु में होती है तब ५ रूपीन्द्रिय भी आश्रय रूप में गृहीत होती हैं। किंतु अष्टम विज्ञान के लिये आश्रय का यह प्रकार आवश्यक नहीं है।

आलय-विज्ञान के बीज (बीज-विज्ञान) विषय का ग्रहण नहीं करते। अतः बीज आश्रय नहीं हैं।

संप्रयुक्त-धर्म (चैत्त) का वह विज्ञान आश्रय है जिससे वह सप्रयुक्त है। इस विज्ञान के आश्रय भी चैत्त के आश्रय हैं।

समनंतर प्रत्यय-आश्रय और क्रांत-आश्रय

नंद का मत—पंच-विज्ञान का उत्तरोत्तर क्षण-संतान नहीं होता क्योंकि इनका आवाहन मनोविज्ञान से होता है। अतः मनोविज्ञान उनका एकमात्र क्रांत-आश्रय है। क्रांत-आश्रय मार्ग का उद्घाटन करता है और पथ-प्रदर्शक होता है। (पंच-विज्ञान के समनंतर मनोविज्ञान होता है।

चक्षुर्विज्ञान के क्षण के उत्तर चक्षुर्विज्ञान या श्रोत्र-विज्ञान का क्षण नहीं होता, किंतु मनोविज्ञान का क्षण होता है।)

मनोविज्ञान का संतान होता है। पुनः पंच-विज्ञान इसका आवाहन कर सकते हैं। अतः ६ प्रवृत्ति-विज्ञान इसके क्रांत-आश्रय हैं।

सप्तम और अष्टम विज्ञान का अपना अपना संतान होता है। अन्य विज्ञान इनका आवाहन नहीं करते। अतः सप्तम और अष्टम क्रम से इनके क्रांत-आश्रय हैं।

स्थिरमति का मत—नंद का मत यथार्थ है यदि हम अवशित्व की अवस्था में, विषय से विज्ञान का सहसा संनिपात होने की अवस्था में, एक हीन विषय से संनिपात की अवस्था में पंच-विज्ञान का विचार करें। किंतु वशित्व की अवस्था का निष्यंद विज्ञान का, उद्भूत-वृत्ति के विषयका हमको विचार करना है।

बुद्ध तथा अंतिम तीन भूमियों के बोधिसत्व विषय वशित्व से समन्वागत होते हैं। इनकी इंद्रियों की क्रिया स्वरसेन होती है। यह पर्येषणा से वियुक्त होता है। एक इंद्रिय की क्रिया दूसरी इंद्रिय से संपन्न हो सकती है। क्या आप कहेंगे कि इन अवस्थाओं में पंच-विज्ञान का सन्तान नहीं होता।

विषय के संनिपात से पंच-विज्ञान की उत्पत्ति होती है। किंतु निष्यंद विज्ञान का आवाहन व्यवसाय मनस्कार के बल से, क्लिष्ट अथवा अनास्रव मनस्कार के बल से होता है। इन पाँच का (मनोविज्ञान के साथ) विषय में समवधान होता है। आप यह कैसे नहीं स्वीकार करते कि एक विज्ञान (पंच-विज्ञान) संतान है?

उद्भूत-वृत्ति के विषय में संमुखीभाव से काय और चित्त ध्वस्त हो जाते हैं। उस समय पंच-विज्ञान काय अवश्यमेव संतान में उत्पन्न होते हैं।

उष्ण नरक में (अग्नि के उद्भूत-वृत्तित्व से) तथा क्रीड़ा प्रदूषिक देवों में ऐसा होता है। अतः पंच-विज्ञान का क्रांत-आश्रय छः विज्ञानों में से कोई भी एक विज्ञान हो सकता है। वस्तुतः या तो वह अपना ही संतान बनाते हैं या अन्य प्रकार के विज्ञान से उनका आवाहन होता है।

मनोविज्ञान—जब पंच-विज्ञान की उत्पत्ति होती है तब मनोविज्ञान का एकक्षण अवश्य वर्तमान होता है। यह क्षण मनोविज्ञान के उत्तर क्षण को आकृष्ट करता है और उसका उत्पाद करता है। इस द्वितीयक्षण के यह पाँच क्रांत-आश्रय नहीं हैं। अतः पूर्ववर्ती मनोविज्ञान इसका क्रांत-आश्रय है। अचित्तकावस्था आदि में मनोविज्ञान व्युच्छिन्न होता है। जब पश्चात् इसकी पुनः उत्पत्ति होती है तो सप्तम और अष्टम-विज्ञान इसके क्रांत-आश्रय होते हैं।

नंद का विचार है कि अचित्तकावस्था के पश्चात् मनोविज्ञान का क्रांत-आश्रय सभाग अतीत क्षण (—इस अवस्था से पूर्व का मनोविज्ञान) होता है। इस बात को नंद उन पांच विज्ञानों के लिये क्यों नहीं स्वीकार करते जिनकी पुनरुत्पत्ति उपच्छेद के पश्चात् होती है? यदि पंच-विज्ञान के लिये यह वाद युक्त नहीं है तो मनोविज्ञान के लिये भी नहीं है।

सप्तम और अष्टम विज्ञान—जब प्रथम बार समता-ज्ञान से संप्रयुक्त मनस् की उत्पत्ति होती है

तब यह प्रत्यक्ष ही मनोविज्ञान के कारण होती है। अतः मनोविज्ञान इसका क्रांत-आश्रय है। मनस् का क्रांत-आश्रय मनस् भी है।

इसी प्रकार आदर्श-ज्ञान से संप्रयुक्त अष्टम-विमल-विज्ञान की उत्पत्ति सप्तम और षष्ठ-विज्ञान के क्रांत-आश्रय से होती है। अष्टम-विज्ञान का क्रांत-आश्रय अष्टम भी है।

धर्मपाल का मत—स्थिरमति का सिद्धांत सुष्ठु नहीं है।

कौन से धर्म क्रांत-आश्रय हो सकते हैं? जो धर्म सालंबन हैं, जो अधिपति हैं, जो समनंतर प्रत्यय हैं। जिन धर्मों में यह लक्षण होते हैं—अधिपति-चित्त के पूर्व क्षण—वह उत्तर चित्त-चैत्त के प्रति क्रांत-आश्रय होते हैं। क्योंकि वह मार्ग का उद्घाटन करते हैं और उनको इस प्रकार आकृष्ट करते है कि उनकी उत्पत्ति होती है। यह केवल चित्त हैं, चैत्त या रूपादि नहीं है।

एक ही आश्रय में आठ विज्ञान एक साथ प्रवर्तित हो सकते हैं। एक विसभाग विज्ञान दूसरे विसभाग विज्ञान का क्रांत-आश्रय कैसे हो सकता है। यदि कोई यह कहे कि यह क्रांत-आश्रय हो सकता है तो यह परिणाम निकलता है कि विसभाग विज्ञान एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते। किंतु यह सर्वास्तिवादिन् का मत है।

एक ही आश्रय में भिन्न विज्ञान—चाहे अल्पसंख्या में या बहुसंख्या में—एक साथ उत्पन्न होते हैं। यदि कोई यह मानता है कि यह एक दूसरे के समनंतर प्रत्यय हैं तो रूप भी रूप का समनंतर प्रत्यय होगा। किंतु शास्त्र कहता है कि केवल चित्त-चैत्त समनंतर प्रत्यय हैं।

हमारा सिद्धांत है कि आठ विज्ञानों में से प्रत्येक स्वजाति के धर्मों का क्रांत आश्रय है। चैत्तों के लिये भी यही नियम है।

मनस् का आलंबन—

अब हम मनस् के आलंबन का विचार करते हैं। मनस् का आलंबन वही विज्ञान है जो उसका आश्रय है अर्थात् आलय-विज्ञान है। हम यह भी विचार करेंगे कि आलंबन आलय-विज्ञान का स्वभाव है या यह केवल उसका आकार है जिन्हें आलय-विज्ञान स्वरसेन धारण करता है (बीज, चैत्त, धर्म)।

नंद का मत—मनस् का आलंबन आलय-विज्ञान का स्वभाव और तत्संप्रयुक्त चैत्त हैं। निमित्तभाग और आलय-विज्ञान के बीज मनस् के आलंबन नहीं हैं। वस्तुतः योगशास्त्र के अनुसार मनस् आत्मग्राह और आत्मीयग्राह से सदा सहगत होता है, यह आलय को आत्मवत् और तत्संप्रयुक्त धर्मों को आत्मीय अवधारित करता है।' यह धर्म आलय के चैत्त हैं। अतः यह उससे व्यतिरिक्त नहीं हैं। अतः यह व्याख्यान उन वचनों के विरुद्ध नहीं है जिसके अनुसार मनस् का आलंबन केवल आलय-विज्ञान है।

चित्रभानु का मत—नंद का मत अयुक्त है। उनके मत के समर्थन में कोई शास्त्रवचन नहीं है। मनस् का आलंबन दर्शनभाग और निमित्तभाग है। मनस् इनको क्रम से आत्म, आत्मीय अवधारित करता है। किंतु इन दो भागों के स्वभाव आलय में ही हैं (स्वसंवित्तिभाग में)।

३. **स्थिरमति का मत**--चित्रभानु का मत भी अयुक्त है। मनस् स्वयं आलय-विज्ञान और उसके बीजों को आलंबन बनाता है। यह आलय को आत्मन् और बीजों को आत्मीय अवधारित करता है। बीज भूतसद्द्रव्य नहीं हैं किंतु प्रवृत्ति-विज्ञान के सामर्थ्यमात्र हैं।

धर्मपाल का मत—*स्थिरमति का व्याख्यान अयुक्त है।* एक ओर रूप-बीजादि विज्ञान-स्कंध नहीं हैं। बीज भूतसत् हैं। यदि यह सांवृत असत् हों तो यह हेतु-प्रत्यय न हों। दूसरी ओर मनस् सदा सहज सत्कायदृष्टि से सहगत होता है। यह एकजातीय निरंतर संतान में स्वरसेन प्रवर्तित होता है। *क्या मनस् का* आत्मा और आत्मीय को अलग अलग अवधारित करना संभव है? हम नहीं देखते कि कैसे एक चित्त के शाश्वत-उच्छेद आदि दो आलंबन और दो ग्राह हो सकते हैं। और मनस् के, जो सदा से एकरस प्रवर्तित होता है, दो उत्तरोत्तर ग्राह नहीं हो सकते। धर्मपाल का निश्चय है कि मनस् का आलंबन केवल दर्शनभाग है, न कि अन्य भाग, क्योंकि यह भाग सदा एक जातीय निरंतर संतान होता है और नित्य तथा एक प्रतीत होता है और क्योंकि यह सब धर्मों का (चैत्तों को वर्जित कर) निरंतर आश्रय है। इसी भाग को मनस् अध्यात्म आत्मा अवधारित करता है। किंतु शास्त्र-वचन है कि मनस् में आत्मीयग्राह होता है। यह एक कठिनाई है। हमारा कहना है कि यह भाष्या-क्षेप है।

धर्मपाल के मत का यह परिणाम है कि विज्ञानवाद, जो मूल में अद्वयवाद था, ग्राह्यवाद की ओर झुकता है। आलय-विज्ञान में एक दर्शनभाग को मुख्यत: विशिष्ट करना और यह कहना कि केवल यही आकार, यही भाग, मनस् का आलंबन है इस कहने के बराबर है कि आलय-विज्ञान अव्यक्त ब्रह्मन् के समान नहीं, किंतु आत्मन् के समान है।

जब तक मनस् अपरावृत्त है तबतक मनस् का आलय-विज्ञान ही एकमात्र आलंबन होता है। जब आश्रय परावृत्ति होती है तब अष्टम विज्ञान के अतिरिक्त भूततथता और अन्य धर्म भी इसके आलंबन होते हैं।

मनस् के संप्रयोग—

कितने चैत्तों से मनस् संप्रयुक्त होता है? मनस् सदा चार मल क्लेशों से संप्रयुक्त होता है। यह चार मूल क्लेश इस प्रकार हैं—१. आत्ममोह—यह अविद्या का दूसरा नाम है। यह आत्मा के विषय में मोह और अनात्म में विप्रतिपत्ति उत्पन्न करता है। २. आत्मदृष्टि—यह आत्मग्राह है जिससे पुद्गल अनात्म धर्मों को आत्मवत् ग्रहण करता है। ३. आत्ममान—यह गर्व है जो कल्पित आत्मा का आश्रय लेकर चित्त की उन्नति करता है। ४. आत्मस्नेह—यह आत्मप्रेम है जो आत्मा में अभिष्वंग उत्पन्न करता है।

इन चार क्लेशों के अतिरिक्त अन्य चैत्तों से क्या मनस् का संप्रयोग नहीं होता?

एक मत के अनुसार मनस् का संप्रयोग केवल ९ चैत्तों से होता है। चार मूल क्लेश और स्पर्शादि पाँच सर्वत्रग।

कारिका में उक्त है कि आलय-विज्ञान सर्वत्रग से सहगत है। यह दिखाने के लिये कि मनस्

के सर्वत्रग आलय के सर्वत्रगों के सदृश अनिवृताव्याकृत नहीं हैं, कारिका कहती है कि यह उनसे अन्य हैं। चार क्लेश और ५ सर्वत्रग मनस् से सदा संप्रयुक्त होते हैं। मनस् ५ विनियत, ११ कुशल उपक्लेश और ४ अनियत से संप्रयुक्त नहीं होता।

एक दूसरे मत के अनुसार कारिका का यह अर्थ है कि मनस् से सहगत चार क्लेश, अन्य (अर्थात् उपक्लेश) और स्पर्शादि पंच होते हैं। एक तीसरे मत के अनुसार यह १० उपक्लेशों से संप्रयुक्त होता है। धर्मपाल के अनुसार सर्वक्लिष्ट चित्त ८ उपक्लेशों से संप्रयुक्त होता है। अतः मनस् स्पर्शादि ५ सर्वत्रग, ४ मूल क्लेश, ८ उपक्लेश और एक प्रज्ञा से युक्त होता है।

किन वेदनाओं से क्लिष्ट मनस् संप्रयुक्त होता है? एक मत के अनुसार यह केवल सौमनस्य से संप्रयुक्त होता है, क्योंकि यह आलय को आत्मवत् अवधारित करता है और उसके लिये सौमनस्य और प्रेम का उत्पाद करता है। एक दूसरे मत के अनुसार मनस् चार वेदनाओं से यथायोग संप्रयुक्त होता है। दुर्गति में दौर्मनस्य से, मनुष्यगति कामार्थ देवगति में, प्रथम-द्वितीय ध्यानभूमि के देवों के सौमनस्य से, तृतीय-ध्यान-भूमिके देवों में सुखवेदना से, इससे ऊर्ध्व उपेक्षा वेदना से, मनस् संप्रयुक्त होता है। एक तीसरा मत है: इसके अनुसार मनस् सदा से स्वरसेन एक जातीय प्रवर्तित होता है। यह अविकारी है। अतः यह उन वेदनाओं से संप्रयुक्त नहीं है जो विकारशील हैं। अतः यह केवल उपेक्षा-वेदना से संप्रयुक्त है। यदि इस विषय में आलय से भेद निर्दिष्ट करना होता तो कारिका में ऐसा उक्त होता।

मनस् के चैत्त निवृताव्याकृत हैं। मनस् से संप्रयुक्त चार क्लेश क्लिष्ट धर्म हैं। यह मार्ग में अंतराय हैं। अतः यह निवृत्त हैं। यह न कुशल हैं, न अकुशल। अतः यह अव्याकृत हैं। मनस् से संप्रयुक्त क्लेशों का आश्रय सूक्ष्म है, उनका प्रवर्तन स्वरसेन होता है। अतः यह आव्याकृत हैं।

मनस् के चैत्तों की कौन-सी भूमि है?

जब अष्टम-विज्ञान की उत्पत्ति कामधातु में होती है तो मनस् में संप्रयुक्त चैत्त (यथा आत्मदृष्टि) कायात्म होते हैं और इसी प्रकार यावत् भवाग्र समझना चाहिए। यह स्वरसेन प्रवर्तित होते हैं और सदा स्वभूमि के आलय-विज्ञान को आलंबन बनाते हैं। यह अन्य भूमि के धर्मों को कभी आलंबन नहीं बनाते। आलय-विज्ञान में प्रत्येक भूमि के बीज हैं किंतु जब यह किसी भूमि के कर्मों का विपाक होता है तो कहा जाता है कि यह भूमि विशेष में उत्पन्न हुआ है। मनस् आलय में प्रतिबद्ध होता है। अतः इसे आलय-विज्ञानमय कहते हैं। अथवा मनस् उस भूमि के क्लेशों से बद्ध होता है जहाँ आलय की उत्पत्ति होती है। आश्रय–परावृत्ति होनेपर मनस् भूमियों से वियुक्त होता है।

यदि वह क्लिष्ट मनस् कुशल-क्लिष्ट-अव्याकृत अवस्थाओं में अविशेष रूप से प्रवर्तित होता है तो उसकी निवृत्ति नहीं होती। यदि मनस् की निवृत्ति नहीं होती तो मोक्ष कहाँ से होगा? मोक्ष का अभाव नहीं है, क्योंकि अर्हत् के क्लिष्ट मनस् नहीं होता। उसने अशेष क्लेश का प्रहाण किया है।

मनस् से संप्रयुक्त क्लेश सहज होते हैं। अतः दर्शन-मार्ग से उनका (बीज रूप में) प्रहाण या उपच्छेद नहीं होता क्योंकि इनका स्वरसेन उत्पाद होता है। क्लिष्ट होने के कारण यह अहेय भी नहीं हैं।

इन क्लेशों के बीज जो सूक्ष्म हैं तभी प्रहीण होते हैं जब भावाग्रिक क्लेश-बीज सकृत् प्रहीण होते हैं। तब योगी अर्हत् होता है और क्लिष्ट मनस् का प्रहाण होता है। अर्हत् में वह बोधिसत्व भी संगृहीत हैं जो दो यानों के अशैक्ष होने के पश्चात् बोधिसत्व के गोत्र में प्रवेश करते हैं।

निरोध-समापत्ति की अवस्था में भी क्लिष्ट मनस् निरुद्ध होता है। यह अवस्था शांत और निर्वाण सदृश होती है। अतः क्लिष्ट मनस् उस समय निरुद्ध होता है, किंतु मनस् के बीजों का विच्छेदक नहीं होता। जब योगी समापत्ति से व्युत्थित होता है तब मनस् का पुनः प्रवर्तन होता है।

लोकोत्तर-मार्ग में भी क्लिष्ट मनस् नहीं होता। लौकिक मार्ग से क्लिष्ट मनस् का प्रवर्तन होता है। किंतु लोकोत्तर-मार्ग में नैरात्म्य दर्शन होता है जो आत्मग्राह का प्रतिपक्षी है। उस अवस्था में क्लिष्ट मनस् का प्रवर्तन नही हो सकता। अतः क्लिष्ट मनस् निरुद्ध होता है। उससे व्युत्थित होनेपर क्लिष्ट मनस् का पुनः उत्पाद होता है।

अक्लिष्ट मनस्

स्थिरमति के अनुसार मनस् अथवा सप्तम-विज्ञान सदा क्लिष्ट होता है। जब क्लेशावरण का अभाव होता है तब मनस् नहीं होता। वह अपने समर्थन में इन वचनों को उद्धृत करते हैं:—
१. मनस् सदा चार क्लेशों से संप्रयुक्त होता है (विल्यायन, १), २. मनस् विज्ञान-संक्लेश का आश्रय है (संग्रह, १), ३. मनस् का तीन अवस्थाओं में अभाव होता है।

किंतु धर्मपाल कहते हैं कि जब मनस् क्लिष्ट नहीं रहता तब वह अपने स्वभाव में (सप्तम विज्ञान) अवस्थान करता है। वह कहते हैं कि स्थिरमति का मत आगम और युक्ति के विरुद्ध है।

१. सूत्र वचन है कि एक लोकोत्तर मनस् है।

२. अक्लिष्ट और क्लिष्ट मनोविज्ञान का एक सहभू और विशेष आश्रय होना चाहिए।

३. योग-शास्त्र की शिक्षा है कि आलय-विज्ञान का सदा एक विज्ञान के साथ प्रवर्तन होता है। यह विज्ञान मनस् है। यदि निरोध-समापत्ति में मनस् या सप्तम-विज्ञान निरुद्ध होता है (स्थिरमति) तो योग-शास्त्र का यह वचन अयथार्थ होगा, क्योंकि उस अवस्था में आलय-विज्ञान होगा और उसके साथ दूसरा विज्ञान (मनस्) न होगा।

४. योग-शास्त्र में कहा है कि क्लिष्ट मनस् अर्हत की अवस्था में नहीं होता। किंतु इससे यह परिणाम न निकालिये कि इस अवस्था में सप्तम विज्ञान का अभाव होता है। शास्त्र यह भी कहता है कि अर्हत् की अवस्था में आलय-विज्ञान का त्याग होता है किंतु आप मानते हैं कि अर्हत् में अष्टम-विज्ञान होता है।

५. अलंकार और संग्रह में उक्त है कि सप्तम विज्ञान की परावृत्ति से समता-ज्ञान की प्राप्ति होती है। अन्य ज्ञानों के समान इस ज्ञान का भी एक तत्संप्रयुक्त अनास्रव विज्ञान आश्रय होना चाहिए। आश्रय के बिना आश्रित चैत्त नहीं होता। अतः अनास्रव सप्तम विज्ञान के अभाव में समता-ज्ञान का अभाव होगा। वस्तुतः यह नहीं माना जा सकता कि यह ज्ञान प्रथम ६ विज्ञानों पर आश्रित है क्योंकि यह आदर्श ज्ञान की तरह निरंतर रहता है।

६. यदि अशैक्ष की अवस्था में सप्तम विज्ञान का अभाव है तो अष्टम विज्ञान का कोई सहभू आश्रय नहीं होगा। किंतु विज्ञान होने से इसका ऐसा आश्रय होना चाहिए।

७. आप यह मानते हैं कि जिस सत्व ने पुद्गल-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं किया है उसमें आत्मग्राह सदा रहता है। किंतु जबतक धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं होता तबतक धर्मग्राह भी रहना है। यदि सप्तम विज्ञान निरुद्ध होता है तो इस धर्मग्राह का कौन-सा विज्ञान आश्रय होगा? क्या अष्टम विज्ञान होगा? यह असंभव है क्योंकि अष्टम विज्ञान प्रज्ञा से रहित है। हमारा निश्चय है कि यानद्वय के आर्यों में मनस् का सदा प्रवर्तन होता है क्योंकि इन्होंने धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं किया है।

८. योग-शास्त्र (५१, संग्रह) एक सप्तम विज्ञान के अस्तित्व की आवश्यकता को व्यवस्थित करता है जो कि षष्ठ का आश्रय है। यदि लोकोत्तर-मार्ग के उत्पाद के समय या अशैक्ष की अवस्था में सप्तम विज्ञान का अभाव है तो योग-शास्त्र की युक्ति में द्विविधि दोष होगा।

अतः पूर्वोक्त तीन अवस्थाओं में एक अक्लिष्ट मनस् रहता है। जिन वचनों में यह कहा गया है कि वहां मनस् का अभाव है वह क्लिष्ट मनस का ही विचार करते हैं, यथा आलय-विज्ञान का चार अवस्थाओं में अभाव होता है किंतु अष्टम विज्ञान का वहा अभाव नहीं होता।

मनस् या सप्तम विज्ञान के तीन विशेष हैं। यह पुद्गल-दृष्टि से या धर्मदृष्टि से या समता-ज्ञान से संप्रयुक्त होता है।

जब पुद्गल-दृष्टि होती है तब धर्म-दृष्टि होती है क्योंकि आत्मग्राह धर्मग्राह पर आश्रित है।

यानद्वय के आर्य आत्मग्राह का विच्छेद करते हैं किंतु यह धर्मनैरात्म्य का साक्षात्कार नहीं करते। तथागत का मनस् सदा समता-ज्ञान से संप्रयुक्त होता है। बोधिसत्व का मनस् भी समता-ज्ञान से संप्रयुक्त होता है, जब वह दर्शन-मार्ग का अभ्यास करते हैं या जब वह भावना-मार्ग में धर्म-शून्यता-ज्ञान या उसके फल का अभ्यास करते हैं।

मनस् की संज्ञा

मनस् मन्यतात्मक है। लंकावतार (१०, ४००) में कहा है—मनसामन्यते पुनः, ४६१। सर्वास्तिवादिन् कहते हैं कि अतीत मनोविज्ञान की संज्ञा मनस् है। षष्ठ आश्रय की प्रसिद्धि के लिये ऐसा है। उनके अनुसार जब वह प्रवृत्त होता है तब उसे मनोविज्ञान कहते हैं। किंतु यह कैसे माना जा सकता है कि अतीत और क्रियाहीन होनेपर इसे मनस् की संज्ञा दी जा सकती है?

अतः ६ विज्ञानों से अन्य एक सप्तम विज्ञान है जिसकी सदा मन्यना-क्रिया होती है और जिसे 'मनस्' कहते हैं।

मनस् के दो कार्य हैं। यह मन्यना करता है और आश्रय का काम देता है।

षड्-विज्ञान

अब हम विज्ञान के तृतीय परिणाम का वर्णन करेंगे। यह षड्विध है। यह विषय की उपलब्धि

है। विषय ६ प्रकार के हैं—रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य, धर्म। इनकी उपलब्धि विज्ञान कहलाती है। यह ६ हैं—चक्षुर्विज्ञानादि। यह षड्विज्ञान (विज्ञानकाय) मनस्पर आश्रित हैं। यह उनका समनंतर प्रत्यय है। किंतु केवल षष्ठ विज्ञान को ही मनोविज्ञान कहते हैं क्योंकि मनस् इसका विशेष आश्रय है। इसी प्रकार अन्य विज्ञानों को उनके विशेष आश्रय के अनुसार चक्षुर्विज्ञानादि कहते हैं।

यह विज्ञान कुशल, अकुशल, अव्याकृत होते हैं: अलोभ-अद्वेष-अमोह से संप्रयुक्त कुशल विज्ञान हैं। लोभ-द्वेष-मोह से संप्रयुक्त अकुशल हैं। जो न कुशल हैं, न अकुशल वह अव्याकृत हैं। इन्हें 'अद्वया', 'अनुभया' भी कहते हैं।

षड्-विज्ञान का चैतसिकों से संप्रयोग होता है। षड्-विज्ञान सर्वत्रग, विनियत, कुशल चैत्तों से क्लेश और उपक्लेश से, अनियतों से, तीन वेदनाओं से संप्रयुक्त होते हैं।

हम विज्ञानवाद की पद्धति के अनुसार इनका विचार सर्वास्तिवाद के चित्त-चैत्त के प्रकरण में कर चुके हैं।

एक प्रश्न भूततथता का है। यह दिखाता है कि विज्ञानवाद माध्यमिक से कितनी दूर चला गया है। इसका समानार्थक दूसरा शब्द धर्मता (धर्मों का स्वभाव) है। किंतु क्योंकि वस्तुतः धर्मों का स्वभाव शून्य (वस्तु शून्य) है इसलिये तथता का समानवाची दूसरा शब्द शून्यता है। यह असंस्कृत और नित्यस्थ है। नागार्जुन ने इसका व्याख्यान किया है।

किंतु स्थिरमति इसके कहने में संकोच नहीं करते कि यह खपुष्प के तुल्य प्रज्ञप्तिसत् है। युआन-च्वांग इसका विरोध करते हैं। वह कहते हैं कि इस विकल्प में कोई भी परमार्थ परमार्थ सत्य न होगा। तब किसके विपक्ष में कहेंगे कि संवृति सत्य है? तब किसी का निर्वाण कैसे होगा?

निभृत-भाव से विज्ञानवाद परमार्थ सत्य हो गया।

विज्ञप्तिमात्रता

मूल, मनस् और षड्-विज्ञान इन तीन विज्ञान परिणामों की परीक्षा कर युआन च्वांग विज्ञप्तिमात्रता का निरूपण करते हैं। हम पूर्व कह चुके हैं कि आत्मन् (पुद्गल) और धर्म विज्ञान परिणाम के प्रज्ञप्ति मात्र हैं। यह परिणाम दर्शनभाग और निमित्तभाग के आकार में होता है। हमारी प्रतिज्ञा है कि चित्त एक है किंतु यह ग्राह्य-ग्राहक के रूप में आभासित होता है अथवा दर्शन और निमित्त के रूप में आभासित होता है। दूसरे शब्दों में "विज्ञान का परिणाम मन्यना करनेवाला और जिसकी मन्यना होती है, जो विचारता है और जो विचारा जाता है, है। इससे यह अनुगत होता है कि आत्मा और धर्म (तत्) नहीं हैं। अतः जो कुछ है वह विज्ञप्ति-मात्रता है।" युआन च्वांग वसुबंधु त्रिंशिका में कहते हैं।

विज्ञान परिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते।
तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वविज्ञप्तिमात्रकम्॥ (कारिका १५)

किंतु स्थिरमति (पृ० ५३५–३६) इस कारिका का भिन्न अर्थ करते हैं। "विज्ञान का परिणाम विकल्प हैं। इस विकल्प से जो विकल्पित होता है वह नहीं है। अतः यह सब विज्ञप्ति-मात्र है।" स्थिरमति इस कारिका के भाष्य में कहते हैं कि त्रिविध विज्ञान-परिणाम विकल्प है: त्रैधातुक चित्त-चैत्त (अनास्रव चित्त-चैत्त के विपक्ष में) जो अध्यारोपित का आकार ग्रहण करते हैं 'विकल्प' कहलाते हैं। यथा (मध्यान्तविभाग, १, १०) कहा है—अभूतपरिकल्पस्तु चित्त-चैत्तास्त्रि-धातुकाः। यह विकल्प त्रिविध है:—ससंप्रयोग आलय-विज्ञान, क्लिष्टमनस्, प्रवृत्ति-विज्ञान। इस त्रिविध विकल्प से जो विकल्पित होता है (यद् विकल्प्यते) वह नहीं है। भाजनलोक, आत्मा, स्कंध-धातु-आयतन, रूप शब्दादिक विकल्प से विकल्पित होते हैं। यह वस्तु नहीं हैं। अतः यह विज्ञान परिणाम विकल्प कहलाता है क्योंकि इसका आलंबन असत् है। हम कैसे जानते हैं कि इसका आलंबन असत् है? जो जिसका कारण है वह उसके समग्र और अविरुद्ध होनेपर उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं। किंतु माया, गंधर्वनगर, स्वप्न, तिमिरादि में विज्ञान बिना आलंबन के ही उत्पन्न होता है। यदि विज्ञान का उत्पाद आलंबन प्रतिबद्ध होता तो अर्थाभाव से मायादि में विज्ञान न उत्पन्न होता। इसलिये पूर्व निरुद्ध तज्जातीय विज्ञान से विज्ञान उत्पन्न होता है, बाह्य अर्थ से नहीं। बाह्यार्थ के न होने पर भी यह होता है। पुनः एक ही अर्थ में परस्परविरुद्ध प्रतिपत्ति भी देखी गई है। और एक का परस्पर-विरुद्ध अनेकात्मकत्व युक्त नहीं है। अतः यह मानना चाहिए कि विकल्प का आलंबन असत् है। यह समारोपांत का परिहार है। अब हम अपवादान्त का परिहार करते हैं। कारिका कहती है—'तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्।' अर्थात् क्योंकि विषय के अभाव में परिणामात्मक विकल्प से विकल्पित (विकल्प्यते) नहीं है इसलिये सब विज्ञप्ति मात्र है। 'सर्व' से आशय त्रैधातुक और असंस्कृत से है (पृ० ३६)। विज्ञप्ति से अन्य कर्ता या करण नहीं है।

स्थिरमति का यह अर्थ इस आधार पर है कि विकल्प के गोचर का अस्तित्व नहीं है। विकल्प का विषय असत् है। इस प्रकार विज्ञान की लीला स्वप्न-मायावत् है।

हम देखते हैं कि विज्ञानवाद का यह विवेचन अब भी नागार्जुन की शून्यता के लगभग अनुकूल है। इसके विपरीत धर्मपाल का विज्ञानवाद स्वतंत्र होने लगता है। अब वाक्य यह हो जाता है कि विज्ञान या विज्ञप्ति में सब कुछ है। धर्मपाल कहते हैं कि दर्शनभाग और निमित्तभाग के आभास में विज्ञान का परिणाम होता है। विज्ञान से तात्पर्य तीन विज्ञानों के अतिरिक्त (आलय-क्लिष्ट-मनस्, षड्विज्ञान) उनके चैत्त से भी है। पहले भाग को 'विकल्प' कहते हैं और दूसरे भाग को 'यद् विकल्प्यते'। यह दोनों भाग परतंत्र हैं। अतः विज्ञान से परिणत इन दो भागों के बाहर आत्मन् और धर्म नहीं हैं। वस्तुतः ग्राहक-ग्राह्य, विकल्प-विकल्पित के बाहर कुछ नहीं है। इन दो भागों के बाहर कुछ नहीं है जो भूतद्रव्य हो। अतः सब धर्म-संस्कृत-असंस्कृत, रूपादि वस्तु सत् और प्रज्ञप्ति-सत्—विज्ञान के बाहर नहीं हैं। सामासिक रूप से 'विज्ञप्ति मात्रता' का अर्थ यह है कि हम उस सब का प्रतिषेध करते हैं जो विज्ञान के बाहर है (परिकल्पित—आत्मन् और धर्म) किंतु हम चैत्त, भागद्वय, रूपतथता का प्रतिषेध नहीं करते जहाँतक वह विज्ञान के बाहर नहीं हैं।

नंद का मत ग्राह्यवाद की ओर झुकता है। नंद के लिये केवल दो भाग हैं। दर्शनभाग निमित्त भाग में परिणत होता है। यह निमित्त भाग परतंत्र है और बहिःस्थित

विषय के रूप में अवभासित होता है। नंद संवित्तिभाग नहीं मानते। उनके लिये परिकल्प (विकल्प) और परिकल्पित अर्थात् ग्राहक और ग्राह्य निमित्तभाग के संबंध में दो मिथ्याग्राह हैं। वस्तुतः जब कोई दर्शनभाग को आत्मवत्-धर्मवत् अवधारित करता है तब यह भी निमित्तभाग के संबंध में एक ग्राह ही है। यह ग्राह बिना आलंबन के नहीं है।

क्योंकि विकल्प निमित्तभाग का ग्रहण बहिःस्थित आत्मधर्म के आकार में करता है इसलिये एवं ग्रहीत, एवं विकल्पित आत्मधर्म का स्वभाव नहीं है।

अतः सब विज्ञप्ति मात्र हैं। अभूतपरिकल्प का अस्तित्व सब मानते हैं।

पुनः मात्र शब्द से विज्ञान से अव्यतिरिक्त धर्मों का प्रतिषेध नहीं होता। अतः तथता, चैत्तादि वस्तुसत् हैं।

युआन च्वांग का इस कारिका का अर्थ ऊपर दिया गया है। वह नागार्जुन के शून्यतावाद के समीपवर्ती एक पुराने वाद का उपयोग स्वतंत्र विज्ञानवाद के लिये करते हैं। यामागुँची का भी यही मत है।

युआन च्वांग अपने वाद की पुष्टि में आगम से वचन उद्धृत करते हैं और युक्तियाँ देते हैं। यहाँ हम आगम के कुछ वाक्य देते हैं। दशभूमक सूत्र में उक्त है :—चित्तमात्रमिदं यदिदं त्रैधातुकम्। पुनः सन्धिनिर्मोचन सूत्र में भगवत् कहते हैं :—विज्ञान का आलंबन विज्ञान-प्रतिभास मात्र है। इस सूत्र में मैत्रेय भगवत् से पूछते हैं कि समाधिगोचर बिंब चित्त से भिन्न या अभिन्न हैं। भगवत् प्रश्न का विसर्जन करते हैं कि यह भिन्न नहीं हैं क्योंकि यह बिंब विज्ञानमात्र हैं। भगवत् आगे कहते हैं कि विज्ञान का आलंबन विज्ञान का प्रतिभासमात्र है। मैत्रेय पूछते हैं कि यदि समाधिगोचर बिंब चित्त से भिन्न नहीं है तो चित्त कैसे उसी चित्त का ग्रहण करने के लिये लौटेगा। भगवत् उत्तर देते हैं कि कोई धर्म अन्य धर्म का ग्रहण नहीं करता किंतु जब विज्ञान उत्पन्न होता है तब यह उस धर्मके आकार का उत्पन्न होता है और लोग कहते हैं कि यह उस धर्म को ग्रहण करता है।

लंकावतार में है कि धर्म चित्त-व्यतिरिक्त नहीं हैं। घनव्यूह में है—चित्त, मनस्, विज्ञान (षड्विज्ञान) का आलंबन भिन्न-स्वभाव नहीं है। इसीलिये मैं कहता हूँ कि सब (संस्कृत और असंस्कृत) विज्ञानमात्र हैं, विज्ञान व्यतिरिक्त वस्तु नहीं है।

आगम और युक्ति सिद्ध करते हैं कि आत्मा और धर्म असत् हैं। तथता या धर्मों का परिनिष्पन्न स्वभाव (शून्यता) और विज्ञान (परतंत्र स्वभाव) असत् नहीं हैं। आत्म-धर्म सत्व से बाह्य हैं। शून्यता और विज्ञान असत्व से बाह्य हैं। यह मध्यमा प्रतिपत् है। इसीलिये मैत्रेय मध्यांत विभाग में कहते हैं :—अभूत परिकल्प है। इसमें परमार्थतः द्वय (ग्राह्य-ग्राहक) नहीं हैं। इस अभूत-परिकल्प में शून्यता है। यह अभूत-परिकल्प शून्यता में है। अतः मैं कहता हूँ कि धर्म न शून्य है, न अशून्य। सत्व है, वस्तुतः असत्व, सत्व है। यह मध्यमा-प्रतिपत् है।

पूसें किसी टीका से देते हैं—सास्रव चित्त या त्रैधातुक चित्त (अनास्रव ज्ञान का प्रतिपक्ष)

जो अभूत-परिकल्प है किंतु द्वय—ग्राह्य-ग्राहक आत्म-धर्म—जो समारोपित हैं, नहीं है। सास्रव चित्त में शून्यता है अर्थात् इस चित्त में द्वयाभाव है। शून्यता में सास्रव चित्त है। इस प्रकार जो द्वय विनिर्मुक्त है उसमें द्वय का समारोप होता है। अतः धर्म शून्य नहीं हैं क्योंकि वह शून्य और अभूत-परिकल्प हैं। वह अशून्य नहीं हैं क्योंकि वहाँ द्वय (ग्राह्य और ग्राहक, आत्मन् और धर्म) का अभाव है। जब अभूत परिकल्प है, द्वय नहीं है, अभूत परिकल्प में शून्यता है और शून्यता में अभूत परिकल्प है तब यही भावविवेक की परमार्थतः शून्यता और हीनयान के परमार्थतः सत्त्व के बीच मध्यमा प्रतिपत् है। भावविवेक के विरुद्ध हम संवृति और परमार्थ इन दो सत्यों को मानते हैं और हीनयान के विरुद्ध हम ग्राह्य-ग्राहक का प्रतिषेध करते हैं। हम देखते हैं कि किस प्रकार सूक्ष्म रूप से हल्के हल्के अद्वय विज्ञानवाद नागार्जुन के शून्यतावाद से पृथक् होता है किंतु प्रकाश्य रूप से स्वीकार नहीं करता।

युआन च्वांग कुछ आक्षेपों का उत्तर देते हैं।

यदि बाह्यार्थ केवल आध्यात्मिक विज्ञान है जो बाह्यार्थ के रूप में प्रतिभासित होता है तो आप (१) अर्थ के काल-देश-नियम का क्या व्याख्यान करते हैं (देश-विशेष में ही पर्वत दिखाई पड़ता है); (२) संतान के अनियम और क्रिया के अनियम का क्या व्याख्यान करते हैं (सबलोग एक ही वस्तु देखते हैं सब लोग जल पीते हैं) ? युआन च्वांग एक शब्द में उत्तर देते हैं कि स्वप्न में जो दृश्य हम देखते हैं कि उनका भी यही है।

विज्ञानवाद और शून्यता के संबंध के विषय में एक दूसरा प्रश्न है। क्या विज्ञप्तिमात्रता स्वयं शून्य नहीं है ? युआन च्वांग कहते हैं—नहीं, क्योंकि इसका ग्रहण नहीं होता (अग्राह्यत्वात्)। इसीलिये धर्मों का ग्रहण वस्तुसत् के रूप में होता है (धर्मग्राह का विपर्यास) यद्यपि परमार्थतः वह केवल धर्मशून्यता है। हम आरोपित धर्मों के असत्व से धर्मशून्यता मानते हैं न कि अवाच्य और परिकल्पित रहित विज्ञप्तिमात्रता के असत्व के कारण। विज्ञप्तिमात्रता को धर्मशून्यता कहते हैं क्योंकि यह परिकल्पित नहीं है।

विंशतिका (कारिका, १७) की वृत्ति से तुलना कीजिए :—कोई धर्मनैरात्म्य में प्रवेश करता है जब उसको यह उपलब्धि होती है कि यह विज्ञप्ति ही है जो रूपादि धर्मों के आकार में प्रतिभासित होती है। किंतु आक्षेप करनेवाला कहता है कि यदि सर्वथा धर्म नहीं है तो क्या विज्ञप्ति मात्र भी नहीं है? विज्ञानवादी उत्तर देता है कि हम यह नहीं कहते कि धर्मों के परमार्थतः असत्व की प्रतिज्ञा करने से धर्म-नैरात्म्य में प्रवेश होता है किंतु उनके परिकल्पित स्वभाव का प्रतिषेध करने से होता है। उनका नैरात्म्य है क्योंकि उनका ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं है। इस आत्मा से उनका नैरात्म्य है (तेन आत्मना तेषां नैरात्म्यम्)। केवल मूढ़ पुरुष उनका ग्राह्य-ग्राहक भाव मानते हैं। किंतु जो अनभिलाप्य आत्मा बुद्धों का विषय है इसका नैरात्म्य नहीं है (वृत्ति, पृ० ६)।

संवृति सत्य के विषय में भी माध्यमिक और विज्ञानवाद में अंतर होने लगता है। माध्यमिकों के अनुसार संवृति सत्य अर्थात् धर्मों का आभास जैसा कि इंद्रियों को उपलब्ध होता है **अनधिष्ठान** है। शून्य धर्मों से शून्य धर्म प्रभूत होते हैं। इसके विपरीत विज्ञानवादी के लिये संवृति धर्मों का अस्तित्व धर्मता-तथता-विशेष के कारण है यद्यपि साथ ही साथ वह शून्यता-विशेष-वश शून्य हैं।

एक दूसरा आक्षेप है। यदि रूपायतन विज्ञान-स्वभाव है तो विज्ञान रूप के लक्षणों के साथ क्यों प्रतिभासित होता है, और क्यों पर्वतादि कठिन और सभाग संतान का रूप-धारण करते हैं। इसका उत्तर यह है कि रूप विपर्यस्त-संज्ञा का भी स्वभाव है। तथाकथित रूप को द्रव्यसत् के रूप में गृहीत करने से विज्ञान विपर्यास का उत्पाद करता है और स्वरसेन भ्रान्ति उत्पन्न करता है और यही उसकी मुख्य वृत्ति है।

नोदक पुनः कहता है कि क्या आप प्रत्यक्ष विषय का प्रतिषेध करते है ? उत्तर है कि जिस क्षण में रूप-शब्दार्थ की उपलब्धि होती है उस क्षण में यह बाह्यवत् गृहीत नहीं होता। पश्चात् मनोविज्ञान (मनोविकल्प) बाह्य-संज्ञा को विपर्यसितः उत्पन्न करता है। अतः जो प्रत्यक्ष का विषय होता है वह विज्ञान का निमित्तभाग है। यह निमित्तभाग विज्ञान का परिणाम मात्र है। अतः कहा जाता है कि यह है और विज्ञान (दर्शनभाग) भी है जो निमित्तभाग की उपलब्धि करता है। किंतु यह सब केवल विकल्पधर्म हैं। संक्षेप में अर्थ रूप नहीं है किंतु रूपाभास है। यह बहिःस्थित नहीं है किंतु बाह्याभास है।

एक और आक्षेप है : "आप कहते हैं कि जो रूप हम जाग्रत अवस्था में देखते हैं वह विज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं है, यथा जो रूप स्वप्न में देखा जाता है, किंतु स्वप्न से जागकर हम जानते हैं कि स्वप्न में देखा रूप केवल विज्ञान है फिर जागते हुए हम क्यों नहीं जानते कि जाग्रत अवस्था में देखा हुआ रूप विज्ञान मात्र है ? (शंकर, २।२।२९) इसका उत्तर यह है कि जब हम स्वप्न देखते हैं हमको ज्ञान नहीं हो सकता। जागनेपर हमको स्मृति होती है कि हमने स्वप्न देखा है और हमको उसका स्वभाव ज्ञात होता है। इसी प्रकार जो रूप जाग्रत अवस्था में देखते हैं उसका भी यही हाल है। अभीतक हमारी सच्ची जागृति नहीं हुई है। जब बोधि का अधिगम होगा तब संसार विषयात्मक स्वप्न की स्मृति होगी और उनका यथार्थ स्वभाव ज्ञात होगा। इसके पूर्व हमारी स्वप्नावस्था है। इसीलिये भगवत् संसार को दीर्घरात्रि का उल्लेख करते हैं (विंशतिका, कारिका १७ ख-ग) यह विचार बर्कले के अति समीप है।

इस मत में (अब्सोलुट एकास्मिज्म) वस्तु-ग्रहण के सदृश विज्ञप्ति का क्रियात्मक आकार नहीं है। विज्ञप्ति मायावत् है। जब एक विज्ञान की उत्पत्ति होती है तब यह विज्ञान वस्तुतः सक्रिय नहीं होता। यह बाह्य धर्मों का प्रत्यक्ष ग्रहण नहीं करता जिस प्रकार हाथ या चिमटी से कोई वस्तु पकड़ी जाती है। इसकी अभिव्यक्ति उस प्रकार नहीं होती जैसे सूर्य अपने प्रकाश को फैलाता है। किंतु यह आदर्श के तुल्य है और यह बाह्यार्थ के सदृश अवभासित होता है। संक्षेप में कोई धर्म नहीं है जो दूसरे धर्म का (चित्त से बहिःस्थित धर्म का) ग्रहण करता है। किंतु जब विज्ञान की उत्पत्ति होती है तब यह तत्सदृश आभासित होता है। (सन्धिनिर्मोचन)।

किंतु एक आक्षेप यह है कि विज्ञप्तिमात्रता का परचित्त-ज्ञान से कैसे सामंजस्य होता है। अथवा इसी को दूसरे प्रकार से यों कह सकते हैं कि विज्ञप्तिमात्रता में मेरा चित्त या तथाकथित मेरी आत्मा का चित्त तथाकथित परचित्त को कैसे नहीं जानता ? इसका जो उत्तर दिया जाता है वह कठिनाइयों से खाली नहीं है किंतु इसकी युक्ति कुछ कम अपूर्व नहीं है।

हम अपने चित को परचित्त की अपेक्षा अधिक अच्छा नहीं जानते। और क्यों? क्योंकि यह दो ज्ञान अज्ञान से आच्छादित होने के कारण स्वविषय की अनिर्वचनीयता को नहीं जान सकते, यथा बुद्ध उसे जान सकते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्यों में इस विषय की वितथ-प्रतिभासिता होती है क्योंकि उनमें अभी ग्राह्य-ग्राहक भाव का उपच्छेद नहीं हुआ है।

पुनः युआन च्वांग इस स्थानपर अकस्मात् इसका प्रयत्न करते हैं जिसमें उनका विज्ञानवाद शुद्ध ग्राह्यवाद में पतित न हो। वह कहते हैं कि विज्ञप्तिमात्रतावाद की यह शिक्षा नहीं है कि केवल एक विज्ञान है, केवल मेरा विज्ञान है। यदि केवल मेरा विज्ञान है तो १० दिशाओं के विविध पृथग्जन—आर्य, कुशल-अकुशल, हेतु-फल सब तिरोहित हो जाते हैं। कौन बुद्ध मुझे उपदेश देता है और किसको बुद्ध उपदेश देते हैं? किस धर्म का वह उपदेश करते हैं और किस फल के अधिगम के लिये?

किंतु विज्ञानवाद की यह शिक्षा कभी नहीं रही है। **विज्ञप्ति** से प्रत्येक सत्व के आठ **विज्ञान** समझना चाहिए। यह विज्ञान स्वभाव हैं। इनके अतिरिक्त विज्ञप्ति से विज्ञान-संप्रयुक्त ६ प्रकार के चैत्त, दो भाग—दर्शन और निमित्त—जो विज्ञान और चैत्त के परिणाम हैं, विप्रयुक्त जो विज्ञान, चैत्त और रूप के आकार विशेष हैं और **तथता** जो शून्यता को प्रकट करती है और जो पूर्व चार प्रकार का यथार्थ स्वभाव है, समझना चाहिए। इसी अर्थ में सर्व धर्म विज्ञान से भिन्न नहीं हैं। इसीलिये यह कहा जाता है कि सर्व धर्म **विज्ञप्ति** हैं और **मात्र** शब्द इसलिये अधिक है जिसमें विज्ञान से भिन्न रूपादि द्रव्यसत् के अस्तित्व का प्रतिषेध किया जाय।

जो विज्ञप्तिमात्रता की शिक्षा को यथार्थ जानता है वह विपर्यास से रहित हो पुण्यसंभार और ज्ञानसंभार के लिये यत्नशील होता है। धर्मशून्यता में उसका आशु प्रतिवेध होता है और वह महाबोधि का साक्षात्कार कर संसार से अर्दित जीवों का परित्राण करता है। किंतु सर्वथा अपवादक जो शून्यता की विपर्यास संज्ञा रखता है (भावविवेक) आगम और युक्ति का व्यपकर्ष करता है और इन लाभों का प्रतिलाभ नहीं कर सकता। यह अपवादक माध्यमिक हैं जो सर्वथा शून्यता का दावा करते हैं और अद्वय विज्ञानवाद की ओर जो शून्यवाद का झुकाव है उसका विरोध करते हैं।

एक मुख्य प्रश्न यह है कि किस प्रकार परमार्थ विज्ञानवाद का सामंजस्य बाह्यलोक के व्यावहारिक अस्तित्व से हो सकता है। माना कि विज्ञान के बाहर कुछ नहीं है। तब बाह्य प्रत्यय के अभाव में हम विकल्प की विविधता का निरूपण कैसे करते हैं?

युआन च्वांग वसुबंधु का उत्तर उद्धृत करते हैं (त्रिंशिका, कारिका १८)—'सर्व बीज विज्ञान का अन्योन्यवश उस उस प्रकार से परिणाम होता है। इस विज्ञान से वह वह विकल्प उत्पन्न होते हैं।' अर्थात् बिना किसी बाह्य प्रत्यय के आलय-बीज के विविध परिणाम होने के कारण, और संभूत अष्ट विज्ञानों की अन्योन्य सहायता से अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं।

सर्व बीज विज्ञान से विविध शक्ति और बीज अभिप्रेत हैं जो अपने फल अर्थात् सर्व-संस्कृत-धर्मों का उत्पाद करते हैं। यह फल मूल-विज्ञान में विद्यमान हैं। इन शक्तियों या बीजों को 'सर्व बीज' कहते हैं—क्योंकि वह चार प्रकार के फल का उत्पादन करते हैं (निष्यद, विपाक, पुरुषकार,

अधिपति-फल)। केवल विसंयोग-फल वर्जित है। यह बीजों से उत्पन्न नहीं होता। यह असंस्कृत है। यह फल बीजफल नहीं है। मार्ग की भावना से इस फल की प्राप्ति होती है। बीज ज्ञान का उत्पाद करते हैं; ज्ञान संयोजन का उपच्छेद करते हैं और इसीसे विसंयोग का सम्मुखीभाव होता है। किंतु बीज से सर्व विकल्प का अनंतर उत्पाद होता है।

हम बीजों को 'विज्ञान' से प्रज्ञप्त कर सकते हैं क्योंकि उनका स्वभाव विज्ञान में है। यह मूलविज्ञान से व्यतिरिक्त नहीं हैं। कारिका 'बीज' और विज्ञान' दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग इस कारण करती है कि कुछ बीज विज्ञान नहीं हैं (यथा, सांख्यों का प्रधान) और कुछ विज्ञान बीज नहीं हैं (प्रवृत्ति विज्ञान)।

अष्टम विज्ञान के बीज (जो विकल्पों के हेतु-प्रत्यय हैं) अन्य तीन प्रत्ययों की सहायता से उस उस परिणाम (अन्यथा भाव) को प्राप्त होते हैं अर्थात् जन्मावस्था से पाककाल को प्राप्त होते हैं। यह तीन प्रत्यय प्रवृत्ति-विज्ञान हैं। सब धर्म एक दूसरे के निमित्त होते हैं।

इस प्रकार आलय-विज्ञान से अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं।

आगे चलकर युआन च्वांग विज्ञानवाद की पुष्टि आलंबन प्रत्ययवाद से करते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार है:-वह सद्धर्म जिसपर चित्त-चैत्त आश्रित हैं और जो उन चित्त-चैत्त से ज्ञात है जो तत्सदृश उत्पन्न होते हैं।

वस्तुतः सर्व विज्ञान का इस प्रकार का आलंबन होता है, क्योंकि किसी चित्त का उत्पाद बिना आश्रय के नहीं हो सकता, बिना उस अर्थ की उपलब्धि के नहीं हो सकता जो उसके अभ्यंतर हैं।

इसीसे मिलता-जुलता एक दूसरा प्रश्न यह है कि यद्यपि आभ्यंतर विज्ञान है तथापि बाह्य प्रत्ययों के अभाव में भावों की अव्युच्छिन्न-परंपरा का क्या विवेचन है? युआन च्वांग उत्तर में वसुबंधु की कारिका १९ उद्धृत करते हैं:--

कर्मणोवासना ग्राहद्वय वासनायासह ।।

क्षीणे पूर्वविपाके अन्यद् विपाकं जनयन्ति तत् ।।

"पूर्व विपाक के क्षीण होनेपर कर्म की वासना ग्राहद्वय की वासना के साथ अन्य विपाक को उत्पन्न करती है।"

अर्थात् पूर्वजन्मोपचित कर्म के विपाक के क्षीण होनेपर कर्मवासना (कर्मबीज) और आत्म-ग्राह-धर्मग्राह की वासना (बीज) उपभुक्त विपाक से अन्य विपाक का उत्पाद करती है। यह विपाक आलय-विज्ञान है। (स्थिरमति का भाष्य, पृ० ३७)।

युआन च्वांग की व्याख्या इस प्रकार है:—निश्चय ही सर्व कर्म चेतना कर्म है। और कर्म उत्पन्न होने के अनंतर ही विनष्ट होता है। अतः हम नहीं मान सकते कि यह स्वतः फलोत्पादन का सामर्थ्य रखता है। किंतु यह मूल विज्ञान में फलोत्पादक बीज या शक्ति का आधान करता है। इन शक्तियों की वासना संज्ञा है। वस्तुतः यह शक्तियाँ कर्मजनित वासना से उत्पन्न होती हैं।

इन शक्तियों का एक अव्युच्छिन्न संतान इनके परिपाक-काल पर्यन्त रहता है। तब अंतिम शक्ति फल अभिनिर्वृत्ति करती है।

साथ साथ युआन च्वांग यह दिखाते हैं कि किस प्रकार बीजों की वासना का कार्य ग्राहक और ग्राह्य इन दो दिशाओं में होता है। मिथ्या आत्मग्राह इन वासनाओं और विपर्यास के बीजों के लिये सब से अधिक उत्तरदायी है। इससे जो बीज उत्पन्न होते हैं उनके कारण सत्वों में अपने पराये का (मिथ्या) विशेष होता है। चित्त की इस सहज विरूपता के कारण संसार-चक्र अनंतकाल तक प्रवर्तित रहता है। इसके लिये बाह्य प्रत्ययों की कल्पना करने का कोई कारण नहीं है। अथवा आध्यात्मिक हेतु-प्रत्यय जन्म-मरण-प्रबंध (या धर्म-प्रबंध) का पर्याप्त विवेचन है। यह बाह्य प्रत्यय पर आश्रित नहीं है। अतः यह विज्ञप्ति मात्र है। एक बार धर्मों की अनादिकालिक प्रवृत्ति से विज्ञप्तिमात्रता का सामंजस्य स्थापित कर युआन च्वांग त्रिस्वभाव के बाद से इसका सामंजस्य दिखाते हैं। बौद्धागम में स्थान स्थान पर स्वभावत्रय की देशना है।

चीनी ग्रंथों में विज्ञानवाद के निकाय का एकनाम 'धर्मलक्षण-समय' है। तीन स्वभाव, तीन लक्षण कहलाते हैं (व्युत्पत्ति, पृ० ५८७)। बोधिसत्व भूमि में 'धर्मलक्षण' शब्द मिलता है वहाँ भाव अभाव से विमुक्त वस्तु को 'धर्मलक्षण संगृहीत' कहा है। (दूसरे शब्दों में यह वस्तु 'तथता' धर्मता है)।

वसुबंधु ने त्रिस्वभाव-निर्देश नामक एक ग्रंथ लिखा है। जी. तिश्री को नेपाल में मूल संस्कृत ग्रथ मिला था। इसका प्रकाशन विश्वभारती से हुआ है। हम इस ग्रंथ का संक्षेप अन्यत्र दे रहे हैं। यहाँ हम धर्मपाल आदि आचार्यों का मत दे रहे हैं।

स्वभाव तीन हैं:—परिकल्पित, परतंत्र, परिनिष्पन्न।

१. परिकल्पित स्वभाव

स्थिरमति के अनुसार जिस जिस विकल्प से हम जिस जिस वस्तु का परिकल्प करते हैं वह वह वस्तु परिकल्पित स्वभाव है। विकल्प्य वस्तु अनंत है। यह आध्यात्मिक और बाह्य हैं यहाँतक कि बुद्धधर्म भी विकल्प्य वस्तु है। जो वस्तु विकल्प का विषय है उसकी सत्ता का अभाव है: अतः वह विद्यमान नहीं है। अतः वह परिकल्पित स्वभाव है। नंद के अनुसार अनंत अभूत परिकल्प या अभूत विकल्प हैं जो परिकल्पना करते हैं। उस उस विकल्प से विविध विकल्प्य वस्तु परिकल्पित होते हैं। अर्थात् स्कंधआयतन-धातु आदि आत्म-धर्म के रूप में मिथ्या गृहीत होते हैं। इन्हें परिकल्पित स्वभाव कहते हैं, यह स्वभाव परमार्थतः नहीं है।

धर्मपाल के अनुसार 'विकल्प' वह विज्ञान है जो परिकल्पना करता है। यह षष्ठ और सप्तम विज्ञान हैं जो आत्मन् और धर्म में अभिनिविष्ट हैं। स्थिरमति के अनुसार यह आठों सास्रव विज्ञान और उनके चैत्त हैं। स्थिरमति कहते हैं कि सब सास्रव विज्ञान परिकल्पना करते हैं क्योंकि उनका अभूत परिकल्प स्वभाव है। इसके विपक्ष में धर्मपाल कहते हैं कि यह अयथार्थ है कि सब सास्रव विज्ञान परिकल्पना करते हैं। यह सत्य है कि त्रैधातुक सर्व विज्ञान 'अभूत परिकल्प' कहलाते हैं। इनकी यह संज्ञा इसलिये है क्योंकि सास्रव विज्ञान तत्त्व का साक्षात्कार नहीं करता। सास्रव चित्त ग्राह्य-ग्राहक के रूप में अवभासित होता है, इससे यह परिणाम सदा नहीं निकलता कि कुशल अथवा

अथवा अव्याकृत चित्त में ग्राह होता है और यह आत्मधर्म की परिकल्पना में समर्थ है। वस्तुतः इस पक्ष में बोधिसत्व तथा यान द्वय के आर्योंको पृष्ठलब्ध ज्ञान (यह एक अनास्रव ज्ञान है) में ग्राह होगा क्योंकि यह ज्ञान ग्राह्य-ग्राहक के रूप में अवभासित होता है। तथागत के उत्तर ज्ञान में भी ग्राह होगा क्योंकि बुद्धभूमि-सूत्र में कहा है कि बुद्धज्ञान (आदर्श ज्ञान) काय, भूमि आदि विविध प्रतिबिंबों को अवभासित करता है।

इसमें संदेह नहीं कि यह कहा गया है कि आलय विज्ञान का आलंबन परिकल्प के बीज हैं। किंतु यह नहीं कहा गया है कि यह विज्ञान केवल इनका ग्रहण करता है।

सिद्धांत यह है कि केवल दो विज्ञान—षष्ठ और सप्तम—परिकल्पना करते हैं। कारिका में जो 'येन येन विकल्पेन' उक्त है उसका कारण यह है कि विकल्प विविध हैं। यह कौन वस्तु है जिनपर विकल्प का कारित्र होता है? संग्रह के अनुसार यह वस्तु परतंत्र है। यह निमित्तभाग है क्योंकि यह भाग विकल्पक का आलंबन प्रत्यय है। किंतु प्रश्न है कि क्या परिनिष्पन्न भी इस चित्त का विषय नहीं है? हमारा उत्तर है कि तत्त्व अथवा परिनिष्पन्न मिथ्याग्राह का आलंबन विषय नहीं है। हाँ, हम यह कह सकते हैं कि तत्त्व विकल्प्य वस्तु है किंतु तत्त्व पर विकल्प का कारित्र प्रत्यक्ष नहीं होता।

परिकल्पित स्वभाव विकल्प का, मिथ्याग्राह का, विषय है किंतु यह आलंबन-प्रत्यय नहीं है। इसका कारण यह है कि यह 'वस्तु सद्धर्म' नहीं है।

परिकल्पित स्वभाव क्या है? इसमें और परतंत्र में क्या भेद है?

१. स्थिरमति के अनुसार अनादिकालिक अभूत वासना वश सास्रव चित्त-चैत्त द्वयाकार में उत्पन्न होता है। ग्राहक-ग्राह्य रूप में उत्पन्न होता है। यह दर्शनभाग और निमित्तभाग हैं। मध्यांत का कहना है कि यह दो 'लक्षण' परिकल्पित हैं। यह कूर्मरोम के समान असद्धर्म हैं। किंतु इनका आश्रय अर्थात् स्वसंवित्तिभाग प्रत्यय जनित है। यह स्वभाव असद् धर्म नहीं है। इसे परतंत्र कहते हैं क्योंकि यह अभूत-परिकल्प्य-प्रत्यय-जनित है।

यह कैसे प्रतीति हो कि यह दो भाग असद् धर्म हैं? आगम की शिक्षा है कि अभूत परिकल्प्य परतंत्र हैं और दो ग्राह परिकल्पित हैं।

२. धर्मपाल के अनुसार वासनाबल से चित्त-चैत्त दो भागों में परिणत होते हैं। यह परिणत-भाग हेतु-—प्रत्ययवश उत्पन्न होते हैं और स्वसंवित्तिभाग के सदृश परतंत्र हैं, किंतु विकल्प सद्धर्म, अभाव, तादात्म्य, भेद, भाव-अभाव, भेदाभेद, न भाव न अभाव, न अभेद न भेद इन मिथ्या संज्ञाओं का ग्रहण करता है। इन विविध आकारों में दो भाग परिकल्पित कहलाते हैं।

वस्तुतः आगम कहता है कि प्रमाण मात्र, द्वयमात्र (दो भाग) और इन दो भागों की विविधता परतंत्र है। आगम यह भी कहता है कि तथता को छोड़कर शेष चार धर्म परतंत्र में संगृहीत हैं।

यदि निमित्तभाग परतंत्र नहीं है तो वह दो भाग जो बुद्ध के अनास्रव पृष्ठलब्ध-ज्ञान हैं परि-

कल्पित होंगे। यदि आप यह मानते हैं कि यह दो भाग परिकल्पित हैं तो उत्तर अनास्रव ज्ञान की उत्पत्ति बिना एक निमित्तभाग को आलंबन बनाये होती है क्योंकि यदि एक निमित्तभाग इसका आलंबन होता तो यह आर्य-मार्ग में पर्यापन्न न होता।

यदि दो भाग परिकल्पित हैं तो यह आलंबन प्रत्यय नहीं हैं क्योंकि परिकल्पित असद् धर्म है। दो भाग वासित नहीं कर सकते, बीजों का उत्पाद नहीं कर सकते। अतः उत्तर बीजों के दो भाग न होंगे।

बीज निमित्त भाग में संगृहीत हैं। अतः यह असद्धर्म है। अतः बीज कैसे हेतु-प्रत्यय होंगे?

यदि दो भाग, जो चित्त के अभ्यंतर हैं और बीजों से उत्पन्न होते हैं, परतंत्र नहीं हैं तो जिस स्वभाव को आप परतंत्र मानते हैं अर्थात् संवित्तिभाग जो इन दो भागों का आश्रय है परतंत्र न होगा; क्योंकि कोई कारण नहीं है कि यह परतंत्र हो जब दो भाग परतंत्र नहीं हैं।

अतः जो प्रत्ययजनित है वह परतंत्र है।

२—परतन्त्र-स्वभाव

'परतंत्र' प्रत्यय से उद्भूत विकल्प है। यह आख्या 'प्रतीत्य समुत्पन्न' से मिलती-जुलती है। जो हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होता है वह परतंत्र है। एकमत से यह लक्षण केवल क्लिष्ट परतंत्र का है। वास्तव में अनास्रव परतंत्र को 'विकल्प' नहीं कहते। एक दूसरा मत यह है कि सब चित्त-चैत्त, चाहे सास्रव हों या अनास्रव, विकल्प कहे गए हैं।

३—परिनिष्पन्न स्वभाव

परिनिष्पन्न स्वभाव परतंत्र की परतंत्र से सदा रहितता है। यह अविकार स्वभाव है। यह ग्राह्य-ग्राहक इन दो विकल्पों से विनिर्मुक्त होता है। इस स्वभाव की सदा ग्राह्य-ग्राहक भाव से अत्यन्त रहितता होती है। यह कल्पित स्वभाव की अत्यन्त शून्यता है। अतएव यह परतंत्र से न अन्य है, और न अनन्य, यथा अनित्यता अनित्य धर्मों से न अन्य है और न अनन्य।

पुनः युआन च्वांग कहते हैं कि परिनिष्पन्न धर्मों का वस्तुसत्, अविपरीत, निष्ठागत और परि-पूर्ण स्वभाव है। यह तथता से अर्थात् सत्व-असत्व से पृथक् शून्यता की अवस्था में वस्तुओं के स्वभाव से मिश्रित है। अतः परिनिष्पन्न (=तथता) परतंत्र से न अन्य है. न अनन्य। यदि यह इससे भिन्न होता तो तथता धर्मधातु (परतंत्र) का वस्तुस्वभाव न होती। यदि यह इससे अभिन्न होता तो तथता न नित्य होती और न पूर्ण विशुद्ध। पुनः यह कैसे माना जाय कि परिनिष्पन्न स्वभाव और परतंत्र स्वभाव का न नानात्व है और न एकत्व? इसी प्रकार अनित्य, शून्य, अनात्म धर्म तथा अनि-त्यता, शून्यता, नैरात्म्य न अन्य हैं. न अनन्य। यदि अनित्यता संस्कारों से अन्य होती तो संस्कार अनित्य न होते; यदि अनन्य होती तो अनित्यता उनका सामान्य लक्षण न होती। वस्तुतः धर्मता या तथता का धर्मों से ऐसा संबंध है क्योंकि परमार्थ और संवृति अन्योन्याश्रित हैं।

जबतक परिनिष्पन्न का प्रतिवेध, साक्षात्कार नहीं होता तबतक यथाभूत परतंत्र भाव को हम नहीं जान सकते। अन्य ज्ञान से परतंत्र का ग्रहण नहीं होता।

इन विचारों के अनुसार युआन च्वांग चित्त का इतिहास बताते हैं। निस्संदेह सदा से चित्त-चैत्त अपने विविध आकारों में (भागों में) अपने को स्वतः जानते हैं अर्थात् परतंत्र जो अपने को जानता है सदा से स्वविज्ञान का विषय है। किंतु चित्त-चैत्त सदा पुद्गल-धर्मग्राह से सहगत होते हैं, अतः वह प्रत्यय-जनित चित्तचैत्तों के मिथ्या स्वभाव को यथार्थ में नहीं जानते। माया-मरीचि-स्व विषय-प्रतिबिंब-प्रतिभास-प्रतिश्रुत्का-उदकचंद्र–निर्मितवत् उनका अस्तित्व नहीं है और एक प्रकार से है भी। घनव्यूह में कहा है—"जबतक कोई तथता का दर्शन नहीं करता वह नहीं जानता कि धर्म और संस्कार मायादिवत् वस्तुसत् नहीं हैं यद्यपि वह हैं।"

अतः यह सिद्ध होता है कि स्वभावत्रय (लक्षणत्रय) का चित्त-चैत्त से व्यतिरेक नहीं है चित्त-चैत्त और उनके परिणाम (दर्शन और निमित्तभाग) का प्रत्ययों से उद्भव होता है और इस-लिये मायाप्रतिबिंबवत् वह नहीं हैं और एक प्रकार से मानो वह हैं। इस प्रकार वह मूढ़ पुरुषों की प्रवंचना करते हैं। यह सब परतन्त्र कहलाता है।

मूढ़ परतंत्रों को मिथ्या ही आत्म-धर्म अवधारित करते हैं। खपुष्प के समान इस 'स्वभाव' का परमार्थतः अस्तित्व नहीं है। यह परिकल्पित है। किंतु वस्तुतः यह आत्म-धर्म जिन्हें एक मिथ्या संज्ञा परतंत्र पर 'आरोपित' करती है शून्य हैं। चित्त के परमार्थ स्वभाव को (विज्ञान और दो भाग) जो आत्म-धर्म की शून्यता से प्रकाशित होता है परिनिष्पन्न की संज्ञा दी जाती है। हम कहेंगे कि धर्मों का सद्-स्वभाव उनका विशुद्ध लक्षण या विज्ञान शक्ति है जो प्रत्येक प्रकार के साक्षात्कार से शून्य है। इस स्वभाव का विपरीत भाव सर्वगत धर्म (फेनोमनिज्म) हैं और धर्मों का स्थूल और मिथ्या आकार आत्म-धर्म का प्रतिभास है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इस सब की समष्टि विशुद्ध विज्ञानायतन रहती है।

इसके अनंतर युआन च्वांग इस त्रिस्वभाववाद का प्रयोग आकाशादि असंस्कृत धर्म के संबंध में करते हैं। वह कहते हैं कि विज्ञान आकाशादि प्रभास के आकार में परिणत होता है, क्योंकि आकाश चित्त-निमित्त है, इसलिये यह परतंत्र में संगृहीत होता है। किंतु मूढ़ इस निमित्त को द्रव्यसत् कल्पित करते हैं। इस कल्पना में आकाश परिकल्पित है। अंततः द्रव्य आकाश को तथता का एक अपर नाम अवधारित करने से आकाश परिनिष्पन्न है। इसी प्रकार युआन च्वांग सिद्ध करते हैं कि अन्य असंस्कृत तथा रूप-वेदना-संज्ञा-संस्कार विज्ञान यह पाँच संस्कृत धर्म-दृष्टि के अनुसार परिकल्पित, परतंत्र और तथता में संगृहीत हो सकते हैं।

एक अंतिम प्रश्न है कि वस्तु द्रव्यसत् है या असत्। परिकल्पित स्वभाव केवल प्रज्ञप्तिसत् है क्योंकि यह मिथ्या रुचि से व्यवस्थित होता है। परतंत्र प्रज्ञप्ति और वस्तुसत् दोनों है। पिण्ड, समुदाय, (संचय, सामग्री) यथा घटादि, प्रज्ञप्ति हैं। चित्त-चैत्त-रूप प्रत्यय जनित हैं। अतः वह वस्तुसत् हैं। परिनिष्पन्न केवल द्रव्यसत् है क्योंकि यह प्रत्ययाधीन नहीं है।

किंतु यह तीन स्वभाव भिन्न नहीं हैं क्योंकि परिनिष्पन्न परतंत्र का द्रव्यसत् स्वभाव है और परिकल्पित का परतंत्र से व्यतिरेक नहीं हैं। किंतु यद्यपि यह एक दृष्टि से भिन्न नहीं है तथापि दूसरी दृष्टि से यह अभिन्न नहीं है क्योंकि मिथ्याग्रह, प्रत्ययोद्भव और द्रव्यसत्-स्वभाव भिन्न है।

यह विचार शंकर के वेदांतमत के अत्यंत समीप है। युआन च्वांग इस खतरे को समझते हैं। माध्यमिकों के प्रतिवाद करने पर वह इस प्रश्न का विचार करते हैं कि यदि तीन स्वभाव हैं तो

भगवत् की यह शिक्षा क्यों है कि सब धर्म निःस्वभाव हैं। दूसरे शब्दों में यदि धर्म के तीन आकार हैं तो भगवत् का यह उपदेश क्यों है कि वह शून्य और निःस्वभाव हैं। यह प्रश्न बड़े महत्व का है। यह देखना है कि युआन-च्वांग कैसे नागार्जुन की शून्यता का त्याग कर वस्तुओं की विज्ञान-सत्ता को व्यवस्थित करते हैं।

उनका उत्तर यह है कि इन तीन स्वभावों में से प्रत्येक अपने आकार में निःस्वभाव है। त्रिविध स्वभाव की त्रिविध निःस्वभावता है। इस अभिसंधि से भगवत् ने सब धर्मों की निःस्वभावता की देशना की है।

परिकल्पित निःस्वभाव है क्योंकि इसका यही लक्षण है (लक्षणेन)। परतंत्र की निःस्वभावता इसलिये है क्योंकि इसका **स्वयंभाव** नहीं है। परिनिष्पन्न की निःस्वभावता इसलिये है क्योंकि यह परिकल्पित आत्म-धर्म से शून्य है। परिनिष्पन्न **धर्मपरमार्थ** है। यह **भूततथता** है। यह विज्ञप्तिमात्रता है।

यह तीन निःस्वभावता क्रमशः लक्षणनिःस्वभावता, उत्पत्तिनिःस्वभावता, परमार्थ निःस्वभावता हैं।

शून्यता की गंभीरता से संसार विज्ञानोदधि के तल पर उठता है। यदि बुद्ध ने कहा है कि सर्व धर्म निःस्वभाव हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उनमें स्वभाव का परमार्थतः अभाव है। यह बुद्ध-वचन नीतार्थ नहीं है। परतंत्र और परिनिष्पन्न असत् नहीं हैं। किंतु मूढ़पुरुष विपर्यासवश उनमें आत्म-धर्म का अध्यारोप करते हैं। वह विपरीत भाव से उनका द्रव्यसत् आत्म-धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। यह परिकल्पित स्वभाव है। इन ग्राहों की व्यावृत्ति के लिये भगवत् सामान्यतः कहते हैं कि जो सत् है (दूसरा-तीसरा स्वभाव) और जो असत् है (प्रथम स्वभाव) दोनो निःस्वभाव हैं। यदि परिकल्पित **लक्षणतः निःस्वभाव** है तो परतंत्र ऐसा नहीं है। परतंत्र **उत्पत्ति-निःस्वभाव** है। इसका अर्थ यह है कि मायावत् यह हेतु-प्रत्यय-वश उत्पन्न होता है और यह परतंत्र है। यह स्वयंस्वभाव नहीं है जैसा विपर्यासवश ग्राह होता है। अतः हम एक प्रकार से कह सकते हैं कि यह निःस्वभाव है, किंतु वस्तुतः यह सस्वभाव है।

परिनिष्पन्न का विशेष रूप से विचार करना है। इसे भी हम उपचार से इस अर्थ में निःस्वभाव कह सकते हैं कि इसका स्वभाव परिकल्पित आत्मधर्म से परमार्थतः शून्य है। वस्तुतः स्वभाव का इसमें अभाव नहीं है। यथा यद्यपि महाकाश सब रूपों को आवृत करता है और उनका प्रतिवेध करता है तथापि रूपों की निःस्वभावता को प्रकट करता है, उसी प्रकार परमार्थ शून्यता से, आत्म-धर्म की निःस्वभावता से, प्रकट होता है और निःस्वभाव कहला सकता है। किंतु यह कम परमार्थ नहीं है। अतः धर्मों की शून्यता का वचन नीतार्थ नहीं है। विज्ञप्तिमात्रता परमार्थ है।

उत्कट विद्वान–सफल मंत्री

राजेंद्रप्रसाद

डा० संपूर्णानंद जी भारत के उन सपूतों में हैं जिन्होंने उसकी सेवा केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं की है पर उसके साहित्यिक उत्थान में भी कम काम नहीं किया है। आप गांधी जी के असहयोग आंदोलन में जोरों से शरीक हुए पर आपने ऐसा करते समय अपनी पुस्तकों को अलमारियों में बंद नहीं कर दिया और असहयोग आंदोलन में सक्रिय भाग लेते हुए कई ग्रंथ देश को और विशेषकर हिंदी-संसार को भेंट किए। इनमें कई तो अपने विषय के हिंदी में प्रायः प्रथम ही ग्रंथ थे और सभी एक जगह रखते हैं, जो प्रामाणिक ग्रंथों को ही मिल सकती है। जब-जब जरूरत पड़ी आपने जेल यात्रा की और समय आने पर मंत्रीपद को योग्यतापूर्वक सुशोभित कर रहे हैं। आप उन लोगों में हैं जिन्होंने भारतवर्ष में एक नए युग के निर्माण में भाग लिया है, स्वराज्य प्राप्ति में सहायक हुए हैं और स्वतंत्र भारत की नैया चतुरतापूर्वक खेकर भँवरों से सुरक्षित रखने के प्रयत्न में व्यस्त हैं। आप जैसे उत्कट विद्वान हैं वैसे ही सफल मंत्री और शासक भी हैं। भारत को ऐसे सपूतों की जरूरत है और ईश्वर उनको बहुत दिनों तक उसकी सेवा करने का अवसर दे, यही मेरी प्रार्थना है।

दर्शन–ज्ञान के संग्रही

भगवान् दास

मुझे निश्चयता नहीं, क्योंकि वार्द्धक्य के कारण स्मृतिशक्ति मंद हो गई है, पर प्रायः १९२०–२१ के आसपास श्री संपूर्णानंद जी से जान-पहिचान आरंभ हुई। जब तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नमेंट ने सत्याग्रहियों की धर-पकड़ आरंभ की, तब आपने जेल के बाहर रहकर (स्यात् मेरे ही परामर्श से जो मैंने काशी के सेंट्रल जेल के भीतर से 'तिकड़म्' द्वारा इनसे कहला भेजा था) सत्याग्रहियों का व्यूहन समूहन बहुत कुशलता से किया और स्थानीय अधिकारियों को चक्कर में डालते रहे। स्थानीय हरिश्चंद्र स्कूल में (जो अब कालेज हो गया है) आप अध्यापक रहे, बीकानेर आदि रियासतों में भी काम किया, फिर काशी विद्यापीठ में अध्यापक रहे, स्यात् अब भी वहाँ के अवकाश-प्राप्त अध्यापकों की सूची में आपका नाम पड़ा है, और उस संस्था की निरीक्षक सभा और प्रबंध कारिणी समिति के प्रमुख सदस्य हैं। यद्यपि विद्यार्थी अवस्था में आपने सायंस अर्थात् पाश्चात्य नवीन विज्ञान का विषय पढ़ा, पर इधर बीस वर्षों में, विशेषकर कारावास में जब-जब आपका दीर्घकालीन निवास हुआ, उन दिनों में, संस्कृत भाषा के और दर्शनादि ग्रंथों के ज्ञान का बहुत अच्छा संग्रह किया। एकबार इन्होंने मुझसे कहा कि पातंजल योगसूत्रों को डेढ़ सौ बार कारावास में पढ़ गया। बंदीगृह के बाहर, सब प्रकार की सुविधाओं में रहकर, और पुस्तकों का व्यसनी होकर भी, मैं इतनी बार उन सूत्रों की उद्धरणी नहीं कर सका हूँ, यद्यपि सूत्र और व्यासभाष्य का शब्दानुक्रमणिक कोष बनाया और छपाया जिस के लिये अवश्य ही बहुत बार उनके पन्नों को उलट-पुलट करना पड़ा। संपूर्णानंद जी ने बहुत से ग्रंथ, छोटे भी, मोटे भी, बहुत विषय के, ऐतिहासिक, वेद संबंधी, गणेशादिदेवता विषयक, समाज शास्त्र विषयक, दार्शनिक, आदि लिखे हैं, जिनके लिये आपको 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' मिला है। पर, जब से आप संयुक्त प्रांत में शिक्षामंत्री हुए हैं तब से मुझे जो आशा इनसे थी वह अबतक पूरी नहीं हुई है, अर्थात् शिक्षा के प्रकार में नितांत आवश्यक सुधार की। इस विषय पर मैं कईबार अंग्रेजी-हिंदी दैनिकों में लिख चुका हूँ, और यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो इनको भी निजी पत्र लिखा है। उद्देश्य मेरा यह है कि प्रत्येक विद्यार्थी के सहजात स्वभाव, स्व-धर्म के अनुकूल (जिसका निर्णय निश्चय विशेषज्ञों द्वारा किया जाना चाहिए) जीविका के उपार्जन की उपयोगी शिक्षा देना चाहिए। अब ब्रिटेन, अमेरिका, विशेषकर रशिया और जापान में, इस ओर ध्यान दिया जाता है। ब्रिटेन में प्रत्येक विद्यापीठ तथा बड़ी पाठशाला में 'कैरियर्-मास्टर' नियुक्त हैं, जो 'साइकालोजी' अध्यात्म-विद्या, मनो-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं और जिनका कार्य यही है कि प्रत्येक विद्यार्थी की चित्त-वृत्तियों की विविध प्रकार से परीक्षा करके निर्णय कर दें कि इसको इस प्रकार के व्यवसाय के लिये प्राकृतिक अभिरुचि और योग्यता, और उसीके लिये सुसज्ज करनेवाली शिक्षा इसको दी जाय। जिस दिन काशी विद्यापीठ का उद्घाटन, माघ संवत् १९७७ में महात्मा गाँधीजी ने किया, उस दिन भी मैंने अपने भाषण में एकत्र महान् जनसमूह का ध्यान इस ओर दिलाया था और प्रसिद्ध दोहा पढ़ा था—"कला बहत्तर पुरुष की, वामे दो सर्दार, एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार"—अब भी आशा करता हूँ कि संपूर्णानंद जी इस ओर ध्यान देंगे।

नवीन से नवीन–प्राचीन से प्राचीन

नरेंद्रदेव

श्री सपूर्णानंद जी से मेरा प्रथम परिचय काशी में हुआ जब मैं विद्यापीठ में अध्यापन का कार्य करता था। यह सन् १९२१ की बात है। उस समय संपूर्णानंद जी ज्ञानमंडल के प्रकाशन विभाग में काम करते थे। इसके पूर्व वह डेली कालेज इंदौर में थे और मैं फैजाबाद में वकालत करता था। असहयोग आंदोलन के कारण हम लोगों ने अपना अपना काम छोड़ दिया था। श्री जवाहर लाल नेहरू के कहने पर मैंने अपनी सेवाएँ काशी विद्यापीठ को अर्पित कीं। संपूर्णानंद जी काशी के ही रहनेवाले हैं और स्वर्गीय श्री शिवप्रसाद जी गुप्त के कहने पर वह ज्ञानमंडल मे समिलित हो गए। गुप्त जी हिंदी के अनन्य भक्त थे और उन्होंने हिंदी में पुस्तकें प्रकाशित करने की एक विस्तृत योजना तैयार की थी। इसीमें सहयोग देने के लिये उन्होंने संपूर्णानंद जी को आमंत्रित किया। संपूर्णानंद को पठन-पाठन का बहुत पहले से शौक था। उस समय भी उनकी दो-एक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। हम लोगों की प्रेरणा मुख्यतः राजनीतिक थी किंतु विद्या-व्यसनी होने के कारण हम दोनों की इच्छा यह थी कि राजनीतिक कार्य करते हुए कोई ऐसा काम भी करें जिससे पढ़ना-लिखना छूट न जाय। यों तो मुझे अपना कार्य-क्षेत्र फैजाबाद को ही चुनना चाहिए था पर वहाँ इस प्रकार की कोई सुविधा न थी। इस कारण जब जवाहरलालजी ने काशी विद्यापीठ जाने को कहा और मेरे मित्र श्री शिवप्रसाद जी ने निमंत्रण भेजा तो मुझे अपना निर्णय करने में अधिक समय नहीं लगा। मेरा आकर्षण राजनीति और पढ़ने-लिखने की ओर विद्यार्थी-काल से ही रहा है। संपूर्णानंद जी अध्यापक और लेखक दोनों थे। उन्होंने प्रकाशन के काम में सहयोग देना तुरत स्वीकार कर लिया। ज्ञानमंडल के काम के साथ साथ वह राजनीति के काम में भी काफी समय देते थे। वह स्थानीय कॉंग्रेस कमेटी के पदाधिकारी और एक प्रभावशील व्यक्ति थे। काशी के लिये मैं नया था। मेरा बहुत थोड़े लोगों से परिचय था। विद्यापीठ में रहनेवाले सभी अध्यापकों से बहुत जल्द घनिष्ठता हो गई क्योंकि मैं भी उनके साथ रहता था किंतु वह सब मेरी ही तरह काशी के न थे। कॉंग्रेस के कार्य में हम सब योग देते थे किंतु कमेटियों में नहीं रहते थे। विद्यापीठ के हित में भी हमने यही उचित समझा कि कमेटियों से अलग रहें। कमेटियों में रहने से इसका भय था कि हम लोग भी कहीं किसी दलबंदी में न पड़ जायँ और यदि ऐसा होता तो उससे विद्यापीठ को क्षति पहुँचती। विद्यापीठ को सब की सहायता अपेक्षित थी। स्थानीय कॉंग्रेस कमेटी से संबंध

न रखने के कारण मेरा संपूर्णानंद जी से परिचय बहुत सामान्य था। मिलने-जुलने के अवसर बहुत कम मिलते थे। किंतु जब वह विद्यापीठ के अध्यापक हो गए तब परिचय धीरे धीरे बढ़ने लगा। किंतु तिसपर भी घनिष्ठता न हो पाई। विद्यापीठ के काम के घंटों में हम लोग अपने अपने काम में लगे रहते थे। अध्यापन के अतिरिक्त विद्यापीठ के जीवन में भाग लेने का उनको कम अवकाश मिलता था। कदाचित् यही कारण रहा हो। किंतु मेरा ऐसा विचार है कि इससे भी कुछ गंभीर कारण है जिससे हम लोगों में बहुत दिनोंतक ज्यादा परिचय न हो पाया। मैं स्वभाव से संकोची हूँ। जिनके साथ रहना होता है उनसे बहुत जल्द घनिष्ठता हो जाती है अथवा जो मुझसे परिचय बढ़ाना चाहते हैं उनसे भी अच्छा परिचय बहुत जल्द हो जाता है। यह मित्रता अनायास या संयोगवश हो जाती है किंतु इसके लिये मैं प्रयत्नशील नहीं होता। इसमें कोई अहंमन्यता का भाव नहीं है; यह स्वभाव का संकोच मात्र है।

मेरा ऐसा अनुमान है कि संपूर्णानंद जी का भी बहुत कुछ यही हाल है। उनकी मित्र-मंडली छोटी है किंतु उसके साथ उनकी घनिष्ठता बहुत है। उस मंडली के बाहर वह अधिकतर शिष्टाचार ही बरतते हैं। कदाचित् वह मेरी अपेक्षा अधिक संकोची हैं। खैर! जो कारण रहा हो हम लोगों का यह संकोच बहुत दिनोंतक बना रहा। जब सन् १९३४ में सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई और उसके बाद कुछ दिनों के लिये केंद्रीय कार्यालय बनारस आया तब हम लोगों में घनिष्ठता बढ़ी।

श्री संपूर्णानंद जी विद्याव्यसनी हैं। कई शास्त्र के विद्वान हैं। लिखते भी तेज हैं। बोलते भी तेज हैं। कमेटियों में बैठे हुए भी कभी कभी लेख लिख डालते हैं। मेरे लिये तो यह काम सर्वथा असंभव है। फिर उनकी कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं और आज भी यह काम बंद नहीं हुआ है। मंत्रियों में सब से अधिक विभाग उन्हीं के सुपुर्द हैं पर उनका काम कभी पिछड़ता नहीं और साथ साथ वह अपना पढ़ना-लिखना भी जारी रखते हैं। हिंदी भाषा पर उनका अच्छा अधिकार है। चिद्विलास इसका उत्कृष्ट प्रमाण है। आर्यों के आदिम निवास-स्थानपर उनका जो ग्रंथ निकला है वह उनके चिंतन और विद्वत्ता का परिचायक है। हमारी पीढ़ी के जो लोग राजनीतिक क्षेत्र में हैं उनमें वह सब से अधिक विद्वान् हैं। इतिहास, दर्शन, राजशास्त्र, विज्ञान, ज्योतिष, समाजशास्त्र और साहित्य का अच्छा अध्ययन है। लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि उनकी चित्र-कला में भी अभिरुचि है। चित्रों का संग्रह करने का बड़ा शौक है। वह पत्रकार भी रह चुके हैं। ज्ञानमंडल से कुछ दिनोंतक अंग्रेजी का एक पत्र निकलता था। उसका संपूर्णानंद जी संपादन करते थे। कुछ दिनों तक काशी से समाजवादी दल की ओर से हिंदी का एक साप्ताहिक सन् १९३५ में निकला था। उसका भी संपादन वही करते थे।

उनके विचारों के संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। वह आधुनिक भी हैं, प्राचीन भी हैं। एक दिक् देखें तो मालूम होगा कि वह नवीन से नवीन हैं। दूसरी ओर उनके आचार-विचारपर प्राचीनता की गहरी छाप है। यह छाप कभी इतनी गहरी होती है कि उसका आधुनिक विचार-धारा से तीव्र विरोध पाया जाता है। यह ठीक है कि अतीत के गर्भ से वर्तमान का जन्म होता है। पुनः अतीत और वर्तमान का नैरंतर्य है। यह हम नहीं कह सकते कि यहाँ अतीत का अंत होता है, यहाँ से वर्तमान का आरंभ होता है। इसलिये असामंजस्य का होना स्वा-

भाविक है विशेषकर उन लोगों के लिये जिनकी आरंभिक शिक्षा-दीक्षा पुराने युग में हुई हो। किंतु संपूर्णानंद जी में प्राचीन अनुष्ठान और पद्धति के प्रति आकर्षण बहुत ज्यादा है। जब किसी व्यक्ति के विचार बदलने लगते हैं तो पहला प्रहार पुरानी रीति और पद्धति पर होता है । किंतु संपूर्णानंद जी यथासंभव पुरानी पद्धति की रक्षा करते हुए नए विचार स्वीकार करते हैं। कदाचित् इसका यह कारण है कि वह बाल्यावस्था से ही ऐसी परिस्थितियों में रहे हैं जिनमें रसम-रिवाज और अनुष्ठानों का प्राधान्य रहा है। जिस कुल में किसी संप्रदाय विशेष की पद्धति प्रचलित है उसके सदस्यों पर इस प्रकार का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। संपूर्णानंद जी से जब किसी विषय पर बातचीत कीजिए तो वह प्रायः आधुनिक दीख पड़ते हैं किंतु जब उनकी पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों के प्रति अगाध प्रेम की ओर ध्यान दीजिए तो कुछ विचित्र-सा मालूम पड़ता है।

विचारों में मतभेद होते हुए भी उनका सामाजिक संबंध अपने पुराने साथियों के साथ आज भी वैसा ही है। यह उनके बड़प्पन का सूचक है। आज भी जब कभी जयप्रकाश जी आदि समाजवादी नेता लखनऊ आते हैं तो वह उनको अपने घरपर भोजन के लिये निमंत्रित अवश्य करते हैं। उन्होंने सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार भी किया है कि समाजवादियों की सी मित्र-मंडली उन्हें कभी नहीं मिली। मेरे ऊपर उनकी विशेष कृपा रहती है। शिक्षा-संबंधी कई कमेटियों का अध्यक्ष बनाकर उन्होंने मुझे प्रचलित शिक्षा-पद्धतियों में सुधार का प्रस्ताव करने का अवसर दिया है।

वह आदर्शवादी हैं। उनमें नैतिकता, दृढ़ता और स्वाभिमान है। उनमें कार्य करने की अद्भुत क्षमता है। शरीर-संपत्ति भी अच्छी है। उनको गठिए का रोग अवश्य लग गया है जो उन्हें कभी-कभी परेशान करता है। मैंने कभीं पढ़ा था कि बड़े आदमियों को यह रोग होता है। बड़े आदमी से आशय धनी व्यक्ति से नहीं है। वास्तव में समाज में उनका ऊँचा दर्जा है। किंतु आजकल की राजनीति के वह योग्य नहीं हैं। मैं तो इसे गुण ही समझता हूँ। उन्होंने अपने लिये कभी किसी से वोट नहीं माँगा। वह भाषण और लेख द्वारा विचारों का प्रसार कर सकते हैं किंतु किसी दल विशेष का संगठन नहीं कर सकते। यह कला उन्होंने नहीं सीखी। शायद सीख भी नहीं सकते। उनके पीछे चलनेवाले बहुत थोड़े ही लोग होंगे। अपनी योग्यता के कारण ही वह सचिव-पद को सुशोभित करते हैं। यदि वह सचिव न भी रहें तब भी अपनी विद्वत्ता के कारण उनका आदर होगा। उनको यह विश्वास है कि चाहे राजनीति में रहें या न रहें साहित्य की तो सेवा वह कर ही सकेंगे। जिसने केवल सरस्वती की उपासना की है उसको धन और शक्ति की अपेक्षा मान अधिक चाहिए। किंतु जो समाज का स्वरूप बदलना चाहता है उसको राज्य-शक्ति अवश्य चाहिए। संपूर्णानंद जी राजनीतिक और साहित्यिक दोनों हैं। इसलिये उनको दो प्रकार की एषणाएँ हैं। राजशक्ति की एषणा का संतर्पण वह सरस्वती के प्रताप से ही कर सकते हैं अन्यथा उसके लिये बहुत कम अवसर है। दूसरी एषणा का संतर्पण उनके लिये बहुत सुलभ है।

उन्होंने अपने जीवन के ६० वर्ष पूरे कर लिये हैं। इस शुभ अवसरपर उनके सभी मित्र उनको बधाई देते हैं और यह शुभ कामना करते हैं कि वह चिरायु हों और सदा समाज-सेवा में रत रहें।

कठोर आवरण में कोमल हृदय

कैलासनाथ काटजू

श्री संपूर्णानंद जी की एकसठवीं वर्षगाँठ के इस शुभ अवसरपर उनका प्रेमपूर्ण अभिनंदन करना मैं अपना गौरवपूर्ण अधिकार समझता हूँ। उनसे मेरा निकट परिचय सन् १९३७ में हुआ। उसके पूर्व, कांग्रेस का अपेक्षाकृत एक नगण्य कार्यकर्ता होने के कारण मैंने उन्हें भय और आदर के साथ दूर से ही देखा था। हम सभी लोग उन्हें स्वतंत्रता-संग्राम का एक वीर सेनानी मानते थे। परंतु ऐसा प्रतीत होता था कि काशी के अपने अत्यंत निकट के परिचितों के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ वे घनिष्ठ परिचय करना नहीं चाहते थे। यही नहीं, इससे वे बचते थे। और फिर, उनका और मेरा रास्ता अलग-अलग रह चुका था। अध्यापक होने के कारण वे अपने विद्यार्थियों के लिये नियम निर्धारित करने तथा अपने विषय का इस रूप में प्रतिपादन करने के अभ्यस्त थे जिसमें तर्क के लिये स्थान नहीं था। युक्तप्रांत के एक कांग्रेसी नेता के रूप में सभी लोग उनका आदर तथा उनके आदेश का पालन करते थे। उधर मैं कचहरियों में काम करने का अभ्यासी ठहरा, जहाँ कोई भी बात स्वयंसिद्ध नहीं मानी जाती, जहाँ प्रत्येक बात की छानबीन बड़ी बारीकी से की जाती है और जहाँ अंग्रेजी की इस कहावत की सत्यता प्रायः प्रमाणित होती है कि 'सभी चमकदार वस्तुएँ सोना नहीं होतीं' जिसके कारण केवल चमकदार और नकली माल के व्यापारियों को निराश ही होना पड़ता है। कचहरियाँ और कुछ नहीं तो कम से कम विनय की शिक्षा देती हैं और कुतर्क और विरोध दोनों को सहन करने का अभ्यास कराती हैं। कहते हैं कि वकील को तर्क और वादविवाद में रस आता है। जो कुछ हो, परंतु इतना अवश्य है कि वह एक अच्छा श्रोता होता है, या उसे ऐसा होना चाहिए; अपनी त्रुटियों के सुधार से उसकी कोई क्षति नहीं होती, न उसका आत्मसंमान ही कम होता है।

युक्तप्रांत के प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमंडल में हम और संपूर्णानंद जी एक साथ पड़ गए थे। और तभी मुझे विदित हुआ कि वे कठोर बाह्य आवरण के भीतर अपना कितना कोमल और शुद्ध हृदय यत्नपूर्वक सावधानी से छिपाए रहते थे। उनकी बौद्धिक प्रतिभा, मानसिक दृढ़ता तथा तीव्र तर्कशक्ति का परिचय भी मुझे उसी समय मिला। जैसा मैंने अन्यत्र कहा है, युक्तप्रांत का १९३७-३९ का छोटा सा मंत्रिमंडल सचमुच एक भाइयों के दल की तरह काम करता था (उसमें एक बहिन भी थीं) और हम लोगों में जैसी आत्मीयता, गहरा स्नेह तथा सार्वजनिक हित के लिये एक होकर काम करने की भावना थी वैसा मैंने आजतक अन्यत्र कहीं नहीं देखा। उस दल में संपूर्णानंद जी का स्थान सब से प्रमुख था। हम लोगों ने प्रांत की शिक्षा का संपूर्ण भार उनके ऊपर छोड़ दिया था और हम सब को पूरा पूरा विश्वास था कि वे इस उत्तरदायित्व का भली-भाँति निर्वाह करेंगे और अपने कार्यों के भारतव्यापी प्रकाश द्वारा युक्तप्रांत की सरकार तथा जनता के गौरव

और कीर्ति बढ़ाएँगे। आरंभ से ही ऐसा विदित होता था कि प्रांत की शिक्षा के भावी रूप का पूरा-पूरा चित्र उनके मन में था, और यद्यपि उस समय से आजतक बीच में सात वर्षों का व्यवधान पड़ा तथापि अटल निश्चय और पूरे बल के साथ अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने में तत्पर रहे हैं। मैं स्वयं कोई शिक्षाशास्त्री नहीं हूँ, परंतु विशेषज्ञ न होनेपर भी इतना समझ सकता हूँ कि उन्होंने कैसे अद्भुत कार्य किए हैं और दृढ़तापूर्वक कैसा भव्य निर्माण कर रहे हैं।

मेरा और उनका परिचय यहीं समाप्त नहीं होता। जीवन में मेरा प्रथम वास्तविक अवकाश नवंबर १९४० का व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन आरंभ होने के थोड़े ही समय बाद फतहगढ़ जेल में आरंभ हुआ। किसी कारणवश तत्कालीन सरकार ने युक्तप्रांत के मंत्रियों को पृथक् रखने का निश्चय किया और कुछ ही दिनों के भीतर हम लोगों में से तीन--संपूर्णानंद जी, हाफिज मुहम्मद इब्राहीम और मैं--उस प्राचीन तथा पुराने ढंग के बने हुए जेल के एक छोटे से बैरक में डाल दिए गए। अब हमारा दल पूरा होने में केवल हमारे प्रिय मित्र रफी अहमद किदवई की कमी थी जिनकी हम कई सप्ताह तक प्रतीक्षा करते रहे; परंतु वे नहीं आए और उनके स्थानपर बहुत समय के बाद एटा अदालत के मेरे एक प्रिय मित्र बाबूराम वर्मा आए। यह मेरा दुर्भाग्य था कि मैं केवल तीन मास से कुछ ही अधिक फतहगढ़ में रहने पाया; बहुत बीमार हो जाने के कारण मैं इलाहाबाद भेज दिया गया। किंतु जब कभी मैं इन तीन महीनों की सुधि करता हूं तब ऐसा अनुभव होता है कि यह मेरे जीवन का सब से अधिक सार्थक और महत्वपूर्ण समय था। उसके पहले मैं संसार को केवल कचहरी की खिड़कियों से ही देखा करता था, और मेरा अधिकांश ज्ञानसंग्रह कानून के ग्रंथों में से ही हुआ था। कानून की पुस्तकों में आध्यात्मिक विषय की चर्चा नही रहती। परंतु फतहगढ़ में, संपूर्णानंद जी के प्रेम तथा प्रेरणापूर्ण मार्गप्रदर्शन से मेरे लिये अध्यात्म-लोक का भी द्वार खुल गया। मैंने कुछ हिंदी साहित्य का अध्ययन किया, अनेक धार्मिक ग्रंथ पढ़े और संपूर्णानंद जी के साथ मेरे जो वादविवाद हुए उनका मेरे हृदयपर स्थायी प्रभाव पड़ा। उस समय मैंने निकट से उनकी विद्वत्ता, जीवन के प्रति उनका दार्शनिक दृष्टिकोण और सब से बढ़कर उनके जीवन की पवित्रता देखी। जैसा मैं कह चुका हूं, मैं तो वहाँ से चला आया परंतु गुरु की छाप अमिट हो गई। उन्होंने निश्चित रूप से मेरी दृष्टि दूसरी दिशा में फेर दी। उसके बाद फिर हमलोग अलग हो गए। सन् '४२ के आंदोलन में उनके साथ रहने की बहुत इच्छा थी, परंतु वह संभव नहीं हुआ। वे बनारस जेल में थे और मैं प्रयाग के निकट नैनी जेल में था। सन् '४६ में जब युक्तप्रांत का नया मंत्रिमंडल बना तब फिर हमारा निकट का साथ हुआ। पर न जाने क्यों, इसबार कुछ अभाव सा अनुभव होता था। वह पुराना आकर्षण लुप्त हो गया था, और यद्यपि इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि हमलोग खूब मिलजुल कर सुचारु रूप से कार्य कर रहे थे, पर न जाने कौन-सी वस्तु खो सी गई थी। मेरा स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं था और मैं कई प्रकार की योजनाएँ बनाने में संलग्न था, जो संपूर्णानंद जी के मन में उतनी नहीं जमतीं थीं। मैं तीन मास के लिये अमेरिका गया और दो वर्ष से कुछ अधिक समय से युक्तप्रांत से बिलकुल बाहर हा रहा हूँ। पर उनके साथ जुड़ी हुई मेरी मित्रता शेष जीवन भर बनी रहेगी। हममें से जो लोग उनकी वास्तविक योग्यता, उनके विशुद्ध चरित्र और सर्वोपरि उनके हृदय की स्वाभाविक कोमलता को जानते हैं वे सदा उन्हें अपने हृदय में रखेंगे और मुझे तो फतहगढ़ के वे तीन महीने कभी न भूलेंगे। उस समय उन्होंने मेरे लिये जो कुछ किया उससे मैं उनसे कभी उऋण नहीं हो सकता केवल इस जीवन में नहीं, बल्कि जन्मांतरमें भी।

श्री संपूर्णानंद जी—कुछ संस्मरण

श्रीप्रकाश

श्री संपूर्णानंद जी से मेरी पहली मुलाकात सन् १९२० में हुई थी। श्री शिवप्रसाद गुप्त जी का परिचय पत्र लेकर वे मुझ से मिलने आए थे। उस समय वे बीकानेर रियासत में अध्यापक थे। महात्मा गांधी जी के आयोजन की ध्वनि उनके पास पहुँच चुकी थी। देश के राजनीतिक गगन में नए सूर्य का उदय हो रहा था। सब के हृदयों में नई आशाएँ कल्लोल कर रही थीं। कोई आश्चर्य नहीं कि संपूर्णानंद जी का भी विचार हुआ कि अब घर चला जाय। इस नए प्रवाह में अपने को भी बहा दिया जाय, आशंकित और आकांक्षित घटनाओं में कुछ भाग लिया जाय। पर साहसी से साहसी गृहस्थ को भी जिसे नानाप्रकार की कौटुंबिक और सामाजिक चिंताएँ अनिवार्य रूप से घेरे रहती हैं, कुछ खड़े होने का स्थान तो खोजना ही पड़ता है। संपूर्णानंद जी अवश्य ही उन पुरुष विशेषों में हैं जो सांसारिक आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान नहीं देते और जब कुछ निश्चय कर लेते हैं, तब उसके अनुसार बिना आगा-पीछा देखे कार्य कर ही डालते हैं। आगे की संभावनाओं से भयभीत नहीं होते। तथापि उस समय वे श्री शिवप्रसाद जी से मिले थे। काशी में ज्ञानमंडल नाम की संस्था शिवप्रसाद जी ने स्थापित की थी। संपूर्णानंद जी ने बीकानेर से चले आने का निश्चय तो कर ही लिया था, पर साथ ही उनका यह विचार था कि यदि ज्ञानमंडल के कार्य में काशी के सार्वजनिक जीवन में भाग लेते हुए, सहयोग दे सकें तो देना चाहिए। इस संस्था का संघटन शिवप्रसाद जी ने मुझे सिपुर्द कर रखा था। इसी कारण उन्होंने संपूर्णानंद जी से मुझसे मिल लेने को कहा।

जेल में बहुत दिन पीछे संपूर्णानंद जी ने मुझसे कहा था कि खाने का तो मुझे अवश्य शौक है, पर कपड़े का नहीं। जेलमें वे स्वयं कई प्रकार का खाना बनाया करते थे और बड़े प्रेम से भोजन करते थे। पर सभी मित्रों ने देखा भी होगा कि वे अपने वस्त्रों के संबंध में बड़े ही लापरवाह रहते हैं। कुछ ही पहन कर निकल पड़ते हैं। गर्मियों में तो घर पर वे प्रायः नंगे बदन ही रहते हैं। इस संबंध में वे काशी की सामाजिक परंपरा के ही अनुयायी हैं। पर जब पहली बार वे मुझसे मिलने आए, तब वे पैजामा, शेरवानी सब कुछ पहने हुए थे। ऐसे वस्त्र में मैंने उसी समय उन्हें देखा। फिर कभी इस रूप में उन्हें देखने का अवसर मुझे नहीं मिला। संभव है बीकानेर में-राज दरबारों के नियमानुसार वस्त्रों पर आग्रह किया जाता रहा हो। पर मैंने यह अवश्य पाया कि

यदि 'वर्दी' पहनने की आवश्यकता होती है, तो उन्हें कोई आपत्ति भी नहीं होती। जब १९३६ की लखनऊ की कांग्रेस में वे स्वयंसेवकों के नायक थे तब उस पद की भीषण वर्दी वे पहनते ही थे और ठेहुनी तक के लंबे बूट पहने हुए वे वहाँ अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। पर साधारणतः उनके कपड़े ढीले-ढाले किसी प्रकार से शरीर पर पड़े हुए ही देख पड़ते हैं। उनके केशों की समता नहीं रहती। कभी कटे हुए, कभी लंबे देख पड़ते हैं। मस्तक पर वे टीका अवश्य लगाते हैं। जब बाल छोटा भी कटाते हैं, तो शिखा सुरक्षित रहती है। कभी-कभी वे दाढ़ी भी रख लेते हैं, पर साधारणतः उनकी दाढ़ी मुड़ी ही रहती है। पर मित्रों को इसका कभी निश्चय नहीं रहता कि वे किस रूप में, किस प्रकार के वस्त्र में किस समय देख पड़ेंगे। इस प्रकार की अस्तव्यस्तता उन्हें विशेष रूप से व्यक्तित्व प्रदान करती है और आकर्षक सहयोगी का रूप देती है।

श्री संपूर्णानंद जी का आरंभ से ही ज्ञानमंडल से संबंध रहा। उनकी विद्वत्ता उस समय ही विख्यात हो चुकी थी। वे शिक्षक का काम वृंदावन में, इंदोर में, और बीकानेर में कर चुके थे और सभी स्थानों पर विद्यार्थियों और संस्थाओं दोनों पर ही अपनी छाप छोड़ आए थे। वे कई पुस्तकें लिख चुके थे। पर जिस समय की चर्चा मैं कर रहा हूँ, उनका ध्यान राजनीति में ही विशेष प्रकार से था और उसीमें वे पड़ भी गए। वातावरण बड़ा अशांत था। कितने ही कार्यकर्ता बड़े असमंजस में थे। एक तरफ से महात्मा जी की पुकार थी जिसके सुननेवालों को अपना सर्वस्व दे देने को सदा प्रस्तुत रहना होता, दूसरी तरफ घरवालों की माँग थी जिसकी भी चिंता साधारण जन को करनी ही पड़ती है। मुझे स्मरण है कि एक बार इन्हीं सब बातों की चर्चा पिता जी हम सब से कर रहे थे। वे स्वयं उन लोगों में हैं जो यह नहीं पसंद करते कि बिना विचारे, बिना आगे पीछे देखे, बिना अपने और अपने आश्रित जनों के लिये समुचित प्रबंध किए कोई कुछ कर बैठे। उनका कहना है कि अंततोगत्वा प्रत्येक व्यक्ति का भार समाज पर ही पड़ता है। यदि कोई बहादुरी दिखाने, तीसमार खाँ बनने निकल पड़ता है, तो किसी को तो उसकी फिकर करनी ही पड़ती है। इस प्रकार से अनायास भार किसी के लिये भी किसी दूसरे के ऊपर डालना उचित नहीं है इस कारण अपनी-अपनी जिमेदारी सब को स्वयं ही उठानी चाहिए। पर संपूर्णानंद जी के जीवन के ये तर्क नहीं हैं। मुझे स्मरण है कि जब अपने योगक्षेम के संबंध में पिताजी ने प्रबंध करने की आवश्यकता पर सब का ध्यान आकृष्ट किया, तो संपूर्णानंद जी ने यही कहा कि मैंने इस बातपर कभी विचार ही नहीं किया। न वे करने को तैयार थे। संभवतः संपूर्णानंद जी को यह विश्वास है कि ईश्वर सब को सम्हालता है। वह अवश्य ही सदा सब का सहायक होगा। मैं यह नहीं जानता कि उनकी वास्तविक आन्तरिक भावना क्या है, पर मैं संपूर्णानंद जी की प्रशंसा अवश्य करूँगा कि उन्होंने इतने साहस से सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और इसकी चिंता न की कि आगे क्या होगा। आज उनके जीवन की सांसारिक दृष्टिसे तथाकथित सफलता देखकर कोई कुछ भी क्यों न कहे, पर जब मैं यह विचार करता हूं कि किस स्थिति में वे सार्वजनिक जीवन में आए आर्थिक दृष्टि से उस समय उनकी कितनी अनिश्चित दशा थी तो यह कहना ही पड़ेगा कि उन्होंने बड़ा ही सत्साहस किया।

मैं यह तो नहीं ही कह सकता कि संपूर्णानंद जी से मेरा अधिक निकट का संपर्क रहा है। मेरा ऐसा ख्याल होता है कि तीस वर्षों के करीब का साथ होते हुए भी उनसे मेरा उतना निकट

का संबंध नहीं स्थापित हो सका, परस्पर का वह सौहार्द्र नहीं पैदा हो सका, जैसा कि और साथियों और सहयोगियों से हुआ है। मेरा ऐसा ही विचार होता है कि सार्वजनिक जीवन के अपने साथ के कार्यकर्ताओं में संभवतः हम दोनों एक दूसरे को किसी कारण अच्छी तरह से पहचान न सके, इससे उतनी व्यक्तिगत समीपता नहीं हो सकी जो कि प्रायः साथ काम करनेवालों में हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि हममें परस्पर का कुछ संकोच रहा है। मैं नहीं कह सकता कि उनके अन्य साथियों का भी यही अनुभव है, पर मेरा अवश्य है। इनके प्रति मेरा आदर और सत्कार का भाव कुछ दूर से ही रहा। तथापि इसके कारण परस्पर की मित्रता और हर कार्य में संपूर्ण सहयोगितामें कदापि अंतर नहीं पड़ने पाया जिसके लिये मैं उनके प्रति अनुगृहीत हूँ। साथ ही मेरे लिये यह कह देना अनुचित न होगा कि जहाँतक मैं समझ सका श्री संपूर्णानंद जी के हार्दिक मित्र संभवतः बहुत थोड़े हैं। संभव है उनकी प्रकांड विद्वत्ता, उनकी सामाजिक व्यक्तिवादिता से लोग घबराते हों। संभव यह भी है कि पुरातन आर्य संस्कृति को ही ये मानते और निबाहते हैं जिसमें बराबरी का भाव नहीं माना गया है। प्रत्येक व्यक्ति से सब दूसरे चाहे छोटे होते हैं, चाहे बड़े। सहोदर भाई भी छोटे-बड़े ही होते हैं। एक वर्षमात्र की अवस्था के ही अंतर में 'आप' और 'तुम' का संबंध रहता है। रामायण के पात्रों के पारस्परिक व्यवहार में यह भाव भली प्रकार से प्रदर्शित हुआ है। चारो भाइयों में अवस्था की दृष्टि से बहुत ही कम अंतर रहा होगा, पर ग्रंथोंमें उनकी छोटाई-बड़ाई का भीषण निरूपण है। आधुनिक समय में बराबरी पर बड़ा जोर है—मैं अपने को इसीका प्रतीक मानता हूँ—और मित्रता इसी भावपर अवलंबित समझी जाती है। पुराने समय में ऐसी बात नहीं थी। पुराना 'सखा' शब्द भी बराबरी का बोधक नहीं है। मेरा ऐसा विचार है कि संपूर्णानंद जी इसी परंपरा, इसी परि-पाटी के अनुयायी हैं। संभव है इसी कारण उन्हें वह हार्दिक व्यक्तिगत मित्रता न मिली हो जो साधारण जन संसार की अपनी यात्रा के लिये आवश्यक मानते हैं और जिसकी खोज में वे सदा रहते भी हैं। संभव यह भी है कि मैं गलती कर रहा हूँ।

जो कुछ हो, जहाँतक मैं जानता हूँ संपूर्णानंद जी के अधिकतर मित्रगण उनका आदर, संमान और सत्कार ही करते हैं। उन्हें बड़ा ही मानते हैं। जो उनके निकटतम व्यक्तिगत मित्र हैं, उनका भी यही भाव है। जिस स्थिति में संपूर्णानंद जी ने काम किया है उसमें किन्हीं दूसरों को अपने से बड़ा मानने का उन्हें अवसर भी नहीं मिला या ऐसा अवसर उन्होंने अपने को दिया ही नही। श्री संपूर्णा-नंद जी में आकर्षणशक्ति भी पर्याप्त मात्रा में ह जो उनकी नेतृत्व-क्षमता की सूचक है। कितने ही लोग आपके पास आना और रहना पसंद करते हैं। अपनी बौद्धिक शंकाओं का समाधान इनसे 'प्रणिपात' 'परिप्रश्न' और 'सेवा' की पुरानी निर्धारित विधि के अनुसार करते हैं और ये भी वात्सल्य से अपने विस्तृत ज्ञान का अंश प्रसंनतापूर्वक उन्हें प्रदान करते हैं। वास्तव में श्री संपूर्णानंद की विद्या का भंडार बहुत ही बड़ा है। मुझे तो आश्चर्य होता है कि इन्होंने इतना ज्ञान-विज्ञान, इतने विविध शास्त्रों का संचय कैसे किया। साधारण दृष्टि से यदि देखा जाय तो इनके पास नैसर्गिक साधन बहुत कम थे। मुझसे वे कहते थे, जब मैंने इनके ज्यौतिष के ज्ञानपर आश्चर्य प्रकट किया, कि 'मेरी तो प्रयोगशाला मेरे जालपा देवीवाले मकान की छत ही रही।' शायद ही कोई विषय हो जिसपर ये अधिकार के साथ न बोल-लिख सकते हों। अध्यापन का इनका प्रकार भी बड़ा मोहक है और जिस सरल प्रकार से ये गूढ़ विषयों को भी सामने रख सकते हैं उससे विद्यार्थियों और विद्याप्रेमियों को बात समझने में बड़ी सुविधा होती है।

आप कितनी ही भाषाएँ जानते हैं और सब का ही शुद्ध प्रयोग करते हैं—यह बहुत बड़ी कला है। संस्कृत, अंगरेजी, फारसी, हिंदी, उर्दू सभी आप अच्छी तरह जानते हैं। सब के व्याकरण और कोष से आप परिचित हैं। सब के ही साहित्य का आपने मनन किया है। आप वेदों को भी सरलता से पढ़ समझ लेते हैं यद्यपि उसकी भाषा परिचित संस्कृत से बिलकुल ही पृथक है। दर्शन, इतिहास, विज्ञान, सब का ही आपने अध्ययन किया है और आप की धारणाशक्ति भी ऐसी विलक्षण है कि आपको सब पढ़ी बातें याद हैं। आपको इस बात का दुःख रहा कि गांधीयुग में हमारे विद्यार्थियों और कार्यकर्ताओं ने पुस्तक पढ़ना ही छोड़ दिया जिससे उनके ज्ञान में वृद्धि न हो सकी और मनन करने, बात समझने की उनकी शक्ति ही जाती रही।

ऐसा होते हुए भी बहुत से लोगों को संपूर्णानंद जी के ज्ञानभंडार से लाभ हुआ। आपकी पुस्तकें, आपके भाषण और आपके वार्तालाप से बहुत लोगों ने बहुत कुछ सीखा है। जेल में आप सब को ही नानाप्रकार के साहित्य पढ़ने को उत्साहित करते रहे। स्वयं भी भाषण देकर लोगों की ज्ञानवृद्धि में सहायक थे। कितनों को ही रात्रि के समय ताराओं के नाम बतलाकर ज्योतिष पढ़ने में प्रवृत्त किया। नवयुवकगण आपसे अवश्य आकर्षित होते हैं और जेल में मुझे यह देखने का अवसर मिला कि इनके पास बराबर ही कुछ लोग बैठे रहते थे और इनकी शारीरिक सेवा भी करते थे जिसकी कि बढ़ती हुई अवस्था में सब को ही आवश्यकता होती है। विद्या का आपको आग्रह भी है। संभव है मित्रगण उनमें वह विनय और नम्रता न पावें जिसकी प्रायः सब से ही अपेक्षा की जाती है। इसके अभाव से संभव है कुछ गलतफहमी भी हो और बहुत से लोग बिना विचारे यह समझ लें कि इनमें मद है, गर्व है। ऐसे विद्वान को अभिमान होना स्वाभाविक भी है। मुझे स्मरण है कि एकबार पिताजी से किसी प्रसंग में इन्होंने कहा था—'मेरा तो यही विचार रहा कि हिंदी में लेखक केवल एक हैं और उनका नाम है संपूर्णानंद'। पिताजी की विद्वत्ता प्रसिद्ध है। जब उनसे इन्होंने ऐसा कहा तो कुछ समझकर ही कहा होगा। यह १९२२ की गया कांग्रेस के समय की बात है। मेरा उनका परिचय थोड़े ही दिन पहले हुआ था। तबतक मैंने उनकी कोई पुस्तक नहीं पढ़ी थी। पीछे कई पढ़ीं। अवश्य ही मुझे उनकी विवेचना शक्ति, उनकी वर्णनशक्ति और उनके ज्ञान के विस्तार पर आश्चर्य हुआ। यदि अपने संबंध में इतनी छोटी ही अवस्था में उनका ऐसा विचार हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं।

विद्वानों और अध्यापकों का साधारण अनुभव यही होता है कि वे ऐसे ही लोगों से अधिकतर संपर्क में आते हैं जो उनसे कम जानते हैं, जिन्हें कुछ जानने की आवश्यकता होती है। इस कारण उनके व्यवहार का एक विशेष प्रकार हो जाता है जो अनिवार्य भी है। जो लोग ऐसे विद्वानों से अपने को कम नहीं समझते उनको इनसे व्यवहार करने में कष्ट भी होता है। कभी-कभी बुरा भी लगता है। ऐसे भाव के उत्पादन के अपवाद श्री संपूर्णानंद जी नहीं कहे जा सकते। इंगलैंड में कानून के मेरे एक शिक्षक ने मुझसे कहा (जब मैंने उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा की थी)—'हम शिक्षकों को सामाजिक जीवन में बुरा बनना पड़ता है। वहाँ भी हम भूल जाते हैं कि हम शिक्षक नहीं हैं जो कम जाननेवाले विद्यार्थियों की बात काट-काट यह कह सकते हैं कि ऐसा नहीं ऐसा है। वहाँ तो बराबर का ही व्यवहार करना चाहिए, पर हम ऐसा करना भूल जाते हैं जिससे गलतफहमी हो जाती है, परस्पर की ग्लानि भी फैलती है।' मेरी समझ में यह बात श्री संपूर्णानंद के संबंध में भी कही

जा सकती है। इसमें उनका कोई विशेष दोष नहीं है और मित्रों को इसके लिये तरह देना ही चाहिए। विशेष शायद ही किसीने कभी श्री संपूर्णानंदजी को यह कहते सुना हो कि 'मुझसे गलती हुई' 'मुझे इसका दुःख है' जैसा कि हम साधारण सामाजिक व्यक्ति सदा ही कहते रहते हैं और जिसे परस्पर के समुचित व्यवहार के लिए उचित भी समझा जाता है। मित्रों को यही अनुभव हुआ होगा कि वे जो एकबार कह देते हैं, उसे ही वे ठीक समझते हैं। उसे वापस लेने या बदलने की उन्हें कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि वे सदा ठीक बात या उचित प्रकार से ही बात कहते हैं। मैंने स्वयं कई बार उन्हें अविवेक के साथ अनुचित रूप से बातें करते सुना है पर ध्यान दिलाने पर भी वापस लेते उन्हें नहीं जाना है। दोषी होते हुए भी मेरी समझ में वे क्षम्य हैं। मित्रों ने यह भी देखा होगा कि यदि उनकी बात नहीं मानी जाती तो वे चुप हो जाते हैं, उन के चेहरेपर दुःख और मान को संयुक्त भाव देख पड़ते हैं। वे बहस करना पसंद नहीं करते। सब विषयों और संभवतः सब मनुष्यों के संबंध में उनके निश्चित विचार हैं। उसमें परिवर्तन नहीं होता। वे उसे व्यक्त करने में संकोच भी नहीं करते। यद्यपि मैं जानता हूं कि अविवेकी विरोधियों ने—और संसार में सब के विरोधी भी होते ही हैं—इनपर ईर्ष्या और कृतघ्नता तक का दोष लगाया है। अपने व्यक्तिगत पदका भी छोटी अवस्था से आपको बड़ामान रहा है। हम सबका ही यह अभ्यास होता है कि जिसे हम जानते हैं, उसके सामने आते ही-अभिवादन या परिचय के रूप में हाथ उठा देते हैं। इसकी नहीं प्रतीक्षा करते कि वह पहले उठावे तब हम उसका अभिवादन स्वीकार करे। ऐसी बात सम्पूर्णानन्द जी में नहीं है। इसका वे ध्यान रखते हैं कि किसे पहले अभिवादन करना चाहिये, वैसाही वह करें। बहुत से लोगों को तो ऐसा भी विचार हो सकता है जो ठीक नहीं है—कि वे स्वयं किसी के भी सामने पहले हाथ उठाना पसदं नहीं करते। पर जिनको वे वास्तव में बड़ा मानते हैं—ऐसे बहुत ही थोड़े लोग हैं—उनका वेपर्याप्त आदर सम्मान करते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से उनके कई सामाजिक आचरणों में उनका भाव दूषित समझा जा सकता है पर सैद्धांतिक दृष्टि से और विषयस्थितियों में निर्णायक बुद्धि की दृष्टि से यह गुण भी हो सकता है। स्मरण रहे कि राजनीतिक क्षेत्र में जहाँ बहस ही बहस रहती है, आपने सफलता पूर्वक ३० वर्ष व्यतीत किए हैं। ऐसी दशा में आपके आंतरिक भावों की, आपके दृष्टिकोण की, आपकी सूक्ष्मदर्शिता, विचारधारा और कार्यप्रणाली की प्रशंसा ही करनी होगी। मैंने यह सब लिखना आवश्यक समझा जिससे वस्तुस्थिति को न जानते हुए जो उनके साथ अन्याय करते हैं वे ऐसा न करें।

श्री संपूर्णानंद को निकट से मैंने कई क्षेत्रों में उनके साथ काम किया है और उन्हें काम करते हुए देखा है। ज्ञानमंडल और विद्यापीठ में बौद्धिक काम इन्होंने किया है। कांग्रेस समितियों में राजनीतिक और म्युनिसिपैलिटी में सामाजिक काम भी इन्होंने किया है। व्यवस्थापक-सभा के ये प्रमुख सदस्यों में रहे हैं और राजमंत्री की हैसियत से शिक्षा, श्रम, और अर्थ-विभागों को इन्होंने सम्हाला है। यदि किसी कार्य में ये लग जाते हैं तो अत्यधिक परिश्रम कर सकते हैं। 'टु-डे' नाम के अंगरेजी दैनिक का इन्होंने जब संपादन किया था तो रात-दिन इन्होंने छापाखाना में रहकर काम किया था। जब श्री जवाहरलाल के निमंत्रण पर इन्होंने पंडित मोतीलाल नेहरू के साथ सेना संबंधी मामलों के अन्वेषण की योजना समिति में काम किया तब भी इनको बड़ा श्रम करना पड़ा। पर जब किसी काम में इनका मन नहीं लगता तो इन्हें विवशकर काम कराना कठिन है। अपने योग्य काम का इनका

निर्धारित स्तर है। वह बहुत ऊँचा भी है। वह प्राप्त होने पर इनकी विलक्षण कार्यशक्ति देख पड़ती है। वह ऐसे लोगों में नहीं हैं जो जो ही काम मिले उसमें 'लट्टू बैल' की तरह लग जाँय। ज्ञानमंडल के लेख के और विद्यापीठ के अध्यापकमात्र के काम में इनका मन नहीं लगता था, प्रांतीय कांग्रेस समिति के मंत्री मात्र का काम भी उन्हें पसंद न था। तृतीय श्रेणी के जेल में उन्हें मानसिक ग्लानि होती थी। जब राजनीतिक कार्य में शिथिलता आती थी, तो वे बीमार पड़ जाते थे। उस समय की उनकी दशा से ही प्रतीत होता था कि उन्हें कितनी मार्मिक वेदना है। म्युनिसिपैलिटी की सदस्यता, व्यवस्थापक सभा की सदस्यता उन्हें पसंद रही। वहाँ उन्होंने उत्तम काम भी किए। मंत्री पद पर तो उन्होंने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। सत्कार के साथ सुननेवालों के बीच इनकी शास्त्रचर्चा मुझे सब से अधिक आकर्षित करती है। संभवत: उन्हें भी यह स्थिति सब से अधिक प्रिय है। नानाप्रकार के शास्त्रों का इन्होंने समन्वय कर रखा है। समाजवाद, साम्यवाद, आदि ऐसे शास्त्र माने जाते हैं जो आदमी को नास्तिक कर देते हैं। पर ये सर्वथा आस्तिक पुरुष हैं। इनकी दिनचर्या पुरातनवादी आर्य की ही तरह है। साधारण पुरानी परंपरा के उपासक गृहस्थ की ही तरह ये रहते हैं। प्रति चौबीस घंटे को ये दो दिन और दो रात में विभक्त करते हैं। बहुत जल्दी प्रातःकाल उठकर भीषण शीतकाल में भी प्रातःकृत्य स्नानादि से उसी समय निवृत्त होते हैं। संध्यावंदन नियमित रूप से करते हैं। चंदनादि का प्रयोग भी रखते हैं। दोपहर को भोजनोपरांत निद्रा भी लेते हैं। सायंकाल फिर प्रातः-काल के सब कृत्य करते हैं। रात को यदि देरकर सोते हैं तो भी प्रातःकाल जल्दी ही अपने समय से उठ जाते हैं। इस प्रकार पुरातन और नूतन प्रकारों का इनमें समन्वय हुआ। आधुनिक सब शास्त्रों को जानते हुए भी अपने जीवन का प्रकार पुराने ढंग का ही बनाए हुए हैं। यह भी उनकी प्रशंसा की ही बात है।

धार्मिक बातों में संपूर्णानंद जी को आग्रह भी पर्याप्त रूप से है। साधारण तौर से हम हिंदुओं को धार्मिक मामलों में बहस करने में कोई संकोच नहीं होता। ईश्वर के अस्तित्व पर ही बिना भय विचार विनिमय किया गया है। गंगाजी के तट पर काशी में कृष्ण और राम के उपासकगण प्रतिदिन अपने-अपने आराध्य पुरुषों की प्रशंसा और दूसरे का दोषनिरूपण करते ही रहते हैं। मेरा भी ऐसा ही विचार था कि हम अपने देव-देवियों की समालोचना, उनकी उत्पत्ति की कथा आदि, बिना किसी को दुःख पहुँचाए कर सकते हैं। अपने एक देव विशेष के संबंध में मैंने कुछ ऐसी ही वैज्ञानिक बात कही। हम उस समय जेल में थे। वास्तव में मेरी अभिलाषा यही थी कि विभिन्न विचारों के विनिमय से कुछ बात समझ में आवे। पर श्री संपूर्णानंद को यह पसंद नहीं। उन्होंने मुझसे कहा कि इस प्रकार से बात करने से हृदय को चोट लग सकती है। बात वहाँ समाप्त हो गई। मैंने स्वयं संपूर्णानंद जी से बहस करने का बहुत कम प्रयत्न किया है। जब-जब किया मुझे सफलता नहीं मिली। जब किसी का मत किसी विषय पर निश्चित हो जाता है, उसमें वह त्रुटि नहीं देखता, उसे व्यक्तकर उसका विरोध पसंद नहीं करता या ऐसा समझता है कि इसके संबंध में कोई दूसरा विचार हो ही नहीं सकता और उसीकी ही बात मान लेनी चाहिए, तो बहस का चलना संभव ही नहीं है। उससे लाभ भी नहीं। बहुत से व्यक्तियों के संबंध में जो उनके विचार हैं, वे मेरे नहीं हैं। संभव है अपने विचारों को व्यक्त करने का जो उनका प्रकार है वह दूसरों को अच्छा न लगे, पर इसमें संदेह नहीं कि उनका मत निश्चित है। यह भी एक बड़ा गुण है क्योंकि उनके संबंध में किसी को कोई धोखा नहीं हो सकता। सब को ठीक मालूम हो जाता है कि अमुक विषय पर उनका यही विचार है, चाहे किसी को अच्छा लगे या न लगे।

संपूर्णानंद जी ऐसे विद्वान्, विचाररसिक, विद्याव्यसनी को यदि कोई ब्राह्मण समझे तो कोई आश्चर्य नहीं। नाम से संन्यासी का भी आभास होता है। पर इस संबंध में भी उनका आग्रह ही है। यदि कोई उन्हें ब्राह्मण समझता है तो वे फौरन यही कहते हैं—"मैं कायस्थ हूँ।" पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें किसी प्रकार का जातिगत पक्षपात है या किसी भी प्रकार उन्हें जातीयता विवश करती है। मुझसे कहा गया है कि कितने ही उनके सजातीय बंधुओं को यह शिकायत है कि ऊँचे ओहदे पर होते हुए भी वे इनकी कुछ सहायता नहीं करते। लोगों के संग्रह में उन्होंने सदा गुणों का ही विचार रखा और योग्य पुरुषों को ही अपने कार्यपर लगाया। कौटुंबिक जीवन में ये बड़े ही धैर्य और साहस का परिचय देते रहे हैं। कौटुंबिक सुख उन्हें नहीं के बराबर रहा है। तीन विवाह इनके हुए और तीनों ही स्त्रियों का बहुत जल्दी-जल्दी देहावसान हुआ। इनकी कितनी ही संततियों का भी इसी प्रकार असामयिक लोप हुआ है। पर इनका हृदय सदा बड़ा दृढ़ रहा। जब भयंकर पुत्रशोक भी इन्हें हुआ और मैं डरते-डरते इनके यहाँ सामाजिक कर्तव्य को पूरा करने और साथ ही हार्दिक समवेदना प्रकट करने गया तो इनको ऐसी स्थिति में पाया जैसे कोई विशेष बात नहीं हुई है। शारीरिक पीड़ा में भी मैंने इन्हें देखा है। उस समय भी वे बड़े ही धैर्य और साहस से सब कष्ट सहन कर लेते हैं। इन्हें विचलित करना कठिन है। जिन दिनों ज्ञानमंडल में ये कार्य कर रहे थे, तो इनके घर तलाशी आई। घर पर जब पुलिस वालों को कुछ न मिला तो वे ज्ञानमंडल में बिना वारंट के ही घुस गए और इनके टेबुल की उन्होंने तलाशी ली। मेरे पास जब फोन से सूचना मिली तो मैं फौरन दौड़ा आया। प्रातःकाल का समय था। इन्हें अपने मकान पर निश्चिंत रूप से हजामत बनवाते पाया। अपने राजनीतिक जीवन में तलाशी के रूप से हमें पीछे तो पर्याप्त परिचय मिला पर वे इसके प्रारंभिक दिन थे। मेरे कुछ कहने पर उन्होंने उसकी अवहेलना कर दी जैसे कुछ हुआ ही नहीं। तलाशी करनेवाले पुलिस के सहायक सुपरिंटेंडेंट सैयद काजिम रजा थे जो अब पाकिस्तान में कराची में इंस्पेक्टर जेनरल आफ पुलीस हैं। बिना वारंट इनके ज्ञानमंडल में जाने के कारण मुझे बड़ा रोष हुआ। मैंने जवाब तलब किया। उन्होंने क्षमा चाही। कहा कि कोतवाल को मैं मना कर रहा था पर वे यह कहकर ज्ञानमंडल में भी घुस गए कि कोई चिंता नहीं। उनका ख्याल था कि कोई कुछ पूछेगा नहीं, न पूछ सकेगा ही। उस समय पुलीस के सामने कोई कुछ बोल ही क्या सकता था। ये कोतवाल मुहम्मद फारुख थे जो बड़े ही कुप्रसिद्ध हो गए हैं पर महावीर चक्र से विभूषित जिनके पुत्ररत्न ब्रिगेडियर उस्मान ने कश्मीर के युद्ध में अपने प्राणों की आहुति देकर हम सब का ही मस्तक ऊँचा किया है।

आज हम श्री संपूर्णानंद की साठवीं वर्ष गाँठ मना रहे हैं। आज हमारा हृदय आनंद अनुभव कर रहा है। हम उन्हें बधाई देते हैं और साथ ही अपने को भी बधाई देते हैं कि वे हमारे बीच में हैं। हमारी यह शुभकामना है कि संपूर्णानंद जी के ऐसे त्यागी, विद्वान्, लोकसेवी देशभक्त हमारे बीच में बहुत दिनों तक रहकर देश और समाज की सेवा स्वस्थ शरीर और प्रसन्न हृदय से करते रहें। संपूर्णानंद जी का कुटुंब काशी के पुराने और संमानित कुटुंबों में है। उनके पूर्वपुरुषों में सदानंद राजा चेतसिंह के मंत्री और बाबा कीनाराम के मित्र थे। आज भी उसी समय की घटना विशेष के कारण इस कुल के सब बालकों के नाम के अंत में 'आनंद' का प्रयोग किया जाता है। आपके पिता श्री विजयानंद स्थानीय कचहरी के कर्मचारी थे और उनकी सत्यता और ईमानदारी की बड़ी ही प्रशंसा रही जिससे उनका उचित रूप से समाज में आदर और संमान था। श्री संपूर्णानंद जी अपने

कुल, अपने नगर, अपने देश,अपने समाज सब की ही कीर्ति अपने सत्कार्यों से बढ़ा रहे हैं। हम सब ही उनकी जीवनी से शिक्षा ले सकते हैं। उनकी विद्वत्ता, उनकी सहिष्णुता, उनका धैर्य, उनकी तत्परता, उनकी कार्यनिष्ठा सभी हमें कुछ सिखा सकतीं हैं। यदि उनमें दोष हैं तो वे सभी में पाए जाते हैं। जो उनमें गुण हैं वे उनकी विशेषता हैं। हमें गुणग्राही ही होना चाहिए। यदि कोई दोष किसी में न हो तो वह मनुष्य कैसा। आज हम उनकी साठवीं वर्ष गाँठ के शुभ उत्सव में सानंद संमिलित होते हुए उनकी दीर्घायु की कामना करते हैं और उन्हे अपने बीच पाकर संतोष और प्रसंनता का अनुभव करते हैं।

कुशल और सफल शिक्षामंत्री

अमर नाथ झा

माननीय श्री संपूर्णानंद जी केवल कुशल और सफल शिक्षामंत्री ही नहीं है। उन्होंने राष्ट्र-भाषा हिंदी की, हिंदी साहित्य संमेलन के सभापति रहकर और नागरी प्रचारणी सभा के अध्यक्ष रहकर, जो सेवाएँ की हैं उन्हें हम भूल नही सकते। परंतु इन सब से अधिक चिरस्मरणीय उनके वे महत्वपूर्ण ग्रंथ होंगे जिनसे उनकी विद्वत्ता और गांभीर्य का परिचय मिलता है। इस प्रांत के नेताओं में उनका विशिष्ट स्थान है। बहुत दिनों तक वे देश की सेवा करते रहें और स्वस्थ रहें, यह हमारी शुभ कामना है।

प्रांत उनका सदैव ऋणी रहेगा

गोविंद वल्लभ पंत

श्री संपूर्णानंद से मेरा इतना घनिष्ट संबंध है कि उनके बारे में कुछ लिखने में संकोच होता है। हम वर्षों से साथ-साथ काम कर रहे हैं। करीब २५ वर्ष हो गए जब मेरा उनसे परिचय हुआ। जितना समय बीतता गया उनके प्रति मेरा आदर व स्नेह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

संपूर्णानंद जी की प्रखर बुद्धि ईश्वरीय देन है। नैसर्गिक बुद्धि बहुतों में देखी जाती है, किंतु बहुत कम लोग उसका पूरा सदुपयोग कर पाते हैं। संपूर्णानंद जी ने अपनी प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा का पूरा विकास किया है। संपूर्णानंद जी इस प्रांत के नहीं किंतु सारे देश के गिने-चुने व्यक्तियों में हैं, जिन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करते हुए सरस्वती की यथेष्ट उपासना की है। वे वास्तव में विद्या व्यसनी हैं, उनकी विद्वत्ता प्रगाढ़ है और उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उनकी लेखनी में ओज व जीवन और उनके विचारों में मौलिकता, विश्लेषण शक्ति तथा गांभीर्य है। इतिहास, राजनीति, पाश्चात्य-पौर्वात्य दर्शन और विज्ञान कोई ऐसा विषय नहीं है जिसमें उन्होंने उच्च कोटि का ग्रंथ न लिखा हो। उनकी कृतियों का हिंदी-साहित्य में ऊँचा स्थान है। इस प्रकार के गंभीर विषयों में उन्होंने हिंदी का स्तर बहुत ऊँचा कर दिया है।

संपूर्णानंद जी केवल उच्च कोटि के विद्वान् व लेखक ही नहीं है, उनकी व्यावहारिक कर्मठता विद्वत्ता से कम नहीं है। तीस वर्ष तक स्वतंत्रता की लड़ाई में, और अब राष्ट्र-निर्माण के काम में उनका जो हिस्सा है उसके लिये यह प्रांत उनका सदैव ऋणी रहेगा। वे आदर्श व सफल शिक्षामंत्री हैं। उनके कार्यकाल में जिस प्रकार शिक्षा की उन्नति व प्रसार हुआ है उसके बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। आज से दस वर्ष पहिले इस प्रांत की साक्षरता नगण्य ही नहीं वरन् लज्जाजनक थी, और आज हम जिस तेजी से आगे बढ़ रहे हैं, हमें उसे देखते हुए पूरी आशा है कि शीघ्र ही हम उन्नत प्रांतों के समकक्ष हो जावेंगे।

संपूर्णानंद जी की विद्वत्ता और कार्यकुशलता सर्वमान्य है। मैं तो इनसे अधिक, उनके उन गुणों की कद्र करता हूँ, जिनकी आज देश व समाज को अधिक आवश्यकता है और जिनका दिन पर दिन ह्रास होता जा रहा है।

उनका सांस्कृतिक स्तर, उनका शुद्ध व स्वच्छ जीवन, सत्यनिष्ठा, स्वाभिमान हमारे सार्वजनिक जीवन के आदर्श हैं। हमारे प्रांत के लिये यह बड़े गौरव की बात है कि ऐसे सुयोग्य, कर्मठ विद्वान् हमारे शिक्षामंत्री हैं और हमें उनका नेतृत्व प्राप्त है। ईश्वर उन्हें चिरायु व सुखी करें।

श्रीयुत संपूर्णानंद जी

लाल बहादुर शास्त्री

श्री संपूर्णानंद जी हमारे प्रांत की विभूति हैं। ज्ञानके पुजारी और विद्या के व्रती हैं। हमारे प्रांत तथा देश में उन थोड़े से सार्वजनिक नेताओं में उनकी गणना है जो महान पंडित, विचारक तथा लेखक हैं। देश के सार्वजनिक जीवन में इतने बहुश्रुत और सुपठित व्यक्ति थोड़े ही हैं। दर्शन, विज्ञान, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, भूगोल, भूगर्भ विद्या, ज्यौतिष, गणित, किनमें उनकी पैठ नहीं है? चार-चार, पाँच-पाँच सौ पृष्ठों की पुस्तक वह सहज ही पढ़ जाते हैं। बुद्धि कुशाग्र तथा स्मृति अनुपम होने के कारण वह उन्हें अपना भी बना लेते हैं। हिंदी संसार के लेखकों में उनका अत्यंत उच्च स्थान है। कई बड़े-बड़े पुरस्कारों को उन्होंने बिना प्रयास, अनायास ही पा लिया है। उनकी पुस्तकें जानकारी से भरी हुई तथा विचारों में उद्रेक उत्पन्न करनेवाली हैं। अपने विचार तथा कार्य दोनों में वह बली हैं। निर्णय जल्दी करते हैं और उससे अप्रिय बनें तो अप्रियता से घबराते भी कम हैं। लोगों से वह कुछ दूर रहना चाहते हैं, कम बोलना, और कम मिलना। इसी कारण समझने में उन्हें प्रायः लोग भूल भी करते हैं। श्री संपूर्णानंद जी से हमारे प्रांत का मान है। वह स्वस्थ रहें और दीर्घायु हों, यह हमारे प्रांतवासियों की हार्दिक अभिलाषा है।

भरतीय संस्कृति के भक्त

गोविंद मालवीय

मैं संपादक गण का कृतज्ञ हूं कि उन्होंने मुझे इस ग्रंथ में अपनी श्रद्धांजलि भेजने को निमंत्रण दिया है। श्रीमान् संपूर्णानंद जी आज उत्तरप्रदेश के शिक्षण के भार को अपने सुदृढ़ और सुयोग्य कंधों पर संभाले हुए ही नहीं है—उससे अधिक महत्व की बात यह है कि आज के विकल्प के युग में भी वह भारतीय संस्कृति और परंपरा के भक्त और उदाहरण दोनों बने हुए हैं यह सौभाग्य है कि उनके ऐसा विचारशील और देशभक्त विद्वान् आज शिक्षामंत्री के स्थानपर हमें मिला हुआ है। उनके हाथों में इस प्रांत की शिक्षा का भविष्य सुरक्षित है। भगवान् उन्हें चिरायु करें जिससे वे समाज की सच्ची उन्नति करने की अपनी लगन को पूरा कर सकें।

श्री संपूर्णानंद जी

बलदेव मिश्र

श्री संपूर्णानंद जी को मैं अच्छी तरह से तब से जानता हूँ जब से वे काशी-विद्यापीठ में आए। इसके पूर्व उनका लेख 'मर्यादा,' 'स्वार्थ' इत्यादि पत्रों में पढ़ता था परंतु वे लेख दार्शनिक विषय पर ही थे। दार्शनिक विषय पर लेख तथा संपूर्णानंद नाम पढ़कर मन में यही समझता था कि लेखक कोई संन्यासी हैं। मनुष्य की धारणा में कुछ न कुछ तथ्य रहता ही है। श्री संपूर्णानंद जी संन्यासी नहीं हैं फिर भी संन्यासियों के बहुत कुछ गुण उनमें हैं। वे वेदांती हैं, योगाभ्यासी हैं, संसारी होने पर भी संसार से अलिप्त से हैं। मिष्टभाषी रहने पर भी स्पष्टवक्ता हैं। तथा विषय को कहने में वे संकोच नहीं करते।

दार्शनिक और गणितज्ञ

यूरोपीयन विद्वानों में कुछ लोगों में दोनों उपाधियाँ साथ देखने में आती हैं, प्लेटो, आर्किमिडिज, न्यूटन, लेवनिज, इत्यादि विद्वान् दोनों उपाधियों से भूषित थे क्योंकि गणित और दर्शन दोनों विषयों को जानते थे। भारतीय दृष्टांत ऐसे नहीं हैं। भारतीय दार्शनिक गणित नहीं जानते थे। और गणितज्ञ दर्शन शास्त्र को नहीं पढ़ते थे। श्री संपूर्णानंद जी ऐसे विशिष्ट पुरुष हैं जिनमें दोनों ज्ञान मिश्रित हैं। विद्यार्थी जीवन में आपने गणित-शास्त्र को पढ़ा क्योंकि आप बी० एस० सी० हैं, अतः बी० ए० कक्षा तक आपका गणित का अभ्यास है। अपने प्रेम से आपने आकाश का अवलोकन कर तारा और ग्रहों को देखकर ज्यौतिष सिद्धांत संबंधी ज्ञान को प्राप्त कर ज्योतिर्विनोद नामक पुस्तक का प्रणयन किया है। दर्शन शास्त्र का अध्ययन उन्होंने विद्याप्रेम से किया है, पाश्चात्य दर्शन का तो उन्होंने स्वयं अध्ययन किया है, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि विज्ञान विषय के छात्र होने पर भी आपकी अंगरेजी विद्या बड़ी दृढ़ है परंतु संस्कृत दर्शन पढ़ने के लिये आपने संस्कृत विद्वानों की संगति की, ऐसा अनुमान करने का कारण है। यद्यपि संस्कृत साहित्य में प्रगाढ़ रुचि का और एक विशेष कारण हुआ, ऐसी कल्पना करने का लेखक का अनुमान है। संभवतः १९११ या १९१२ ई० की बात है कि श्री संपूर्णानंद जी को पं० श्री सभापति उपाध्याय तथा पं० श्री रामाज्ञा पांडेय की संगति हुई। ये दोनों सज्जन विश्वविदित महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार मिश्र के शिष्य

थे। श्री संपूर्णानंद जी इन लोगों को अंगरेजी सिखलाते थे और स्वयं इन लोगों से संस्कृत पढ़ते थे। एकदिन उत्सुकता वश आप इन सज्जनों के साथ महोमहोपाध्याय शिवकुमार मिश्र जी के यहाँ गए। महामहोपाध्याय जी ने उन लोगों से इनका परिचय पूछा। यह विदित होनेपर कि आप जात्या कायस्थ हैं और संस्कृत-शास्त्र का अध्ययन कर रहे हैं, आपने अपने शिष्यों से पूछा कि क्या वे उन्हें वेद भी पढ़ावेंगे। शिष्यों ने यथोचित उत्तर दिया। लेखक का अनुमान है कि यद्यपि दर्शनशास्त्र के अध्ययन के लिये श्री संपूर्णानंद जी ने संस्कृत-साहित्य के अध्ययन का आरंभ किया हो तथापि वेद-विषय में उनके अभिनिवेश का कारण महामहोपाध्याय जी का यह आक्षेप हुआ होगा। श्री संपूर्णानंद जी की 'गणेश' पुस्तक के पढ़ने से तथा उनके व्याख्यानों में यत्रतत्र वैदिक शाखाओं के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि उन्होंने वेदशास्त्र का गहरा अध्ययन किया है। गणितशास्त्र का कार्य आपको अध्ययन समय तक ही रहा ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने हरिश्चंद्र हाई स्कूल में सहाध्यापक तथा बीकानेर हाई स्कूल में प्रधानाध्यापक का जो कार्य किया वहाँ भी आपके अध्यापन का विषय प्रायः अंगरेजी था। किंतु प्रारंभ में ही आपने जो गणितशास्त्र को पढ़ा उसका प्रेम आपकी धमनियों में समा गया है और आप इस विद्या की उन्नति में बड़े सचेष्ट हैं। यद्यपि आप वर्तमान समय में दार्शनिक ही प्रख्यात हैं, फिर भी गणित विद्या की ओर आपका प्रेम दृढ़मूल है। गणित विद्या के जानने से आपकी बुद्धि इतनी ठोस है कि आप सर्व-कार्य-क्षम हैं।

श्री संपूर्णानंद जी की प्रतिभा

श्री संपूर्णानंद जी बहुत शीघ्रता से बोलते हैं, संभवतः उनसे अपरिचित व्यक्ति उनकी सब बातों को प्रथमावृत्ति में समझता भी नहीं होगा। मैं समझता था कि ऐसा उनका अभ्यास ही है। लेखक का अनुमान है कि उनकी प्रतिभा इतने विषयों को एकदा उनके सामने उपस्थित करती है कि उनके प्रतिपादन में उन्हें त्वरा की आवश्यकता होती है। उनके प्रतिपादन में त्वरा रहने पर भी उनके स्वर में एक ऐसी विलक्षणता है कि वह श्रोता को उनकी युक्तियों में विश्वास उत्पन्न कराती है।

बाबू संपूर्णानंद जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा के स्फुरण का अवसर उनके मंत्रित्वकाल में आया है। जब आप अध्यापक रूप में थे, उस समय में भी आपकी विद्या-बुद्धि का स्फुरण देखने में आता था क्योंकि आपने विख्यात मासिक पत्रों का तथा 'टुडे' नामक दैनिक अंगरेजी पत्र का संपादन किया था। ये सब कार्य एक अध्यापक के लिये गौरव की बात हैं, परंतु जब से अपने मंत्रित्व का भार लिया है, विशेषकर के शिक्षामंत्री का, तब से भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न विषयों पर आपके व्याख्यानों को पढ़कर आश्चर्य होता है कि आपकी प्रतिभा किस प्रकार बहुमुखी है।

विद्यापीठ का संबंध

यद्यपि आप दर्शनशास्त्र के अध्यापक होकर आए फिर भी तत्सामयिक वातावरण ने आपको विशिष्ट राजनीतिक पुरुष बना दिया। काशी विद्यापीठ के निर्माण का यश तो अनेक महापुरुषों को है, किंतु वर्तमान समय में काशी विद्यापीठ की यशःपताका आकाश में फहराने का काम श्री संपूर्णानंद जी ही कर रहे हैं और यह उचित भी है क्योंकि बाबू संपूर्णानंद जी अपने अलौकिक गुणों से महान् हैं तथापि उनके महत्वसंपादन में विद्यापीठ ने भी उनकी सहायता की है।

स्वभाव-स्वातंत्र्य

बाबू संपूर्णानंद जी स्वभाव के स्वतंत्र हैं। जब जिस विषय को उनकी विवेक बुद्धि ठीक समझती, उसको स्वीकार करने में ननुनच नहीं करते। उन्होंने 'ब्राह्मण सावधान' में लिखा कि "तैंतीस कोटि देवता कौन हैं, कोई गिनावे तथा कर्मकांड देशभाषा में होना चाहिए, संस्कृत में कर्मकांड को रखना पंडितों का मायाजाल है"। परंतु जब उन्हें मालूम हुआ कि तैंतीस कोटि तैंतीस करोड़ नहीं किंतु तैंतीस प्रकार है तो इस विषय को स्वीकार कर लिया और कर्मकांड संस्कृत में ही रहना उपयुक्त है इस बात को भी पीछे उन्होंने स्वीकार किया।

चिद्विलास

चिद्विलास पुस्तक योरोपीय तथा भारतीय दार्शनिक विषयों के संमिश्रण से लिखी गई है। भाषा सरल है किंतु विषय ही ऐसा है कि जबतक मन को सब ओर से खींचकर एक ओर न लगाया जाय तबतक समझना कठिन है। इस पुस्तक से आपने बड़ा यश अर्जन किया है। बड़े-बड़े संस्कृत के दार्शनिकों ने इस पुस्तक की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। मेरी दृष्टि में इस पुस्तक की भूमिका में कुछ ऐसी बातें लिखी गई हैं जिससे जगद्वन्द्य स्वामी शंकराचार्य योगिवर भर्तृहरि तथा परम वेदांती खंडन खंडखाद्य के लेखक श्रीहर्ष के ऊपर आक्षेप आते हैं जो समुचित नहीं हैं। श्री संपूर्णानंद जी की और अनेक पुस्तकें हैं, लोगों में जिनकी बड़ी प्रशंसा है।

शिक्षामंत्रित्व

जब से आपने शिक्षामंत्री का काम संभाला है, देश में शिक्षा-प्रसार के लिये अनेक उपायों का उद्‌भावन किया है, जिनके अनुसरण अन्य प्रांतों के लोग भी कर रहे हैं। संस्कृत-शिक्षा-प्रसार के संबंध में भी आप अभूतपूर्व उपायों का प्रसार कर रहे हैं। लगातार तीन वर्ष से काशी संस्कृत कालेज में कनवोकेशन हो रहा है, रिसर्च इन्स्टिट्यूट का स्थापन कर संस्कृत के विद्वान् शोधन-कार्य कर रहे हैं, वह संस्कृत युनिवर्सिटी के स्वरूप को ग्रहण करने जा रहा है, जिससे संस्कृतोपजीवी वर्ग में उथल-पुथल सा हो रहा है। संस्कृत कालेज का ऐतिहासिक भवन अब केवल संस्कृत वर्ग के लिये ही व्यवहृत होने जा रहा है, ये सब विषय ऐसे हैं जो स्वप्न में भी किसी ने कभी न अनुभव किया होगा। संस्कृत के पढ़े-लिखे विद्वान्, जिनका उपयोग केवल संस्कृत-शास्त्र के अध्यापन मात्र में होता था, अब उनके लिये अन्य कर्मक्षेत्र भी खुल रहे हैं, इसप्रकार संस्कृत-शास्त्र का आदर होने लगा है। सब से बढ़कर अच्छी बात यह है कि शिक्षामंत्री शिक्षा के प्रसार तथा शिक्षा को उन्नत अवस्था में परिणत करने के लिये सब प्रकार के सद्विचारों को ग्रहण करने के लिये संनद्ध रहते हैं। आप जिस प्रकार स्वाध्यायी हैं, उस प्रकार के अध्ययन का अवसर अब आपको अपेक्षाकृत अल्प मिलता है फिर भी विद्याव्यसनी होने के कारण तंत्रशास्त्र के तत्व को प्रकाशित करने के गवेषण में निरंतर प्रयत्नशील हैं इस प्रकार की खोज की ओर लोगों का ध्यान अभीतक नहीं गया है।

एक घटना

वेंकटेश नारायण तिवारी

मान्य श्री संपूर्णानंद जी को अभिनंदन ग्रंथ की भेंट कर, काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा अपने एक बहुत पुराने ऋण से मुक्त हो रही है—एक ऐसे ऋण से जिसका, संभवतः, उसे न तो बोध है और, यदि उसे बोध हो तो, न वह अपने ऊपर उनका ऋण ही मानने को तैयार होगी। परंतु मैं इस बात का साक्षी हूँ। जो घटना १२ वर्ष पहले हुई थी उसका यहाँ पर उल्लेख कर मैं अपने कथन की सचाई का प्रमाण उपस्थित करता हूँ।

× × × × ×

घटना क्या थी? और क्या मैं उस घटना का कोई तत्कालीन प्रमाण दे सकता हूँ? इन दोनों ही प्रश्नों का सीधा उत्तर मेरे पास है। जब सन् १९३८ में शिक्षामंत्री का पद ग्रहण करने के उपरांत मान्य श्री संपूर्णानंद जी लखनऊ से पहली बार अपने नगर गए थे उस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने उन्हें एक मानपत्र भेंट किया था। उस मानपत्र को स्वीकार करते हुए मान्य श्री शिक्षामंत्री ने एक भाषण दिया। उस भाषण में उन्होंने हिंदी के पक्ष में कुछ कहा। उनके भाषण का सार अखबारों में प्रकाशित हुआ। सार का प्रकाशित होना था कि उर्दू पत्रों के संपादक और लेखक और समाचार-पत्रों के क्षेत्र के बाहर जो गण्यमान्य सज्जन उर्दू के समर्थक थे वे सब श्री संपूर्णानंद जी पर टूट पड़े। प्रांत का शिक्षामंत्री और वह हिंदी का समर्थन करें! इस घोर अपराध के लिए दोषी को जो भी दंड दिया जाय वह थोड़ा होगा। शिक्षामंत्री की इतनी जुर्रत! उसे तुरंत ही सबक सिखाना चाहिए ताकि हिंदी की तरफदारी में कहीं वह आगे चलकर उर्दू का अनिष्ट न कर डाले! इस अक्षम्य अपराध के लिए मान्य श्री संपूर्णानंद जी की निंदा के पुल उर्दू-अखबार नवीस बाँधने लगे। कई महीनों तक यही तूफान-ए-बदतमीजी उर्दू अखबारों में जारी रही। दुःख की बात है उस समय हिंदी जगत ने मान्य श्री संपूर्णानंद के ऊपर इन अनुचित आक्षेपों के प्रति तटस्थ रहना ही उचित समझा और मान्य श्री शिक्षामंत्री अपने आत्मगौरव के कारण इस विषय में प्रायः मौन ही रहे। जहाँतक कांग्रेसजन का संबंध था, वे हिंदुस्तानी और दो लिपियों के पुजारी थे। फिर भला वे कैसे अपने इस निरपराध अभिमन्यु की कौरवों द्वारा हत्या को रोकने में कोई दिलचस्पी ले सकते थे। जिन दिनों का मैं जिक्र कर रहा हूँ, उन दिनों मुझे कार्यवश युक्त-

प्रांत में प्रकाशित होनेवाले सब अखबारों में प्रकाशित लेखों के देखने का काम सौंपा गया था। इसलिय मझे प्रतिदिन और प्रति सप्ताह इन आक्रमणों की बढ़ती हुई तीव्रता और भयंकरता का बोध होता जाता था। मान्य श्री शिक्षामंत्री के प्रति इस अन्याय को सहन करना मेरे लिए जब असंभव हो गया तब मैंने हिंदी के प्रश्नपर एक लेख-माला लिखनी आरंभ की। इस माला के प्रथम लेख का शीर्षक था "हिंदी बनाम उर्दू।"

× × × ×

मैंने ऊपर यह कहा है कि उपर्युक्त घटना का लेखबद्ध तत्कालीन विवरण मौजूद है। उस समय के मेरे एक लेख का शीर्षक था "हिंदी और उर्दू की समस्या।" इसी लेख में मैंने इस घटना का उल्लेख किया है। प्रासंगिक होने के कारण लेख के उस अंश को यहाँपर उद्धृत करना अनुचित न होगा। उद्धरण नीचे पढ़िए :—

'संयुक्तप्रांत की असेंबली के सदस्यों में मेरे अनेक मित्र हैं। उनमें हिंदू और मुसलमान, दोनों ही शामिल हैं। इनमें से एक मुसलमान मित्र से इसी विषय पर मेरी बातें हुई। मैंने उनसे पूछा "आजकल उर्दू के अखबार-नवीसों ने हिंदी-उर्दू के मसले को लेकर क्यों शोर-गुल मचा रखा है।"

उन्होंने जवाब दिया, "इस सूबे के माननीय शिक्षामंत्री महोदय ने काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा में जो तकरीर की उसीकी वजह से यह तूफान बरपा हो गया है।"

मैंने पूछा, "जनाब, वजीर साहब ने अपनी तकरीर में क्या फरमाया था?"

जवाब मिला "अपनी उस तकरीर में वजीर साहब ने हिंदी की हिमायत की थी।"

मैंने कहा, "तो इसमें उनका क्या कुसूर है, उनकी क्या खता है, जिसकी वजह से उर्दू अखबार-नवीस, उनसे इस कदर खफा हो गए।"

मेरे दोस्त ने फरमाया, "देखो जी, इस सूबे की जबान उर्दू है। हम जो जबान बोलते हैं, वह उर्दू है। हमारे देहाती भाई भी उर्दू ही बोलते हैं। आपकी इस मामले में क्या राय है? क्या तुम समझते हो कि इस सूबे की जबान उर्दू नहीं है?"

मैंने बड़ी विनम्रता पूर्वक जवाब दिया "आप जब फरमाते हैं कि इस सूबे की जबान उर्दू है, तब मैं इससे किस तरह इनकार कर सकता हूँ। ऐसी दशा में मेरे लिए यह कहना कि इस सूबे की जबान उर्दू नहीं है, अनुचित होगा।"

मेरे दोस्त बहुत खुश हुए, मेरी तारीफ भी की, बोले,—"वाह-वाह, तुम बड़े साफ गो आदमी हो। अब तुम्हीं देखो, गर इस सूबे की जबान उर्दू है, तो वजीर साहब को इस तरह गलत बयानी करने की क्या जरूरत थी, खासकर, जब उनकी गलत-बयानी की वजह से मुसलमानों को सदमा पहुँचता है?"

मैं खामोश रहा, लेकिन मेरे दोस्त ने इसरार किया कि मैं कुछ कहूँ। मेरा खामोश रहना अच्छा होता, लेकिन खामोश रहने की उन्होंने मुझे इजाजत न दी। खैर मैंने बहुत अदब से जो अर्ज किया, उसका खुलासा नीचे देता हूँ।

मैंने कहा—"जनाब, हम दोनों ने अपनी-अपनी पैदाइश के वक्त पल्ले दर्जे की हिमाकत दिखाई।"

मेरे दोस्त चौंक पड़े। बोले, "हम लोगों ने क्या हिमाकत की?"

मैंने कहा, "अल्लाह मियाँ के यहाँ से जब हम दोनों रवाना हुए, उस समय हम लोगों ने बवकूफी में एक ही नम्बरी सूबे को अपनी पैदाइश के लिये चुना, जिसके रहनेवाले इतने खब्ती और बेवकूफ हैं, कि दुनिया में उनकी कहीं मिसाल न मिलेगी।'

मेरे दोस्त ने चौंक कर पूछा—"आप ऐसा क्यों कहते हैं ?"

मैंने अर्ज किया, "हुजूर, दुनिया के पर्दे में ऐसा और कौन दूसरा मुल्क या सूबा मिलेगा, जहाँ के लोग इतने नंबरी बेवकूफ हों कि ऐसी जबान में लिखी हुई किताबों को ज्यादा खरीदें, जिसे वे खुद नहीं समझते, या जिस जबान को वे समझते हैं, उस जबान में लिखी हुई किताबों की कुछ भी कद्र न करें। यद्यपि, आपकी राय में इस सूबे की जबान उर्दू है, तो भी यहाँ के लोग ९० प्रतिशत हिंदी की किताबें यानी वे ९० प्रतिशत उस जबान की किताबें खरीद रहे हैं, जिसे, आपकी राय में, वे समझ नहीं सकते, और जिस जबान को वे बोलते और समझते हैं, उस जबान की महज १० फी सदी किताबें खरीदते हैं। ऐसे पागल क्या और कहीं देखने को मिलेंगे? जर्मन जर्मनी और फ्रांसवाले फ्रेंच किताबें ज्यादा खरीदते हैं। लेकिन हमारे सूबे के लोग बोलते हैं उर्दू, मगर पढ़ते हैं हिंदी किताबें। इस हिमाकत की भी कुछ इंतहा है। सचमुच हमारे सूबे के लोग बड़े खब्ती हैं।"

मेरे दोस्त इस बात को सुनकर खामोश हो गए। थोड़ी देर तक वे सिर खुजलाते रहे। बाद में मेरे कमरे से वे चले गए।

× × ×

आजकल राशन की अंधेर है। रोटी, दालतक पर राशन का बोलबाला है। सरकार की देखादेखी इस अभिनंदन ग्रंथ के उदारचेता संपादकों ने भी मुझपर शब्दों के राशन की कैद लगा दी है। मुझे आदेश मिला है कि लेख में एक निर्धारित संख्या से अधिक शब्द न हों। उस सीमाको मैं बहुत पहले ही लाँघ चुका। अतएव अपने दुस्साहस से भयभीत होकर मैं इस लेख को एक स्नेहांजलि से समाप्त कर दूंगा। मान्य श्री संपूर्णानंद प्रांत के इने-गिने विद्वानों में हैं और हैं बहुभाषाभाषी। हिंदी की जो उन्होंने सेवाएँ की हैं उनका मोल आंकना सहज नहीं है। उन्होंने हिंदी के समर्थन में अपयश और अपकीर्ति की कभी परवाह नहीं की। निर्भीक होकर उन्होंने हिंदी की हिमायत उन दिनों की जब हमारे प्रांत के चतुर खिलाड़ी वाह-वाही लूटने में व्यस्त थे और मुखालिफों के प्रियजन कहलाने की तमन्ना में इधर-उधर की बहकी-बहकी बातें करने में अपनी राजनीतिक पटुता का प्रदर्शन करने में संलग्न थे। मान्य श्री मंत्री जी ने अपनी लिखी हुई किताबों के रूप में हम सब को जो देन दी है उसका उपकार हमें नतमस्तक होकर मानना चाहिए। उनकी गद्यशैली आजकल के लेखकों की शैली की तुलना में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। मैं उनके गद्य की विशेष रूप से प्रशंसा करता आया हूँ। नैसर्गिक प्रवाह और अपरिचित तथा गूढ़ विषयों की व्याख्या, प्रतिपादन और विश्लेषण की अपूर्व क्षमता उस शैली के विशिष्ट गुण हैं। राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने जो काम किया है उससे हममें से कोई अपरिचित नहीं है और न अपरिचित है उनकी उन शिक्षा संबंधी योजनाओं से जिनके द्वारा स्वतंत्र भारत के भावी नागरिक मानसिक और नैतिक क्षेत्रों में समृद्ध बनकर देश और जगत के कल्याण में आगे चलकर लगेंगे। मान्य श्री संपूर्णानंद जी को मैं प्रान्त की एक विशिष्ट विभूति मानता हूँ और मेरी यह कामना है कि वे चिरजीवी हों क्योंकि अभी जो कुछ उन्होंने हमें दिया है वह उसकी तुलना में नगण्य है जिसकी भविष्य में उनसे हमें पाने की आशा है।

शासक श्री संपूर्णानंद जी

एक संस्मरण

श्री संपूर्णानंद जी विद्वान्, सुलझे हुए लेखक, निस्वार्थ समाजसेवक, एवं शिक्षा सुधारक और देश के स्वातंत्र्य संग्राम के निर्भय योद्धा के रूप में सुविख्यात हैं। व्यावहारिक शासक के रूप में भी वे उतनी ही ख्याति पाने योग्य हैं। मेरी समझ से यह बात दुखद होते हुए भी वर्तमान परिस्थितियों में अनिवार्य है कि साधारण जनता राज्य के उच्चतम पदों को सुशोभित करनेवाले राजनीतिज्ञों तथा शासनाधिकारियों में अधिक महत्व राजनीतिज्ञों को देती है। बहुसंख्यक जनता के लिये शासन कार्य गुरुमंत्र के समान है जो दीक्षित मात्र को ही उपलभ्य है। अधिकांश के लिये यह कार्य अत्यधिक नीरस और मंद है। दूसरी ओर राजनीति साहस प्रदर्शन की प्रबल प्रवृत्ति की तुष्टि करती है, उसमें आखेट की उत्तेजना होती है, रंगमंच के प्रभावकारी दृश्य का आनंद आता है और वह सुखांत और दुखांत नाटकों के मनोविनोद तथा भावावेश से परिपूर्ण होती है। जिसे हम "राजनीति" कहते हैं उसके ये सब आकर्षण साधारण मनुष्य को मोहित कर लेते हैं। वह बरबस रोजमर्रा के शासन कार्य की कठोर वास्तविकता से दूर राजनीति के स्वप्निल प्रदेश में विचरण करने लगता है। यद्यपि शासन-कार्य में जनता का आकर्षण बहुत कम होता है, तथापि वह जनता के लिये विशेष महत्व की वस्तु है। राजनीति उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र है, उद्देश्य तो उन्नतिशील शासन कार्य ही है। राजनीति की या राजनीतिज्ञों की लड़ाई का फैसला शासन-प्रबंध के युद्धक्षेत्र में हुआ करता है। राजनीतिज्ञों को अपनी प्रतिज्ञाएँ रोजमर्रा के शासन कार्य के क्षेत्र में पूरी करके दिखानी होता हैं। शासनकर्ता यदा कदा ही राजनीतिज्ञ के रूप में परिवर्तित होता है; लेकिन राजनीतिज्ञ तब तक पूर्णता प्राप्त नहीं करता जब तक वह शासक नहीं हो जाता। योग्य शासक के लिये विभिन्न प्रकार के अनेक गुणों से संपन्न होना आवश्यक है। इनमें से एक मानव स्वभाव की और विशेषकर अपने चतुर्दिक् वातावरण की पहचान की क्षमता है। यही वातावरण मनुष्य का कार्यक्षेत्र होता है, जिसे मनुष्य को अपने उद्देश्यानुसार बनाना पड़ता है। जिंदगी की ऊंची-नीची परिस्थितियों का ज्ञान दूसरा गुण है। शासकों की भर्ती के लिये साधारणतया प्रतिद्वंद्वात्मक परीक्षाएँ उत्तमतम उपाय मानी जाती हैं। कुछ हद तक इनसे उद्देश्य की पूर्ति अच्छी तरह होती है, परंतु ये परीक्षाएँ जिंदगी की पाठशाला का स्थान पूरी तौर से नहीं ले सकती, जहाँ प्रथम श्रेणी के शासक सीखते और तैयार होते हैं। जिंदगी ने श्री

संपूर्णानंद जी को उस शासन कार्य के लिये तैयार किया जिसका भार उन्हें एक दिन वहन करना था। यह उस प्रकार की जिंदगी नहीं थी जो साधारणतया व्यावहारिक शासन की योग्यता प्राप्त करनेवाले के लिये आवश्यक समझी जाती है। दूसरी ओर यह कहा जा सकता है कि संभवतः किसी को शासन कार्य के अयोग्य बनाने के लिये इससे अच्छा शिक्षा-क्रम नहीं रखा जा सकता था। राष्ट्र की स्वतंत्रता के इस पुजारी को देश की गुलामी के कारण तत्कालीन सरकार का घोर विरोध करना पड़ा। स्वतंत्र देशों में इनकी तरह के व्यक्तियों का ध्यान जैसे अत्यावश्यक कार्यों की ओर लगा रहता है, उनसे परावृत्त होकर इनका ध्यान विदेशी सत्ता के जुए को दूर फेंकने के लिये उसके विरुद्ध आंदोलन करने में पूरी तरह लगा रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति का एक अत्यंत सुखद परिणाम यह हुआ कि हमारे देशवासियों को अपनी स्वाभाविक योग्यता और नैसर्गिक शक्ति का देश के प्रति अपने विविध कर्तव्यों के पालन में उपयोग करने का नया अवसर मिला।

मेरी अपेक्षा अन्य लोग श्री संपूर्णानंद जी की विद्वत्ता, लेखन कला, समाज-सेवा-कार्य या जनमत निर्माण करने की क्षमता का समीक्षण करने की अधिक योग्यता रखते हैं। उनके बहुमुखी कार्यों के एक अंग का विशेष ज्ञान होने के कारण मैं उनकी शासन-योग्यता के संबंध में ही संभवतः कुछ कह सकता हूँ। द्वितीय कांग्रेस-सचिव-मंडल में श्री संपूर्णानंद जी के शिक्षा-सचिव होने के पूर्व वे प्रथम-सचिव-मंडल में कुछ समय तक रह चुके थे। इसलिये यद्यपि सन् १९४६ में द्वितीय कांग्रेस-सचिव-मंडल के प्रांत का शासन भार वहन करने पर उन्हें सचिव के कार्य का कुछ पूर्व अनुभव अवश्य था, तथापि उस अल्पकालीन अनुभव से अधिकतर लोगों में ऐसे पद का उत्तरदायित्व निभाने में सहज, स्वाभाविक, आत्म-विश्वास नहीं उत्पन्न होता। परंतु श्री संपूर्णानंद जी ने पिछले अनुभव से इतना अधिक लाभ उठाया था और सचिव के कार्यों के उत्तरदायित्व से संबंधित समस्याओं का गहन अध्ययन और चिंतन कर अपने को इतनी अच्छी तरह तैयार कर लिया था कि उनमें कभी आत्मविश्वास के अभाव का तनिक भी चिह्न दिखाई न दिया। उन्हें कोई दिक्कत न मालूम हुई और इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि उन्होंने दूसरे सब को भी कोई दिक्कत न महसूस होने दी। आत्मविश्वास की उचित सीमा का उल्लंघन किए बिना अपने पर विश्वास का अनुभव करना कठिन है। श्री संपूर्णानंद जी के बारे में यह कहना ठीक ही होगा कि वे आत्मविश्वास की सीमा को जानते हैं। जिन सरकारी सलाहकारों को उन्होंने विश्वसनीय समझा उनपर उन्होंने पूरा विश्वास किया और बदले में उन्हें उनकी पूरी निष्ठा प्राप्त हुई। तत्कालीन शासन-पद्धति तथा उसके मुख्य एजेंट स्थायी सरकारी अधिकारियों के अदम्य और दृढ़ विरोध में जितने वर्ष उन्होंने बिताए हैं, उन्हें देखते हुए यदि उन्होंने सरकारी अधिकारियों के प्रति अविश्वास और संदेह प्रकट किया होता तो मुझे तनिक भी अचरज न होता। परंतु अधिकारियों के विरुद्ध वर्षों की तीव्र लड़ाई से भी उनके प्रति उनके मन में कोई विकार नहीं आया और यह अनुभव होता था कि प्रमुख समस्याओं पर इस व्यक्ति के चाहे जो विचार हों, इनकी इच्छाशक्ति इतनी प्रबल है और आंतरिक वृत्ति इतनी स्थिर है कि ये अपनी नीति को कार्यान्वित करनेवाले मुख्य कर्मचारियों के प्रति दुर्भाव नहीं रखते, जो ऐसे समय, जब कि सचिवों और स्थायी सरकारी नौकरों में घनिष्ट सहयोग और सद्भाव की अत्यंत आवश्यकता है, केवल हानिकर ही सिद्ध हो सकते हैं। श्री संपूर्णानंद जी ने पदग्रहण करने के बाद तुरंत ही शिक्षा-विभाग का पुनस्संघटन करने और उसे नया रूप

देने का काम प्रारंभ कर दिया। अभीष्ट परिवर्तन की रूपरेखा और सुलझे विचारों के साथ उन्होंने कार्यारंभ किया। परंतु उनके विचार और कार्यक्रम इतने कट्टर और अटल नहीं थे कि व्यावहारिक अनुभव के आधार पर उनमें वे परिवर्तन न कर सकें। अपनी नीति की रूपरेखा बतला कर उसके साधारण ब्योरे की पूर्ति तथा उसे व्यावहारिक रूप देने का काम वे अपने विशेषज्ञ सहायकों पर छोड़ देते हैं। इस बात को खूब अच्छी तरह जानते हुए कि सचिव का वास्तविक कार्य नीति-निर्धारण है, वे अपने अधीनस्थ सरकारी कर्मचारियों के उचित अधिकार-क्षेत्र में कम से कम हस्तक्षेप करते हैं। वे समझते हैं कि कहाँ उनके कार्य-क्षेत्र की सीमा समाप्त होती है और दूसरों की प्रारंभ होती है। यही उनकी सफलता का रहस्य है। श्री संपूर्णानंद जी शासन-कार्य और राजनीतिक संबंध के बीच की खाई को उसी प्रकार देखने का प्रयत्न करते हैं जिस प्रकार लोकतंत्र प्रणाली की सरकारों के सचिवों को करना चाहिए। अपने शासनकार्य के निर्णयों में राजनीतिक कारणों और दलगत संबंध को बाधक न होने देने का साहस और आवश्यक दृढ़ता उनमें है। वे यह नहीं भूलते कि शासनकार्य कानून की तरह है, जो "व्यक्ति" की इज्जत नहीं करता। अपने जीवन के विविध कार्यक्षेत्रों के प्रत्येक अंग में उन्होंने सत्यनिष्ठा और सिद्धांत की जो दृढ़ता प्रकट की है उसका पालन वे अपने शासनकार्य में भी करते हैं। व्यक्तियों के लिये सिद्धांतों का विस्मरण और बलिदान नहीं किया जाता। मैं नहीं कह सकता कि उनमें शासन संबंधी कार्यों के विचार करने में निर्लिप्त और निरपेक्ष भाव ईमानदारी का पालन करने की आंतरिक प्रवृत्ति ने उत्पन्न किया है या वैज्ञानिक समाजवाद ने। उनकी निरपेक्षता और न्याय बुद्धि "सिफारिश" नाम से पुकारे जानेवाले दबाव का, जो कभी खुलकर और कभी गुप्त रूप से पड़ता है, विरोध करने में उन्हें बहुत सहायता देती है। यह दबाव हमारे शासनकार्य की एक मुख्य समस्या हो गई है। समुपस्थित प्रश्नों पर वे ऐसी सरल दृष्टि से विचार करते हैं, जो राजनीतिज्ञों में तो कम ही दिखाई देती है, ऐसे शासकों में भी अचरज की ही बात है, जो स्पष्टवादिता का दावा करते हैं। उनका काम खरा होता है, जल्दी होता है और दूसरों की शिथिलता उनके लिये असह्य होती है। मानसिक अस्थिरता, जो किसी शासक का सब से बड़ा अभिशाप है, उनसे बहुत दूर है। उपस्थित प्रश्न पर वे विचार करते हैं, उसका मान-निर्धारण करते हैं, शीघ्र तथा स्पष्ट निर्णय करते हैं और उसपर दृढ़ रहते हैं। शिक्षा-सचिव के उनके वर्तमान पद के कार्य मे उनकी अभ्रांत कार्यक्षमता और सुधार के हेतु अदम्य उत्साह की भावना पर्याप्त मात्रा में प्रकट हुई है। व्यापक सुधार के लिये उनका उत्साह हमारी शिक्षा-संबंधी इमारत के कोने-कोने में व्याप्त है। उनके सक्रिय, उत्सुक और ज्ञान पिपासु मस्तिष्क की छाप उनके शासन-संबंधी कार्योंपर पूरी तरह पड़ी है। स्वभावतः जीर्ण-शीर्ण पद्धति और जर्जर प्रणाली के विरुद्ध होनेके कारण वे यह पसंद करते हैं कि अन्य लोग "रुटीन" नाम से पुकारी जानेवाला लकीर के फकीर की नीति का न पालन करें। वे यह चाहते हैं कि कर्मचारी अपने कार्य में स्वतः-प्रेरणा और क्रियात्मक बुद्धि का परिचय दें। ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो यह कहते हैं कि संपूर्णानंद की गति बहुत तीव्र है और वर्तमान प्रणाली को बदल डालने की अपनी इच्छा में वे व्यावहारिक सीमा को भूल जाते हैं और यह कि परिवर्तन ही प्रगति नहीं है। यह सच है कि परिवर्तन से प्रगति अवश्यभावी नहीं है, और इससे भी अधिक सच यह है कि यदि परिवर्तन प्रगति नहीं है तो स्थिरता में तो कोई गति नहीं है। परिवर्तन में कम से कम प्रगति की संभावना तो होती है, स्थिरता से तो केवल अधिकाधिक अवनति ही हो सकती है। परिवर्तन की गति की तीव्रता के बारे में चाहे कोई कुछ भी समझे, शिक्षा-जगत् का स्थिर समुद्र अंतस्थल तक हिल गया है।

शिक्षा-विभाग के शासक के लिये शासक से बढ़कर अनुसंधानकर्ता होना आवश्यक है, जो बात अन्य क्षेत्रों के शासकों के लिये नहीं है। जहाँ तक शिक्षा का संबंध है, अच्छा है कि हम अनवरत अनुसंधान करते जायँ, नया क्षेत्र ढूंढ़ निकालें और नए मार्ग प्रशस्त करते जायँ। यह स्थिति उससे तो अच्छी ही है कि व्यावहारिक कठिनाइयाँ हमें भयभीत करती रहें, कोई नया अनुसंधान करने न दें और हम लकीर के फकीर बने रहें। सच्चे शिक्षा-शास्त्री को शिक्षा संबंधी शासनकार्य करने का बहुत ही कम मौका मिलता है। शिक्षा-संबंधी शासनकर्ता अक्सर शिक्षा शास्त्री न होते हुए भी शिक्षा-संबंधी शासन कार्य करते हैं। श्री संपूर्णानंद जी प्रधानतः शिक्षा-शास्त्री हैं, जिन्हें उनके राजनीतिक महत्व ने शिक्षा-शासक होने का अवसर प्रस्तुत किया है। उनका सब से बड़ा कर्तव्य यह है कि शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार इस प्रकार करें कि भारत की परिवर्तित परिस्थति में शिक्षा का अपेक्षित आधार दुर्बल न होने पावे और इस वेगपूर्ण प्रसार के फलस्वरूप शिक्षा का स्तर तथा उसकी व्यावहारिक उपयोगिता किसी प्रकार कम न हो। व्यापक सुधार जारी करनेवाले तथा अपने विभाग का कायाकल्प करने का काम उठानेवाले सचिव के कार्यों के फलाफल की परख किसी एक परिवर्तन या सुधार कार्य से करना उचित नहीं है। पूरे काम को देखकर ही कोई सही नतीजा निकाला जा सकता है। सुधारों के पूर्ण प्रभाव का पता लग जाने के बाद संपूर्ण शिक्षा पद्धति का चित्र सामने लाने का प्रयत्न हमें करना चाहिए। गत तीन वर्षों से जिस शिक्षा-नीति का पालन किया जारहा है और इस संबंध की समस्याएँ जिस प्रकार सुलझाई गई हैं, उसपर निष्पक्ष और अंतिम निर्णय करने के लिये कुछ समय की आवश्यकता है। इस बीच हमें यह देखना है कि कोई निर्णय देने के लिये हमारे पास क्या सामग्री प्रस्तुत है। कुछ परिणाम तो स्फटिक सदृश्य स्पष्ट हैं और उन्हें सहानभूति और मैत्री भाव न रखनेवाले आलोचक भी अस्वीकार नहीं कर सकते।

सन् १९४५–४६ में शिक्षा विभाग का जो बजट ३ करोड़ १८ लाख रुपए का था, वह १९४९–५०, में ६ करोड़ ९० लाख रुपये का हो गया है। सरकारी नियंत्रण में प्रतिवर्ष ४४०० प्राथमिक स्कूलों की स्थापना की सरकारी योजना से प्राथमिक शिक्षा प्रसार के कार्य को अत्यधिक उत्तेजन मिला है। इस योजना के अनुसार ११,१५० स्कूल अबतक खुल चुके हैं। परिगणित जातियों की शिक्षा-संबंधी सुविधाओं में स्पष्ट बृद्धि हुई है और उनकी शिक्षा पर सरकार सन् १९४५–४६ में जहाँ ६ लाख रुपया खर्च करती थी, वहाँ १९४९–५० में १२ लाख रुपया खर्च कर रही है। म्युनिसिपल क्षेत्रों के बालकों को अनिवार्य प्रारंभिकशिक्षा देने के काम की गति बहुत तीव्र रही है। जहाँ १९४६ में केवल ३६ म्युनिसिपल क्षेत्रों में अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा लागू की गयी थी, वहाँ अब सब म्युनिसिपैल्टियों में यह योजना कार्यान्वित हो गई है। वयस्क शिक्षा के कार्यक्रम के द्वारा निरक्षरता और अज्ञान को दूर करने की आवश्यकता भी भुलाई नहीं गई है। इस विषय के विशेषज्ञों तथा इस समस्या में दिलचस्पी रखनेवाले अन्य सज्जनों की एक कमेटी पूरे प्रश्न पर विचार करने के लिये नियुक्त की गई थी और सरकार कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार कार्य करनेवाली है तथा वह वयस्क शिक्षा पर बड़ी अतिरिक्त धनराशि व्यय करेगी। जहाँतक माध्यमिक शिक्षा का संबंध है, स्कूलों और कालेजों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है और स्कूल जानेवाले बालकों की भिन्न-भिन्न अभिरुचि के अनुकूल नए प्रकार के स्कूल खोले गए हैं। ट्रेनिंग प्राप्त शिक्षकों को पर्याप्त संख्या में तैयार करने की समस्या व्यावहारिक और विधायक रीति से हल की जा रही है। इस कमी को पूरा करने के लिये बहुत कुछ किया जा चुका है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही ट्रेनिंग

प्राप्त शिक्षकों की वर्तमान संख्या में बहुत वृद्धि हो जायगी। अध्यापकों के वेतन में, जिसे बहुसंख्यक जनता की ओर से अपर्याप्त बताया जाता था, वृद्धि करने की जटिल समस्या सहानुभूति और विवेक से हल की गई है। यद्यपि कभी-कभी संगठित अध्यापकों के बड़े समूह को सरकार का विरोध करना पड़ा और उसे हड़ताल की धमकी देनी या हड़ताल तक करनी पड़ी, तथापि मेरी समझ से यह सरकार की सहानुभूति और सद्भावना के अभाव का द्योतक नहीं, वरन् पूरी तरह से कार्यान्वित न हो सकनेवाली सदिच्छा का ही द्योतक है। कारण, बहुत-सी ऐसी कठिनाइयाँ होती हैं जो जादू की छड़ी घुमाकर दूर नहीं की जा सकतीं। प्रांत के विश्वविद्यालय, जो अर्थाभाव से पीड़ित थे, पहले की अपेक्षा बहुत अधिक आर्थिक सहायता पा रहे हैं। मैं जानता हूँ कि कई हल्कों में यह समझा जाता है कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा के लिये सरकार जो धन दे रही है, वह अब भी बहुत अपर्याप्त है और राष्ट्रीय सरकार विश्वविद्यालयों की विस्तार की जरूरी माँग पूरी करने के लिये अर्थाभाव का बहाना नहीं कर सकती। सरकार ने एक प्रतिनिधित्वपूर्ण यूनिवर्सिटीज ग्रांट्स (अनुदान) कमेटी सरकार से इसकी सिफारिश करने के लिये नियुक्त की है कि विश्वविद्यालयों को कितनी आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। इस कमेटी के साथ ही एक साइंटिफिक रिसर्च कमेटी (वैज्ञानिक अनुसंधान-समिति) भी बनाई गई है जिसका उद्देश्य उस अनुदान के संबंध में सिफारिश करना है जो न केवल विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक अनुसंधान और विज्ञान की उन्नति को अग्रसर करने के लिये हो, बल्कि उद्योग व्यवसाय में विज्ञान के प्रयोग को प्रोत्साहन देने के संबंध में भी हो। अजायबघरों की उन्नति की ओर भी, जो अन्य देशों में सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करने का बहुत बड़ा तथा महत्वपूर्ण काम करते हैं, सरकार ने काफी दिलचस्पी दिखलाई है। अजायबघरों से जनता को शिक्षित करने तथा उनका सांस्कृतिक स्तर उन्नत करने का काम लेने का एक सुयोजित कार्यक्रम बनाया गया है। प्राच्य-विद्या की शिक्षा की (जिससे मेरा अभिप्राय अरबी, फारसी और संस्कृत की शिक्षा से है) योजना बनाने की समस्या की उपेक्षा नहीं की गई है। इस समस्या पर व्यापक रूप से विचार कर सरकार के संमुख अपने प्रस्ताव उपस्थित करने के लिये अलग-अलग कमेटियाँ बनाई गई हैं और काम कर रही हैं। शिक्षा-प्रसार की बढ़ी हुई आवश्यकताओं तथा बढ़ते हुए काम को पूरा करने के लिये जिलों में कर्मचारियों की संख्या बढ़ाई गई है, जिससे ऐसे समय कार्य संचालन में खराबी न आने पावे जब कि तीव्र परिवर्तनों के कारण हमारी शिक्षा संस्थाओं के अव्यवस्थित होने की आशंका हो सकती है। शिक्षा-विभाग का प्रवेश-द्वार विस्तृत कर दिया गया है और आज यह विभाग सुयोग्य और महत्वाकांक्षी युवकों को जीविका का आकर्षक साधन प्रदान करता है। तीन वर्ष के अल्पकाल में इतनी कार्यसिद्धि कुछ कम नहीं है और इसपर श्री संपूर्णानंद जी के व्यक्तित्व की, उनकी अक्लांत कार्य-क्षमता की, उनकी व्यावहारिक प्रेरणा-शक्ति की और सर्वोपरि उनके इस विश्वास की कि राष्ट्र की उन्नति का एकमात्र वास्तविक और स्थाई आधार शिक्षा ही है, अभ्रांत छाप पड़ी है।

श्री संपूर्णानंद

भगवती शरण सिंह

आत्म-विज्ञापन से दूर रहनेवाले 'विद्वानों में भी विद्वान' का जीवन चरित लिखना जितना ही पुण्य-श्लोक है उतना ही कठिन भी। मेरे लिये जिसके वह 'पूर्वेषामपि गुरु:' हों यह कार्य कुछ असंभव-सा ही था। पर नागरी-प्रचारिणी-सभा का, विशेषकर उसके प्रधानमंत्री का आग्रह भी दुर्निवार, सुमेरु सा अचल। दो असंभावनाओं के बीच किसी चीज का संभव होना यह पंक्तियाँ हैं। मैंने 'यह पंक्तियाँ' इसलिये लिखीं कि इनकी समष्टि को उनका जीवन-चरित कहना मेरे लिए असंभव है फिर भी इसमें उनके जीवन की कुछ घटनाएँ आपको मिलेंगी। जो उनको नहीं जानते होंगे उनके लिये इसमें भले ही कुछ बातें मिल जायं पर उनको बहुत से लोग जानते हैं। जो लोग उन्हें जानते हैं, जिन्होंने दशकोंतक अपनी दृष्टि से उन्हें देखा और समझा है, उन्हें मेरी समझ स्यात् न रुचे। इसके अतिरिक्त भी मेरी एक कठिनाई है। जब कभी मैंने या मेरे जैसे लोगों ने उन्हें समझने, उन्हें पढ़ने की चेष्टा की तब एक अंग्रेजी लेखक के शब्दों में 'दि हार्ड ओपेक् स्टफ् आवआवर नैरोअर सेल्वज मेल्ट्स इन टू ग्रेन एलिमेंट फारमोर फ्लोइंग, फार लेस् लिमिटेड। लाइक वाटर, लाइक एयर वी बिकम्; एंड इन प्लेस आफ लूजिंग (इट्स) हिज आइडेंटिटी, दि "आई" इन अस स्लिप्स आउट आफ इट्स ओन ब्रीफ ट्रांसिटरीनेस इनटू दि एनड्यूरिंग कांटिन्युइटी आव एंडलेस जेनरेशनस् आव लाइवस्। इन प्लेस आफ बीइंग ए रौक बाउंडपूल आफ द ओशनस फ्लड, वी बिकम् ए लिविंग वेव आफ हिज वास्ट टाइड, राइजिंग एंड फालिंग विथ (इट) हिम एंड रिअलाइजिंग आवर आइडेंटिटी विथ (इट) हिम्। यद्यपि यह शब्द एक महान पुस्तक की विवेचना में कहे गए हैं और इसीलिये मैंने इसमें आए हुए 'इट' शब्दों के आगे 'हिम' या 'हिज' कर दिया है, पर यह हमारे जैसे लोगों के लिये उनके विषय में यथार्थ है। फिर भी मैं उनके जीवन के कुछ तथ्य अपने को उनसे अलग करके लिखने का प्रयत्न करूंगा।

श्री संपूर्णानंद जी, जिन्हें कुछ लोग बाबू जी, कुछ प्रोफेसर साहब, कुछ मास्टर साहब, तथा एक दो इने गिने व्यक्ति 'बाबूनंदन' भी कहा करते हैं, बख्शी सदानंद जी के वंशज हैं। 'बख्शी सदानंद जी के पूर्वज पंजाब से क्यों आजमगढ़ के कोटा ग्राम में आवसे यह हमें भी ज्ञात नहीं। उनके काशी आने का कारण तो यह बताया जाता है कि तत्कालीन काशी नरेश महाराज चेतसिंह

के अमात्य दीहाराम जी के निधन के फलस्वरूप उनके स्थान की पूर्ति के लिये जब उन्हीं के कुटुंबी जनों की खोज हुई तब श्री सदानंद जी उस पद को सुशोभित करने के लिये बुलाए गए। इनके परिवार के नामों के अंतिम भाग में 'आनंद' की परंपरा है। यह परंपरा इन्हीं बख्शी सदानंद जी से प्रारंभ हुई। कहा जाता है कि उनके नाम का अंतिम भाग 'आनंद' काशी के प्रसिद्ध बाबा किनाराम जी का आशीर्वाद इस वंश-परंपरा में चिरंतन स्थान पाने का आदेश प्राप्तकर चुका है और जब तक यह आनंद-परंपरा रहेगी यह लोग लोककल्याण में सुखी रहेंगे। सदानंद जी के दो पुत्र हुए महानंद और परमानंद। ज्येष्ठपुत्र महानंद जी की मृत्यु थोड़ी ही उम्र में हो गई। परमानंद जी के पुत्र नित्यानंद जौनपुर में कोतवाल थे। वहाँ के लोग अब भी इनका नाम आदर से लेते हैं। श्री संपूर्णानंद जी के पिता स्वर्गीय विजयानंद जी इन्हीं के पुत्र थे। विजयानंद जी के तीन पुत्र उत्पन्न हुए: श्री संपूर्णानंद, श्री अन्नपूर्णानंद और श्री परिपूर्णानंद। यह इनकी वंश-परंपरा की थोड़ी सी नामावली है और इनके विषय में यहाँ अधिक कहना प्रासंगिक न होगा। यह तो उनके वृहत् जीवन-ग्रंथ का विषय है। यहाँ तो श्री संपूर्णानंद जी के विविध रूपों की चर्चा ही उद्दिष्ट है। किंतु क्या वह भी इस छोटे से लेख में संभव होगी?

श्री संपूर्णानंद जी का जन्म पौष शुक्ल ११, बुधवार, संवत् १८४६ में हुआ था अर्थात् पहली जनवरी सन् १८९० ई० में। इस वर्षगत पहली जनवरी को इनके जीवन के साठ वर्ष पूरे हो गए। कुछ लोगों को जब इस अवसरपर उन्हें अभिनंदन ग्रंथ के भेंट किए जाने का समाचार मिला तो उनकी कर्मठता स्फूर्ति और उत्साह को देखते हुए, उन्हें सहसा विश्वास भी न हुआ कि वह साठ वर्ष पूरा कर चुके। उनके बाल्यकाल की घटनाएँ इस लेख के लिये केवल इतनी ही हैं कि वह साहित्य पढ़ने में बीता। खेल-कूद के विषय में यह विशेष रुचि न रखते थे पर कपड़े की गेंद से एकाध बार म्युनिस्पल लालटेन के शीशे टूट ही गए। लेकिन साहित्य इन्होंने पढ़ा, हिंदी फारसी, और अंग्रेजी। बंगला की पुस्तकें भी इन्होंने पढ़ीं पर केवल प्रसंगवश। चौदह पंद्रह वर्ष की अवस्था में ही यह कितना साहित्य पढ़ गए थे इनके समवयस्क मित्र आज भी साश्चर्य वर्णन करते हैं। बाल्यकाल में जिन पुस्तकों का प्रभाव इनके सुदृढ़ जीवनपर पड़ा उनमें से कुछ तो आज के युवकों को अपरिचित मालूम पड़ेंगी। १० वर्ष से लेकर १४ वर्षतक के बीच में पढ़ी हुई पुस्तकों में आर० सी० दत्त की 'राजपूत जीवन संध्या' और 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' बंकिम बाबू की दुर्गेशनंदिनी, राधाकृष्ण दास के उपन्यास और टाड के राजस्थान के इतिहास ने इनकी विचारधारा को निश्चय ही प्रभावित किया था। अंग्रेजी उपन्यासों में स्काचों के अंग्रेजों से लड़ने की बात इन्हें खूब अच्छी लगती। यद्यपि उन दिनों न तो भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम का प्रादुर्भाव ही हुआ था और न अंग्रेजों के विरुद्ध विद्वेष या घृणा का अनुभव ही। किंतु संस्कार की बात थी। नेपोलियन की जीवनी ने भी इन्हें खब प्रभावित किया था। सन् १९०५ के बंगभंग आंदोलन की कुछ घटनाओं का इनके ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। १४–१५ वर्ष का किशोर हृदय क्रोधावेश में घंटों अपने कमरे में रखी हुई तलवार की आजमाइश करता।

आपकी शिक्षा बचपन में घरपर ही हुई। छठीं कक्षा में पहले-पहल आप का नाम ठठेरी बाजार के हरिश्चंद्र स्कूल में (उन दिनों यह स्कूल वहीं था) लिखा गया। आठवीं कक्षातक वहाँ पढ़ने के बाद आप क्वींस कालेज में चले आए और वहीं से स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट परीक्षा पास

की। उन दिनों यह नियम था कि कोई विद्यार्थी १६ वर्ष से कम अवस्था में यह परीक्षा नहीं दे सकता था। अतएव आपको इस परीक्षा के लिये दो वर्ष रुकना पड़ा। इन दो वर्षों में आपने काशी की कारमाइकल लाइब्रेरी की उन विषयों की जिनमें इन्हें रुचि थी सारी पुस्तकें पढ़ डाली। डा० हफीज सय्यद उन दिनों १०वीं कक्षा में थे। वह बताते हैं कि उन दिनों यह स्यात् आठवीं कक्षा में थे। फिर भी इनके लिखे अंग्रेजी के निबंध प्रोफेसर नारमैन उन लोगों को लाकर दिखाते और उसी कोटि का निबंध लिखने को प्रोत्साहित करते। श्री संपूर्णानंद जी की दार्शनिक रुचि को श्री नारमैन और श्री रैंडल ने बहुत प्रोत्साहित किया। उन दिनों इंगलैंड के रैशनलिस्ट प्रेस असोशिएशन से रेशनलिस्ट के जाने वाले लेखकों की कृतियाँ प्रकाशित होती थी। इन लेखकों का दृष्टिकोण 'नानरिलीजस' रहा करता था। इनकी महंगी किताबों को यह असोशिएशन सस्ते दामों में प्रकाशित करता। श्री संपूर्णानंद जी ने इन दो वर्षों में इन्हें खूब पढ़ा और फल यह हुआ कि इन्हें इन लेखकों का 'साइंटिफिक एथीइज्म' पसंद आने लगा। मैं इस बात को अभी यहीं छोड़ता हूं। इन्होंने बी० एस० सी० की डिग्री ली और इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से एल० टी० की उपाधि। उन दिनों यह एल० टी० उपाधि प्रयाग विश्वविद्यालय देता था। इन्होंने एल० टी० की उपाधि सरकारी नौकरी करने के लिये नहीं वरन् शिक्षा की वृत्ति को पवित्र और तपः पूत मानकर ली थी। जब शिक्षक की वृत्ति को छोड़कर यह राजनीति में कूदे तो इनके अध्यापक मैकेंजी अक्सर कहा करते 'हियर इज ए गुड मैन गान रौंग'। सरकारी नौकरी न करने की प्रतिज्ञा तो इन्होंने १९०७ में ही जब लाला लाजपतराय का देश निकाला हुआ था कर ली थी।

राजनीति में

सन् १९१३ में महात्मा गांधी ने अफ्रिका सत्याग्रह आंदोलन प्रारंभ किया। श्री संपूर्णानंद जी अभीतक गृहस्थ और सैनिक जीवन के दोल में पड़े थे। पर 'कबिरा खड़ा बजार में, लिये लुकाठी हाथ, जो घर फूँकै आपना सो चलै हमारे साथ' और यह गांधी जी के साथ चल पड़े पूरी तौरपर। इनके अगृहस्थ जीवन की कथा तथा तज्जन्य जो क्लेश इनके कुटुंबी जनों को हुआ उनकी चर्चा भी मैं यहाँ नहीं करना चाहता। महात्मा गांधी के नेतृत्व में जिस पराक्रम से इन्होंने स्वातंत्र्य संग्राम में अपना कर्तव्य पालन किया उसकी कहानी भी इनके साथी सैनिकों ने अन्यत्र कही है। १९२१ से १९४४ तक २३ वर्षों का पूरा जीवन इसीसे तो भरा पड़ा है। मैं केवल दो छोटी-सी घटनाओं का उल्लेख करूंगा। यह घटनाएँ छोटी होते हुई भी इनके चरित्रपर प्रकाश डालती हैं। सन् १९३२ में डा० अंसारी और श्री तसद्दुक अहमद शेरवानी जेल से लौटे तो इन लोगों का स्वास्थ्य अत्यंत खराब हो गया था। यह लोग विलायत चले गए। आचार्य नरेंद्रदेव और श्री संपूर्णानंद जी भी इनके बाद छूटे। श्री संपूर्णानंद जी का भी स्वास्थ्य बेहद चौपट हो चला था। इधर जनता में यह भावना पैदा होने लगी थी कि अब यह लोग स्वास्थ्य का बहाना कर संग्राम से विमुख हों। इसकी भनक मिलते ही बनारस शहर छोड़ने की आज्ञा भंग कर आचार्य जी और संपूर्णानंद जी तुरंत जेल वापस चले गए। दूसरी घटना १९३७ ई० की है। सन् १९३७ में कांग्रेस ने प्रांतों का शासन संभाला था। यह पं० प्यारेलाल जी के बाद शिक्षा मंत्री हुए और प्रांत में साक्षरता आंदोलन बड़े जोरों से प्रारभ कर दिया। १९३९ में पुनः जल में। अंग्रेजी सरकार ने कांग्रेस शासन के बाद भी 'लिटरेसी वीक' मनाना स्यात् हानिकर न समझा। यह 'लिटरेसी वीक' सन्

१९३९ में जेलों में भी मनाया गया और इसमें काम करने के कारण उन्हें १५ दिन का 'रेमिशन' मिला था। इन घटनाओं का निष्कर्ष अगर कुछ निकलता हो तो आप निकालें। स्वातंत्र्य संग्राम में वह काशी के अग्रदूत रहे हैं और जो लोग इनके साथ रहे हैं उन्हें प्रयत्न करनेपर भी ऐसी कोई घटना याद नहीं पड़ती जब इन्होंने अपने इस कर्तव्य को निभाने में तनिक भी संकोच किया हो। २० वर्षीय ज्येष्ठ पुत्र का दाह कर्म समाप्तकर यह वैसे ही लौटे जैसे कुछ हुआ ही न हो। उन दिनों यह युवक थे किंतु आज वह ६० वर्ष के हो चुके हैं पर आज भी उनके हृदय की कठोरता, अब भी वैसी ही बनी है। कर्तव्य के लिये वह सब कुछ सहने को तैयार हैं।

सरस्वती के उपासक

यह तो मैं नहीं जानता कि उनकी पहली पुस्तक कब निकली और कौन थी पर सन् १९१३ में उनकी 'धर्मवीर गांधी' काशी की ग्रंथ प्रकाशक समिति से प्रकाशित हुई। इसके और पुरुषसूक्त के बीच में उन्होंने महाराज छत्रसाल भौतिक विज्ञान ज्योतिर्विनोद, भारतीय सृष्टिक्रम विचार, भारत के देशी राज्य, चेतसिंह और काशी का विद्रोह, सम्राट हर्षवर्धन, महादजी सिंधिया, चीन की राज्यक्रांति, मिश्र की स्वाधीनता, सम्राट अशोक, अंताराष्ट्रीय विधान, समाजवाद, साम्यवाद का बिगुल, व्यक्ति और राज, आर्यों का आदि देश, गणेश, भाषा की शक्ति, चिद्विलास, व्हेन वी आर इन पावर, कास्मागोनी इन इंडियन थाट, इंडिविजुवल एंड स्टेट, ब्राह्मण सावधान, दर्शन और जीवन, पुरुष सूक्त आदि लगभग २५, २६ ग्रंथ लिखे। जिस क्रम से मैंने इन पुस्तकों का नाम गिनाया है कि उसी क्रम से स्यात् यह न प्रकाशित हुई हों। और संभव है कि एक दो ग्रंथों का नाम छूट भी गया हो। पर इन ग्रंथों के नाम से ही इनकी रुचि की विविधता और बहुज्ञता का परिचय मिलता है। आप कहने को तो बी० एस० सी० हैं पर दर्शन के प्रकांड पांडित्य के प्रकाश में आलोकित आपका संमान कई विश्वविद्यालय कर चुके हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त आपके समय-समयपर प्रकाशित अनेकों लेख विविध पत्र पत्रिकाओं में आए दिन देखने को मिला करते हैं।

श्री संपूर्णानंद जी ने ग्रंथ रचना के साथ-साथ पत्रों का संपादन भी किया है। सन् १९३० में काशी से 'टु-डे' निकला। अंग्रेजी में। उसके आप संपादक थे और पराड़कर जी के जेल चले जानेपर आपने 'आज' को भी संपादित किया। काशी के 'जागरण' और उसकी 'मर्यादा' का भी आपने संपादन किया है।

आपके पांडित्य के प्रति दिवंगता सरोजनी नायडू का राष्ट्र के अनेक विद्वानों के बीच लखनऊ विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह के अवसर वहाँ के छात्रों को संबोधन करते हुए जो आंतरिक उद्‌गार प्रगट हुआ वह किसी शिष्टाचार को निभाने के लिये नहीं, वरन् वह उनकी निसर्ग निःसृत सत्य वाणी थी। उन्होंने श्री संपूर्णानंद जी की अनुपस्थिति में लखनऊ विश्वविद्यालय की रजत जयंती के अवसरपर उन्हें 'डाक्टर आफ लिटरेचर' की उपाधि देते हुए कहा था कि वह 'विद्वानों में विद्वान' हैं। इस कथन के बाद सरस्वती के मंदिर में पूजा के फूल चढ़ानेवालों में उनका क्या स्थान है इसका आप स्वयं निर्णय कर सकते हैं।

श्री संपूर्णानंद जी का विस्तृत जीवन चरित्र लिखने के लिये जितने स्थान और समय की आवश्यकता

हैं वह संप्रति उपलब्ध नहीं हैं। उन्हें जा कुछ करना है उसे अभी उन्होंने पूरा नहीं किया है। यद्यपि शासक के रूप में इनकी ख्याति भारतीय सीमा के बाहर जा चुकी है फिर भी अभी उन्हें जो कुछ करना है वह उस क्षेत्र में नहीं, दूसरे क्षेत्र में। उस दूसरे क्षेत्र की देन ही उनकी अपनी देन होगी। उनका संमान हम केवल इसलिये नहीं कर रहे हैं कि वह विद्वान् हैं, इसलिये नहीं कि वह राजनीति में ऊँचा स्थान रखते हैं, इसलिये भी नहीं कि एकसाथ ही वह शासन के कई विभागों का अत्यंत सुगमता और दृढ़ता के साथ संचालन कर सकते हैं। संभव है हमारे इस कृत्य में उनके इन गुणों की ओर भी हमारी दृष्टि हो। पर जिस कारण हमें उनका अधिकाधिक संमान करना चाहिए वह उनकी दार्शनिक विचारधारा की विशेषता है। उनकी 'समाजवाद' पुस्तक में उन्हीं का रचा एक श्लोक है :

> जगद्भर्त्ताऽपि यो भिक्षुः भूतवासाऽनिकेतनः
> विश्वगोप्ताऽपिदिग्वासा, तस्मै कस्मै नमो नमः॥

जो जगत् का भरण करता है पर आप भिखारी है, जो सब प्राणियों को निवास देता है पर आप बेघर का है, जो विश्व का कता है पर आप नंगा रहता है, उसको बारंबार प्रणाम करनेवाली मूर्ति ही बाबू जी की सच्ची झलक है। जो बाल्यकाल में ही अपने कक्ष से बाहर 'बोझा ढोनेवाले स्त्री-पुरुषों के स्वास्थ्य में अस्वाभाविक परिवर्तन को देखकर प्रभावित हुआ और जिसकी चिंताधारा उसे इस ओर ले गई वह क्यों न समाजवादी पार्टी से पार्थिव रूप से अलग होनेपर भी अपने समाजवादी मित्रों का आदरणीय बना रहे? पर उनकी विचारधारा तो कहीं नहीं रुकती वह उन्हें आगे ले जाती है और वह

'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदिवादधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वनवेद की कठिनाइयों पर विजय पाने और सत्य का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने के हेतु साधनारत हैं।

जीवन मुक्त श्री संपूर्णानंद जी का जीवन-चरित्र लिखने जैसा कठिन कार्य करने का मनोरथ लेकर ही इन पंक्तियों का लेखक यहाँ इस लेख को समाप्त करता हूँ और परमात्मा से प्रार्थना करता है कि वह उन्हें दीर्घकाल तक अज्ञान के नाश और सत्य की प्रतिष्ठा के हेतु हमारे बीच रखे।

श्री संपूर्णानंद

विश्वनाथ शर्मा

श्री संपूर्णानंद जी का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित कायस्थ कुल में १ जनवरी सन् १८९० को हुआ था। आपके पूर्वज बख्शी सदानंद काशी-राज्य के दीवान थे। आपके पिता श्री विजयानन्द जी, माता तथा मातामह सभी कर्मनिष्ठ और साधु प्रकृति के थे। इन तीनों व्यक्तियों का आपपर बड़ा प्रभाव है। बचपन से ही आपकी कुशाग्र बुद्धि का परिचय मिलता रहा है। चौदह वर्ष की आयु में ही आप हाईस्कूल की कक्षा में पहुँच गये थे किंतु उस समय के इस नियम के कारण कि परीक्षार्थी सोलह वर्ष की आयु के पहिले हाईस्कूल की परीक्षा में संमिलित नहीं हो सकता, इन्हें रुक जाना पड़ा। इस अनिवार्य अवकाश का उपयोग आपने खेल-कूद में न करके स्थानीय कारमाइकल लाइब्रेरी में स्वाध्याय के लिये किया और लब्धप्रतिष्ठ अंगरेजी लेखकों की रचनाएँ पढ़ डालीं।

उनका यह विद्या-व्यसन आज भी जारी है। वायुयान में, रेल में, मोटर में पढ़ते रहते हैं। मैंने तो इन्हें अपने घर जालिपादेवी से विद्यापीठ पैदल जाते समय रास्ते में पुस्तकें पढ़ते हुए पाया है। जब कि पीछे थोड़ी ही दूरपर शिष्यमंडली एक दूसरे का मजाक उड़ाते हुए अपने समय का 'सदुपयोग' करती हुई चलती थी। मनचाही पुस्तकें न पहुंच पानेपर आपने जेल के पुस्तकालय से लेकर मामूली किस्से कहानी की किताबें पढ़ डाली थीं। यही कारण है कि आप गूढ़-से-गूढ़ और साधारण-से-साधारण विषयपर समान रीति से और अधिकारी रूप से बोलते और लिखते हैं। आप बड़ी तेजी से पेज का पेज पढ़ जाते हैं, उसे व्यवस्थित रीति से स्मरण रखते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि सदा अध्ययन ही करते रहते हैं या गंभीर बने रहते हैं। जब घनिष्ठ मित्रों और विशेषकर बच्चों के बीच होते हैं,उस समय कहानी किस्से, चुटकुले कहते और सुनते हैं। औरों का मजाक उड़ाते हैं और दूसरों के अपने प्रति किए हुए मजाक का आनंद भी लेते हैं।

स्थानीय क्वीन्स कालेज से बी० एस़सी० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद इलाहाबाद से एल० टी० की उपाधि प्राप्त की। उस समय के अध्यापक तथा बाद को युक्तप्रांत के शिक्षा-संचालक श्री मेकेंजी के बहुत आग्रहपर भी आपने सरकारी नौकरी करना स्वीकार नहीं किया और स्थानीय हरिश्चंद्र स्कूल में (अब हरिश्चंद्र डिग्री कालेज) शिक्षक हो गए। यहाँ से प्रसिद्ध देशभक्त राजा

महेंद्रप्रताप द्वारा स्थापित वृंदावन के प्रेम विद्यालय में चले गए। वहाँ से आप डेली कालेज इन्दौर गए। इंदौर से आप प्रधानाध्यापक होकर बीकानेर गए।

प्रथम महायुद्ध और उसके बाद जलयान-वाला-बाग की घटनाओं तथा ब्रिटिश गवर्नमेंट की वादा खिलाफी के कारण देश में स्वाधीनता की लहरें उमड़ रही थीं। महात्मा गांधी के नेतृत्व में सन् १९२० में असहयोग आंदोलन आरंभ हो गया। आपने इस यज्ञ में अपनी आहुति देने का निश्चय कर लिया और बीकानेर राज्य की सेवा छोड़कर देशसेवा के क्षेत्र में आ गए। हृदय की पुकारपर अपने जन्मस्थान काशी को सेवा का क्षेत्र बनाया। बहुत शीघ्र ही आपने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया।

असहयोग आंदोलन की गति तीव्र होती गई। प्रिंस आफ वेल्स के बहिष्कार के कारण सारे देश में गिरफ्तारियाँ आरंभ हो गईं। स्वाधीनता के युद्ध में काशी का स्थान सदा ऊँचा रहा है। आपके नेतृत्व में स्वयंसेवकों के जत्थे सार्वजनिक रीति से सत्याग्रह करने के लिये निकलने लगे। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के विरोध की इस वनाग्नि का दृश्य चिरस्मरणीय रहेगा। देशभक्ति के भावों से भरे हुए भारत की स्वतंत्रता के लिये उत्सुक वीर सैनिक स्वयंसेवकों की सूची में बिना नाम लिखाए ही मालाएँ पहिनकर निकल पड़ते थे और गिरफ्तार हो जाते थे। शासक गिरफ्तारियाँ करते-करते लाचार और परेशान हो गए थे। जेलों में, हवालातों में, जगह नहीं रह गई थी। इस योजना को आरंभ करने का श्रेय आपको है। अहमदाबाद काँग्रेस के पहिले ही आप गिरफ्तार कर लिए गए और एक साल का कठिन कारावास का दंड मिला। आप पहिले बनारस और वहीं से लखनऊ जेल भेजे गए।

चौरी-चौरा कांड के बाद महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आंदोलन स्थगित कर दिया। उसीके बाद उनकी गिरफ्तारी हुई और ६ वर्ष का कारावास मिला। सारे देश में एक प्रकार की निष्क्रियता आ गई। कौंसिल-प्रवेश के प्रश्न पर नेताओं में मतभेद हो गया और स्वराज्य पार्टी की स्थापना हुई। आप उसमें संमिलित हो गए। हिंदुओं में राष्ट्रीय भावना लाने के विचार से गया काँग्रेस के साथ ही साथ हिंदूसभा का भी अधिवेशन किया गया था। आप भी हिंदूसभा में संमिलित हुए किंतु आगे चलकर राष्ट्रीय विचार के अधिकांश हिंदुओं ने यह सोचकर कि काँग्रेस का समानान्तर संघटन व्यर्थ है उसे छोड़ दिया। आरंभ से ही आल इंडिया काँग्रेस कमेटी, प्रांतीय काँग्रेस-कमेटी, जिला तथा शहर काँग्रेस कमेटी के सदस्य हैं। कई वर्षोंतक संयुक्तप्रांतीय काँग्रेस कमेटी के प्रधान मंत्री, बनारस जिला तथा शहर काँग्रेस कमेटियों के अध्यक्ष रहे हैं।

बीकानेर छोड़कर आने के बाद प्रसिद्ध देशभक्त स्वर्गीय शिवप्रसाद गुप्त के आमंत्रणपर आपने स्थानीय ज्ञानमंडल द्वारा प्रकाशित 'मर्यादा' मासिक पत्रिका का संपादन भार ग्रहण किया। अंतर्राष्ट्रीय विधान नामक ग्रंथ हिंदीभाषा में लिखा जिसका विद्वानों ने बड़ा आदर किया। कहा जाता है कि इसप्रकार एक पुस्तक में अंतर्राष्ट्रीय विधान के संबंध की इतनी ज्ञातव्य बातों का समावेश बहुत कम लेखक कर पाए हैं। आपने हिंदी दैनिक 'आज' तथा उसीकी ओर से निकलनेवाले अंग्रेजी दैनिक 'टुडे' का बड़ी योग्यतापूर्वक संपादन किया था। देश की विभिन्न समस्याओंपर आप सदा

ही हिंदी तथा अंग्रेजी के पत्रों में लिखा करते हैं। काशी से कांग्रेस सामजवादी दल की ओर से निकलनेवाले हिन्दी सप्ताहिक 'जागरण' का भी आपने संपादन किया था।

आर्थिक कारणों से 'मर्यादा' का प्रकाशन स्थगित हो जानेपर आपने काशी विद्यापीठ में दर्शन अध्यापक का पदग्रहण किया। दर्शन के साथ-साथ आप अंताराष्ट्रिय विधान का भी अध्यापन करते थे। आपके शिष्यों में श्रीराजाराम शास्त्री, श्री लालबहादुर शास्त्री, श्री कमलापति शास्त्री, श्री हरिहरनाथ शास्त्री, श्री बालकृष्ण केसकर आदि देश में महत्वपूर्ण पदोंपर हैं और उनका प्रमुख स्थान है। आप दर्शन, राजशास्त्र, साहित्य, इतिहास, ज्योतिष आदि गूढ़-से-गूढ़ विषयों के मर्मज्ञ हैं और बड़ी ही सरलता से समझाते हैं। बड़ी लगन से शंकाओं का समाधान करते हैं। अपने साथियों को सदा अध्ययन की ओर प्रेरित करते रहते हैं। आकाश-दर्शन और तारों की गति-विधि के अध्ययन में आपको विशेष रुचि है। आप इस बात से सदा दुखी रहते हैं कि आजकल के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में अध्ययन की रुचि नहीं है वे अपने को जन्मसिद्ध नेता मान लेते हैं और अन्य देशों की भाँति अपने से बड़ों के साथ काम सीखना आवश्यक नहीं समझते। आजकल आप काशी विद्यापीठ की निरीक्षण सभा के अध्यक्ष और उसकी पोषक श्री हरप्रसाद शिक्षा निधि के संचालक हैं।

कांग्रेस के यह निर्णय करनेपर कि कांग्रेस कार्यकर्ताओं को स्थानीय शासन में भी योग देना चाहिए, बनारस में भी कांग्रेसजन ने म्युनिसिपल निर्वाचन में भाग लिया। डाक्टर भगवान् दास जी की अध्यक्षता में बोर्ड बना। आप स्थानीय म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्य चुने गए और शिक्षा, चुंगी तथा स्वास्थ्य समितियों के अध्यक्ष रहे। उस समय आपने बड़ी कुशलता से इन विभागों का संचालन किया और पुराने अधिकारियों के स्थानपर नए योग्य कर्मचारियों की नियुक्ति करके काया पलट कर दी। काशी नगरी को सुंदर और स्वस्थ बनाने की आपको सदा चिंता रहती है। बनारस में 'इंप्रूवमेंट ट्रस्ट' बनाने के लिये आप सन् १९३७ से ही उद्योग कर रहे थे। अब 'इंप्रूवमेंट ट्रस्ट' स्थापित कराने में सफल हुए हैं।

सन् १९२६ के चुनाव के समय कांग्रेस कार्य-कर्ताओं में राष्ट्रवादिता और हिंदू हित के नामपर मतभेद हो गया और बढ़ता ही गया। हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य के कारण सारे देश का वायु-मंडल विषाक्त हो गया था। हिंदू-हित के नामपर बहुत-सी प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ कांग्रेस का विरोध करने के लिये आगे बढ़ आई थीं। देश में कई स्थानोंपर कांग्रेस उम्मेदवारों की हार हुई किन्तु बनारस शहर में कांग्रेस की शानदार जीत हुई और आप युक्तप्रांतीय कौंसिल के सदस्य चुन लिए गए। अपनी कार्य-कुशलता और स्पष्टवादिता से आपने अपना प्रमुख स्थान बना लिया था। और वर्षों तक आप कौंसिल के कांग्रेस दलके मन्त्री थे। सन् १९२८ में इंडिपेंडेंस आफ इंडिया लीग की स्थापना होनेपर आप उसमें भी संमिलित हुए। सन् १९३० की १ जनवरी को कांग्रेस के लाहौर के अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता का ध्येय निश्चित हो जाने पर तथा सत्याग्रह आरंभ होनेपर कांग्रेस के आदेशानुसार आपने युक्तप्रांतीय कौंसिल से त्याग-पत्र दे दिया।

सन् १९२६ के चुनाव में राष्ट्रवादिता और हिंदूहित के नाम पर कांग्रेस के कार्यकर्ताओं में जो मतभेद हो गया था वह बढ़ता ही गया। इसके फलस्वरूप प्रांत में कांग्रेस का कार्य विशृंखल होने लगा। कार्य की सुविधा के लिये प्रांतीय कांग्रेस कमेटी का कार्यालय प्रयाग से बनारस हस्तां-

तरित किया गया। आपने प्रधान मंत्री का कार्यभार सँभाला। यह समय भारत के लिये परीक्षा की घड़ी थी। आंदोलन शिथिल हो गया था और चारों ओर निराशा छा गई थी। भावी सुधारों के प्रश्न पर विचार करने के लिये ब्रिटिश गवर्नमेंट ने सर जान साइमन की अध्यक्षता में शाही कमीशन नियुक्त किया। इसमें एक भी भारतीय सदस्य नहीं रखा गया। इससे सारे देश में, सब दलों ने उसका घोर विरोध किया। साइमन कमीशन पहिले-पहिल बनारस आया। यहाँ काले झंडों और विरोधी जुलूसों से जैसा बहिष्कार हुआ वैसा देश में कहीं नहीं हुआ। आपने उसमें प्रमुख भाग लिया था।

आप सैनिक शिक्षा तथा अनुशासन के बड़े पक्षपाती हैं। कांग्रेस कार्यकर्ताओं में संयम तथा अनुशासन लाने के लिये आपने काशी में चेतसिंह शिक्षण-शिविर का आयोजन किया था जिसमें प्रांतभर के चुने हुए स्वयंसेवकों को छः सप्ताह तक शारीरिक और मानसिक शिक्षा दी गई थी। इसके बाद भी प्रांत का स्वयं-सेवक विभाग आपके निरीक्षण में रहा और सन् १९३६ की लखनऊ कांग्रेस में आप स्वयंसेवकों के सेनापति थे। मंत्रिपद ग्रहण करने के बाद आपने छात्रों को सैनिक शिक्षा दिलाने का आयोजन किया। आज विद्यालयों के छात्र जब सैनिकों की भाँति अनुशासन में चलते हैं तो मालूम होता है कि ये छात्र आगे चलकर भारत की सब प्रकार की कठिनाइयों से रक्षा करने में समर्थ होंगे।

भारत सरकार ने सेना के भारतीयकरण पर विचार करने के लिये श्री स्कीन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की थी। स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू उसके सदस्य थे। कांग्रेस कार्यकर्ताओं में संपूर्णानंदजी ही इस विषय के विशेषज्ञ हैं, इस कारण पंडित जी ने अपनी सहायता के लिये आपको विद्यापीठ से विशेष आमंत्रण पर बुलाया था।

सन् १९३० में सत्याग्रह आंदोलन आरंभ होनेपर काशी उसमें सदा की भाँति आगे रहा। आप सत्याग्रह-संग्राम के प्रथम संचालक नियुक्त किए गए और नमक-बनाने के अपराध में आपको डेढ़ वर्ष के कठोर कारावास का दंड मिला। सारे देश में सत्याग्रह बड़े उत्साह और शान से होता रहा। इसके फलस्वरूप मार्च १९३१ में गांधी-इर्विंग समझौता हुआ और आप विजयी सेनानी की भाँति कारागार से वापस आए और पुनः कांग्रेस को शक्तिशाली बनाने में लग गए। १९३१ में समझौते को पूरा करने की चेष्टा होती रही। दूसरी गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होने के लिये महात्मा गाँधी लंदन गए किंतु देश की राजनीतिक स्थिति दिनपर दिन विषम होती गई, यहाँतक कि लंदन की कांफ्रेंस से लौटते ही महात्मा गाँधी गिरफ्तार करके यरवदा जेल में नजरबंद कर दिए गए।

६ जनवरी १९३२ को दूसरा सत्याग्रह आंदोलन आरंभ हो गया। शहर में दफा १४४ लगी थी। उसे तोड़कर जुलूस निकला और टाउनहाल में सार्वजनिक सभा हुई। उसमें भाषण करने के अभियोग आप, श्री शिवप्रसाद गुप्त, श्री बैजनाथ सिंह, श्री कृष्णचंद्र शर्मा और श्री तारापद भट्टाचार्य गिरफ्तार किए गए और ६ महीने की सख्त सजा हुई। जुलाई में जेल से लौटने पर आप पुनः गिरफ्तार किए गए और एक साल की सजा हुई। इसबार आप रायबरेली तथा झाँसी की जेलों में रहे।

सत्याग्रह आंदोलन स्थगित होने पर आचार्य नरेंद्र देव आदि के साथ आपने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना में भाग लिया। आप उसके बंबई में होनेवाले दूसरे वार्षिक अधिवेशन के सभापति

थे। आप सदा से ही समाजवादी विचारधारा के पोषक रहे हैं। तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नमेंट तो आपको हमेशा रूस का पक्षपाती समझती रही। जब सन् १९३० में आपने अंग्रेजी में 'ह्वेन वी आर इन पावर' नामक पुस्तिका प्रकाशित की। उस समय पूंजीपतियों और जमींदारों में खलबली मच गई थी। आज भी आपकी विचारधारा वही है। आपका 'समाजवाद' ग्रंथ बड़ी ही उच्च कोटि का है। इस समय उसका पाँचवाँ संस्करण प्रकाशित हुआ है। अपने विषय का हिंदी में सर्वोत्तम ग्रंथ होने के कारण हिंदी-साहित्य-संमेलन द्वारा इसपर श्रीमंगला प्रसाद तथा श्री मुरारका पारितोषिक मिल चुका है। आप पूना में होनेवाले हिंदी-साहित्य-संमेलन के सभापति चुने गए थे किंतु जेल में होने के कारण सभापतित्व न कर सके।

सन् १९३४ के नए गर्वमेंट आफ इंडिया ऐक्ट के बनने के बाद कांग्रेस ने केंद्रीय और प्रांतीय धारा सभाओं के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया। १९३६–३७ के चुनव में देश में एक अपूर्व जागृति आ गई। प्रांतीय धारा-सभाओं में कांग्रेस का प्रबल बहुमत हो गया। इसके फलस्वरूप कांग्रेस ने प्रांतों में पद-ग्रहण का निश्चय किया और युक्तप्रांत में पंडित गोविंद वल्लभ पंत के प्रधान-मंत्रित्व में मंत्रिमंडल बना। आपको शिक्षा का महत्वपूर्ण विभाग सौंपा गया। कार्यभार ग्रहण करते ही आपने शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन आरंभ कर दिए। सारे प्रांत में साक्षरता-प्रसार का आंदोलन चलाया। बेसिक स्कूलों की स्थापना की। शिक्षा-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने के लिये आचार्य नरेंद्रदेव की अध्यक्षता में समिति नियुक्त की। जिसने देश के प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों के सहयोग से विश्वविद्यालय, माध्यमिक तथा प्रारंभिक शिक्षा के पाठक्रम रीतिनीति, आचार-मर्यादा की समस्यापर विचार किया और अपनी महत्वपूर्ण रिपोर्ट दी। इसके अनुसार कार्यारंभ होने के पहिले ही सन् १९३९ में तत्कालीन सरकार और कांग्रेस में मतभेद हो गया और कांग्रेस ने प्रांतों में पद-त्याग कर दिया।

इस समय दूसरा महायुद्ध चल रहा था। कांग्रेस और सरकार का पार्थक्य बढ़ता गया और सन् १९४० में महात्मा गांधी के नेतृत्व में व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन प्रारंभ हो गया। काशी में आपने इस आंदोलन का श्रीगणेश किया और डेढ़ वर्ष का कारावास मिला। व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन के चलते हुए ही गवर्नमेंट ने फिर समझौते की बात शुरू की। उसमें सफलता न मिलनेपर महात्मा गांधी ने 'भारत छोड़ो' आंदोलन आरंभ किया। बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के निर्णय करते ही, दूसरे दिन ९ अगस्त १९४२ को प्रातःकाल महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिए गए। बनारस में उसी दिन आप भी अपने अन्य साथियों सहित गिरफ्तार करके बनारस जिला जेल में रखे गए।

भारत के कोने-कोने में आंदोलन जोर पकड़ता गया। आसेतु हिमालय ब्रिटिश शासन का पंजा ढीला होने लगा। ऐसा आभास होने लगा कि ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया। सरकारी कचहरियों, थानों पर झंडे फहराए जाने लगे। आंदोलन इतना तीव्र होने पर इसकी विशेषता यही थी कि किसी की व्यक्तिगत संपत्ति का कोई नुकसान नहीं हुआ। जो कुछ तोड़-फोड़ हुई वह सरकारी संपत्ति की हुई। इस बार चिट्ठी, मुलाकात, किताबों, अखबारों का आना बंद हो जाने के कारण आपको विशेष कष्ट उठाना पड़ा। यहाँतक कि वेद, दर्शन तथा साहित्य की पुस्तकें भी जेल में

नहीं पहुँच पाती थीं। पुस्तकों का अभाव श्रीसंपूर्णानंद जैसे विद्या-व्यसनी के लिये बड़ा ही कष्टकारी था। आप प्राय: ८ महीने के बाद बनारस के जिला जेल से बरेली सेंट्रल जेल भेजे गए।

भारत छोड़ो आंदोलन की तीव्रता घटती गई। घोर अत्याचारों के फलस्वरूप सारे देश में निराशापूर्ण वातावरण हो गया। इसी निराशापूर्ण स्थितिमें आप नजरबंदी से छोड़ दिए गए। जेल से आते ही आप तथा माननीय श्री पुरुषोत्तम दास जी टंडन ने कांग्रेस के कार्यकर्ताओं को एकत्र करके कांग्रेस असेंबली की स्थापना की, और यह साहस पैदा किया कि कांग्रेस कार्यकर्ता मिलजुल सकें। बिखरी शक्तियों का फिर से संघटन आरंभ हो गया और कांग्रेस फिर से दिनपर दिन शक्ति प्राप्त करती गई। सन् १९४६ में हुए चुनावों में कांग्रेस का प्रबल बहुमत निर्वाचित हुआ और प्रांतों में फिर से पद-ग्रहण करने का निश्चय हुआ। युक्तप्रांत में फिर माननीय पंडित गोविंद वल्लभ पंत के प्रधान मंत्रित्व में मंत्रिमंडल का संघटन हुआ और आपको शिक्षा, सूचना तथा श्रम-विभाग सौंपे गए। आगे चलकर आपको अर्थ-विभाग का भी कार्य संभालना पड़ा । इस समय भी आप शिक्षा, अर्थ तथा श्रममंत्री हैं।

सन् १९३७–१९३९ के कार्यकाल में शिक्षा प्रसार तथा शिक्षा प्रचार की जो योजनाएँ आपने बनाई थीं, उनके पूर्णरूप से सफल होने के पहिले ही कांग्रेस ने पदत्याग कर दिया इसके फलस्वरूप आपने शिक्षा में जो नए सुधार आरंभ किए थे वे रुक गए। फिर कार्य हाथ में लेनेपर आपने दूने उत्साह के साथ उसको आरंभ किया। सन् १९४५–४६ में जहाँ शिक्षापर ३ करोड़ १८ लाख रुपया व्यय होता था, १९५०–५१ के आय-व्ययक में ७ करोड़ से अधिक रुपए की व्यवस्था की गई है। प्रतिवर्ष ४४०० नए स्कूल खोलने की व्यवस्था की गई है। इस योजना के अनुसार अबतक ११,१५० स्कूल खोले जा चुके हैं। अब सब म्युनिसिपल बोर्डों में अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा की योजना कार्यान्वित हो रही है। माध्यमिक शिक्षा के लिये स्कूल और कालेजों की संख्या १९३६ की ६ गुनी हो गयी है । बालिकाओं की शिक्षा में भी आशातीत सुधार हुए हैं। इलाहाबाद में मनोवैज्ञानिक शिक्षण केंद्र खोला गया है। फैजाबाद में समाजसेवा की शिक्षा के लिये विद्यालय खोला गया है जिसमें १० महीनेतक शिक्षा प्राप्त करना सरकारी नौकरियाँ पाने के लिये अनिवार्य है। स्कूलों में सैनिक शिक्षा की व्यवस्था की गई है। वह दिन दूर नहीं है जब हमारी इन शिक्षा-संस्थाओं से सुयोग्य विद्वानों के साथ-साथ सुयोग्य सैनिक भी मिलेंगे।

संस्कृत की शिक्षा में आमूल परिवर्तन करने के लिये आपने डाक्टर भगवान् दास जी की अध्यक्षता में संस्कृत के विद्वानों की एक समिति नियुक्त की थी। उसकी रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा-क्रम में परिवर्तन करने के लिये आपने युक्तप्रांत की संस्कृत की शिक्षा-संस्थाओं के संचालकों का एक संमेलन बुलाया था। जिसके परामर्श के अनुसार संस्कृत शिक्षा की योजना में परिवर्तन किया जा रहा है। काशी में संस्कृत विश्वविद्यालय बनाने की सब व्यवस्था पूरी हो गई है। आशा है शीघ्र ही विश्वविद्यालय का कार्य आरंभ हो जायगा। अबतक संस्कृत के अध्यापक तथा छात्र जो अपने को शासन तथा समाज से उपेक्षित समझते थे, अब वे भी अपने को औरों के समान समझने लगेंगे।

प्राथमिक पाठशालाओं के शिक्षकों की जो दयनीय आर्थिक स्थिति है, उनको आज जो पुरस्कार मिलता है उसमें वह इस भीषण महंगी में अपना तथा अपने परिवार का पोषण नहीं कर

सकता। इसी कारण अनेकबार हड़ताल हुई। आपने उनका वेतन क्रम २५) से ६०) तक कर दिया है तथा इसका आश्वासन दिया है कि प्राथमिक शिक्षकों के वेतन क्रमपर भी शीघ्र ही विचार किया जायगा। आशा है कि आपके शिक्षा-तथा अर्थ मंत्रित्व काल में इन गरीब शिक्षकों की स्थिति भी सुधर जायगी।

श्री संपूर्णानंद जी साहित्यिक हैं। राजनीति में व्यस्त रहने के कारण अनेकबार अपने ग्रंथों पर ही उन्हें जीविका के लिये निर्भर रहना पड़ा है। इसप्रकार साहित्यिक की कठिनाइयों से ये भलीभाँति परिचित हैं। अतएव शिक्षामंत्री के पद से वे साहित्यिकों को प्रेरणा देने एवं उनकी प्रतिभा के विकास के लिये ५० हजार रुपये वार्षिक सहायता देते हैं। साहित्यिकों को इसप्रकार राज्याश्रय स्वतंत्र भारत के प्रांतों में अनूठी बात है।

ऐसी ही एक नई योजना संग्रहालयों को पुनरुज्जीवित करने की है। समाजशास्त्र के अध्यापक के नाते इतिहास की शिक्षा में सजीवता की दृष्टि से इन संग्रहालयों के महत्व को ये भलीभाँति जानते हैं, अतएव उनका लक्ष्य है कि जहाँतक संभव हो प्रत्येक नगर में संग्रहालय स्थापित किए जाय जिससे छात्र वहाँ जाकर तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति का वास्तविक अवलोकन कर सकें।

श्रम-विभाग की ओर भी आपने पर्याप्त ध्यान दिया है। वर्तमान शासन के लिये पूंजीपतियों और श्रमजीवियों की समस्या सुलझाने का काम सदा ही सामने रहा है। शासन-कार्य ग्रहण करते ही आपने होनेवाली हड़तालों का बड़ी कठोरता से दमन किया इससे आपकी लोकप्रियता में धक्का लगा किंतु उत्पादन कार्य में सफलता मिली। आप समझौता बोर्ड वर्क्स कमेटी तथा श्रमिक अदालतों की स्थापना करके श्रमजीवियों की समस्या का समाधान करने की चेष्टा कर रहे हैं। आजकल मिल मालिकों को भी आपने दृढ़तापूर्वक श्रमजीवियों की समस्या की ओर ध्यान देने के लिये विवश किया है। उनके लिये श्रमिक अफसरों की नियुक्ति अनिवार्य कर दी है। सुयोग्य श्रमिक अफसर मिल सकें इसके लिये ट्रेड यूनियन के कार्यकर्ताओं, वर्तमान श्रमिक अफसरों तथा सुयोग स्नातकों को एकवर्ष की शिक्षा देने की व्यवस्था आपने काशी विद्यापीठ में की है। जहाँ शिक्षा प्राप्त करके वे नए और उपयोगी दृष्टिकोण से श्रमजीवियों की सहायता कर सकेंगे। आप अमेरिका में होनेवाले अंतर्राष्ट्रीय-श्रम-संमेलन में भारत के प्रतिनिधि मंडल के नेता की भाँति संमिलित हुए थे।

आप संवत् २००३ से २००५ तक नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष रहे। इस कार्यकाल में आपने उसके कार्यों को विशेष गति दी और आज भी उसकी सब प्रकार से सहायता करते रहते हैं। प्रसाद-परिषद् के आप स्थापक सदस्य हैं और १९४० से १९४४ तक आप उसके अध्यक्ष रहे हैं। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि उसके अधिकांश कार्य आप की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन के फल हैं।

आपका कार्यक्षेत्र तो वस्तुतः पठन-पाठन, ग्रंथ लेखन का है किंतु जबतक भारत पराधीनता के बंधन में था, आपने स्वाधीनता संग्राम में योग देना अपना कर्तव्य समझा है। किंतु आपकी अद्भुत प्रतिभा के कारण आपकी साहित्य-सेवा पर उससे कोई व्याघात नहीं पहुँचा। आपको राजनीति में समय लगाने से संतोष नहीं होता। आपकी लिखी पुस्तकों का देश तथा विदेशों में बड़ा आदर है। आपके समाजवाद तथा 'गणेश' के अन्य प्रांतीय भाषाओं में अनुवाद हो रहे हैं। चिद्विलास का संस्कृत अनुवाद छप रहा है। लोगों को आश्चर्य होता है कि राजनीतिक कार्यों में इतना व्यस्त होते हुए, विभिन्न

कष्ट झेलते हुए भी आप अध्ययन और ग्रंथ लेखन के लिये इतना समय कैसे निकाल पाते हैं। निकट से देखने से जान पड़ता है कि इसका कारण आपका पवित्र चरित्र और तपोमय जीवन है। एक ओर यदि माघ के सबेरे ४ बजे, रात के रखे हुए ठंडे पानी से स्नान करके खुले मैदान में बैठकर आपको पूजन करते हुए देखकर आश्चर्य होता है तो दूसरी ओर छोटे से कमरे में भीषण गर्मी में पुस्तकों के बीच बैठे हुए ग्रंथों की रचना करते हुए देख कम विस्मय नहीं होता हैं।

माननीय श्री संपूर्णानंद जी द्वारा लिखित पुस्तकों की सूची :

क्रम सं०	नाम पुस्तक	प्रकाशक	सन्
१.	धर्मवीर गांधी	ग्रंथ प्रकाशक समिति, काशी,	१९१४
२.	महाराज छत्रसाल	ग्रंथ प्रकाशक समिति, काशी	१९१६
३.	भौतिक विज्ञान	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	१९१६
४.	ज्योतिर्विनोद	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	१९१६
५.	भारतीय सृष्टि क्रम विचार	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	१९१७
६.	भारत के देशी राष्ट्र	प्रकाश पुस्तकालय, कानपुर	१९१८
७.	चेतसिंह और काशी का विद्रोह	प्रताप कार्यालय, कानपुर	१९१९
८.	सम्राट हर्षवर्धन	गाँधी हिंदी पुस्तक भंडार, बंबई,	१९२०
९.	महादजी सिंधिया	हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई,	१९२०
१०.	चीन की राज्यक्रांति	प्रकाश पुस्तकालय, कानपुर	१९२०
११.	मिश्र की स्वाधीनता	सुलभ ग्रंथ प्रचारक मंडल, कलकत्ता	१९२३
१२.	सम्राट अशोक	प्रकाश पुस्तकालय, कानपुर	१९२४
१३.	अंतराष्ट्रीय विधान	ज्ञानमंडल लि० काशी (दो संस्करण)	१९२४
१४.	समाजवाद	श्री काशी विद्यापीठ, काशी, पाँच सं०	१९३६
१५.	साम्यवाद का बिगुल	काशी पुस्तक भंडार, काशी	१९३६
१६.	व्यक्ति और राज	हिंदी पुस्तक एजेंसी, काशी	१९४०
१७.	आर्यों का आदिदेश	लीडर प्रेस, इलाहाबाद	१९४१
१८.	दर्शन और जीवन	लीडर प्रेस, इलाहाबाद	१९४१
१९.	ब्राह्मण सावधान	ज्ञानमंडल लि०, बनारस,	१९४४
२०.	चिद्विलास	ज्ञानमंडल लि०, बनारस,	१९४४
२१.	गणेश	श्री काशी विद्यापीठ, काशी	१९४५
२२.	भाषा की शक्ति	ज्ञानमंडल लि०, बनारस,	१९४५
२३.	पुरुष सूक्त	शारदा प्रकाशन-मंदिर, बनारस	१९४७

अंग्रेजी की पुस्तकें :—

क्रम सं०	नाम पुस्तक	प्रकाशक	सन्
२४.	व्हेन वी आर इन पावर, (अंग्रेजीमें)	स्वयं	१९३१
२५.	कास्मोगोनी इन इंडियन थाट (अंग्रेजी में)	काशी विद्यापीठ, बनारस,	१९४९
२६.	इनडिविजुअ एंड स्टेट	किताबिस्तान, इलाहाबाद,	१९४४

हिंदी साहित्य संमेलन द्वारा "मंगलाप्रसाद पारितोषिक" तथा "मुरारका पारितोषिक" प्राप्त

आप बड़ी कठोरता से समय का पालन करते हैं। आपका सब से बड़ा गुण है कि आप शीघ्र ही विषयों का सार ग्रहण कर लेते हैं। यही गुण है जिनसे आप औरों को आकर्षित करते हैं। आपने जीवन में पुत्रशोक, पत्नीशोक सभी आया है किंतु आपने उसको बड़े साहस के साथ सहन किया। आप अपने आश्रितों के योगक्षेम का विचार किए बिना ही साहस के साथ कठिन से कठिन कार्य में लग जाते हैं और उसमें पड़नेवाली कठिनाइयों का सामना करते हैं। अन्य सरस्वती भक्तों की भाँति आपपर भी प्रायः जीवनभर लक्ष्मी की अकृपा ही रही है किंतु फिर भी उस थोड़ी सामग्री से आप अन्य लोगों की भी सहायता करते रहे हैं।

इतने गुणों के रहते हुए भी आपके घनिष्ठ मित्रों और अनुयायियों की संख्या बहुत ही कम है। इसका कारण यही है कि देखने में आपका व्यवहार बहुत रूखा रहता है। जो लोग अपनी किसी सिफारिश के लिये आते हैं उन्हें आपसे बड़ी निराशा होती है। आप किसी को भी अपनी लंबी कहानी देर तक नहीं सुनाने देते। जहाँ उसने बातें शुरू की आप उसकी बातों का सारांश थोड़े ही शब्दों में कहकर उसका बोलना बंद कर देते हैं और अपना दो-टूक जवाब बतला देते हैं। आप किसी को संदिग्ध स्थिति में डालना बिलकुल नहीं पसंद करते। इसका एक सुफल तो यह होता है कि आप से मिलने वाला व्यक्ति संदेह में नहीं रह जाता। उसे जहाँतक आपका संबंध है, अपनी स्थिति स्पष्ट हो जाती है किंतु आज का सामाजिक व्यक्ति इस प्रकार की बातों का अभ्यासी नहीं होता; इससे उसके हृदय को चोट लगती है। आपमें अनुशासन प्रियता है। जिसको जो काम सौंपते हैं उसे पूरी जिम्मेदारी के साथ करने देते हैं। उसमें दखल नहीं देते। उसकी सफलता के लिये प्रशंसा करते और असफलता या बेवकूफी के लिये डाँटते भी है। उनकी हार्दिक प्रशंसा या निंदा उनके चेहरे और वाणी में स्पष्ट हो जाती है।

मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए भगवान् से यही प्रार्थना करता हूँ कि वह आपको सुखी और स्वस्थ रखें, जिससे अनेक वर्षोंतक देश और समाज के साथ-साथ शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में नेतृत्व प्रदान करते रहें।

श्री संपूर्णानंद (पीछे बायीं ओर खड़े)

१९१८

श्री संपूर्णानंद काशी विद्यापीठ परिवारके साथ (१९२३)

श्री संपूर्णानन्द (सपरिवार)
१९२८
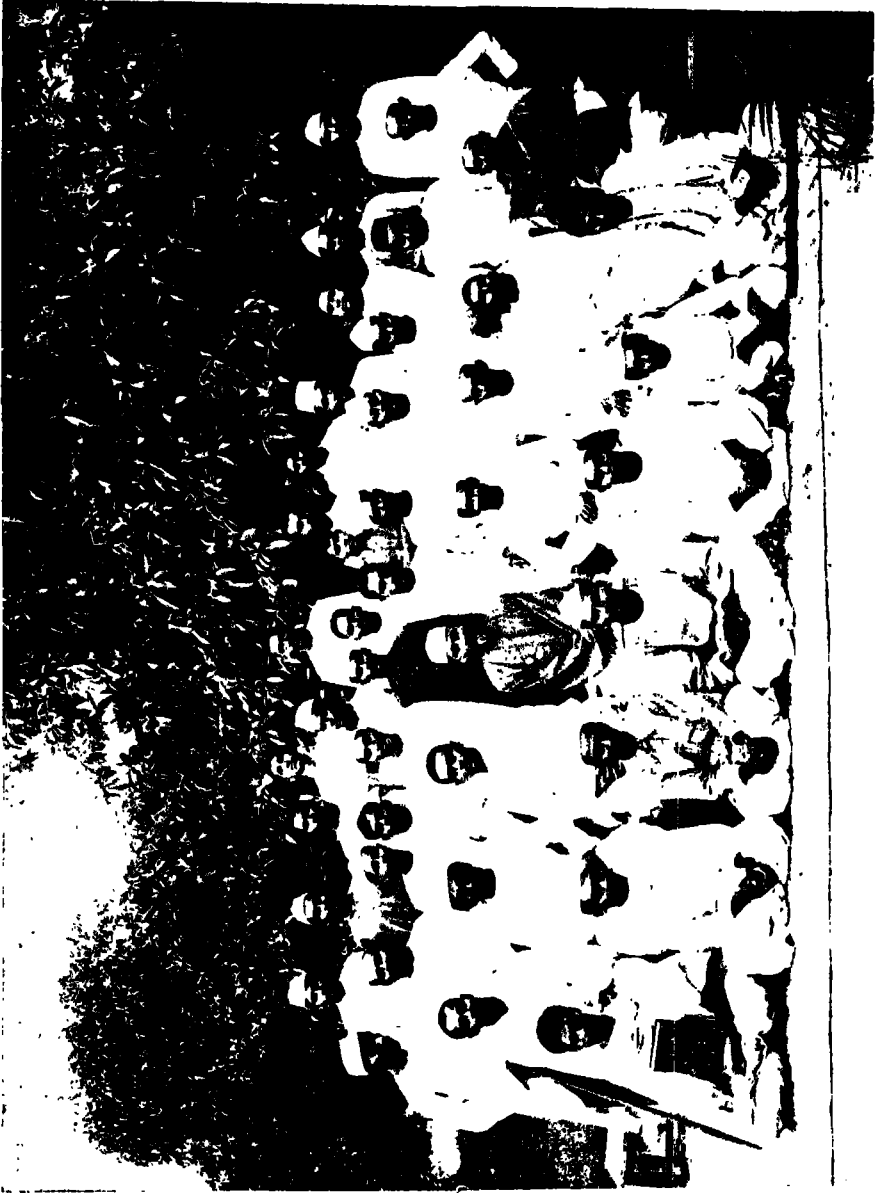
श्री संपूर्णानंद

१९३०

श्री संपूर्णानंद (१९३८)

जेल से छूटनेपर श्री संपूर्णानंद (कानपुर में)
१९४१
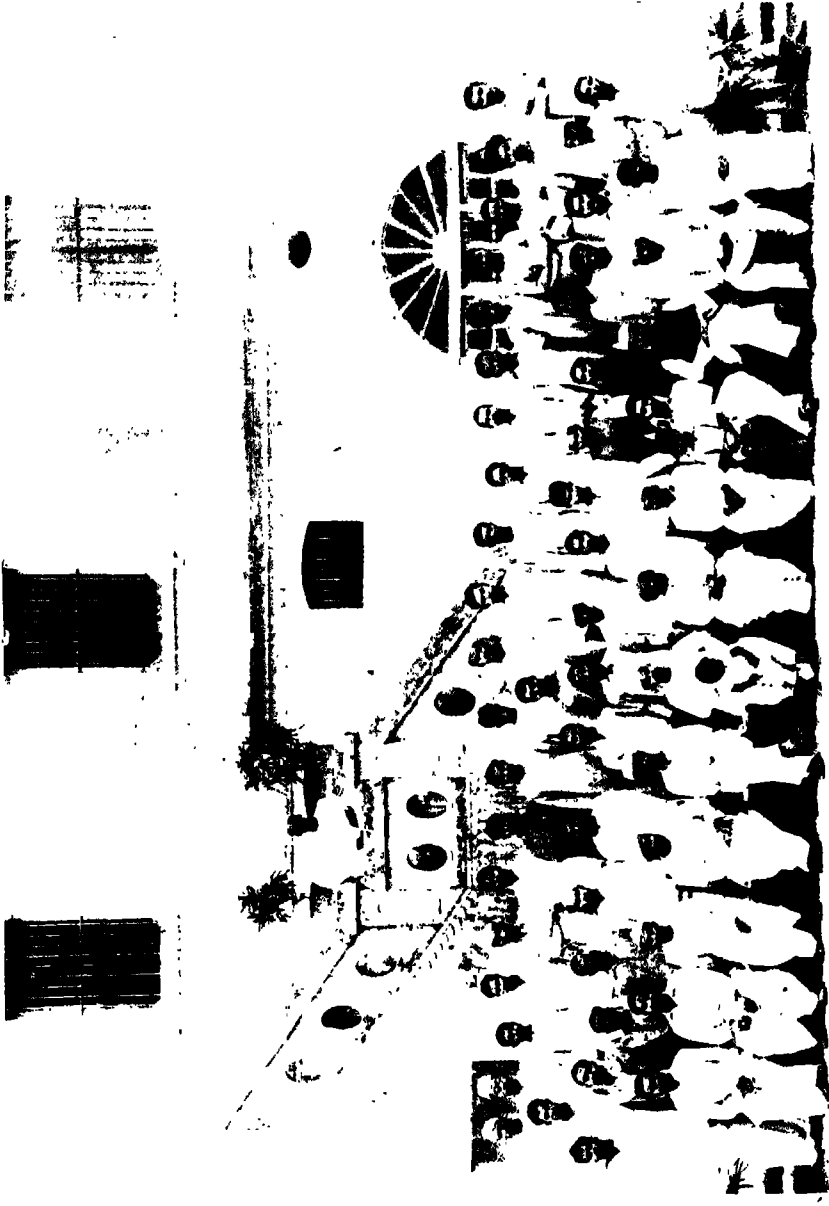
काशी विद्यापीठ परिवार के साथ (१९४५)

सान फ्रांसिस्को (अमेरिका) में श्री संपूर्णानंद (१९५८)

श्रीसंपूर्णानंद सांन फ्रांसिसको (अमेरिका) में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन में जलपान के अवसर पर (१९४८)

श्री संपूर्णानंद सान फ्रांसिसको (अमेरिका) में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसम्मेलन के अवसर पर आयोजित भोज में अतिथियों के साथ (१९४८)

डाक्टर संपूर्णानंद
१९४९